1. साहित्य की महत्ता

—आ. महावीर प्रसाद द्विवेदी

ज्ञान-राशि के संचित कोष ही का नाम साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखने वाली और निर्दोष होने पर भी, यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह, रूपवती भिखारिनी की तरह, कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्रीसम्पन्नता, उसकी मान-मर्यादा उसके साहित्य ही पर अवलम्बित रहती है। जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च-नीच भावों का, उसके धार्म्मिक विचारों और सामाजिक संघटन का, उसके ऐतिहासिक घटनाचक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब देखने को यदि कहीं मिल सकता है तो उसके ग्रन्थ-साहित्य ही में मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एकमात्र साहित्य है। जिस जाति-विशेष में साहित्य का अभाव या उसकी न्यूनता आपको देख पड़े, आप यह निःसन्देह निश्चित समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्ण संभ्य है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है, उसका साहित्य भी ठीक वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके साहित्य-रूपी आईने ही में मिल सकती है। इस आईने के सामने जाते ही हमें यह तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की जीवनी शक्ति इस समय कितनी या कैसी है और भूतकाल में कितनी और कैसी थी। आप भोजन करना बन्द कर दीजिए या कम कर दीजिए, आपका शरीर क्षीण हो जायेगा और अचिरात् नाशोन्मुख होने लगेगा। इसी तरह आप साहित्य के रसास्वादन से अपने मस्तिष्क को वंचित कर दीजिए, वह निष्क्रिय होकर धीरे-धीरे किसी काम का न रह जायेगा। बात यह है कि शरीर के जिस अंग का जो काम है, वह उससे यदि न लिया जाये तो उसकी वह काम करने की शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रहती। शरीर का खाद्य भोजनीय पदार्थ है और मस्तिष्क का खाद्य साहित्य। अतएव यदि हम अपने मस्तिष्क को निष्क्रिय और कालान्तर में निर्जीव-सा नहीं कर डालना चाहते तो हमें साहित्य का सतत सेवन करना चाहिए और उसमें नवीनता तथा पौष्टिकता लाने के लिए उसका उत्पादन भी करते जाना चाहिए। पर, यदि रखिए, विकृत भोजन से जैसे शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है, उसी तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकारग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान् और शक्ति-सम्पन्न होना अच्छे ही साहित्य पर अवलम्बित है। अतएव यह बात निर्भ्रान्त है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एकमात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी करना है तो हमें श्रमपूर्वक, बड़े उत्साह से, सत्साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए। और, यदि हम अपने मानसिक जीवन की हत्या करके अपनी वर्तमान दयनीय दशा में पड़ा रहना ही अच्छा समझते हों तो आज ही इस साहित्य-सम्मेलन के आडम्बर का विसर्जन कर डालना चाहिए।

आँख उठाकर ज़रा और देशों तथा और जातियों की ओर तो देखिए! आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे-कैसे परिवर्तन कर डाले हैं; साहित्य ही ने वहाँ समाज की दशा कुछ कर दी है; शासन-प्रबन्ध में बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं; यहाँ तक कि अनुदार धार्म्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरप में हानिकारिणी धार्म्मिक रूढ़ियों का उत्पादन साहित्य ही ने किया है; जातीय स्वातन्त्र्य के बीज उसी ने बोये हैं; व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के भावों को भी उसी ने पाला, पोसा और बढ़ाया है; पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने। जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी जिन्दा करने वाली संजीवनी औषधि का आकर है, जो साहित्य पतितों को उठाने वाला और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करने वाला है उसके उत्पादन और संवर्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती, वह अज्ञानान्धकार के गर्त में पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उसके अनुराग नहीं रखता, वह समाजद्रोही है, और देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही और आत्महन्ता भी है।

कभी-कभी कोई समृद्ध भाषा अपने ऐश्वर्य्य के बल पर दूसरी भाषाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, जैसा कि जर्मनी, रूस और इटली आदि देशों की भाषाओं पर फ्रेंच भाषा ने बहुत समय तक कर लिया था। स्वयं अंग्रेज़ी भाषा भी फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के दबाव से नहीं बच सकी। कभी-कभी यह दशा राजनैतिक प्रभुत्व के कारण भी उपस्थित हो जाती है। और विजित देशों की भाषाओं को जेता जाति की भाषा दबा लेती है। तब उनके साहित्य का उत्पादन यदि बन्द नहीं हो जाता तो उसकी वृद्धि की गति मन्द ज़रूर पड़ जाती है। पर यह अस्वाभाविक दबाव सदा नहीं बना रहता। इस प्रकार की दबी या अधःपतित भाषाएँ बोलने वाले जब होश में आते हैं तब वे इस अनैसर्गिक आच्छादन को दूर फेंक देते हैं। जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इंग्लैंड चिरकाल तक फ्रेंच और लेटिन भाषाओं के मायाजाल में फँसे थे। पर, बहुत समय हुआ, उस जाल को उन्होंने तोड़ डाला। अब वे अपनी भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते है; कभी भूल कर भी विदेशी भाषाओं में ग्रन्थ-रचना करने का विचार तक नहीं करते। बात

यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही स्वजाति और स्वदेश की उन्नति का साधक है। विदेशी भाषा का चूड़ान्त ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसमें महत्वपूर्ण ग्रन्थ-रचना करने पर भी विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकती और अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। अपनी माँ को नि:सहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़ कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-शुश्रूषा में रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तम्ब ही कर सकता है।

मेरा यह मतलब कदापि नहीं कि विदेशी भाषायें सीखनी ही न चाहिए। नहीं; आवश्यकता, अनुकूलता, अवसर और अवकाश होने पर हमें एक नहीं, अनेक भाषाएँ सीखकर ज्ञानार्जन करना चाहिए; द्वेष किसी भी भाषा से न करना चाहिए; ज्ञान कहीं भी मिलता हो उसे ग्रहण ही कर लेना चाहिए। परन्तु अपनी ही भाषा और उसी के साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए; क्योंकि अपना, अपने देश का, अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीति की भाषा सदैव लोकभाषा ही होनी चाहिए। अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना, सभी दृष्टियों से, हमारा परम धर्म है।

(महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली से)

2. कविता क्या है?

— आ. रामचन्द्र शुक्ल

मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों को लिये दूसरों के भावों, विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलाता और कहीं लड़ाता हुआ अन्त तक चला चलता है और इसी को जीना कहता है। जिस अनन्त-रूपात्मक क्षेत्र में यह व्यवसाय चलता रहता है उसका नाम है जगत्। जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किये इस क्षेत्र के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योगक्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से सम्बद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इस रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा छोड़कर - अपनी आपको बिल्कुल भूलकर - विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते है। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते है।

कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है, इस भूमि पर पहुँचे हुये मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास के हमारे मनोविकार का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है। जिस प्रकार जगत् अनेक रूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है। इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी समझा जा सकता है जबकि इन सबका प्रकृत सामंजस्य जगत् के भिन्न भिन्न रूपों, व्यापारों या तथ्यों के साथ हो जाये। इन्हीं भावों के सूत्र से मनुष्य-जाति जगत् के साथ तादात्म्य के अनुभव चिरकाल से करती चली आई है। जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों से ही परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को सामने पाकर वह नरजीवन के आरम्भ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है, उनका हमारे भावों के साथ मूल या सीधा सम्बन्ध है। अतः काव्य के प्रयोजन के लिए हम उन्हें मूल रूप और मूल व्यापार कह सकते है। इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष और गूढ़ से गूढ़ तथ्यों को भावों के विषय या आलम्बन बनाने के लिए इन्हीं मूल रूपों में और व्यापारों में परिणत करना पड़ता है। जब तक वे इन मूल मार्मिक रूपों में नहीं लाये जाते तब तक उन पर काव्य दृष्टि नहीं पड़ती।

वन, पवत, नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़, फूस, शाखा, पशु, पक्षी, आकाश, मेघ, नक्षत्र, समुद्र इत्यादि ऐसे ही चिर-सहचर रूप हैं। खेत, दुर्री, हल, झोंपड़े, चौपाये इत्यादि भी कुछ कम पुराने नहीं है। इसी प्रकार पानी का बहना, सूखे पत्तों का झड़ना, बिजली का चमकना, घटा का घिरना, नदी का उमड़ना, मेह का बरसना, कुहरे का छाना, डर से भागना, लोभ से लपकता, छीनना, झपटना, नदी या दलदल से बाँह पकड़कर निकालना, हाथ से खिलाना, आग में झोंकना, गला काटना ऐसे व्यापारों का भी मनुष्य-जाति के भावों के साथ अत्यन्त प्राचीन साहचर्य्य है। ऐसे आदि रूपों और व्यापारों में वंशानुगत वासना की दीर्घ परम्परा के प्रभाव से, भावों के उद्‌बोधन की गहरी शक्ति संचित है; अतः इनके द्वारा जैसा रस-परिपाक सम्भव है वैसा कल-कारखाने, गोदाम, स्टेशन, एंजिन, हवाई जहाज ऐसी वस्तुओं तथा अनाथालय के लिए चेक काटना, सर्वस्वहरण के लिये जाली दस्तावेज़ बनाना, मोटर की चरखी घुमाना या एंजिन में कोयला झोंकना आदि व्यापारों द्वारा नहीं।

सभ्यता के आवरण और कविता

सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ ज्यों-ज्यों मनुष्यों के व्यापार और जटिल होते गये त्यों-त्यों उसके मूल रूप बहुत कुछ आच्छन्न होते गये। भावों के आदिम और सीधे लक्ष्यों के अतिरिक्त और-और लक्ष्यों की स्थापना होती गई; वासनाजन्य मूल व्यापारों के सिवा बुद्धि द्वारा निश्चित व्यापारों का विधान बढ़ता गया। इस प्रकार बहुत से ऐसे व्यापारों से मनुष्य घिरता गया जिनके साथ उसके भावों का सीधा लगाव नहीं। जैसे आदि में भय का लक्ष्य अपने शरीर और अपनी सन्तति ही की रक्षा तक था, पर पीछे गाय, बैल, अन्न आदि की रक्षा आवश्यक हुई, यहाँ तक कि होते-होते धन, मान, अधिकार, प्रभुत्व इत्यादि अनेक बातों की रक्षा की चिन्ता ने घर किया और रक्षा के उपाय भी वासना-जन्य प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार के होने लगे। इसी प्रकार क्रोध, घृणा, लोभ अन्य भावों के विषय भी अपने मूल रूपों से भिन्न-भिन्न धारणा करने लगे। कुछ भावों के विषय तो अमूर्त्त तक होने लगे, जैसे कीर्ति की लालसा। ऐसे भावों को ही बौद्धदर्शन में 'अरूपराग' कहते है।

भावों के विषयों और उनके द्वारा प्रेरित व्यापारों में जटिलता आने पर भी उनका सम्बन्ध मूल विषयों और मूल व्यापारों से भीतर-भीतर बना है और बराबर बना रहेगा। किसी का कुटिल भाई उसे सम्पत्ति से एकदम वंचित रखने के लिए वकीलों की सलाह से एक नया दस्तावेज़ तैयार करता है। इसकी खबर पाकर वह क्रोध से नाच उठता है। प्रत्यक्ष व्यावहारिक दृष्टि से तो उसके क्रोध का

विषय है-वह दस्तावेज़ या कागज़ का टुकड़ा। पर उस कागज़ के टुकड़े के भीतर वह देखता है कि उसे और उसकी सन्तति को अन्न-वस्त्र न मिलेगा। उसके क्रोध का प्रकृत विषय न तो वह कागज़ का टुकड़ा है और न उस पर लिखे हुए काले-काले अक्षर' ये तो सभ्यता के आवरण मात्र हैं। अत: उसके क्रोध में और कुत्ते के क्रोध में जिसके सामने का भोजन कोई दूसरा कुत्ता छीन रहा है, काव्य दृष्टि से कोई भेद नहीं है - भेद है केवल विषय के थोड़ा रूप बदलकर आने का। इसी रूप बदलने का नाम है सभ्यता। इस रूप बदलने से होता यह है कि क्रोध आदि को भी अपना रूप कुछ बदलना पड़ता है, वही भी कुछ सभ्यता के साथ अच्छे कपड़े-लत्ते पहनकर समाज में आता है जिससे मार-पीट, छीन खसोट आदि भद्दे समझे जाने वाले व्यापारों का कुछ निवारण होता है।

पर यह प्रच्छन्न रूप वैसा मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता। इसी से प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि-कर्म का एक मुख्य अंग है। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों कवियों के लिए यह काम बढ़ता जाएगा। मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा सम्बन्ध रखने वाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से पर्दों को हटाना पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते जाएँगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ओर कवि कर्म कठिन होता जायगा। ऊपर जिस क्रुद्ध व्यक्ति का उदाहरणा दिया गया है, वह यदि क्रोध से छुट्टी पाकर अपने भाई के मन में दया का संचार करना चाहेगा तो क्षोभ के साथ उससे कहेगा, "भाई! तुम यह सब इसीलिए न कर रहे हो कि पक्की हवेली में बैठकर हलवा-पूरी खाओ और मैं बैठा सूखे चने चबाऊँ; तुम्हारे लड़के दोपहर को भी दुशाले ओढ़कर निकलें और मेरे बच्चे रात को भी ठण्ड से काँपते रहें।" यह हुआ प्राकृत रूप पर प्रत्यक्षीकरण। इसमें सभ्यता के बहुत से आवरणों को हटाकर वे मूल गोचर रूप सामने रखे गए हैं जिनसे हमारे भावों का सीधा लगाव है और जो इस कारण भावों को उत्तेजित करने में अधिक समर्थ हैं। कोई बात जब इस रूप में आएगी तभी उसे काव्य के उपयुक्त रूप प्राप्त होगा। "तुमने हमें नुकसान पहुँचाने के लिए जाली दस्तावेज़ बनाया" इस वाक्य में रसात्मकता नहीं। इसी बात को ध्यान में रखकर ध्वनिकार ने कहा - "नहिं कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहिणात्मपदलाभः।"

देश की वर्तमान दशा के वर्णन में यदि हम केवल इस प्रकार के वाक्य कहते जायें कि "हम मूर्ख, बलहीन और आलसी हो गए हैं, हमारा धन विदेश चला जाता है, रुपये का डेढ़ पाव घी बिकता है, स्त्री-शिक्षा का अभाव है" तो ये छन्दोबद्ध होकर भी काव्य पद के अधिकारी न होंगे। सारांश यह है कि काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषयों के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा जो मूर्त और गोचर होंगे। जब तक भावों से सीधा और पुराना लगाव रखने वाले मूर्त और गोचर रूप में मिलेंगे तब तक काव्य का वास्तविक ढाँचा खड़ा न हो सकेगा। भावों के अमूर्त विषयों की तह में भी मूर्त और गोचर-रूप छिपे मिलेंगे, जैसे, यशोलिप्सा में कुछ दूर भीतर चलकर उस आनन्द के उपभोग की प्रवृत्ति छिपी हुई जायगी जो अपनी तारीफ कान में पड़ने से हुआ करता है।

काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता; बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्बग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त्त विषय का ही हो सकता है। 'रुपये का डेढ़ पाव घी मिलता है' इस कथन से कल्पना में यदि कोई बिम्ब या मूर्ति उपस्थिति होगी तो वह तराजू लिए हुए बनिये की होगी जिससे हमारे करुण भाव का कोई लगाव न होगा। बहुत कम लोगों को घी खाने को मिलता है, अधिकतर लोग रूखी-सूखी खाकर रहते है, इस तथ्य तक हम अर्थग्रहण परम्परा द्वारा इस चक्कर के साथ पहुँचते हैं - एक रुपये का बहुत कम घी मिलता है, इससे रुपये वाले ही घी खा सकते हैं, पर रुपये वाले बहुत कम है इससे अधिकाश जनता घी नहीं खा सकती, रूखी-सूखी, खाकर रहती है।

कविता और सृष्टि-प्रसार

हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्त:प्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता का प्रसार करती है। यदि अपने भावों को समेट कर मनुष्य अपने हृदय को शेष सृष्टि से किनारे कर ले या स्वार्थ की पशुवृत्ति में ही लिप्त रखे तो उसकी मनुष्यता कहाँ रहेगी? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम-घूम कर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों और पटपर के बीच खड़ी झाड़ियों को देख क्षण भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनन्दोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खुले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुन्दर रूप सामने पाकर अपनी भीतरी कुरूपता का उसने विसर्जन न किया, यदि दीन दुखी का आर्तनाद सुन वह न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि किसी बेढब और विनोदपूर्ण दृश्य या उक्ति पर न हँसा, तो उसके जीवन में रह क्या गया? इस विश्वकाव्य की रस-धारा में जो थोड़ी देर के लिए निमग्न न हुआ उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा की समझना चाहिए।

काव्यदृष्टि कहीं तो 1. नरक्षेत्र के भीतर रहती है, 2. कहीं मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और 3. कही समस्त चराचर के।

1. पहले नरक्षेत्र को लेते है। संसार में अधिकतर कविता इसी क्षेत्र के भीतर हुई है। नरत्व की बाह्य प्रकृति और अन्त:प्रकृति के नाना सम्बन्धों और पारस्परिक विधानों का संकलन या उद्भावना की काव्यों में - मुक्त हों या प्रबन्ध - अधिकतर पाई जाती है।

प्राचीन महाकाव्यों और खण्डकाव्यों के मार्ग में, यद्यपि शेष दो क्षेत्र भी बीच-बीच में पड़ जाते हैं पर मुख्य यात्रा नरक्षेत्र के भीतर ही होती है। वाल्मीकि रामायण में यद्यपि बीच-बीच में ऐसे विशद वर्णन बहुत कुछ मिलते है, जिनमें कवि की मुग्ध दृष्टि प्रधानत: मनुष्येतर बाह्य प्रकृति के रूप-जाल में फँसी पाई जाती है, पर उसका प्रधान विषय लोकचरित ही है। और प्रबन्ध-काव्यों के सम्बन्ध में भी यही बात यही जा सकती है। रहे मुक्तक या फुटकल पद्य, वे भी अधिकतर मनुष्य ही की भीतरी-बाहरी वृत्तियों से सम्बन्ध रखते हैं। साहित्य-शास्त्र की रस निरूपण-पद्धति में आलम्बनों के बीच बाह्य प्रकृति को स्थान ही नहीं मिला है। यह उद्दीपन मात्र मानी गई है। शृंगार के उद्दीपन रूप में जो प्राकृतिक दृश्य लाए जाते हैं, उनके प्रति रतिभाव नहीं होता, नायक या नायिका के प्रति होता है। वे दूसरे के प्रति उत्पन्न प्रीति को उद्दीप्त करने वाले होते हैं, स्वयं प्रीति के पात्र या आलम्बन नहीं होते। संयोग में वे सुख बढ़ाते है और वियोग में काटने दौड़ते हैं। जिस भावोद्रेक और जिस ब्योरे के साथ नायक या नायिका के रूप का वर्णन किया जाता है उस भावोद्रेक और उस ब्योरे के साथ उनका नहीं। कहीं-कहीं तो उनके नाम गिनाकर ही काम चला लिया जाता है।

मनुष्यों के रूप, व्यापार या मनोवृत्तियों के सादृश्य, साधर्म्य की दृष्टि से जो प्राकृतिक वस्तु-व्यापार आदि लाए जाते हैं उनका स्थान भी गौण ही समझना चाहिए। वे नर-सम्बन्धी भावना को ही तीव्र करने के लिए रखे जाते है।

2. मनुष्यतेर बाह्य प्रकृति का आलम्बन के रूप में ग्रहण हमारे यहाँ संस्कृत के प्राचीन प्रबन्ध-काव्यों के बीच-बीच में ही पाया जाता है। वहाँ प्रकृति का ग्रहण आलम्बन के रूप में हुआ है, इसका पता वर्णन की प्रणाली से लग जाता है। पहले कह आए हैं कि किसी वर्णन में आई हुई वस्तुओं का मन में ग्रहण दो प्रकार का हो सकता है - बिम्बग्रहण और अर्थ ग्रहण। किसी ने कहा 'कमल'! अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिये हुए सफेद पंखड़ियों और झुके हुए नाल आदि के सहित एक फूल की मूर्ति मन में थोड़ी देर के लिए आ जाय या कुछ देर बनी रहे; और इस प्रकार भी कह सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हों; केवल पद का अर्थ मात्र समझकर काम चला लिया जाय। काव्य के दृश्य-चित्रण में पहले प्रकार का संकेत-ग्रहण अपेक्षित होता है और व्यवहार तथा शास्त्रचर्चा में दूसरे प्रकार का। बिम्बग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग वर्ण, आकृति तथा उनके आस-पास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है। विना अनुराग के ऐसे सूक्ष्म ब्योरों पर न दृष्टि जा ही सकती है, न रम ही सकती है। अत: जहाँ ऐसा पूर्ण और संश्लिष्ट चित्रण मिले, वहाँ समझना चाहिए कि कवि ने बाह्य प्रकृति को आलम्बन के रूप में ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि का यह हेमन्त वर्णन लीजिए:

अवश्याय-निपातेन किञ्चित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरूणातपा।।
स्पृशंतु विपुलं शीतमुदकं द्विरद: सुखम्।
अत्यन्ततृषियों वन्य: प्रतिसंहरते करम्।।
अवश्याय-तमोनद्धा नीहार-तमसावृता:।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजय:।।
वाष्पसंछन्नसलिला रूतविज्ञेयसारसा:।
हिमार्द्र बालकैस्तीरै: सरितो भान्ति साम्प्रतम्।।
जरा-जर्जरिते: पद्मै: शीर्णकेशरकरिर्णकै:।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भान्ति कमलाकर:।।

(वन की भूमि जिसकी हरी-भरी ओस गिरने से कुछ-कुछ नीली हो गई, तरुण धूप के पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यन्त प्यासा जंगली हाथी बहुत शीतल जल के स्पर्श से अपनी सूँड सिकोड़ लेता है। बिना फूल के वन-समूह कुहरे के अन्धकार में सोये से जान पड़ते है। नदियाँ, जिनका जल कुहरे से ढँका हुआ है और जिनमें सारस पक्षियों का पता केवल उनके शब्द से लगता है, हिम से आई वालू के तटों से ही पहचानी जाती है। कमल, जिनके पत्ते जीर्ण होकर झड़ गये हैं, जिनकी केसर-कणिकाएँ टूट-फूटकर छितरा गई हैं, पाले से ध्वस्त होकर नाल मात्र खड़े हैं।)

मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का इसी रूप में ग्रहण कुमारसम्भव के आरम्भ तथा रघुवंश के बीच-बीच में मिलता है। नाटक यद्यपि मनुष्य ही की भीतरी-बाहरी प्रवृत्तियों के प्रदर्शन के लिए लिखे जाते हैं और भवभूति अपने मार्मिक और तीव्र अन्तर्वृत्ति विधान के लिए

ही प्रसिद्ध हैं, पर उनके 'उत्तर रामचरित' में कहीं-कहीं बाह्य प्रकृति के बहुत ही सांग और संश्लिष्ट खण्ड चित्र पाये जाते हैं। पर मनुष्येतर बाह्य प्रकृति को जो प्रधानता मेघदूत में मिली है, वह संस्कृत के और किसी काव्य में नहीं। 'पूर्वमेघ' तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी या भारत भूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है। जो इस स्वरूप के ध्यान में अपने को भूलकर कभी-कभी मग्न हुआ करता है वह घूम-घूमकर वक्तृता दे या न दे, चन्दा इकट्ठा करे या न करे, देशवासियों के आमदनी का औसत निकाले या न निकाले, सच्चा देश-प्रेमी है। मेघदूत न कल्पना की क्रीड़ा है; न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप-माधुरी पर सीधी-सादी प्रेम-दृष्टि।

अनन्त रूपों में, प्रकृति हमारे सामने आती है - कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूप में, कहीं रूखे बेडौल या कर्कश रूप में, कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में, कहीं उग्र, कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है, क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख-भोग नहीं, बल्कि चिरसाहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून प्रसार के सौरभ-संचार, मकरन्द-लोलुप, मधुप गुञ्जार, कोकिल कूजित निकुंत और शीतल सुख-स्पर्श समीर इत्यादि की चर्चा किया करते है; वे विषयी या भोग लिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमबिन्दु मण्डित मरकताभ शाद्वल जल, अत्यन्त विशाल गिरिशिखर से गिरते हुये जलप्रपात के गम्भीर गर्त्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविध वर्णस्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिये कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं, सच्चे भावुक या सहृदय नहीं। प्रकृति के साधारण-असाधारण सब प्रकार के रूपों में रमाने वाले वर्णन हमें वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों में मिलते हैं। पिछले खेवे के कवियों में मुक्तक-रचना में तो अधिकतर प्राकृतिक वस्तुओं का अलग-अलग उल्लेख मात्र उद्दीपन की दृष्टि से किया गया है। प्रबन्ध-रचना में जो थोड़ा-बहुत संश्लिष्ट चित्रण किया है वह प्रकृति की विशेष रूप-विभूति को लेकर ही। अंग्रेजी के पिछले कवियों में वर्ड्सवर्थ की दृष्टि सामान्य में चिरपरिचित, सीधे-सादे प्रशान्त और मधुर दृश्यों की ओर रहती थी, पर शेली की असाधारण-भव्य और विशाल की ओर।

साहचर्य-सम्भूत रस के प्रभाव से सामान्य सीधे-सादे चिरपरिचित दृश्यों में कितने माधुर्य्य की अनुभूति होती है! पुराने कवि कालिदास ने वर्षा के प्रथम जल से सिक्त तुरन्त की जोती हुई धरती तथा उसके पास बिखरी हुई भोली चितवन वाली ग्रामवनिताओं में साफ-सुथरे ग्रामचैत्यों और कथा कोविद ग्रामवृद्धों में इसी प्रकार का माधुर्य्य का अनुभव किया था। आज भी इसका अनुभव लोग करते हैं। बाल्य या कौमार अवस्था में जिस पेड़ के नीचे हम अपनी मण्डली के साथ बैठा करते थे; चिड़चिड़ी बुढ़िया की जिस झोपड़ी के पास से होकर हम आते-जाते थे, उसकी मधुर स्मृति हमारी भावना को बराबर लीन किया करती है। बुड्ढी की झोपड़ी में न कोई चमक-दमक थी, न कला-कौशल का वैचित्र्य। मिट्टी की दीवारों पर फूस का छप्पर पड़ा था, नींव के किनारे चढ़ी हुई मिट्टी पर सत्यानाशी के नीलाभ हरित कँटीले, कटाव-दार पौधे खड़े थे जिनके पीले फूलों के गोल सम्पुटों के बीच लाल-लाल बिन्दियाँ झलकती थीं।

सारांश यह कि केवल असाधारणत्व की रुचि सच्ची सहृदयता की पहिचान नहीं है। शोभा और सौन्दर्य की भावना के साथ जिनमें मनुष्य-जाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंश-परम्परागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है, जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय भावुक कहे जा सकते हैं। वन्य और ग्रामीण दोनों प्रकार के जीवन प्राचीन हैं; दोनों पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों, नदी-नालों और पर्वत-मैदानों के बीच व्यतीत होते हैं, अत: प्रकृति के अधिक रूपों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। हम पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों से सम्बन्ध तोड़कर बड़े-बड़े नगरों में आ बसे; पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हर वक्त पास न रखकर एक घेरे में बन्द करते है और कभी-कभी मन बहलाने के लिए उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों के नीचे सुख से सोते हैं, गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं; बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्यावँ-म्यावँ करते माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं, और वासुदेवजी कभी-कभी दीवार फोड़कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुर्खी-चूने की कड़ाई की परवा न कर हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानों हमें ढूँढती हुई आती है और कहती है कि "तुम हमसे क्यों दूर दूर भागे फिरते हो?"

जो केवल अपने विलास या शरीर-सुख की सामग्री ही प्रकृति में ढूँढ़ा करते है उनमें उस रागात्मक "सत्व" की कमी है जो व्यक्त सत्ता मात्र के साथ एकता की अनुभूति में लीन करके हृदय के व्यापकत्व का आभास देता है। सम्पूर्ण सत्ताएँ एक ही परम सत्ता और सम्पूर्ण भाव एक ही परम भाव के अन्तर्भूत हैं। अत: बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय भी इस सत्त्व-रस के प्रभाव से पहुँचता है। इस प्रकार अन्त में जाकर दोनों पक्षों की वृत्तियों का समन्वय हो जाता है। समन्वय के बिना मनुष्यत्व की साधना पूरी नहीं हो सकती।

मार्मिक तथ्य

मनुष्येतर प्रकृति के बीच के रूप व्यापार कुछ भीतरी भावों या तथ्यों की भी व्यंजना करते हैं। पशु-पक्षियों के सुख, हर्ष-विषाद, रागद्वेष, तोष-क्षोभ, कृपा-क्रोध इत्यादि भावों की व्यंजना जो उनकी आकृति, चेष्टा, शब्द आदि से होती है, वह तो प्राय: बहुत प्रत्यक्ष होती है। कवियों को उन पर अपने भावों का आरोप करने की आवश्यकता प्राय: नहीं होती। तथ्यों का आरोप या सम्भावना अलबत वे कभी-कभी किया करते हैं। पर इस प्रकार का आरोप कभी-कभी कथन को, 'काव्य' के क्षेत्र से घसीटकर 'सूक्ति' या "सुभाषित" के क्षेत्र में डाल देता है। जैसे, 'कौवे सबेरा होते ही क्यों चिल्लाने लगते है? वे समझते है कि सूर्य अन्धकार का नाश करता बढ़ा आ रहा है कहीं धोखे में हमारा भी नाश न कर दे। यह सूक्ति मात्र है, काव्य नहीं। जहाँ तथ्य केवल आरोपित या सम्भावित रहते हैं वहाँ वे अलंकार रूप में ही रहते हैं। पर जिन तथ्यों का आभास हमें पशु-पक्षियों के रूप, व्यापार या परिस्थिति में ही मिलता है वे हमारे भावों के विषय वास्तव में हो सकते हैं। मनुष्य सारी पृथ्वी छेंकता चला जा रहा है। जंगल कट-कटकर खेत, गाँव और नगर बनते चले जा रहे हैं। पशु-पक्षियों का भाग छिनता चल जा रहा है। उनके सब ठिकानों पर हमारा निष्ठुर अधिकार होता चला जा रहा है। वे कहाँ जाएँ? कुछ तो हमारी गुलामी करते हैं। कुछ हमारी बस्ती के भीतर या आस-पास रहते हैं और छीन-झपटकर अपना हक ले जाते हैं। हम उनके साथ बराबर ऐसा ही व्यवहार करते हैं, मानों उन्हें जीने का कोई अधिकार ही नहीं है। तथ्यों का सच्चा आभास हमें उनकी परिस्थिति से मिलता है। अत: उनमें से किसी की चेष्टा-विशेष में इन तथ्यों की मार्मिक व्यंजना की प्रतीति काव्यानुभूति के अन्तर्गत होगी। यदि कोई बन्दर हमारे सामने से कोई खाने-पीने की चीज उठा ले जाय और किसी पेड़ के ऊपर बैठा-बैठा हमें घुड़की दे, तो काव्य दृष्टि से हमें ऐसा मालूम हो सकता है कि –

देते है धुड़की यह अर्थ-ओज-भरी हरि
"जीने का हमारा अधिकार क्या न गया रह?
पर प्रतिषेध के प्रसार बीच तेरे नर!
क्रीड़ामय जीवन-उपाय है हमारा यह।
दानी जो हमारे रहे, वे भी पास तेरे हुए,
उनकी उदारता भी सकता नहीं तू सह।
फूली फली उमंग उपकार की तू
छेंकता है जाता, हम जायँ कहाँ, तू ही कह!"

पेड़-पौधे, लता-गुल्म आदि भी इसी प्रकार कुछ भावों या तथ्यों की व्यंजना करते हैं जो कभी-कभी कुछ गूढ़ होती है। सामान्य दृष्टि भी वर्षा की झड़ी के पीछे उनके हर्ष और उल्लास को, ग्रीष्म के प्रचण्ड आतप में उनकी शिथिलता और म्लानता को; शिशिर के कठोर शासन में उनकी दीनता को, मधुकाल में उनके रसोन्माद, उमंग और हास को, प्रबल वात के झकोरों में उनकी विकलता को; प्रकाश के प्रति उनकी ललक को देख सकती है। इसी प्रकार भावुकों के समक्ष वे अपनी रूपचेष्टा आदि द्वारा कुछ मार्मिक तथ्यों की भी व्यंजना करते हैं। हमारे यहाँ के पुराने अन्योक्तिकारों ने कहीं-कहीं इस व्यंजना की ओर ध्यान दिया है। कहीं-कहीं का मतलब यह है कि बहुत जगह उन्होंने अपनी भावना का आरोप किया है, उनकी रूपचेष्टा या परिस्थिति से तथ्य-चयन नहीं। पर उनकी विशेष-विशेष परिस्थितियों की ओर भावुकता से ध्यान देने पर बहुत से मार्मिक तथ्य सामने आते हैं। कोसों तक फैले, कड़ी धूप में तपते मैदान के बीच एक अकेला वट-वृक्ष दूर तक छाया फैलाए खड़ा है। हवा के झोकों से उसकी टहनियाँ और पत्ते हिलहिल कर मानों बुला रहे हैं । हम धूप से व्याकुल होकर उसकी ओर बढ़ते हैं। देखते हैं, उसकी जड़ के पास एक गाय बैठी आँख मूँदे जुगाली कर रही है। देखते है, उसकी जड़ के पास आराम से जा बैठते हैं। इतने में एक कुत्ता जीभ बाहर निकाले हाँफता हुआ उस छाया के नीचे आता है और हममें से कोई उठकर उसे छड़ी लेकर भगाने लगता है। इस परिस्थिति को देख हमारे से कोई भावुक पुरुष उस पेड को इस प्रकार सम्बोधन करे तो कर सकता है-

काया की न छाया यह केवल तुम्हारी, द्रुम।
अंतस् के मर्म का प्रकाश यह छाया है।
भरी है इसी में वह स्वर्ग-स्वप्न-धरा अभी
जिसमें न पूरा-पूरा नर बह पाया है।
शांतिसार शीतल प्रसार यह छाया धन्य!
प्रीति सा पसारे इसे कैसी हरी काया है।

हे नर! तू प्यारा इस तरु का स्वरूप देख,

देख फिर घोर रूप तूने जो कमाया है।।

ऊपर नरक्षेत्र और मनुष्येतर सजीव सृष्टि के क्षेत्र का उल्लेख हुआ है। काव्यदृष्टि कभी तो इन पर अलग-अलग रहती है कभी समष्टि-रूप में समस्त जीवन-क्षेत्र पर। कहने की आवश्यकता नहीं कि विच्छिन्न दृष्टि की अपेक्षा। समष्टि-दृष्टि में अधिक व्यापकता और गम्भीरता रहती है। काव्य का अनुशीलन करने वाले मात्र जानते है कि काव्य-दृष्टि सजीव सृष्टि तक ही बद्ध नहीं रहती। वह प्रकृति के उस भाग की ओर भी जाती है जो निर्जीव या जड़ कहलाता है। भूमि, पर्वत, चट्टान, नाले, टीले, मैदान, समुद्र आकाश, मेघ, नक्षत्र इत्यादि की रूप-गति आदि से भी हम सौन्दर्भ, माधुर्य, भीषणता, भव्यता, विचित्रता, उदासी, उदारता, सम्पन्नता इत्यादि की भावना प्राप्त करते है। कड़कड़ाती धूप के पीछे उमड़ी हुई घटा की श्यामल स्निग्धता और शीतलाता का अनुभव मनुष्य क्या पशु-पक्षी, पेड़-पौधे तक करते हैं। अपने इधर-उधर हरी-भरी लहलहाती प्रफुल्लता का विधान करती हुई नदी की अविराम जीवन-धारा में हम द्रवीभूत औदार्य का दर्शन करते है। पर्वत की ऊँची चोटियों में विशालता और भव्यता का, वात-विलोड़ित, जल-प्रसार में क्षोभ और आकुलता का, विकीर्णघन-खण्ड-मण्डित, रश्मि-रञ्जित सान्ध्य-दिगञ्चल में चमत्कारपूर्ण सौन्दर्य का, ताप से तिलमिलाती धरा पर धूल झोंकते हुए अंधड़ के प्रचण्ड झोंकों में उग्रता और उच्छृंखलता का, बिजली की कँपाने वाली कड़क और ज्वालामुखी के ज्वलन्त स्फोट में भीषणता का आभास मिलता है। ये सब विश्वरूपी महाकाव्य की भावनाएँ या कल्पनाएँ हैं। स्वार्थ-भूमि से परे पहुँचे हुए सच्चे अनुभूति-योगी या कवि इनके दृष्टा मात्र होते हैं।

जड़ जगत् के भीतर पाये जानेवाले रूप, व्यापार या परिस्थितियाँ अपने मार्मिक तथ्यों की भी व्यंजना करती हैं। जीवन में तथ्यों के साथ उनके साम्य का बहुत अच्छा मार्मिक उद्‌घाटन कहीं-कहीं हमारे यहाँ के अन्योक्तिकारों ने किया है। जैसे, इधर नरक्षेत्र के बीच देखते है तो सुख-समृद्धि और सम्पन्नता की दशा में दिन-रात घेरे रहनेवाले, स्तुति का खासा कोलाहल खड़ा करने वाले, विपत्ति और दुर्दिन में पास नहीं फकटते; उधर जड़ जगत् के भीतर देखते हैं तो भरे हुए सरोवर के किनारे जो पक्षी बराबर कलरव करते रहते हैं, वे उसके सूखने पर अपना-अपना रास्ता लेते हैं:

कोलाहल सुनि खगन के, सरवर! जनि अनुरागि।
ये सब स्वारथ के सखा, दुर्दिन दैहें त्यागि।।
दुर्दिन दैहें त्यागि, तोय तेरो जब जै है।
दूरहि ते तजि आस, पास कोऊ नहिं ऐहैं।।

इसी प्रकार सूक्ष्म और मार्मिक दृष्टिवालों को और गूढ़ व्यंजना भी मिल सकती है। अपने इधर-उधर हरियाली और प्रफुल्लता का विधान करने के लिए यह आवश्यक है कि नदी कुछ काल तक एक बँधी हुई मर्यादा के भीतर बहती रहे। वर्षा की उमड़ी हुई उच्छृंखलता में पोषित हरियाली और प्रफुल्लता का ध्वंस सामने आता है। पर यह उच्छृंखलता और ध्वंस अल्पकालिक होता है। और इसके द्वारा आगे के लिए पोषण की नई शक्ति का संचय होता है। उच्छृंखलता नदी की स्थायी वृत्ति नहीं है। नदी के इस स्वरूप के भीतर सूक्ष्म मार्मिक दृष्टि लोकगति के स्वरूप का साक्षात्कार करती है। लोकजीवन की धारा जब एक बँधे मार्ग पर कुछ काल तक अबाध गति से चलने पाती है तभी सभ्यता के किसी रूप का पूर्ण विकास और उसके भीतर सुख-शान्ति की प्रतिष्ठा होती है। जब जीवन-प्रवाह क्षीण और अशक्त पड़ने लगता है और गहरी विषमता आने लगती है तब नई शक्ति का प्रवाह फूट पड़ता जिसमें वेग की उच्छृंखलता के सामने बहुत कुछ ध्वंस भी होता है। पर यह उच्छृंखल वेग जीवन का यह जगत् का नित्य स्वरूप नहीं है।

3. पहले कहा जा चुका है कि नरक्षेत्र के भीतर बद्ध रहने वाली काव्य-दृष्टि की अपेक्षा सम्पूर्ण जीवन-क्षेत्र और समस्त चराचर के क्षेत्र से मार्मिक तथ्यों का चयन करने वाली दृष्टि उत्तरोत्तर अधिक व्यापक और गम्भीर कही जायेगी। जब कभी हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तीर्ण और व्यापक होता है कि हम अनन्य व्यक्ति सत्ता के भीतर नरसत्ता के स्थान का अनुभव करते हैं तब हमारी पार्थक्य-बुद्धि का परिहार हो जाता है। उस समय हमारा हृदय ऐसी उच्च भूमि पर पहुँच रहता है जहाँ उसकी वृत्ति प्रशांत और गम्भीर हो जाती है, उसकी अनुभूति का विषय ही कुछ बदल जाता है।

तथ्य चाहे नरक्षेत्र के ही हों, चाहे अधिक व्यापक क्षेत्र के हों, कुछ प्रत्यक्ष होते हैं और कुछ गूढ़। जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे उसे उस भाव का आलम्बन कहना चाहिए। ऐसे रसात्मक तथ्य आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती है। फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है। अत: यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों में संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। आरम्भ में मनुष्य की चेतन सत्ता अधिकतर इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही रही। फिर ज्यों-ज्यों अन्त:करण का विकास होता गया और सभ्यता बढ़ती गई त्यों-त्यों मनुष्य का ज्ञान

बुद्धि-व्यवसायात्मक होता गया। अब मनुष्य का ज्ञानक्षेत्र बुद्धि-व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत ही विस्तृत हो गया है। अत: उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। विचारों की क्रिया से, वैज्ञानिक विवेचन और अनुसंधान द्वारा उद्‌घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त और सजीव चित्रण भी - उसका इस रूप में प्रत्यक्षीकरण भी कि वह हमारे किसी भाव का आवलम्बन हो सके - कवियों का काम और उच्च काव्य का एक लक्षण होगा। कहने की आवयश्कता नहीं कि इन तथ्यों और परिस्थितियों के मार्मिक रूप न जाने कितनी बातों की तह में छिपे होंगे।

काव्य और व्यवहार

भावों या मनोविकारों के विवेचन में हम कह चुके हैं कि मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली मूल वृत्ति भावात्मिका है। केवल तर्क-बुद्धि या विवेचना के बल से हम किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। जहाँ जटिल बुद्धि-व्यापार के अंतर किसी कर्म का अनुष्ठान देखा जाता है वहाँ भी तह में कोई भाव या वासना छिपी रहती है। चाणक्य जिस समय अपनी नीति की सफलता के लिए किसी निष्ठुर व्यापार में प्रवृत्त दिखाई पड़ता है उस समय वह दया, करुणा आदि सब मनोविकारों या भावों से परे दिखाई पड़ता है। पर थोड़ा अन्तर्दृष्टि गड़ाकर देखने से कौटिल्य को नचानेवाली डोर का छोर भी अन्त:करण के रागात्मक खण्ड की ओर मिलेगा। प्रतिज्ञा-पूर्ति की आनन्द भावना और नन्दवंश के प्रति क्रोध या वैर की वासना बारी-बारी से उस डोर को हिलाती हुई मिलेंगी। अर्वाचीन राष्ट्रनीति के गुरू-घण्टाल जिस समय अपनी किसी गहरी चाल से किसी देश की निरपराध जनता का सर्वनाश करते हैं, उस समय वे दया आदि दुर्बलताओं से निर्लिप्त, केवल बुद्धि के कठपुतले दिखाई पड़ते हैं। पर उनके भीतर यदि छानबीन की जाय तो कभी अपने देशवासियों के सुख की उत्कंठा, कभी अन्य जाति के प्रति घोर विद्वेष, कभी अपनी जातीय श्रेष्ठता का नया या पुराना घमण्ड, इशारे करता हुआ मिलेगा।

बात यह है कि केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम को करने या न करने के लिए तैयार नहीं होते कि वह काम अच्छा है या बुरा, लाभदायक है या हानिकारक। जब उसकी या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारी भावना में आती है जो आह्लाद, क्रोध, करुणा, भय उत्कंठा आदि का संचार कर देती है तभी हम उस काम को करने या न करने के लिए उद्यत होते हैं। शुद्ध-ज्ञान या विवेक में कर्म की उत्तेजना नहीं होती। कर्म-प्रवृत्ति के लिये मन में कुछ वेग का आना आवश्यक है। यदि किसी जन-सनुदाय के बीच कहा जाय कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रतिवर्ष उठा ले जाता है तो सम्भव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्रय और अकाल का भीषण और करुण दृश्य दिखाया जाय, पेट की ज्वाला से जले हुए कंकाल कल्पना के सम्मुख रखे जायँ और भूख से तड़पते हुये बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त्त-क्रन्दन सुनाया जाय तो बहुत से लोग क्रोध और करुणा से व्याकुल हो उठेंगे और इस दशा को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेंगे। पहले ढंग की बात कहना राजनीतिज्ञ या अर्थशास्त्री का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य भावना में लाना कवि का। अत: यह धारणा कि काव्य व्यवहार का बाधक है, उसके अनुशीलन से अकर्मण्यता आती है, ठीक नहीं। कविता तो भाव प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।

उक्त धारणा का आधार यदि कुछ हो सकता है तो यह कि जो भावुक या सहृदय होते हैं अथवा काव्य के अनुशीलन से जिनके भाव-प्रसार का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, उनकी वृत्तियाँ उतनी स्वार्थबद्ध नहीं रह सकतीं। कभी-कभी वे दूसरों का जी दुखाने के डर से; आत्मगौरव या कुलगौरव या जाति-गौरव के ध्यान से; अथवा जीवन के किसी पक्ष की उत्कर्ष-भावना में नग्न होकर अपने लाभ के कर्म में अतत्पर या उससे विरत देखे जाते हैं। अत: अर्थागम से हृष्ट, 'स्वकार्य साधयेत्' के अनुयायी काशी के ज्योतिषी और कर्मकाण्डी, कानपुर के बनिये और दलाल, कचहरियों के अमले और मुख्तार ऐसों को कार्य-भ्रंशकारी, मूर्ख, निरे निठल्ले या खब्त-उल-हवास समझ सकते हैं। जिनकी भावना किसी बात के मार्मिक पक्ष का चित्रानुभव करने में तत्पर रहती है, जिनके भाव चराचर के बीच किसी को भी आलम्बनोपयुक्त रूप या दशा में पाते ही उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं, वे सदा अपने लाभ के ध्यान से या स्वार्थ बुद्धि द्वारा ही परिचालित नहीं होते। उनकी यही विशेषता अर्थपरायणों को - अपने काम से काम रखने वालों को - एक त्रुटि सी जान पड़ती है। कवि और भावुक हाथ-पैर न हिलाते हों, यह बात नहीं हैं। पर अर्थियों के निकट उनकी बहुत-सी क्रियाओं का कोई अर्थ नहीं होता।

मनुष्यता की उच्च भूमि

मनुष्य की चेष्टाओं और कर्मकलाप से भावों का मूल सम्बन्ध निरूपित हो चुका है और यह भी दिखाया जा चुका है कि कविता इन भावों या मनोविकारों के क्षेत्र को विस्तृत करती हुई इनका प्रसार करती है। पशुत्व से मनुष्यत्व में जिस प्रकार अधिक ज्ञान-प्रसार की विशेषता है उसी प्रकार अधिक भाव-प्रसार की भी। पशुओं के प्रेम की पहुँच प्राय: अपने जोड़े बच्चों या खिलाने-पिलाने वालों तक ही होती है। इसी प्रकार उनका क्रोध भी अपने सताने वालों तक ही जाता है, स्ववर्ग या पशुमात्र को सताने वाले तक नहीं पहुँचता। पर मनुष्य में ज्ञान-प्रसार के साथ भाव-प्रसार भी क्रमश: बढ़ता गया है। अपने परिजनों, अपने सम्बन्धियों, अपने पड़ोसियों,

अपने देशवासियों क्या मनुष्य मात्र और प्राणिमात्र तक से प्रेम करने भर को जगह उसके हृदय में बन गई है। मनुष्य की त्योरी मनुष्य को ही सताने वाले पर नहीं चढ़ती, गाय-बैल और कुत्ते-बिल्ली को सताने वाले पर भी चढ़ती है। पशु की वेदना देखकर भी उनके नेत्र सजल होते हैं। बन्दर को शायद बँदरिया के मुँह में ही सौंदर्य दिखाई पड़ता होगा; पर मनुष्य पशु-पक्षी, फूल-पत्ते और रेत-पत्थर में भी सौंदर्य पाकर मुग्ध होता है। इस हृदय-प्रसार का स्मारक स्तम्भ काव्य है जिसकी उत्तेजना से हमारे जीवन में एकतया जीवन आ जाता है। हम सृष्टि के सौदर्य को देखकर रसमग्न होने लगते है, कोई निष्ठुर कार्य हमें असह्य होने लगता है, हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना बढ़कर सारे संसार में व्याप्त हो गया है।

कवि-वाणी के प्रसार से हम संसार के सुख-दु:ख, आनन्द-क्लेश आदि का शुद्ध स्वार्थमुक्त रूप में अनुभव करते है। इस प्रकार के अनुभव के अभ्यास से हृदय का बन्धन खुलता है और मनुष्यता की उच्च भूमि की प्राप्ति होती है। किसी अर्थपिशाच कृपण को देखिए, जिसने केवल अर्थलोभ के वंशीभूत होकर क्रोध, दया, श्रद्धा, भक्ति, आत्माभिमान आदि भावों को एकदम दबा दिया है और संसार के मार्मिक पक्ष से मुँह मोड़ लिया है। न सृष्टि के किसी रूपमाधुर्य को देख वह पैसों का हिसाब-किताब भूल कभी मुग्ध होता है, न किसी दीन- दुखिया को देख कभी करुणा से द्रवीभूत होता है; न कोई अपमान-सूचक बात सुनकर क्रुद्ध या क्षुब्ध होता है। यदि उससे किसी लोमहर्षण अत्याचार की बात कही जाय तो वह मनुष्य धर्मानुसार क्रोध या घृणा प्रकट करने के स्थान पर रुखाई के साथ कहेगा कि "जाने दो, हमसे क्या मतलब; चलो अपना काम देखें।" यह महा भयानक मानसिक रोग है। इससे मनुष्य आधा मर जाता है। इसी प्रकार किसी महाक्रूर पुलिस कर्मचारी को जाकर देखिए जिसका हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर हो गया है, जिसे दूसरे के दु:ख और क्लेश की भावना स्वप्न में भी नहीं होती है। ऐसों को सामने पाकर स्वभावत: यह मन में आता है कि क्या इनकी भी कोई दवा है? इनकी दवा कविता है।

कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमश: उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है। उसकी अश्रुधारा में जगत् की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में जगत् के आनन्द-नृत्य का, उसे गर्जन-तर्जन में जगत् के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।

भावना या कल्पना

इस निबन्ध के आरम्भ में ही हम काव्यानुशीलन को भावयोग कह आए हैं और उसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष बता आए हैं। यहाँ पर अब यह कहने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि 'उपासना' भावयोग का ही एक अंग है। पुराने धार्मिक लोग उपासना का अर्थ 'ध्यान' ही लिया करते हैं। जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती हैं उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। साहित्य वाले इसी को 'भावना' कहते हैं और आजकल के लोग 'कल्पना'। जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार और भावों के प्रवर्त्तन के लिए भी भावना या कल्पना अपेक्षित होती है। जिनकी भावना या कल्पना शिथिल या अशक्त होती है, किसी कविता या सरस उक्ति को पढ़-सुनकर उनके हृदय में मार्मिकता होते हुए भी वैसी अनुभूति नहीं होती। बात यह है कि उनके अंत:करण में चटपट वह सजीव और स्पष्ट मूर्ति-विधान नहीं होता जो भावों को परिचालित कर देता है। कुछ कवि किसी बात के सारे मार्मिक अंगों का पूरे ब्योरे के साथ चित्रण कर देते हैं, पाठक या श्रोता की कल्पना के लिए बहुत कम काम छोड़ते है और कुछ कवि कुछ मार्मिक खण्ड रखते हैं जिन्हें पाठक की तत्पर कल्पना आप से आप पूर्ण करती हैं।

कल्पना दो प्रकार की होती है - विधायक और ग्राहक। कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और श्रोता या पाठक में अधिकतर ग्राहक। अधिकतर कहने का अभिप्राय यह है जहाँ कवि पूर्ण चित्रण नहीं करता वहाँ पाठक या श्रोता को भी अपनी ओर से कुछ मूर्ति-विधान करना पड़ता है; योरोपीय साहित्य-मीमांसा में कल्पना को बहुत प्रधानता दी गई है। है भी यह काव्य का अनिवार्य साधन, पर है साधन ही, साध्य नहीं, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। किसी प्रसंग के अंतर्गत कैसा ही विचित्र मूर्ति-विधान हो पर यदि उसमें उपयुक्त भावसंचार की क्षमता नहीं है तो वह काव्य के अंतर्गत न होगा।

मनोरंजन

प्राय: सुनने में आता है कि कविता का उद्देश्य मनोरंजन है। पर जैसा कि हम पहले कह आए हैं, कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य-स्थापन है। इतने गम्भीर उद्देश्य के स्थान पर केवल मनोरंजन का हलका उद्देश्य सामने रखकर जो कविता का पठन-पाठन या विचार करते हैं, वे रास्ते ही में रह जाने वाले पथिक के समान हैं। कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर उसके उपरांत कुछ और भी होता है और वही और सब कुछ है। मनोरंजन वह शक्ति है जिससे कविता अपना प्रभाव जमाने के लिए मनुष्य की चित्तवृत्ति को स्थित किये रहती है, इधर-उधर जाने नहीं देती। अच्छी से अच्छी बात को भी कभी-कभी जो केवल कान से सुन भर लेते है, उनकी ओर उनका मनोयोग नहीं होता।

केवल यही कह कर कि 'परोपकार करो', 'दूसरों पर दया करो', 'चोरी करना महापाप है', हमें यह आशा कदापि न करनी चाहिए कि कोई अपकारी उपकारी, कोई क्रूर दयावान् या कोई चोर साधु हो जाएगा। क्योंकि ऐसे वाक्यों के अर्थ की पहुँच हृदय तक होती ही नहीं, वह ऊपर रह जाता है। ऐसे वाक्यों द्वारा सूचित व्यापारों का मानव जीवन के बीच कोई मार्मिक चित्र सामने न पाकर हृदय उनकी अनुभूति की ओर प्रवृत्त ही नहीं होता।

पर कविता अपनी मनोरंजन-शक्ति द्वारा पढ़ने या सुनने वाले का चित्त रमाये रहती है, जीवन-पट पर उक्त कर्मों को सुन्दरता या विरूपता अंकित करके हृदय के मर्मस्थलों का स्पर्श करती है। मनुष्य के कुछ कर्मों में जिस प्रकार दिव्य सौंदर्य और माधुर्य होता है, उसी प्रकार कुछ कर्मों में भीषण कुरूपता और भद्दापन होता है। इसी सौंदर्य या कुरूपता का सम्यक् प्रत्यक्षीकरण कविता ही कर सकती है।

कविता की इसी रमाने वाली शक्ति को देखकर पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा योरोपीय समीक्षकों ने 'आनन्द' को काव्य का परम लक्ष्य ठहराया। इस प्रकार के मार्ग को ही अन्तिम गन्तव्य स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़ झाला हुआ। मनोरंजन या आनन्द तो बहुत-सी बातों में हुआ करता है। किस्सा-कहानी सुनने में भी तो पूरा मनोरंजन होता है, लोग रात-रात भर सुनते रह जाते है। पर क्या कहानी सुनना और कविता सुनना एक ही बात है? हम रसात्मक कथाओं या आख्यानों की बात नहीं कहते है; केवल घटना वैचित्र्यपूर्ण कहानियों की बात कहते है। कविता और कहानी का अन्तर स्पष्ट है। कविता सुनने वाला किसी भाव में मग्न रहता है और कभी-कभी बार-बार एक ही पद्य सुनना चाहता है। पर कहानी सुनने वाला आगे की घटना के लिए आकुल रहता है। कविता सुनने वाला कहता है, "जरा फिर तो कहिये।" कहानी सुनने वाला कहता है, "हाँ! तब क्या हुआ!"

मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनन्द पहुँचाना ही यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य माना जाए तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई। परन्तु क्या कोई कह सकता है कि वाल्मीकि ऐसे मुनि और तुलसीदास ऐसे भक्त ने केवल इतना ही समझकर श्रम किया कि लोगों को समय काटने का एक अच्छा सहारा मिल जायेगा? क्या इससे गम्भीर कोई उद्देश्य उनका न था? खेद के साथ कहना पड़ता है कि बहुत दिनों से बहुत से लोग कविता को विलास की सामग्री समझते आ रहें हैं। हिन्दी के रीतिकाल के कवि तो मानों राजाओं-महाराजाओं की कामवासना उत्तेजित करने के लिए ही रखे जाते थे। एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज रस की पिचकारी देते थे, पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुसखे भी कवि लोग तैयार करने लगे। गर्मी के मौसम के लिए एक कवि जी व्यवस्था करते है-

सीतल गुलाबजल भरि चहबच्चन में,
डारि कै कमलदल न्हायबे को धँसिए।
कालिदास अंग-अंग अगर अतर संग
केसर उसीर नीर धनसार धँसिए।
जेठ में गोविंद लाल चन्दन के चहलन
भरि-भरि गोकुल के महलन बसिए।

इसी प्रकार शिशिर के मसाले सुनिए:

गुलगुली गिलमैं, गलीचा हैं, गुमीजन हैं,
चिक हैं, चिराकैं हैं, चिरागन की माला हैं।
कहै पदमाकर है गजक गजा हू सजी,
सज्जा हैं, सुरा हैं, सुराही है सुप्याला हैं।
शिशिर के पाला को न ब्यापत कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।

सौंदर्य

सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कोड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं वैसे ही सुन्दर से पृथक् सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना

के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौंदर्य की अनुभूति है। इसके विपरीत कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी प्रतीति या जिनकी भावना हमारे मन में कुछ देर टिकने ही नहीं पाती और एक मानसिक आपत्ति-सी जान पड़ती है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायेगी। इस विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर-बाहर का भेद व्यर्थ हैं। जो भीतर है वही बाहर है।

यही बाहर हँसता-खेलता, रोता-गाता, खिलता-मुरझाता जगत् भीतर भी है जिसे हम मन कहते हैं। जिस प्रकार यह जगत् रूपमय और गतिमय है उसी प्रकार मन भी। मन भी रूप-गति का संघात ही है। रूप मन और इन्द्रियों द्वारा संघटित है या मन और इन्द्रियाँ रूपों-द्वारा, इससे यहाँ प्रयोजन नहीं। हमें तो केवल यही कहना है कि हमें अपने मन का और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है।

किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के क्रोध का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप में जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई हमारी सौंदर्य की अनुभूति कही जायेगी। जिस प्रकार की रूपरेखा या वर्णविन्यास से किसी की तदाकार परिणति होती है, उसी प्रकार की रूपरेखा या वर्णविन्यास उसके लिए सुन्दर है। मनुष्यता की सामान्य भूमि पर पहुँची हुई संसार की सब सभ्य जातियों में सौदर्य के सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हैं। भेद अधिकतर अनुभूति की मात्रा में पाया जाता है। न सुन्दर को कोई एक बारगी कुरूप कहता है और न बिल्कुल कुरूप को सुन्दर। जैसा कि कहा जा चुका हैं, सौंदर्य का दर्शन मनुष्य-मनुष्य ही में नहीं करता है प्रत्युत पल्लव-गुम्फित पुष्पहास में, पक्षियों के पक्षजाल में, सिंन्दूराभ सान्ध्य दिगंचल के हिरण्य-मेखला-मण्डित घन-खण्ड में, तुषारावृत्ति तुंग-गिरि-शिखर में, चन्द्रकिरण से झलझलाते निर्झर में और न जाने कितनी वस्तुओं में वह सौंदर्य की झलक पाता है।

जिस सौंदर्भ की भावना में मग्न होकर मनुष्य पृथक् अपनी सत्ता की प्रतीति का विसर्जन करता है वह अवश्य एक दिव्य विभूति है। भक्त लोग अपनी उपासना या ध्यान में इसी विभूति का अवलम्बन करते हैं। तुलसी और सूर ऐसे सगुणोपासक भक्त राम और कृष्ण की सौंदर्य-भावना में मग्न होकर ऐसी मंगल-दशा का अनुभव कर गये हैं जिसके सामने कैवल्य या मुक्ति की कामना का कहीं पता नहीं लगता है।

कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप में सौंदर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है। वह जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुखमंडल आदि का सौंदर्य मन में लाती है उसी प्रकार उदारता, वीरता, त्याग, दया, प्रेमोत्कर्ष इत्यादि कर्मों और मनोवृत्तियों का सौंदर्य भी मन में जमाती है। जिस प्रकार वह शव को नोचते हुए कुत्तों और शृगालों के वीभत्स व्यापार की झलक दिखाती है उसी प्रकार क्रूरों की हिंसावृत्ति और दुष्टों की ईर्ष्या आदि की कुरूपता से भी क्षुब्ध करती है। इस कुरूपता का अवस्थान सौंदर्य की पूर्ण और स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए ही समझना चाहिए। जिन मनोवृत्तियों का अधिकतर बुरा रूप हम संसार में देखा करते हैं उनका भी रूप सुन्दर कविता ढूँढकर दिखाती है। दशवदन-निधनकारी राम के क्रोध के सौंदर्य पर कौन मोहित न होगा?

जो कविता रमणी के रूप माधुर्य्य से हमें तृप्त करती है वही उसकी अन्तर्वृत्ति की सुन्दरता का आभास देकर हमें मुग्ध करती है। जिस बंकिम की लेखनी ने गढ़ पर बैठी हुई राजकुमारी तिलोत्तमा के अंग-प्रत्यंग की सुषमा को अंकित किया है उसी ने नवाब-नन्दिनी आयशा के अन्तस् की अपूर्व सात्विकी ज्योति की झलक दिखाकर पाठकों को चमत्कृत किया है। जिस प्रकार बाह्य प्रकृति के बीच वन, पर्वत, नदी-निर्झर आदि की रूप-विभूति से हम सौंदर्य-मग्न होते हैं, उसी प्रकार अंत:प्रकृति में दया, दाक्षिण्य, श्रद्धा, भक्ति आदि वृत्तियों की स्निग्ध शीतल आभा में सौंदर्य लहराता हुआ पाते है। यदि कहीं बाह्य और आभ्यन्तर दोनों सौंदर्य का योग दिखाई पड़े तो फिर क्या कहना है। यदि किसी अत्यन्त सुन्दर पुरूष की धीरता, वीरता, सत्यप्रियता आदि अथवा किसी अत्यन्त रूपवती स्त्री की सुशीलता, कोमलता और प्रेम-परायणता आदि भी सामने रख दी जायें तो सौंदर्य की भावना सर्वांगपूर्ण हो सकती है।

सुन्दर और कुरूप-काव्य में बस ये ही दो पक्ष है। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, अनुपयोगी-उपयोगी - ये सब शब्द काव्यक्षेत्र के बाहर के हैं। ये नीति, धर्म व्यवहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द है। शुद्ध काव्य-क्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी, न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखाई जाती है - सुन्दर और असुन्दर। जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहला है, कवि उसके सौंदर्य-पक्ष पर आप ही मुग्ध रहता है और दूसरों को भी मुग्ध करता है। जिसे धर्मज्ञ अपनी दृष्टि के अनुसार शुभ और मंगल समझता है, उसी को कवि अपनी दृष्टि के अनुसार सुंदर कहता है। दृष्टि भेद अवश्य है। धार्मिक की दृष्टि से जीव के कल्याण, परलोक में सुख, भवबन्धन से मोक्ष आदि की ओर रहती है। पर कवि की दृष्टि इन सब बातों की ओर नहीं रहती। वह उधर देखता हैं जिधर सौंदर्य दिखाई पड़ता है। इतनी-सी बात ध्यान में रखने से ऐसे-ऐसे झमेलों में पड़ने की आवश्यकता बहुत दूर हो जाती है कि "कला में सत्-असत्, धर्माधर्म का विचार होना चाहिए या नहीं", "कवि को उपदेशक बनना चाहिए या नहीं।"

कवि की दृष्टि तो सौंदर्य की ओर जाती है चाहे वह जहाँ हो - वस्तुओं के रूप-रंग में अथवा मनुष्यों के मन, वचन और कर्म में। उत्कर्ष साधन के लिए, प्रभावी की वृद्धि के लिए, कवि लोग कई प्रकार के सौंदर्यों का मेल भी किया करते हैं। राम की रूप माधुरी और रावण की विकरालता भीतर का प्रतिबिम्ब-सी जान पड़ती है। मनुष्य के भीतरी-बाहरी सौंदर्य के साथ चारों ओर की प्रकृति के सौंदर्भ को भी मिला देने से वर्ण का प्रभाव कभी-कभी बहुत बढ़ जाता है। चित्रकूट ऐसे रम्य स्थान में राम और भरत ऐसे रूपवानों की रम्य अन्त:प्रकृति की छटा का क्या कहना है।

चमत्कारवाद

काव्य के सम्बन्ध में 'चमत्कार' अनूठापन आदि शब्द बहुत दिनों से लाए जाते हैं। चमत्कार मनोरंजन की सामग्री है, इसमें सन्देह नहीं। इसमें जो लोग मनोरंजन को ही काव्य लक्ष्य समझते हैं, वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूँढ़ा करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर जो लोग इससे ऊँचा और गम्भीर लक्ष्य समझते है वे चमत्कार मात्र को काव्य नहीं मान सकते। चमत्कार से हमारा अभिप्राय यहाँ प्रस्तुत वस्तु के अद्भुतत्व या वैलक्षण्य से नहीं जो अद्भुत रस के आलम्बन में होता है। 'चमत्कार' से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है। जिसके अन्तर्गत वर्णविन्यास की विशेषता (जैसे, अनुप्रास में), शब्दों की क्रीड़ा (जैसे श्लेष, यमक आदि में), वाक्य की वक्रता या वचनभंगी (जैसे, काव्यर्थापत्ति, परिसंख्या विरोधाभास, असंगति इत्यादि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य सम्बन्ध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना (जैसे, उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं।

चमत्कार का प्रयोग भावुक कवि भी करते हैं, पर किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए। जिस रूप या जिस मात्रा में भाव की स्थिति है उसी रूप और उसी मात्रा में उसकी व्यंजना के लिये प्राय: कवियों को व्यजंना का कुछ असामान्य ढंग पकड़ना पड़ता है। बातचीत में भी देखा जाता है कि कभी-कभी हम किसी को मूर्ख न कहकर 'बैल' कह देते है। इसका मतलब यही है कि उसकी मूर्खता की जितनी गहरी भावना मन में है वह 'मूर्ख' शब्द से नहीं व्यक्त होती। इसी बात को देखकर कुछ लोगों ने यह निश्चय किया कि यही चमत्कार या उक्तिवैचित्र्य ही काव्य का नित्य लक्षण है। इस निश्चय के अनुसार कोई वाक्य, चाहे वह कितना ही मर्मस्पर्शी हो, यदि उक्तिवैचित्र्य-शून्य है तो काव्य के अंतर्गत न होगा और कोई वाक्य जिसमें किसी भाव या कर्म-विचार की व्यजंना कुछ भी न हो पर उक्तिवैचित्र्य हो, वह खासा काव्य कहा जायेगा। उदाहरण के लिए, पद्माकर का यह सीधा सादा वाक्य लीजिए -

"नैन नचाय कही मुसुकाय 'लला फिर आइयो खेलन होरी'।"

अथवा मंडन का यह सवैया लीजिए -

अलि! हौ तौ गई जमुना-जल को,
सो कहा कहौं; वीर विपत्ति परी।
घहराय कै कारी घटा उनई,
इतनेई में गागर सीस धरी।।
रपट्यो पग, घाट चढ़्यो न गयो,
कवि मंडन ह्वै कै बेहाल गिरी।
चिरजीवहु नन्द को बारो अरी,
गहि बाँह गरीबनी ठाढ़ी करी।।

इसी प्रकार ठाकुर की यह अत्यन्त स्वाभविक वितर्क-व्यजंना देखिए -

या निरमोहिन रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तो पहचानति ह्वै है।
ठाकुर या मन को परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत हैं नित मेरे लिए, इतनी तो विशेष कै जानति ह्वै है।

मंडन ने प्रेम-गोपन के जो वचन कहलाये हैं, वे ऐसे ही हैं जैसे जल्दी में स्वाभावत: मुँह से निकल पड़ते है। उनमें विदग्धता की अपेक्षा स्वाभाविकता कहीं अधिक झलक रही है। ठाकुर के सवैया में भी अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर नये प्रेमी के

चित्त के वितर्क की बड़े सीधे-सादे शब्दों में, बिना किसी वैचित्र्य या लोकोत्तर चमत्कार के, व्यजंना की गई है। क्या कोई सहृदय वैचित्र्य के अभाव के कारण कह सकता है कि इनमें काव्यत्व नहीं है?

अब इनके सामने उन केवल चमत्कार वाली उक्तियों का विचार कीजिये जिसमें कहीं कोई कवि किसी राजा की कीर्ति की धवलता चारों ओर फैलती देख यह आशंका प्रकट करता है कि कहीं मेरी स्त्री के बाल भी सफेद न हो जायें अथवा प्रभात होने पर कौवों में काँव-काँव का कारण यह भय बताता है कि कालिमा या अन्धकार का नाश करने में प्रवृत्त सूर्य कहीं उन्हें काला देख उनका भी नाश कर दे। भोज-प्रबन्ध तथा और-और सुभाषित-संग्रहों में इस प्रकार की उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। केशव की रामचंद्रिका में पचीसों ऐसे पद्य हैं जिनमें अलंकारों की भद्दी भरती के चमत्कार के सिवा हृदय को स्पर्श करने वाली या किसी भावना में मग्न करने वाली कोई बात न मिलेगी। उदाहरण के लिए पताका और पंचवटी के वर्णन कीजिये -

पताका

अति सुन्दर अति साधु। थिर न रहति पल आधु।
परम तपोमय मानि। दंडिधारिणी जानि।।

पंचवटी

बेर भयानक सी अति लगै। अर्क समूह जुहाँ जगमगै।
पांडव की प्रतिमा मन लेखौ। अर्जुन भीम महामति देखौ।
हे सुभगा सम दीपति पूरी। सिंदुर औ तिलकावति रूरी।
राजति है यह ज्यौं कुलकन्या। धाय विराजति है सँग धन्या।।

क्या कोई भावुक इन उक्तियों को शुद्ध काव्य कह सकता है? क्या ये उसके मर्म का स्पर्श कर सकती हैं?

ऊपर दिये अवतरणों में हम स्पष्ट देखते हैं कि किसी उक्ति की तह में उसके प्रवर्त्तक के रूप में यदि कोई भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति छिपी है तो चाहे वैचित्र्य हो या न हो, काव्य की सरसता बराबर पाई जायगी। पर यदि कोरा वैचित्र्य या चमत्कार ही चमत्कार है तो थोड़ी देर के लिए कुछ कुतूहल या मन-बहलाव चाहे हो जाये पर काव्य की लीन करने वाली सरसता न पाई जायेगी। केवल कुतूहल तो बालवृत्ति है। कविता सुनना और तमाशा देखना एक ही बात नहीं है। यदि सब प्रकार की कविता में केवल आश्चर्य या कुतूहल का ही संचार मानें तब तो अलग-अलग स्थायी भावों की रसरूप में अनुभूति और भिन्न-भिन्न भावों के आश्रयों के साथ तादात्म्य का कहीं प्रयोजन ही नहीं रह जाता।

यह बात ठीक है कि हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके धर्म का जो स्पर्श होता है, वह उक्ति ही द्वारा। पर उक्ति के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह सदा विचित्र, अद्‌भुत या लोकोत्तर हो - ऐसी हो जो सुनने में नहीं आया करती या जिसमें बड़ी दूर की सूझ होती है। ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना (जैसे प्रस्तुत वस्तु का सौंदर्य आदि) में लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्णविन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं, सूक्ति है। बहुत से लोग काव्य और सूक्ति को एक ही समझा करते हैं। पर इन दोनों का भेद सदा ध्यान में रहना चाहिए। जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन; रचना वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्ति करे, वह सूक्ति।

यदि किसी उक्ति में रसात्मकता और चमत्कार दोनों हों तो प्रधानता का विचार करके सूक्ति या काव्य का निर्णय हो सकता है। जहाँ उक्ति में अनूठापन अधिक मात्रा में होने पर भी उसकी तह में रहने वाला भाव आच्छन्न नहीं हो जाता, वहाँ भी काव्य ही माना जायेगा। जैसे देव का यह सवैया लीजिए -

साँसन में ही समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनौ अरु भूमि गई तन की तनुता करि।।
देव जियै मिलिबेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियै हरि जू हरि।।

सवैये का अर्थ यह है कि वियोग में उस नायिका के शरीर को संघटित करने वाले पंचभूत धीरे-धीरे निकलते जा रहे है। वायु दीर्घ नि:श्वासों के द्वारा निकल गई, जलतत्त्व सारा आँसुओं ही आँसुओं में ढल गया, तेज भी न रह गया - शरीर की सारी दीप्ति या कान्ति जाती रही, पार्थिव तत्त्व के निकल जाने से शरीर क्षीण हो गया; अब तो उसके चारों ओर आकाश ही आकाश रह गया है - चारों ओर शून्य दिखाई पड़ रहा है। जिस दिन से श्रीकृष्ण ने उसकी ओर मुँह फेर कर ताका है और मन्द-मन्द हँसकर उसे मन का हर लिया है, उसी दिन से उसकी यह दशा है।

इस वर्णन में देवजी ने विरह की भिन्न-भिन्न दशाओं में चार भूतों के निकलने की बड़ी सटीक उद्भावना की है। आकाश का अस्तित्व भी बड़ी निपुणता से चरितार्थ किया है। यमक, अनुप्रास आदि भी हैं। सारांश यह कि उनकी उक्ति में एक पूरी सावयव कल्पना है, मजमून की पूरी बन्दिश है, पूरा चमत्कार या अनूठापन है। पर इस चमत्कार के बीच में भी विरह वेदना स्पष्ट झलक रही है, उसकी चकाचौंध में अदृश्य नहीं हो गई है। इसी प्रकार मतिराम के इस सवैये की पिछली दो पंक्तियों में वर्षा के रूपक का जो व्यंग्य-चमत्कार है वह भाव-सबलता के साथ अनूठे ढंग से गुम्फित है -

- **दोऊ अनन्द सों आँगन माँझ**
  बिराजैं असाढ़ की साँझ सुहाई।
  प्यारी के बूझत और तिया को
  अचानक नाम लियो रसिकाई।।
  आई उनके मुंह पे हँसी जो
  तिया पुनि चाप सी भौंह चढाई।
  आँखिन ते गिरे आँसू के बूँद,
  सुहास गयो उड़ि हंस की नाई।।

इसके विरूद्ध बिहारी को उन उक्तियों में जिनमें विरहिणी के शरीर के पास ले जाते ले जाते शीशी का गुलाबजल सूख जाता है उसके विरह-ताप की लपट के मारे माघ के महीने में भी पड़ोसियों का रहना कठिन हो जाता है, कृशता के कारणा विरहिणी साँस खींचने के साथ दो-चार हाथ पीछे और साँस छोड़ने के दो-चार हाथ आगे उड़ जाती है, अत्युक्ति का एक बड़ा तमाशा ही खड़ा किया गया है। कहाँ यह सब मज़ाक, कहाँ विरह वेदना!

यह कहा जा चुका है कि उमड़ते हुये भाव की प्रेरणा से अक्सर कथन के ढंग में कुछ वक्रता आ जाती है। ऐसी वक्रता काव्य की प्रक्रिया के भीतर रहती है। उसका अनूठापन भाव-विधान के बाहर की वस्तु नहीं। उदाहरण के लिये दासजी की ये दशा-सूचक उक्तियाँ लीजिए -

अब तौ बिहारी के वे बानक गये री,
तेरी तनदुति-केसर को नैन कसमीर भो।
श्रोन तुव बानी स्वाति-बूँदन के चातक भे,
साँसन को भरिबो द्रुपदजा की चीर भो।।
हिय को हरष मरू धरनि को नीर भो,
री! जियरो मनोभव-शरन को तुनीर भो।
एरी! बेगि करिकै मिलापु थिर थापु,
न तौ आयु अब चहत अतनु को सरीर भो।।

ऐसी ही भाव-प्रेरित वक्रता द्विजदेव की इस मनोहर उक्ति में है -

तू जो कही, सखि! लोनो सरूप,
सो मो अँखियान को लोनी गई लगि।

प्रेम के स्फुरण की विलक्षण अनुभूति नायिका की हो रही है - कभी आँसू आते हैं, कभी अपनी दशा पर आप अचरज होता है कभी हल्की-सी हँसी भी आ जाती है कि अच्छी बला मैंने मोल ली। इसी बीच अपनी अन्तरंग सखी को सामने पाकर किंचित् विनोद-चातुरी की भी प्रवृति होती है। ऐसी जटिल अंतर्वृत्ति द्वारा प्रेरित उक्ति में विचित्रता आ ही जाती है। ऐसी चित्तवृत्तियों के अवसर घड़ी-घड़ी नहीं आया करते। सूरदासजी का 'भ्रमरगीत' ऐसी भाव-प्रेरित वक्र उक्तियों से भरा पड़ा है।

उक्ति की वहीं तक की वचनभंगी या वक्रता के सम्बन्ध में हमसे कुन्तलजी का 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' मानते बनता है, जहाँ जक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो; उसके आगे नहीं। कुन्तलजी की वक्रता बहुत व्यापक है जिसके अंतर्गत वे वाक्-वैचित्र्य को वक्रता और वस्तु-वैचित्र्य की वक्रता दोनों लेते हैं। सालंकृत वक्रता के चमत्कार ही में वे काव्यत्व मानते है। योरप में भी आजकल क्रोसे (क्रोचे) के प्रभाव से एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद जोर पर है। विलायती वक्रोक्तिवाद लक्षण-प्रधान है। लाक्षणिक चपलता और प्रगल्भता में ही; उक्ति के अनूठे स्वरूप में ही, बहुत से लोग वहाँ कविता मानने लगे हैं। उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहाँ भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि कैसी उक्ति, किस प्रकार की व्यंजना करने वाला वाक्य? वक्रोक्तिवादी कहेंगे कि ऐसी उक्ति जिसमें कुछ वैचित्र्य या चमत्कार हो, व्यंजना चाहे जिसकी हो, या किसी ठीक-ठीक बात की न भी हो पर जैसा कि हम कह चुके हैं, मनोरंजन मात्र काव्य का उद्देश्य न मानने वाले इस बात का समर्थन करने में असमर्थ होंगे। वे किसी लक्षण में उसका प्रयोजन अवश्य ढूँढेंगें।

कविता की भाषा

कविता में कही गई बात चित्र-रूप में हमारे सामने आनी चाहिए, यह हम पहले कह आए है। अतः उसमें गोचर-रूपों का विधान अधिक होता है। वह प्रायः ऐसे रूपों और व्यापारों को ही खेती है जो स्वाभाविक होते हैं और संसार में सबसे अधिक मनुष्यों को सबसे अधिक दिखाई पड़ते हैं।

अगोचर बातों या भावनाओं को भी, जहाँ तक हो सकता है, कविता स्थूल गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है। इस मूर्ति-विधान के लिए वह भाषा की लक्षणा-शक्ति से काम लेती है। जैसे, "समय बीता जाता है" कहने की अपेक्षा "समय भागा जाता है" कहना वह अधिक पसन्द करेगी। किसी काम से हाथ खींचना, किसी का रुपया खा जाना, कोई बात पी जाना, दिन ढलना या डूबना, मन मारना, मन छूना, शोभा बरसना, उदासी टपकना इत्यादि ऐसी ही कवि-समय-सिद्ध उक्तियाँ हैं जो बोलचाल में रूढ़ि होकर आ गई हैं। लक्षणा-द्वारा स्पष्ट और सजीव आकार-प्रदान का विधान प्रायः सब देशों के कवि-कर्म में पाया जाता है। कुछ उदाहरण देखिए

(क) धन्य भूमि बनपंथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाँव तुम धारा। - तुलसी

(ख) मनहु उमगि अँग अँग छबि छलकैं। - तुलसी

(ग) चूनरि चारु चुई सी परै।

(घ) बनन में बागन में बगरो बसन्त है। - पद्माकर

(ड.) वृन्दावन-बागन पै बसन्त बरसो परै। - पद्माकर

(च) हौं तो श्यामरंग में चोराय, चित्त चोराचोरी बोरत तो बोर्‌यो पै निचोरत बनै नहीं - पद्माकर

(छ)

एहो नन्दलाल ऐसी व्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तौ चलौ, जोरे, जुरि जायगी।
कहै पद्माकर नहीं तौ ये झकोरे लगे,
ओरे लौं अचाका बिनु घोरे धुरि जायगी।
तौ ही लगि चैन जौलौं चेतिहै न चन्द्रमुखी,
चेतैगी कहूँ तौ चाँदनी में धुरि आयगी।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वस्तु या तथ्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण तथा भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति के अनुरूप व्यंजना के लिए लक्षणा का बहुत कुछ सहारा कवि को लेना पड़ता है।

भावना को मूर्त्त रूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यही रहती है कि उसमें जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष-रूप-व्यापार सूचक शब्द अधिक रहते हैं। बहुत से ऐसे शब्द होते है जिनसे किसी एक का नहीं बल्कि बहुत से रूपों या व्यापारों का एक साथ चलता-सा अर्थ ग्रहण हो जाता है। ऐसे शब्दों को हम जाति-संकेत कह सकते हैं। ये मूर्त्त विधान के प्रयोजन के नहीं होते। किसी ने कहा "वहाँ बड़ा अत्याचार हो रहा है।" इस अत्याचार शब्द के अंतर्गत मारना-पीटना, डाँटना-डपटना, लूटना-पाटना इत्यादि बहुत से व्यापार हो सकते हैं, अतः 'अत्याचार' शब्द के सुनने से उन सब व्यापारों की एक मिली-जुली अस्पष्ट भावना थोड़ी देर के लिए मन में आ जाती हैं; कुछ विशेष व्यापारों का स्पष्ट चित्र या मूर्त्त

रूप नहीं खड़ा होता। इससे ऐसे शब्द कविता के उतने काम के नहीं। ये तत्त्व-निरूपण, शास्त्रीय विचार आदि में ही अधिक उपयोगी होते है। भिन्न-भिन्न शास्त्रों में बहुत से शब्द तो विलक्षण ही अर्थ देते हैं और परिभाषिक कहलाते हैं। शास्त्र-मीसांसक या तत्त्व-निरूपक को किसी सामान्य तथ्य या तत्त्व तक पहुँचने की जल्दी रहती है, इससे वह किसी सामान्य धर्म के अन्तर्गत आने वाली बहुत सी बातों को एक मानकर अपना काम चलाता है; प्रत्येक का अलग-अलग दृश्य देखने में नहीं उलझता।

पर कविता कुछ वस्तुओं और व्यापारों को मन के भीतर मूर्त्त रूप में लाना और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कुछ देर रखना चाहती है। अत: उक्त प्रकार के व्यापक अर्थ-संकेतों से ही उसका काम नहीं चल सकता। इससे जहाँ उसे किसी स्थिति का वर्णन करना रहता है, वहाँ वह उसके अन्तर्गत सबसे अधिक मर्मस्पर्शिनी कुछ विशेष वस्तुओं या व्यवहारों को लेकर उनका चित्र खड़ा करने का आयोजन करती है। यदि कहीं के घोर अत्याचार का वर्णन करना होगा तो वह कुछ निरपराध व्यक्तियों के वध, भीषण यन्त्रणा, स्त्री-बच्चों पर निष्ठुर प्रहार आदि क्षोभकारी दृश्य सामने रखेगी। "वहाँ घोर अत्याचार हो रहा है" इस वाक्य द्वारा वह कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकती। अत्याचार शब्द के अंतर्गत न जाने कितने व्यापार आ सकते हैं, अत: उसे सुनकर या पढ़कर सम्भव है कि भावना में एक भी व्यापार स्पष्ट रूप से न आये या आये भी तो ऐसा जिसमें मर्म को क्षुब्ध करने की शक्ति न हो।

उपर्युक्त विचार से ही किसी व्यवहार या शास्त्र के पारिभाषिक शब्द भी काव्य में लाये जाने योग्य नहीं माने जाते। हमारे यहाँ के आचार्यों ने पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग 'अप्रतीतत्व' दोष माना है। पर दोष स्पष्ट होते हुये भी चमत्कार के प्रेमी कब मान सकते है? संस्कृत के अनेक कवियों ने वेदान्त, आयुर्वेद, न्याय के पारिभाषिक शब्दों को लेकर बड़े-बड़े चमत्कार खड़े किये हैं वा अपनी बहुज्ञता दिखाई है। हिन्दी के किसी मुकदमेबाज कवित्त कहने वाले ने "प्रेम फौजदारी" नाम की एक छोटी सी पुस्तक में शृंगार रस की बातें अदालती कार्रवाइयों पर घटाकर लिखी है। "एक तरफा डिगरी", "तनकीह" ऐसे-ऐसे शब्द चारों ओर अपनी बहार दिखा रहें है, जिन्हें सुन कर कुछ अशिक्षित या भद्दी रुचि वाले वाह-वाह भी कर देते हैं।

शास्त्र के भीतर निरूपित तथ्य को भी जब कोई कवि अपनी रचना के भीतर लेता है, तब वह पारिभाषिक तथा अधिक व्याप्ति वाले जाति-संकेत शब्दों को हटाकर उस तथ्य को व्यंजित करने वाले कुछ विशेष मार्मिक रूपों और व्यापारों का चित्रण करता है। कवि गोचर और मूर्त्त रूपों के द्वारा ही अपनी बात कहता है। उदाहरण के लिये गोस्वामी तुलसीदास जी के ये वचन लीजिए-

जेहि निसि सकल जीव सूतहिं तब कृपापात्र बन जागै।

इसमें माया में पड़े हुए जीव की अज्ञान दशा का काव्य-पद्धति पर कथन है। और देखिए। प्राणी आयु भर क्लेश-निवारण और सुख प्राप्ति का प्रयाय करता रह जाता है और कभी वास्तविक सुख-शान्ति प्राप्त नहीं करता; इस बात को गोस्वामीजी यों सामने रखते हैं -

डासत ही गइ बीति निसा सब,
कबहुँ न नाथ! नींद भर सोयो।

भविष्य का ज्ञान अत्यन्त अद्‌भुत और रहस्यमय है। जिसके कारण प्राणी आने वाली विपत्ति की कुछ भी भावना न करके अपनी दशा में मग्न रहता है। इस बात को गोस्वामीजी ने "चरै हरित तृन बलिपशु" इस चित्र द्वारा व्यक्त किया है। अंगरेज कवि पोप ने भी भविष्य के अज्ञान का यही मार्मिक चित्र लिया है, यद्यपि उसने इस अज्ञान को ईश्वर का बड़ा भारी अनुग्रह कहा हैं -

उस बलिपशु को देख आज जिसका तू, रे जन।
अपने रंग में रक्त बहायेगा बेदी पर।
होता उसको ज्ञान कहीं तेरा है जैसा,
क्रीड़ा करता अभी उछलता फिरता ऐसा?
अन्तकाल तक हरा-हरा चारा चभलाता।
हवन हेतु उस उठे हाथ को चाटे जाता।।
आगम का अज्ञान ईश का परम अनुग्रह।।*

---

* The lamp thy riot dooms to bleed today,
Had he the reason, would he skip and play?
pleased to the last he crops the flow'ry, food,
And licks the hand Just raised to shed his blood,
The blindness to the future kindly given.

बातचीत में भी जब किसी को अपने कथन द्वारा कोई मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करना होता है, तब वह इसी पद्धति का अवलम्बन करता है। यदि अपनी पत्नी पर अत्याचार करने वाले किसी व्यक्ति को उसे समझाना है तो वह कहेगा कि "तुमने इसका हाथ पकड़ा है"। यह न कहेगा कि "तुमने इसके साथ विवाह किया है।" विवाह शब्द के अंतर्गत न जाने कितने विधि-विधान है जो सबके सब एक बारगी मन में आ भी नहीं सकते और उतने व्यंजक या मर्मस्पर्शी भी नहीं होते है। अत: कहने वाला उनमें से जो सबसे अधिक व्यंजक और स्वाभाविक व्यापार 'हाथ पकड़ना' हैं, जिससे सहारा देने का चित्र सामने आता है, उसे भावना में लाता है।

तीसरी विशेषता कविता की भाषा में वर्णविन्यास की है। "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" और "नीरसतरुरिह विलसति पुरत:" का भेद हमारी पण्डित-मण्डली में बहुत दिनों से प्रसिद्ध चला आता है। काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है। जिस प्रकार मूर्त विधान के लिए कविता चित्र-विद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद-सौष्ठव के लिए वह संगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है। श्रुति-कटु मानकर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्तिविधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि नाद सौंदर्य-साधन के लिये ही हैं। नाद-सौष्ठव के निमित्त निरूपित वर्ण विशिष्टता को हिन्दी के हमारे कुछ पुराने कवि इतनी दूर तक घसीट ले गये कि उनकी बहुत सी रचना बेडौल और भावशून्य हो गई। उसमें अनुप्रास की लम्बी लड़ी - वर्ण-विशेष की निरंतर आवृत्ति - के सिवा और किसी बात पर ध्यान नहीं जाता। जो बात भाव या रस की धारा का मन के भीतर अधिक प्रसार करने के लिये थी, वह अलग चमत्कार या तमाशा खड़ा करने के लिये काम में लाई गई।

नाद-सौंदर्य से कविता की आयु बढ़ती है। तालपत्र, भोजपत्र, कागज आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की जिह्वा पर नाचती रहती है। बहुत सी उक्तियों को लोग, उनके अर्थ की रमणीयता इत्यादि की ओर ध्यान ले जाने का कष्ट उठाये बिना ही, प्रसन्न-चित्त रहने पर गुनगुनाया करते है। अत: नाद-सौंदर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ न कुछ आवश्यक होता है। इसे हम बिलकुल हटा नहीं सकते। जो अन्त्यानुप्रास को फालतू समझते हैं, वे छन्द को पकड़े रहते हैं, जो छन्द को भी फालतू समझते है, वे लय में ही लीन होने का प्रयास करते हैं। संस्कृत से सम्बन्ध रखने वाली भाषाओं में नाद-सौंदर्य के समावेश के लिए बहुत अवकाश रहता है। अत: अंग्रेजी आदि अन्य भाषाओं की देखादेखी, जिनमें इसके लिए कम जगह है, अपनी कविता को हम इस विशेषता से वंचित कैसे कर सकते हैं?

हमारी काव्यभाषा में एक चौथी विशेषता भी है जो संस्कृत से ही आई है। वह यह है कि कहीं -कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप-गुण या कार्यबोधक शब्दों का व्यवहार किया जाता है। ऊपर से देखने में तो पद्य के नपे हुए चरणों में शब्द खपाने के लिये ही ऐसा किया जाता है, पर थोड़ा विचार करने पर इसमें गुरुतर उद्देश्य प्रकट होता है। सच पूछिये तो यह बात कृत्रिमता बचाने के लिए की जाती है। मनुष्यों के नाम यथार्थ में कृत्रिम संकेत है जिनसे कविता की पूर्ण परिपोषकता नहीं होती। अतएव कवि मनुष्यों के नामों के स्थान पर कभी-कभी उनके ऐसे रूप गुण या व्यापार की ओर इशारा करता है जो स्वाभाविक और अर्थगर्भित होने के कारण सुनने वाले की भावना के निर्माण में योग देते हैं। गिरिधर, मुरारि, त्रिपुरारि, दीन-बन्धु, चक्रपाणि, मुरलीधर, सव्यसाची इत्यादि शब्द ऐसे ही हैं।

ऐसे शब्दों को चुनते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे प्रकरण-विरुद्ध या अवसर के प्रतिकूल न हों। जैसे, यदि कोई मनुष्य किसी दुर्धर्ष अत्याचारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिये "हे गोपिकारमण! हे वृन्दावन-बिहारी!" आदि कहकर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा "हे मुरारि! हे कंसनिकन्दन!" आदि संबोधनों से पुकारना अधिक उपयुक्त है; क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा कंस आदि दुष्टों का मारा जाना देखकर उसे उनसे अपनी रक्षा की आशा होती है, न कि उनका वृन्दावन में गोपियों के साथ विहार करना देखकर। इसी तरह किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिए कृष्ण को "मुरलीधर" कहकर पुकारने की अपेक्षा "गिरधर" कहना अधिक अर्थसंगत है।

अलंकार

कविता में भाषा की सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है; कभी उसके रूप-रंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप-रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्मशाली और-वस्तुओं को सामने लाकर रखना पडता है। कभी-कभी बात को भी घुमा-फिराकर कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अंलकार कहलाते हैं इनके सहारे से कविता अपना प्रभाव बहुत कुछ बढ़ाती है। कहीं-कहीं तो इसके बिना काम ही नहीं चल सकता। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ये साधन है, साध्य नहीं। साध्य को भुलाकर इन्हीं को साध्य मान लेने से कविता का रूप कभी-कभी इतना विकृत हो जाता है कि वह कविता ही नहीं रह जाती। पुरानी कविता में कहीं-कहीं इस बात के उदाहरण मिल जाते हैं।

अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हों (जैसे, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि में) चाहे वाक्य-वक्रता के रूप में प्रशंसा, जैसे, अप्रस्तुत-प्रशंसा, परिसंख्या, व्याज-स्तुति, विरोध इत्यादि में), चाहे वर्ण-विन्यास के रूप में (जैसे, अनुप्रास में) लाए जाते हैं

वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष-साधन के लिए ही मुख के वर्णन में जो कमल, चन्द्र आदि सामने रखे जाते हैं वह इसीलिए जिनमें इनकी वर्ण रुचिरता, कोमलता, दीप्ति इत्यादि के योग के सौंदर्य की भावना और बढ़े। सादृश्य या साधर्म्य दिखाना उपमा, उत्प्रेक्षा इत्यादि का प्रकृत-लक्ष्य नहीं है। इस बात को भूलकर कवि-परम्परा में बहुत ऐसे उपमान चला दिये गये हैं जो प्रस्तुत भावना में सहायता पहुँचाने के स्थान पर बाधा डालते है। जैसे, नायिका का अंग-वर्णन सौंदर्य की भावना प्रतिष्ठित करने के लिए ही किया जाता है। ऐसे वर्णन में यदि कटि का प्रसंग आने पर भिड़ या सिंह की कमर सामने कर दी जायगी तो सौंदर्य की भावना में क्या वृद्धि होगी? प्रभात के सूर्यबिम्ब के सम्बन्ध में इस कथन से कि "है शोणित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को" अथवा शिखर की तरह उठे हुए मेघखंड के ऊपर उदित होते हुए चन्द्रबिम्ब के सम्बन्ध में इस उक्ति से कि "मनहुँ क्रमेलक-पीठि पै धर्‌यो गोल घंटा लसत", दूर की सूझ चाहे प्रकट हो, पर प्रस्तुत सौंदर्य की भावना की कुछ भी पुष्टि नहीं होती है।

पर जो लोग चमत्कार ही को काव्य का स्वरूप मानते हैं, वे अलंकार को काव्य का सर्वस्व कहा ही चाहें। चन्द्रालोककार तो कहते हैं कि -

अंगीकराति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।।

भरत मुनि ने रस की प्रधानता की ओर ही संकेत किया था; पर भामह; उद्‌भट आदि कुछ प्राचीन आचार्यों ने वैचित्र्य का पल्ला पकड़ अलंकार को प्रधानता दी। इनमें बहुतेरे आचार्यों ने अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में - रस, रीति, गुण आदि काव्य में प्रयुक्त होने वाली सारी सामग्री के अर्थ में - किया है। पर ज्यों-ज्यों शास्त्रीय विचार गम्भीर और सूक्ष्म होता गया त्यों-त्यों साध्य और साधनों को विविक्त करके काव्य के नित्य स्वरूप या मर्म-शरीर को अलग निकालने का प्रयास बढ़ता गया। रुद्रट और मम्मट के समय से ही काव्य का प्रकृत स्वरूप उभरते-उभरते विश्वनाथ महापात्र के साहित्य-दर्पण में साफ ऊपर आ गया।

प्राचीन गड़बड़झाला मिटे बहुत दिन हो गये। वर्ण्य-वस्तु और वर्णन-प्रणाली बहुत दिनों से एक दूसरे से अलग कर दी गई है। प्रस्तुत-अप्रस्तुत के भेद ने बहुत-सी बातों के विचार और निर्णय के सीधे रास्ते खोल दिये हैं। अब यह स्पष्ट हो गया है कि अलंकार प्रस्तुत वस्तु नहीं; बल्कि वर्णन की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं, कहने के खास ढंग हैं। पर प्राचीन अव्यवस्था के स्मारक-स्वरूप कुछ अलंकार ऐसे चले आ रहें हैं, जो वर्ण्य-वस्तु का निर्देश करते हैं, और अलंकार नहीं कहे जा सकते - जैसे स्वभावोक्ति, उद्दात्त, अत्युक्ति। स्वाभावोक्ति को लेकर कुछ अलंकार-प्रेमी कह बैठते हैं कि प्रकृति का वर्णन भी तो स्वभावोक्ति अलंकार ही है। पर स्वभावोक्ति कोटि में आ ही नहीं सकती। अलंकार वर्णन करने की प्रणाली है। चाहे जिस वस्तु या तथ्य के कथन को हम किसी अलंकार-प्रणाली के अंतर्गत ला सकते हैं। किसी वस्तु-विशेष से किसी अलंकार प्रणाली का संबंध नहीं हो सकता। किसी तथ्य तक वह परिमित नहीं रह सकती। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं, रस-व्यवस्था का विषय है। किन-किन वस्तुओं, चेष्टाओ, या व्यापारों का वर्णन किन-किन रस के विभावों और अनुभावों के अंतर्गत आएगा, इसकी सूचना रसनिरूपण के अंतर्गत ही हो सकती है।

अलंकारों के भीतर स्वभावोक्ति का ठीक-ठीक लक्षण-निरूपण हो भी नहीं सका है। काव्यप्रकाश की कारिका में यह लक्षण दिया गया है --

स्वाभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रिया रूप-वर्णनम्

अर्थात् - "जिसमें बालकादिकों की निज की क्रिया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति है।" प्रथम तो बालकादिक पद की व्याप्ति कहाँ तक है, यही स्पप्ट नहीं। अतः यही समझा जा सकता है कि सृष्टि की वस्तुओं के रूप और व्यापार का वर्णन स्वभावोक्ति है। खैर, बालक की रूपचेष्टा को लेकर ही स्वाभावोक्ति की अलंकारता पर विचार कीजिए। वात्सल्य में बालक के रूप आदि का वर्णन आलम्बन विभाव के अन्तर्गत और उसकी चेष्टाओं का वर्णन उद्‌दीपन विभाव के अन्तर्गत होगा। प्रस्तुत वस्तु की रूप-क्रिया आदि के वर्णन को रस-क्षेत्र से घसीटकर अलंकार-क्षेत्र में हम कभी नहीं ले जा सकते। मम्मट ही के ढंग के और आचार्यों के लक्षण भी हैं। अलंकार सर्वस्वकार राजानक रूय्यक कहते हैं --

सूम-वस्तु-स्वभाव-यथावद्वर्णनं स्वभावोक्तः।

आचार्य दंडी ने अवस्था की योजना करके यह लक्षण लिखा है --

नानावस्थं पदार्थाना रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जानिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा।।

बात यह है कि स्वभावोक्ति अलंकारों के भीतर आ ही नहीं सकती। वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने भी इसे अलंकार नहीं माना है।

जिस प्रकार एक कुरूप स्त्री अलंकार लादकर सुन्दर नहीं हो सकती, उसी प्रकार प्रस्तुत या तथ्य की रमणीयता के अभाव में अलंकारों का ढेर काव्य का सजीव स्वरूप नहीं खड़ा कर सकता। केशवदास के पचीसों पद्य ऐसे रखे जा सकते है जिनमें यहाँ से वहाँ तक उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ भरी हैं, शब्दसाम्य के बड़े खेल-तमाशे जुटाए गए है, पर उनके द्वारा कोई मार्मिक अनुभूति नहीं उत्पन्न होती। इन्हें कोई सहृदय या भावुक काव्य न कहेगा। आचार्यों ने भी अलंकारों को 'काव्य शोभाकर', 'शोभातिशायी' आदि ही कहा है। महाराज भोज भी अंलकार को 'अमलर्थमलंकर्त्तुः' ही कहते हैं। पहले से सुन्दर अर्थ को ही अलंकार शोभित कर सकता है। सुन्दर अर्थ की शोभा बढ़ाने में जो अलंकार प्रत्युक्त नहीं वे काव्यालंकार नहीं। वे ऐसे ही हैं जैसे शरीर पर से उतार कर किसी अलग कोने में रखा हुआ गहनों का ढेर। किसी भाव या मार्मिक भावना से असंपृक्त अलंकार चमत्कार या तमाशे हैं। चमत्कार विवेचन पहले हो चुका है।

अलंकार हैं क्या! सूक्ष्म दृष्टि वालों ने काव्यों के सुन्दर-सुन्दर स्थल चुने और उनकी रमणीयता के कारणों की खोज करने लगे। वर्णन शैली या कथन की पद्धति में ऐसे लोगों को जो जो विशेषताएँ मालूम होती गईं, उनका वे नामकरण करते गये। जैसे, 'विकल्प' अलंकार का निरूपण पहले-पहल राजानक रुय्यक ने किया। कौन कह सकता है कि काव्यों में जितने रमणीय स्थल हैं, सब ढूँढ़ डाले गए, वर्णन की जितनी सुन्दर प्रणालियाँ हो सकती हैं सब निरूपित हो गईं अथवा जो जो स्थल रमणीय लगे, उनकी रमणीयता का कारण वर्णन प्रणाली थी। आदि काव्य रामायण से लेकर इधर तक के काव्यों से न जाने कितनी विचित्र वर्णन प्रणालियाँ भरी पड़ी हैं, जो न निर्दिष्ट की गई हैं और न जिनके कुछ नाम रखे गये हैं।

कविता पर अत्याचार

कविता पर अत्याचार भी बहुत कुछ हुआ है। लोभियों, स्वार्थियों और खुशामदियों ने उसका गला दबाकर कहीं अपात्रों की - आसमान पर चढ़ने वाली - स्तुति कराई है, कहीं द्रव्य न देने वालों की निराधार निन्दा। ऐसी तुच्छ वृत्ति वालों का अपवित्र हृदय है। कविता के निवास के योग्य नहीं । कविता देवी के मन्दिर ऊँचे खुले, विस्तृत और पुनीत हृदय हैं। सच्चे कवि राजाओं की 'सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री में ही सौन्दर्य नहीं ढूँढा करते। वे फूस के झोपड़ों, धुल मिट्टी में सने किसानों, बच्चों के मुँह में चारा डालते हुए पक्षियों, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती हुई बिल्लियों में कभी-कभी सौन्दर्य का दर्शन करते हैं जिसकी छाया भी महलों और दरबारों तक नहीं पहुँच सकती। श्रीमानों के शुभागमन पर पद्य बनाना, बात-बात में उनको बधाई देना, कवि का काम नहीं। जिनके रूप या कर्म कलाप जगत् और जीवन के बीच में उसे सुन्दर लगते हैं, उन्ही के वर्णन में वह 'स्वान्तः सुखाय' प्रवृत्त होता है।

कविता की आवश्यकता

मनुष्य के लिए कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य असभ्य सभी जातियों में, किसी न किसी रूप में, पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा। बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा सघन और जटिल मण्डल बाँधता चला आ रहा है जिसके भीतर बँधा-बँधा वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का सम्बन्ध भूला-सा रहता है। इस परिस्थिति में मनुष्य की अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है। इसी से अंतःप्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी आ रही है और चली चलेगी। जानवरों की इसकी जरूरत नहीं।

(चिन्तामणि से)

3. काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था

तदेजति तन्नैजति — ईशावास्योपनिषद

—आ. रामचंद्र शुक्ल

आत्मबोध और जगद्बोध के बीच ज्ञानियों ने गहरी खाई खोदी पर हृदय ने कभी उसकी परवा न की; भावना दोनों को एक मानकर चलती रही। इस जगत् के बीच जिस आनन्द-मंगल की विभूति का साक्षात्कार होता रहा उसी दृश्य के स्वरूप की नित्य और चरम भावना द्वारा भक्तों के हृदय में भगवान् के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई। लोक में इसी स्वरूप के प्रकाश को किसी ने 'राम-राज्य' कहा किसी ने 'आसमान की बादशाहत'। यद्यपि मूसाइयों और उनके अनुगामी ईसाइयों की धर्म-पुस्तक में आदम को खुदा की प्रतिमूर्ति बताया गया, पर लोक के बीच नर में नारायण की दिव्य कला का सम्यक् दर्शन और उसके प्रति हृदय का पूर्ण निवेदन भारतीय भक्ति-मार्ग में ही दिखायी पड़ा।

सत्, चित् और आनन्द - ब्रह्म के उन तीन स्वरूपों में से काव्य और भक्ति-मार्ग, 'आनन्द' स्वरूप को लेकर चले। विचार करने पर लोक में इस आनन्द की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएँ पाई जाएंगी -- साधनावस्था और सिद्धावस्था। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ब्रह्म के 'आनन्द' स्वरूप का सतत आभास नहीं रहता, उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इस जगत् में न तो सदा और सर्वत्र लहलहाता वसंत-विकास रहता है, न सुख-समृद्धि-पूर्ण हास-विलास। शिशिर के आतंक से सिमटी और झोंके झेलती वनस्थली की खिन्नता और हीनता के बीच से ही क्रमशः आनन्द की अरुण आभा धुँधली-धुँधली फूटती हुई अंत में वसंत की पूर्ण प्रफुल्लता और प्रचुरता के रूप में फैल जाती है; इसी प्रकार लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द-ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोकमंगल और लोकरंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।

कुछ कवि और भक्त तो जिस प्रकार आनन्द-मंगल के सिद्ध या आविर्भूत स्वरूप को लेकर सुख-सौन्दर्यमय, माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेम-व्यापार इत्यादि उपभोग-पक्ष को ओर आकर्षित होते हैं उसी प्रकार आनन्द-मंगल की साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में भी। उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा, इत्यादि की गतिविधि में भी - पूरी रमणीयता देखते हैं। वे जिस प्रकार प्रकाश को फैला हुआ देखकर मुग्ध होते हैं उसी प्रकार फैलने के पूर्व उसका अन्धकार को हटाना देखकर भी। ये ही पूर्ण कवि हैं, क्योंकि जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर ये सौंदर्य का साक्षात्कार करते हैं। साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को ग्रहण करने वाले कुछ ऐसे कवि भी होते है जिनका मन सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष की ओर नहीं जाता, जैसे भूषण। इसी प्रकार कुछ कवि या भावुक आनन्द के केवल सिद्धस्वरूप या उपभोग-पक्ष में ही अपनी वृत्ति रमा सकते हैं। उनका मन सदा सुख-सौंदर्यमय, माधुर्य, दीप्ति, उल्लास, प्रेम-क्रीड़ा इत्यादि के प्राचुर्य ही की भावना में लगता है। इसी प्रकार की भावना या कल्पना उन्हें कला-क्षेत्र के भीतर समझ पड़ती है।

उपर्युक्त दृष्टि से हम काव्यों के दो विभाग कर सकते हैं -

(1) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले।

(2) आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले।

डंटन (Theodore Watts-Dunton) ने जिसे शक्ति काव्य (Poetry as an energy) कहा है वह हमारे प्रथम प्रकार के अन्तर्गत आ जाता है जिसमें लोक-प्रवृत्ति को परिचालित करने वाला प्रभाव होता है, जो पाठकों या श्रोताओं के हृदय में भावों की स्थायी प्रेरणा उत्पन्न कर सकता है। पर डंटन ने शक्ति-काव्य से भिन्न को जो कला-काव्य (Poetry as an art) कहा है वह कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन मानकर। वास्तव में कला की दृष्टि दोनों प्रकार के काव्यों में अपेक्षित है। साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों में भी यदि कला में चूक हुई तो लोकगति को परिचालित करने वाला स्थायी प्रभाव न उत्पन्न हो सकेगा। यहीं तक नहीं व्यंजित भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति या साधारणीकरण तक, जो रस की पूर्ण अनुभूति के लिए आवश्यक है, न हो सकेगा। यदि 'कला' का वही अर्थ लेना है जो कामशास्त्र की चौंसठ कलाओं में है - अर्थात् मनोरंजन या उपभोग-मात्र का विधायक - तो काव्य के सम्बन्ध में दूर ही से इस शब्द को नमस्कार करना चाहिए। काव्य-समीक्षा में फरासीसियों की प्रधानता के कारण इस शब्द को इसी अर्थ में ग्रहण करने से योरप की काव्य-दृष्टि इधर कितनी संकुचित को गई, इसका निरूपण हम किसी अन्य प्रबन्ध में करेंगे।

आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों के उदाहरण हैं - रामायण, महाभारत, रघुवंश, शिशुपालवध, किरातार्जुनीय। हिन्दी में रामचरितमानस, पद्मावत (उत्तरार्द्ध), हम्मीररासो, पृथ्वीराज रासो, छत्रप्रकाश इत्यादि प्रबन्धकाव्य; भूषण आदि कवियों के वीररसात्मक मुक्तक तथा आल्हा आदि प्रचलित वीरगाथात्मक गीत, उर्दू के वीररसात्मक मरसिये। योरपीय भाषाओं में इलियड, ओडेसी, पैराडाइज लास्ट, रिवोल्ट आफ इस्लाम इत्यादि प्रबन्ध काव्य तथा पुराने बैलड (Ballads)!

आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों के उदाहरण हैं - आर्य्यासप्तशती, गाथा सप्तशती, अमरुकशतक, गीतगोविन्द तथा श्रृंगाररस के फुटकल पद्य। हिन्दी में सूरसागर, कृष्ण-भक्त कवियों की पदावली, बिहारी-सतसई, रीतिकाल के कवियों के फुटकल शृंगारी पद्य, रास-पंचाध्यायी ऐसे वर्णनात्मक काव्य तथा आजकल की अधिकांश छायावादी कविताएँ, फारसी उर्दू के शेर और गजलें। अंग्रेजी की लीरिक (Lyrics) कविताएँ तथा कई प्रकार की वर्णनात्मक कविताएँ।

आनन्द की साधनावस्था

लोक में फैली दु:ख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनन्दकला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में भी अद्भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचण्डता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धों का यही सामंजस्य कर्मक्षेत्र का सौंदर्य है जिसकी ओर आकर्षित हुए बिना मनुष्य का हृदय नहीं रह सकता। इस सामंजस्य का और कई रूपों में भी दर्शन होता है। किसी कोट-पतलून हैटवाले को धाराप्रवाह संस्कृत बोलते अथवा किसी पण्डित-वेशधारी सज्जन को अंग्रेजी की प्रगल्भ वक्तृता देते सुन व्यक्तित्व का जो एक चमत्कार-सा दिखाई पड़ता है उसकी तह में भी सामंजस्य का यही सौन्दर्य समझना चाहिए। भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता प्रचण्डता और मृदुता का सामंजस्य ही लोकधर्म का सौंदर्य है। आदि-कवि वाल्मीकि की वाणी इसी सौन्दर्य के उद्घाटन महोत्सव का दिव्य संगीत है। सौन्दर्य का यह उद्घाटन असौन्दर्य का आवरण हटाकर होता है। धर्म और मंगल की यह ज्योति अधर्म और अमंगल की घटा को फाड़ती हुई फटती है। इससे कवि हमारे सामने असौंदर्य, अमंगल, अत्याचार, क्लेश इत्यादि भी रखता है; रोष, हाहाकार और ध्वंस का दृश्य भी लाता है। पर सारे भाव, सारे रूप और सारे व्यापार भीतर-भीतर आनन्द-काल के विकास में ही योग देते पाये जाते हैं। यदि किसी ओर उन्मुख ज्वलन्त रोष है तो उसके और सब ओर करुणा दृष्टि फैली दिखाई पड़ती है। यदि किसी ओर ध्वंस और हाहाकार है तो और सब ओर उसका सहगामी रक्षा और कल्याण है। व्यास ने भी अपने 'जयकाव्य' में अधर्म के पराभव और धर्म की जय का सौन्दर्य प्रत्यक्ष किया था।

वह व्यवस्था या वृत्ति, जिससे लोक के मंगल का विधान होता है 'अभ्युदय' की सिद्धि होती है, धर्म है। अत: अधर्म-वृत्ति को हटाने में धर्म-वृत्ति की तत्परता - चाहे वह उग्र और प्रचण्ड हो, चाहे कोमल और मधुर - भगवान् की आनन्द-कला के विकास की ओर बढ़ती हुई गति है। यह गति यदि सफल हुई तो 'धर्म की जय' कहलाती है। इस गति में भी सुन्दरता है और इसकी सफलता में भी। यह बात नहीं है कि जब यह गति सफल होती है तभी इसमें सुन्दरता आती है। गति में सुन्दरता रहती ही है; आगे चलकर चाहे यह सफल हो, चाहे विफल। विफलता में भी एक निराला ही विषण्ण सौंदर्य होता है। तात्पर्य यह कि यह गति आदि से अन्त तक सुन्दर होती है - अन्य चाहे सफलता के रूप में हो चाहे विफलता के। उपर्युक्त दोनों आर्ष कवियों ने पूर्णता के विचार से धर्म की गति का सौंदर्य दिखाते हुए उसका सफलता में पर्यवसान किया है। ऐसा उन्होंने उपदेशक की बुद्धि से नहीं किया है; धर्म की जय के बीच भगवान् की मूर्ति के साक्षात्कार पर मुग्ध होकर किया है। यदि राम द्वारा रावण का वध तथा कृष्ण के साहाय्य द्वारा जरासन्ध और कौरवों का दमन न हो सकता तो भी रामकृष्ण की गति-विधि में पूरा सौंदर्य रहता, पर उनमें भगवान् की पूर्ण कला का दर्शन न होता, क्योंकि भगवान् की शक्ति अमोघ है।

आनन्द-कला के प्रकाश की ओर बढ़ती हुई गति की विफलता में भी सौंदर्य का दर्शन करने वाले अनेक कवि हुए हैं। अंग्रेजी कवि शैली संसार में फैले पाखण्ड, अन्याय और अत्याचार के दमन तथा मनुष्य-मनुष्य के बीच सीधे सरल प्रेमभाव के सौर्वभौम संसार का स्वप्न देखने वाले कवि थे। उनके 'इस्लाम का विप्लव' (The Revolt of Islam) नामक द्वादश सर्ग-बद्ध महाकाव्य में मनुष्य-जाति के उद्धार में रत नायक और नायिका (Laon and Cythna) में मंगल-शक्ति के अपूर्व संचय की छटा दिखाकर तथा उनके द्वारा एक बार दुर्दान्त अत्याचार के पराभव के मनोरम आभास से अनुरंजित करके अन्त में उस शक्ति की विफलता की विषादमयी छाया से लोक को फिर आवृत्त दिखाकर छोड़ दिया है।

जैसे ऊपर कह आये हैं, मंगल-अमंगल के द्वंद्व में कवि लोग अन्त में मंगल शक्ति की जो सफलता दिखा दिया करते हैं उसमें सदा शिक्षावाद (Didacticism) या अस्वाभाविकता की गन्ध समझकर नाक-भौं सिकोड़ना ठीक नहीं। अस्वाभाविकता तभी आएगी जब बीच का विधान ठीक न होगा अर्थात् जब प्रत्येक अवसर पर सत्पात्र सफल और दुष्ट पात्र विफल या ध्वस्त दिखाये जाएंगे पर सच्चे कवि ऐसा कभी नहीं करते। इस जगत् में अधर्म प्राय: दुर्दमनीय शक्ति प्राप्त करता है जिसके सामने धर्म की शक्ति बार-बार उठकर व्यर्थ होती रहती है। कवि जहाँ मंगलशक्ति की सफलता दिखाता है वहाँ कला की दृष्टि से सौंदर्य का प्रभाव डालने के लिये; धर्म-शासक की हैसियत से डराने के लिये नहीं कि यदि ऐसा कर्म करोगे तो ऐसा फल पाओगे। कवि कर्म-सौंदर्य के प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति अन्त:प्रकृति में उत्पन्न करता है, उसका उपदेश नहीं देता।

कवि सौंदर्य से प्रभावित रहता है और दूसरों को भी प्रभावित करना चाहता है। किसी रहस्यमयी प्रेरणा से उसकी कल्पना कई प्रकार के सौंदर्यों का जो मेल आप से आप हो जाया करता है उसे पाठक के सामने भी वह प्राय: रख देता है जिस पर कुछ लोग कह सकते हैं कि ऐसा मेल क्या संसार में बराबर देखा जाता है। मंगल-शक्ति के अधिष्ठान राम और कृष्ण जैसे पराक्रमशाली और धीर

हैं वैसा ही उनका रूप-माधुर्य और उनका शील भी लोकोत्तर है। लोक-हृदय आकृति और गुण, सौंदर्य और सुशीलता एक ही अधिष्ठान में देखना चाहता है। इसी में 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' सामुद्रिक की यह उक्ति लोकोक्ति के रूप में चल पड़ी। 'नैषध' में नल हंस से कहते है -

न तुला-विषये तवाकृतिर्न बचो वर्त्मनि ते सुशीलता।
त्व दुदाहरणाऽकृती गुणा इति सामुद्रिक-सार-मुद्रणा।।

भीतरी और बाहरी सौंदर्य, रूप-सौंदर्य और कर्म-सौंदर्य के मेल की यह आदत धीरोदात्त आदि भेद-निरूपण से बहुत पुरानी है और बिलकुल छूट भी नहीं सकती। यह हृदय की एक भीतरी वासना की तुष्टि के हेतु कला की रहस्यमंयी प्रेरणा है। 19वीं शताब्दी के कवि शेली - जो राजशासन, धर्म-शासन, समाज-शासन आदि सब प्रकार की शासन-व्यवस्था के घोर विरोधी थे - इस प्रेरणा से पीछा न छुड़ा सके। उन्होंने भी अपने प्रबन्ध-काव्यों में रूप-सौंदर्य और कर्म सौंदर्य का ऐसा ही मेल किया है। उनके नायक (या नायिका) जिस प्रकार पीड़ा, अत्याचार आदि से मनुष्य जाति का उद्धार करने के लिये अपना प्राण तक उत्सर्ग करने वाले, घोर से घोर कष्ट और यन्त्रणा से मुँह न मोड़ने वाले, पराक्रमी, दयालु और धीर हैं, उसी प्रकार रूप-माधुर्य-सम्पन्न भी।*

आज भी किसी कवि से राम की शारीरिक सुन्दरता कुम्भकर्ण को और कुम्भकर्ण की कुरूपता राम को न देतें बनेगी। माईकेल मधुसूदन दत्त ने मेघनाद को अपने काव्य का रूप-गुण-सम्पन्न नायक बनाया पर लक्ष्मण को वे कुरूप न कर सके। उन्होंने जो उलट-फेर किया, वह कला या काव्यानुभूति को किसी प्रकार की प्रेरणा से नहीं, बल्कि, एक पुरानी धारणा तोड़ने की बहादुरी दिखाने के लिए, जिसका शौक किसी विदेशी नई शिक्षा के पहले पहल प्रचलित होने पर प्राय: सब देशों में कुछ दिन रहा करता है। इसी प्रकार बंगभाषा के एक दूसरे कवि नवीनचन्द्र ने अपने 'कुरुक्षेत्र' नामक काव्य में कृष्ण का आदर्श ही बदल दिया है। उसमें वे ब्राह्मणों के अत्याचार से पीड़ित जनता के उद्धार के लिए उठ खड़े हुए एक क्षत्रिय महात्मा के रूप में अंकित किए गए हैं। अपने समय में उठी हुई किसी खास हवा की झोंक में प्राचीन आर्ष काव्यों के पूर्णतया निर्दिष्ट स्वरूप वाले आदर्श पात्रों को एकदम कोई नया मनमाना रूप देना भारती के पवित्र मन्दिर में व्यर्थ गड़बड़ मचाना है।

शुद्ध मर्मानुभूति द्वारा प्रेरित कुशल कवि भी प्राचीन आख्यानों को बराबर लेते आए हैं और अब भी लेते हैं। वे उनके पात्रों में अपनी नवीन उद्भावना का, अपनी नई कल्पित बातों का बराबर आरोप करते हैं, पर वे बातें उन पात्रों के चिर प्रतिष्ठत आदर्शों के मेल में होती हैं। केवल अपने समय की परिस्थिति विशेष को लेकर जो भावनायें उठती हैं उनके आश्रय के लिए जब कि नए आख्यानों और नये पात्रों की उद्भावना स्वछन्दतापूर्वक की जा सकती है तब पुराने आदर्शों को विकृत या खण्डित करने की क्या आवश्यकता है?

कर्म-सौंदर्य के जिस स्वरूप पर मुग्ध होना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और जिसका विधान कवि-परम्परा बराबर करती चली आ रही है, उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करने और कर्म-सौंदर्य के एक दूसरे पक्ष में ही केवल प्रेम और भ्रातृभाव के प्रदर्शन और आचरण में ही - काव्य का उत्कर्ष मानने का जो एक नया फैशन टाल्सटाय के समय से चला है वह एकदेशीय है। दीन और असहाय जनता को निरन्तर पीड़ा पहुँचाते चले जानेवाले क्रूर आततायियों को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और प्रेम जताने तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा करने में ही कर्त्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती, कर्मक्षेत्र का एकमात्र सौंदर्य नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं, वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्य-कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मगंल या सौंदर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।

भावों की प्रक्रिया की समीक्षा से पता चलता है कि उदय से अस्त तक भाव-मंडल का कुछ भाग तो आश्रय की चेतना के प्रकाश में (Conscious) रहता है और कुछ अन्तस्संज्ञा के क्षेत्र (sub-conscious region) में छिपा रहता है। संसारी भावों के संचरण-काल में कभी-कभी उनके स्थायी भाव कारणरूप में अंतस्संज्ञा के भीतर पड़ जाते हैं। रतिभाव में संचारी होकर आई हुई असूया या ईर्ष्या ही को लीजिए। जिस क्षण में वह अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई होती है, उस क्षण में आश्रय को ही रति भाव की कोमल सत्ता का ज्ञान नहीं रहता, उस क्षण में उसके भीतर ईर्ष्या की तीक्ष्ण प्रतीति रहती है और बाहर ईर्ष्या के ही लक्षण दिखाई देते हैं। जिस प्रकार किसी आश्रय के भीतर कोई एक भाव स्थायी रहता है और अनेक भाव तथा अन्तर्दशाएँ उसके संचारी के रूप

---

* Certain it is that with Shelly goodness is ever near to sensuous beauty and passes easily into passion. Hence his choice of heroic type rather than simple ones of Laon and Cythna and Prometheus rather then Micael, Mathew etc. Laon and Cythna possess youth, strength and beauty no less than courage and instinct for self-sacrifice and their passion for freedom. A furthe. admirable instance of this harmony of goodness and beauty is seen in the description of Lady Beneficient who tended the garden of "The Sensitive Plant".

Studies in Shelley by A.T. Strong

में आती हैं उसी प्रकार किसी प्रबंधकाव्य के प्रधान पात्र में कोई मूल प्रेरक भाव या बीजभाव रहता है जिसकी प्रेरणा से घटना-चक्र चलता है और अनेक भावों के स्फुरण के लिए जगह निकलती चलती है। इस बीजभाव को साहित्य ग्रंथों में निरूपित स्थायी भाव और अंगीभाव दोनों से भिन्न समझना चाहिए।

बीजभाव द्वारा स्फुरित भावों में कोमल और मधुर - कठोर और तीक्ष्ण - दोनों प्रकार के भाव रहते हैं। यदि बीजभाव की प्रकृति मंगलविधायिनी होती है तो उसकी व्यापकता और निर्विशेषता के अनुसार सारे प्रेरित भाव तीक्ष्ण और कठोर होने पर भी सुन्दर होते हैं। ऐसे बीजभाव की प्रतिष्ठा जिस पात्र में होती है उसके सब भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति होती है। अर्थात् पाठक या श्रोता भी रसरूप में उन्हीं भावों का अनुभव करते हैं जिन भावों की वह व्यंजना करता है। ऐसे पात्र की गति में बाधा डालने वाले पात्रों के उग्र या तीक्ष्ण भावों के साथ पाठकों का वास्तव में तादात्म्य नहीं होता चाहे उनकी व्यंजना में रस या निष्पत्ति करने वाले तीनों अवयव वर्तमान हों। राम यदि रावण के प्रति क्रोध या घृणा की व्यंजना करेंगे तो पाठक या श्रोता का भी हृदय उस क्रोध या घृणा की अनुभूति में योग देगा। इस क्रोध या घृणा में भी काव्य का पूर्ण सौंदर्य होगा। पर रावण यदि राम के प्रति क्रोध या घृणा की व्यंजना करेगा तो रस के तीनों अवयवों के कारण "शास्त्र-स्थिति-सम्पादन"* चाहे हो जाय पर उस व्यंजित भाव के साथ पाठक के भाव का तादात्म्य कभी न होगा। पाठक केवल चरित्र-द्रष्टा मात्र रहेगा; उसको केवल मनोरंजन होगा; भाव में लीन करने वाली प्रथम कोटि की रसानुभूति उसको न होगी।

ऊपर कहा गया है कि किसी शुभ बीजभाव की प्रेरणा से प्रवर्तित तीक्ष्ण और उग्र भावों की सुन्दरता की मात्रा उन बीजभाव की निर्विशेषता और व्यापकता के अनुसार होती है। जैसे, यदि करुणा किसी व्यक्ति की विशेषता पर अवलम्बित होगी - कि पीड़ित व्यक्ति हमारा कुटुम्बी मित्र आदि है - तो उस करुणा के द्वारा प्रवर्तित तीक्ष्ण या उग्र भावों में उतनी सुन्दरता न होगी। पर बीजरूप अंतस्संज्ञा में स्थित करुणा आदि इस ढब की होगी कि इतने पुरवासी, इतने देशवासी या इतने मनुष्य पीड़ा पा रहे हैं तो उसके द्वारा प्रवर्तित तीक्ष्ण या उग्र भावों का सौंदर्य उत्तरोत्तर अधिक होगा। यदि किसी काव्य में वर्णित दो पात्रों में से एक तो अपने भाई को अत्याचार और पीड़ा से बचाने के लिए अग्रसर हो रहा है और दूसरा किसी बड़े भारी जन-समूह की गति में बाधा डालने वाले के प्रति तो दोनों के प्रदर्शित क्रोध के सौंदर्य के परिणाम में बहुत अन्तर होगा।

भावों की छानबीन करने पर मंगल का विधान करने वाले दो भाव ठहरते हैं - करुणा और प्रेम। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रंजन की ओर। लोक में प्रथम साध्य रक्षा है। रंजन का अवसर उसके पीछे आता है। अत: साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों का बीज भाव करुणा ही ठहरता है। इसी से शायद अपने दो नाटकों में रामचरित को लेकर चलने वाले महाकवि ने 'करुणा' को ही एकमात्र रस कह दिया। रामायण का बीजभाव करुणा है कि जिसका संकेत क्रौंच को मारने वाले निषाद के प्रति वाल्मीकि के मुँह से निकले वचन द्वारा आरम्भ ही में मिलता है। उसके उपरान्त भी बालकांड के 15वें सर्ग में इसका आभास ही दिया गया है जहाँ देवताओं ने ब्रह्मा से रावण-द्वारा पीड़ित लोक की दारुण दशा का निवेदन किया है। उक्त आदि-काव्य के भीतर लोक-मंगल की शक्ति के उदय का आभास ताड़का और मारीच के दमन के प्रसंग में ही मिल जाता है। पंचवटी से वह शक्ति जोर पकड़ती दिखाई देती है। सीताहरण होने पर उसमें आत्म-गौरव और दाम्पत्य प्रेम की प्रेरणा का भी योग हो जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि इस आत्म-गौरव और दाम्पत्य प्रेम की प्रेरणा बीच से प्रकट होकर उस विराट् मंगलोन्मुखी गति में समन्वित हो जाती है। यदि राक्षसराज पर चढ़ाई करने का मूल कारण केवल आत्मगौरव या दाम्पत्य प्रेम होता तो राम के 'कालाग्नि-सदृश्य क्रोध' में काव्य का वह लोकोत्तर सौंदर्य न होता। लोक के प्रति करुणा जब सफल हो जाती है, लोक जब पीड़ा और विघ्न-बाधा से मुक्त हो जाता है तब रामराज्य में जाकर लोक के प्रति प्रेम-प्रवर्तन का, प्रजा के रंजन का, उसके अधिकाधिक सुख के विधान का, अवकाश मिलता है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेमभाव की कोमल व्यजंना में ही नहीं माना जा सकता जैसा कि टाल्सटाय के अनुयायी या कुछ कलावादी कहते हैं। क्रोध आदि उग्र और प्रचण्ड भावों के विधान में भी, यदि उनकी तह में करुणा-भाव व्यक्त रूप में स्थित हो, पूर्ण सौंदर्य का साक्षात्कार होता है। स्वतन्त्रता के उन्मत्त उपासक, घोर परिवर्तनवादी शेली के महाकाव्य "The Revolt of Islam" के नायक-नायिका आत्याचारियों के पास जाकर उपदेश देने वाले, गिड़गिड़ाने वाले, अपनी साधुता, सहनशीलता और शान्त वृत्ति का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन करने वाले नहीं है। वे उत्साह की उमंग में प्रचण्ड वेग से युद्ध-क्षेत्र में बढ़ने वाले, पाखण्ड, लोकपीड़ा और अत्याचार देख पुनीत क्रोध के सात्विक तेज से तमतमाने वाले, भय या स्वार्थवश

---

*रसव्यक्तिमपेक्ष्यैषामंगनां सन्निवेशनम्।
नतु केवलया शास्त्र-स्थिति-सम्पादनेच्छया।।

—साहित्यदर्पण

आततायियों की सेवा स्वीकार करने वालों के प्रति उपेक्षा प्रकट करने वाले हैं। शेली ने भी काव्यकला का मूलतत्त्व प्रेमभाव ही माना था, पर अपने को सुख-सौंदर्य-मय माधुर्यभाव तक ही बद्ध न रखकर प्रबन्धक्षेत्र में भी अच्छी तरह घुसकर भावों की अनेकरूपता का विन्यास किया था। स्थिर (Static) सौंदर्य और गत्यौत्मक (dynamic) सौंदर्य, उपभोग-पक्ष और प्रयत्न-पक्ष दोनों उनमें पाये जाते है।

टाल्सटाय के मनुष्य-मनुष्य में भ्रातृ-प्रेम-संचार को ही एकमात्र काव्यतत्त्व कहने का बहुत कुछ कारण साम्प्रदायिक था। इसी प्रकार कलावादियों का केवल कोमल और मधुर की लीक पकड़ना मनोरंजन मात्र की हल्की रुचि और दृष्टि की परिमिति के कारण समझना चाहिए। टाल्सटाय के अनुयायी प्रयत्नपक्ष को लेते अवश्य हैं पर केवल पीड़ितों की सेवा-शुश्रूषा की दौड़धूप, आततायियों पर प्रभाव डालने के लिए साधुता के लोकोत्तर प्रदर्शन, त्याग, कष्ट, साहिष्णुता इत्यादि में ही उसका सौंदर्य स्वीकार करते हैं। साधुता की इस मृदुल गति को वे 'अध्यात्मिक शक्ति' कहते हैं। पर भारतीय दृष्टि से हम इसे भी प्राकृतिक शक्ति - मनुष्य की अन्त:प्रकृति की सात्विक विभूति - मानते हैं। विदेशी अर्थ में इस 'अध्यात्मिक' शब्द का प्रयोग हमारी देशभाषाओं में भी प्रचार पा रहा है। 'अध्यात्म' शब्द की, मेरी समझ में, काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई जरूरत नहीं है।

पूर्ण प्रभविष्णुता के लिए काव्य में हम भी सत्वगुण की सत्ता आवश्यक मानते हैं, पर दोनों रूपों में - दूसरे भावों की तह में अर्थात् अन्तस्संज्ञा में स्थित अव्यक्त बीजरूप में भी और प्रकाश रूप में भी। हम पहले कह आए हैं कि लोक में मंगलविधान की ओर प्रवृत्त करनेवाले दो भाव हैं - करुणा और प्रेम। यह भी दिखा आए हैं कि क्रोध, युद्धोत्साह आदि प्रचंड और उग्र वृत्तियों की तह में यदि इन दोनों में से कोई भाव बीजरूप में स्थित होगा, तभी सच्चा साधारणीकरण और पूर्ण सौंदर्य का प्रकाश होगा। उच्च दशा का प्रेम और करुणा दोनों सत्यगुण प्रधान हैं। त्रिगुणों में सत्वगुण सबके ऊपर है। यहाँ तक कि उसकी ऊपरी सीमा नित्य पारमार्थिक सत्ता के पास तक - व्यक्त और अव्यक्त की सन्धि तक - जा पहुँचती है। इसी से शायद वल्लभाचार्य जी ने सच्चिदानन्द के सत् स्वरूप का प्रकाश करने वाली शक्ति की 'संधिनि' कहा है। व्यवहार में 'सत्' शब्द के दो अर्थ लिए जाते हैं - 'जो वास्तव में हो' तथा 'अच्छा या शुभ'।

जब कि अव्यक्तावस्था से छूटी हुई प्रकृति के व्यक्त स्वरूप जगत में आदि से अंत तक सत्व, रजस्, और तमस् तीनों गुण रहेंगे तब समष्टिरूप में लोक के बीच मंगल का विधान करने वाली ब्रह्म की आनन्द-कला के प्रकाश की यही पद्धति हो सकती है कि तमोगुण और रजोगुण दोनों सत्व गुण के अधीन होकर उसके इशारे पर काम करें। इस दशा में किसी ओर अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने पर भी समष्टिरूप में और सब ओर वे सत्वगुण के लक्ष्य की ही पूर्ति करेंगे। सत्वगुण के इस शासन में कठोरता, उग्रता और प्रचंडता भी सात्विक तेज के रूप में भासित होगी। इसी के अवतार-रूप में हमारे यहाँ भगवान की मूर्ति एक ओर तो 'वज्रादपि' कठोर और दूसरी ओर 'कुसुमादपि' मृदु रखी गयी है -

कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।

(चिन्तामणि से)

4. साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद

— आ. रामचंद्र शुक्ल

किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयों को मन में लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों तथा सौंदर्य, रहस्य, गाम्भीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है वे अकेले उसी के हृदय से सम्बन्ध रखने वाले नहीं होते; मनुष्य-मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालने वाले होते हैं। इसी से उक्त काव्य को एक साथ पढ़ने या सुनने वाले सहस्रों मनुष्य उन्हीं भावों या भावनाओं का थोड़ा या बहुत अनुभव कर सकते हैं। जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यत: सबसे उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्‌बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है। यह सिद्धान्त यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वहीं है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।

किसी काव्य में वर्णित किसी पात्र का किसी कुरूप और दु:शील स्त्री पर प्रेम हो सकता है; पर उसी स्त्री के वर्णन द्वारा शृंगार रस का आलम्बन नहीं खड़ा हो सकता। अत: ऐसा काव्य केवल भाव-प्रदर्शक ही होगा, विभाग-विधायक नहीं हो सकता। इसी प्रकार रौद्र रस के वर्णन में जब तक आलम्बन का चित्रण इस रूप में न होगा कि वह मनुष्य-मात्र में क्रोध का पात्र हो सके, तब तक वह वर्णन भाव-प्रदर्शक मात्र रहेगा, उसका विभाव-पक्ष या तो शून्य अथवा अशक्त होगा। पर भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति नहीं हो सकती। केवल भाव-प्रदर्शक काव्यों में भी होता यह है कि पाठक या श्रोता अपनी ओर से अपनी भावना के अनुसार आलम्बन का आरोप किए रहता है।

काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं; वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं। यह बात आधुनिक कला-समीक्षा के क्षेत्र में पूर्णतया स्थिर हो चुकी है। अनेक व्यक्तियों के रूप-गुण आदि के विवेचन द्वारा कोई वर्ग या जाति ठहराना, बहुत-सा बातों को लेकर कोई सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित करना, यह सब तर्क और विज्ञान का काम है - निश्चयात्मिका बुद्धि का व्यवसाय है। काव्य का काम है कल्पना में 'बिम्ब' (Images) या मूर्त्त भावना उपस्थित करना; बुद्धि के सामने कोई विचार (concept) लाना नहीं। 'बिम्ब' जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।*

इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि शुद्ध काव्य की उक्ति सामान्य, तथ्य-कथन या सिद्धान्त के रूप में नहीं होती। कविता वस्तुओं और व्यापारों का बिम्ब ग्रहण कराने का प्रयत्न करती है, अर्थ ग्रहण-मात्र में उसका काम नहीं चलता। बिम्ब-ग्रहण जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं। जैसे, यदि कहा जाय कि क्रोध में मनुष्य बावला हो जाता है, तो यह काव्य की उक्ति न होगी। काव्य की उक्ति तो किसी क्रुद्ध मनुष्य के उग्र वचनों और उन्मत्त चेष्टाओं को कल्पना में उपस्थित भर कर देगी। कल्पना में जो कुछ उपस्थित होगा वह व्यक्ति या वस्तु-विशेष ही होगा। सामान्य या 'जाति' की तो मूर्त्त भावना हो ही नहीं सकती है।[1]

अब यह देखना चाहिए कि हमारे यहाँ विभाजन व्यापार में जो 'साधारणीकरण' कहा गया है, उसके विरुद्ध तो यह सिद्धान्त नहीं जाता। विचार करने पर स्पष्ट हो जायेगा कि दोनों में कोई विरोध नहीं पड़ता। विभावादिकी साधारणतया प्रतीति होती हैं, इस कथन

---

* अभिव्यंजनावाद (Expressionism) के प्रवर्त्तक क्रोसे (Benedetto Croce) ने कला के बोध-पक्ष और तर्क के बोध-पक्ष को इस प्रकार अलग-अलग दिखाया है - (क) Intutive knowledge, knowledge obtained through the imagination, knowledge of the individual or individual things (ख) Logical knowledge, knowledge obtained through the intellect; knowledge of the universal, knowledge of the relations between individual things.

— Aesthetic by Benedetto Croce

1. साहित्य-शास्त्र में नैयायिकों की बातें ज्यों की त्यों ले लेने से काव्य के स्वरूप-निर्णय में जो बाधा पड़ी है, उसका एक उदाहरण 'शक्तिग्रह' का प्रसंग है। उसके अन्तर्गत कहा गया है कि संकेतग्रह 'व्यक्ति' का नहीं होता है, 'जाति' का होता है। तर्क में भाषा के संकेत पक्ष (Symbolic aspect) से ही काम चलता है जिसमें अर्थग्रहण मात्र पर्याप्त होता है। अत: न्याय में तो जाति का संकेतग्रह कहना ठीक है। पर काव्य में भाषा के प्रत्यक्षीकरण पक्ष (Presentative aspect) से काम लिया जाता है जिसमें शब्द द्वारा सूचित वस्तु का बिम्ब ग्रहण होता है - अर्थात् उसकी मूर्ति कल्पना में खड़ी हो जाती है। काव्य मीमांसा के क्षेत्र में न्याय का यह हाथ बढ़ाना डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण को भी खटका है। उन्होंने कहा है - It is however, to be regretted that during the last 500 years the Nyay has been mixed up with Law, Rhetoric, etc., and thereby has hampered the growth of those branches knowledge upon which it has grown up as a sort of parasite.

Introduction (The Nyaya Sutras)

का अभिप्राय यह नहीं है कि रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन में आलम्बन आदि विशेष व्यक्ति या विशेष वस्तु की मूर्त्त भावना के रूप में न आकर सामान्यत: व्यक्ति मात्र या वस्तु मात्र (जाति) के अर्थ-संकेत के रूप में आते हैं। 'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होता है, वह सब ही सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाता है। जिस व्यक्ति विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि का पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में यह व्यक्ति विशेष ही उपस्थित रहता है। हाँ, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पाठक या श्रोता की मति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्म वाली कोई मूर्ति विशेष आ जाती है। जैसे, यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृंगार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना में आएगी। यदि किसी से प्रेम न हुआ तो सुन्दरी की कोई कल्पित मूर्ति उसके मन में आएगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कल्पित मूर्ति भी विशेष ही होगी - व्यक्ति की ही होगी।

कल्पना में मूर्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है; पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सबके भावों का आलम्बन हो जाता है विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठकों के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिये पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है, उसका अपना हृदय नहीं रहता।

'साधारणीकरण' के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव व्यंजना करने वाला पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है जिसमें आश्रय किसी काव्य या नाटक के पात्र के रूप में आलम्बन रूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी भाव की व्यंजना करता है और श्रोता (या पाठक) उसी भाव का रस रूप में अनुभव करता है। पर रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ है। उसका भी विचार करना चाहिये। किसी भाव की व्यंजना करने वाला, कोई क्रिया या व्यापार करने वाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता (या दर्शक) के किसी भाव का - जैसा श्रद्धा, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का - आलम्बन होता है। इस दशा में श्रोता या दर्शक या पाठक उसी भाव का अनुभव नहीं करता जिसकी व्यंजना पात्र अपने आलम्बन के प्रति करता है, बल्कि व्यंजना करने वाले उस पात्र के किसी और ही भाव का अनुभव करता है। यह दशा भी एक प्रकार की रस दशा ही है - यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलम्बन का साधारणीकरण नहीं रहता। जैसे, कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जागेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील द्रष्टा या प्रकृति द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा। और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा, पर इस रसात्मकता को हम मध्यम की कोटि ही मानेंगे।

जहाँ पाठक या दर्शक किसी काव्य या नाटक में सन्निविष्ट पात्र या आश्रय के शील द्रष्टा के रूप में स्थित होता है वहाँ भी पाठक या दर्शक के मन में कोई न कोई भाव थोड़ा बहुत अवश्य जगा रहता है; अन्तर इतना ही पड़ता है कि उस पात्र का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन नहीं होता, बल्कि वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलम्बन रहता है। इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है, जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलम्बन अवश्य होता है। अत: पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलम्बन प्राय: हो जाता है। जहाँ कवि किसी वस्तु (जैसे - हिमालय, विंध्याटवी) या व्यक्ति का केवल चित्रण करके छोड़ देता है वहाँ कवि ही आश्रय के रूप में रहता है। उस वस्तु या व्यक्ति का चित्रण वह उसके प्रति कोई भाव रखकर ही करता है। उसी के भाव के साथ पाठक या दर्शक का तादात्म्य रहता है, उसी का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन हो जाता है।

आश्रय की जिस भाव-व्यंजना को श्रोता या पाठक का हृदय कुछ भी अपना न सकेगा, उसका ग्रहण केवल शील-वैचित्र्य के रूप में होगा और उसके द्वारा घृणा, विरक्ति, अश्रद्धा, क्रोध, आश्चर्य, कुतूहल इत्यादि में से ही कोई भाव उत्पन्न होकर अपरितुष्ट दशा में रह जायगा। उस भाव की तुष्टि तभी होगी जब कोई दूसरा पात्र आकर उसकी व्यंजना वाणी और चेष्टा द्वारा उस बेमेल या अनुपयुक्त भाव की व्यंजना करने वाले प्रथम पात्र के प्रति करेगा। इस दूसरे पात्र की भाव-व्यंजना के साथ श्रोता या दर्शक की

पूर्ण सहानुभूति होगी। अपरितुष्ट भाव की आकुलता का अनुभव प्रबन्ध-काव्यों, नाटकों और उपन्यासों के प्रत्येक पाठक को थोड़ा बहुत होगा। जब कोई असामान्य दुष्ट अपनी मनोवृत्ति की व्यंजना किसी स्थल पर करता है तब पाठक के मन में बार बार यही आता है कि उस दुष्ट के प्रति उसके मन में जो घृणा या क्रोध है उसकी भरपूर व्यंजना वचन या क्रिया द्वारा कोई आकर करता। कोई परशुराम तथा अत्याचारी रावण की कठोर बातों का जो उत्तर लक्ष्मण और अंगद देते हैं उससे कथाश्रोताओं की अपूर्व तुष्टि होती है।

इस संबंध में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि शील-विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य दशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने रस कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं। प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सँभाले रहता है। द्वितीय में अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है। उदात्त वृत्ति वाले आश्रय की भाव व्यंजना में भी यह होगा कि जिस समय तक पाठक या श्रोता तादात्म्य की दशा में पूर्ण रसमग्न रहेगा उस समय तक भाव-व्यंजना करने वाले आश्रय को अपने से अलग रखकर उसके शील आदि की ओर दत्तचित्त न रहेगा। उस दशा के आगे-पीछे ही वह उसकी भावात्मक सत्ता से अपनी भावात्मक सत्ता को अलग कर उसके शील सौंदर्य की भावना कर सकेगा। भाव-व्यंजना करने वाले किसी पात्र या आशय के शील-सौंदर्य की भावना जिस समय रहेगी, उस समय वही श्रोता या पाठक का आलम्बन रहेगा और उसके प्रति श्रद्धा, भक्ति या प्रीति टिकी रहेगी।

हमारे यहाँ के आचार्यों ने श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य दोनों में रस की प्रधानता रक्खी है, इसी से दृश्य काव्य में भी उनका लक्ष्य तादात्म्य और साधारणीकरण की ओर रहता है। पर योरप के दृश्य काव्यों में शील वैचित्र्य या अन्तःप्रकृति या वैचित्र्य की ओर ही प्रधान लक्ष्य रहता है जिसके साक्षात्कार से दर्शक को आश्चर्य और कुतूहल मात्र की अनुभूति होती है। अतः इस वैचित्र्य पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। वैचित्र्य साक्षात्कार से केवल तीन बातें हो सकती हैं - (1) आश्चर्यपूर्ण प्रसादन, (2) आश्चर्यपूर्ण अवसादन या (3) कुतूहल मात्र।

आश्चर्यपूर्ण प्रसादन शील के चरम उत्कर्ष अर्थात् सात्त्विक आलोक के साक्षात्कार से होता है। भरत का राम की पादुका लेकर विरक्त रूप में बैठना, राजा हरिश्चन्द्र का अपनी रानी से आधा कफन माँगना, नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन का भूखे गरुड़ से अपना मांस खाने के लिए अनुरोध करना इत्यादि शील-वैचित्र्य के ऐसे दृश्य हैं जिनसे श्रोता या दर्शक के हृदय में आश्चर्य-मिश्रित श्रद्धा या भक्ति का संचार होता है। इस प्रकार के उत्कृष्ट शील वाले पात्रों का शील विचित्र होने पर भी भाव-व्यंजना के समय उसके साथ पाठक या श्रोता का तादात्म्य हो सकता है।

आश्चर्यपूर्ण अवसादन शील के अत्यन्त पतन अर्थात् तामसी घोरता के साक्षात्कार से होता है। यदि किसी काव्य या नाटक में हूण सम्राट् मिहिरकुल पहाड़ की चोटी पर से गिराये जाते हुए मनुष्य के तड़फने, चिल्लाने आदि को भिन्न-भिन्न चेष्टाओं पर भिन्न-भिन्न ढंग से आह्लाद की व्यंजना करे, तो उसके आह्लाद में किसी श्रोता या दर्शक का हृदय योग न देगा, बल्कि उसकी मनोवृत्ति की विलक्षणता और घोरता पर स्तम्भित, क्षुब्ध या कुपित होगा। इसी प्रकार दुःशीलता की और और विचित्रताओं के प्रति श्रोता की आश्चर्य मिश्रित विरक्ति, घृणा आदि जगेगी।

जिन सात्विकी और तामसी प्रकृतियों की चरम सीमा का उल्लेख ऊपर हुआ है, सामान्य प्रकृति से उनकी आश्चर्यजनक विभिन्नता केवल उनकी मात्रा में होती है। वे किसी वर्ग-विशेष की सामान्य प्रकृति के भीतर समझी जा सकती हैं जैसे, भरत आदि की प्रकृति शीलवानों की प्रकृति के भीतर और मिहिरकुल की प्रकृति क्रूरों की प्रकृति के भीतर मानी जा सकती है। पर कुछ लोगों के अनुसार ऐसी अद्वितीय प्रकृति भी होती है जो किसी वर्ग-विशेष की भी प्रकृति के भीतर नहीं होती। ऐसी प्रकृति के साक्षात्कार से न स्पष्ट प्रसादन होगा, न स्पष्ट अवसादन - एक प्रकार का मनोरंजन या कुतूहल ही होगा। ऐसी अद्वितीय प्रकृति के चित्रण को डंटन (Thedore Watts Dunton) ने कवि की नाटकीय या निरपेक्ष दृष्टि (Dramatic or Absolute Vision) का सूचक और काव्य-कला का चरम उत्कर्ष कहा है। उनका कहना है कि साधारणतः कवि या नाटककार भिन्न-भिन्न पात्रों की उक्तियों की कल्पना अपने ही को उनकी परिस्थिति में अनुमान करके किया करते हैं। वे वास्तव में यह अनुमान करते हैं कि यदि हम उनकी दशा में होते तो कैसे वचन मुँह से निकालते। तात्पर्य यह है कि उनकी दृष्टि सापेक्ष होती है, वे अपनी ही प्रकृति के अनुसार चरित्र को चित्रण करते हैं। पर निरपेक्ष दृष्टि वाले नाटककार एक नवीन नर-प्रकृति की सृष्टि करते हैं। नूतन-निर्माण वाली कल्पना उन्हीं की होती है।

डंटन ने निरपेक्ष दृष्टि को उच्चतम शक्ति जो ठहराया उन्हें संसार भर में दो ही तीन कवि उक्त दृष्टि से सम्पन्न मिले जिनमें मुख्य शेक्सपियर हैं। पर शेक्सपियर के नाटकों में कुछ विचित्र अंतःप्रकृति के पात्रों के होते हुए भी अधिकांश ऐसे पात्र हैं जिनकी भाव-व्यंजना के साथ पाठक या दर्शक का पूरा तादात्म्य रहता है। 'जूलियस सीजर' नाटक में अंटोनियो के लम्बे भाषण से जो क्षोभ उमड़ पड़ता है उसमें किसका हृदय योग न देगा? डंटन के अनुसार शेक्सपियर की दृष्टि निरपेक्षता के उदाहरणों में हैमलेट

का चरित्र-चित्रण है। पर विचारपूर्वक देखा जाय तो हैमलेट की मनोवृत्ति भी ऐसे व्यक्ति की मनोवृत्ति है जो अपनी माँ का घोर विश्वासघात और जघन्य शीलच्युति देख अर्द्धविक्षिप्त-सा हो गया है। परिस्थिति के साथ उसके वचनों का सामंजस्य उसकी बुद्धि की अव्यवस्था का द्योतक है अत: उसका चरित्र भी एक वर्ग-विशेष के चरित्र के भीतर आता जाता है। उसके बहुत से भाषण को प्रत्येक सहृदय व्यक्ति अपनाता है। उदाहरण के लिए आत्मग्लानि और लोभ से भरे हुए वे वचन जिनके द्वारा वह स्त्री-जाति की भर्त्सना करता है। अत: हमारे देखने में ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन, जो किसी दशा में किसी की हो नहीं सकती, केवल ऊपरी मनबहलाव के लिए खड़ा किया हुआ कृत्रिम तमाशा ही होगा। पर डंटन साहब के अनुसार ऐसी मनोवृत्ति का चित्रण नूतन सृष्टिकारिणी कल्पना का सबसे उज्ज्वल उदाहरण होगा।

'नूतन सृष्टि निर्माण वाली कल्पना' की चर्चा जिस प्रकार योरप में चलती आ रही है, उसी प्रकार भारतवर्ष में भी। पर हमारे यहाँ यह कथन अर्थवाद के रूप में - कवि और कवि कर्म की स्तुति के रूप में ही गृहीत हुआ, शास्त्रीय सिद्धान्त या विवेचन के रूप में नहीं। योरप में अलबत्ता यह एक सूत्र-सा बनकर काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में भी जा घुसा है। इसके प्रचार का परिणाम वहाँ यह हुआ कि रचनाएँ इस ढंग की भी हो चलीं जिनमें कवि ऐसी अनुभूतियों की व्यंजना की नकल करता है जो न वास्तव में उनकी होती हैं और न किसी की हो सकती हैं। इस नूतन सृष्टि निर्माण के अभिनय के बीच 'दूसरे जगत् के पंछियों' की उड़ान शुरू हुई। शेली के पीछे पागलपन के नकल करने वाले बहुत से खड़े हुये थे; वे अपनी बातों का ऐसा रूप-रंग बनाते थे जो किसी और दुनिया का लगे या कहीं का न जान पड़े।*

यह उस प्रवृत्ति का हद से बाहर पहुँचा रूप है, जिसका आरम्भ योरप में एक प्रकार से पुनरुत्थान-काल (Renaissance) के साथ हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि उस काल के पहले काव्य की रचना काल को अखण्ड अनन्त और भेदातीत मानकर तथा लोक को एक सामान्य सत्ता समझकर की जाती थी। रचना करने वाले यह ध्यान रखकर नहीं लिखते थे कि इस काल का स्वरूप आने वाले काल में कुछ और प्रकार का होगा अथवा इस वर्तमान काल का स्वरूप सर्वत्र एक ही नहीं है - किसी जन-समूह के बीच पूर्ण असभ्य काल है, किसी के बीच उससे कुछ कम, किसी जन-समुदाय के बीच कुछ असभ्य काल है, किसी के बीच उससे बहुत अधिक। इसी प्रकार उन्हें इस बात की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती थी कि लोक भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से बना होता है जो भिन्न-भिन्न रुचि और प्रवृत्ति के होते हैं। 'पुनरुत्थान-काल' से धीरे-धीरे इस तथ्य की ओर ध्यान बढ़ता गया, प्राचीनों की भूल प्रगट होती गई। अन्त में इशारे पर आँख मूँदकर दौड़ने वाले बड़े-बड़े पण्डितों ने पुनरुत्थान की कालधारा को मथकर 'व्यक्तिवाद' रूपी नया रत्न निकाला। फिर क्या था? शिक्षित समाज में व्यक्तिगत विशेषताएँ देखने-दिखाने की चाह बढ़ने लगी।

काव्यक्षेत्र में किसी 'वाद' का प्रचार धीरे-धीरे उसकी सारसत्ता को ही चर जाता है। कुछ दिनों में लोग कविता न लिखकर 'वाद' लिखने लगते हैं। कला या काव्य के क्षेत्र में, 'लोक' और 'व्यक्ति' की उपर्युक्त धारणा कहाँ तक संगत है, इस पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। लोक के बीच जहाँ बहुत-सी भिन्नताएँ देखने में आती हैं, वहाँ कुछ अभिन्नता भी पायी जाती है। एक मनुष्य की आकृति से दूसरे आकृति नहीं मिलती, पर सब मनुष्यों की आकृतियों को एक साथ लें तो एक ऐसी सामान्य आकृति-भावना भी बँधती है जिसके कारण हम सबको मनुष्य कहते हैं। इसी प्रकार सबकी रुचि और प्रकृति में भिन्नता होने पर भी कुछ ऐसी अन्तर्भूमियाँ हैं जहाँ पहुँचने पर अभिन्नता मिलती है। वे अन्तर्भूमियाँ नर-समष्टि की रागात्मिका प्रकृति के भीतर हैं। लोक-हृदय की यह सामान्य अन्तर्भूमि परखकर हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की गई है। वह सामान्य अन्तर्भूमि कल्पित या कृत्रिम नहीं है। काव्य-रचना की रूढ़ि या परम्परा, सभ्यता के न्यूनाधिक विकास, जीवन व्यापार के बदलने वाले बाहरी रूप-रंग इत्यादि पर वह स्थित नहीं है। इसकी नींव गहरी है। इसका सम्बन्ध हृदय के भीतरी मूल देश से है, उसका सामान्य वासनात्मक सत्ता से है।

जिस 'व्यक्तिवाद' का ऊपर वर्णन हुआ है, उसने स्वच्छन्दता के आन्दोलन (Romantic Movement) के उत्तर काल से बड़ा ही विकृत रूप धारण किया। यह 'व्यक्विवाद' यदि पूर्ण रूप से स्वीकार किया जाय तो कविता लिखना व्यर्थ ही समझिए। कविता इसीलिए लिखी जाती है कि एक ही भावना सैकड़ों, हजारों क्या, लाखों दूसरे आदमी ग्रहण करें। जब एक के हृदय के साथ दूसरे

---

* After Shelley's music began to captivate the world certain poets set to work upon the theory that between themseleves and the other portion of the human race there is a wide gulf fixed. Their theory was that they were to sing, as far as possible, like birds of another world..... It might also be said that the poetic atmosphere became that of the place of wonder.

— Bedlam'

Bailey. Dobell and Smith were not Bedlamites, but men of common sense. They only affected Madness. The country from which the followers of Shelley sing to our lower world was named 'Nowhere'

—'Poetry and the Renaissance of Wonders by Theodors Watts Dunton.

के हृदय की कोई समानता ही नहीं तब एक के भावों को दूसरा क्यों और कैसे ग्रहण करेगा? ऐसी अवस्था में तो यही सम्भव है कि हृदय द्वारा मार्मिक या भीतरी ग्रहण की बात ही छोड़ दी जाय; व्यक्तिगत विशेषता के वैचित्र्य द्वारा ऊपरी कुतूहल मात्र उत्पन्न कर देना ही बहुत समझा जाय। हुआ भी यही। और हृदयों से अपनी सहृदयता की भिन्नता और विचित्रता दिखाने के लिए बहुत से लोग एक-एक काल्पनिक हृदय निर्मित करके दिखाने लगे। काव्यक्षेत्र 'नकली हृदयों' का एक कारखाना हो गया।

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे जान पड़ेगा कि भारतीय काव्य दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से "सामान्य" के उद्‌घाटन की ओर बराबर रही है। किसी न किसी 'सामान्य' के प्रतिनिधि होकर ही 'विशेष' हमारे यहाँ के काव्यों में आते रहे हैं। पर योरोपीय काव्य दृष्टि इधर बहुत दिनों से विरल-विशेष के विधान की ओर रही है। हमारे यहाँ कवि उस सच्चे तार की झंकार सुनाने में ही सन्तुष्ट रहे जो मनुष्य-मात्र के हृदय के भीतर से होता हुआ गया है। पर उन्नीसवीं शताब्दी के बहुत-से विलायती कवि ऐसे हृदयों के प्रदर्शन में लगे जो न कहीं होते हैं और न हो सकते हैं। सारांश यह कि हमारी वाणी भावक्षेत्र के बीच 'भेदों में प्रभेद' को ऊपर करती रही और उनकी वाणी झूठे सच्चे विलक्षण भेद खड़े करके लोगों को चमत्कृत करने में लगी।

'कल्पना' और 'व्यक्तित्व' की, पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्र में इतनी अधिक मुनादी हुई कि काव्य के और सब पक्षों से दृष्टि हटकर इन्हीं दो पर जा जमी। 'कल्पना' काव्य का बोध-पक्ष है। कल्पना में आई रूप-व्यापार-योजना का कवि या श्रोता को अंत:साक्षात्कार या बोध होता है। पर इस बोध पक्ष के अतिरिक्त काव्य का भावपक्ष भी है। कल्पना को रूप योजना के लिए प्रेरित करने वाले और कल्पना में आई हुई वस्तुओं में श्रोता या पाठक को रमाने वाले रति, करुणा, क्रोध, उत्साह, आश्चर्य इत्यादि भाव या मनोविकार होते हैं। इसी से भारतीय दृष्टि ने भावपक्ष को प्रधानता दी और रस के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। पर पश्चिम में 'कल्पना', 'कल्पना' की पुकार के सामने धीरे-धीरे समीक्षकों का ध्यान भावपक्ष से हट गया और बोधपक्ष ही पर भिड़ गया। काव्य की रमणीयता उस हल्के आनन्द के रूप में ही मानी जाने वाली जिस आनन्द के लिए हम नई-नई सुन्दर भड़कीली और विलक्षण वस्तुओं को देखने जाते हैं। इस प्रकार कवि तमाशा दिखाने वाले के रूप में और श्रोता या पाठक तटस्थ तमाशबीन के रूप में समझे जाने लगे। केवल देखने का आनन्द कुछ विलक्षण को देखने का कुतूहल मात्र होता है।

'व्यक्तित्व' ही को ले उड़ने से जो परिणाम हुआ है, उसका कुछ आभास ऊपर दिया जा चुका है। 'कल्पना' और 'व्यक्तित्व' पर एकदेशीय दृष्टि रख कर पश्चिम में कई प्रसिद्ध 'वादों' की इमारतें खड़ी हुईं। इटली निवासी क्रोसे (Benedetto Croce) ने अपने 'अभिव्यंजनावाद' के निरूपण में बड़े कठोर आग्रह के साथ कला की अनुभूति को ज्ञान या बोध-स्वरूप ही माना है। उन्होंने उसे स्वयं प्रकाश ज्ञान (Intuition) - प्रत्यक्ष ज्ञान तथा बुद्धि-व्यवसाय-सिद्ध या विचार-प्रसूत ज्ञान से भिन्न केवल कल्पना में आई हुई वस्तु व्यापार-योजना का ज्ञान-मात्र माना है। वे इस ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान और विचार-प्रसूत ज्ञान दोनों से सर्वथा निरपेक्ष, स्वतन्त्र और स्वत: पूर्ण मानकर चले हैं। वे इस निरपेक्षता को बहुत दूर तक घसीट ले गए हैं। भावों या मनोविकारों तक को उन्होंने काव्य की उक्ति का विधायक अवयव नहीं माना है। पर न चाहने पर भी अभिव्यंजना या उक्ति के अनभिव्यक्ति पूर्व रूप से भावों की सत्ता उन्हें स्वीकार करनी पड़ी है। उससे अपना पीछा वे छुड़ा नही सके हैं।*

काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में व्यक्ति की ऐसी दीवार खड़ी हुई 'विशेष' के स्थान पर सामान्य या विचार-सिद्ध ज्ञान के आ घुसने का इतना डर समाया कि कहीं-कहीं आलोचना भी काव्य-रचना के ही रूप में होने लगी। कला की कृति की परीक्षा के लिए विवेचन-पद्धति का त्याग-सा होने लगा। हिन्दी की मासिक पत्रिकाओं में समालोचना के नाम पर आजकल तो अद्‌भुत और रमणीय शब्द योजना-मात्र कभी-कभी देखने में आया करती है, वह इसी पाश्चात्य प्रवृत्ति का अनुकरण है। पर यह भी समझ रखना चाहिए कि योरप में साहित्य संबंधी आन्दोलनों की आयु बहुत थोड़ी होती है। आंदोलन दस-बारह वर्ष से ज्यादा नहीं चलता। ऐसे आन्दोलनों के कारण वहाँ इस बीसवीं शताब्दी में आकर कार्यक्षेत्र के बीच बड़ी गहरी गड़बड़ी और अव्यवस्था फैली। काव्य की स्वाभाविक उमंग के स्थान पर नवीनता के लिए आकुलता-मात्र रह गई। कविता चाहे हो, चाहे न हो, कोई नवीन रूप या रंग-ढंग अवश्य खड़ा हो। पर कोरी नवीनता केवल मरे हुए आन्दोलन का इतिहास छोड़ जाय तो छोड़ जाय, कविता नहीं खड़ी कर सकती। केवल नवीनता और मौलिकता की बढ़ी-बढ़ी सनक में सच्ची कविता की ओर ध्यान कहाँ तक रह सकता है? कुछ लोग तो नए-नए ढंग की उच्छंखलता, वक्रता, असम्बद्धता, अनर्गलता इत्यादि का ही प्रदर्शन करने में लगे। थोड़े से ही सच्ची भावना वाले कवि प्रकृत-मार्ग पर चलते दिखाई पड़ने लगे। समालोचना भी अधिकतर हवाई ढंग की होने लगी।*

---

* Matter is emotively not aesthetically elaborated i.e. impresion. Form is elaboration and expression xxx Sentiments or impressions pass by means of words from the obscure region of the soul into the clarity of the contemplative spirit.

—Aesthetic.

* wherever attempts at sheer newness in poetry where made, they merely ended in dead movement. XXXX Criticism became more dogmatic and unreal poetry' more eccentric and chastic.

—"A Survey of Modernist poetry" by Laura Riding and Robert Greaves (1927).

योरप में इधर पचास वर्ष के भीतर 'रहस्यवाद', 'कलावाद', 'व्यक्तिवाद' इत्यादि जो अनेक 'वाद' चले थे, अब वहा मरे हुए आन्दोलन समझे जाते हैं। इन नाना 'वादों' से ऊबकर लोग अब फिर साफ हवा में आना चाहते हैं। किसी कविता के सम्बन्ध में किसी 'वाद' का नाम लेना अब फैशन के खिलाफ माना जाने लगा है। अब कोई वादी समझे जाने में कवि अपना मान नहीं समझते।*

(चिन्तामणि से)

* The modernist poet does not have to issue a programme declaring his intentions toward the reader or to issue an announcement of tactics. He does not have to call himself an individualist as the Imagist poet did) or a mystic (as the poet of Anglo Irish dead movement did) or a naturalist as the poet of Geogrian dead movement did).

—"A Survey of Modernist poetry" by Laura Riding and Robert Greaves (1927)

5. अशोक के फूल

—आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी

अशोक में फिर फूल आ गये हैं। इन छोटे-छोटे, लाल-लाल पुष्पों के मनोहर स्तबकों में कैसा मोहन भाव है! बहुत सोच-समझकर, कन्दर्प-देवता ने लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़कर सिर्फ पाँच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था। एक यह अशोक ही है।

लेकिन पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है। इसलिए नहीं कि सुन्दर वस्तुओं को हतभाग्य समझने में मुझे कोई विशेष रस मिलता है। कुछ लोगों को मिलता है। वे बहुत दूरदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड़ गया, उसके जीवन के अन्तिम मुहूर्त्त तक का हिसाब वे लगा लेते है। मेरी दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जाती। फिर भी मेरा मन इस फूल को देखकर उदास हो जाता है। असली कारण तो मेरे अन्तर्यामी ही जानते होंगे, कुछ थोड़ा-सा मैं भी अनुमान कर सका हूँ। बताता हूँ।

भारतीय साहित्य में, और इसलिए जीवन में भी, इस पुष्प का प्रवेश और निर्गम दोनों ही विचित्र नाटकीय व्यापार हैं। ऐसा तो कोई नहीं कह सकेगा कि कालिदास के पूर्व भारतवर्ष में इस पुष्प का कोई नाम ही नहीं जानता था; परन्तु कालिदास के काव्यों में यह जिस शोभा और सौकुमार्य का भार लेकर प्रवेश करता है वह पहले कहाँ था! उस प्रवेश में नववधू के गृह-प्रवेश की भाँति शोभा है, गरिमा है, पवित्रता है और सुकुमारता है। फिर एकाएक मुसलमानी सल्तनत की प्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुपचाप उतार दिया गया। नाम तो लोग बाद में भी लेते थे, पर उसी प्रकार जिस प्रकार बुद्ध, विक्रमादित्य का। अशोक को जो सम्मान कालिदास से मिला वह अपूर्व था। सुन्दरियों के आसिंजनकारी नूपुर वाले चरणों के मृदु आघात से वह फूलता था, कोमल कपोलो को कर्णावतंस के रूप में झूलता था और चंचल नील अलकों की अचंचल शोभा को सौ-गुना बढ़ा देता था। वह महादेव के मन में क्षोभ पैदा करता था, मर्यादा-पुरुषोत्तम के चित्त में सीता का भ्रम पैदा करता था और मनोजन्मा देवता के एक इशारे पर कन्धे पर से ही फूट उठता था। अशोक किसी कुशल अभिनेता के समान झम्-से रंगमंच पर आता है और दर्शकों को अभिभूत करके खप्-से निकल जाता है। क्यों ऐसा हुआ? कन्दर्प-देवता के अन्य बाणों की कदर तो आज भी कवियों की दुनिया में ज्यों-कि-त्यों है। अरविन्द को किसने भुलाया, आम कहाँ छोड़ा गया और नीलोत्पल की माया को कौन काट सका? नवमल्लिका की अवश्य ही अब विशेष पूछ नहीं है; किन्तु उसकी इससे अधिक कदर कभी थी भी नहीं। भुलाया गया है अशोक! मेरा मन उमड़-घुमड़कर भारतीय रस-साधना के पिछले हजारों वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह मनोहर पुष्प भुलाने की चीज थी? सहृदयता क्या लुप्त हो गयी थी? कविता क्या सो गयी थी? ना, मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है। जले पर नमक तो यह है कि एक तरंगायित पत्रवाले निफूले पेड़ को सारे उत्तर भारत में अशोक कहा जाने लगा। याद भी किया तो अपमान करके!

लेकिन मेरे मानने-न-मानने से होता क्या है? ईसवी सन् के आरम्भ के आस-पास अशोक का शानदार पुष्प भारतीय धर्म, साहित्य और शिल्प में अद्भुत महिमा के साथ आया था। उसी समय शताब्दियों के परिचित यक्षों और गन्धर्वों ने भारतीय धर्म-साधना को एकदम नवीन रूप में बदल दिया था। पण्डितों ने शायद ठीक ही सुझाया है कि गन्धर्व और कन्दर्प वस्तुतः एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न उच्चारण हैं। कन्दर्प-देवता ने यदि अशोक को चुना है तो यह निश्चित रूप से एक आर्येतर सभ्यता की देन है। इन आर्येतर जातियों के उपास्य वरुण थे, कुबेर थे, वज्रपाणि यक्षपति थे। क़न्दर्प यद्यपि कामदेवता का नाम हो गया है, तथापि है वह गन्धर्व का ही पर्याय। शिव से भिड़ने जाकर एक बार यह पिट चुके थे, विष्णु से डरते रहते थे और बुद्धदेव से भी टक्कर लेकर लौट आये थे। लेकिन कन्दर्प-देवता हार मानने वाले जीव न थे। बार-बार हारने पर भी वह झुके नहीं। नये-नये अस्त्रों का प्रयोग करते रहे। अशोक शायद अन्तिम अस्त्र था। बौद्ध-धर्म को इस नये अस्त्र से उन्होंने घायल कर दिया, शैवमार्ग को अभिभूत कर दिया और शक्ति-साधना को झुका दिया। वज्रयान इसका सबूत है, कौल-साधना इसका प्रमाण है और कापालिक मत इसका गवाह है।

रवीन्द्रनाथ ने इस भारतवर्ष को 'महामानवसमुद्र' कहा है। विचित्र देश है यह! असुर आये, आर्य आये, शक आये, हूण आये, नाग आये, यक्ष आये, गन्धर्व आये - न जाने कितनी मानव-जातियाँ यहाँ आयीं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गयीं। जिसे हम हिन्दू रीति-नीति कहते हैं, वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्भुत मिश्रण है। एक-एक पशु, एक-एक पक्षी न जाने कितनी स्मृतियों का भार लेकर हमारे सामने उपस्थित है। अशोक की भी अपनी स्मृति-परम्परा है। आम की भी है, बकुल की भी है, चम्पे की भी है। सब क्या हमें मालूम है? जितना मालूम है, उसी का अर्थ क्या स्पष्ट हो सका है? न जाने किस बुरे मुहूर्त्त में मनोजन्मा देवता ने शिव पर बाण फेंका था! शरीर जलकर राख हो गया और 'वामन-पुराण' (षष्ठ अध्याय) की गवाही पर हमें मालूम है कि उनका रत्नमय धनुष टूटकर खण्ड-खण्ड हो धरती पर गिर गया। जहाँ मूठ थी, वह स्थान रुक्म-मणि से बना था, वह टूटकर धरती पर गिरा और चम्पे का फूल बन गया! हीरे का बना हुआ जो नाह-स्थान था, वह टूटकर गिरा और मौलसरी के मनोहर पुष्पों में बदल गया ! अच्छा ही हुआ। इन्द्रनील-मणियों का बना हुआ कोटि-देश भी टूट गया और सुन्दर

पाटल पुष्पों में परिवर्तित हो गया। यह भी बुरा नहीं हुआ। लेकिन सबसे सुन्दर बात यह हुई कि चन्द्रकान्त मणियों का बना हुआ मध्य देश टूटकर चमेली बन गया और विद्रुम की बनी निम्नतर कोटि वेला बन गयी. स्वर्ग को जीतनेवाला कठोर धनुष जो धरती पर गिरा तो कोमल फूलों में बदल गया! स्वर्गीय वस्तुएँ धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं!

परन्तु मैं दूसरी बात सोच रहा हूँ। इस कथा का रहस्य क्या है? यह क्या पुराणकार की सुकुमार कल्पना है या सचमुच ये फूल भारतीय संसार में गन्धर्वों की देन हैं? एक निश्चित काल के पूर्व इन फूलों की चर्चा हमारे साहित्य में मिलती भी नहीं! सोम तो निश्चित रूप से गन्धर्वों से खरीदा जाता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ की विधि में यह विधान सुरक्षित रह गया है। ये फूल भी क्या उन्हीं से मिले?

कुछ बातें तो मेरे मस्तिष्क में बिना सोचे ही उपस्थित हो रही हैं। यक्षों और गन्धर्वों के देवता कुबेर, सोम, अप्सराएँ वैदिक बाद के ब्राह्मण ग्रन्थों में भी स्वीकृत हैं, तथापि पुराने साहित्य में अपदेवता के रूप में ही मिलते हैं। बौद्ध साहित्य में तो बुद्धदेव को ये कई बार बाधा देते हुए बताये गये हैं। महाभारत में ऐसी अनेक कथाएँ आती हैं जिनमें सन्तानार्थिनी स्त्रियाँ वृक्षों के अपदेवता यक्षों के पास सन्तान कामना होकर जाया करती थीं! यक्ष और यक्षिणी साधारणत: विलासी और उर्वरता जनक देवता समझे जाते थे। कुबेर तो अक्षय निधि के अधीश्वर भी हैं। 'यक्ष्मा' नामक रोग के साथ भी इन लोगों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। भरहुत, बोध गया, साँची आदि में उत्कीर्ण मूर्तियों में सन्तानार्थिनी स्त्रियों का यक्षों के सान्निध्य के लिए वृक्षों के पास जाना अंकित है। इन वृक्षों के पास अंकित मूर्तियों की स्त्रियाँ प्राय: नग्न हैं, केवल कटिदेश में एक चौड़ी मेखला पहने हैं। अशोक इन वृक्षों में सर्वाधिक रहस्यमय है। सुन्दरियों के चरण ताड़न से उसमें दोहद का संचार होता है और परवर्ती धर्म ग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि चैत्रशुक्ला अष्टमी को व्रत करने और अशोक की आठ पत्तियों के भक्षण से स्त्री की सन्तान कामना फलवती होती है। 'अशोक कल्प' में बताया गया है कि अशोक के फूल दो प्रकार के होते हैं सफेद और लाल। सफेद तो तान्त्रिक क्रियाओं में सिद्धिप्रद समझकर व्यवहृत होता है और लाल स्मरवर्धक होता है। इन सारी बातों का रहस्य क्या है? मेरा मन प्राचीन काल के कुंडाटिकाच्छन्न आकाश में दूर तक उड़ना चाहता है। हाय, पंख कहाँ हैं?

यह मुझे प्राचीन युग की बात मालूम होती है। आर्यों का लिखा हुआ साहित्य ही हमारे पास बचा है। उसमें सब कुछ आर्य दृष्टिकोण से ही देखा गया है। आर्यों से अनेक जातियों का संघर्ष हुआ। कुछ ने उनकी अधीनता नहीं मानी, वे कुछ ज्यादा गर्वीली थीं। संघर्ष खूब हुआ। पुराणों में इसके प्रमाण हैं। यह इतनी पुरानी बात है कि सभी संघर्षकारी शक्तियाँ बाद में देवयोनि जात मान ली गयीं। पहला संघर्ष शायद असुरों से हुआ। यह बड़ी गर्वीली जाति थी। आर्यों का प्रभुत्व इसने कभी नहीं माना। फिर दानवों, दैत्यों और राक्षसों से संघर्ष हुआ। गन्धर्वों और यक्षों से कोई संघर्ष नहीं हुआ। वे शायद शान्तिप्रिय जातियाँ थीं। भरहुत, साँची, मथुरा आदि में प्राप्त यक्षिणी मूर्तियों की गठन और बनावट देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये जातियाँ पहाड़ी थीं। हिमालय का प्रदेश ही गन्धर्व, यक्ष और अप्सराओं की निवास भूमि है। इसका समाज सम्भवत: उस स्तर पर था, जिसे आजकल के पण्डित 'प्रिमीटिवल सोसाइटी' कहते हैं। शायद इससे भी अधिक आदिम! परन्तु वे नाच गान में कुशल थे। यक्ष तो धनी भी थे। वे लोग वानरों और भालुओं की भाँति कृषिपूर्व स्थिति में भी नहीं थे और राक्षसों और असुरों की भाँति व्यापार वाणिज्यवाली स्थिति में भी नहीं। वे मणियों और रत्नों का सन्धान जानते थे, पृथ्वी के नीचे गड़ी हुई निधियों की जानकारी रखते थे और अनायास धनी हो जाते थे। सम्भवत: इसी प्रकार उनमें विलासिता की मात्रा अधिक थी। परवर्ती काल में यह बहुत सुखी जाति मानी जाती थी। यक्ष और गन्धर्व एक ही श्रेणी के थे, परन्तु आर्थिक स्थिति दोनों की थोड़ी भिन्न थी। किस प्रकार कन्दर्प देवता को अपनी गन्धर्व सेना के साथ इन्द्र का मुसाहिब बनना पड़ा, वह मनोरंजन कथा है। पर यहाँ वह सब पुरानी बातें क्यों रटी जायें? प्रकृत यह है कि बहुत पुराने जमाने में आर्य लोगों को अनेक जातियों से निपटना पड़ा था। जो गर्वीली थीं, हार मानने को प्रस्तुत नहीं थीं, परवर्ती साहित्य में उनका स्मरण घृणा के साथ किया गया और जो सहज ही मित्र बन गयीं, उनके प्रति अवज्ञा और उपेक्षा का भाव नहीं रहा। असुर, राक्षस, दानव और दैत्य पहली श्रेणी में; तथा यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध विद्याधर, वानर, भालु आदि दूसरी श्रेणी में आते हैं। परवर्ती हिन्दू समाज इन सबको बड़ी अद्भुत शक्तियों का आश्रय मानता है, सबमें देवता बुद्धि का पोषण करता है।

अशोक वृक्ष की पूजा इन्हीं गन्धर्वों और यक्षों की देन है। प्राचीन साहित्य में इस वृक्ष की पूजा के उत्सवों का बड़ा सरस वर्णन मिलता है। असल पूजा अशोक की नहीं, बल्कि उसके अधिष्ठाता कन्दर्प देवता की होती थी। इसे 'मदनोत्सव' कहते थे। महाराजा भोज के 'सरस्वती कण्ठाभरण' से जान पड़ता है कि यह उत्सव त्रयोदशी के दिन होता था। 'मालविकाग्निमित्र' और 'रत्नावली' में इस उत्सव का बड़ा सरस मनोहर वर्णन मिलता है। मैं जब अशोक के लाल स्तवकों को देखता हूँ तो मुझे वह पुराना वातावरण प्रत्यक्ष दिखायी दे जाता है। राजघरानों में साधारणत: रानी ही अपने सनूपुर चरणों के आघात से इस रहस्यमय वृक्ष को पुष्पित किया करती थीं। कभी कभी रानी अपने स्थान पर किसी अन्य सुन्दरी को भी नियुक्त कर दिया करती थीं। कोमल हाथों में अशोक पल्लवों का कोमलतर गुच्छ आया, अलक्तक से रंजित नूपुरमय चरणों के मृदु आघात से अशोक का पादेश आहत हुआ नीचे हल्की सनसुन और ऊपर लाल फूलों का उल्लास! किसलयों और कुसुम स्तवकों की मनोहर छाया के नीचे स्फटिक के आसन पर अपने

प्रिय को बैठाकर सुन्दरियाँ अबीर, कुंकुम, चन्दन और पुष्प सम्भार से पहले कन्दर्प-देवता की पूजा करती थीं और बाद में सुकुमार भंगिमा से पति के चरणों पर बसन्त-पुष्पों की अंजलि बिखेर देती थीं। मैं सचमुच इस उत्सव को मादक मानता हूँ। अशोक के स्तबकों में वह मादकता आज भी है, पर पूछता कौन है? इन फूलों के साथ क्या मामूली स्मृति जुड़ी हुई है? भारतवर्ष का सुवर्ण-युग इस पुष्प के प्रत्येक दल में लहरा रहा है।

कहते हैं, दुनिया बड़ी भुलक्कड़ है! केवल उतना ही याद रखती है, जितने से उसका स्वार्थ सधता है। बाकी को फेंककर आगे बढ़ जाती है। शायद अशोक से उसका स्वार्थ नहीं सधा। क्यों उसे वह याद रखती? सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है!

अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो, परन्तु है वह उस विशाल सामन्त-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त के स-सार कणों को खाकर बड़ी हुई थी और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी। वे सामन्त उखड़ गये, समाज ढह गये, और मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट गयी। सन्तान-कामिनियों को गन्धर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा - पीरों ने, भूत-भैरवों ने, काली-दुर्गा ने यक्षों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गयी, अशोक पीछे छूट गया!

मुझे मानव-जाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हजारों वर्ष का रूप साफ दिखायी दे रहा है। मनुष्य की जीवनी-शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नयी शक्ति पायी है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बाद की बात है। सबकुछ में मिलावट है, सबकुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सबकुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है! सभ्यता और संस्कृति का मोह क्षण-भर बाधा उपस्थित करता है, धर्माचार का संस्कार थोड़ी देर तक इस धारा से टक्कर लेता है, पर इस दुर्दम धारा में सबकुछ बह जाते हैं। जितना कुछ इस जीवनी-शक्ति को समर्थ बनाता है, उतना उसका अंग बना जाता है, बाकी फेंक दिया जाता है। धन्य हो महाकाल, तुमने कितनी बार मदनदेवता का गर्व-खण्डन किया है, धर्मराज के कारागार में क्रान्ति मचायी है, यमराज के निर्दय तारल्य को पी लिया है, विधाता के सर्वकर्तृत्व के अभिमान को चूर्ण किया है! आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है, उसका कितना भाग तुम्हारे कुण्ठनृत्य से ध्वस्त हो जायेगा, कौन जानता है! मनुष्य की जीवन-धारा फिर भी अपनी मस्तानी चाल से चलती जायेगी। आज अशोक के पुष्प-स्तबकों को देखकर मेरा मन उदास हो गया है, कल न जाने किस वस्तु को देखकर किस सहृदय के हृदय में उदासी की रेखा खेल उठेगी! जिन बातों को मैं अत्यन्त मूल्यांवान् समझ रहा हूँ और जिनके प्रचार के लिए चिल्ला-चिल्लाकर गला सुखा रहा हूँ, उनमें कितनी जियेंगी और कितनी बह जायेंगे; कौन जानता है! मैं क्या शौक से उदास हुआ हूँ? माया काटे कटती नहीं। उस युग के साहित्य और शिल्प मन को मसले दे रहे हैं। अशोक के फूल ही नहीं, किसलय भी हृदय को कुरेद रहे हैं। कालिदास जैसे कल्पकवि ने अशोक के पुष्प को ही नहीं, किसलयों को भी मदमत्त करनेवाला बताया था - अवश्य ही शर्त यह थी कि वह दयिता (प्रिया) के कानों में झूम रहा हो - 'किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिता श्रवणार्पितः!' - परन्तु शाखाओं में लम्बित, वायुलुयित किसलयों में भी मादकता है। मेरी नस-नस से आज अरुण उल्लास की झंझा उत्थित हो रही है। मैं सचमुच उदास हूँ।

आज जिसे हम बहुमूल्य संस्कृति मान रहें हैं, क्या ऐसी ही बनी रहेगी? सम्राटों-सामन्तों ने जिस आचार-निष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था, वह लुप्त हो गयी; धर्माचार्यों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को इतना महार्घ समझा था, वह समाप्त हो गया; मध्ययुग के मुसलमान रईसों के अनुकरण पर जो रस-राशि उमड़ी थी, वह वाष्प की भाँति उड़ गयी तो क्या यह मध्य-युग के कंकाल में लिखा हुआ व्यावसायिक-युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा? महाकाल के प्रत्येक पदाघात में धरती धसकेगी। उसके कुण्ठनृत्य की प्रत्येक चारिका कुछ-न-कुछ लपेटकर ले जायेगी। सब बदलेगा, सब विकृत होगा - सब नवीन बनेगा।

भगवान् बुद्ध ने मार-विजय के बाद वैरागियों की पलटन खड़ी की थी। असल में 'मार' मदन का ही नामान्तर है। कैसा मधुर और मोहक साहित्य उन्होंने दिया! पर न जाने कब यक्षों के वज्रपाणि नामक देवता इस वैराग्यप्रवण धर्म में घुसे और बोधसत्त्वों के शिरोमणि बन गये। फिर वज्रयान का अपूर्व धर्म-मार्ग प्रचलित हुआ। त्रिरत्नों में मदन देवता ने आसन पाया। वह एक अजीब आँधी थी। इसमें बौद्ध बह गये, शैव बह गये, शाक्त बह गये। उन दिनों 'श्री सुन्दरीसाधनतत्पराणां योगश्च भोगश्च करस्थ एव' की महिमा प्रतिष्ठित हुई। काव्य और शिल्प के मोहक अशोक ने अभिचार में सहायता दी! मैं अचरज से इस योग और भोग की मिलन-लीला को देख रहा हूँ। यह भी क्या जीवनी-शक्ति का दुर्दम अभियान था! कौन बतायेगा कि कितने विध्वंस के बाद इस अपूर्व धर्म-मत की सृष्टि हुई थी? अशोक-स्तबक का हर फूल और हर दल इस विचित्र परिणति की परम्परा ढोये आ रहा है। कैसा झबरा-सा गुल्म है!

मगर उदास होना भी बेकार है। अशोक आज भी उसी मौज में है, जिनमें आज से दो हजार वर्ष पहले था। कहीं भी तो कुछ नहीं बिगड़ा है, कुछ भी तो नहीं बदला है। बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति। यदि बदले बिना वह आगे बढ़ सकती तो शायद वह भी नहीं बदलती। और यदि वह न बदलती और व्यावसायिक संघर्ष आरम्भ हो जाता - मशीन का रथ घर्घर चल पड़ता - विज्ञान का सवेग धावन चल निकलता, तो बड़ा बुरा होता। हम पिस जाते। अच्छा ही हुआ जो वह बदल गयी। पूरी कहाँ बदली है? पर बदल तो रही है। अशोक का फूल तो उसी मस्ती से हँस रहा है। पुराने चित्त से इसको देखनेवाला उदास होता है। वह अपने को पण्डित समझता है। पण्डिताई भी एक बोझ है - जितनी ही भारी होती है, उतनी ही तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है, तो सहज हो जाती है। तब वह बोझ नहीं रहती। वह उस अवस्था में उदास भी नहीं करती। कहाँ! अशोक का कुछ भी तो नहीं बिगड़ा है। कितनी मस्ती में झूम रहा है! कालिदास इसका रस ले सके थे - अपने ढंग से। मैं भी ले सकता हूँ अपने ढंग से। उदास होना बेकार है।

(हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली से)

6. परम्परा और आधुनिकता

— आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी

परम्परा और आधुनिकता के बीच सामंजस्य खोजना आज की वार्ता का विषय है। ऊपर-ऊपर से ऐसा लगता है कि परम्परा अब तक के सभी आचार विचारों का एक जमाव है। सभी पुरानी बातें परम्परा कह दी जाती हैं। जबकि सत्य यह है कि परम्परा भी एक गतिशील प्रक्रिया की देन है। हमने अपनी पिछली पीढ़ी से जो कुछ प्राप्त किया है, वह समूचे अतीत की पुंजीभूत विचारराशि नहीं है। सदा नये परिवेश में कुछ पुरानी बातें छोड़ दी जाती हैं और नयी बातें जोड़ दी जाती हैं। एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को ह ब ह वही नहीं देती जो अपनी पूर्ववर्त्ती पीढ़ी से प्राप्त करती है। कुछ न-कुछ छँटता रहता है, बदलता रहता है, जुड़ता रहता है। यह एक निरन्तर चलती रहनेवाली प्रक्रिया है। 'परम्परा' का शब्दार्थ है, एक का दूसरे को, दूसरे का तीसरे को दिया जानेवाला क्रम। वह अतीत का समानार्थक नहीं है। 'परम्परा' जीवन्त प्रक्रिया है जो अपने परिवेश के संग्रह-त्याग की आवश्यकताओं के अनुरूप निरंतर क्रियाशील रहती है। कभी कभी इसे गलत ढंग से अतीत के सभी आचार-विचारों को बोधक मान लिया जाता है।

परम्परा से हमें समूचा अतीत नहीं प्राप्त होता। उसका निरन्तर निखरता-छँटता-बदलता रूप प्राप्त होता है। उसके आधार पर हम आगे की जीवन पद्धति को रूप देते हैं। एक उदाहरण लें। भाषा हमें परम्परा से प्राप्त हुई है। वह वैदिक युग की भाषा नहीं है, अपभ्रंश युग की नहीं है, यहाँ तक कि वही आज से 25 वर्ष पूर्व की भी नहीं है। कालप्रवाह में बहती हुई, समकालीन सन्दर्भ से निखरती हुई, अनावश्यक बातों की छँटनी करती हुई, नये उपादानों से बढ़ती और बदलती हुई वह जिस रूप में इस पीढ़ी को प्राप्त हुई है, वही आज का परम्परा प्राप्त रूप है। वह समूचे अतीत के रूपों को लिये-दिये यहाँ तक नहीं पहुँची है। शब्द बदल गये हैं, ऐसे भी शब्द इसमें आ गये हैं, जो पहले नहीं थे, ऐसे बहुत से छूट गये हैं जो पहले प्रचलित थे, ऐसे भी बहुत हैं जो लगते तो पुराने हैं पर उनके अर्थ में परिवर्तन हो गया है। और तो और, वाक्य-विधान और व्याकरण में भी परिवर्तन हुए। फिर भी वह अतीत से एकदम असम्पृक्त भी नहीं है। कब, क्या और कैसे बदला, यह पण्डितों के अध्ययन विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। पर परम्पराप्राप्त भाषा अतीत के किसी भी बिन्दु की ह ब ह भाषा नहीं है, यदि हम ऐसा कहना चाहें कि जो एकदम नया है, पहले कभी था ही नहीं तो उसे कहने के लिए हमें इसी परम्परालब्ध भाषा का सहारा लेना पड़ेगा। उसमें नये शब्द आ सकते है, कहने की भंगिमा में भी नयापन आ सकता है, पर सहारा लेना पड़ेगा उसी परम्परालब्ध भाषा का। आगे की पीढ़ी को हम थोड़ी और बदली हुई भाषा देंगे और उस पीढ़ी की परम्परा कुछ और निखरी हुई, छँटी हुई और बदली हुई हो जायेगी। यही स्थिति समस्त आचार विचारों के क्षेत्र में है। इस प्रकार, परम्परा का अर्थ विशुद्ध अतीत नहीं है, बल्कि एक निरन्तर गतिशील जीवन्त प्रक्रिया है। उससे हमें जो कुछ मिलता है, उस पर खड़े होकर आगे के लिए कदम उठाते हैं। नीति वाक्य में इसी बात को इस प्रकार कहा गया हैं : 'चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान्'।

बुद्धिमान आदमी एक पैर से खड़ा रहता है, दूसरे से चलता है। यह केवल व्यक्ति सत्य नहीं है, सामाजिक सन्दर्भ में भी यही सत्य है। खड़ा पैर परम्परा है, चलता पैर आधुनिकता। दोनों का पारम्परिक संबंध खोजना बहुत कठिन नहीं है। एक के बिना दूसरी की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

परन्तु न तो परम्परा और न आधुनिकता ही कालवाचक शब्द रह गये हैं। ये दोनों मनोभाववाचक अधिक हो गये हैं। वर्तमान परिस्थिति में तो कहीं अधिक मात्रा में।

आधुनिकता क्या है? शब्दार्थ पर विचार करें तो 'अधुना' या इस समय जो कुछ है वह आधुनिक है। पर 'आधुनिक' का यही अर्थ नहीं है। हम बराबर देखते हैं कि कुछ बातें इस समय भी ऐसी हैं जो आधुनिक नहीं हैं, बल्कि मध्यकालीन हैं। सभी भावों के मूल में कुछ पुराने संस्कार और नये अनुभव होते हैं। यह समझना गलत है कि किसी देश के मनुष्य सदा सर्वदा किसी विचार या आचार को एक ही समान मूल्य देते आये हैं। पिछली शताब्दी में हमारे देशवासियों ने अपने अनेक पुराने संस्कारों को भुला दिया है और बचे संस्कारों के साथ नये अनुभवों को मिलाकर नवीन मूल्यों की कल्पना की है। वैज्ञानिक तथ्यों के परिचय से राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के दबाव और आधुनिक शिक्षा की मानवतावादी दृष्टि के बहुल प्रचार से, हमारी पुरानी मान्यताओं में बहुत अन्तर आ गया है। उदाहरण के लिए साहित्य को लें। आज से दो सौ वर्ष पहले का सहृदय साहित्य में जिन बातों को बहुत आवश्यक मानता था, उनमें से कई अब उपेक्षणीय हो गयी हैं। और जिन बातों को वह त्याज्य समझता था, उनमें से कई अब उतनी अस्पृश्य नहीं मानी जातीं। आज से दो सौ वर्ष पहले के सहृदय को उस प्रकार के दुःखान्त नाटकों की रचना अनुचित जान पड़ती थी जिनके कारण यवन (ग्रीक) साहित्य इतना महिमामण्डित समझा जाता है और जिन्हें लिखकर शेक्सपियर संसार के अप्रतिम नाटककार बन गये हैं। उन दिनों कर्मफलप्राप्ति की अवश्यम्भाविता और पुनर्जन्म में विश्वास इतने दृढ़ भाव से बद्धमूल थे कि संसार की समंजस व्यवस्था में किसी असामंजस्य की बात सोचना एकदम अनुचित जान पड़ता था। परन्तु अब वह विश्वास शिथिल होता जा रहा है और मनुष्य के इसी जीवन को सुखी और सफल बनाने की अभिलाषा प्रबल हो गयी है। समाज के निचले स्तर में जन्म

होना अब किसी पुराने पाप का फल (अतएव घृणास्पद) नहीं माना जाता, बल्कि मनुष्य की विकृत समाज-व्यवस्था का परिणाम (अतएव सहानुभूतियोग्य) माना जाने लगा है। इस प्रकार के परिवर्तन एक-दो नहीं अनेक हुए हैं और इन सबके परिणामस्वरूप सिर्फ हमारी प्रकाशन-भंगिमा में ही अन्तर नहीं आया है, उसके उपभोग या ग्रहण के तौर-तरीकों में भी फर्क पड़ गया है। साहित्य के जिज्ञासु को इन परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यों की ठीक-ठीक जानकारी नहीं हो तो वह बहुत-सी बातों के समझने में गलती कर सकता है; फिर परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यों की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करके ही हम यह सोच सकते हैं कि परिस्थितियों के दबाव से जो परिवर्तन हुए है उनमें कितना अपरिहार्य है, कितना अवांछनीय है और कितना ऐसा है जिसे प्रयत्न करके वांछनीय बनाया जा सकता है।

यह गलत धारणा है कि मनुष्य कभी पीछे लौटकर ठीक हू-ब-हू उन्हीं विचारों को अपनायेगा जो पहले थे। जो लोग मध्ययुग की भाँति सोचने की आदत को इस भंयकर वात्याचक्र की उलझन से बच निकलने का साधन समझते हैं, वे गलती करते हैं। इतिहास चाहे और किसी क्षेत्र में अपने को दुहरा लेता हो, विचारों के क्षेत्र में वह जो गया सो गया। उसके लिए अफसोस करना बेकार है। पर इतिहास हमारी मदद अवश्य करता है! रह-रहकर प्राचीन काल के मानवीय अनुभव हमारे साहित्यकारों के चित्त को चंचल और वाणी को मुखर बनाते अवश्य हैं, पर वे व्यक्ति-साहित्यकार की विशेषतारूप में ही जी सकते हैं। आधुनिक समाज ने निश्चित रूप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली है। अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है - सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का। अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी। इतिहास के अनुभव इसी की सिद्धि के साधन बनकर कल्याणकर और जीवनप्रद हो सकते हैं। इस प्रकार हमारी चित्तगत उन्मुक्तता पर एक नया अंकुश और बैठ रहा है - व्यक्ति-मानव के स्थान पर समष्टि-मानव का प्राधान्य। परन्तु साथ ही उसने मनुष्य को अधिक व्यापक आदर्श और अधिक प्रभावोत्पादक उत्साह दिया है। जब-जब ऐसे बड़े आदर्श के साथ मनुष्य का योग होता है, तब-तब साहित्य नये काव्यरूपों की उद्‌भावना करता है। इस बार भी ऐसा ही हुआ है।

संक्षेप में कहा जाय तो आधुनिकता के तीन लक्षण बहुत स्पष्ट हैं। ऐतिहासिक दृष्टि, इसी दुनिया में मनुष्य को सब प्रकार की भीतियों और पराधीनता से मुक्त करके सुखी बनाने का आग्रह और व्यक्ति-मानव के स्थान पर समष्टि मानव या सम्पूर्ण मानवसमाज की कल्याण-कामना। इन बातों की स्वीकृति एक दिन में नहीं मिली है। आधुनिक युग में मध्यकालीन जबदी हुई मनोवृत्ति से मुक्त मनुष्य की मेधा अनेक क्षेत्रों में नयी जानकारियों को प्राप्त करने में समर्थ हुई है। भौतिक जगत्, जीव विज्ञान, मनोविज्ञान, कला आदि के क्षेत्रों में अभूतपूर्व जानकारियाँ प्राप्त हुई हैं। सबमें कुछ-न-कुछ सुधार होते रहते हैं। आज का जो अधुनातन या लेटेस्ट है, वह कल कट-छँटकर परम्परा बन जाता है। कुछ भी स्थिर नहीं है। बहुत-सी बातें जल्दी ही बासी हो जाती हैं। सबको ढोना विषय रोग है।

अपने को अत्यन्त आधुनिक मानने वाला विचारक अभी कल तक की मान्यताओं में से कुछ को पीछे की ओर घसीटनेवाला समझता है; (1) जो पुनरुत्थानवादी हैं अर्थात् तो अतीत काल के मोहक गान गाकर जनता में इस बुद्धि का प्रचार करते हैं कि वर्तमान की तुलना में अतीत अधिक महिमामण्डित काल था और इसलिए उन सभी बातों को अपनाना चाहिए जिन्हें अतीत के कृती पुरुषों ने किया था ; (2) जो रहस्यवादी हैं और निस्सीम चिरन्तन प्रियतम की बात कह-कहकर संसार को वर्तमान संघर्ष से हटाकर काल्पनिक लीला-निकेतन में ले जाकर भुलावा देते हैं, वे संघर्ष से भागने का प्रेरणा देते है; (3) जो काम और यौन तत्त्वों को जीवन के अन्य सैकड़ों पक्षों की अपेक्षा अधिक महत्व देते है और समाज की रीढ़ ही कमजोर कर डालते हैं; (4) जो जीवन के संघर्षों और उनसे निकलकर आगे बढ़ने की बात न कहकर केवल इस या उस मनोवैज्ञानिक पण्डित की बतायी हुई बातों को घोख लेते हैं और मनोविश्लेषण का बहाना लेकर उसकी आड़ में पलायनवादी मनोवृत्ति को प्रश्रम देते हैं। ये चारों प्रकार के विचार आधुनिकतावादी विचारक की दृष्टि में समाज को आगे बढ़ाने के बजाय पीछे धकेलते हैं और उस व्यवस्था को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जीवित रखने में सहायक होते हैं, जो समाज के पिछड़े और उपेक्षित अंगों के शोषण पर ही आधारित है।

बहुत समय नहीं बीता जब ये विचार आधुनिक माने जाते थे। अब भी मानव-चित्त पर उनका प्रभाव है, पर अब ये इतिहास विधाता की अद्‌भुत यात्रा के पद्‌चिह्न बन गये हैं। वे परम्पराप्राप्त विचार हैं, अपने मूल रूप में हू-ब-हू उपलब्ध नहीं बल्कि मनुष्य की जिजीविषा द्वारा छँटे हुए, निखरे हुए और परिवर्तित होते हुए। आज जिसे डिण्डिमघोष के साथ 'आधुनिक' कहा जा रहा है, कल उसकी भी यही गति होगी। हर परम्परा किसी-न-किसी तत्कालीन आधुनिक समझे जानेवाले आचार या विचार का कटा-छँटा रूप है - संस्कृत भी, विकृत भी!

परम्परा, इतिहास नहीं है, इतिहास-देवता की यात्रा का आखिरी पड़ाव है। कभी-कभी मनुष्य विशेष किसी प्रकार के आचार या विचार को ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखने का प्रयास करता है। कितना कर पाता है, यह विवादास्पद विषय है। मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के मोह हैं। यह भी एक है। जब प्रयत्नपूर्वक किसी आचार या विचार को पीढ़ियों तक सुरक्षित रखने का प्रयत्न होता है तो उसे 'सम्प्रदाय' कहा जाता है। सम्प्रदाय परम्परा नहीं है। 'सम्प्रदाय' शब्द आजकल थोड़ा भिन्न अर्थ में लिया जाने लगा है, पर उसका

मूल अर्थ गुरु-परम्परा से प्राप्त विशुद्ध आचार-विचारों का संरक्षण ही है। इसमें प्रयत्नपूर्वक अविकृत रखने की भावना मुख्य रूप से काम करती है। परम्परा सहज है, सम्प्रदाय यत्नसिद्ध। आधुनिकता 'सम्प्रदाय' का विरोध करती है, क्योंकि आधुनिकता गतिशील प्रक्रिया है और सम्प्रदाय स्थिति-संरक्षक। परन्तु परम्परा से आधुनिकता का वैसा विरोध नहीं होता। दोनों ही गतिशील प्रक्रियाएँ है। दोनों में विरोध केवल यह है कि परम्परा यात्रा के बीच पड़ा हुआ अन्तिम चरण है, जबकि आधुनिकता आगे बढ़ा गतिशील कदम है।

आधुनिकता अपने-आप में कोई मूल्य नहीं है। मनुष्यों ने अनुभवों द्वारा जिन महनीय मूल्यों को उपलब्ध किया है, उन्हें नये सन्दर्भों में देखने की दृष्टि आधुनिकता है। यह एक गतिशील प्रक्रिया है। सन्दर्भ बदल रहे हैं; क्योंकि नयी जानकारियों ने नये साधन और नये उपादान सुलभ किये हैं। बहुत-सी पुरानी बातें भुलाई जा रही हैं, नयी सामग्रियाँ और नये कौशल नवीन सन्दर्भों की रचना कर रहे हैं। उनमें बहु-समादृत मानवीय मूल्यों का रूप कुछ बदला नजर आता है, परन्तु फिर भी उनका शाश्वत रूप बना रहता है। परम्परा से हमें इन मूल्यों का वह रूप प्राप्त होता है जो अतीत के सन्दर्भ में बना था। उस रूप में कुछ ऐसा सारतत्त्व है जो स्थायी है, कुछ ऐसा जो बदले हुए सन्दर्भ में टिक नहीं पाता। हर रूप में ये दो तत्त्व विद्यमान रहते हैं। जो कुछ दिखायी दे रहा है, अनुभूत हो रहा है, वह सब इन दो तत्त्वों के मिश्रण का परिणाम है। अस्थिर तत्त्व ही स्थिर या स्थायी तत्त्व को इन्द्रियग्राह्य या मनोगम्य बनाता है। आधुनिक सन्दर्भ में अस्थिर तत्वों में परिवर्तन होता है, स्थायी तत्व नये रूप में, नयी साजसज्जा से मनोहर बनकर उजागर होता है। परम्परा इस स्थायी तत्व को आगे की पीढ़ी की ओर अगसर करती रहती है। पुराने आवरण हटते रहते हैं, वे अपना काम करने से विरत होते हैं। परम्परा इसीलिए हमेशा उपयोगी होती है। कोई भी आधुनिक विचार आसमान में नहीं पैदा होता है। सबकी जड़ परम्परा में गहराई तक गयी हुई है। सुन्दर-से -सुन्दर फूल यह दावा नहीं कर सकता कि वह पेड़ से भिन्न होने के कारण उससे असम्पृक्त है। कोई भी पेड़ यह दावा नहीं कर सकता कि वह मिट्टी से भिन्न होने के कारण एकदम उससे विच्छिन्न है। इसी प्रकार कोई भी आधुनिक विचार यह दावा नहीं कर सकता कि वह परम्परा से एकदम कटा हुआ है। कार्य-कारण के रूप में, आधार-आधेय के रूप में, पराम्परा की एक अविच्छेद्य शंखला अतीत में गहराई तक - बहुत गहराई तक गयी हुई है।

आधुनिकता ज्ञान की अत्याधुनिक उपलब्धियों के आलोक के रूप ग्रहण करने का प्रयास करती है, इसीलिए बौद्धिक है। पराम्परा केवल मनुष्य के प्रयोजनों से छँटती-कटती ही नहीं है, उसकी विनोदिनी और कुतूहली वृत्ति से अन्यथा रूप भी ग्रहण करके जाती है। इसीलिए वह पूरा इतिहास -सम्मत नहीं होती। कई बार शब्द उसमें नया रस भरते हैं, कई बार सामयिक विश्वास उसे नये आकार-प्रकार देते हैं। इतिहास से वह भिन्न हो जाती है और कभी बाह्य यथार्थ के तर्कसम्मत रूप से अलग हो जाती है। परम्परा से हम सुनते आते हैं कि रावण के दस मुँह थे। कदाचित् यह आर्य-भाषा से भिन्न जाति की किसी भाषा के नाम के संस्कृतीकरण का परिणाम है। उस भाषा का कोई शब्द संस्कृत के निकटतम उच्चारण में 'दशानन' बन गया और उस पर से मनुष्य की कुतूहली और विनोदिनी वृत्ति ने दस मुँहवाले रावण की कल्पना को उत्तेजन दिया। यह इतिहाससम्मत नहीं हो सकता, पर भूले इतिहास को खोज निकालने का सूत्र देता है। उस इतिहास से निखरी दृष्टि आधुनिकता की पहली शर्त है। जिसे इतिहास की यह नयी दृष्टि नहीं प्राप्त है, वह हजारों वर्षों के मानवीय प्रयासों का रसास्वाद नहीं कर सकता, भविष्य के मानवचित्त को सरस कोमल बनानेवाले प्रयासों की कल्पना नहीं कर सकता। जो मनुष्य मनुष्य को उसकी सहज वासनाओं और अद्‌भुत कल्पनाओं के राज्य से वंचित करके भविष्य में उसे सुखी बनाने के सपने देखता है वह ढूँठ तर्कपरायण कठमुल्ला हो सकता है, आधुनिक बिल्कुल नहीं। वह मनुष्य को समूचे परिवेश से विच्छिन्न करके हाड़मौंस का यन्त्र बनाना चाहता है। यह न तो सम्भव है, न वांछनीय। मनुष्य केवल साँस लेकर अन्नग्रहण करके जीनेवाला यन्त्र नहीं है। उसका आधा से अधिक अस्तित्व परम्परा के भीतर छिपा हुआ है। उसकी उपेक्षा करके मनुष्य को सुखी नहीं बनाया जा सकता और उसका अन्ध-अनुयायी बनाकर उसे गतिहीन और पंगु कर दिया जायेगा। मनुष्य की समस्त रचयित्री आनन्दिनी वृत्ति को चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, धर्मविधान और साहित्य के माध्यम से समझा जा सकता है और परम्परा का आश्रय लिये बिना इनका रसास्वाद सम्भव नहीं है। परम्परा मनुष्य को उसके परिपूर्ण रूप में समझने में सहायता करती है। आधुनिकता उसके बिना सम्भव नहीं है। परम्परा आधुनिकता को आधार देती है, उसे शुष्क और नीरस बुद्धिविलास बनने से बचाती है, उसके प्रयासों को अर्थ देती है, उसे असंयत और विशृंखल उन्माद से बचाती है। ये दोनों परस्पर-विरोधी नहीं परस्पर-पूरक हैं।

(हजारी प्रसाद द्विवदी ग्रंथावली से)

7. काव्य और कला

— जयशंकर प्रसाद

हिन्दी में साहित्य की आलोचना का दृष्टिकोण बदला हुआ-सा दिखलाई पड़ता है। प्राचीन भारतीय साहित्य के आलोचकों की विचारधारा जिस क्षेत्र में काम कर रही थी, वह वर्तमान आलोचना के क्षेत्र से कुछ भिन्न था। इस युग की ज्ञान-सम्बन्धिनी अनुभूति में भारतीयों के हृदय पर परिचय की विवेचनशैली का व्यापक प्रभुत्व क्रियात्मक रूप में दिखाई देने लगा है; किन्तु साथ-ही-साथ ऐसी विवेचनाओं में प्रतिक्रिया के रूप भारतीयता की भी दुहाई सुनी जाती है, परिणाम में, मिश्रित विचारों के कारण हमारी विचारधारा अव्यवस्था के दलदल में पड़ी रह जाती है। काव्य की विवेचना में प्रथम विचारणीय विषय उसका वर्गीकरण हो गया है और उसके लिए सम्भवत: हेगेल के अनुकरण पर काव्य का वर्गीकरण कला के अन्तर्गत किया जाने लगा है। यह वर्गीकरण परम्परागत विवेचनात्मक जर्मन दार्शनिक शैली का वह विकास है, जो पश्चिम में ग्रीस की विचारधारा और उसके अनुकूल सौन्दर्य-बोध के सतत अभ्यास से हुआ है। यहाँ उसकी परीक्षा करने के पहले यह देखना आवश्यक है कि इस विचारधारा और सौन्दर्य-बोध का कोई भारतीय मौलिक उद्‌गम है या नहीं।

यह मानते हुए कि ज्ञान और सौन्दर्य-बोध विश्वव्यापी वस्तु हैं, इनके केन्द्र देश, काल और परिस्थितियों से तथा प्रधानत: संस्कृति के कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हैं। खगोलवर्ती ज्योति-केंद्रो की तरह आलोक के लिए इनका परस्पर संबंध हो सकता है। वही आलोक शुक्र की उज्ज्वलता और शनि का नीलिमा में सौंदर्य-बोध के लिए अपनी अलग-अलग सत्ता बना लेता है।

भौगोलिक परिस्थितियाँ और काल की दीर्घता तथा उसके द्वारा होने वाले सौन्दर्य-संबंधी विचारों का सतत अभ्यास एक विशेष ढंग की रुचि उत्पन्न करता है, और वही रुचि सौन्दर्य-अनुभूति की तुला वन जाती है, इसी से हमारे सजातीय विचार बनते हैं और उन्हें स्निग्धता मिलती है। इसी के द्वारा हम रहन-सहन, अपनी अभिव्यक्ति का सामूहिक रूप से संस्कृत रूप में प्रदर्शन कर सकते हैं। यह संस्कृति विश्ववाद की विरोधिनी नहीं; क्योंकि इसका उपयोग तो मानव-समाज में आरम्भिक प्राणित्व-धर्म में सीमित मनोभावों को सदा प्रशस्त और विकासोन्मुख बनाने के लिए होता है। संस्कृति मन्दिर, गिरजा और मसजिद-विहीन प्रान्तों में अन्त:प्रतिष्ठित होकर सौन्दर्य-बोध की बाह्य सत्ताओं का सृजन करती है। संस्कृति का सामूहिक चेतनता से, मानसिक शील और शिष्टाचारों से, मनोभावों से मौलिक संबंध है। धर्मों पर भी इसका चमत्कारपूर्ण प्रभाव दिखाई देता हे। ईरानी खलीफाओं के ही कला और विद्या-प्रेम तथा सौन्दर्यानुभूति ने – जो अपनी मौलिक संस्कृति द्वारा उनमें विद्यमान थी - मरुभूमि के एकेश्वरवाद को सौंदर्य से सजा कर स्पेन और इजिप्ट तक उसका प्रचार किया, जिससे वर्तमान यूरोपीय सौन्दर्य-बोध अपने को अछूता न रख सका है। संस्कृति सौन्दर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।

इसलिए साहित्य के विवेचन में भारतीय संस्कृति और तदनुकूल सौन्दर्यनुभूति को खोज अप्रासंगिक नहीं, किन्तु आवश्यक है। साहित्य में सौन्दर्य-बोध सम्बन्धी रुचि-भेद का वह उदाहरण बड़ा मनोरंजक है, जिनमें जहाँगीर ने शराब पीते हुए खुसरो के उस पद्य के गाने पर कव्वाल को पिटवा दिया था, जिसका तात्पर्य एक खण्डिता का अपने प्रेमी के प्रति उपालम्भ था। जहाँगीर ने उस उक्ति को प्रेमिका के प्रति समझ कर अपना क्रोध प्रकट किया था। मौलाना ने समझाया कि खुसरो भारतीय कवि है, भारतीय साहित्यिक रुचि के अनुसार उसने यह स्त्री का उपालम्भ पुरुष के प्रति वर्णन किया है, तब जहाँगीर का क्रोध ठण्डा हुआ। यह रुचि-भेद सांस्कृतिक है। यहाँ पर यह विवेचना नहीं करना है कि ऐसा उपालम्भ पुरुष को स्त्री के प्रति देना चाहिए या स्त्री को पुरुष के प्रति; किन्तु यह स्पष्ट देखा जाता है कि भारतीय साहित्य में पुरुष-विरह विरल है और विरहिणी का ही वर्णन अधिक है। इसका कारण है भारतीय दार्शनिक संस्कृति। पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतंत्र है। प्रकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा करती है; इसलिए आसक्ति का आरोपण स्त्री में ही है। **नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायम् नपुंसक:** मानने पर भी व्यवहार में ब्रह्म पुरुष है, माया स्त्री-धर्मिणी। स्त्रीत्व में प्रवृत्ति के कारण नैसर्गिक आकर्षण मान कर उसे प्रार्थिनी बनाया गया है।

यदि हम भारतीय रुचि-भेद को लक्ष्य में न रखकर साहित्य की विवेचना करने लगेंगे, तो जहाँगीर की ही तरह प्रमाद कर बैठने की आशंका है। तो भी इस प्रसंग में यह बात न भूलनी चाहिए कि भारतीय संस्कृत वाङ्मय में समय-चक्र के प्रत्यावर्तनों के द्वारा इस रुचि-भेद में परिवर्तनों का आभास मिलता है। ऊपर की कही हुई सम्भावना या साहित्यिक सिद्धान्त मायावाद के प्रबलता प्राप्त करने के पीछे का भी हो सकता है; क्योंकि कालिदास ने रति का करुण विप्रलम्भ वर्णन करने के साथ-ही-साथ अज का भी विरह-वर्णन किया है और मेघदूत तो विरही यक्ष की करुण-भाव-व्यंजना से परिपूर्ण एक प्रसिद्ध अमर कृति है।

इस प्रकार काल-चक्र के महान् प्रत्यावर्तनों से पूर्ण भारतीय वाङ्मय की सुरुति संबंधी विचित्रताओं के निदर्शन बहुत-से मिलेंगे। उन्हें बिना देखे ही अत्यन्त शीघ्रता में आजकल अमुक वस्तु अभारतीय है अथवा भारतीय संस्कृति-सुरुचि के विरूद्ध है, कह देने की परिपाटी चल पड़ी है। विज्ञ समालोचक भी हिन्दी की आलोचना करते-करते 'छायावाद', 'रहस्यवाद' आदि वादों की कल्पना

करके उन्हें विजातीय, विदेशी तो प्रमाणित करते ही है, यहाँ तक कहते हुए लोग सुने जाते हैं कि वर्तमान हिन्दी-कविता में अचेतनों में, जड़ों में, चेतनता का आरोप करना हिन्दी वालों ने अंग्रेजी से लिया है; क्योंकि अधिकतर आलोचकों के गीत का टेक यही रहा है कि हिन्दी में जो कुछ नवीन विकास हो रहा है, वह सब बाह्य वस्तु (Foreign Element) है। कहीं अंग्रेजी में उन्होंने देखा कि 'गाड इज लव'। फिर क्या? कहीं भी हिन्दी में ईश्वर के प्रेम-रूप का वर्णन देखकर उन्हें अंग्रेजी के अनुवाद या अनुकरण की घोषणा करनी पड़ती है। उन्हें क्या मालूम कि प्रसिद्ध वेदान्त-ग्रन्थ की पंचदशी में कहा है अयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः। वे भूल जाते हैं कि आनन्दवर्द्धन ने हजारों वर्ष पहले लिखा है-

भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनाचेतनवत्,
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतंत्रतया।

ऐसे ही कुछ सिद्धान्त पिछले काल के अलंकार और रीति-ग्रन्थों के अस्पष्ट अध्ययन के द्वारा और भी बन रहे हैं। कभी यह सुना जाता है कि भारतीय साहित्य में दुःखान्त और तथ्यवादी साहित्य अत्यन्त तिरस्कृत है। शुद्ध आदर्शवाद का सुखान्त प्रबन्ध ही भारतीय संस्कृति के अनुकूल है। तब मानो ये आलोचकगण भारतीय संस्कृति के साहित्य संबंधी दो आलोकस्तम्भों, महाभारत और रामायण की ओर से अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं। ये सब भावनाएँ साधारणतः हमारे विचारों की संकीर्णता और प्रधानतः अपनी स्वरूप-विस्मृति से उत्पन्न हैं। सांस्कृतिक सुरुचि का, समय-समय पर हुए विशेष परिवर्तनों के साथ, विस्तृत और पूर्ण विवरण देना यहाँ मेरा उद्देश्य नहीं है।

हमारे यहाँ इसका वर्गीकरण भिन्न रूप से हुआ। काव्य-मीमांसा से पता चलता है कि भारत के दो प्राचीन महानगरों में दो तरह की परीक्षाएं अलग-अलग थीं। काव्यकार-परीक्षा उज्जयिनी में और शास्त्रकार-परीक्षा पाटलिपुत्र में होती थी। इस तरह भारतीय ज्ञान दो प्रधान भागों मे विभक्त था। काव्य की गणना विद्या में थी और कलाओं का वर्गीकरण उपविद्या में था। कलाओं का कामसूत्र में जो विवरण मिलता है, उसमें संगीत और चित्र तथा अनेक प्रकार की ललित कलाओं के साथ-साथ काव्य-समस्या-पूरण भी एक कला है, किन्तु वह समस्यापूर्ति **(श्लोकस्य समस्यापूरणम् क्रीणार्थम् वादार्थम् च)** कौतुक और वाद-विवाद के कौशल के लिए होती थी। साहित्य में वह एक साधारण श्रेणी का कौशल-मात्र समझी जाती थी। कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारों में लिया जाता है, वैसा भारतीय दृष्टिकोण में नहीं।

ज्ञान के वर्गीकरण में पूर्व और पश्चिम का सांस्कृतिक रुचि-भेद विलक्षण है। प्रचलित शिक्षा के कारण आज हमारी चिन्तनधारा के विकास में पाश्चात्य प्रभाव ओतप्रोत है, और इसलिए हम बाध्य हो रहे हैं अपने ज्ञान-संबंधी प्रतीकों को उसी दृष्टि से देखने के लिए। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के विवेचन में हम केवल निरुपाय होकर ही प्रवृत्त नहीं होते किन्तु विचार-विनिमय के नये साधनों की उपस्थिति के कारण संसार की विचार-धारा से कोई अपने को अछूता नहीं रख सकता। इस सचेतनता के परिणाम में हमें अपनी सुरुचि की ओर प्रत्यावर्तन करना चाहिए। क्योंकि हमारे मौलिक ज्ञान-प्रतीक दुर्बल नहीं हैं।

हिन्दी में आलोचना कला के नाम से आरम्भ होती है। और साधारणतः हेगेल के मतानुसार मूर्त्त और अमूर्त्त विभागों के द्वारा कलाओं में लघुत्व और महत्व समझा जाता है। इस विभाग में सुगमता अवश्य है, किन्तु इसका ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विवेचन होने की सम्भावना जैसी पाश्चात्य साहित्य में है, वैसी भारतीय साहित्य में नहीं। उनके पास अरस्तू से लेकर वर्तमान काल तक की सौन्दर्यानुभूति सम्बन्धिनी विचार-धारा का क्रमविकास और प्रतीकों के साथ-साथ उनका इतिहास तो है ही, सबसे अच्छा साधन उनकी अविच्छिन्न सांस्कृतिक एकता भी है। हमारे भाषा के साहित्य में वैसा सामंजस्य नहीं है। बीच-बीच में इतने अभाव या अन्धकार काल हैं कि उनमें कितनी विरुद्ध सांस्कृतियाँ भारतीय रंगस्थल पर अवतीर्ण और लोप होती दिखाई देती हैं, जिन्होंने हमारी सौन्दर्यानुभूति के प्रतीकों को अनेक प्रकार से विकृत करने का ही उद्योग किया है।

यों तो पाश्चात्य वर्गीकरण में भी मतभेद दिखलाई पड़ता है। प्राचीन काल में ग्रीस का दार्शनिक प्लेटो कविता का संगीत के अंतर्गत वर्णन करता है, किन्तु वर्तमान विचार-धारा मूर्त्त और अमूर्त्त कलाओं का भेद करते हुए भी कविता को अमूर्त्त संगीत-कला से ऊँचा स्थान देती है। कला के इस तरह विभाग करनेवालों का कहना है कि मानव-सौन्दर्य-बोध की सत्ता का निदर्शन तारतम्य के द्वारा दो भागों में किया जा सकता है। एक स्थूल और बाह्य तथा भौतिक पदार्थों के आधार पर ग्रथित होने के कारण निम्न कोटि की मूर्त्त होती हैं। जिसका चाक्षुष प्रत्यक्ष हो सके, वह मूर्त्त है। गृह-निर्माण-विद्या, मूर्तिकला और चित्रकारी, ये कला के मूर्ति विभाग है। और क्रमशः अपनी कोटि में ही सूक्ष्म होते-होते अपना श्रेणी-विभाग करती है।

संगीत-कला और कविता अमूर्त्त कलाएँ हैं। संगीत-कला नादात्मक है और कविता उससे **उच्च कोटि की अमूर्त्त कला है। काव्य** कला को अमूर्त्त मानने में जो मनोवृत्ति दिखलाई देती है वह महत्व उसकी परम्परा के कारण **है। यों तो साहित्य-कला उन्हीं तर्कों** के आधार पर मूर्त्त भी मानी जा सकती है; क्योंकि साहित्य-कला अपनी वर्णमालाओं के **द्वारा प्रत्यक्ष मूर्त्तिमती है। वर्णमातृका की**

विशद् कल्पना तन्त्र-शास्त्रों में बहुत विस्तृत रूप से की गई है। 'अ' से आरम्भ होकर 'ह' तक के ज्ञान का ही प्रतीक अहं है। ये जितनी अनुभूतियाँ हैं, जितने ज्ञान हैं, अहं के - आत्मा के हैं वे सब वर्णमाला के भीतर से ही प्रकट होते हैं। वर्णमालाओं के संबंध में अनेक प्राचीन देशों की आरम्भिक लिपियों से यह प्रमाणित है कि वह वास्तव में चित्र-लिपि है। तब तो यह कहना भ्रम होगा कि चित्रकला और वाङ्मय भिन्न-भिन्न वर्ग की वस्तुएँ हैं। इसलिए अन्य सूक्ष्मताओं और विशेषताओं का निदर्शन न करके केवल मूर्त्त और अमूर्त के भेद से साहित्य-कला की महत्ता स्थापित नहीं की जा सकती।

सम्भव है कि इसी अमूर्त्त संबंधिनी महत्ता से प्रेरित होकर प्लेटो ने प्राचीन काल में कविता को संगीत के अन्तर्गत माना हो। उनकी विचार-पद्धति में कविता की आवश्यकता संगीत के लिए है। सम्भवत: अमूर्त संगीत आभ्यान्तर और मूर्त्त शरीर बाह्य इन्हीं दोनों आधारों पर कला की नींव ग्रीस के विचारकों ने रक्खी; सो भी बिलकुल भौतिक दृष्टि से - अध्यात्म का उसमें सम्पर्क नहीं। इसीलिए प्लेटों का शिष्य अरस्तू कला को अनुकरण (imitation) मानता है। लोकोत्तर आनन्द की सत्ता का विचार ही नहीं किया गया। उसे तो शुद्ध दर्शन के लिए सुरक्षित रक्खा गया।

कौटिल्य की तरह लोकोपयोगी राजशास्त्र को प्रधान मानते हुए व्यक्तिगत जीवन के स्वास्थ्य के लिए प्लेटो संगीत और व्यायाम को मुख्य उपादेय विद्या की तरह ग्रहण करता है। संगीत का मन से और व्यायाम का शरीर से सीधा संबंध जोड़कर वह लोक-यात्रा की उपयोगी वस्तुओं का संकलन करता है।

वर्तमान-काल में सौदर्य-बोध की दृष्टि से यह वर्गीकरण अपना अलग विचार-विस्तार करने लगा है। इसके आविर्भावक हेगेल के मतानुसार कला के ऊपर धर्म-शास्त्र का और उससे भी ऊपर दर्शन का स्थान है। इस विचार-धारा का सिद्धान्त है कि मानव सौन्दर्य-बोध के द्वारा ईश्वर की सत्ता का अनुभव करता है। फिर धर्म-शास्त्र के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति लाभ करता है। फिर शुद्ध तर्क ज्ञान से उससे एकीभूत होता है।

यह भी विचार का एक कोटिक्रम हो सकता है; परन्तु भारतीय विचार-धारा इस संबंध में जो अपना मत रखती है, वह विलक्षण और अभूतपूर्व है। काव्य के संबंध में यहाँ की प्रारम्भिक और मौलिक मान्यता कुछ दूसरी थी। उपनिषद् में कहा - **तदेतत् सत्यम् मंत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायाम् बहुधा संततानि।** कवि और ऋषि इस प्रकार पर्यायवाची शब्द प्राचीन काल में माने जाते थे। **ऋषयो मन्त्रद्रष्टार:।** ऋषि लोग या मन्त्रों के कवि उन्हें देखते थे। यही देखना या दर्शन कवित्व की महत्ता थी।

इतना विराट् वाङ्मय और प्रवचनों का वर्णमाला में स्थायी रूप रखते हुए भी कविता शुद्ध अमूर्त्त नहीं कही जा सकती। मूर्त्त और अमूर्त्त के संबंध में उपनिषद् में कहा है - **द्वावेव ब्रहमणों रूपे चैवामूर्त्त च मर्त्यं चामृतं च - बृहदारण्यक** (2-3)

मूर्त्त, नश्वर और अमूर्त्त, अविनश्वर दोनों ही ब्रह्म के रूप हैं। वायु और आकाश अमूर्त्त, अविनश्वर हैं; इनसे इतर मूर्त्त और नश्वर (परिवर्तनशील) हैं। इस तरह मूर्त्त और अमूर्त्त का भौतिक भेद मानते हुए भी रूप दोनों में ही माना गया है। तब यह विश्वास होता है कि हमारे यहाँ रूप की साधारण परिभाषा से विलक्षण कल्पना हैं। क्योंकि बृहदारण्यक में लिखा है :

स आदित्य: कस्मिन् प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षु: प्रतिष्ठिततमिति रूपेऽर्वाति चक्षुषा: हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति हो वाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि।

वह आदित्य आलोक-पुंज आँखों में प्रतिष्ठित है। आँखों की प्रतिष्ठा रूप में है और रूप-ग्रहण का सामर्थ्य, उसकी स्थिति, हृदय में है। यह निर्वचन मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों में रूपत्व का आरोप करता है, क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्ष से इतर जो वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त्त रूप हैं, उनका भी रूपानुभव हृदय ही करता है; इस दृष्टि से देखने से मूर्त्त और अमूर्त्त की सौन्दर्य-बोध सम्बन्धी दो धारणाएँ अधिक महत्व नहीं रखतीं। सीधी बात तो यह है कि सौन्दर्य-बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता। सौन्दर्य की अनुभूति के साथ-ही-साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिए, उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य हैं। इसलिए अमूर्त्त सौन्दर्य-बोध कहने का कोई अर्थ ही नही रह जाता।

ग्रीक लोगों को सौन्दर्य-बोध में जो एक क्रम-विकास दिखलाई पड़ता है, उसका परिपाक सम्भवत: पश्चिम में इस विचार-प्रणाली पर हुआ है कि मानव-स्वभाव सौन्दर्यानुभूति के द्वारा क्रमविकास करता है और स्थूल से परिचित होते-होते सूक्ष्म की ओर जाता है। इसमें स्वर्ग और नरक का, जगत् की जटिलता से परे एक पवित्रता और महत्व की स्थापना का मानसिक उद्योग दिखलाई देता है और इसमें ईसाई धार्मिक संस्कृति ओत-प्रोत है। कलुषित और मूर्त्त संसार निम्नकोटि में, अमूर्त्त और पवित्र ईश्वर का स्वर्ग इससे परे और उच्च कोटि में।

भारतीय उपनिषदों का प्राचीन ब्रहमवाद इस मूर्त्त विश्व को ब्रहम से अलग निकृष्ट स्थिति में नहीं मानता। वह विश्व को ब्रहम का स्वरूप बताता है :

ब्रह्मैवेदममृत पुरस्तात् ब्रह्मा पश्चाद्दक्षिण तश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्व च प्रसृतं ब्रह्मवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।।

आगमों में भी शिव को शक्ति-विग्रही मानते हैं। और यही पक्की अद्वैत-भावना कही गई है; अर्थात् - पुरूष का शरीर प्रकृति है। कदाचित् अर्द्धनारीश्वर की संश्लिष्ट-कल्पना का मूल भी यही दार्शनिक विवेचन है। सम्भवत: पिछले काल में मनुष्य की सत्ता को पूर्ण मानने की प्रेरणा ही भारतीय अवतारवाद की जननी है। कला के ईसाई आलोचक हेवेल ने सम्भवत: इसीलिए कहा है कि - The Hindu draws no distinction between what is sacred and profane.

पूर्व, भारत से पश्चिम का यह मौलिक मतभेद है। यही कारण है कि पश्चिम स्वर्गीय साम्राज्य की घोषणा करते हुए भी अधिकतर भौतिक या materialistic बना हुआ है और भारत मूर्ति-पूजा और पंच-महायज्ञों के क्रियाकाण्ड में भी अध्यात्म-भाव से अनुप्राणित है।

यही कारण है कि ग्रीस द्वारा प्रचलित पश्चिमी सौन्दर्यानूभूति बाह्य को, मूर्त्त को, विशेषता देकर उसकी सीमा में ही उसे पूर्ण बनाने की चेष्टा करती है और भारतीय विचार-धारा ज्ञानात्मक होने कारण मूर्त्त और अमूर्त्त का भेद हटाते हुए बाह्य और आभ्यन्तर का एकीकरण करने का प्रयत्न करती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि सौन्दर्य-बोध में पाश्चात्य विवेचकों के मतानुसार मूर्त्त और अमूर्त्त भेद-सम्बन्धी कल्पना विवेचन की रीढ़ बन रही है। जब यह अमूर्त्त के साथ सौन्दर्य-शास्त्र का सम्बन्ध ठहराती है, तो दुर्बलता में ग्रस्त होने कारण अपने को स्पष्ट नहीं कर पाती। इसका कारण यही है कि वे सद्भावात्मक ज्ञानमय प्रतीकों को अमूर्त्त सौन्दर्य कहकर घोषित करते हैं, जो सौन्दर्य के द्वारा की विवेचन किये जाने पर केवल प्रेय तक पहुँच पाते हैं। श्रेय, आत्मकल्याण-कल्पना अधूरी रह जाती है।

सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान की साधना आरम्भ होती है। स्वाध्याय वृद्धि का यज्ञ है। कहा भी है - **सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च** - स्वाध्याय-प्रवचन में सत्य का अन्वेषण करो। स्वाध्याय के द्वारा मानव सत् को प्राप्त होता है। हमारे सब बौद्धिक व्यापारों का सत्य की प्राप्ति के लिए सतत उद्योग होता रहता है। वह सत्य प्राकृतिक विभूतियों में, जो परिवर्तनशील होने के कारण अमृत नाम से पुकारी जाती हैं, ओत-प्रोत है। कुछ लोग कह सकते हैं कि कवि से हम सत्य की आशा न करके केवल सहृदयता ही पा सकते है; किन्तु सत्य केवल 1+1 = 2 में ही नहीं सीमित है। अमृत को प्राय: बढ़ाकर देखने से सत् लघु कर दिया गया है; किन्तु सत्य विराट है। उसे सहृदयता द्वारा ही हम सर्वत्र ओतप्रोत देख सकते हैं। उस सत्य के दो लक्षण बताये गये हैं - श्रेय और प्रेय। इसीलिए सत्य की अभिव्यक्ति हमारे वाङ्मय में दो प्रकार में मानी गई है - काव्य और शास्त्र। शास्त्र में श्रेय का आज्ञात्मक ऐहिक और आमुष्मिक विवेचन होता है और काव्य में श्रेय और प्रेय दोनों का सामंजयस्य होता है। शास्त्र मानव-समाज में व्यवहृत सिद्धान्तों के संकलन हैं। उपयोगिता उनकी सीमा है। काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया-नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है; क्योंकि आत्मा को मनोमय वाङ्मय और प्राणमय माना गया है। **यमात्मा वाङ्मय:, मनोमय:, प्राणमय: (वृहदारण्यक)** उपविज्ञात प्राण, विज्ञात वाणी और विजिज्ञास्य मन है।

इसीलिए कवित्व को आत्मा की अनुभूति कहते हैं। मनन-शक्ति और मनन से उत्पन्न हुई अथवा ग्रहण की गई निर्वचन करने की वाक्-शक्ति और उनके सामंजस्य को स्थिर करनेवाली सजीवता तथा अविज्ञात प्राणशक्ति, ये दोनों आत्मा की मौलिक क्रियाएँ हैं।

मन संकल्प और विकल्पात्मक है। विकल्प विचार की परीक्षा करता है। तर्क-वितर्क कर लेने पर भी किसी संकल्पात्मक प्रेरणा के ही द्वारा जो सिद्धान्त बनता है, वही शास्त्रीय व्यापार है। अनुभूतियों की परीक्षा करने के कारण और इसके द्वारा विश्लेषणात्मक होते-होते उसमें चारुत्व की, प्रेय की कमी हो जाती है। शास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान को इसीलिए विज्ञान मान सकते हैं कि उसके मूल में परीक्षात्मक तर्कों की प्रेरणा है और उनका कोटि-क्रम स्पष्ट रहता है।

काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह नि:संदेह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।

इसी प्रकार हमारे साहित्य का आरम्भ काव्यमय है। वह एक द्रष्टा कवि का सुन्दर दर्शन है। संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा। आत्म की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है। कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि संकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनों ही से पूर्ण होती हैं, इसमें क्या प्रमाण है? किन्तु इसीलिए साथ-ही-साथ असाधारण अवस्था का भी उल्लेख किया गया है। असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है; क्योंकि

सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञान-धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप में विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणों के समान भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुन्दर और ऊर्ज्जस्वित बनाती है।

ज्ञान की जिस मनन-धारा का विकास पिछले काल में परम्परागत तर्कों के द्वारा एक दूसरे रूप में दिखाई देता है, उसे हेतु विद्या कहते है। किन्तु वैदिक-साहित्य के स्वरूप में उषा सूक्त और नारदीय सूक्त इत्यादि तथा उपनिषदों में अधिकांश संकल्पात्मक प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति हैं। इसीलिए कहा है - **तन्मे मनःशिवसंकल्पमस्तु।**

कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या मानने का जो प्रसंग आता है उससे यह प्रकट होता है कि यह विज्ञान से अधिक संबंध रखती है। उसकी रेखाएँ निश्चित सिद्धान्त तक पहुँचा देती हैं। सम्भवत: इसीलिए काव्य समस्या-पूरण इत्यादि भी छन्दशास्त्र और पिंगल के नियमों के द्वारा बनने के कारण उपविद्या-कला के अंतर्गत माना गया है। छन्द-शास्त्र काव्योपजीवी-कला का शास्त्र है। इसलिए यह भी विज्ञान का अथवा शास्त्रीय विषय है। वास्तुनिर्माण, मूर्ति और चित्र शास्त्रीय दृष्टि से शिल्प कहे जाते हैं और इन सब की विशेषता भिन्न-भिन्न होने पर भी, ये सब एक ही वर्ग की वस्तुएँ हैं।

भवन्ति शिल्पिनो लोके चतुर्था स्वस्व कर्मभिः।
स्थपतिः सूत्रग्राही च वर्धकिस्तक्षकरस्तथा ।। (मयमयतम्, 5 अध्याय)

चित्र के संबंध में भी

चित्राभासमिति ख्यातंपूर्वैः शिल्पविशारदैः। (शिल्परत्न, अध्याय 16)

इस तरह वास्तुनिर्माण, मूर्ति और चित्र शिल्प-शास्त्र के अन्तर्गत हैं।

काव्य के प्राचीन आलोचक दण्डी ने कला में लिखा है - **नृत्यगीतप्रभृतयः कला कामार्थसंश्रया** (1-162) नृत्य-गीत-आदि कलाएँ कामाश्रय कलाएँ हैं। और इन कलाओं की संख्या भी वे 64 बताते है, जैसा कि कामशास्त्र या तन्त्रों में कहा गया है। **इत्थं कला चतुःषष्ठि विरोधः साधु नीयताम्** (3-171)। काव्यादर्श में दण्डी ने कला-शास्त्र के माने हुए सिद्धान्तों में प्रमाद न करने के लिए कहा है, अर्थात् - काव्य में यदि इन कलाओं का कोई उल्लेख हो तो उसी कला के मतानुसार। इससे प्रकट हो जाता है कि काव्य और कला भिन्न वर्ग की वस्तु हैं। नतज्ज्ञानं न तच्छिल्पम् न सा विद्यान सा कला। 17। (। भारत नाट्य) की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त कहते है-- **कला गीत-वाद्यादिका।** इसी से गाने-बजानेवालों को अब भी कलावन्त कहते हैं।

भामह ने भी जहाँ काव्य का विषय-संबंधी विभाग किया है, वहाँ वस्तु के चार भेद मानते हैं देव चरित शंसि, उत्पाद्य, कलाश्रय और शास्त्राश्रय। यहाँ भामह का तात्पर्य है कि कला-संबंधी विषयों को लेकर भी काव्य का विस्तार होता है। काव्य का एक विषय कला भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कला की वर्गीकरण हमारे यहाँ भिन्न रूप से हुआ है।

कलाओं में संगीत को लोग उत्तम मानते हैं क्योंकि इसमें आनन्दांश वा तल्लीनता की मात्रा अधिक है, किन्तु है यह शुद्ध ध्वन्यात्मक अनुभूति का ही वाङ्मय अस्फुट रूप है इसलिए इसका उपयोग काव्य के वाहन रूप में किया जाता है, जो काव्य की दृष्टि से उपयोगी और आकर्षक है।

संगीत के द्वारा मनोभावों की अभिव्यक्ति केवल ध्वन्यात्मक होती है। वाणी का सम्भवत: वह आरम्भिक स्वरूप है। वाणी के चार भेद प्राचीन ऋषियों ने माने हैं। **चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्रा ह्माणा ये मनीषिणः। गुहात्रीणि निहिता निङ्गयन्ति तुरीया वाचं मनुष्या वदन्ति (ऋग्वेद)।** वाणी के ये चार भेद आगे चलकर स्पष्ट कर दिये गये, और क्रमश: इनका नाम परा, पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी आगम शास्त्रों में मिलता है। परा, पश्यन्ती और मध्यमा गुहानिहित हैं। वैखरी वाणी मनुष्य बोलते हैं। शास्त्रों में परावाणी को नाद-रूपा शुद्ध अहं परामर्शमयी शक्ति माना है। पश्यन्ती वाच्य और वाचक के अस्फुट विभाग, चैतन्य प्रधान, द्रष्ट रूपवाली है। मध्यमा वाच्य और वाचक का विभाग होने पर भी बुद्धि-प्रधान दर्शन-स्वरूपा द्रष्टा और दृष्ट के अन्तराल में रहती है। वैखरी स्थानकरण और प्रयत्न के बल से स्पष्ट होकर वर्ण की उच्चारण-शैली को ग्रहण करनेवाली दृश्य-प्रधान होती है।

बृहदारण्यक में कहा है **यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणोह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति** प्राण-शक्ति सम्पूर्ण अज्ञात वस्तु को अधिकृत करती है। वह अविज्ञान रहस्य है। इसीलिए उसका नित्य नूतन रूप दिखाई पड़ता है। फिर **यत् किञ्च विज्ञातं या च तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति,** जो कुछ जाना जा सका वही वाणी है, वाणी उसका स्वरूप धारण कर के, उस ज्ञान की रक्षा करती है।

ज्ञान-सम्बन्धी कारणों का विवेचन करने में भारतीय पद्धति ने परीक्षात्मक प्रयोग किया है। स्वप्रमितिक के ज्ञान की पाँच इन्दियाँ प्रत्यक्ष हैं। उन्हीं के द्वारा संवेदन होता है, उन में तन्मात्रा के क्रम से बाह्य पदार्थों के भी पाँच विभाग माने गये हैं। **आकाशाद् वायुः** वाले सिद्धान्त के अनुसार आकाश का गुण शब्द ही उधर ज्ञान के आरम्भ में है। जो कुछ हम अनुभव करते हैं, वाणी उसका रूप है। यह वाणी का विकास वर्णों में पूर्ण होता है और वर्णों के लिए आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रयत्न माने गये हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न उसे कहते हैं जो वर्णों की उत्पत्ति से प्राग्भावी वायु-व्यापार है। और वर्णोत्पत्तिकालिक व्यापार को बाह्य प्रयत्न कहा जाता है। यह वाङ्मय-अभिव्यक्ति, मनन की प्राणमयी क्रिया, आत्मानुभूति की प्रकट होने की चेष्टा है। इसीलिए उपनिषदों में कहा गया है - **य एकोवर्गो बहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु।** भावों को व्यक्त करने का मौलिक साधन वाणी है। इसीलिए वही प्रकृत है।

आर्य-साहित्य में उन वर्णों के संगठन के तीन रूप माने गये हैं - ऋक्=पद्यात्मक, यजुः=गद्यात्मक और साम=संगीतात्मक। **वैदिकाश्च द्विविधाः प्रगीता अप्रगीताश्च। तत्र प्रगीताः सामानि, अप्रगीताश्चद्विविधाःछन्दोवद्धास्तद्विलक्षणाश्च। तत्रप्रथमा ऋचःद्वितीया यर्जूषि। (सर्वदर्शनसंग्रह)** यही आर्य-वाणी की आरम्भिक उच्चारण शैली है, जो दूसरों के आस्वाद के लिए श्रव्य कही जाती है।

काव्य को इन आरम्भिक तीन भागों में विभक्त कर लेने पर उसकी आध्यात्मिक या मौलिक सत्ता का हम स्पष्ट आभास पा जाते हैं, और यही वाणी - जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं - आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है।

वाणी के द्वारा अनुभूतियों को व्यक्त करने के बाद एक अन्य प्रकार का भी प्रयत्न आरम्भ होता है। दूर रहने वाले, चाहे यह देश-काल के कारण से ही हो, केवल व्यष्टि का आश्रय लेने वाली उच्चारणात्मक वाणी का आनन्द नहीं ले सकते। इसलिए वह व्यक्ति-द्वारा प्रकट हुई आत्मानुभूति सामूहिक या समष्टि-भाव से विस्तार करने का प्रयत्न करती है। और तब चित्र, लिपि, तक्षण इत्यादि संबंधी अपनी बाह्य सत्ता को बनाती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या माना गया है। आगमों के अनुशीलन से, कला को अन्य रूप से भी बताया जा सकता है। शैवागमों में 36 तत्त्व माने गये हैं, उनमें कला भी एक तत्त्व है। ईश्वर की कर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्ति के स्वरूप कला, विद्या, राग, नियति और काल माने जाते हैं। शक्ति-संकोच के कारण जो इन्द्रिय-द्वार से शक्ति का प्रसार एवं आकुंचन होता है, इन व्यापक शक्तियों का वही संकुचित रूप बोध के लिए है। कला संकुचित कर्तृत्व-शक्ति कही जाती है। भोजराज ने भी अपने तत्त्व-प्रकाश में कहा है- **व्यञ्जयति कर्तृ शक्ति कलेति तेनेह कथिता सा।**

शिव-सूत्र-विमर्शिनी में क्षेमराज ने कला के संबंध में अपना विचार यों व्यक्त किया है -

कलायति स्व-स्वारूपावेशेन तत्तद्वस्तु परिच्छिनत्ति इति कला व्यापारः। इस पर टिप्पणी है -

कलायति, स्वरूपं आवेशयति, वस्तुनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेद कला अर्थात् - नव-नव स्वरूप-प्रथोल्लेख-शालिनी संवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्मा को परिचित रूप में प्रकट करती है, इसी क्रम का नाम कला है।

स्व को कलन करने का उपयोग, आत्म अनुभूति की व्यंजना में प्रतिभा के द्वारा तीन प्रकार से किया है - अनुकूल, प्रतिकूल और अद्‌भुत। ये तीन प्रकार के प्रतीक-विधान काव्य-जगत में दिखाई पड़ते हैं। अनुकूल, अर्थात् ऐसा हो। यह आत्मा के विज्ञात अंश का गुणनफल है। प्रतिकूल अर्थात् ऐसा नहीं। यह आत्मा के अविज्ञात अंश की सत्ता का ज्ञान न हाने के कारण हृदय के समीप नहीं। अद्‌भुत - आत्मा का विजिज्ञास्य रूप जिसे हम पूरी तरह समझ नहीं सके हैं, कि अनुकूल है या प्रतिकूल। इन तीन प्रकार के प्रतीक-विधानों में आदर्शवाद, यथातथ्यवाद और व्यक्तिवाद इत्यादि साहित्यिक वादों के मूल सन्निहित हैं जिनकी विस्तृत आलोचना की यहाँ आवश्यकता नहीं। कला को तो शास्त्रों में उपविद्या माना है। फिर उसका साहित्य में या आत्मानुभूति में कैसा विशेष अस्तित्व है, इस प्रश्न पर विचार करने के समय यह बात ध्यान में रखनी होगी कि कला को आत्मानुभूति के साथ विशिष्ट भिन्न सत्ता नहीं, अनुभूति के लिए शब्द-विन्यास-कौशल तथा छंद आदि भी अत्यन्त आवश्यक नहीं।

व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है। क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही। कवि की अनुभूति को उसके परिणाम में हम अभिव्यक्त देखते हैं। और अभिव्यक्ति के अन्तरालवर्ती संबंध को जोड़ने के लिए हम चाहें तो कला का नाम ले सकते हैं, और कला के प्रति अधिक पक्षपातपूर्ण विचार करने पर यह कोई कह सकता है कि अंलकार, वक्रोक्ति और रीति और कथानक इत्यादि में कला की सत्ता मान लेनी चाहिए, किन्तु मेरा मत है कि यह सब समय-समय की मान्यता और धारणाएँ हैं। प्रतिभा का किसी कौशल-विशेष पर कभी अधिक झुकाव हुआ होगा। इसी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप को कला के नाम से काव्य मे पकड़ रखने की साहित्य में प्रथा-सी चल पड़ी है।

हाँ, फिर एक प्रश्न स्वयं खड़ा होता है कि काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता है या कौशलमय आकारों या प्रयोगों की?

काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है, वही सौन्दर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण और श्रेयस्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है। वह आकार वर्णात्मक रचना-विन्यास में कौशलपूर्ण होने के कारण प्रेय भी होता है। रूप के आवरण में जो वस्तु सन्निहित है, वही तो प्रधान होगी। इसका एक उदाहरण दिया जा सकता है। कहा जाता है कि वात्सल्य की अभिव्यक्ति में तुलसीदास सूरदास से पिछड़ गये हैं। तो क्या यह मान लेना पड़ेगा कि तुलसीदास के पास वह कौशल या शब्द-विन्यास-पटुता नहीं थी, जिसके अभाव के कारण ही वे वात्सल्य की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर सके?

किन्तु यह बात तो नहीं है। सोलह मात्रा के छन्द में अन्तर्भावों को प्रकट करने की जो विदग्धता उन्होंने दिखाई है, वह कविता-संसार में विरली है। फिर क्या कारण है कि रामचन्द्र के वात्सल्य-रस की अभिव्यंजना उतनी प्रभावशालिनी नहीं हुई, जितनी सूरदास के श्याम की? मैं तो कहूँगा कि यही प्रमाण है आत्मानुभूति की प्रधानता का। सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस विषय की प्रधानता के कारण। श्रीकृष्ण की महाभारत में युद्ध-काल की प्रेरणा सूरदास के हृदय के उतने समीप न थी, जितनी शिशु गोपाल की वृन्दावन की लीलाएँ। रामचन्द्र के वात्सल्य-रस का उपयोग प्रबन्ध-काव्य में तुलसीदास को करना था, उस कथानक की क्रम-परंपरा बनाने के लिए। तुलसीदास के हृदय में वास्तविक अनुभूति तो रामचन्द्र की भक्त-रक्षण-समर्थ दयालुता है, न्यायपूर्ण ईश्वरता है, जीव की शुद्धावस्था में पाप-पुण्य-निर्लिप्त कृष्णचन्द्र की शिशु-मूर्ति का शुद्धाद्वैतवाद नहीं।

दोनों कवियों के शब्द-विन्यास-कौशल पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है, वहीं अभिव्यक्ति अपने क्षेत्र में पूर्ण हो सकी है। वही कौशल या पद-रचना-युक्त काव्य-शरीर सुन्दर हो सका है।

इसीलिए, अभिव्यक्ति सहृदयों के लिए अपनी वैसी व्यापक सत्ता नहीं रखती, जितनी कि अनुभूति। श्रोता, पाठक और दर्शकों के हृदय में कविकृत मानसी प्रतिमा की जो अनुभूति होती है, उसे सहृदयों में अभिव्यक्ति नहीं कह सकते। वह भाव-साम्य का कारण होने से लौट कर अपने कवि की अनुभूति वाली मौलिक वस्तु की सहानुभूति-मात्र ही रह जाती है। इसलिए व्यापकता आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की है।

(काव्य और कला तथा अन्य निबंध से)

8. यथार्थवाद और छायावाद

— जयशंकर प्रसाद

हिन्दी के वर्तमान युग की दो प्रधान प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें यथार्थवाद और छायावाद कहते हैं। साहित्य के पुनरुद्धार-काल में श्री हरिश्चन्द्र ने प्राचीन नाट्य रसानुभूति का महत्व फिर से प्रतिष्ठित किया और साहित्य की भाव-धारा को वेदना तथा आनन्द में नये ढंग से प्रयुक्त किया। नाटकों में 'चन्द्रावली' में प्रेम-रहस्य की उज्ज्वल नीलमणि वाली रस-परम्परा स्पष्ट थी और साथ ही 'सत्य हरिश्चन्द्र' में प्राचीन फल-योग की आनन्दमयी पूर्णता थी, किन्तु 'नील-देवी', 'भारत-दुर्दशा' इत्यादि में राष्ट्रीय अभावमयी वेदना भी अभिव्यक्त हुई।

श्री हरिश्चन्द्र ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप को भी चित्रण आरम्भ किया था। 'प्रेम-योगिनी' हिन्दी में इस ढंग का पहला प्रयास है। और **देखी तुमरी कासी** वाली कविता को भी मैं इसी श्रेणी का समझता हूँ। प्रतीक-विधान चाहे दुर्बल रहा हो, परन्तु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिन्दी में उसी समय प्रारम्भ हुआ था। वेदना और यथार्थवाद का स्वरूप धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा। अव्यवस्था वाले युग में देव-व्याज से मानवीय भाव का वर्णन करने की जो परम्परा थी, उससे भिन्न सीधे-सीधे मनुष्य के अभाव और उसकी परिस्थिति का चित्रण भी हिन्दी में उसी समय आरम्भ हुआ। **राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है** वाला सिद्धान्त कुछ निर्बल हो चला। इसी का फल है कि पिछले काल में सुधारक कृष्ण, राधा तथा रामचन्द्र का चित्रण वर्तमान युग के अनुकूल हुआ। यद्यपि हिन्दी में पौराणिक युग की भी पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिए उत्सुक लेखकों ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरम्भ किया, किन्तु श्री हरिश्चन्द्र का आरम्भ किया हुआ यथार्थवाद भी पल्लवित होता रहा।

यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावत: दु:ख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता में मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दु:ख और अभावों का वास्तविक उल्लेख। भारत के तरुण आर्य्य-संघ में सांस्कृतिक नवीनता का आन्दोलन करने वाला दल उपस्थित हो गया था। वह पौराणिक युग के पुरुषों के चरित्र को अपनी प्राचीन महत्ता का प्रदर्शन मात्र समझने लगा। दैवी शक्ति से तथा महत्त्व से हटकर अपनी क्षुद्रता तथा मानवता में विश्वास होना, संकीर्ण संस्कारों के प्रति द्वेष होना स्वाभाविक था। इस रुचि के प्रत्यावर्तन को श्री हरिश्चन्द्र की युगवाणी में प्रकट होने का अवसर मिला। इसका सूत्रपात उसी दिन हुआ जब गवर्नमेंट से प्रेरित राजा शिवप्रसाद ने सरकारी ढंग की भाषा का समर्थन किया और भारतेन्दु जी को उनका विरोध करना पड़ा। उन्हीं दिनों हिन्दी और बंगला के महाकवियों में परिचय भी हुआ। श्री हरिश्चन्द्र और श्री हेमचन्द्र ने हिन्दी और बंगला में आदान-प्रदान किया। हेमचन्द्र ने बहुत-सी हिन्दी की प्राचीन कविताओं को अनुवाद किया और हरिश्चन्द्र ने 'विद्या-सुन्दर' आदि का अनुवाद किया।

जाति में जो धार्मिक और साम्प्रदायिक परिवर्तनों के स्तर आवरण स्वरूप बन जाने हैं, उन्हें हटाकर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा भी साहित्य में तथ्यवाद की सहायता करती है। फलत: आरम्भिक साहसपूर्ण और विचित्रता से भरी आख्यायिकाओं के स्थान पर - जिनकी घटनाएँ राजकुमारों से ही संबद्ध होती थीं - मनुष्य के वास्तविक जीवन का साधारण चित्रण आरम्भ होता है। भारत के लिए उस समय दोनों ही वास्तविक थे - यहाँ के दरिद्र जन-साधारण और महाशक्तिशाली नरपति। किन्तु जन-साधारण और उनकी लघुता के वास्तविक होने का एक रहस्य है। भारतीय नरेशों की उपस्थिति भारत के साम्राज्य को बचा नहीं सकी। फलत: उनकी वास्तविक सत्ता में अविश्वास होना सकारण था। धार्मिक प्रवचनों ने पतन में और विवेक-दम्भपूर्ण आडम्बरों ने अपराधों में कोई रुकावट नहीं डाली। तब राजसत्ता का कृत्रिम और धार्मिक महत्व व्यर्थ हो गया और साधारण मनुष्य, जिसे पहले लोग अकिंचन समझते थे, वही क्षुद्रता में महान दिखलाई पड़ने लगा। उस व्यापक दु:ख-संवलित मानवता को स्वर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते है।

आरम्भ में जिस आधार पर साहित्यिक न्याय की स्थापना होती हैं - जिसमें सम की तरह आचरण करने के लिए कहा जाता है, रावण की तरह नहीं - उसमें रावण की पराजय निश्चित है। साहित्य में ऐसे प्रतिद्वन्द्वी पात्र का पतन आदर्शवाद के स्तम्भ कें किया जाता हैं, परन्तु यथार्थवादियों के यहाँ कदाचित यह भी माना जाता है कि मनुष्य में दुर्बलताएँ होती ही हैं। और वास्तविक चित्रों में पतन कां भी उल्लेख आवश्यक है। और फिर पतन के मुख्य कारण क्षुद्रता और निन्दनीयता भी - जो सामाजिक रूढ़ियों के द्वारा निर्धारित रहती है - अपनी सत्ता बनाकर दूसरे रूप में अवतरित होती है। वास्तव में कर्म, जिनके संबंध में देश, काल और पात्र के अनुसार यह कहा जा सकता है कि वे सम्पूर्ण रूप में न तो भले हैं और न बुरे हैं, कभी समाज के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, कभी त्याज्य होते हैं। दुरुपयोग से मानवता के प्रतिकूल होने पर अपराध कहे जाने वाले कर्मों से जिस युग के लेखक समझौता कराने का प्रयत्न करते हैं, वे ऐसे कर्मों के प्रति सहानूभूति प्रकट करते हैं। व्यक्ति की दुर्बलता के कारण की खोज में व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था और सामाजिक रूढ़ियों को पकड़ा जाता है। और इस विषमता को ढूँढ़ने पर वेदना ही प्रमुख होकर सामने

आती है। साहित्यिक न्याय की व्यावहारिकता में वह सन्दिग्ध होता है। तथ्यवादी पतन और स्खलन का भी मूल्य जानता है। और वह मूल्य है, स्त्री नारी है और पुरूष नर है; इसका परस्पर केवल यही संबंध है।

वेदना से प्रेरित होकर जन-साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। इस दशा में प्राय: सिद्धान्त बन जाता है कि हमारे दु:ख और कष्टों के कारण प्रचलित नियम और प्राचीन सामाजिक रूढ़ियाँ हैं। फिर तो अपराधों के मनोवैज्ञानिक विवेचन के द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न होता है कि वे सब समाज की कृत्रिम पाप हैं। अपराधियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर सामाजिक परिवर्तन के सुधार का आरम्भ साहित्य में होने लगता है। इस प्रेरणा में आत्मनिरीक्षण और शुद्धि का प्रयत्न होने पर भी व्यक्ति के पीड़न, कष्ट और अपराधों से समाज को परिचित कराने का प्रयत्न भी होता है और यह सब व्यक्ति-वैचित्र्य से प्रभावित होकर पल्लवित होता है। स्त्रियों के संबंध में नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख होकर, मातृत्व से उत्पन्न हुए सब संबंधों को तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप में मनुष्यता पहुँच जाती है, तब उन्हीं सामाजिक बन्धनों की बाधा घातक समझ पड़ती है और इन बन्धनों को कृत्रिम और अवास्तविक माना जाने लगता है। यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नहीं, अपितु महानों का भी है। वस्तुत: यथार्थवाद का मूल भाव है वेदना। जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न होकर पीड़ित होने लगती है, तब वेदना की विवृत्ति आवश्यक हो जाती है। कुछ लोग कहते हैं साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धान्त से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनवर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए, यही आदेश करता है। और यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता, क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था, किन्तु साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है और न धर्मशास्त्र-प्रेणता। इन दोनों के कर्त्तव्य स्वतंत्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समय की वास्तविक स्थिति क्या है, इनको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दु:ख-दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है; इसीलिए असत्य अघटित घटना पर कल्पना को वाणी महत्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौन्दर्य के कारण सत्य-पद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमें विश्वमंगल की भावना ओत-प्रोत रहती है।

सांस्कृतिक केन्द्रों में जिस विकार का आभास दिखलाई पड़ता है, वह महत्व और लघुत्व दोनों सीमान्तों के बीच के वस्तु है। साहित्य की आत्मानुभूति यदि उस स्वात्म-अभिव्यक्ति, अभेद और साधारणीकरण का संकेत कर सके, तो वास्तविकता का स्वरूप प्रकट हो सकता है। हिन्दी में इस प्रवृत्ति का मुख्य वाहन गद्य-साहित्य ही बना।

कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परम्परा से - जिसमें बाह्य वर्णन की प्रधानता थी - इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द विन्यास से ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया। भवभूति के शब्दों के अनुसार -

व्यतिषजति पदार्थानान्तर: कोपि हेतु:।
न खलु वहिरुपाधीनु प्रीतय: संश्रयन्ते।।

बाह्य उपाधि से हटकर आन्तरहेतु की ओर कवि-कर्म प्रेरित हुआ। इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों की योजना हुई, हिन्दी में पहले वे कम समझे जाते थे; किन्तु शब्दों में भिन्न प्रयोग से एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द-विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने में सहायक होते हैं। भाषा के निर्माण में शब्दों के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता हैं। अर्थ-बोध व्यवहार पर निर्भर करता है, शब्द-शास्त्र में पर्यायवाची तथा अनेकार्थवाची शब्द इसके प्रमाण हैं। इसी अर्द्ध-चमत्कार का माहात्म्य है कि कवि की वाणी में अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य में मान्य हुए। ध्वनिकार ने इसी पर कहा है-

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

अभिव्यक्ति का यह निराला ढंग अपना स्वतंन्त्र लावण्य रखता है। इसके लिए प्राचीनों ने कहा -

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते।

मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है, वैसी ही कान्ति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में कहा है -

प्रतिभा प्रथमोद्भदसमये यत्र वक्रता
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते।

शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्ति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। वैदग्ध्य-भंगी भणिति में शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप में अवस्थित होती है। **(शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम् - लोचन 208)** कुन्तक के मत में ऐसी भणिति **शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दर्थोपनिबन्धव्यतिरेकी** होती है। यह रम्यच्छायान्तरस्पर्शी वक्रता वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में होती है। कुन्तक के शब्दों में यह **उज्ज्वला छायातिशयरमणीयता** (1.33) वक्रता की उद्भासिनी है।

परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित्।
प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहराम्।। 34।।

2 उन्मेष व. जी.

कभी-कभी स्वानुभव संवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए सर्वनामादिकों का सुन्दर प्रयोग इस छायामयी वक्रता का कारण होता है - **वे आँखें कुछ कहती हैं।**

अथवा

निद्रानिमीलितदृशो मदमन्थराया
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि।
अद्यापि मे वरतनोर्मधुराणि तस्यां-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति।।

किन्तु ध्वनिकार ने इसका प्रयोग ध्वनि के भीतर सुन्दरता से किया।

यस्त्वलक्ष्यक्रमो व्यंग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु।
वाक्ये संघटनायां च सप्रबन्धेपि दीप्यते।।

यह ध्वनि प्रबन्ध, वाक्य, पद और वर्ण में दीप्त होती है। केवल अपनी भंगिमा के कारण 'वे आँखें' में 'वे' एक विचित्र तड़प उत्पन्न कर सकता है। आनन्दवर्धन के शब्दों में -

मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामति
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषितां ।। 3-38।।

कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा-भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि यह साधारण अलंकार जो पहन लिया जाता है, वह नहीं है, किन्तु यौवन के भीतर रमणी-सुलभ श्री की बहिन ह्री है, घूँघट वाली लज्जा नहीं। संस्कृति-साहित्य में यह प्रतीयमान छाया अपने लिए अभिव्यक्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है। अभिनवगुप्त ने लोचन में एक स्थान पर लिखा है-

परां दुर्लभा छायां आत्मरूपतां यान्ति।

इस दुर्लभ छाया का संस्कृत के काव्योत्कर्ष-काल में अधिक महत्त्व था। आवश्यकता इसमें शाब्दिक प्रयोगों की भी थी, किन्तु आन्तर अर्थ-वैचित्र्य को प्रकट करना भी इसका प्रधान लक्ष्य था। इस तरह की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत में प्रचुर हैं। उन्होंने उपमाओं में भी आन्तर सारूप्य खोजने को प्रयत्न किया था। **निरहंकार मृगांक, पृथ्वी गतयौवना, संवेदनमिवाम्बर,** मेघ के लिए **जनपदबधूलोचनैः पीयमानः** या कामदेव के कुसुम-शर के लिए **विश्वसनीयमायुधं** ये सब प्रयोग बाह्य सादृश्य से अधिक आन्तर सादृश्य को प्रकट करनेवाले हैं और भी -

आर्द्रं ज्वलति ज्योतिरहमस्मि, मधुनक्तमृतोषसि मधुमत् पार्थिव रजः।

इत्यादि श्रुतियों में इन प्रकार की अभिव्यंजनाएँ बहुत मिलती हैं। प्राचीनों ने भी प्रकृति की चिर-निःशब्दता का अनुभव किया था-

शुचिशीतलचन्द्रिकाप्लुताश्चिरनिःशब्दमनोहरा दिशः।
प्रशमस्य मनोभवस्य वा हृदि तस्याप्यथ हेतुतां ययुः।।

इन अभिव्यक्तियों में छाया की स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है। अलंकार के भीतर आने पर भी ये उनसे कुछ अधिक है। कदाचित् ऐसे प्रयोगों के आधार पर जिन अलंकारों का निर्माण होता था, उन्हीं के लिए आनन्दवर्धन ने कहा है

तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यंगतां गताः (2 - 29)

प्राचीन साहित्य में छायावाद अपना स्थान बना चुका है। हिन्दी में जब इस तरह के प्रयोग आरम्भ हुए, तो कुछ लोग चौंके सही, परन्तु विरोध करने पर भी अभिव्यक्ति के इस ढंग को ग्रहण करना पड़ा। कहना न होगा कि ये अनुभूतिमय आत्मस्पर्श काव्य-जगत् के लिए अत्यन्त आवश्यक थे। काकु या श्लेष की तरह यह सीधी वक्रोक्ति भी न थी। वाह्य से हटकर काव्य की प्रवृत्ति आन्तर की ओर चल पड़ी थी।

जब वहति विकलं कायो न मुञ्चति चेतनाम् की विवशता वेदना को चैतन्य के साथ चिरबन्धन में बाँध देती है, तब वह आत्मस्पर्श की अनुभूति, सूक्ष्म आन्तर भाव को व्यक्त करने में समर्थ होती है। ऐसा छायावाद किसी भाषा के लिए शाप नहीं हो सकता। भाषा अपने सांस्कृतिक सुधारों के साथ इस पद की ओर अग्रसर होती है उच्चतम साहित्य का स्वागत करने के लिए। हिन्दी ने आरम्भ के छायावाद में अपनी भारतीय साहित्यिकता का ही अनुसरण किया। कुन्तक के शब्दों में **अतिक्रान्तप्रसिद्ध;व्यवहारसरणि** के कारण कुछ लोग इन छायावाद में अस्पष्टवाद का भी रंग देख पाते हैं। हो सकता है, जहाँ कवि ने अनुभूति का पूर्ण तादात्म्य नहीं कर पाया हो, वहाँ अभिव्यक्ति विशृंखल हो गई हो, शब्दों का चुनाव ठीक न हुआ हो, हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल हो गया हो, परन्तु सिद्धान्त में ऐसा रूप छायावाद का ठीक नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट, छाया-मात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है। हाँ, मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब है, इसीलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य-धारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से संबंध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।

छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ है। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श कर के भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।

(काव्य और कला तथा अन्य निबंध से)

9. 'पल्लव' की भूमिका

— सुमित्रानंदन पंत

प्रवेश

(क)

हिन्दी कविता की नीहारिका, संप्रति अपने प्रमियों के तरुण उत्साह के तीव्र ताप से प्रगति पा, साहित्याकाश में अत्यन्त वेग से घूम रही है; समय-समय पर जो छोटे-मोटे तारक पिण्ड उससे टूट पड़ते हैं, वे अभी ऐसी शक्ति तथा प्रकाश संगृहीत नहीं कर पाए हैं कि अपनी ही ज्योति में अपने लिए नियमित पंथ खोज सकें, जिससे हमारे ज्योतिषी उनकी गतिविधि पर निश्चित सिद्धान्त निर्धारित कर लें; ऐसी दशा में कहा नहीं जा सकता कि यह अस्तव्यस्त केन्द्र परिधिहीन द्रवित वाष्प पिण्ड निकट भविष्य में किस स्वस्थ स्वरूप में घनीभूत होगा, कैसा आकार-प्रकार ग्रहण करेगा; हमारे सूर्य की कैसी प्रभा होगी, चाँद की कैसी सुधा; हमारे प्रभात में कितना सोना होगा, रात में कितनी चाँदी!

पर मनुष्य का ज्ञान का विकास पदार्थों की अज्ञात परिधि पर निर्भर न रह कर अपने ही परिचय के अंतरिक्ष के भीतर परिपूर्णता प्राप्त करता जाता है; जब तक वह पृथ्वी की गोलाई तक नहीं पहुँचा था, वह उसे चिपटी मानकर भी चलता रहा, हम अपने प्रौढ़ पगों के लिए नहीं ठहरते, घुटनों के बल चलने के नियमों को सीखकर ही आगे बढ़ते हैं। सच तो यह कि हम भूमिका बाँधना नहीं छोड़ सकते ।

अब ब्रजभाषा और खड़ी बोली के बीच जीवन-संग्राम का युग बीत गया, उन दिनों मैं साहित्य का ककहरा भी नहीं जानता था। उस सुकुमार मा के गर्भ से जो यह ओजस्विनी कन्या पैदा हुई है, आज सर्वत्र इसी की छटा है, इसकी वाणी में विद्युत् है। हिन्दी ने अब तुतलाना छोड़ दिया, वह 'पिय' को 'प्रिय' करने लगी है। उसका किशोर कण्ठ फूट गया, अस्फुट अंग कट-छँट गए, उनकी अस्पष्टता में एक स्पष्ट स्वरूप की झलक आ गई; वक्ष विशाल तथा उन्नत हो गया; पदों की चंचलता दृष्टि में आ गई; वह विपुल विस्तृत हो गई ; हृदय में नवीन भावनाएँ, नवीन कल्पनाएँ उठने लगीं, ज्ञान की परिधि बढ़ गई, चारों दिशाओं से त्रिविध समीर के झोंके उसके चित्त को रोमांचित करने लगे, उसे चाँद में नवीन सौन्दर्य, मेघ में नवीन गर्जन सुनाई देने लगा। वह अज्ञात यौवन कलिका अब विकसित हो गई; प्रभात के सूर्य ने उसका उज्ज्वल मुख चूम, उसे अजस्र आशीर्वाद दे दिया, चारों ओर से भौंरे आकर उसे नव संदेश सुनाने लगे; उसके सौरभ को वायुमण्डल इधर-उधर वहन करने लग गया, विश्वजननी प्रकृति ने उसके भाल पर स्वयं अपने हाथ के केशर का सुहाग टीका लगा दिया, उसके प्राणों में अक्षय मधु भर दिया है।

उस ब्रज की बाँसुरी में अमृत था, नन्दन की मधु ऋतु थी; उसमें रसिक श्याम के प्रेम की फूँक थी, उसके जादू से सूर सागर लहरा उठा, मिठास से तुलसी मानस* उमड़ चला। आज भी वह कुछ हाथों की तूँबी बनी हुई है, जो प्राचीन जीर्ण-शीर्ण खण्डहरों के टूटे-फूटे कोनों तथा गन्दे छिद्रों से दो-एक दन्तहीन बूढ़े साँपों को जगा, उनका अन्तिम जीवन-नृत्य दिखला, साहित्य की टोकरी भरने तथा प्रवीण कलाकुशल बाजीगर कहलाने की चेष्टा कर रहे हैं; दस बरस बाद, ये प्राणहीन केंचुलियाँ, शायद, इनके आँख झाड़ने के काम आएँगी। लेकिन यह अपवाद ही खड़ी बोली की विजय का प्रमाण है। अब भारत के कृष्ण ने मुरली छोड़ पांचजन्य उठा लिया; सुप्त देश की सुप्त वाणी जाग्रत हो उठी, खड़ी बोली उस जागृति की शंख ध्वनि है। ब्रज भाषा में नींद की मिठास थी, इसमें जागृति का स्पन्दन, उसमें रात्रि की अकर्मण्य स्वप्नमय ज्योत्स्ना, इसमें दिवस का सशब्द कार्यव्यग्र प्रकाश।

ब्रज भाषा के मोम में भक्ति का पवित्र चित्र, उसके माखन में शृंगार की कोमल करुण मूर्ति खूब उतरी है। वह सुख-सम्पन्न भारत के हृतन्त्री की झंकार है उसके स्वर में शान्ति, प्रेम, करुणा है। देश की तत्कालीन मानसिक और भौतिक शान्ति ही ब्रज भाषा के रूप में बदल गई। वह था सम्राट अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ का सुव्यवस्थित राज्यकाल; जिनकी निर्द्वन्द्व छत्रछाया में उनकी शान्तिप्रियता, कला-प्रेम तथा शासन प्रबन्ध रूपी विपुल खाद्य सामग्री पाकर चिरकाल से पीड़ित भारत एक बार फिर विविध ऐश्वर्यों में लहलहा उठा। राजा-महाराजाओं ने स्वयं अपने हाथों से संगीत, शिल्प, चित्र तथा काव्य-कला के मूलों को सींचा, कलाविदों को तरह-तरह से प्रोत्साहित किया। संगीत की आकाश लता अनन्त झंकारों में खिल-खिलकर समस्त वायुमण्डल में छा गई, मृग चरना भूल गये, मृगराज उन पर टूटना। तानसेन की सुधा सिंचित राग-रागिनियाँ -जिन्हें कहीं शेषनाग सुन ले तो उसके सिर पर रक्खे हुए धरा मेरु डाँवाडोल हो जायें, इस भय से विधाता ने उसे कान नहीं दिए - अभी तक हमारे वसन्तोत्सव में कोकिलाओं के कण्ठों में मधुस्रवण करती हैं। शिल्प तथा चित्रकलाओं की पावस हरीतिमा ने सर्वत्र भीतर बाहर राजप्रासादों को लपेट लिया। चतुर चित्रकारों ने अपने चित्रों में भावों की सूक्ष्मता और सुकुमारता, सुरों की सजधज तथा सम्पूर्णता, जान पड़ता है, अपनी अनिमेष

---

* ब्रज भाषा से मेरा अभिप्राय प्राचीन साहित्यिक हिन्दी से है, जिसमें 'अवधी' भी शामिल है।

चितवन की अचंचल बरुनियों, अपने भाव मुग्ध हृदय के तन्मय रोओं से चित्रित की। शाहजादा दारा का 'अलबम' चित्रकारी के चमत्कार की चकाचौंध है। शिल्पकला के अनेक शतदल दिल्ली, लखनऊ, आगरा आदि शहरों में अपनी सम्पूर्णता तथा उत्कर्ष में अमर और अम्लान खड़े हैं; ताजमहल में मानो शिल्पकला ही गलाकर ढाल दी गयी।

देव, विहारी, केशव आदि कवियों के अनिन्द्य पुष्पोद्यान अभी तक अपनी अमन्द सौरभ तथा अनन्त मधु से राशि-राशि भौंरों को मुग्ध कर रहे हैं: - यहाँ कूल, केलि, कछार, कुंजों में, सर्वत्र असुप्त वसन्त शोभित है। बीचोंबीच बहती हुई नीली यमुना में, उसकी फेनोज्जवल चंचल तरंगों-सी, असंख्य सुकुमारियाँ श्याम के अनुराग में डूब रही हैं। वहाँ बिजली छिपे अभिसार करती, भौंरे संदेश पहुँचाते, चाँद चिनगारियाँ बरसाता है। वहाँ छहों ऋतुएँ कल्पना के बहुरंगी पंखों में उड़कर, स्वर्ग की अप्सराओं की तरह, उस नन्दन वन के चारों ओर अनवरत परिक्रमा कर रही हैं। उस "चन्द्रिकाधैतहर्म्या वसतिरलका" के आस-पास "आनन ओप उजास" से नित प्रति पूनो ही रहती है। चपला की चंचल डोरियों में पैंग भरते हुए नये बादलों के हिंडोरे पर झूलती हुई इन्द्रधनुष सुकुमारियाँ झरी की झमक और घटा की घमक में हिंडोरे की रमक मिला रहीं हैं। वहाँ सौन्दर्य अपनी ही सुकुमारता में अन्तर्धान हो रहा, समस्त नक्षत्र मण्डल उसके श्रीचरणों पर निछावर हो नखावलि बन गया, अलंकारों की झनक ने देह वीणा से फूटकर रूप को स्वर दे दिया है। वहाँ फूलों में काँटे नहीं, फूल ही विरह से सूखकर काँटों में बदल गये है; - यह कल्पना का अनिर्वचनीय इन्द्रजाल है, प्रेम की पलकों पर सौन्दर्य का स्वप्न है, मर्त्य के हृदय में स्वर्ग का बिम्ब है, मनोवेगों की अराजकता है। सच है, "पल पल पर पलटन लगे जाके अंग अनूप" ऐसी उस ब्रज वाला के स्वरूप का कौन वर्णन कर सकता है? उस माधुर्य की मेनका की कल्पना का अंचल छोर उसके उपासकों के श्वासोच्छ्वासों के चार वायु में उड़ता हुआ, नीलाकाश की तरह फैलकर, कभी आध्यात्मिकता की नीरव पुलिनों को भी स्पर्श कर आता है, पर कामना के झोंके शीघ्र ही सौ-सौ हाथों से उसे खींच लेते है। वह ब्रज के दूध, दही और माखन से पूर्ण प्रस्फुटित यौवना अपनी बाह्य रूप राशि पर इतनी मुग्ध रहती है कि उसे अपने अन्तर्जगत के सौन्दर्य के उपभोग करने, उसकी ओर दृष्टिपात करने की अवकाश ही नहीं मिलता, नि:सन्देह, उसका सौन्दर्य अपूर्व है, भाषातीत है, - यह उस युग का नन्दन कानन है! जहाँ सौन्दर्य की अप्सरा अपनी छवि की प्रभा में स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करती है। अब हम उस युग का कैलास देखेंगे जहाँ सुन्दरता मूर्तिमती तपस्या बनी हुई, कामना की अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण हो, प्रेम की लोकोज्ज्वल कारिणी स्निग्ध चन्द्रिका में, संयम की स्थिर दीपशिखा-सी, शुद्ध एवं निष्कलुष सुशोभित है। वह उस युग का शत-शत ध्वनिपूर्ण कल्लोलों में विलोड़ित बाह्य स्वरूप हैं, यह उसका गम्भीर, निर्वाक् अन्तस्तल!

जिस प्रकार उस युग के स्वर्ण गर्भ से भौतिक सुख-शान्ति के स्थापक प्रसूत हुए, उसी प्रकार मानसिक सुख-शान्ति के शासक भी, जो प्रात:स्मरणीय पुरुष इतिहास के पृष्ठों पर रामानुज, रामानन्द, कबीर, महाप्रभु बल्लभाचार्य, नानक इत्यादि नामों से स्वर्णांकित हैं, इतिहास के ही नहीं, देश के हृत्पृष्ठ पर उनकी अक्षय अष्टछाप, उसकी सभ्यता के वक्ष पर उनका श्रीवत्स चिह्न अमिट और अमर है। इन्हीं युग प्रवर्तकों के गम्भीर अन्तस्तल से ईश्वरी अनुराग के अनन्त-उद्‌गार उमड़कर, देश के आकाश में घनाकार छा गये। ब्राह्मणों के शुष्क दर्शन तत्त्वों की ऊष्मा से नीरस, निष्क्रिय वायुमण्डल भक्ति के विशाल श्याम-धन से सरस तथा सजल हो गया; राम-कृष्ण के प्रेम की अखण्ड रसधाराओं ने, सौ-सौ बौछारों में बरस, भारत का हृदय प्लावित तथा उर्वर कर दिया। एक ओर सूरसागर भर गया, दूसरी ओर तुलसी मानस!

सीही के उस अंतर्नयन सूर का सूरसागर? वह अतल, अकूल, अनन्त प्रेमाम्बुधि? - उसमें अमूल्य रत्न हैं! उसकी प्रत्येक तरंग श्याम की वंशी की भुवन मोहिनी तान पर नाचती, थिरकती, भक्तों के भूरि हृत्स्पन्दन से ताल मिलाती, मँझधार में पड़ी सौ-सौ पुरानी नावों को पार लगाती, असीम की ओर चली गयी है! वह भगवद्‌भक्ति के आनन्दाधिक्य का जल प्रलय है, जिसमें समस्त संसार निमग्न हो जाता है। वह ईश्वरीय प्रेम की पवित्र भूलभुलैया है, जिसमें एक बार पैठकर बाहर निकलना कठिन हो जाता है। कुएँ में गिर हुए को जदुपति भले ही बाँह पकड़कर निकाल सकें, पर जो एक बार 'सागर' में डूब जाता है उसे सूर के श्याम भी बाहर नहीं खींच सकते! सूर की वाणी! भारत के "हिरदै सों जब जाइ हौ मरद बदौंगो तोहि!"

और रामचरित मानस? उस "जायो कुछ मंगन" का "रत्नावली" से ज्योतित मानस? उस -

"जन्म सिन्धु, पुनि बन्धु विष, दिन मलीन, सकलंक,
उन सन समता पाय किमि, चन्द्र वापुरो रंक"

- "तुलसी शशी" की उज्ज्वल ज्योत्स्ना से परिपूर्ण मानस? वह हमारी सनातन धर्म-प्राण जातीयता का अविनश्वर सूक्ष्म शरीर है। भारतीय सभ्यता का विशाल आदर्श है जिसमें उसका सूर्योज्ज्वलमुख स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। वह तुलसीदासजी के निर्मल मानस में अनन्त का अक्षय प्रतिबिम्ब है। उसकी सौ-सौ तारक चुम्बित सरल तरल वीचियों के ऊपर जो भक्ति का अमर सहस्रदल विकसित है, वह मर्यादापुरुषोतम की पवित्र पद रेणु से परिपूर्ण है! मानस इतिहास में महाकाव्य, महाकाव्य में इतिहास है। उस युग के ईश्वरीय अनुराग का नक्षत्रोज्ज्वल ताजमहल है, जिसमें श्री सीताराम की पुण्यस्मृति चिरन्तन सुप्ति में जाग्रत है। - ये दोनों काव्य रत्न भारती के अक्षय भण्डार के दो सिंह द्वार हैं, जो उस युग के भगवत्प्रेम की पवित्र धातु से ढाल दिये गये हैं।

जिन अन्य कवियों की पावन वाणी से ईश्वरानुराग का अवशिष्ट रस अनेक सरिता और निर्झरों के रूप में फूटकर ब्रज भाषा के साहित्य-समुद्र में भर गया, उनमें हम उस साखियों के सम्राट, उस फूलों की देह के भगत कबीर साहब, उस लहरतारा के तालाब के गोत्र कुल हीन स्वर्ण पंकज, उस स्वर्गीय संगीत के जुलाहे के साथ - जिसने अपने सूक्ष्म ताने-बाने में गगन का "शबद अनाहद" बुन दिया - एकान्त में अपने गोपाल की मूर्ति से बातें करनेवाली उस मीरा को भी नहीं भूल सकते। वह भक्ति के तपोवन की शकुन्तला है, राजपूताने के मरुस्थल की मन्दाकिनी है! उसने वासना के विष को पीकर प्रेमामृत बना दिया है, उसने शब्दों में नहीं गाया, अपने प्रेमाधिक्य से भावना को ही वाणी के रूप में घनीभूत कर दिया, अरूप को स्वरूप दे दिया! - ऐसा था अपार उस युग के मधु के भण्डार, जिसने ब्रज भाषा के छत्ते को लबालब भर दिया, उस अमृत ने उस भाषा को अमर कर दिया, उस भाषा ने उस अमृत को सुलभ!

पर उस ब्रज के वन में झाड़-झंखाड़ करील-बबूर भी बहुत हैं। उसके स्वर में दादुरों का बेसुरा आलाप, उसके कृमिल पंकिल गर्भ में जीर्ण अस्थिपंजर, रोड़े, सिवार और घोंघों की भी कमी नहीं। उसके बीचोंबीच बहती हुई अमृत जाह्नवी के चारों ओर जो शुष्क कर्दममय बालुका तट है, उसमें विलास की मृगतृष्णा के पीछे भटके हुए अनेक कवियों के अस्पष्ट पदचिह्न, कालानिल के झोंकों से बचे हुए यत्र-यत्र बिखरे पड़े हैं। उस ब्रज की उर्वशी के दाहिने हाथ में अमृत का परिपूर्ण कटोरा है, जो उस युग के नैतिक पतन से भरा छलछला रहा है। ओह, उस पुरानी गूदड़ी में असंख्य छिद्र, अपार संकीर्णताएँ हैं!

अधिकांश भक्त कवियों का समग्र जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया। बीच में उन्हीं की संकीर्णता की यमुना पड़ गयी; कुछ किनारे पर रहे, कुछ उसी में बह गये; बड़े परिश्रम से कोई पार भी गये तो ब्रज से द्वारका तक पहुँच सके, संसार की सारी परिधि यहीं समाप्त हो गयी! रूप के उस श्यामावरण के भीतर झाँक न सके, अनन्त नीलाकाश को एक छोटे से तालाब के प्रतिबिम्ब में बाँधने के प्रयत्न में स्वयं बँध गये। सहस्र दादुर उसमें छिपकर टरनि लगे, समस्त वायुमण्डल घायल हो गया, यमुना की नीली-नीली लहरें काली पड़ गयीं। भक्ति के स्वर में भारत की जन्म-जन्मान्तर की सुप्त मूक आसक्ति बाधाविहीन बौछारों में बरसा दी! ईश्वरानुराग की बाँसुरी अन्धबिलों में छिपे हुए वासना के विषधरों को छेड़-छेड़कर नचाने लगी। श्याम तथा राधा की खोज में, सौ-सौ यत्नों में लपेटी हुई देश की समस्त आबाल वृद्धाएँ नग्नप्राय कर, भारतीय गृहस्थ के बन्द द्वारों से बाहर निकाल दीं; उनके कभी इधर-उधर न भटकनेवाले सुकुमार पाँव संसार के सारे विषपूर्ण काँटों से जर्जरित कर दिये। गृहलक्ष्मियाँ दूतियाँ बन गयीं।

शृंगारप्रिय कवियों के लिए शेष रह ही क्या गया? उनकी अपरिमेय कल्पनाशक्ति कामना के हाथों द्रौपदी के दुकूल की तरह फैलकर 'नायिका' के अंग-प्रत्यंग से लिपट गयी। बाल्यकाल से वृद्धावस्था पर्यन्त - जब तक कोई 'चन्द्रवदनि मृगलोचनी' तरस खाकर, उनसे 'बाबा' न कह दे, - उनकी रसलोलुप सूक्ष्मतम दृष्टि केवल नख से शिख तक, दक्षिणी ध्रुव से उत्तरी ध्रुव तक, यात्रा कर सकी! ऐसी विश्वव्यापी अनुभूति! ऐसी प्रखर प्रतिभा! एक ही शरीरयष्टि में समस्त ब्रह्माण्ड देख लिया! अब इनकी अक्षय कीर्ति काया को जरामरण का भय? क्या इनकी 'नायिका', जिसके वीक्षण मात्र से इनकी कल्पना तिलक की डाल की तरह खिल उठती थी, अपने सत्यवान को काल के मुख से न लौटा लायेगी?

इसी विराट् रूप पर दर्शन कर ये पुष्प धनुषधर कवि रति के महाभारत में विजयी हुए। समस्त देश की वासना के वीभत्स समुद्र को मथकर इन्होंने कामदेव को नव जन्म दान दे दिया, वह अब सहज भी भस्म हो सकता है? इन वीरों ने ऐसा सम्मोहशास्त्र देश के आकाश में छोड़ा कि सारा संसार कामिनीमय हो गया! एक के भीतर बीस डिब्बे वाले खिलौने की तरह, एक ही के अन्दर सहस्र नायिकाओं के स्वरूप दिखला दिये। सारे देश को, जादू के बल से, कामना के चमकीले पारे से मढ़े हुए कच्चे काँच के टुकड़ों का एक ऐसा विचित्र अजायब घर, 'सब जग जीतन को' काम को ऐसा 'काय व्यूह शीशमहल' बना दिया कि आर्य नारी की एकनिष्ठ, निश्चल, पवित्र प्रतिमा वासनाओं के असंख्य रंग-बिरंगे बिम्बों में बदल गयी - जिनकी भूलभूयैला में फँसकर, देश के लिए अपनी सरल सुशील सती को पहचानना कठिन हो गया!

और इनकी वियोग वह्नि ने क्या किया? इनकी और्व के नेत्रों की ज्वाला सी आह ने? देश की प्राणसंचारिणी, शक्ति संजीवनी वायु को ग्रीष्म की प्रचण्ड लू में बदल दिया! सकल सद्भावनाओं के सुकुमार पौधे जलकर छार हो गये; शान्ति, सुख, स्वास्थ्य, सदाचार सब भस्म हो गये; पवित्र प्रेम का चन्दन पंक सूख गया; भारत का मानस भी दरक गया; और उसकी सती इन कवियों की नुकीली लेखनी से उस गहरी खुदी हुई दरार में समा गयी; शक्ति की कमर खो गयी, समस्त दुर्बलता का नाम अबला पड़ गया।

ऐसी थी इनकी वीभत्स, विकारग्रस्त, विलासपुरी! और इनकी भाषालंकारिता? जिसकी रंगीन डोरियों में वह कविता का हैंगिंग गार्डन - वह विश्व वैचित्र्य झूलता है, जिसके हृत्पट पर वह चित्रित है?

बहत्तर ग्रन्थों के रचयिता, 'नभ मण्डल' के समान देव ; 'देखन के छोट लगें घाव करें गम्भीर' तीर छोड़नेवाले कुसुमायुध बिहारी, जिन्हें 'तरुनाई आई सुखद बसि मथुरा सुसराल'; रामचन्द्रिका के इक्कीस पाठ कर मुक्त होने वाले, कठिन काव्य के प्रेत, पिंगलाचार्य,

भाषा के मिल्टन, उडगन केशवदास जी, तथा जहाँ-जहाँ प्रकाश करने वाले मतिराम, पद्याकर, बेनी, रसखान आदि - जितने नाम आप जानते हैं, और इन साहित्य के मालियों में से जिसकी विलास वाटिका में भी आप प्रवेश करें, सबमें अधिकतर वही कदली के स्तम्भ, कमल नाल, दाड़िम के बीज, शुक, पिक, खंजन, शंख, पद्म, सर्प, सिंह, मृग, चन्द्र; चार आँखें होना, कटाक्ष करना, आह छोड़ना, रोमांचित होना, दूत भेजना, कराहना, मूर्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना; - बस इसके सिवा और कुछ नहीं! सबकी वावड़ियों में कुत्सित प्रेम का फुहारा शत-शत रसधारों में फूट रहा है; सीढ़ियों पर एक अप्सरा जल भरती या स्नान करती है, कभी एक संग रपट पड़ती, कभी नीर भरी गगरी ढरका देती है। बीथियों में पराई पीर न जाननेवाली स्वच्छन्द दूती विचर रही है, जिसका 'धृतपन' वापी नहाने को बहाना करने पर भी स्वेद की अधिकाई तथा पीकलीक की भलाई के कारण प्रकट हो ही जाता है; कुंजों से उद्दाम यौवन की दुर्गन्ध आ रही है, जिनके सघन पत्रों के झरोखों से 'दीरघ दृग' प्रीतम की बाट में दौड़ लगा रहे हैं।

भाव और भाषा का ऐसा शुक प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एक स्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रान्त उपल वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है? घन की घहर, भेकी की भहर, झिल्ली की झहर, विजली की बहर, मोर की कहर, समस्त संगीत तुक की एक ही नहर में बहा दिया। और बेचारे औपकायन की बेटी उपमा को तो बाँध ही दिया! - आँख की उपमा? खंजन, मृग, कंज, मीन इत्यादि; होंठों की? किसलय, प्रवाल, लाल, लाख इत्यादि; और इन धुरन्धर साहित्यचार्यों की? शुक, दादुर, ग्रामोफोन इत्यादि। ब्रज भाषा के उन्नत भाल में इन कविवरों की लालसा के साँप, इनकी उपमाओं के शाप-भ्रष्ट नहुष, उसके कोमल वक्ष में इनके अत्याचार के नख क्षत, उसके सुकुमार अंगों में इनकी वासना का, विरहाग्नि का असह्य ताप सदा के लिए बना रहेगा! उसकी उदार छाती पर इन्होंने पहाड़ रख दिया! ऐसा किमाकार रूप उस युग के आदर्श ने ग्रहण किया कि यदि काल ही अगस्त्य की तरह उसका शिखर भू लुण्ठित न कर देता तो उस युग की उच्छृंखलता के विन्ध्य ने, मेरू का स्वरूप धारण करने की चेष्टा में, हमारे 'सूर', 'शशि' की प्रभा को भी पास आने से रोक लिया होता!

इन तीन फुट के नखशिख के संसार से बाहर ये कवि पुंगव नहीं जा सके। हास्य, अद्भुत, भयानक आदि रसों के तो लेखनी को , - नायिका के अंगों को चाटते चाटते, रूप की मिठास से बँध रहे मुँह को खोलने, खखारने के लिए - कभी-कभी कुल्ले मात्र करा दिये हैं। और वीर तथा रौद्र रस की कविता लिखने के समय तो ब्रज भाषा की लेखनी भय के मारे जैसे हकलाने लगती है। दो एक भृषणादि रसावतारों को, जिन्हें मूँछों पर हाथ फिरवा देने का दावा रहा है, जिन्होंने एक लाख रुपये के नोंन की तीव्रता शायद अपनी कविता ही में भर दी, और जिनका हृदय 'सस्सस्सुन धुन' जज्जज्जकि जन, डडुडुरि हिय, 'धद्धद्धड़कत' इत्यादि अनुप्रासों के कम्पज्वर की उच्छृंखल वड़वड़ाहट को सुनकर 'धद्धद्धड़कने' लगा, अपनी वीर गर्भा कविता के कवच में इधर-उधर, कड़ी कड़ियाँ छानवीन कर लगानी पड़ीं।

यह है केवल दिग्दर्शन मात्र, नयन चित्र मात्र। यह अस्वाभाविक नहीं कि उस तीन-चार शताब्दियों के ओर-छोर व्यापी विशाल युग का संक्षिप्त सिंहावलोकन मात्र करने में मुझसे उसके स्वर्ण सिंहासनासीन भारती के पुत्र-रत्नों के अमर सम्मान की यथेष्ट रक्षा न हो सकी हो; पर मेरा उद्देश्य, केवल, ब्रज भाषा के अंलकृत काल के अंतरदेश में अंतर्हित उस काव्यादर्श के वृहत् चुम्बक की ओर इंगित भर कर देने का रहा है, जिसकी ओर आकर्षित होकर उस युग की अधिकांश शक्ति तथा चेष्टाएँ, काव्य का धाराओं के रूप में प्रवाहित हुई है। यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि उस युग की वाणी में जो कुछ सुन्दर, सत्य तथा शाश्वत है उसका जीर्णोद्धार कर, उस पर प्रकाश डाल, तथा उसे हिन्दी प्रेमियों के लिए सुलभ तथा सुगम बना, हमें उसका घर-घर प्रचार करना चाहिए। जो ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, काव्यमर्मज्ञ उस ओर झुके हैं उनके ऋण से हिन्दी कभी मुक्त नही हो सकेगी।

X X X

ब्रज भाषा के उपत्यका में, उसकी स्निग्ध अंचल छाया में, सौंदर्य का काश्मीर भले ही बसाया जा सके, जहाँ चाँदनी के झरने राशि-राशि मोती बिखराते हों, विहग कुल का कलरव द्यावापृथ्वी को स्वर के तारों से गूँथ देता हो, सहस्र रंगों की पुष्प शय्या पर कल्पना का इन्द्रधनुष अर्ध प्रसुप्त पड़ा हो, जहाँ सौंदर्य की वासन्ती नन्दन वन स्वप्न देखती हो, - पर उसका वक्षःस्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्ध; जल स्थल, अनिल, आकाश, ज्योति अंधकार, वन पर्वत, नदी घाटी, नहर खाड़ी, द्वीप उपनिवेश; उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक का प्राकृतिक सौंदर्य, उष्ण शीत प्रधान देशों के वनस्पति वृक्ष, पुष्प-पौधे, पशु-पक्षी; विविध प्रदेशों की जलवायु, आचार व्यवहार- जिसके शब्दों में वात उत्पाद, वहिन-बाढ़, उल्का-भूकम्प सब कुछ समा सके, बाँधा जा सके; जिसके पृष्ठों पर मानव जाति की सभ्यता का उत्थान-पतन वृद्धि-विनाश, आवर्तन-विवर्तन, नूतन-पुरातन सब कुछ चित्रित हो सके; जिसकी अलमारियों में दर्शन, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, राजनीति, समाजनीति, कला-कौशल, कथा-कहानी, काव्य-नाटक सब कुछ सजाया जा सके।

हमें भाषा नहीं, राष्ट्र भाषा की आवश्यकता है; पुस्तकों की नहीं, मनुष्यों की भाषा; जिसमें हम हँसते-रोते, खेलते-कूदते, लड़ते, गले मिलते, साँस लेते और रहते हैं, जो हमारे देश की मानसिक दशा का मुख दिखलाने के लिए आदर्श को सके; जो कालानिल के

ऊँच-नीच, ऋजु-कुंचित, कोमल-कठोर घात-प्रतिघातों की ताल पर विशाल समुद्र की तरह शत-शत स्पष्ट स्वरूपों में तरंगित कल्लोलित हो, आलोड़ित-विलोड़ित हो, हँसती-गरजती, चढ़ती-गिरती, संकुचित प्रसारित होती, हमारे हर्ष-रुदन, विजय पराभव; चीत्कार, किलकार, सन्धि-संग्राम को प्रतिध्वनित कर सके, उसमें स्वर भर सके।

यह अत्यन्त हास्यजनक तथा लज्जास्पद हेत्वाभास है कि हम सोचें एक स्वर में, प्रकट करें उसे दूसरे में; हमारे मन की वाणी मुँह की वाणी न हो; हमारे गद्य का कोप भिन्न, पद्य का भिन्न हो; हमारी आत्मा के सा रे ग म पृथक हों, वाद्ययन्त्र के पृथक्; हमारी भाव तन्त्री तथा शब्द तंत्री के स्वरों में मेल न हो; मूर्धन्य 'ष' की तरह हमारे साहित्य का हृदय, देश की आत्मा, एक कृत्रिम दीवार देकर दो भागों में बाँट दी जाय! हम इस ब्रज की जीर्णशीर्ण छिद्रों से भरी, पुरानी छींट की चोली को नहीं चाहते, इसकी संकीर्ण कारा में बन्दी हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती है, हमारे शरीर का विकास रुक जाता है। हमें यह पुराने फैशन की मिस्सी पसन्द नहीं, जिससे हमारी हँसी की स्वाभाविक उज्ज्वलता रंग जाती, फीकी और मलिन पड़ जाती है। यह बिल्कुल आउट आफ् डेट हो गई है! यह नकाब पहना हुआ हास्यप्रद चेहरों का नाच हमारी सभ्यता के प्रतिकूल है। हमारे विचार अपने ही समय के चरखे में कते-बुने, अपनी ही इच्छा के रंग में रंगे वस्त्र चाहते हैं, चाहे वे मोटे और खुरदुरे ही क्यों न हों, इसी में हमारे वाणिज्य व्यवसाय, कला-कौशल की कुशल की कुशलक्षेम है, कल्याण है। हमारे युग की रम्भा अपने नवीन नूपुर नृत्य के जो मधुर मुखरित अविरत पदचिह्न हमारे देश के वक्षःस्थल पर छोड़ रही है, उन्हें अपने ही हृत्स्पन्दन में प्रतिध्वनित करने के बदले, हम ब्रज के मधुमल के कृत्रिम साँचे में अंकित करना नहीं चाहते। हमें देश काल की उपेक्षा करने वाले, अपने राष्ट्र के भाग्य विधाता के विरुद्ध खड़े झाड़ झंखाड़मय नवीन कुरूप सृष्टि करने वाले इन ब्रज भाषा के महर्षि विश्वामित्रों से सहानुभूति नहीं; इनकी प्राचीन ब्रज भाषा की काशी, हमारे संसार से बाहर, इन्हीं की अहंमन्यता के त्रिशूल पर अटकी रहे, वह हमारा तीर्थ नहीं हो सकती; उसकी अन्धी गलियों में आधुनिक सभ्यता का विशद यान नहीं जा सकता; काल की त्रिवेणी में - जहाँ वर्तमान की उज्ज्वल जाह्नवी तथा भविष्य की अस्पष्ट नीली यमुना का विशाल संगम हैं - भूत की सरस्वती का मिलकर लुप्त हो जाना ही स्वाभाविक है!

खड़ी बोली में चाहे ब्रज भाषा की श्रेष्ठतम इमारतों के होड़ जोड़ की अभी कोई इमारत भले ही न हो, उसके मन्दिरों में वैसी बेल बूटेदार मीनाकारी तथा पच्चीकारी, उसकी गुहाओं में अजन्ता का सा अद्भुत अध्यवसाय, चमत्कार, विविध वर्णों की मैत्री, तथा अपूर्व हस्त-कौशल, उसकी छोटी-मोटी, इस पत्थर के काल की मूर्तियों में, वह सूक्ष्मता, सजधज, निपुणता अथवा परिपूर्णता न मिले; उसमें अभी मानस के से पवित्र घाटों का अभाव हो, - पर उसके राजपथों में जो विस्तार और व्यापकता, भिन्न-भिन्न स्थानों को आने जानेवाले यात्रियों के लिए जो रथ तथा यानों के सुप्रबन्ध की ओर चेष्टा; उसकी हाट-बाट विपणियों में जो वस्तु-वैचित्र्य, वर्ण-वैचित्र्य, विषय तथा विन्यास वैचित्र्य का आयोजन है, देश प्रदेशों के उपभोग्य पदार्थों के विनिमय तथा क्रय-विक्रय को सुलभ करने का जो प्रयत्न किया जा रहा है; उसके पार्कों में जो नवीनता, आधुनिकता, विपुलता, पुष्पों की भिन्न-भिन्न ढाँचों में खिली वर्तुलाकार, आयताकार, मीनाकार, वर्गाकार, रंग-विरंगी क्यारियाँ, सामयिक रुचि की कैंची से कटी-छंटी जो विविध स्वरूपों की झड़ियाँ, गुल्म, वृक्षावलियाँ; नव-नव आकार-प्रकारों में विकसित तथा सिंचित कुंज, लता-भवन और बेलि वितान अभी हैं वे असन्तोषप्रद नहीं; उसमें नये हाथों का प्रयत्न, जीवित साँसों का स्पन्दन, आधुनिक इच्छाओं के अंकुर, वर्तमान के पद-चिह्न, भूत की चेतावनी, भविष्य की आशा, अथच नवीन युग की नवीन सृष्टि का समावेश है। उसमें नये कटाक्ष, नये रोमांच, नये स्वप्न, नया हास, नया रुदन, नया हृत्कम्पन, नवीन वसन्त, नवीन कोकिलाओं का गान हैं!

इन बीस-पच्चीस बरसों के छोटे-से बिते में खड़ी बोली की कविता के मूल देश के हृदय में कितने गहरे चले गये; उसकी शाखा-प्रशाखाएँ चारों ओर फैलकर हमारी खिड़कियों से धीरे-धीरे किस तरह भीतर झाँकने लगी; किस तरह वायु के झोंकों के साथ उसके राशि-राशि पुष्पों की अर्धस्फुट सौरभ हमारे कमरों में समाने, साँसों के साथ हृदय में प्रवेश करने लगी, उसकी सघन हरीतिमा के नीड़ों में छिपे कितने पक्षी, बाल कोकिलाएँ, तरुण पपीहे, तथा प्रौढ़ शुक, सहस्र स्वरों में चहचहाने तथा सुधावर्षण करने लगे, उसके पत्र हिल-हिलकर किस तरह हमारी और संकेत करने लगे, उनकी अस्फुट मर्मर में हमें अपनी विश्वव्यापी उत्थान, पतन, देशव्यापी आशा-निराशा, घट-घटव्यापी हर्ष विषाद की, वर्तमान के मनोवेगों, भविष्य की प्रवृत्तियों की कैसी सहज प्रतिध्वनि मिलने लगी है, यह दिवस की ज्योति से भी स्पष्ट है; इसके लिए दर्पण की आवश्यकता नहीं।

खड़ी बोली आगे की सुवर्णाशा है, उसकी बाल कला में भावी की लोकोज्ज्वल पूर्णिमा छिपी है। वह हमारे भविष्याकाश की स्वर्गंगा है, जिसके अस्पष्ट ज्योतिपुंज में, न जाने, कितने जाज्वल्यमान सूर्य शशि, असख्य ग्रह-उपग्रह अमन्द नक्षत्र तथा अनिन्द्य लावण्य लोक अन्तर्हित हैं! वह समस्त भारत की हृत्कम्पन है, देश की शिरोपशिराओं में नवजीवन संचारिणी संजीवनी है; वह हमारे भगीरथ प्रयत्नों से अर्जित, भारत के भाग्य विधाता की वरदान स्वरूप, विश्व कवि के हृत्कमण्डलु से निःसृत अमृत स्वरों की जाह्नवी है, जिसने सुप्त देश के कर्ण कुहर में प्रवेश कर उसे जगा दिया; जिसकी विशाल धारा में हमारे राष्ट्र का विशद स्वर्णयान, आर्य जाति के गौरव का अभ्रभेदी मस्तूल ऊँचा किये, धर्म और ज्ञान की निर्मल पालों को फहराता हुआ, अपनी सूर्योज्ज्वल आध्यात्मिकता, चन्द्रिकोज्ज्वल कलाकौशल, तथा नीतिविज्ञान की विपुल रत्न राशियों से सुसज्जित, बाधा-बन्धनों की तरंगों को काटता, दिव्य विहंगम

की तरह क्षिप्र वेग से उड़ता हुआ, संसार के विशाल सागर संगम की ओर अग्रसर हो रहा है! उसके चारों ओर शीघ्र ही हमारे धर्म के पुण्य तीर्थ तथा पवित्राश्रम स्थापित हों, हमारी सभ्यता के नवीन नगर तथा पुर केन्द्रित हों!

(ख)

भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है। यह विश्व के हृत्तन्त्री की झंकार है, जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है। विश्व की सभ्यता के विकास तथा ह्रास के साथ वाणी का भी युगपत् विकास तथा ह्रास होता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं की विशेषताएँ, भिन्न-भिन्न जातियों तथा देश की सभ्यताओं की विशेषताएँ हैं। संस्कृत की देव वाणी में जो आध्यात्मिक संगीत की परिपूर्णता है वह संसार की अन्य शब्द-तन्त्रियों में नहीं; और पाश्चात्य साहित्य के विशद यन्त्रालय में जो विज्ञान के कल-पुर्जों की विचित्रता, बारीकी तथा सजधज है, वह हमारे भारती भवन में नहीं।

प्रत्येक युग की विशेषता भी संसार की वाणी पर अपनी छाप छोड़ जाती है। एक नित्य सत्य है, एक अनित्य; अनित्य सत्य के क्षणिक पदचिह्न संसार की सभ्यता के राजपथ पर बदलते जाते; पुराने मिटते, नवीन उसके स्थान पर स्थापित होते रहते हैं। नित्य सत्य उसके शिलालेखों में गहरा अंकित हो जाता है, उसे कालानिल के झोंके नहीं मिटा सकते। प्रत्येक युग इन अखण्डनीय सत्य के अपरिमेय वृत्त का एक छोटा-सा खण्ड मात्र, इस अनन्त सिन्धु की एक स्वल्प तरंग मात्र है, जिसका अपना विशेष स्वरूप, विशेष आकार-प्रकार, विशेष ऊँचाई होती है; जो सद्यःस्वर में सनातन सत्य के एक विशेष विस्तार एवं विशेष अंश को वाणी देता है। वही नाद उस युग के वायुमण्डल में गूँज उठता, उसकी हृत्तन्त्री से नवीन छन्दों तालों में, नवीन रागों-स्वरों में प्रतिध्वनित हो उठता; नवीन युग अपने लिए नवीन वाणी, नवीन जीवन, नवीन रहस्य, नवीन स्पन्दन कम्पन, तथा नवीन साहित्य ले आता, और पुराना जीर्ण पतझड़ इस नवजात वसन्त के लिए बीज तथा खाद स्वरूप बन जाता है। नूतन युग संसार की शब्द तंत्री में नूतन ठाठ जमा देता, उसका विन्यास बदल जाता, नवीन युग की नवीन आकांक्षाओं, क्रियाओं, नवीन इच्छाओं के अनुसार उसकी वीणा से नये गीत, नये छन्द, नये राग, नयी रागिनियाँ, नयी कल्पनाएँ तथा भावनाएँ फूटने लगती हैं।

इस प्रकार भाषा का कुछ परिवर्तनशील अंश उसके लिए खाद्य-सामग्री बन, भारती की नाड़ियों में नवीन रक्त का संचार, हृदय में नवीन स्फूर्ति तथा स्पन्दन पैदा कर, उसके शरीर को सुन्दर, शुद्ध, विकसित तथा पुष्ट बनाता रहता है। यह अचिर अंश हमारे हृद्गत संस्कारों, विचारों, हमारी प्रवृत्तियों, मनोवेगों, हमारी इन्द्रियों तथा दैनिक क्रिया कम्पनों से ऐसा एकाकार हो जाता, इतनी अधिक प्रीति तथा घनिष्ठता स्थापित कर लेता है कि वास्तव में जो अतिविश्वास मात्र है उससे हम अपने को पृथक् नहीं कर सकते, वह हमारा जीवन ही बन जाता, हमारे प्राणों का स्पन्दन उसी की लय में ध्वनित होने लगता, दोनों अभिन्न तथा अभेद्य हो जाते हैं।

हिन्दी के जिन वयोवृद्ध आचार्यों को ब्रज भाषा ही में काव्योचित माधुर्य मिलता हैं, जो खड़ीबोली को काव्य की भाषा का स्थान देने में भी सशंकित रहते हैं, उसका मुख्य कारण उनके यही हृद्गत संस्कार हैं, जिनसें उसकी रुचि का रक्त बन चुका, जो उसके भाव-अनुभावों की स्थूल-सूक्ष्म नाड़ियों में प्रवाहित होकर, उनके आदर्श को अपने रंग में रंग चुके, अपने स्वर में गढ़ चुके हैं। मुझे तो उस तीन-चार सौ वर्षों की वृद्धा के शब्द बिल्कुल रक्त मांसहीन लगते है; जैसे भारती की वीणा की झंकारें बीमार पड़ गयी हों, उसके उपवन के लहलहे फूल मुरझा गये हों; जैसे साहित्याकाश का 'तरणि' ग्रहण लग जाने से निष्प्रभ 'तरनि' बना गया हों। भाषा के 'प्राण' चिरकाल से क्षय रोग से पीड़ित तथा निःशक्त होकर अब 'प्रान' कहे जाने योग्य रह गये हों। 'पत्थर' जैसे ज्वालामुखी के उदर में दग्ध हो जाने से अपने ओजपूर्ण कानों को खोकर, गल, घिसकर 'पाहन' बन गये हों। खड़ीबोली का 'स्थान' मुझे साफ-सुथरा, निवास के उपयुक्त जान पड़ता है; और 'थान' जैसे बहुत दिनों से लिपा-पुता न हो, श्रीहीन, बिछाली बिछा हुआ, ढोरों के रहने योग्य; वैसे ही ब्रजभाषा की क्रियाएँ भी - 'कहत' 'लहत' 'हरहु' 'भरहु' - ऐसी लगती हैं, जैसे शीत या किसी अन्य कारण से मुँह की पेशियाँ ठिठुर गयी हों, अच्छी तरह खुलती न हों, अतः स्पष्ट उच्चारण करते न बनता हो; पर यह सब खड़ीबोली के शब्दों को सुनने, पढ़ने, उनके स्वर में सोचने आदि का अभ्यास पड़ जाने से।

भाषा का, और मुख्यतः कविता की भाषा का, प्राण राग है। राग ही के पंखों की अबाध उन्मुक्त उड़ान में लयमान होकर कविता सान्त को अनन्य से मिलाती है। राग ध्वनि लोक निवासी शब्दों के हृदय में परस्पर स्नेह तथा ममता का संबंध स्थापित करता है। संसार के पृथक्-पृथक् पदार्थ पृथक्-पृथक् ध्वनियों के चित्र मात्र हैं। समस्त ब्रह्माण्ड के रोओं में व्याप्त यही राग, उसकी शिरोपशिराओं में प्रवाहित हो अनेकता में एकता को संचार करता; यही विश्व वीणा के अगणित तारों से जीवन की अँगुलियों के कोमल-कर्कश घात-प्रतिघातों, लघु-गुरु सम्पर्कों, ऊँच-नीच प्रहारों से अनन्त झंकारों असंख्य स्वरों में फूटकर हमारे चारों ओर आनन्दाकाश के स्वरूप में व्याप्त हो जाता; यही संसार के मानस समुद्र में अनेकानेक इच्छाओं, आकांक्षाओं, भावनाओं, कल्पनाओं की तरंगों में प्रतिफलित हो, सौन्दर्य के सौ-सौ स्वरूपों में अभिव्यक्ति पाता है। प्रेम के अक्षय मधु में सने, सृजन के बीजरूप पराग से परिपूर्ण संसार के मानस शतदल के चारों ओर यह चिर असुप्त स्वर्ण भृंग एक अनन्त गुंजार में मँडराता रहता है।

राग का अर्थ आकर्षण है; यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिंचकर हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते है; हमारा हृदय उसके हृदय में प्रवेश कर एक भाव हो जाता है। प्रत्येक शब्द एक संकेत मात्र, इस विश्वव्यापी संगीत की अस्फुट झंकार मात्र है। जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं, ऋणानुबन्ध हैं, उसी प्रकार शब्द भी; ये सब एक विराट् परिवार के प्राणी हैं। इनका आपस का सम्बन्ध, सहानुभूति, अनुराग-विराग जान लेना, कहाँ कब एक की साड़ी का छोर उड़कर दूसरे का हृदय रोमांचित कर देता, कैसे एक ही ईर्ष्या अथवा क्रोध दूसरे का विनाश करता, कैसे फिर दुसरा बदला लेता, कैसे ये गले लगते, बिछुड़ते; कैसे जन्मोत्सव मनाते तथा एक दूसरे मृत्यु से शोकाकुल होते, - इनकी पारस्परिक प्रीति, मैत्री, शुत्रता तथा वैमनस्य का पता लगा लेना क्या आसान है? प्रत्येक शब्द एक-एक कविता हैं; लक्ष और मल द्वीप की तरह कविता भी अपने बनाने वाले शब्दों की कविता को खा-खाकर बनती है।

जिस प्रकार शब्द एक ओर व्याकरण के कठिन नियमों से बद्ध होते, उसी प्रकार दूसरी ओर राग के आकाश में पक्षियों की तरह स्वतन्त्र भी होते है। जहाँ राग की उन्मुक्त स्नेहशीलता तथा व्याकरण की नियमवश्यता में सामंजस्य रहता है, वहाँ कोमल माँ तथा कठोर पिता के घर में लालित-पालित सन्तान की तरह, शब्दों का भरण-पोषण, अंग-विन्यास तथा मनोविकास स्वाभाविक और यथेष्ट रीति से होता है। कौन जानता है, कब कहाँ और किस नदी के किनारे न जाने कौन, एक दिन साँझ या सुबह के समय वायु का सेवन का रहा था; शायद बरसात बीत गयी थी, शरद की निर्मलता कलरव की लहरों में उच्छ्वसित हो, न जाने, किस ओर बह रही थी! अचानक, एक अप्सरा जल से बाहर निकल, मुँह से रेशमी घूंघट हटा, अपने सुनहले पंख फैला, क्षण भर चंचल लहरों की ताल पर मधुर नृत्य कर, अन्तर्धान हो गयी! जैसे उस परिस्फुट यौवना सरिता ने अपने मीन लोचन से कटाक्षपात किया हो! तब मीन आँखों का उपमान भी न बना होगा; न जाने, हर्ष तथा विस्मयातिरेक से किस अज्ञात कवि के हृदय से क्या कुछ निकल पड़ा - 'मत्स्य'! उस कवि का समस्त आनन्द, आश्चर्य, भय, प्रेम, रोमांच तथा सौन्दर्यानुभूति जैसे सहसा 'मत्स्य' शब्द के रूप में प्रतिध्वनित तथा संगृहीत हो साकार बन गयी। अब भी यह शब्द उसी चटुल मछली की तरह पानी में छप्छप् शब्द करता हुआ, एक बार क्षिप्रगति से उछलकर फिर अपनी ही चंचलता में जैसे डूब जाता है। शकुन्तला नाटक के "पश्चार्धेन प्रविष्ट: शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्" मृग की तरह इस शब्द का पूर्वार्ध भी जैसे अपने पश्चार्ध में प्रवेश करना चाहता है!

भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्राय: संगीत-भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते है। 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चंचलता, "भौंहों" से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है। ऐसे ही 'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्ष:स्थल की कोमल कम्पन, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक-दूसरे को धकेलना उठकर गिर पड़ना, 'बढ़ो-बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है, 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूमती हुई हँसमुख लहरियों का, 'ऊर्म्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल-कल्लोल से ऊँची-ऊँची बाँहें उठाती हुई उत्पातपूर्ण तरंगों का आभास मिलता है। 'पंख' शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान के लिए भारी लगता है, जैसे किसी ने पक्षी के पंखों में शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छटपटाकर बार-बार नीचे गिर पड़ता हो, अंग्रेजी का 'विंग' जैसे उड़ान का जीता-जागता चित्र है। उसी तरह 'टच' में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती। 'स्पर्श' जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच हो उठता है, उसका चित्र है, ब्रज भाषा के 'परस' में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है, 'जाय' से जिस प्रकार मुँह भर जाता है, 'हर्ष' से उसी प्रकार आनन्द का विद्युत स्फुरण प्रकट होता है। अंग्रेजी के 'एअर' में एक प्रकार की ट्रांसपेरेन्सी मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखायी पड़ती हो, 'अनिल' से एक प्रकार की कोमल शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छनकर आ रही हो, 'वायु' में निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फ़ीते की तरह खिंचकर फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है, 'प्रभंजन' विंड की तरह शब्द करता, वालू के कण और पत्तों को उड़ाता हुआ बहता है, 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नहीं सकती, 'पवन' शब्द मुझे ऐसा लगता है जैसे हवा रुक गयी हो, 'प' और 'न' की दिवारों से घिर-सा जाता है, 'समीर' लहराता हुआ बहता है।

कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके, शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भावों को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों, जिनका भाव संगीत विद्युत्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके, जिनका सौरभ सूँघते ही साँसों द्वारा अन्दर पैठकर हृदयाकाश में समा जाय, जिनका रस मदिरा की फेन राशि की तरह अपने प्याले से बाहर छलक उसके चारों ओर मोतियों की झालर की तरह झूमने लगे, छत्ते में न समाकर मधु की तरह टपकने लगे; अर्धनिशीथ की तारावली की तरह जिनकी दीपावली अपनी मौन जड़ता के अन्धकार को भेदकर अपने ही भावों की ज्योति में दमक उठे, जिनका प्रत्येक चरण प्रियंगु की डाल की तरह अपने ही सौन्दर्य के स्पर्श से रोमांचित रहे; जापान की द्वीपमालिका की तरह जिनकी छोटी-छोटी पंक्तियाँ अपने अन्तस्तल में सुलगी ज्वालामुखी को दबा न सकने के कारण अनन्त श्वासोच्छ्वासों के भूकम्प में काँपती रहें!

भाव और भाषा का सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र राग है। जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गये हों; निर्झरिणी की तरह उनकी गति और रव एक बन गये हों, छुड़ाये न जा सकते हों; कवि का हृदय जैसे नीड़ में सुप्त पक्षी की तरह किसी अज्ञात स्वर्ण रश्मि के स्पर्श से जग कर, एक अनिर्वचनीय आकुलता से, सहसा अपने स्वर की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता में कूक उठा हो, एक रहस्यपूर्ण संगीत के स्रोत में उमड़ चला हो; अन्तर का उल्लास जैसे अपने फूट पड़ने के स्वभाव से बाध्य होकर, वीणा के तारों की तरह, अपने आप झंकारों में नृत्य करने लगा हो; भावनाओं की तरुणता, अपने ही आवेश से अधीर हो, जैसे शब्दों के चिरालिंगन पाश में बँध जाने के लिए, हृदय के भीतर से अपनी बाँहें बढ़ाने लगी हों; - यही भाव और स्वर का मधुर मिलन, सरस सन्धि है। हृदय के कुंज में छिपी हुई भावना मानो चिरकाल तक प्रतीक्षा करने के बाद अपने प्रियतम से मिली हो, और उसके रोएँ-रोएँ आनन्दोद्रेक से झनझना उठे हों।

जहाँ भाव और भाषा में मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों के 'वटु समुदाय' ही, दादुरों की तरह, इधर-उधर कूदते, फुदकते तथा सामध्वनि करते सुनायी देते हैं। व्रज भाषा के अलंकृत काल की अधिकांश कविता इसका उदाहरण है। अनुप्रासों की ऐसी अराजकता तथा अलंकारों का ऐसा व्यभिचार और कहीं देखने को नहीं मिलता। स्वस्थ वाणी में जो एक सौन्दर्य मिलता है उसका कहीं पता नहीं। उस "मूधे पाँव न धरि सकत शोभा ही के भार" वाली व्रज की वासकसज्जा का सुकुमार शरीर अलंकारों के अस्वाभाविक बोझ से ऐसा दबा दिया गया, उसके कोमल अंगों में कलम की नोक से असंस्कृत रुचि की स्याही का ऐसा गोदना भर दिया गया कि उसका प्राकृतिक रूप रंग कहीं दीख ही नहीं पड़ता; उस बालिका के अस्थिहीन अंग खींच-खाच, तोड़-मरोड़कर, प्रोक्रस्टीज की तरह, किसी प्रकार छन्दों की चारपाई में बाँध दिये, फिट कर दिये गये है! प्रत्येक पद्य, प्यसरस् वाइट अवे लेडलॉ एंड को. के केटेलॉग में दी हुई नर-नारियों की तस्वीरों की तरह, - जिनकी सत्ता संसार में और कहीं नहीं - एक नये फैशन के गौन या पेटीकोट, नयी हैट या अण्डरवियर, नये विन्यास के अलंकार आभूषण अथवा वस्त्रों के नये-नये नमूनों का विज्ञापन देने के लिए ही जैसे बनाया गया हो।

अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं; वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं; पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झंकारें विशेष घटना से टकराकर फेनाकार हो गयी हों, विशेष भावों के झोंके खाकर बाल लहरियों, तरुण तरंगों में फूट गयी हों, कल्पना के विशेष बहाव में पड़ आवर्तों में नृत्य करने लगी हों। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण जड़ता में बँधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।

जिस प्रकार संगीत में सात स्वर तथा उनकी श्रुति मूर्छनाएँ केवल राग की अभिव्यक्ति के लिए होती हैं, और विशेष स्वरों के योग, उनके विशेष प्रकार के आरोह अवरोह से विशेष राग का स्वरूप प्रकट होता है, उसी प्रकार कविता में भी विशेष अलंकारों, लक्षणा व्यंजना आदि विशेष शब्द शक्तियों तथा विशेष छन्दों के सम्मिश्रण और सामंजस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है। जहाँ उपमा उपमा के लिए, अनुप्रास अनुप्रास के लिए श्लेष, अपह्नुति गूढ़ोक्ति आदि अपने-अपने लिए हो जाते - जैसे पक्षी का प्रत्येक पंख यह इच्छा करे कि मैं भी पक्षी की तरह स्वतन्त्र रूप से उड़ूँ वे अभीप्सित स्थान में पहुँचने के मार्ग न रहकर स्वयं अभीप्सित स्थान, अभीप्सित विषय बन जाते हैं; वहाँ बाजे के सब स्वरों के साथ चिल्ला उठने से राग का स्वरूप अपने ही तत्त्वों के प्रलय में लुप्त हो जाता है; काव्य के साम्राज्य में अराजकता पैदा हो जाती है, कविता सम्राज्ञी हृदय के सिंहासन मे उतार दी जाती और उपमा, अनुप्रास, यमक, रूपक आदि उसके अमात्य, सचिव, शरीर रक्षक तथा राजकर्मचारी, शब्दों की छोटी मोटी सेनाएँ संगृहीत कर, स्वयं शासक बनने की चेष्टा में विद्रोह खड़ा कर देते है, और सारा साम्राज्य नष्ट भ्रष्ट हो जाता है।

कविता में शब्द तथा अर्थ की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, वे दोनों भाव की अभिव्यक्ति में डूब जाते हैं, तब भिन्न भिन्न आकारों में कटी छँटी शब्दों की शिलाओं का अस्तित्व ही नहीं मिलता, राग के लेप से उनकी सन्धियाँ एकाकार हो जाती हैं; उनका रूप भाव के वृहत्स्वरूप में बदल जाता, किसी के कुशल करों का, मायावी स्पर्श उनकी निर्जीवता में जीवन फूँक देता, वे अहल्या की तरह शापमुक्त हो जग उठते, हम उन्हें पाषाण खण्डों का समुदाय न कह, ताजमहल कहने लगते, वाक्य न कह, काव्य कहने लगते हैं। जिस प्रकार संगीत में भिन्न भिन्न स्वर राग की लय में ऐसे मिल जाते है कि हम उन्हें पृथक् नहीं कर सकते, यहाँ तक कि उनके होने न होने की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता, हम केवल राग के सिन्धु में डूब जाते हैं, उसी प्रकार कविता में भी शब्दों के भिन्न भिन्न कण एक होकर रस की धारा के स्वरूप में बहने लगते, उनकी लँगड़ाहट में गति आ जाती, हम केवल रस की धारा को ही देख पाते हैं, कणों का हमें अस्तित्व ही नहीं मिलता।

जिस प्रकार किसी प्राकृतिक दृश्य में, उसके रंग विरंगे पुष्पों, लाल हरे पीले, छोटे बड़े तृण गुल्म लताओं, ऊँची नीची सघन विरल वृक्षावलियों, झाड़ियों, छाया ज्योति की रेखाओं, तथा पशु पक्षियों की प्रचुर ध्वनियों का सौन्दर्य रहस्य उनके एकान्त सम्मिश्रण पर ही निर्भर रहता, और उनमें से किसी मैत्री अथवा सम्पूर्णता में अलग कर देने पर वह अपना इन्द्रजाल खो बैठता है, उसी प्रकार

काव्य के शब्द भी परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण, एक-दूसरे के बल से सशक्त रहते, अपनी, संकीर्णता की झिल्ली तोड़, तितली की तरह, भाव तथा राग के रंगीन पंखों में उड़ने लगते, और अपनी डाल से पृथक् होते ही, शिविर की बूँद की तरह, अपना अमूल्य मोती गँवा बैठते हैं।

ब्रज भाषा के अलंकृत काल में संगीत के आदर्श का जो अध:पात हुआ, उसका एक मुख्य कारण तत्कालीन कवियों के छन्दों का चुनाव भी है। कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है; कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते, - जिनके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियमित साँसें नियन्त्रित हो जातीं, तालयुक्त हो जातीं, उसके स्वर में प्राणायाम, रोओं में स्फूर्ति आ जाती, राग की असम्बद्ध झंकारें एक वृत्त में बँध जातीं, उनमें परिपूर्णता आ जाती है। छन्दबद्ध शब्द, चुम्बक के पार्श्ववर्ती लोहचूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण क्षेत्र (मेग्नेटिक फ़ील्ड) तैयार कर लेते, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता, उनमें राग की विद्युत्धारा बहने लगती, उनके स्वर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।

कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है; अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा ज़ीवन छन्द ही में बहने लगता; उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है। प्रकृति के प्रत्येक कार्य, रात्रि दिवस की आँखमिचौनी, षड्ऋतु परिवर्तन, सूर्य शशि का जागरण शयन, ग्रह-उपग्रहों का अश्रान्त नर्तन, - सृजन, स्थिति, संहार, सब एक अनन्त छन्द, एक अखण्ड संगीत ही में होता है।

भौगोलिक स्थिति, शीत ताप, जलवायु, सभ्यता आदि के भेद के कारण संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओं के उच्चारण संगीत में भी विभिन्नता आ जाती है। छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके संगीत के साथ घनिष्ठ संबंध है। संस्कृत का संगीत समास सन्धि की अधिकता, शब्द और विभक्तियों की अभिन्नता के कारण शंखलाकार, मेखलाकार हो गया है, उसमें दीर्घ श्वास की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द एक-दूसरे का हाथ पकड़, कन्धे से कन्धा मिलाकर मालाकार घूमते, एक के बिना जैसे दूसरा रह नहीं सकता, एक शब्द का उच्चारण करते ही सारा वाक्य मुँह से स्वयं बाहर निकल आना चाहता, एक कोना पकड़कर हिला देने से सारा चरण जंजीर की तरह हिलने लगता है। शब्दों की इस अभिन्न मैत्री, इस अन्योन्याश्रय ही के कारण संस्कृत में वर्णवृत्तों का प्रादुर्भाव हुआ, उसका राग ऐसा सान्द्र तथा सम्बद्ध है कि संस्कृत के छन्दों में अन्त्यानुप्रास की आवश्यकता ही नहीं रहती, उसके लिए स्थान ही नहीं मिलता। वर्णिक छन्दों में जो एक नृपोचित-गरिमा मिलती है, वह 'तुक' के संकेतों तथा नियमों के अधीन होकर चलना अस्वीकार करती है; वह ऐरावत की तरह अपने ही गौरव में झूमती हुई जाती, तुक का अंकुश उसकी मान-मर्यादा के प्रतिकूल है। जिस प्रकार संस्कृत के संगीत की गरिमा की रक्षा करने के लिए, उसे पूर्ण विकास देने के लिए, उसमें वर्णवृत्तों की आवश्यकता पड़ी, उसी प्रकार वर्णवृत्तों के कारण संस्कृत में अधिकाधिक पर्यायवाची शब्दों की। उसमें पर्यायों की तो प्रचुरता है, पर भावों के छोटे-बड़े चढ़ाव-उतार, उनकी श्रुति तथा मूर्च्छानाओं, लघु-गुरु भेदों को प्रकट करने के लिए पर्याप्त शब्दों का प्रादुर्भाव नहीं हो सका। वर्णवृत्तों के निर्माण को विशेषणों तथा पर्यायों से अधिक सहायता मिलने के कारण उपर्युक्त अभाव विशेषणों की मीड़ों से ही पूरा कर लिया गया। यही कारण है कि रिपल, बिलो, वेव, टाइड आदि वस्तु के सूक्ष्म भेदोपभेद द्योतक शब्दों को गढ़ने की ओर संस्कृत के कवियो का उतना ध्यान नहीं रहा, जितना तुल्यार्थ शब्दों को बढ़ाने की ओर।

संस्कृत का संगीत जिस तरह हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नहीं। वह लोल लहरों का चंचल कलरव, बाल झंकारों को छेकानुप्रास है। इसमें प्रत्येक शब्द का स्वतन्त्र हृत्स्पन्दन, स्वतन्त्र अंगभंगी, स्वाभाविक साँसें हैं। हिन्दी का संगीत स्वरों की रिमझिम में बरसता, छनता-छनकता, बुद्बुदों में उबलता, छोटे-छोटे उत्सों के कलरव में उछलता-किलकता हुआ बहता है। उसके शब्द एक-दूसरे के गले पड़कर, पगों से पग मिलाकर, सेनाकार नहीं चलते; बच्चों की तरह अपनी ही स्वच्छन्दता में थिरकते-कूदते हैं। यही कारण है कि संस्कृत में संयुक्ताक्षर के पूर्व अक्षर को गुरु मानना आवश्यक-सा हो जाता, वह अच्छा भी लगता है; हिन्दी में ऐसा नियम नहीं और कर्ण कटु भी हो जाता है।

हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्हीं के द्वारा उसमें सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। वर्णवृत्तों की नहरों में उसकी धारा अपना चंचल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कल् कल् छल् छल् तथा अपने क्रीड़ा, कौतुक, कटाक्ष एक साथ ही खो बैठती, उसकी हास्य दृप्त सरल मुखमुद्रा गम्भीर मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ़ हो जाती, उसका चंचल भृकुटि भंग दिखलावटी गरिमा से दब जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि उसके चंचल पदों से स्वाभाविक नृत्य छीनकर किसी ने, बलपूर्वक, उन्हें सिपाहियों की तरह गिनगिनकर पाँव उठाना सिखलाकर, उसकी चंचलता को पदचालन के व्यायाम की बेड़ी से बाँध दिया है। हिन्दी का संगीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पद क्षेप के लिए वर्णवृत्त पुराने

फैशन के चाँदी के कड़ों की तरह बड़े भारी हो जाते हैं, उसकी गति शिथिल तथा विकृत हो जाती, उसके पदों में वह स्वाभाविक नूपुर ध्वनि रहती है।

बंगला के छन्द भी हिन्दी कविता के लिए सम्यक् वाहन नहीं हो सकते, बंगला भाषा का संगीत आलाप प्रधान होने से अनियन्त्रित सा है। उसकी धारा पहाड़ी नदी की तरह ओठों के तटों से टकराती, ऋतु कुंचित चक्कर काटती, मन्द-क्षिप्र गति बदलती, स्वरपात के रोड़ों का आघात पाकर फेनाकार शब्द करती, अपनी शब्द राशि को झकोरती, धकेलती, चढ़ती, गिरती, उठती, पड़ती हुई आगे बढ़ती है। उसके अक्षर हिन्दी की रीति को ह्रस्व दीर्घ के पलड़ों में सूक्ष्म रूप से नहीं तुले मिलते, उनका मात्रा काल उच्चारण की सुविधानुसार न्यूनाधिक होता जाता है। अंग्रेजी की तरह बंगला में भी स्वरपात (एक्सेंट) अधिक परिस्फुट रूप में मिलता है। यदि अंग्रेजी तथा बंगला के शब्द हिन्दी के छन्दों में कम्पोज कर कस दिये जाएँ, तो वे अपना स्वर खो बैठें। संस्कृत के शब्द जैसे नपे-तुले, कटे-छँटे, (डायमण्ड कट के) होते हैं वैसे बंगला और अंग्रेजी के नहीं, वे जैसे लिखे जाते वैसे नहीं पढ़े जाते। बंगला के शब्द, उच्चारण की धारा में पड़, स्पंज के टुकडे की तरह स्वर से फूल उठते, और अंग्रेजी के शब्दों का कुछ नुकीला भाग, उच्चारण करते समय, विलायती मिठाई की तरह, मुँह के भीतर ही गलकर रह जाता, वे चिकने चुपड़े, गोल तथा कोमल होकर बाहर निकलते हैं।

बंगला में, अधिकतर, अक्षर मात्रिक छन्दों में कविता की जाती है। पुराने वैष्णव कवियों के अतिरिक्त- जिन्होंने संस्कृत और हिन्दी के ह्रस्व-दीर्घ का ढंग अपनाया, - अन्यत्र, ह्रस्व-दीर्घ के नियमों पर बहुत कम कविता मिलती है; इस प्रणाली पर चलने से बंगला का स्वाभाविक संगीत विनष्ट भी हो जाता, रावीन्द्रिक ह्रस्व दीर्घ में बंगला का प्रकृतिगत राग अधिक प्रस्फुटित तथा परिपूर्ण मिलता है; उसके अनुसार 'ऐ' 'औ' तथा संयुक्ताक्षर के पूर्व वर्ण को छोड़कर और सर्वत्र - आ, इ, ऊ, ए ओ में - एक ही मात्राकाल माना जाता; और वास्तव में बंगला में इनका ठीक-ठीक दीर्घ उच्चारण भी नहीं। पर हिन्दी में तो सोने की तोल है, उसमें आप रत्ती भी किसी मात्रा को, उच्चारण की सुविधा के लिए घटा-बढ़ा नहीं सकते, उसकी आवश्कता ही नहीं पड़ती, इसलिए बंगला छन्दों की प्रणालियों में ढालने से उसके संगीत की रक्षा नहीं हो सकती।

ब्रज भाषा के अलंकृत काल में 'सवैया' और 'कवित्त' का ही बोलवाला रहा, दोहा, चौपाई महात्मा तुलसीदास जी ने इतने ऊँचे उठा दिये, ऐसे चमका दिये, तुलसी की प्रगाढ़ भक्ति के उद्गारों को बहाते-बहाते उनका स्वर ऐसा सध गया, ऐसा उज्ज्वल, पवित्र तथा परिणत हो गया था कि एक दो को छोड़, अन्य कवियों को उन पवित्र स्वरों को अपनी शृंगार की तन्त्री में चढ़ाने का साहस ही नहीं हुआ, उनकी लेखनी द्वारा वे अधिक परिपूर्ण रूप पा भी नहीं सकते थी। इसके अतिरिक्त सवैया तथा कवित छन्दों में रचना करना आसान भी होता है, और सभी कवि सभी छन्दों में सफलतापूर्वक रचना कर भी नहीं सकते। छन्दों को अपनी अँगुलियों में नचाने के पूर्व कवि को छन्दों के संकेतों पर नाचना, पड़ता है; सरकस के नवीन अदम्य अश्वों की तरह उन्हें साधना उनके साथ-साथ घूमना, दौड़ना, चक्कर खाना पड़ता है; तब कहीं वे स्वेच्छानुसार, इंगित मात्र पर वर्तुलाकार, अण्डाकार, आयताकार नचाये जा सकते हैं। जिस प्रकार सा रे ग म आदि स्वर एक होने पर भी पृथक्-पृथक् वाद्ययन्त्रों में उनकी पृथक्-पृथक् रीति से साधना करनी पड़ती है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न छन्दों के तारों, परदों तथा तन्तुओं से भावनाओं का राग जाग्रत करने के पूर्व भिन्न-भिन्न प्रकार से निहित प्रत्येक की स्वर योजना से परिचय प्राप्त कर लेना पड़ता है, तभी छन्दों की तन्त्रियों से कल्पना की सूक्ष्मता, सुकुमारता, उसके बोल तान, आलाप, भावना की मुरकियाँ तथा मीड़ें स्वच्छन्दता तथा सफलतापूर्वक झंकारित की जा सकती हैं। प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक कवि के अपने विशेष छन्द होते हैं जिनमें उसकी छाप सी लग जाती है, जिनके ताने बाने में वह अपने उद्गारों को कुशलतापूर्वक बुन सकता है। खड़ीबोली के कवियों में गुप्तजी को हरिगीतिका, हरिऔध जी को चौपदों, सनेहीं जी को घट्पदियों में विशेष सफलता प्राप्त हुई है।

पिंगलाचार्य केशवदास जी अपनी रामचेन्द्रिका को जिन-जिन ड्योढ़ियों तथा सुरंगों से ले गये हैं, उनमें अधिकांश उनसे अपरिचित सी जान पड़ती हैं, जिनके रहस्यों से वे पूर्णतया अभिज्ञ न थे। ऐसा जान पड़ता है, उन्होंने बलपूर्वक शब्दों की भीड़ को ठेल, छन्दों के कन्धे पिचकाकर अपनी कविता की पालकी को आगे बढ़ाया है, नौसिखिये साइकिलिस्ट की तरह, जिसे साइकिल पर चढ़ने का अधिक शौक होता है, उनके छन्दों के पहिये, बैलेन्स ठीक-ठीक न रहने के कारण, डगमगाते, आवश्यकता से अधिक हिलते-डुलते हुए जाते हैं।

सवैया तथा कवित्त छन्द भी मुझे हिन्दी की कविता के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते। सवैया में एक ही संगण की आठ वार पुनरावृत्ति होने से, उसमें एक प्रकार की जड़ता, एकस्वरता (मोनोटनी) आ जाती है। उसके राग को स्वरपात वार-वार दो लघु अक्षरों के बाद आने वाले गुरु अक्षर पर पड़ने से सारा छन्द एक तरह की कृत्रिमता तथा राग की पुनरुक्ति से जकड़ जाता है। कविता की लड़ी में, छन्द की डोरी पर दानों के बीच दी हुई स्वरों की गाँठें तो बड़ी-बड़ी होकर सामने आ जाती हैं, और भावद्योतक शब्दों की गुरियाँ छोटी पड़, उन गाँठों के बीच छिप जाती हैं। चूने के पक्के किनारों के बीच बहती हुई धारा की तरह, रस की स्रोतस्विनी से, अपने वेगानुसार तटों में स्वाभाविक काट-छाँट करने का अधिकार छीन लिया जाता है; अपने पुष्प गुल्म लताओं के कोमल

पुलिनों से चुम्बन-आलिंगन बदलने, प्रवाह के बीच पड़े हुए रंग-बिरंगे रोड़ों से फेनिल हास-परिहास करने, क्षिप्र आवर्तों के रूप में भ्रूपात करने का उसे अवसर ही नहीं मिलता, वह अपने जीवन की विचित्रता (रोमांस), स्वतन्त्रता तथा स्वच्छन्दता खो बैठती है।

कवित्त छन्द, मुझे ऐसा जाना पड़ता है, हिन्दी का औरसजात नहीं, पोष्य-पुत्र है; न जाने, यह हिन्दी में कैसे और कहाँ से आ गया, अक्षर मात्रिक छन्द बंगला में मिलते हैं, हिन्दी के उच्चारण संगीत की ये रक्षा नहीं कर सकते; कवित को हम संलापोचित (कलोकियल) छन्द कह सकते हैं; सम्भव है, पुराने समय में भाट लोग इस छन्द में राजा-महाराजाओं की प्रशंसा करते हो, और इसमें रचना सौकर्य पाकर, तत्कालीन कवियों ने धीरे-धीरे इसे साहित्यिक बना दिया हो।

हिन्दी का स्वाभाविक संगीत ह्रस्व दीर्घ मात्राओं को स्पष्टतया उच्चारित करने के लिए पूरा-पूरा समय देता है। मात्रिक छन्द में बद्ध प्रत्येक लघु-गुरु अक्षर को उच्चारण करने में जितना काल तथा विस्तार मिलता, उतना ही स्वाभाविक वार्तालाप में भी साधारणत: मिलता है, दोनों में अधिक अन्तर नहीं रहता। यही हिन्दी के राग की सुन्दरता अथवा विशेषता है। पर कवित्त छन्द हिन्दी के इस स्वर और लिपि के सामंजस्य को छीन लेता है। उसमें, यति के नियमों के पालनपूर्वक, चाहे आप इकत्तीस गुरु अक्षर रख दें, चाहे लघु, एक ही बात है, छन्द की रचना में अन्तर नहीं आता। इसका कारण यह है कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा काल मिलता है, जिससे छन्दबद्ध शब्द एक-दूसरे को झकोरते हुए, परस्पर टकराते हुए, उच्चारित होते हैं; हिन्दी का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता है। सारी शब्दावली जैसे मद्यपान को लड़खड़ाती हुई, अड़ती, खिंचती, एक उत्तेजित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है। कवित्त छन्द के किसी चरण के अधिकांश शब्दों को किसी प्रकार मात्रिक छन्द में बाँध दीजिए, यथा-

"कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में क्यारिन में कलित कलीन किलकन्त है" - इस लड़ी को यों सोलह मात्रा के छन्द में रख दीजिए --

"सु-कूलन में केलिन में (और)
कछारन कुंजन में (सब ठौर)
कलित क्यारिन में (कल) किलकन्त
वनन में बगर्‌यो (विपुल) वसन्त।"

अब दोनों को पढ़िए और देखिए कि उन्ही 'कूलन केलिन' आदि शब्दों का उच्चारण संगीत इन दोनों छन्दों में किस प्रकार भिन्न-भिन्न हो जाता है; कवित्त में परकीय, मात्रिक छन्द में स्वकीय, हिन्दी का अपना, उच्चारण मिलता है।

इन अनियन्त्रित छन्द में नायक-नायिकाओं तथा अलंकारों का विज्ञापन मात्र देने में केवल स्याही का ही अधिक अपव्यय नहीं हुआ, तत्कालीन कविता का राग भी शब्द-प्रधान हो गया। वाणी के स्वाभाविक स्वर और संगीत का विकास तो रुक गया, उनकी पूर्ति अनुप्रासों तथा अलंकारों की अधिकता से करनी पड़ी। कवित्त छन्द में जब तक अलंकारों की भरमार न हो तब तक वह सजता भी नहीं; अपनी कुलवधू की तरह दो एक नये आभूषण उपहार पाकर ही वह प्रसन्नता से प्रदीप्त नहीं हो उठता, गणिका की तरह अनेकानेक वस्त्र भूषण ऐंठ लेने पर ही कहीं अपने साथ रसालाप करने देता है।

इसका कारण यह है कि काव्य संगीत के मूल तन्तु स्वर हैं, न कि व्यंजन; जिस प्रकार सितार में राग का रूप प्रकट करने के लिए केवल 'स्वर के तार' पर ही कर संचालन किया जाता और शेष तार केवल स्वर-पूर्ति के लिए, मुख्य तार को सहायता देने भर के लिए झंकारित किये जाते, उसी प्रकार कविता में भी भावना को रूप स्वरों के सम्मिश्रण, उनकी यथोचित मैत्री पर ही निर्भर रहता है; ध्वनि चित्रण को छोड़कर (जिसमें राग व्यंजन प्रधान रहता, यथा - "घन घमण्ड नभ गरजत घोरा") अन्यत्र व्यंजन संगीत भावना की अभिव्यक्ति को प्रस्फुटित करने में प्राय: गौण रूप से सहायता मात्र करता है। जिस छन्द में स्वर-संगीत की रक्षा की जा सकती, उसके संकोच प्रसार को यथावकाश दिया जा सकता है, उसमें राग का स्वाभाविक स्फुरण, भाव तथा वाणी का सामंजस्य पूर्ण रूप से मिलता है; जहाँ राग केवल व्यंजनों की डोरियों में झूलता, वहाँ अलंकारों की झलक के साथ केवल 'हिंडोरे' की ही रमक सुनायी पड़ती है। कवित्त का राग व्यंजनप्रधान है, उसमें स्वर अथवा मात्राओं के विकास के लिए अवकाश नहीं मिलता। नीचे कुछ उदाहरण देकर इसे स्पष्ट करूँगा -

"इन्द्रधनु सा आशा का छोर
अनिल में अटका कभी अछोर"

इस मात्रिक छन्द में 'सा आशा का' इन चार वर्णों में 'अ' का प्रस्तार आशा के छोर को फैलाकर इन्द्रधनुष की तरह अनिल में अछोर अटका देता है, द्वितीय चरण में 'अ' की पुनरावृत्ति भी कल्पना को इस काम में सहायता देती है; उसी प्रकार,

"कभी अचानक भूतों का सा
प्रकटा विकट महा आकार"

इन चरणों में स्वर के प्रसार द्वारा ही भूतों का महा आकार प्रकट होता है, 'क', 'ट' आदि व्यंजनों की आवृत्ति उसे भीषण बनाने में सहायता मात्र देती है, पुनः

"हमें उड़ा ले जाता जब द्रुत
दल बल युत घुस वातुल चोर"

इसमें लघु अक्षरों क आवृत्ति ही वातुल चोर के दल बल युत घूमने के लिए मार्ग बनाती है। यदि आप उपर्युक्त चरणों में किसी एक को कवित्त छन्द में बाँधकर पढें, यथा -

"इन्द्रधनु सा आशा का छोर
अनिल में अटका कभी अछोर"

इसे,

"इन्द्रधनु सा आशा का छोर अटका अछोर
अनिल में, (अनिल के अंचल आकाश में)"

इस प्रकार रखकर पढें, तो प्रत्येक अक्षर की कड़ी अलग-अलग हो जाने, तथा स्वरों का प्रस्तार रुक जाने के कारण, राग के आकाश में कल्पना का अछोर इन्द्रधनुष नहीं बनने पाता। उसी प्रकार - "अरी सलिल की लोल हिलोर" इस पद में 'ई' और 'ओ' की आवृत्ति जिस प्रकार 'हिलोर' को गिराती और उठाती तथा "पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश" इस चरण में लघु मात्राओं का समुदाय अथवा स्वरों का संकोच, गिलहरी की तरह दौड़कर, जिस प्रकार प्रकृति के वेश को पल-पल परिवर्तित कर देता, कवित्त छन्द की प्रेसिंग मशीन में कस जाने पर उपर्युक्त वाक्यों के पंख उस प्रकार स्वच्छन्दतापूर्वक स्वराकाश में नहीं उड़ सकते; क्योंकि वह छन्द हिन्दी के उच्चारण संगीत के अनुकूल नहीं है।

कविता विश्व का अन्तरतम संगीत है, उसके आनन्द का रोमहास है; उसमें हमारी सूक्ष्मतम दृष्टि का मर्म प्रकाश है। जिस प्रकार कविता में भावों का अन्तरस्थ हृत्स्पन्दन अधिक गम्भीर, परिस्फुट तथा परिपक्व रहता है उसी प्रकार छन्दबद्ध भाषा में भी राग का प्रभाव, उसकी शक्ति, अधिक जाग्रत, प्रबल तथा परिपूर्ण रहती है। राग ध्वनि लोक की कल्पना है। जो कार्य भाव जगत् में कल्पना करती, वह कार्य शब्द जगत् में राग; दोनों अभिन्न हैं। यदि किसी भाषा के छन्दों में, भारती के प्राणों में शक्ति तथा स्फूर्ति संचार करने वाले उनके संगीत को, अपनी उन्मुक्त झंकारों के पंखों में उड़ने के लिए प्रशस्त क्षेत्र तथा विशदाकाश न मिलता हो, वह पिंजरों बद्ध कीर की तरह छन्द के अस्वाभाविक बन्धनों से कुण्ठित हो, उड़ने की चेष्टा में छटपटाकर गिर पड़ता हो, तो उस भाषा में छन्दबद्ध काव्य का प्रयोजन ही क्या? प्रत्येक भाषा के छन्द उसके उच्चारण संगीत के अनुकूल होने चाहिए। जिस प्रकार पतंग डोर के लघु-गुरु संकेतों की सहायता से और भी ऊँची-ऊँची उड़ती जाती है, उसी प्रकार कविता का राग भी छन्द के इंगितों से दृप्त तथा प्रभावित होकर अपनी ही उन्मुक्ति में अनन्त की ओर अग्रसर होता जाता है। हमारे साधारण वार्तालाप में भाषा संगीत को जो यथेष्ट क्षेत्र नहीं प्राप्त होता, उसी की पूर्ति के लिए काव्य में छन्दों का प्रादुर्भाव हुआ है। कविता में भावों के प्रगाढ़ संगीत के साथ भाषा का संगीत भी पूर्ण परिस्फुट होना चाहिए तभी दोनों में सन्तुलन रह सकता है। पद्य को हम गद्य की तरह नहीं पढ़ते, यदि ऐसा करें तो हम उसके साथ अन्याय ही करेंगे। पद्य में वाणी का रोआँ-रोआँ संगीत में सनकर, रस में डूबे हुए किशमिश की तरह, फूल उठता है; सुरों में सधी हुई वीणा की तरह उसके तार, किसी अज्ञात वायवीय स्पर्श से, अपने आप, अनवरत झंकारों में काँपते रहते हैं; पावस की अँधियारी में जुगुनुओं की तरह अपनी ही गति में प्रभा प्रसारित करते रहते हैं।

अब कुछ तुक की बातें होनी चाहिए। तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पन्दन विशेष रूप से सुनायी पड़ता है। राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियाँ मानों अन्त्यानुप्रास के नाड़ी-चक्र में केन्द्रित रहतीं, जहाँ से नवीन बल तथा शुद्ध रक्त ग्रहण कर वे छन्द के शरीर में स्फूर्ति संचार करती रहती हैं। जो स्थान ताल तरल में 'सम' का है, वही स्थान छन्द में तुक का, वहाँ पर राग शब्दों के सरल तरल ऋजुकुंजित 'परनों' में घूम-फिरकर विराम ग्रहण करता, उसका सिर जैसे अपनी ही स्पष्टता में हिल उठता है। जिस प्रकार अपने अवरोह में राग संवादी स्वर पर बार-बार ठहरकर अपना रूप विशेष व्यक्त करता है, उसी प्रकार वाणी का राग भी तुक की पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा परिपुष्ट होकर लययुक्त हो जाता है। तुक उसी छन्द में अच्छा लगता है जो पद विशेष में गुँथी हुई भावना का आधार स्वरूप हो। प्रत्येक वाक्य के प्राण शब्द-विशेष पर निहित अथवा अवलम्बित रहते हैं, शेष शब्द

उसकी पूर्ति के लिए, भाव को स्पष्ट करने के लिए, सहायक मात्र होते हैं। उस शब्द को हटा देने से सारा वाक्य अर्थशून्य, हृदयहीन-सा हो जाता है। वाक्य की डाल में, अपने अन्य सहचरों की हरीतिमा से सुसज्जित, यह शब्द नीड़ की तरह छिपा रहता है जिसके भीतर से भावना की कोकिला बोल उठती, और वाक्य का प्रत्येक पत्र उसके राग को अपनी मर्मर ध्वनि में प्रतिध्वनित कर परिपुष्ट करता है; इसी शब्द सम्राट के भाल पर तुक का मुकुट शोभा देता है। इसका कारण यह है कि अन्त्यानुप्रास वाला शब्द राग की आवृत्ति से सशक्त होकर हमारा ध्यान आकर्षित करता रहता है, अत: वाक्य का प्रधान शब्द होने के कारण वह भाव को हृदयंगम कराने में भी सहायता देता है।

हमें अपनी दिनचर्या में भी, प्राय: एक प्रकार का तुक मिलता है, जो उसे संयमित तथा सीमाबद्ध रखता; जिसकी ओर की छोटी-मोटी कार्यकारिणी शक्तियाँ आकर्षित रहती हैं। जब हम उस सीमा को असावधानी के कारण उल्लंघन कर बैठते हैं, तब हमारे कार्य हमें तृप्ति नहीं देते; हमारे हृदय में एक प्रकार का असन्तोष जमा हो जाता; हम अपनी दिनचर्या का केन्द्र खो बैठते, और स्वयं अपनी ही आँखों में बेतुके-से लगते हैं। एक और कारण से भी हम अपने जीवन का तुक खो बैठते हैं - जब हम अधिक कार्य व्यग्र अथवा भाराक्रान्त रहते, उस समय काम-काज का ऐसा ताप, क्रिया का ऐसा स्पन्दन कम्पन रहता है कि हमें अपनी स्वाभाविक दिनचर्या में बरते जाने वाले व्यवहार के लिए, जीवन के स्वतन्त्र क्षणों में प्रत्येक कार्य के साथ जो एक आनन्द की सृष्टि मिल जाती, उसके लिए, अवकाश ही नहीं मिलता, हमारे कार्य-प्रवाह में तीव्र गति रहती, हमारा जीवन का एक अश्रान्त दौड़-सा, कुछ समय के लिए बन जाता है। यही ब्लैंक वर्स अथवा अतुकान्त कविता है। इसमें कर्म (एक्शन) का प्राधान्य रहता है, दिन की उज्ज्वल ज्योति में काम का अधिक प्रकाश रहता है, उनमें हमें तुक नहीं मिलता; प्रभात और सन्ध्या के अवकाशपूर्ण घाटों पर हमें इस तुक के दर्शन मिलते हैं, प्रत्येक पदार्थ में एक सोने की भावपूर्ण, शान्त, संगीतमय छाप-सी लग जाती, यही गीति-काव्य है।

हिन्दी में रोला छन्द अन्त्यानुप्रासहीन कविता के लिए विशेष उपयुक्त जान पड़ता है, उसकी सांसों में प्रशस्त जीवन तथा स्पन्दन मिलता है। उसके तुरही के समान स्वर से निर्जीव शब्द भी फड़क उठते हैं। ऐसा जान पड़ता है, उसके राजपथ में मेला लगा है, प्रत्येक शब्द 'प्रवाल शोभा इव पादपानां" के संकेत तथा चेष्टाएँ करता, हिलता-डुलता आगे बढ़ता है।

भिन्न-भिन्न छन्दों की भिन्न-भिन्न गति होती, और तदनुसार वे रस-विशेष की सृष्टि करने में भी सहायता देते हैं। रघुवंश में 'अज विलाप' का बैतालीय छन्द करुण रस की अवतारणा के लिए कितना उपयुक्त है? उसके स्वर में कितनी कातरता, दीनता तथा व्याकुलता भरी है? जैसे अधिक उद्वेग के कारण उसका कण्ठ गद्‌गद हो गया हो, भर गया हो। यदि विहाग राग की तरह उस छन्द का चित्र भी कहीं होता तो उसकी आँखों में अवश्य आँसुओं का समुद्र उमड़ता हुआ मिलता। मालिनी छन्द में भी करुण आह्वान अच्छा लगता है।

हिन्दी के प्रचलित छन्दों में पीयूष वर्षण, रूपमाला, सखी और प्लवंगम छन्द करुणा रस के लिए मुझे विशेष उपयुक्त लगते हैं। पीयूष वर्षण की ध्वनि से कैसी उदासीनता टपकती है? मरुभूमि में बहने वाली निर्जन तटिनी की तरह, जिसके किनारे पत्र पुष्पों के शृंगार से विहीन, जिसकी धारा लहरों के चंचल कलरव तथा हास-परिहास से वंचित रहती, यह छन्द भी, वैधव्य वेश में, अकेलेपन में सिसकता हुआ, श्रान्त जिह्वा गति से, अपने ही अश्रुजल से सिक्त धीरे-धीरे बहता है। हरिगीतिका छन्द भी करुण रस के लिए अच्छा है।

रोला और रूपमाला दोनों छन्द चौबीस मात्रा के हैं; पर इन दोनों की गति में कितना अन्तर है? रोला जहाँ बरसाती नाले की तरह अपने पथ की रुकावटों का लाँघता तथा कलनाद करता हुआ आगे बढ़ता है, वहाँ रूपमाला दिनभर के काम-धन्धे के बाद अपनी ही थकावट के बोझ से लदे हुए किसान की तरह, चिन्ता में डूबा हुआ, नीची दृष्टि किये, ढीले पाँवों से जैसे घर की ओर जाता है।

राधिका छन्द में एसा जान पड़ता है, जैसे इसकी क्रीड़ाप्रियता अपने ही परदों में 'गत' बजा रही हो। जैसे परियों की टोली परस्पर हाथ पकड़, चंचल नूपुर-नृत्य करती हुई, लहरों की तरह अंग भंगियों में उठती-झुकती, कोमल कण्ठ स्वरों से गा रही हो। इस छन्द में जितनी ही अधिक लघु मात्राएँ रहेंगी, इसके चरणों में उतनी ही मधुरता तथा नृत्य रहेगा।

सोलह मात्रा का अरिल्ल छन्द भी निर्झरिणी की तरह कल्-कल् छल्-छल् करता हुआ बहता है। इसके तथा चौदह मात्रा के सखी छन्द की गति में कितना अन्तर है? सखी छन्द के प्रत्येक चरण में अन्त्यानुसार अच्छा नहीं लगता; दूर-दूर तक रखने से वह अधिक करुण हो जाता है, अन्त में मगण के बदले भगण अथवा नगण रखने से इसकी लय में एक प्रकार का स्वर भंग आ जाता है, जो करुणा का संचार करने में सहायता देता है। पन्द्रह मात्रा का चौपाई छन्द अनमोल मोतियों का हार है, बाल साहित्य के लिए इससे उपयुक्त छन्द मुझे कोई नही लगता। इसकी ध्वनि में बच्चों की साँसें, बच्चों का कण्ठरव मिलता है; बच्चों की ही तरह यह चलने में इधर-उधर देखता हुआ, अपने को भूल जाता है। अरिल्ल भी बाल-कल्पना के पंखों में खूब उड़ता है।

हिन्दी में मुक्त काव्य का प्रचार भी दिन-दिन बढ़ रहा है; कोई इसे रबर काव्य कहते हैं, कोई कंगारू। सन् 1921 में जब 'उच्छ्वास' मेरी विरह कृश लेखनी से यक्ष के 'कनक वलय' की तरह निकल पड़ा था तब "निगम" जी ने 'सम्मेलन पत्रिका' में उसकी 'बीसवीं' सदी के 'महाकाव्य' की अलोचना करते हुए लिखा था, 'इसकी भाषा रंगीली, छन्द स्वच्छन्द है।" पर उस वामन ने, कि लोकप्रियता के रात दिन घटने-बढ़ने वाले चाँद को पकड़ने के लिए बहुत छोटा था, कुछ ऐसी टाँगें फैला दीं कि आज, सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश, हिन्दी में सर्वत्र 'स्वच्छन्द छन्द' ही की छटा दिखलायी पड़ती है।

यह 'स्वच्छन्द छन्द' ध्वनि अथवा लय (रिद्म) पर चलता है। जिस प्रकार जलौघ पहाड़ से निर्झर नाद में उतरता, चढ़ाव में मन्द गति, उतार में क्षिप्रवेद धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारों को काटता-छाँटता, अपने लिए ऋतु-कुंचित पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार यह छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान-पतन, आवर्तन-विवर्तन के अनुरूप संकुचित प्रसारित होता, सरल-तरल, ह्रस्व-दीर्घ गति बदलता रहता है।

इस मुक्त छन्द की विशेषता यह है कि इसमें भाव तथा भाषा का सामंजस्य पूर्ण रूप से निभाया जा सकता है। हरिगीतिका, पद्धरि, ग़ेला आदि छन्दों में प्रत्येक चरण की मात्राएँ नियमित रूप से बद्ध होने कारण भावना को छन्द के अनुसार ले जाना, किसी प्रकार खींच-खाँचकर उसके ढाँचे में फ़िट कर देना पड़ता है; कभी पाद पूर्ति के लिए आवश्यक शब्द भी रख देने पड़ते हैं। उग्र साम्यवादियों की तरह ये छन्द बाह्य समानता चाहते हैं। मुक्त काव्य आन्तरिक ऐक्य, भाव जगत् के साम्य को ढूँढता है। उसमें छन्द के चरण भावानुकूल ह्रस्व-दीर्घ हो सकते हैं। क्वार्टरों में रहने वाले बाबुओं की तरह, भावना को, परतन्त्रता के हाथों बने हुए घरों के अनुसार अपनी खाने-पीने, उठने-बैठने, सोने-रहने की सुविधा को, कुछ इने-गिने कमरों में ही येन-केन प्रकारेण ठूँस-ठाँसकर जीवन निर्वाह नहीं करता पड़ता; वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा, स्वाभाविक रुचि के अनुरूप, अपनी आत्मा के सुविधानुसार अपना निकेतन बनाता है, जिसमें उसका जीवन अपने कुटुम्ब के साथ स्वेच्छानुसार हाथ-पाँव फैलाकर सुखपूर्वक रह सके।

इस प्रकार की कविता में अंगों के गठन की ओर विशेष ध्यान रखना पड़ता है। इसमें चरण इसलिए घटाये-बढ़ाये जाते हैं कि काव्य सम्बद्ध, संयमित रहे; उसकी शरीर-यष्टि न गणेश जी की तरह स्थूल तथा मांसल हो, न ब्रज भाषा की विरहिणी के सदृश अस्पष्ट अस्थि-पंजर। जहाँ छन्द के पद भावानुसार नहीं जाते, और मोहवश अपनी सजावट ही के लिए घटते-बढ़ते, चीन की सुन्दरियों अथवा पाश्चात्य महिलाओं की तरह केवल अपने चरणों को छोटा रखने के लिए लोहे के तंग जूते, कमर को पतली रखने के लिए चुस्त पेटी पहनने लगते, वहाँ उनके स्वाभाविक सौन्दर्य का विकास तो रुक ही जाता है, कविता अस्वस्थ तथा लक्ष्यभ्रष्ट भी हो जाती है।

अन्य छन्दों की तरह मुक्त काव्य भी हिन्दी में ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है। छन्द का राग भाषा के राग पर निर्भर रहता है, दोनों में स्वरैक्य रहना चाहिए। जिस प्रकार गवैया तानपूरा के स्वरों से कण्ठस्वर मिलाकर गाता, और स्वतन्त्रतापूर्वक तान तथा आलाप लेने पर भी उसके कण्ठ का तंबूरे के स्वरों के साथ सामंजस्य बना ही रहता, तथा ऐक्य भंग होते ही वह बेसुरा हो जाता, उसी प्रकार छन्द का राग भी भाषा के तारों पर झूलता है, और जहाँ दोनों में मैत्री नहीं रहती वहाँ छन्द अपना 'स्वर' खो बैठता है। उदाहरणार्थ मेरे मित्र हिन्दी के भावुक सहृदय कवि 'निराला' जी के छन्दों को लीजिए।

उनके कुछ छन्द बंगला की तरह अक्षर मात्रिक राग पर, कुछ हिन्दी के ह्रस्व दीर्घ मात्रिक संगीत पर चलते हैं, तथा कुछ इस प्रकार मिश्रित हैं कि उसमें कोई भी नियम नहीं मिलता। जहाँ पर उनकी कविता ह्रस्व दीर्घ संगीत पर चलती, उनकी उज्ज्वल भाव राशि उनके रचना चातुर्य के सूत्र में गुँथी हुई, हीरों के हार की तरह चमक उठती है। किन्तु जहाँ पर वह बंगला के अनुसार चलती वहाँ उसका राग हिन्दी के लिए अस्वाभाविक हो जाता है। उदाहरणार्थ बंगला की कुछ लाइनें लीजिए,-

हे सम्राट कवि,
एइ तब हृदयेर छबि,
एइ तब नव मेघदूत
अपूर्व अद्भुत
छन्दे गाने
उठियाछे अलक्खेर पाने
जेथा तब बिरहिणी प्रिया
रेयेछे मिशिया
प्रभातेर अरुण आभासे,

क्लान्त सन्ध्या दिगन्तेर करूण निश्वासे
पूर्णिमाय देहहीन चामेलिर लावण्य विलासे,
भाषार अतीत तीरे
कांगाल नयन जेथा द्वार ह'ते आशे फिरे-फिरे,

- रवीन्द्रनाथ ठाकुर

इन्हें पहले बंगला उच्चारण के साथ पढ़िए, फिर हिन्दी उच्चारण के अनुसार पढ़ने की चेष्टा कीजिए, बंगला उच्चारण का प्रवाह ज्योंही उनके ऊपर से हटा दिया जाता है सारी शब्द राशि जलधारा के सूख जाने पर नदी की तह में पड़े हुए निष्प्रभ रोड़ों की तरह, अपने जीवन का कलरव, अपनी कोमलता चंचलता, अपनी चमक-दमक तथा गति गँवाकर अपनी लँगड़ाहट में डगमगाती हुई गिर पड़ती है। इसका कारण यह है कि बंगला के उच्चारण की मांसलता हिन्दी में नहीं, इसका ह्रस्व दीर्घ राग बंगला छन्दों में स्वाभाविक विकास नहीं पाता। बंगला उच्चारण के श्वासवायु से उपर्युक्त पद्य के चरण रबर के रंगीन गुब्बारों की तरह फूल उठते, जिसके निकलते ही छन्द के पद ढीले पड़ जाते, शब्द पिचक जाते, और उनका परस्पर का संबंध टूट जाने के कारण राग की विद्युत्धारा का प्रवाह रुक जाता है। श्रीयुत 'निराला' जी के भी दो एक छन्द देखिए।

(1) देख यह कपोत कण्ठ
बाहु बल्ली कर सरोज-
उन्नत उरोज पीन-क्षीण कटि -
नितम्ब भार - चरण सुकुमार -
गति मन्द मन्द,
छूट जाता धैर्य ऋषि मुनियों का;
देवों भोगियों की तो बात ही निराली है। - अनामिका

(2) कहाँ?
मेरा अधिवास कहाँ?
क्या कहा? - 'रुकती है गति जहाँ?
भला इस गति का शेष -
सम्भव है क्या- '
करुण स्वर का जब तक मुझमें रहता है आवेश?
मैंने 'मैं' शैली अपनाई
देखा दुखी एक निज भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे
झट उमड़ वेदना आई - अनामिका

पहले छन्द के चरण अक्षर मात्रिक राग की गति पर, दूसरे के ह्रस्व दीर्घ मात्रिक राग की गति पर चलते हैं। पहले छन्द में, 'यह, कण्ठ, बल्ली, सरोज, उन्नत, पीन' इत्यादि शब्दों पर एक प्रकार का स्वरपात् देकर, रुककर, आगे बढ़ना पड़ता, 'नितम्ब भार चरण सुकुमार' इस चरण को एक साथ पढ़ना पड़ता है, राग की गति भंग हो जाती है। दूसरे छन्द में राग की एक धारा व्याप्त मिलती है, उसका स्वर भंग नहीं होता, शब्दों की कड़ियाँ अलग-अलग, असम्बद्ध नहीं दिखायी पड़तीं, उनकी दरारें लय से भरकर एकाकार हो जातीं, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य आ जाता है। पहले छन्द का राग हिन्दी के उच्चारण संगीत के अनुकूल नहीं, दूसरे का अनुकूल है।

मुक्त काव्य में ऐसे चरण, जिनकी गति भिन्न हो, - जैसे पीयूषवर्षण तथा रोला के चरण, - साथ-साथ अच्छे नहीं लगते; राग का प्रभाव कुण्ठित हो जाता है, गति बदलने के पूर्व लय को विराम दे देना चाहिए। 'पल्लव' में मेरी अधिकाश रचनाएँ इसी छन्द में हैं, जिनमें 'उच्छ्वास', 'आँसू' तथा 'परिवर्तन' विशेष बड़ी हैं।

'परिवर्तन' मे जहाँ भावना का क्रिया कम्पन तथा उत्थान पतन अधिक है, जहाँ कल्पना उत्तेजित तथा प्रसारित रहती, वहाँ रोला आया है, अन्यत्र सोलह मात्रा का छन्द। बीच-बीच में छन्द की एकस्वरता तोड़ने तथा भावाभिव्यक्ति की सुविधा के अनुसार उसके चरण घटा-बढ़ा दिये गये हैं। यथा -

"विभव की विद्युत् ज्वाल

चमक, छिप जाती है तत्काल।"

ऊपर के चरण में चार मात्राएँ घटाकर उसकी गति मन्द कर देने से नीचे के चरण का प्रभाव बढ़ जाता है। यदि ऊपर के चरण के चार मात्राएँ जोड़कर उसे "विभव की चंचल विद्युत्ज्वाल" - इस प्रकार पढ़ा जाय, तो नीचे के चरण में विभव की क्षणिक छटा का चमककर, छिप जाने के भाव का स्वाभाविक स्फुरण मन्द पड़ जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी भावनानुसार छन्दों में काट-छाँट कर दी गयी है।

'उच्छ्वास' और 'आँसू' में भी छन्द इसी प्रकार बदले गये, और आवश्यकतानुसार राग को विश्राम भी दे दिया गया है। यथा-

"शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु सरल कमनीय" के बाद

"बालिका ही थी वह भी" - इस चरण में वाणी को विश्राम मिल जाता, तब नया छन्द -

"सरलपन ही था उसका मन

निरालापन था आभूषन" इत्यादि प्रारम्भ होता है। उसी प्रकार -

"सुमनदल चुन चुन का निशि भोर

खोजना है अज्ञान वह छोर" - इस सोलह मात्रा के छन्द की गति को "नवल कलिका थी वह" वाले चरण में विश्राम देकर तब-

"उसके उस सरलपने से

मैंने था हृदय सजाया"

यह चौदह मात्रा का छंद रक्खा है, इसकी गति पूर्ववर्ती छन्द की गति से मन्द है। जहाँ समगति के भिन्न-भिन्न छन्द आये है वहाँ विराम देने का आवश्यकता नहीं समझी गयी। इसके बाद प्रकृति-वर्णन है, उसमें निर्झरों का गिरना, दृश्यों का बदलना, पर्वत का सहसा बादलों के बीच ओझल हो जाना आदि, अद्भुत रस का मिश्रण है। इसलिए वहाँ पूर्वोक्त शिथिल गतिवाले छन्द के बाद तुरन्त ही-

"पावस ऋतु थी पर्वत प्रेदश

पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश"

यह क्षिप्रगामी छन्द मुझे अधिक उपयुक्त जान पड़ा। इस छन्द का सारा वेग - **"वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर"** - यह विस्तृत चरण रोक देता, और

"सरल शैशव की सुखद सुधि सी वही

बालिका मेरी मनोरम मित्र थी"

इस सुख-दुःख मिश्रित भावना को ग्रहण करने के लिए हृदय को तैयार कर देता है।

'आँसू' में कहीं-कहीं एक ही छन्द के चरणों में अधिक काट-छाँट हुई है। यथा-

"देखता हूँ जब, उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिय! भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को!
नवोढ़ा बाल लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुककर
सरकती है सत्वर,
अकेली आकुलता-सी, प्राण!
कहीं तब करती मृदु आघात,

सिहर उठता कृश गात,

ठहर जाते हैं पग अज्ञात।"

इन चरणों में शोकाकुलता के कारण स्वर भंग हो जाने का भाव आया है, लय की गति रुकती जाती है, तुक भी पास-पास नहीं आये हैं। इसी प्रकार "सिहर उठता कृश गात" इस चरण की गति को कुण्ठित कर देने से अनुवर्ती चरण में पगों के अज्ञात ठहर जाने का भाव अपने आप प्रकट हो जाता है अन्यत्र भी -

"पिघल पड़ते हैं प्राण

उबल चलती है दृग जल धार"

इन लाइनों में प्रथम चरण के बाद जो विराम मिलता, उससे प्राणों के पिघल पड़ने तथा द्वितीय चरण में आँसुओं के उबल चलने का भाव अधिक स्पष्ट हो जाता है। --मुझे अपने इस बाल प्रयास में कहाँ तक सफलता मिली है, इसे सहृदय काव्य मर्मज्ञ ही जानें।

खड़ी बोली की कविता में क्रियाओं और विशेषत: संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग कुशलतापूर्वक करना चाहिए, नहीं तो कविता का स्वर (एक्सप्रेशन) शिथिल पड़ जाता है, और खड़ी बोली की कविता में यह दोष सबसे अधिक मात्रा में विराजमान है। "है" को तो, जहाँ तक हो सके निकाल ही देना चाहिए, इसका प्रयोग प्राय: व्यर्थ ही होता है। इस दो सींगों वाले हरिण को 'आश्रम मृग' समझ, इस पर दया दिखलाना ठीक नहीं, यह 'कनक मृग' है, इसे कविता की पंचवटी के पास फटकने न देना ही अच्छा है। 'समासों' का भी अधिक प्रयोग अच्छा नहीं लगता, समास का काम तो व्यर्थ बढ़कर इधर-उधर बिखरी तथा फैली हुई शब्दों की टहनियों को काट-छाँटकर उन्हें सुन्दर आकार प्रकार देने तथा उनकी मांसल हरीतिमा में छिपे हुए भावों के पुष्पों को व्यक्त भर कर देने का है। समास की कैंची अधिक चलाने से कविता की डाल ठूँठी तथा श्रीहीन हो जाती है।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि हिन्दी में अभी समस्या-पूर्ति का स्वाँग जारी ही है। जो लोग "कवय: किं न जल्पन्ति, कागा किं न भक्षन्ति" के समर्थक, और कवियों को कौओं के समकक्ष बैठाने तथा कविता को केवल काले-काले अक्षरों की अंधेरी उड़ान समझने वाले हैं, उनकी बात दूसरी है, पर जो कवि को राष्ट्र का निर्माता मानते हैं, जिन्हें कविता में देवताओं का भोजन संसार का अन्तरतर हृत्स्पन्दन मिलता है, उन्हें तो उसे इस अस्वाभाविक बन्धन से छुड़ाने की चेष्टा करनी चाहिए। व्रज भाषा की कविता में अधिक कृत्रिमता आने का एक मुख्य कारण एक समस्या-पूर्ति भी है। क्या कवि की विश्वव्यापी प्रतिभा को तागे की तरह सुई की आँख में डाल देना ही कविता है? सरकस के खिलाड़ियों की तरह दूर से दौड़ लगाकर शब्दों के एक कृत्रिम परिमित वृत्त (रिंग) के भीतर से होकर उस पार निकल जाना ही कवि का काम है? क्या बहुपतियों को वरने की असभ्य प्रथा, कलंक की तरह, हिन्दी द्रौपदी के भाल पर सदा के लिए लगी ही रहेगी? इस लक्ष्यवेध का, इस तुकबन्दी की चाँदमारी का अब भी अन्त नहीं होगा?

हिन्दी में सत्समालोचना का बड़ा अभाव है। रसगंगाधर, काव्यादर्श आदि की वीणा के तार पुराने हो गये; वे स्थायी, संचारी, व्यभिचारी आदि भावों से जो कुछ संचार अथवा व्यभिचार करवाना चाहते थे, करवा चुके। जब तक समालोचना का समयानुकूल रूपान्तर न हो, वह विश्व भारती के आधुनिक, विकसित तथा परिष्कृत स्वरों में न अनुवादित हो जाय, तब तक हिन्दी में सत्साहित्य की सृष्टि भी नहीं हो सकती। बड़े हर्ष की बात है कि अब हिन्दी यूनिवर्सिटी की चिर वंचित उच्चतम कक्षाओं में भी प्रवेश पा गयी; वहाँ उसे अपनी बहन अंग्रेजी के साथ वार्तालाप तथा हेल-मेल बढ़ाने का अवसर तो मिलेगा ही, उसमें घनिष्ठता भी स्थापित हो जायेगी। आशा है, विश्वविद्यालय के उत्साही हिन्दी-प्रेमी छात्र, जब तक हमारे वयोवृद्ध समालोचक, बेचारे देव और बिहारी में कौन बड़ा है, इसके निर्णय के साथ उनके भावों का निबटारा करने, तथा 'सहित' शब्द में ष्यञ् प्रत्यय जोड़कर सत्साहित्य की सृष्टि करने में व्यस्त हैं, तब तक हिन्दी में अंग्रेजी ढंग की समालोचना का प्रचार कर, उसके पथ में प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। हम लोग अब 'काव्यं रसात्मकं वाक्यम्', 'रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यम्' को अच्छी तरह समझ गये हैं।

यहीं पर मैं इस भूमिका को समाप्त करता हूँ। हम खड़ी बोली से अपरिचित हैं, उसमें हमने अपने प्राणों का संगीत अभी नहीं भरा; उसके शब्द हमारे हृदय के मधु से सिक्त होकर अभी सरस नहीं हुए, वे केवल नाम मात्र हैं; उनमें हमें रूप-रस-गन्ध भरना होगा। उनकी आत्मा से अभी हमारी आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ, उनके हृत्स्पन्दन से हमारा हृत्स्पन्दन नहीं मिला, वे अभी हमारे मनोवेगों के चिरालिंगन पाश में नहीं बंधे - इसीलिए उनका स्पर्श अभी हमें रोमांचित नहीं करता, वे हमें रसहीन, गन्धहीन लगते हैं। जिस प्रकार बड़ी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथकर हलका तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचों में ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप में गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्रांजल कर लेना पड़ता है। इसके लिए समय की आवश्यकता है, उसी के प्रवाह में बहकर खड़ी बोली के खुरदरे रोड़े हमें धीरे-धीरे चिकने तथा चमकीले लगने लगेंगे। हमें आशा है, भविष्य इसके समुद्र को मथकर इसके चौदह रत्नों को किसी दिन संसार के सामने रख देगा, और शीघ्र ही कोई प्रतिभाशाली पृथु अपनी प्रतिभा के बछड़े से इस भारत की भारती को दुहकर तथा राष्ट्र के साहित्य को अनन्त उर्वर बनाकर, एक बार फिर दुर्भिक्ष पीड़ित संसार को परितृप्ति प्रदान करेगा। शुभमस्तु।

(पल्लव से)

10. 'दूसरा सप्तक' की भूमिका

—सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

'तार सप्तक' का प्रकाशन जब हुआ, तब मन में यह विचार ज़रूर उठा था कि इसी प्रकार की पुस्तकों का एक अनुक्रम प्रकाशित किया जा सकता है, जिस में क्रमशः नये आने वाले प्रतिभाशाली कवियों की कविताएँ संगृहीत की जाती रहें - ऐसे कवियों की जिन में इतनी प्रतिभा तो है कि उन की संगृहीत रचनाएँ प्रकाशित हों, लेकिन जो इतने प्रतिष्ठापित नहीं हुए हैं कि कोई प्रकाशक सहसा उन के अलग-अलग संग्रह निकाल दे। 'तार सप्तक' का आयोजन भी मूलतः इसी भावना से हुआ था, यद्यपि इस में साथ ही यह आदर्शवादी आरोप भी था कि संग्रह का प्रकाशन सहकार-मूलक हो। (जिन पाठकों ने यह संग्रह देखा है वे शायद स्मरण करेंगे कि इस आदर्श की रक्षा तब भी नहीं हो सकी थी; 'दूसरे सप्तक' में तो उसे निबाहने का यत्न ही व्यर्थ मान लिया गया था।)

तो 'तार सप्तक' के कवि ऐसे कवि थे, जिन के बारे में कम से कम सम्पादक की यह धारणा थी कि उन में 'कुछ' है, और वे पाठक के सामने लाये जाने के पात्र हैं; यद्यपि वे हैं 'नये' हीं, केवल 'कवियशःप्रार्थी' ही और इस लिए काव्यक्षेत्र के अन्वेषी ही। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उन में से सभी अनन्तर काव्य-क्षेत्र में आगे बढ़े - कम से कम एक ने तो न केवल ऐलान कर के कविता छोड़ दी बल्कि क्रमशः कविता के ऐसे आलोचक हो गये कि उसे साहित्य-क्षेत्र से ही खदेड़ देने पर तुल गये; और बाकी में से दो-एक और भी कविता से उपराम-से हैं। फिर भी, हम आज भी समझते हैं कि तार सप्तक का प्रकाशन - प्रकाशन ही नहीं, उसका आयोजन, संकलन, सम्पादन - न केवल समयोचित और उपयोगी था बल्कि उसे हिन्दी काव्य-जगत् की एक महत्वपूर्ण घटना भी कहा जा सकता है। और आलोचकों द्वारा उस की जितनी चर्चा हुई है उसे 'सप्तक' के प्रभाव का सूचक मान लेना कदाचित् अनुचित न होगा।

'दूसरा सप्तक' में फिर सात नये कवियों की संगृहीत रचनाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं। सात में से कोई भी हिन्दी-जगत् का अपरिचित हो, ऐसा नहीं है, लेकिन किसी का कोई स्वतंत्र कविता-संग्रह नहीं छपा है, अतः यह कहा जा सकता है कि प्रकाशित कविता-ग्रन्थ के जगत् में ये कवि इसी पुस्तक के साथ प्रवेश कर रहे हैं। और हमारा विश्वास है कि हिन्दी में सम्प्रति जो काव्य-संग्रह छपते हैं; उन में कम ऐसे होंगे जिन में अच्छी कविताओं की इतनी बड़ी संख्या एकत्र मिले, जितनी 'दूसरा सप्तक' में पायी जायेगी।

क्या ये रचनाएँ प्रयोगवादी हैं? क्या ये कवि किसी एक दल के हैं, किसी मतवाद - राजनीतिक या साहित्यिक - के पोषक हैं? 'प्रयोगवाद' नाम के नये मतवाद के प्रवर्त्तन का दायित्व क्योंकि अनचाहे और अकारण ही हमारे मत्थे मढ़ दिया गया है, इसलिए हमारा इन प्रश्नों के उत्तर में कुछ कहना आवश्यक है, और नहीं तो इसी लिए कि 'दूसरा सप्तक' के संगृहीत कवि आरम्भ से ही किसी पूर्वग्रह के शिकार न बनें, अपने कृतित्व के आधार पर ही परखे जायें।

प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहें, नहीं हैं। न प्रयोग अपने-आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है; कविता भी अपने-आप में इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें 'प्रयोगवादी' कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितनी हमें 'कवितावादी' कहना। क्योंकि यह आग्रह तो हमारा है कि जिस प्रकार कविता-रूपी माध्यम को बरतते हुए आत्माभिव्यक्ति चाहने वाले कवि को अधिकार है कि उस माध्यम का अपनी आवश्यकता के अनुरूप श्रेष्ठ उपयोग करे, उसी प्रकार आत्म-सत्य के अन्वेषी कवि को, अन्वेषण के प्रयोग-रूपी माध्यम का उपयोग करते समय उस माध्यम की विशेषताओं को परखने का भी अधिकार है। इतना ही नहीं, बिना माध्यम की विशेषता, उस की शक्ति, और उस की सीमा को परखे और आत्मसात् किये उस माध्यम का श्रेष्ठ उपयोग हो ही नहीं सकता। जो लोग प्रयोग की निन्दा करने के लिए परम्परा की दुहाई देते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि परम्परा, कम से कम कवि के लिए, कोई ऐसी पोटली बाँध कर अलग रखी हुई चीज़ नहीं है, जिसे वह उठा कर सिर पर लाद ले और चल निकले। (कुछ आलोचकों के लिए भले ही वैसा हो।) परम्परा का कवि के लिए कोई अर्थ नहीं है जब तक वह उसे ठोक-बजा कर, तोड़-मरोड़ कर देख कर आत्मसात् नहीं कर लेता; जब तक वह एक इतना गहरा संस्कार नहीं बन जाती कि उस का चेष्टापूर्वक ध्यान रखकर उस का निर्वाह करना अनावश्यक न हो जाये। अगर कवि की आत्माभिव्यक्ति एक संस्कार-विशेष के वेष्टन में ही सहज सामने आती है, तभी वह संस्कार देने वाली परम्परा है, नहीं तो - यह इतिहास है, शास्त्र है, ज्ञान-भण्डार है जिस से अपरिचित भी रहा जा सकता है। अपरिचित ही रहा जाये, ऐसा आग्रह हमारा नहीं है - हम पर तो बौद्धिकता का आरोप लगाया जाता है! - पर इस से अपरिचित रह कर भी परम्परा से अवगत हुआ जा सकता है और कविता की जा सकती है।

तो प्रयोग अपने-आप में इष्ट नहीं है, वह साधन है और दोहरा साधन है। क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग-द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्ति कर सकता है। वस्तु और शिल्प

दोनों के क्षेत्र में प्रयोग फलप्रद होता है। यह इतनी सरल और सीधी बात है कि इससे इनकार करना चाहना कोरा दुराग्रह है; ऐसे दुराग्रही अनेक हैं और उस वर्ग में हैं जो साहित्य-शिक्षण का दायित्व लिये हैं, इससे हमें आतंकित न होना चाहिए। जिस वर्ग की घोषित नीति यह है कि उनके द्वारा ग्राह्य होने के लिए कोई वस्तु या रचना तीन सौ वर्ष पुरानी तो होनी ही चाहिए, उस वर्ग से आज की कविता पर बहस कर के क्या लाभ? उससे तो तीन सौ वर्ष बाद बात करना अलम् होगा - और तब कदाचित् वह अनावश्यक होगा क्योंकि आज का प्रयोग तब की परम्परा हो गयी होगी - उन की परम्परा! छायावाद जब एक जीवित अभिव्यक्ति था, तब वह जिन्हें अग्राह्य था, आज वे उसके समर्थक और प्रतिपादक हैं, जब वह मृत हो चुका; आज वे उसे उन से बचाना चाहते हैं जिन में आज का जीवित सत्य अभिव्यक्ति खोज रहा है, भले ही अटपटे शब्दों में।

प्रयोग का हमारा कोई वाद नहीं है, इसको और भी स्पष्ट करने के लिए एक बात हम और कहें। प्रयोग निरन्तर होते आये हैं, और प्रयोगों के द्वारा ही कविता या कोई भी कला, कोई भी रचनात्मक कार्य, आगे बढ़ सका है। जो कहता है कि मैं ने जीवन-भर कोई भी प्रयोग नहीं किया, वह वास्तव में यही कहता है कि मैं ने जीवन-भर कोई रचनात्मक कार्य करना नहीं चाहा; ऐसा व्यक्ति अगर सच कहता है तो यही पाया जायेगा कि उसकी 'कविता' कविता नहीं है; उसमें रचनात्मकता नहीं है, वह कला नहीं, शिल्प है, हस्तलाघव है। जो उसी को कविता मानना चाहते हैं, उनसे हमारा झगड़ा नहीं है। झगड़ा हो ही नहीं सकता। क्योंकि हमारी भाषा भिन्न हैं, और झगड़े के लिए भी साधारणीकरण अनिवार्य है! लेकिन इस आग्रह पर स्थिर रहते हुए भी हमें यह भी कहना चाहिए कि केवल प्रयोगशीलता ही किसी रचना का काव्य नहीं बना देती। हमारे प्रयोग का पाठक या सहृदय के लिए कोई महत्व नहीं है, महत्व उस सत्य का है जो प्रयोग द्वारा हमें प्राप्त हो। 'हम ने सैकड़ों प्रयोग किये हैं' यह दावा ले कर हम पाठक के सामने नहीं जा सकते, जब तक हम यह न कह सकते हों कि 'देखिए, हम ने प्रयोग द्वारा यह पाया है।' प्रयोगों का महत्व कर्ता के लिए चाहे जितना हो, सत्य की खोज, लगन, उसमें चाहे जितनी उत्कट हो, सहृदय के निकट वह सब अप्रासंगिक है। पारखी मोती परखता है, गोताखोर के असफल उद्योग नहीं। गोताखोर का परिश्रम या प्रयोग अगर प्रासंगिक हो सकता है तो मोती को सामने रखकर ही- 'इस मोती को पाने में इतना परिश्रम लगा' - बिना मोती पाये उसका कोई महत्व नहीं है।

इस प्रकार 'प्रयोग' का 'वाद' और भी बेमानी हो जाता है। जो सत्य की शोध में प्रयोग करता है वह खूब जानता है कि उसके प्रयोग उसके निकट जीवन-मरण का ही प्रश्न क्यों न हों, दूसरों के लिए उनका कोई महत्व नहीं। महत्व होगा शोध के परिणाम का। और वह यह भी जानता है कि ऐसा ही ठीक है। स्वयं वह भी उस सत्य को अधिक महत्व देता है, नहीं तो उस शोध में इतना संलग्न न होता।

हम समझते हैं कि इस भूमिका के बाद उन आक्षेपों का उत्तर देना अनावश्यक हो जाता है जो हमें 'प्रयोगवादी' कह कर हम पर किये गये हैं। कुछ आक्षेपों को पढ़कर तो बड़ा क्लेश होता है, इसलिए नहीं कि उनमें कुछ तत्त्व है, इसलिए कि उन में तर्क-परिपाटी की ऐसी अद्भुति विकृति दीखती है, जो आलोचक से अपेक्षित नहीं होती। आलोचक में पूर्वग्रह हो सकता है; पर कम से कम तर्क-पद्धति का ज्ञान उसे होगा, और उसे वह विकृत नहीं करेगा ऐसी आशा उससे अवश्य की जाती है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की 'प्रयोगवादी रचनाएँ' शीर्षक निबन्ध तर्क-विकृति का आश्चर्यजनक उदाहरण है। इस प्रकार के आक्षेपों को उत्तर देना एक निष्फल प्रयोग होगा; और हम कह चुके कि निष्फल प्रयोगों का कोई सार्वजनिक महत्व नहीं है। लेकिन साधारणीकरण के प्रश्न पर कुछ विचार कर लेना कदाचित् उचित होगा।

'तार सप्तक' के कवियों पर यह आक्षेप किया गया कि वे साधारणीकरण का सिद्धान्त नहीं मानते। यह दोहरा अन्याय है। क्योंकि वे न केवल इस सिद्धान्त को मानते हैं बल्कि इसी से प्रयोगों की आवश्यकता भी सिद्ध करते हैं। यह मानना होगा कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारी अनुभूतियों का क्षेत्र भी विकसित होता गया है और अनुभूतियों को व्यक्त करने के हमारे उपकरण भी विकसित होते गए हैं। यह कहा जा सकता है कि हमारे मूल राग-विराग नहीं बदले - प्रेम अब भी प्रेम है और घृणा, यह साधारणतया स्वीकार किया जा सकता है। पर यह भी ध्यान में रखना हो कि राग वही रहने पर भी रागात्मक संबंधों की प्रणालियाँ बदल गयी हैं; और कवि को क्षेत्र रागात्मक संबंधों का क्षेत्र होने के कारण इस परिवर्तन का कवि-कर्म पर बहुत गहरा असर पड़ा है। निरे 'तथ्य' और 'सत्य' में - या कह लीजिए 'वस्तु-सत्य' और 'व्यक्ति-सत्य' में - यह भेद है कि 'सत्य' वह 'तथ्य' है जिसके साथ हमारा रागात्मक संबंध है; बिना इस संबंध के वह एक बाह्य वास्तविकता है जो तद्वत् काव्य में स्थान नहीं पा सकता। लेकिन जैसे-जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है - वैसे-वैसे हमारे उससे रागात्मक संबंध जोड़ने की प्रणालियाँ भी बदलती हैं - और अगर नहीं बदलतीं तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा संबंध टूट जाता है। कहना होगा कि जो आलोचक इस परिवर्तन को नहीं समझ पा रहें हैं, वे उस वास्तविकता से टूट गये हैं, जो आज की वास्तविकता है। उससे रागात्मक संबंध जोड़ने में असमर्थ वे उसे केवल बाह्य वास्तविकता मानते हैं जब कि हम उससे वैसा संबंध स्थापित कर के उसे आन्तरिक सत्य बना लेते हैं। और इस विपर्यय से साधारणीकरण की नयी समस्याएँ आरम्भ होती हैं। प्राचीन काल में, जब ज्ञान का क्षेत्र सीमित था और अधिक संहत था, जब कवि, वैज्ञानिक, साहित्यिक आदि अलग-अलग बिल्ले अनावश्यक थे और जो पठित या शिक्षित था, सभी ज्ञानों का पारंगत नहीं तो

परिचित था ही, साधारणीकरण की समस्या दूसरे प्रकार की थी। तब भाषा का केवल एक मुहावरा था। या कह लीजिए कि शिक्षित वर्ग का एक मुहावरा था, जन का एक और। एक संस्कृत था, एक प्राकृत। लेकिन आज क्या वह स्थिति है? विशेष ज्ञानों के इस युग में भाषा एक रहते हुए भी उसके मुहावरे अनेक हो गये हैं। भाषा आज भी प्रेषण का माध्यम है; यह कोई नहीं कहता कि उसने अपनी सार्वजनिकता का प्रवृत्ति छोड़ दी है या छोड़ दे। लेकिन वह अब प्रवृत्ति है, तथ्य नहीं। ऐसी कोई भाषा नहीं है जो सब समझते हों, सब बोलते हों। अंग्रेजी है, अंग्रेजी के बड़े-बड़े कोश हैं जो शब्दों के सर्वसम्मत अर्थ देते हैं, पर गणितज्ञ की अंग्रेजी दूसरी है, अर्थशास्त्री की दूसरी और उपन्यासकार की दूसरी। ऐसी स्थिति में जो कवि एक क्षेत्र का सीमित सत्य (तथ्य नहीं, सत्य' अर्थात् उस सीमित क्षेत्र में जिस तथ्य से रागात्मक संबंध है वह) उसी क्षेत्र में नहीं, उससे बाहर अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके सामने बड़ी समस्या है। या तो वह यह प्रयत्न ही छोड़ दे; सीमित सत्य को सीमित क्षेत्र में सीमित मुहावरे के माध्यम से अभिव्यक्त करे-यानी साधारणीकरण तो करे पर साधारण का क्षेत्र संकुचित कर दे- अर्थात् एक अन्तर्विरोध का आश्रय ले; या फिर वह बृहत्तर क्षेत्र तक पहुँचने का आग्रह न छोड़े और इस लिए क्षेत्र के मुहावरे से बँधा न रह उस से बाहर जा कर राह खोजने की जाखिम उठाये। इस प्रकार वह साधारणीकरण के लिए ही एक संकुचित क्षेत्र का साधारण मुहावरा छोड़ने को बाध्य होगा - अर्थात् एक-दूसरे अन्तर्विरोध की शरण लेगा! यदि यह निरूपण ठीक है, तो प्रश्न इतना ही है कि अन्तर्विरोधों में से कौन-सा अधिक ग्राह्य - या कम अग्राह्य - है। हम इतना ही कहेंगे कि जो दूसरा पथ चुनाता है, उसे कम से कम एक अधिक उदार, अधिक व्यापक दृष्टि से देखने या देखना चाहने का श्रेय तो मिलना चाहिए - उस के साहस को आप साहसिकता कह लीजिए पर उसकी नीयत को बुरा आप कैसे कह सकते हैं?

ज़रा भाषा के मूल प्रश्न पर - शब्द और उसके अर्थ के संबंध पर - ध्यान दीजिए। शब्द में अर्थ कहाँ से आता है, क्यों और कैसे बदलता है, अधिक या कम व्याप्ति पाता है? शब्दार्थ-विज्ञान का विवेचन यहाँ अनावश्यक है ; एक अत्यन्त छोटा उदाहरण लिया जाये। हम कहते हैं 'गुलाबी', और उससे एक विशेष रंग का बोध हमें होता है। निस्सन्देह इसका अभिप्राय है गुलाब के फूल के रंग-जैसा रंग; यह उपमा उसमें निहित है। आरम्भ में 'गुलाबी' शब्द से उसे उस रंग तक पहुँचने के लिए गुलाब के फूल की मध्यस्थता अनिवार्य रही होगी; उपमा के माध्यम से ही अर्थ लाभ होता रहा होगा। उस समय यह प्रयोग चमत्कारिक रहा होगा। पर अब वैसा नहीं है। अब हम शब्द से सीधे रंग तक पहुँच जाते हैं; फूल की मध्यस्थता अनावश्यक है। अब उस अर्थ का चमत्कार मर गया है, अब वह अभिधेय हो गया है। और अब इससे भी अर्थ में कोई बाधा नहीं होती कि हम जानते हैं, गुलाब कई रंगों का होता है - सफ़ेद, पीला, लाल, यहाँ तक कि लगभग काला तक। यह क्रिया भाषा में निरन्तर होती रहती है और भाषा के विकास की एक अनिवार्य क्रिया है। चमत्कार मरता रहता है और चमत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है। यों कहें कि कविता की भाषा निरन्तर गद्य की भाषा होती जाती है। इस प्रकार कवि के सामने हमेशा चमत्कार की सृष्टि की समस्या बनी रहती है - वह शब्दों को निरन्तर नया संस्कार देता चलता है और वे संस्कार क्रमशः सार्वजनिक मानस में पैठ कर फिर ऐसे हो जाते हैं कि - उस रूप में - कवि के काम के नहीं रहते। 'बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।' कालिदास ने जब रघुवंश के आरम्भ में कहा था :

"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।"

तब इस बात को उन्होंने समझा था और इसीलिए वाक् में अर्थ की प्रतिपत्ति की प्रार्थना की थी। जो अभिधेय है, जो अर्थ वाक् में है ही, उसकी प्रतिपत्ति की प्रार्थना कवि नहीं करता! अभिधेयार्थ युक्त शब्द तो वह मिट्टी, वह कच्चा माल है जिससे वह रचना करता है; ऐसी रचना जिसके द्वारा वह अपना नया अर्थ उसमें भर सके, उसमें जीवन डाल सके। यही वह अर्थ-प्रतिपत्ति है जिस लिए कवि 'वागर्थाविव सम्पृक्त' पार्वती-परमेश्वर की वन्दना करता है। और इस प्रार्थना को निरा वैचित्र्य या नयेपन की खोज कह कर उड़ाना चाहना कवि-कर्म को बिलकुल न समझते हुए उस की अवहेलना करना है। जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक संबंध नहीं स्थापित होता। कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है जिससे पुनः राग का संचार हो, पुनः रागात्मक संबंध स्थापित हो। साधारणीकरण का अर्थ यही है। नहीं तो, अगर भाव भी वही जाने-पुराने हैं, रस भी, और संचारी-व्यभिचारी सब की तालिकाएँ बन चुकी हैं तो कवि के लिए नया करने को क्या रह गया है? क्या है जो कविता को आवृत्ति नहीं, सृष्टि का गौरव दे सकता है? कवि नये तथ्यों को उन के साथ नये रागात्मक संबंध जोड़ कर नये सत्यों का रूप दे, उन नये सत्यों को प्रेष्य बनाकर उनका साधारणीकरण करे, यही नयी रचना है। इसे नयी कविता का कवि नहीं भूलता। साधारणीकरण का आग्रह भी उसका कम नहीं है; बल्कि यह देखकर कि आज साधारणीकरण अधिक कठिन है वह अपने कर्तव्य के प्रति अधिक सजग है और उस की पूर्ति के लिए अधिक बड़ा जोखिम उठाने को तैयार है। यह किसी हद तक ठीक है कि जहाँ कवि की संवेदनाएँ अधिक उलझी हुई हैं वहाँ ग्राहक या सहृदय में भी उन्हीं परिस्थितियों के कारण वैसा ही परिवर्तन हुआ है और इस लिए कवि को प्रेषण की कुछ सुविधा भी मिलती है। पर ऊपर

ज्ञान के विशेष विभाजनों की जो बात कही गयी है, उसका हल इस में नहीं है; बल्कि वह प्रश्न और भी जटिल हो जाता है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की समूची प्रगति और प्रवृत्ति विशेषीकरण की है, इस बात को पूरी तरह समझ कर ही यह अनुभव किया जा सकता है कि साधारणीकरण का काम कितना कठिनतर हो गया है - समूचे ज्ञान-विज्ञान की विशेषीकरण की प्रकृत्ति को उलाँघ कर, उससे ऊपर उठकर, कवि को उसके विभाजित सत्य को समूचा देखना और दिखाना है। इस दायित्व को वह नहीं भूलता है। लेकिन यह बात उसकी समझ में नहीं आती कि वह तब तक के लिए कविता ही छोड़ दे जब तक कि सारा ज्ञान फिर एक होकर सबकी पहुँच में न आ जाये - सब अलग-अलग मुहावरे फिर एक होकर 'एक भाषा, एक मुहावरा' के नारे के अधीन न हो जायें। उसे अभी कुछ कहना है जिसे वह महत्वपूर्ण मानता है, इसलिए वह उसे उनके लिए कहता है जो उसे समझें, जिन्हें वह समझा सके; साधारणीकरण को उसने छोड़ नहीं दिया है पर वह जितनों तक पहुँच सके, उन तक पहुँचता रहकर और आगे जाना चाहता है, उनको छोड़कर नहीं। असल में देखें तो वही परम्परा को साथ लेकर चलना चाहता है, क्योंकि वह कभी उसे युग से कटकर अलग होने नहीं देता, जब कि उसके विरोधी परिणामत: यह कहते हैं कि 'कल का सत्य कल सब समझते थे, आज का सत्य अगर आज सब एक साथ नहीं समझते तो हम उसे छोड़ कर कल ही का सत्य कहें' - बिना यह विचारे कि कल के उस सत्य की आज क्या प्रासंगिकता है, आज कौन उसके साथ तुष्टिकर रागात्मक संबंध जोड़ सकता है!

यहाँ तक हम 'तार सप्तक' और उसकी उत्तेजनाप्रसूत आलोचनाओं से उझलते रहे हैं। 'दूसरा सप्तक' की भूमिका को इससे आगे जाना चाहिए। बल्कि यहाँ से उसे आरम्भ करना चाहिए, क्योंकि एक पुस्तक की सफ़ाई दूसरी पुस्तक की भूमिका में देना दोनों के साथ थोड़ा अन्याय करना है। हम यहाँ 'तार सप्तक' का उल्लेख करके आलोचकों के तत्सम्बन्धी पूर्वग्रहों को इधर न आकृष्ट करते, यदि यह अनुभव न करते कि दोनों पुस्तकों का नाम-साम्य और दोनों का एक सम्पादकत्व ही इसके लिए काफ़ी होगा। उन पूर्वग्रहों का आरोप अगर होना ही है, तो क्यों न उसका उत्तर देते चला जाये?

'दूसरा सप्तक' के कवियों में सम्पादक स्वयं एक नहीं है, इससे कार्य कुछ कम कठिन हो गया है। कवियों के बारे में कुछ कहने में एक ओर हमें संकोच कम होगा, दूसरी ओर भी हमारी बात को आसानी से एक ओर रखकर कविताओं पर स्वयं अपनी राय क़ायम कर सकेंगे। इन नये कवियों को भी कदाचित् 'प्रयोगवादी' कह कर उनकी अवहेलना की जाये, या - जैसा कि पहले भी हुआ - अवहेलना के लिए यही पर्याप्त समझा जाये कि इन कवियों ने जो प्रयोग किये हैं वे वास्तव में नये नहीं हैं, प्रयोग नहीं हैं। ऐसा कहना इन कवियों के बारे में उतना ही उचित या अनुचित होगा जितना कि पहले 'सप्तक' के; हमारी धारणा है कि उससे भी कम उचित होगा। यद्यपि सब कवियों में भाषा का परिमार्जन और अभिव्यक्ति की सफ़ाई एक-सी नहीं है और अटपटेपन की झाँकी न्यूनाधिक मात्रा में प्रत्येक में मिलेगी, तथापि सभी को ऐसी उपलब्धि हुई है जो प्रयोग को सार्थक करती है। 'प्रयोग के लिए प्रयोग' इनमें से भी किसी ने नहीं किया है, पर नयी समस्याओं और नये दायित्वों का तक़ाज़ा सबने अनुभव किया है और उससे प्रेरणा सभी को मिली है। 'दूसरा सप्तक' नये हिन्दी काव्य को निश्चित रूप से एक क़दम आगे ले जाता है और कृतित्व की दृष्टि से लगभग सूने आज के हिन्दी-क्षेत्र में आशा की नयी लौ जगाता है। ये कवि भी विरामस्थल पर नहीं पहुँते हैं, लेकिन उनके आगे प्रशस्त पथ है और एक आलोकित क्षितिज-रेखा। गुप्त, 'प्रसाद', 'निराला', 'पन्त', 'महादेवी', 'बच्चन' 'दिनकर'; इस सूची को हम आगे बढ़ायेंगे तो निस्सन्देह 'दूसरा सप्तक' के कुछ कवियों का उल्लेख उसमें होगा। और, फुटकर कविताओं को लें तो, जैसा कि हम ऊपर भी कह आये हैं, एक जिल्द में संख्या में इतनी अच्छी कविताएँ इधर के प्रकाशनों में कम नज़र आयेंगी।

यह फिर कहना आवश्यक है कि इस सात कवियों का एकत्र होना किसी दल या गुट के संगठन का सूचक नहीं है। पहली बार हमने कवियों के आपसी मत-भेद की बात की थी; नन्ददुलारे जी ने यह परिणाम निकाला कि प्रयोगवादी कविता उन कवियों की कविता होती है, जिनमें आपस में मतभेद हो; अब हम कहें कि प्रस्तुत संग्रह में ऐसे भी कवि हैं, जिन्हें हम ने आज तक देखा नहीं, तो कदाचित् उन्हें प्रयोगवाद की एक नयी परिभाषा यह भी मिल जाये कि प्रयोगवादी वे होते हैं, जो एक-दूसरे का मुँह देखे बिना एक-सी कविता लिखते हैं! उन्हें यह अवसर देने में हमें संकोच नहीं, उनके तर्क पढ़ने में रोचक है और उत्तर की अपेक्षा नहीं रखते। लेकिन कहना हम यह चाहते हैं कि ये सात कवि भी विचार-साम्य या समान राजनीतिक या साहित्यिक मतवाद के कारण एकत्र नहीं हुए या किये गये। कुछ से हमारा व्यक्तिगत परिचय भी हुआ अवश्य, पर उन के यहाँ एकत्र होने के कारण उनकी कविता ही है। उसी की शक्ति ने हमें आकृष्ट किया और उसी का सौन्दर्य इस 'सप्तक' की मूल प्रेरणा है। कवियों की ओर से इस संग्रह में भी उतना ही कम, उतना ही अन्यमनस्क और विलम्बित सहयोग मिला, जितना पहले 'सप्तक' में मिला था; बल्कि इस बार कठिनाई कुछ अधिक थी क्योंकि इस बार प्रस्ताव उनका नहीं था कि एक सहकारी प्रकाशन किया जाये, इस बार हमारा आग्रह था कि नये काव्य का एक प्रतिनिधि संग्रह निकाला जाये। जो हो, संग्रह आप के सामने है; आप कविताओं को उन्हीं के गुण-दोष के आधार पर देखें, उन्हीं से कवि की सफलता-असफलता और उसके आदर्शों की परख करें! हमने जो कुछ कहा, इसी आशा से कि आप आलोचकों-द्वारा आरोपित पूर्वग्रहों की मैली ओट से इन्हें न देखें, अपनी स्वच्छ सहृदयता से ही देखें; हमारा विश्वास है कि इस संग्रह से आप को तृप्ति मिलेगी।

(दूसरा सप्तक से)

11. सौन्दर्य-बोध और शिवत्व-बोध

— सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायान 'अज्ञेय'

आलोचना कई प्रकार की होती है - क्योंकि वह कई उद्देश्यों से की जा सकती है। सब आलोचना मूल्यवान् नहीं होती : उसका उद्देश्य प्रभाव उत्पन्न करना या व्याख्या करना भी हो सकता है। लेकिन अन्ततोगत्वा समालोचक को कहीं-न-कहीं मूल्यों का विचार भी करना ही पड़ता है - कृति का मूल्यांकन वह न भी करे तो भी स्वयं उसकी रसास्वादन की प्रक्रिया में उसके स्वीकृत मूल्यों या प्रतिमानों का महत्व होता है। समालोचक क्या पाता है, यह अनिवार्यतया इसपर निर्भर करता है कि क्या लेकर चलता है।

और मूल्यांकन - प्रत्यक्ष या परोक्ष - बिना मूल्यों या प्रतिमानों के नहीं हो सकता; मानदंड के बिना माप कैसे हो सकती है? यहाँ पर हम समालोचना की मूल समस्या के सामने आ खड़े होते हैं।

मूल्य किसे कहते हैं? यह प्रश्न निस्सन्देह बहुत व्यापक है, और यह भी कहा जा सकता है कि युग-युगान्तर से दार्शनिकों और साधकों दोनों की मूल जिज्ञासा यही रही है: वह अन्तिम कसौटी क्या है जिस पर कस कर हम किसी भी कृति के धातु को पहचान सकते हैं। किन्तु अपनी जिज्ञासा को सीमित रखना असम्भव नहीं है, और न ऐसी सीमित पड़ताल अनुपयोगी ही होगी।

समीक्षक को जैसा सुपठित, शास्त्र-निष्णात होना चाहिए वैसे हम नहीं हैं, इसका हमें पूरा ज्ञान है। आचार्यत्व की न हममें पात्रता है, न आकांक्षा। किन्तु मूल्यों का प्रश्न केवल आचार्यों के लिए महत्व रखता हो, ऐसा नहीं है; साहित्य के प्रत्येक अध्येता के लिए वह एक गुरुतर प्रश्न है, और लेखन के लिए तो उस की मौलिकता असन्दिग्ध है, क्योंकि कृतिकार अपनी कृति का सबसे पहला और कदाचित् सब से अधिक निर्मम परीक्षक है। (लेखक को अपनी रचना को मोह भी होता है; पर मोह और निर्ममत्व के अलग-अलग स्तर हैं; और मूल्यों का विचार उसी स्तर पर होता है जिसपर लेखक ममता को एक ओर रख देता है।) निष्ठावान् लेखक और अध्यवसायी पाठक के नाते हम आशा करते है कि मूल्यों या प्रतिमानों के संबंध में हमारे विचार अन्य पाठकों के लिए उपयोगी हो सकेंगे। यह भी सम्भव है कि वे अपने साधारणत्व के कारण ही उनके अधिक ग्राह्य हों, पुरोहित की बात से पड़ोसी की बात अधिक ध्यान से सुनी जाती है और अधिक गहरे जा कर छूती है।

हम मानते हैं कि सब प्रतिमानों का, सब मूल्यों का स्रोत मानव का विवेक है। वही उसे सदसद् का ज्ञान देता है - फिर उस सत् और असत् का क्षेत्र चाहे जो हो। इस साधारण स्थापना पर कदाचित् अधिक लोगों को आपत्ति न होगी - कम-से-कम आज के मानववादी युग में, जिसमें यह नहीं समझा जाता कि मानव के विवेक की दुहाई देना प्रकारान्तर से शाश्वत अथवा पारलौकिक सनातन मूल्यों के अस्तित्व का खंडन करना मात्र है। किन्तु इससे हम सौन्दर्य के विषय में जिस उपपत्ति तक पहुँचते हैं, वह भी ऐसी सहज-ग्राह्य होगी, ऐसी आशा हमें नही होती है। कदाचित् कुछ बुद्धिवादी भी उस पर आपत्ति करेंगे। यद्यपि हमें ऐसा जान पड़ता है कि जब हम सौन्दर्य-बोध की चर्चा करते हैं तब हम उसे स्वयंसिद्ध ही मान लेते हैं, क्योंकि बुद्धि को हेय मानकर बोध को महत्व नहीं दिया जा सकता।

यदि यह कहना उचित है कि मूल्यों का स्रोत मानव का विवेक है तो यह कहना भी ठीक है कि सौन्दर्य-बोध मूलत: बुद्धि का व्यापार है। सौन्दर्य क्या है, हम नहीं जानते; सौन्दर्य की परिभाषा बड़े-बड़े मर्मज्ञ नहीं कर सकते और हम 'गहि-गहि गरब गरूर' इस कंटकाकीर्ण पथ पर चलने वाले नहीं हैं। किन्तु सौन्दर्य क्या है, यह न बता पा कर भी सुन्दर क्या है यह हम जानते हैं, पहचानते हैं; बता सकते हैं कि क्या सुन्दर होता है। और सुन्दर क्या है, यह बता सकने का अर्थ यह है कि हम कुछ ऐसे गुणों को पृथक् कर सकते हैं जिन के कारण सुन्दर सुन्दर होता है - जिनकी उपस्थिति की पड़ताल करके हम कहते हैं कि सुन्दर सुन्दर है। ये तत्त्व क्या हैं? उसकी तालिका प्रस्तुत करना अनावश्यक है। यहाँ आग्रहपूर्वक यही दोहराना यथेष्ट है कि सौन्दर्य-बोध बुद्धि का व्यापार है : बुद्धि के द्वारा ही हम उन तत्त्वों को पहचानते हैं; मानव का अनुभव ही उन तत्त्वों की कसौटी है।

यह स्थापना विवादास्पद तो हो ही सकती है। यह आपत्ति भी की जा सकती है कि बुद्धि के साथ हठात् अनुभव का उल्लेख करना वास्तव मे बुद्धि के नाम पर सौन्दर्य की भोगवादी व्याख्या करना है। वास्तव में ऐसा नहीं है, परन्तु यह स्पष्ट करने से पहले एकाध उदाहरण लेना उपयोगी होगा। हम कहते हैं लय अथवा 'रिद्म'। शैशवकाल से ही हम जानते हैं कि हृदय का लययुक्त सम स्पन्दन आरोग्य और सहजावस्था की निशानी है, स्वस्थ होने की निशानी है; और असम स्पन्दन या लय-भंग उद्वेग परेशानी, असुख के चिह्न हैं। तब, यदि हम मानते हैं कि लयमयता कला का अथवा सुन्दर का एक मूल गुण है, तो क्या यह अपने अनुभूत सत्य का निरूपण नहीं है? इसी प्रकार हम मानते है कि सीधी रेखा सुन्दर नहीं होती, वक्र रेखाएँ सुन्दर होती हैं : यहाँ क्या फिर हम अपना अनुभव नहीं दुहरा रहे हैं? हमारे अंगों का कोई भी सहज निक्षेप वक्रता या गोलाई लिये होता है- अबोध शिशु भी जब हाथ-पैर पटकता है तो मंडलाकार गति से - सहज गति सीधी रेखा में होती ही नहीं, और सीधी रेखा में अंग-संचालन अत्यन्त क्लेश-साध्य होता

हैं। अत: वक्रता को कला गुण या सौन्दर्य-तत्व मानने में हम फिर अपना अनुभव दोहरा रहे हैं : गोचर अनुभव का कार्य-कारण-ज्ञान के सहारे (बुद्धि द्वारा) प्राप्त किया हुआ निचोड़ ही हमारे सौन्दर्य-बोध का आधार है। और चित्र या मूर्ति में जो रेखा की वक्रता है, अर्थात् तो दृश्य, स्पृश्य अथवा स्थूल है, वही यदि काव्य में आकर उक्ति की वक्रता का परम सूक्ष्म रूप ले लेती है, तो क्या हमारी बुद्धि उसे पकड़ नहीं सकती? गोचर अनुभव से पाया हुआ सूक्ष्म बोध क्या वहाँ हमारा सहायक नहीं होता?

ये सरलतम उदाहरण हैं - क्योंकि गति का बोध सबसे पहला बोध है। किन्तु हम क्रमश: जटिलतर प्रतिमानों की परीक्षा करते चलें तो भी इसी बात की पुष्टि होगी : स्थिरता, सन्तुलन; परिचित और नव्यता; गाम्भीर्य, सूचकता, सार्वभौमता - सर्वत्र हम पायेंगे कि जिस गुण को भी हम कला का प्रतिमान मानते हैं, वह हमारे अनुभव से उद्भूत है, और हमारे विवेक द्वारा प्राप्त किया गया है। प्रतिमान-रूपी कोई भी अमृत-घट हमारे अनुभव के महासागर को मथ कर ही निकल सकता है, और हमारी बुद्धि ही हमारी मन्थानी है।

भोगवाद-संबंधी आपत्ति का यहाँ निराकरण हो जाता है। कला-मूल्य हमें अनुभव के सागर से ही प्राप्त होते हैं - किन्तु अनुभव अपने-आप में एक प्रतिमान नहीं है। अनुभव की भित्ति पर बुद्धि द्वारा प्रतिष्ठित तत्त्व ही प्रतिमान हो सकता है। प्रतिमान की उपलब्धि हमें बुद्धि द्वारा ही होती है, यद्यपि उसके लिए हम अनुभव के सागर की थाह लेते हैं। और क्योंकि ये प्रतिमान हमें बुद्धि के द्वारा उपलब्ध होते हैं, इसलिए सुन्दर से हमें जो उपलब्धि होती है उसे हम आनन्द कहते हैं और केवल गोचर अनुभव से मिलने वाले सुख से अधिक गौरव देते हैं।

तो सौन्दर्य के तत्त्व बुद्धि पर आधारित हैं, और सुन्दर का आस्वादन बुद्धि का व्यापार है। इससे और परिणाम निकलते हैं। बुद्धि अनुभव के सहारे चलती है - अनुभव व्यक्तिगत, समाजगत, जातिगत, युग-युगान्त संचित। और अनुभव कोई स्थिर और जड़ पिंड नहीं है, वह निरन्तर विकासशील है। अत: बुद्धि भी विकासशील है - मानव का विवेक भी विकासशील है। इस अर्थ में शाश्वत मूल्यों की बात अनुचित अथवा अर्थहीन हो जाती है। किन्तु विकास का सही अर्थ समझना चाहिए। बुद्धि का नये अनुभवों के आधार पर क्रमश: नया स्फुरण और प्रस्फुटन होता है और नया अनुभव पुराने अनुभव को मिटा नहीं देता, उसमें जुड़ कर उसे नयी परिपक्वता देता है। अनुभव के गणित में जोड़ ही जोड़ है, बाकी नहीं है। साहित्य के क्षेत्र में हम परम्परा की चर्चा इसी अर्थ में करते हैं - तारतम्यता उसमें अनिवार्य है। तो मूल्य या प्रतिमान, शब्दार्थ की दृष्टि से शाश्वत भले ही न हों, स्थायी अवश्य होते हैं, और उन में जो परिष्कार या नया संस्कार (परिवर्तन उसे न कहना ही समीचीन होगा) होता है, उसमें शतियाँ लग जा सकती हैं। निस्सन्देह दूसरे भी मूल्य हैं - जो सामाजिक मूल्य - सामाजिक परिवर्तनों के साथ अपेक्षया अधिक तेज़ी के साथ बदलते हैं; किन्तु यहाँ हम उनकी चर्चा नहीं कर रहे हैं, उन से अधिक गहरे मूल्यों की बात कर रहें हैं। इन अधिक गहरे मूल्यों में भी यदि हम देखते हैं कि कभी अपेक्षया अधिक द्रुत गति से संस्कार होता है, तो उसका कारण यही है कि जहाँ हमारी तर्कना या बुद्धि निरन्तर हमारे अनुभव को माँजती और सायास विश्लिष्ट-संश्लिष्ट करती चलती है, वहाँ कभी संचित अनुभव का दबाव सहसा हमें नयी दृष्टि भी दे देता है - अर्थात् बुद्धि का यह व्यापार एक प्रखरतर आलोक से दीप्त हो उठता है। यद्यपि ऐसा भी जब होता है तो अकारण नहीं होता; जो बुद्धि उस आलोक से लाभ उठाकर नयी प्रतिपत्ति करती है, वह फिर उसके आविर्भाव का कारण भी खोजती और खोज लेती है।

मूल्यों की चर्चा में यहाँ तक हमने अपने को सौन्दर्य के प्रतिमानों तक सीमित रखा है। किन्तु जब हम ने कहा कि सब प्रतिमानों का, सब मूल्यों का स्रोत मानव का विवेक है, तब स्पष्ट ही हम ने ऐसी कोई मर्यादा नहीं निर्दिष्ट की। उस कथन से अवश्य ही यह परिणाम निकलता है कि शिवत्व के प्रतिमान - नैतिक प्रतिमान भी - मानव के विवेक से उद्भूत होते हैं। यहाँ एक साथ ही दो प्रश्न उठते हैं। क्या हम ऐसा मानते हैं, और क्या सौन्दर्य के और शिवत्व के प्रतिमानों में कोई अनिवार्य सम्बन्ध, या कोई भी संबंध है?

पहले प्रश्न का उत्तर आवश्यक नहीं है। स्पष्ट ही हमारी पहली स्थापना से वह परिणाम निकलता है और अगर हमें वह स्वीकार्य न होता तो हमारे लिए अपनी पहली बात को ही अधिक मर्यादित करके कहना अनिवार्य हो जाता। यदि हम मानते हैं कि सब प्रतिमानों का स्रोत मानव का विवेक है, तो हम सहज ही यह मानते हैं कि नैतिक प्रतिमानों का स्रोत मानव का विवेक है। और कदाचित् इसे स्वीकार करना किसी के लिए भी कठिन न होना चाहिए, क्योंकि विवेक को नैतिक भावना का पर्याप्त ही मान लिया जाता है। सौन्दर्य और विवेक का सम्बन्ध ही अधिक कठिनाई उत्पन्न किया करता है।

किन्तु सुन्दर के प्रतिमान और नैतिक के प्रतिमान में क्या सम्बन्ध है? क्या दोनों एक हैं? क्या समालोचना में एक के विचार में ही दूसरे का विचार निहित होता है, और एक का स्वीकार स्वत: दूसरे का भी स्वीकार हो जाता है? या कि दोनों अलग-अलग हैं? और अलग-अलग हैं, तो समालोचना के मूल्यांकन में क्या दोनों का विचार होना चाहिए, या केवल एक का?

प्रश्न सरल नहीं है। और उत्तर असन्दिग्ध या विवादातीत है, यह कहना धोखा होगा। किंतु प्रश्न अनिवार्य है; और किसी भी गम्भीर पाठक के लिए और विशेषकर किसी भी लेखक के लिए, उसका कुछ-न-कुछ उत्तर - भले ही एक अस्थायी और काम-चलाऊ उत्तर - अवश्यंदातव्य है। क्योंकि लेखक के सम्मुख यह, प्रश्न यदि आता है, तो यह उसकी सृजन-प्रेरणा का ही प्रश्न बन कर आता है, और बिना इसका उत्तर दिये (या पाये) उसका रचना में प्रवृत्त होना असम्भव होता जाता है - बल्कि उसका प्रवृत्त होना स्वयमेव प्रश्न का उत्तर बन जाता है। और यदि कृति के मूल में उस प्रश्न का उत्तर निहित है, तो पाठक अथवा अध्येता के लिए भी उस उत्तर को जानना आवश्यक है, क्योंकि उसे जान कर ही वह कृति के मूल्यांकन की ओर अग्रसर हो सकता है। लेखक के उत्तर को ज्यों-का-त्यों मान लेना उसके लिए अनिवार्य नहीं है, लेकिन उसे जानना आवश्यक है। किंतु यहाँ भी केवल सिद्धांत-चर्चा में न रहकर उदाहरण लेकर चलना सुविधाजनक होगा।

पुराना आख्यान-साहित्य ले लीजिए - प्रबंध-काव्य ले लीजिए, गाथाएँ ले लीजिए। कथाकार कथा कहता था, घटनाओं का परात्पर घटित होना ही वहाँ सब से अधिक महत्व रखता था। यह नहीं कि कथाकार में नैतिक बोध नहीं होता था, या कि वह अपनी नैतिक मान्यताओं को प्रकट नहीं करता था, अपने स्वीकृत नैतिक मूल्यों का इंगित नहीं देता था। इसके विपरीत वह पहले से ही कुछ अच्छे और बुरे पात्र लेकर चलता था - नैतिक मान्यताएँ बिल्कुल स्पष्ट करके, और कभी-कभी अंत में निष्कर्ष के रूप में किसी नैतिक मूल्य का साग्रह दोहरा भी देता है। बल्कि कभी यह नैतिक स्थापना पहले कर दी जाती थी और कथा केवल इसके दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत की जाती थी। पंचतन्त्र आदि के पग-पग पर नैतिक मूल्यों का आग्रह है: कहानी मानो उन्हें वहन करने का माध्यम-भर है।

अब ज़रा इधर के आख्यान-साहित्य पर विचार कीजिए। घटना उसमें बिल्कुल न हो, ऐसा तो नहीं है। पर उसका घटित कभी-कभी बिल्कुल आभ्यन्तर भी रहता है - स्थूल जगत् में कोई घटना घटे बिना भी उसमें संघर्षों के तूफ़ान उठते और लय हो जाते है। आज का लेखक किसी भी घटना के कर्ताओं के उद्देश्यों को देखता है। 'अमुक हुआ' उसके लिए पर्याप्त नहीं है; 'अमुक किया गया' वह कहता है, और 'क्यों किया गया' पर ही उसकी समूची जिज्ञासा केन्द्रित हो जाती है। कभी वह 'अमुक किया गया' की अवस्था तक भी नहीं जाता; केवल सूचित कर देता है कि 'अमुक-अमुक कारण क्रियाशील है' और यह पाठक पर छोड़ देता है कि वह समझ ले कि परिणामत: 'क्या किया जायेगा'।

यह परिवर्तन साधारण या ऊपरी नहीं है, घटना से घटना-हेतु की ओर जाना साहित्यकार की बौद्धिक प्रवृत्ति की एक बहुत बड़ी क्रांति का सूचक है।

कुछ लोगों की धारणा है कि बुद्धि के बढ़ते वैभव के साथ मानव का नैतिक ह्रास हुआ है। हम ऐसा नहीं मानते - नहीं मान सकते। हमारी पहली प्रतिज्ञा ही इस परिणाम को असम्भव बना देती है। क्योंकि हम मानते हैं कि नीतिज्ञान, विवेक, स्वयं बुद्धि का वैभव है। निरी आस्था के सहारे भी अनीति से बचा जा सकता है, अनैतिक कर्म न करने की अवस्था प्राप्त की जा सकती है, किन्तु नैतिकता के प्रति ऐसा नकारात्मक, अकर्मण्य दृष्टिकोण आज नैतिक बन्ध्यत्व का ही सूचक माना जायेगा। साहित्य की उपर्युल्लिखित नयी प्रवृत्ति नैतिक शिथिलता या नैतिक मूल्यों के ह्रास की नहीं, नैतिक बोध की परिपक्वता की सूचक है। ईसा ने जब कहा था, 'जज नॉट, लेस्ट यी बी जज्ड' तब इसी लिए नहीं कि वह नैतिक प्रतिमानों को तिलांजलि दे रहे थे, वरन् इसलिए कि वह आभ्यन्तर के घटित के उचित महत्व दे रहे थे - कोई नैतिक निर्णय बाह्य कर्म के आधार पर नहीं हो सकता, आभ्यान्तर उद्देश्यों का विचार होना चाहिए, यही उनके उपदेश का हेतु था - या कम-से-कम एक हेतु, क्योंकि दूसरा जो यह था ही कि जो अपराधी है उसे दण्ड न दो, समवेदना दो - मानवीय समवेदना तो सबसे बड़ा नैतिक मूल्य है ही।

आख्यान-साहित्य यहाँ केवल उदाहरण के लिए लिया गया है। क्योंकि दृष्टि का जो परिवर्तन (संस्कार) दिखाना हमें अभीष्ट था, वह इसमें सबसे अधिक आसानी से और स्पष्ट देखा जा सकता है। समूचे साहित्य की यह प्रवृत्ति रही है कि कर्म के हेतु का पहचानो, निर्णय देने या दण्ड-व्यवस्था करने मत दौड़ो। और हेतु को पहचान कर भी रुको मत, आगे बढ़कर समवेदना भी दो। हाँ, समवेदना देने के लिए बहुत बड़ा हृदय चाहिए, वह सब के पास नहीं भी हो सकता है, इसलिए समवेदना न भी दे पाओ तो कम-से-कम निर्णय की उतावली तो न करो!

हमने कहा कि यह समूचे साहित्य की प्रवृत्ति रही है। इस कथन में अतिव्याप्ति दोष है। उसे मर्यादित करने के लिए कहना चाहिए कि समूचे नहीं, किन्तु सारे मानववादी साहित्य की यह प्रवृत्ति रही है। क्योंकि इधर एक ऐसी प्रवृत्ति भी है जो इस हेतु-परीक्षण को अस्वीकार करती है, मानवीय समवेदना के व्यापक प्रदान को अपव्यय मानती है। नैतिक मानदण्ड उसके पास नहीं है अथवा उसके तर्क से पुष्ट नहीं किया जाता, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता; पर उसका नीति-निरूपण ही द्वन्द्वात्मक और अवसर-सेवी है। कह सकते हैं कि वह विवेकाश्रित नहीं, तर्काश्रित है। यह प्रवृत्ति, कर्म-प्रेरणाओं की पड़ताल को प्रवंचना कहती है, क्यों कि वह कर्ता के कर्तृव्य को भावना और अनुभूति की प्राथमिकता को अस्वीकार करती है। जिसे हम आभ्यन्तर कारण कहते हैं उसे वह

स्थितिजन्य परिणाम मानती है। एक प्रकार से वह साहित्य की अब तक की प्रवृत्ति को उलट रही है : जहाँ अब तक साहित्य मानव को बँधी-बँधायी नैतिक लीकों से उबार कर कर्ता का गौरवपूर्ण पद देने की ओर प्रवृत्त था, वहाँ यह नयी प्रवृत्ति फिर से बँधी-बँधायी लीकें लेकर उसमें मानव को डालने का उपक्रम कर रही है। अब तक की प्रवृत्ति यह थी कि साहित्य का पात्र एक नैतिक मानचित्र पर दौड़ने वाला जीव-मात्र न रह कर खुली भूमि पर राह बनाने वाला मानव हो; नयी प्रवृत्ति उसे शतरंज का प्यादा बनाये दे रही है। कदाचित् उतना भी नहीं! मानव मानो छोटे-बड़े कई आकारों के कंकड़ हैं जिन्हें अपनी मोटी और बारीक चलनियों में से छान कर वह या तो गिट्टी बनाकर अपनी किसी इमारत की नींव में दाब देगी, या रोड़ी बनाकर अपनी सड़क कर बिछा देगी - और कितनी कृतज्ञ होगी इस प्रकार पथ को प्रशस्त करने का काम में लायी जा कर! किन्तु इस नयी नैतिक संकीर्णता की चर्चा का यह स्थान नहीं है; यहाँ उस की और पड़ताल प्रासंगिक भी नहीं है।

प्रश्न अभी वहीं का वहीं है; एक उदाहरण से उसे स्पष्ट भले ही किया गया हो, उसका उत्तर नहीं दिया गया है। कलाकृतियों में, उनके द्वारा नैतिक मूल्यों का विस्तार होता है, ऐसा हम कह सकते हैं। इसलिए यह भी हम कह सकते हैं कि समालोचना के लिए भी नैतिक मूल्यों पर और उनके विकास अथवा विस्तार पर विचार करना आवश्यक है - अर्थात् उस समालोचना के लिए, जो मूल्यांकन में प्रवृत्त है। पर प्रश्न यह है कि क्या यह विचार सौन्दर्य-मूल्यों के विचार से अलग है, उसका समान्तर है, यह उसी में निहित है?

कहते हैं कि जो सुन्दर है वह शिवेतर हो ही नहीं सकता। इसे हम मानते हैं, किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि इससे यह ध्वनि होती है कि दोनों पर्यायवाची और परस्पराश्रित हैं। ऐसा दावा करना कठिन है। जो यह मानते हैं कि जो सुन्दर है वह शिव भी होता ही है, वे भी कदाचित् अलग से ऐसा दावा करने में संकोच करेंगे। ऐसा ही होता तो आचार्यों को एक अलग उद्देश्य के रूप में 'शिवेतरक्षय' चर्चा करना क्यों आवश्यक जान पड़ता? जो सुन्दर है वह अनैतिक नहीं होगा यह एक बात है, पर उससे शिवेतरक्षय की माँग करना एक अतिरिक्त शक्ति या प्रभाव की माँग करना है। एक प्रकार से यह साहित्य में लक्षित होने वाले संस्कार के समान्तर समालोचना का संस्कार करना है, क्योंकि जैसे साहित्य में घटित से आगे बढ़कर हम आभ्यन्तर हेतु अथवा प्रेरणा की छान-बीन देखते हैं, वैसे ही समालोचना में भी रूप-विचार से आगे बढ़ कर कृतिकार के उद्देश्य और कृति के प्रभाव की भी कसौटी करना चाहते हैं। और जिस प्रकार आभ्यन्तर हेतु के ज्ञान को हम अपने-आप में एक लक्ष्य नहीं मानते, समझते हैं कि उसका महत्व इस में है कि वह हमें जीवन के प्रति नयी और गहरी दृष्टि देता है, उसी प्रकार कृति के उद्देश्य और प्रभाव को पहचानाना भी हम अपने-आप में एक लक्ष्य नहीं मानते, समझते हैं कि वह हमें मानव-जगत् का एक सम्पन्नतर अंग बनाता है।

विश्लेषण को चरम अवस्था तक ले जायें तो मानना होगा कि नैतिक मूल्य यानी शिवत्व के मूल्य, और सौन्दर्य के मूल्य अलग-अलग हैं और अलग विचार माँगते हैं। विशुद्ध तर्क के क्षेत्र में यह भी मान लेना होगा कि ऐसा हो सकता है कि कोई कलाकृति सुन्दर हो और अशिव हो, या कम-से-कम शिव न हो। यह मान कर भी पहली बात कैसे मानी जा सकती है? स्पष्ट ही यहाँ विरोधाभास है। वास्तव में उच्च कोटि का नैतिक बोध और उच्च कोटि का सौन्दर्य-बोध, कम-से-कम कृतिकार में प्राय: साथ-साथ चलते हैं। क्यों? क्योंकि दोनों बोध मूलत: बुद्धि के व्यापार हैं, मानव का विवेक ही दोनों के मूल्यों का स्रोत है और दोनों के प्रतिमानों या मानदंडों का आधार। विवेकशील मानव की - विशेषकर उस विवेकशील मानव की, जिसमें सर्जनात्मक शक्ति या प्रतिभा भी हैं- ग्राहकता दोनों को ही पहचानती है। बुद्धि, और जिसपर बुद्धि आधारित है वह अनुभव - निरन्तर विकासशील और संस्कारशील हैं। निरन्तर सूक्ष्मतर होती हुई संवेदना एकांगी भी हो सकती है, पर जहाँ सर्जनात्मक शक्ति है वहाँ एकांगिता की सम्भावना कम है और पुष्ट सौन्दर्य-बोध के साथ पुष्ट नैतिक बोध भी होता ही है। जिस प्रकार कृतिकार सुन्दर का स्रष्टा हो कर असुन्दर के सायास परित्याग के द्वारा सुन्दर की उपलब्धि नहीं करता, उसी प्रकार वह नैतिक द्रष्टा होकर सायास अनैतिक के विरोध द्वारा नैतिक का नहीं पाता; इसीलिए कला हमें आनन्द भी देती हैं, हमारा उन्नयन भी करती है। आज का समालोचक इस बात को नाना वादों के में छिपा चाहे सकता है, इसे अमान्य नहीं कर सकता।

(सर्जना और संदर्भ से)

12. काव्य की रचना-प्रक्रिया : एक

— गजानन माधव मुक्तिबोध

काव्य की रचना-प्रक्रिया के अन्तर्गत तत्व-बुद्धि, भावना, कल्पना, इत्यादि - एक होते हुए भी, प्रभाव-संघटक आन्तरिक उद्देश्यों की भिन्नता के साथ ही रचना-प्रक्रिया भी वस्तुत: बदल जाती है। गेय काव्य (लिरिकल पोएट्री) की रचना-प्रक्रिया उस कविता की रचना-प्रक्रिया से बिलकुल भिन्न है, जो मन की किसी प्रतिक्रिया-मात्र रेखांकन करती है।

भावानुरूप, संवेदनानुसारी शब्द-क्रम शैली की रचना कवि के लिए आसान काम नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि यथोचित अभिव्यक्ति के विकास के दौरान में, अर्थात् ध्वनि-बिम्बवती शब्द-क्रम शैली के विकास के दौरान में, कवि आपने भाव-स्वभाव से घनिष्ठ रूप से परिचित होता जाता है। वह शब्दों में वास करनेवाले अर्थ-बिम्बों और अर्थ-ध्वनियों की तुलना अपने भाव-दृश्यों से करने लगता है। और इस नेत्रमयी तुलना के दौरान में, वह इस बात से अधिकाधिक सचेत होता जाता है कि वह किस प्रकार के चित्रों तथा ध्वनियों द्वारा कौन-सा संवेदनात्मक प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है। संवेदनानुसारी शब्द-चेतना का विकास कवि के लिए महत्वपूर्ण है। शब्द-चयन की भावानुसारिता को घटित करने वाली आत्म-चेतना, अर्थात स्वयं के भाव-स्वभाव, से घनिष्ठ परिचय के अभाव में व्यक्तिगत अभिव्यक्ति-शैली का विकास नहीं हो सकता।

सामान्यत: यह देखा गया है कि कवि-व्यक्तित्व, अपनी कुछ विशिष्ट और प्रबल आवश्यकताओं के अनुसार, कुछ विशेष भाव-श्रेणियों को ही प्रकट करता रहता है, मानो वे उसके जीवन के स्थायी भाव हों। उन्हें प्रभावोत्पादक रूप से प्रकट करने के उसके अथक निरन्तर परिश्रम के तथा अभ्यास के फलस्वरूप, धीरे-धीरे एक अर्से बाद, उसकी वे भाव-श्रेणियाँ और उनकी अभिव्यक्ति, एक संगठित इकाई बनकर, साहित्यिक 'कण्डीशंड रिफ्लेक्स' का रूप धारण कर लेती है।

यहाँ हम रचना-प्रक्रिया के आन्तरिक क्षेत्र में पहुँच रहे हैं। होता यह है कि नये कवि को अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति पाने के लिए, यानी अपने आभ्यन्तरिक वास्तव से साक्षात्कार के लिए, अनेकानेक काव्य-प्रयोग करते हुए एक लम्बा समय गुज़ार देना पड़ता है। इन विविध-रूप, बहुमार्गानुसारी प्रयोगों के अनवरत क्रम की अन्तिम परिणति होती है, अपनी मूलभूत आभ्यन्तर वास्तविकता के संवेदनात्मक साक्षात्कार में। दूसरे शब्दों में, कवि-जीवन की प्रथमस्तरीय उपलब्धि, उस अन्त:प्रकृति से साक्षात्कार है जो अपना कुछ विशेष कहना चाहती है, जिसके पास कुछ विशेष कहने के लिए है। इस आत्म-चेतना के प्रत्यक्ष संवेदनात्मक ज्ञान के बिना, कोई कवि मौलिक नहीं हो सकता।

प्रथमस्तरीय उपलब्धि के बाद, अर्थात् अपने आभ्यन्तर वास्तव के संवेदनात्मक ज्ञान के अनन्तर, अथवा उसके साथ-ही-साथ, कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण बातें होने लगती हैं। उनमें से एक है आलोचन-धर्म का विकास। इस आलोचन-धर्म द्वारा परिचालित होकर, आभ्यन्तर वास्तव अपने विशेष भावों की अभिव्यक्ति के लिए, अनेकों रूपों अर्थात् कल्पना-चित्रों तथा शब्द-ध्वनि को अस्वीकार करते हुए, अन्य ध्वनियों तथा कल्पना-चित्रों को स्वीकार करता चलता है। विचित्र संस्कारों के वशीभूत होकर, आलोचन-धर्म कई प्रकार के 'सेंसर्स' अर्थात् निषेधों का प्रयोग करता है। यदि ये निषेध युक्तियुक्त और उचित न हुए तो कविता बहुत ही दुर्बोध हो उठती है। आलोचन-धर्म के साथ-ही-साथ, तथा उसके अतिरिक्त, एक बात और भी होती है, जो महत्त्वपूर्ण है। वह है, भावों का आभ्यन्तर सम्पादन। रचना-प्रक्रिया से अभिभूत कवि जब भावों की प्रवहमान संगति संस्थापित करता चलता है, तब उस संगति की संस्थापना में उसे भावों का सम्पादन यानी एडीटिंग करना पड़ता है। यदि वह इस प्रकार भावों की काट-छाँट न करे, तो मूल प्रकृति उसे सम्पूर्ण रूप से अपनी बाढ़ में बहा देगी, और उसकी कृति विकृति में परिणत हो जाएगी। अनुभवी कवि आभ्यन्तर भाव-सम्पादन का महत्त्व जानता है।

भावों की प्रवहमान संगति की संस्थापना के हेतु, जब आभ्यन्तर भाव-सम्पादन होने लगता है तब एक और विलक्षण बात होती है। वह है सृजन। मूल प्रकृति के तल से आभ्यन्तर वास्तव के कुछ विशेष उद्वेगों या प्रतिक्रियाओं द्वारा परिचालित होकर, जब भाव-सम्पादन पूर्ण हो जाता है, तब उसमें एक नया तत्त्व आ जाता है-एक ऐसा तत्त्व, जो कदाचित् प्रारम्भ में कथ्य नहीं था, किन्तु जो भावों की प्रवहमान संगति की संस्थापना पूर्ण होते ही, उसके भीतर उद्घाटित हो गया। असल में यह कहना कठिन है कि आभ्यन्तर भाव-सम्पादन की शैली-विशेष के कारण वह द्योतित हो उठा है, अथवा उस पूरी प्रक्रिया में से गुज़रने के कारण, लगे हाथों, कुछ उद्घाटन हो गये हैं, जिनमें से एक वह भी है। शायद ये दोनों ही बातें होती होंगी। किन्तु यह निश्चित है कि वह भाव-सम्पादन की लगभग अनिवार्य उपलब्धि है। इसीलिए, कविता पूरी होने पर कवि को यह प्रतीत होता है कि वह कविता में कुछ ऐसा विशेष कह गया है अथवा उद्घाटित कर गया है, जो प्रारम्भ में उसका कथ्य था ही नहीं।

द्वितीय स्तर पर पहुँचकर कवि अपने कुछ मूल स्थायी भावों अथवा कुछ भाव-श्रेणियों की समुचित अभिव्यक्ति कर चुकता है। उसका काव्य-रचनामूलक आलोचन-धर्म तथा भाव-सम्पादन इतना परिपक्व हो चुकता है कि उसे अपनी अभिव्यक्ति के लिए अब

विशेष कष्ट नहीं हो पाता। तब तक वह अभिव्यक्ति के मानसिक रूपों-अर्थात्, बिम्बों, चित्रों, निवेदनात्मक भंगिमाओं तथा विभिन्न लयों पर न केवल अधिकार प्राप्त कर चुकता है, वरन् उन चित्रों, बिम्बों तथा निवेदन-भंगिमाओं को वह अपने विशिष्ट भावों और भाव-छायाओं से अभिन्नत: संयुक्त कर देता है। दूसरे शब्दों में, वह अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए एक रूप-रचना तैयार कर लेता है, कि जो रूप-रचना उसके लिए उन भावों से अविच्छिन्न रूप से संयुक्त रहती है, और उनसे कदापि पृथक् अथवा विच्छिन्न नहीं की जा सकती।

वस्तुत:, भावों की प्रवहमान संगति की संस्थापना के दौरान में, आभ्यन्तर भाव-सम्पादन, सक्रिय आलोचन-धर्म की सहायता द्वारा, विभिन्न भावों का विभिन्न अभिव्यंजक रूपों से घनिष्ट संयोजन स्थापित कर देता है। काव्य-रचना के अनवरत श्रम और अभ्यास के फलस्वरूप, यह संयोजन अभेद्य हो जाता है। यही स्थिति-स्थापना अर्थात् 'कण्डीशनिंग' है। यही स्थिति-स्थापना अत्यन्त दृढ और आगे चलकर विघ्नकारी हो जाती है।

यहाँ से कवि-जीवन के अगले स्तर का आरम्भ होता जाता है, बशर्ते कि कवि अभी भी विकास-पथ पर हो। कवि को अब यह प्रतीत होने लगता है कि अब तक वह जिसे अपनी अन्त:प्रकृति से साक्षात्कार कहता आया है, वह वस्तुत: उसके विगत भाव जीवन की कुछ विशेष मूलबद्ध भाव-श्रेणियों का बोध-मात्र था। उसको अब इस स्तर पर आकर यह प्रतीत होने लगता है कि उसका वास्तविक भाव जीवन कुछ ही, अर्थात् सीमित, भाव-श्रेणियों में बद्ध करके नहीं आँका जा सकता। यही नहीं, वरन् वे उसके पुराने स्थायी भाव और वे भाव-श्रेणियाँ, अपना पुराना तनाव बिलकुल खो चुकी हैं। लेकिन मुश्किल यह है कि पुरानी भवाभिव्यक्ति के पुराने उत्पादन, और पुराने उपादानों से समन्वित पुराने भाव-अर्थात् सोचने, प्रकट करने, विचार करने, अनुभव करने, की पुरानी आदतें प्रबल रूप से विराजमान हैं। दूसरे शब्दों में, कवि ने पहले से ही अपनी जो स्थिति-स्थापना करके रखी है, वह अब पग-पग पर उसके आड़े आ रही है। अगर वह आत्मानुभूत नये भावों को प्रकट करने की कोशिश भी करता है तो भी पुराने भावों से गर्भित उपमाएँ और पुराने भावों से संयुक्त प्रतीक नवीन अर्थ-सत्ता को समाप्त कर देने पर तुले रहते हैं।

किन्तु, बहुतेरे कवि इन कठिनाइयों के बोध तक, जीवन के इस घुमाव तक, आ ही नहीं पाते। वे आगे के विकास के बजाय अपने ही आसपास घूमते रहते हैं। फलत: उनके पूर्व की स्थिति-स्थापना, यान्त्रिक रूप से, पुरानी गूँजें प्रकट कराती रहती है। उनके खुद के तैयार किये पुराने शिकंजे यानी पुराने भाव और उनकी अभिव्यक्ति-उन्हें आगे बढ़ने नहीं देते। कण्डीशंड साहित्यिक रिफ़्लेक्सेज यन्त्रवत् कविताएँ तैयार करवाते हैं। मनोवेग यान्त्रिक हो जाते हैं, अभिव्यंजक रूप जड़ीभूत हो जाते हैं। कवि अपने बनाये कठघरे में फँस जाता है और एक समय आता है जब कवि कतई मर जाता है, किन्तु उसका शरीर शतायु रहता है।

भाव तथा उसकी अभिव्यक्ति की यह जड़ीभूत वृत्ति यदि हिला-डुलाकर ज़बरदस्ती लचीली न बनायी जाये तो अजीब दृश्य सामने आते हैं। उदाहरणत: तत्त्व तो होता है अत्यन्त आधुनिक, किन्तु उसकी रूप-योजना होती है बहुत पुरानी। कहा तो कह जाता है कि तत्त्व अपना स्वयं का रूप विकसित करता है, किन्तु उसे अपना रूप विकसित करने की स्वतन्त्रता दी जाये तब न। वास्तविकता यह है कि स्वयं के द्वारा विकसित किय गये व्यवधान, जो कण्डीशंड साहित्यिक रिफ़्लेक्सेज़ का ही अंश होते हैं, उस आधुनिक तत्त्व की आधुनिक अर्थ-सत्ता को समाप्त कर देने की राह देखते रहते हैं।

कण्डीशंड सहित्यिक रिफ़्लेक्सेज़ बनने का नियम प्राकृतिक है। किन्तु उसके साथ यह भी स्वाभविक है कि कवि-मनुष्य के अन्तर्व्यक्तित्व में परिवर्तन होता जाये। इस परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली नयी भाव-श्रेणियाँ, पुराने रिफ़्लेक्सों से टकरायेंगी ही। यदि साहसपूर्वक कवि इस आत्मसंघर्ष की तीव्र करता गया, और आत्म-निरीक्षण द्वारा उसे और सार्थक बनाता गया, तो यह आशा की जानी चाहिए कि वह नयी भूमि की खोज करके रहेगा।

किन्तु इस आत्मसंघर्ष में बहुतेरे विघ्न उपस्थित होते रहते हैं। सबसे बड़ा विघ्न तो यह उत्पन्न होता है कि पुराने कण्डीशंड साहित्यिक रिफ़्लेक्सेज़ द्वारा तैयार की गयी मूल्य-भावना नयी मूल्य-भावना के पैर ज़मने ही नहीं देती। उदाहरणतय: कवि ने कुछ साहसपूर्वक नया लिखा भी कि वही कवि, स्वयं, काव्य-श्रेष्ठता की अपनी पुरानी संवेदनाओं के अनुसार, नयी रचना को तौलने लगता है। जब उसे यह मालूम होता है कि काव्य-श्रेष्ठता की उसकी मूलबद्ध (पुरानी) संवेदना के अनुसार, वह नया कुछ मूल्य नहीं रखता, तो वह कवि नयी दिशा में विशेष साहस नहीं कर पाता। दूसरे शब्दों में, कण्डीशंड साहित्यिक रिफ़्लेक्सेज़ उसे खूब ही छकाते हैं।

आत्मसंघर्ष के दौरान में एक बड़ी बाधा यह उत्पन्न होती है कि कवि अपने को हमेशा शुरू की सीढ़ी पर, एक अल्पबुद्धि 'बिगिनर', एक नौसिखिया उम्मीदवार, के रूप में ही पाता है। साथ ही, वह एक विचित्र प्रकार का अकेलापन महसूस करता है, क्योंकि जिस काम में वह व्यस्त है उसमें शायद ही कोई संलग्न हो। एक ओर, प्रकट होने के लिए बेचैन यथार्थ उसकी क्षमता को चुनौती देता है। यहाँ तक कि कभी-कभी उस चुनौती को ग्रहण करने के दौरान में, कण्डीशंड साहित्यिक रिफ़्लेक्सेज़ बीच

में आकर हृदय में आत्मविश्वास की हानि की घटना घटित कर देते हैं। मेरी अनगिनत कविताएँ इस घटना से खण्डित होकर इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं।

आत्मसंघर्ष का अर्थ, कवि के हृदय में, केवल नये और पुराने के बीच झगड़ा नहीं है। कण्डीशंड साहित्यिक रिफ़्लेक्स, कवि को उसके नये अनुरोधों और उद्वेगों से हटाकर, उसको अलग रूपों और चित्रों की तरफ उसे ले जाते हैं। किन्तु जिस कवि में आत्म-निरीक्षण जितना तीव्र होगा, वह कण्डीशंड साहित्यिक रिफ़्लेक्सेज़ से उतना ही जूझ सकेगा। नि:सन्देह इस आत्म-निरीक्षण के अन्तर्गत अपने मूल कथ्य के महत्व की पहचान भी है। इस नयी भावना के प्रति जो कवि जितना ईमानदार और आग्रहशील रहेगा, वह धीरे-धीरे नयी अभिव्यक्ति का रास्ता खोज लेगा।

रचना-प्रक्रिया, वस्तुत: एक खोज और एक ग्रहण नाम है। अभिव्यक्ति के कार्य के दौरान कवि नयी खोज भी कर लेता है। इस तथ्य को मैं एक उपमा-चित्र द्वारा स्पष्ट करना चाहूँगा।

वीरान मैदान, अँधेरी रात, खोया हुआ रास्ता, हाथ में एक पीली मद्धिम लालटेन। यह लालटेन समूचे पथ को पहले से उद्घाटित करने में असमर्थ है। केवल थोड़ी-सी जगह पर ही उसका प्रकाश है। ज्यों-ज्यों वह पग बढ़ाता जायेगा, थोड़ा-थोड़ा उद्घाटन होता जायेगा। चलनेवाला पहले से नहीं जानता कि क्या उद्घाटित होगा। उसे अपनी पीली मद्धिम लालटेन ही का सहारा है। इस पथ पर चलने का अर्थ ही पथ का उद्घाटन होना है, और वह भी धीरे-धीरे, क्रमश:। वह यह भी नहीं बता सकता कि रास्ता किस ओर घूमेगा या उसे किन घटनाओं या वास्तविकताओं का सामना करना पड़ेगा। कवि के लिए, इस पथ पर आगे बढ़ते जाने का काम महत्वपूर्ण है। वह उसका साहस है। वह उसकी खोज है। बहुतेरे लोग, जिनमें कवि भी शामिल हैं, इस तथ्य को भूल जाते हैं, क्योंकि वे उसपर चलना नहीं चाहते, अथवा बीच में से ही भाग जाना चाहते है।

इस रास्ते पर बढ़ने के लिए, नि:सन्देह, आत्मसंघर्ष करना पड़ता है। केवल एक लालटेन है, जिसके सहारे उसे चलना है।

इस उपमा को देखकर बहुतेरे लोग यह आरोप लगायेंगे कि यहाँ किसी अवचेतनवादी सिद्धान्त का निरूपण हो रहा है। किन्तु कोई भी रचनाकार यह जानता है कि रचना के बढ़ते जाने के मार्ग का नक्शा, रचना के पूर्व नहीं बनाया जा सकता, और यदि बनाया गया तो वह यथातथ्य नहीं हो सकता। रचना-प्रक्रिया, वस्तुत: एक स्वायत्त प्रक्रिया है। और वह किन्हीं मूल उद्वेगों और अनुरोधों के सहारे चली चलती है। ये उद्वेग और अनुरोध ही वह लालटेन है, जिसको हाथ में लेकर उसे आगे चलना होता है।

और यह पथ क्या है? वस्तुत: बाह्य संसार का आभ्यन्तरीकृत रूप है। बाल्यकाल से ही मनुष्य, बाह्य संसार का अनवरत आभ्यन्तरीकरण करता रहा है। और इस प्रकार वह उस आभ्यन्तरीकृत बाह्य को उन विशेषताओं से समन्वित और सम्पादित करता रहा है, जो उसके 'स्व' की विशेषताएँ हैं।

यह आभ्यन्तरीकृत बाह्य, या कहिये कवि की अपनी सम्पत्ति अथवा, दूसरे शब्दों में, कवि का मनोजगत्, किन्हीं उद्वेगों या अनुरोधों से विचलित होकर कल्पना-नेत्रों के सामने चंचल हो उठता है। उसे प्रतीत होता है कि उसकी चेतना अँधेरे मैदान में बहनेवाली सरिता है, जिसकी लहरें कुछ क्षणों के लिए चमक-चमक उठती हैं।

उसके चेतन बोध, यानी ध्यान के ओट के कारण ही वह इस आभ्यन्तर वास्तव को रहस्यमय ही समझेगा। यह उसके लिए स्वाभाविक ही है। किन्तु जब वह रचना कर चुकता है, तो उसकी रचना, वस्तुत: पुनर्रचित जीवन ही होती है - वह जीवन, जो आत्म-पक्ष और वस्तु-जगत् की क्रिया-प्रक्रिया से बना हुआ है।

चूँकि कवि का आभ्यन्तर वास्तव बाह्य का आभ्यन्तरीकृत रूप ही है, इसीलिए कवि को अपने वास्तविक जीवन में, रचना-बाह्य काव्यानुभव जीना पड़ता है। कवि केवल रचना-प्रक्रिया में पड़कर ही कवि नहीं होता, वरन् उसे वास्तविक जीवन में अपनी आत्म-समृद्धि को प्राप्त करना पड़ता है और मनुष्यता के प्रधान लक्ष्यों से एकाकार होने की क्षमता को विकसित करते रहना पड़ता है। यही कारण है कि काव्य केवल एक सीमित शिक्षा और संस्कार नहीं है, वरन् एक व्यापक भावनात्मक और बौद्धिक परिष्करण (कल्चर) है - वह कल्चर, वह परिष्कृति, जो वास्तविक जीवन में प्राप्त करनी पड़ती है।

बाह्य का आभ्यन्तरीकरण एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। यदि यह आभ्यन्तरीकरण, बचकाने ढंग से, दूषित दृष्टि से, अवैज्ञानिक रूप से, और मनो-विकृतियों से, ग्रस्त होकर किया गया हो, तो तुरन्त ही उसका साहित्य पर भी परिणाम होता है। इसीलिए कवि के लिए सतत आत्म-संस्कार आवश्यक है, जिससे बाह्य का आभ्यन्तरीकरण सही-सही हो।

ध्यान रहे कि मनोवेगों में स्वयं-स्फूर्ति के अतिरिक्त यान्त्रिकता भी होती है। यही यान्त्रिकता विवेक की शुत्र है। अपने से ऊपर उठकर सोचने-समझने की शक्ति तथा भावना, मन की संवेदना - ये दो छोर हैं स्रष्टा मन के।

जगत्-जीवन के संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना में समायी हुई मार्मिक आलोचन-दृष्टि के बिना कवि-कर्म अधूरा है।

विश्व संघर्ष की पार्श्वभूमि में व्यक्ति-संघर्ष और विश्व-स्थिति की पार्श्वभूमि में व्यक्ति-स्थिति रखकर, अन्तर्वाह्य वास्तविकताओं से प्रेरित जो लक्ष्य-चित्र आविर्भूत होते हैं, वे भव्य प्रेरणाओं को उत्सर्जित करते हैं। मेरा अनुभव मुझे यह बताता है कि नयी कविता में नियो-क्लासिसिज़्म के बीज पक चुके हैं। और अभी से विभिन्न कवियों में उसकी आशाएँ प्रकट हो रही हैं।

हिन्दी में इन दिनों दो प्रकार के वर्ग काम कर रहे हैं। एक, उच्च-मध्यवर्गीय जन, दूसरे, निम्न-मध्यवर्गीय जन। इन दोनों के बीच की खाई लगातार चौड़ी होती जा रही है। विश्व का जो आभ्यन्तरीकरण ये दो वर्ग करते जा रहे हैं, उसमें बड़ा भेद दृष्टिगत हो रहा है। इन दोनों श्रेणियों की प्रधान भावनाएँ एक-दूसरे से जुदा हो चुकी हैं। दोनों के सामने दुनिया दो अलग संवेदनात्मक रूपों में प्रस्तुत हो रही है। प्रगतिशील जीवन-मूल्य निम्न-मध्यवर्गीय श्रेणी के भावना-चित्रों में अधिक पाये जाते हैं। इस श्रेणी में, जीवन-संघर्ष की अधिकता के फलस्वरूप, अन्तर्मुखता और भाव-सघनता तो होती ही है, किन्तु उसके साथ शिक्षा, स्वाध्याय और समय के अभाव के कारण, कांव्य-सौन्दर्य के विकास के प्रति विमुखता भी दृष्टिगोचर होती है। किन्तु सबसे अधिक चिन्तनीय यह है कि वे तथाकथित अभिजात उच्च-मध्यवर्गीय काव्य-संस्कृति में आच्छन्न होकर अपनी विशिष्टता को प्रखर रूप से प्रकट नहीं कर पाते।

यह धारणा गलत है कि आत्मपरक काव्य व्यक्तिवादी काव्य है। भारतीय संस्कृति द्वारा विकसित की गयी परम्पराओं में से एक परम्परा आत्मपरक काव्य की है। आत्मपरक काव्य में प्रगतिशील जीवन-मूल्य भी प्रकट होते हैं, होते रहते हैं।

अपने लक्ष्यों के प्रति हार्दिक स्नेह के बिना, जिज्ञासा, आत्म-संस्कार, आत्मनिरीक्षण तथा आत्म-संघर्ष, सब व्यर्थ है। लक्ष्यों के प्रति दुर्दान्त स्नेह की आस्तिकता के बिना वास्तविक अस्मिता का विकास नहीं हो सकता, और उन्हीं के सन्दर्भ से हमेशा यह जाना जायेगा कि कवि किस सतह से बोल रहा है। ध्यान रखना चाहिए कि कवि किस सतह से बोल रहा है, यह हमेशा महत्वपूर्ण होता है और यही उसके निवेदनों या चित्रणों को द्योतित करता है।

(नयी कविता का आत्मसंघर्ष से)

13. काव्य की रचना-प्रक्रिया : दो

– गजानन माधव मुक्तिबोध

रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में मतों की भिन्नता स्वाभाविक है। इसका एक कारण तो यह है कि रचना-प्रक्रियाएँ स्वयं भिन्न-भिन्न होती हैं। वे कवि-स्वभाव, कवि-दृष्टि और विषय-वस्तु के अनुसार बनती-बदलती रहती हैं। रचना-प्रक्रिया का कोई निर्विशिष्ट सामान्य रूप नहीं है, यद्यपि यह सही है कि उस प्रक्रिया के मूल तत्व सर्व-सामान्य हैं।

इस बात को हम यों समझें। संवेदनात्मक उद्देश्य, कल्पना, भावना, बुद्धि-तत्व सर्व-सामान्य हैं। उनके कार्य के बिना रचना-प्रक्रिया सम्भव नहीं है। किन्तु, इन तत्त्वों की विभिन्न मात्राओं, विभिन्न अनुपातों और विभिन्न प्रकार के योगों से विभिन्न विशिष्ट रूप प्राप्त होते हैं। ये योग विभिन्न संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार घटित होते हैं। ये संवेदनात्मक उद्देश्य रचनाशील मन की अपनी निधि हैं, और उस पूरे अन्तर्जगत् का अंग हैं, कि जो अन्तर्जगत् कवि ने पाया और विकसित किया है। यह अन्तर्जगत् बाह्य-जगत् का आत्मकृत संशोधित-सम्पादित अन्त:संस्कृत रूप है, और उस क्रिया-प्रतिक्रिया की गतिमान परम्परा की उपज है, कि जो क्रिया-प्रतिक्रिया लेखक बाल्यकाल से बाह्य के प्रति करता आया है। संक्षेप में, रचना-प्रक्रिया के भीतर न केवल भवना, कल्पना, बुद्धि और संवेदनात्मक उद्देश्य होते हैं, वरन् वह जीवनानुभव होता है जो लेखक के अन्तर्जगत् का अंग है, वह व्यक्तित्व होता है जो लेखक का अन्तर्व्यक्तित्व है, वह इतिहास होता है जो लेखक का अपना संवेदनात्मक इतिहास है। और केवल यही नहीं होता।

बाह्य से प्राप्त ज्ञान-निधि और भाव-परम्परा लेखक के अन्तर्जगत् में स्थान पाकर, उसके (लेखक के) व्यक्तित्व की आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दिशा में, अपने विभिन्न रूप (उसके हृदय में) गठित करती हुई उसकी अपनी ज्ञान-निधि और भाव-परम्परा बन जाती है। बाह्य से प्राप्त ज्ञान और भाव लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व में ऐसे घुल-मिल जाते हैं कि वे उसके निजी हो जाते हैं। इसीलिए कोई भी लेखक अपने युग से केवल प्रभावित नहीं होता, वह अपने युग का अंग होता है।

काव्य-कला-सम्बन्धी जितनी भी समस्याएँ हैं वे इस पूरी-की पूरी प्रक्रिया के किसी स्तर-विशेष से सम्बन्धित होती हैं। उदाहरण के लिए, ऐसी समस्याएँ लीजिये जिनको पुराने प्रगतिवाद से उठाया। कहा गया कि लेखक को अपने युग का सही-सही प्रतिनिधित्व करना चाहिए, इस प्रकार से कि वह युग की ह्रासशील दशा के विरुद्ध प्रगतिशील प्रवृत्तियों को उभारे, समाज में जो शक्तियां, विषमता, अनाचार और उत्पीड़न को कायम रखना चाहती हैं, उनके विरुद्ध वह साम्य-मूलक समाज के आदर्श की स्थापना करे और पाठक को वैसी प्रेरणा प्रदान करे।

इस प्रकार के आग्रह के विरोध में जो कहा गया वह सबको विदित है—यह, कि लेखक स्वतन्त्र है, और नेताओं तथा शासकों के आदेश को मानने के लिए वह बाध्य नहीं है, कि इस प्रकार के आग्रहों से साहित्य में रेज़िमेन्टेशन होता है।

ये सब विवाद हिन्दी-साहित्य के इतिहास की वस्तु हो गये हैं। किन्तु इस विवाद के मूल कारण-स्रोत भले ही आँखों से ओझल हो जायें, वे लुप्त और नष्ट नहीं हुए हैं। आज भी लेखक के दायित्व की बात की जाती है। यही क्यों? एक के देखा-देखी दूसरा भी एक ही प्रकार के भाव और शैली का प्रयोग करता है, एक ही प्रकार की परम्परा और प्रणाली को अपनाता है, और इस प्रकार एक विशेष प्रकार के काव्य की एक विशिष्ट धारा और रूढ़ि बन जाती है—भाव-रूढ़ि, रूप-रूढ़ि, शैली-रूढ़ि। हाँ, यह सही है कि कवि-स्वभाव के अनुसार किंचित् भेद यत्र-तत्र दिखायी देता है। फिर भी वह काव्य-प्रवृत्ति प्रणाली और रूढ़ि का रूप तो धारण कर ही लेती है, भले ही विशिष्ट कवियों में हमें विशिष्ट भिन्नताएँ भी दिखायी दें, जैसे प्रसाद और महादेवी के काव्य में, या शमशेर तथा उसी शैली के किसी दूसरे कवि में। तो क्या युग स्वयं रेज़िमेन्टेशन नहीं करता? रीतिकाल में विशिष्ट शैली और विशिष्ट भाव-प्रणाली की कविता ही क्यों हुई? क्या वह रेज़िमेन्टेशन नहीं था? और हम अपने युग की शृंखलाओं को भी क्यों स्वीकार करें? यह सही है कि कोई भी लेखक अपने व्यक्तित्व से, अपने इतिहास से, अर्थात् अपने देश-काल से, स्वतन्त्र नहीं है। किन्तु, जब वह सचमुच स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करता है तो इसका अर्थ यह है कि युग बदलने के लक्षण सामने आ रहे हैं, तो दूसरी ओर, यह भी, कि लेखक आदर्श-अनुगमन करने के लिए भीतर से बाध्य हो उठा है, क्योंकि (उपर्युक्त अर्थ में) स्वतन्त्रता, वस्तुत:, एक आदर्श है, वह वास्तविकता नहीं है। अपनी युग की सीमाओं के परे देखकर, परे जाकर, आगे के मार्ग को देखना महत्वपूर्ण घटना है। इस बात को हम कैसे भूल सकते हैं।

आज भी हमें (नये कवियों को) भारतीय संस्कृतिवादी पुरोहित पाठ पढ़ाते रहते हैं कि कवियों को यह करना चाहिए, वैसा होना चाहिए। और इस प्रकार के आग्रह और प्रश्न आगे भी उठते रहेंगे।

इन सारे प्रश्नों का सम्बन्ध कवि के अन्तर्जगत् से है। कवि से जब हम यह कहते हैं कि उसे ऐसा करना चाहिए और वैसा नहीं लिखना चाहिए, तो, वस्तुत:, हम उसके अन्तर्जगत् (और उसके अन्तर में स्थित जीवन-मूल्य-पद्धति) पर आक्षेप कर रहे हैं। इस प्रकार के आग्रह उसके अन्तर्जगत् में संशोधन करने के आग्रह हैं।

ये आग्रह ग़लत हैं या सही हैं, यह मैं नहीं कह रहा हूँ। इस प्रकार के बाह्य से उद्गत आग्रह स्वयं लेखक मान सकता है। ठीक यहीं लेखक की सिनसियॉरिटी का प्रश्न उठता है। बाह्य से उद्गत आग्रहों को माननेवाले ऐसे बहुतेरे लेखक हो सकते हैं जो अवसरवादी प्रेरणाओं से वैसा मानने के लिए तैयार हों, और बाह्य से उद्गत आग्रहों को स्वीकार कर लें। किन्तु कुछ लेखक नि:सन्देह ऐसे भी हो सकते हैं जो स्वेच्छापूर्वक और आत्म-प्रेरणापूर्वक इन बाह्योद्गत आग्रहों को मानें और उन आग्रहों में प्रकट जीवन-दृष्टियों को आत्मसात् करके उन दृष्टियों को ही अपने अन्तर्जगत् का अंग बना लें। लेखक की सिनसियॉरिटी का प्रश्न, वस्तुत:, उसके अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है। यदि वह अभिव्यक्ति कृत्रिम है तो नि:सन्देह वहाँ सिनसियॉरिटी नहीं है। किन्तु कृत्रिमता केवल इनसिनसियॉरिटी की ही उपज नहीं होती, वह अकवित्व की (भी) उपज होती है, अर्थात् अन्तर्जगत् की निर्जीवता और जड़ता का प्रमाण हो सकती है।

इसी प्रकार का प्रश्न कवि की नि:संगता का प्रश्न है। जब बाह्य से आग्रह बलवान होते हैं और कवि उनके दबाव को सह नहीं पाता, तो वह अपनी मूलभूत नि:संगता का सिद्धांत प्रतिपादित करते हुए कहता है कि सृजन अकेले में होता है, साहित्य व्यक्ति की उपज है, जो-व्यक्ति के लिए है। (बाह्य आग्रहों के दबाव और प्रभाव के निरोध के लिए, प्रतिरोध के लिए, उपर्युक्त तर्क प्रस्तुत किया जाता है।)

यह सही है कि सृजन अकेले में होता है। ऐसी बहुत-सी बातें होती हैं, जो बिल्कुल अकेले में होती हैं। कहा जा सकता है कि वहाँ भी संग होता है। किन्तु, फिर भी, वह ऐकान्तिक संग समाज-स्वीकृत या समाज-निन्दित होता है। संक्षेप में, मनुष्य की ऐकान्तिक दशा भी समाज के लिए विचारणीय होती है, बशर्ते कि उसका कोई सामाजिक परिणाम हो या सामाजिक प्रभाव हो। ठीक इसी प्रकार, सृजन की ऐकान्तिकता में भी सहचरत्व होता है, संग होता है। इस संग या सहचरत्व के बिना सृजन सम्भव नहीं है। इस सृजन का परिणाम अर्थात् कलाकृति पाठकों के हाथ में जाने पर समाज में प्रवेश करती है, और समाज में अपना प्रभाव उत्पन्न करती है। इसीलिए समाज उस पर सोचता-विचारता है, और जिस कलाकृति का श्रेष्ठतम प्रभाव उत्पन्न होता है, उसका रचयिता समाज द्वारा पूज्य होता है।

संक्षेप में, इस प्रकार के जितने भी प्रश्न हैं वे कलाकार द्वारा आभ्यन्तरीकृत जगत् से सम्बन्ध रखते हैं, अथवा आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया से सम्बन्ध रखते हैं, या कलाकार की उस स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं कि जब कलाकार स्वत:-संस्कृत आभ्यन्तरीकृत जगत् की अभिव्यक्ति करता है, अर्थात सृजन करता है। इसीलिए कलाकृति में व्यक्त व्यक्तित्व की भी अलोचना की जाती है। इसीलिए कहा जाता है कि अमुक कवि की अति-भावुकता अवांछनीय है अथवा उसकी भाव-दृष्टि में दोष है, अथवा लेखक साम्प्रदायिक (धार्मिक अर्थ में नहीं) दृष्टि से जीवन-जगत् की व्याख्या करता है अपनी कलाकृति में, इत्यादि-इत्यादि। दूसरे शब्दों में, कला-कृति में प्रकट अन्तर्जगत् और कवि के व्यक्तित्व की समीक्षा और उसका मूल्यांकन किया जाता है, कहा जाता है कि यह भाव कृत्रिम है, या इसमें लेखक की ईमानदारी है, या उसने जीवन को खूब देखा-परखा है।

आलोचना की दृष्टि से जो बात सबसे पहले सामने आती है, कवि-कर्म और रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से वह सबसे अन्तिम है। रचना-प्रक्रिया के प्रवाह में रहकर लेखक अपने भावों की शब्दों से तुलना करता है। जो शब्द सर्वाधिक प्रातिनिधिक हैं, उनकी खोजना करता है। वह शब्द-साधना करता है। साथ ही संगति और निर्वाह को साधता चलता है, वह अपने ही भावों के उत्स को संयमित कर उनका सम्पादन-संशोधन करता है--संगति और निर्वाह के हेतु। जब उसकी शब्दाभिव्यक्ति उसी के लिए रमणीय हो जाती है, तब वह सन्तुष्ट हो जाता है, भले ही आगे चलकर वह उसमें, नवीन-प्राप्त सूक्ष्म-दृष्टि के अनुसार, फिर से संशोधन करे।

किन्तु, पाठक और आलोचक किसी कलात्मक अभिव्यक्ति के सिंह-द्वार से सीधे अन्तर्जगत् में प्रवेश करते हैं—वह अन्तर्जगत् जो किसी कलाकृति में उद्घाटित हुआ है, वह अन्तर्जगत् जिसमें कलाकार का व्यक्तित्व, उसके जीवनानुभव, उसकी भाव-दृष्टि समायी हुई है। पाठक-आलोचक का मन उस अन्तर्जगत् में रमता है, उसका रस लेता है, उसमें विचरण करता है, और यदि उस अन्तर्जगत् में उसे कहीं (अपने लिए) बाधा दिखायी दी तो वह वहाँ ठहर जाता है और सोचने लगता है। उसे कलाकार का अन्तर्जगत्, उसमें समाया हुआ व्यक्तित्व और भाव-दृष्टि आकर्षित करती है। और वह यह ढूँढ़ने लगता है और पा जाता है कि वह भाव-दृष्टि उसके लिए (और सभी के लिए) क्यों महत्त्वपूर्ण है, या नहीं है।

संक्षेप में, रचना-प्रक्रिया का जो सर्वाधिक मूल-स्थित, सर्वाधिक प्रच्छन्न, किन्तु क्रमश: प्रकट होने वाला अंश है, वह पाठक और आलोचक के लिए सर्वप्रथम है। कलाकार रचना के समय, शब्दाभिव्यक्ति के संघर्ष में, संगति और निर्वाह के संघर्ष में, भावों के उत्स को प्रातिनिधिक रूप देने के यत्न में लीन होता है। यह उसका तात्कालिक संघर्ष है। पाठक-आलोचक का यह तात्कालिक यत्न नहीं है। कलात्मक अभिव्यक्ति उसके लिए कलाकृति का केवल सिंह-द्वार है, जिसमें से गुजरकर वह अन्तर्जगत् के क्षेत्र में विचरण करता है। इसीलिए मैंने कहा कि पाठक आलोचक के ध्यान का जो प्राथमिक केन्द्र है वह है अन्तर्जगत्, और रचयिता के ध्यान का जो प्राथमिक केन्द्र है वह है अन्तर्जगत् की प्रातिनिधिक शब्दाभिव्यक्ति और कलात्मक संगति और निर्वाह।

कलात्मक अभिव्यक्ति के सिंह-द्वार में से गुज़रकर, अन्तर्जगत् में विचरण कर चुकने, रस ले चुकने, व्यक्तित्व और भाव-दृष्टि का प्रभाव ग्रहण कर चुकने के उपरान्त, पाठक-आलोचक अन्तर्जगत् के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही सहसा सोचने लगता है कि प्रभाव उत्पन्न करने के वे उपादान कौन-कौन से हैं, जिन्होंने सफल अभिव्यक्ति की तैयारी की, अथवा सफलता के मार्ग पर चलते-चलते लेखक ने कौन-सी बाधाएँ उत्पन्न कर दीं। अब वह रूप और शिल्प के सम्बन्ध में सोचने लगता है। संक्षेप में, किसी कलाकृति को लेकर पाठक-अलोचक की यात्रा भिन्न दिशा की ओर होती है, सृजन करते समय कलाकार की यात्रा उसके विपरीत दिशा की ओर होती है। इस तथ्य को हृदयंगम करना आवश्यक है।

तब समझ में आयेगा कि जीवन-जगत् के आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया कलाकार के लिए क्यों महत्वपूर्ण है। यह प्रक्रिया कलाकार के वास्तविक जीवन में चलती रहती है। किन्तु क्या वह समुचित रूप से और प्रबुद्ध दृष्टि से युक्त होकर चलती रहती है? यदि कलाकार का जीवन, उसका बाह्य और मानसिक जीवन, तुच्छ है, अर्थात् नव-नवीन संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनाओं से हीन है, यदि उसमें उदार सहानुभूतियों का विस्तार नहीं है, यदि उसमें नितान्त आत्मबद्धता है, तो फिर ऐसा अन्तर्जगत् कलाभिव्यक्ति के लिए महत्वहीन है। संक्षेप में, उस अन्तर्जगत् में महत्व की सूचनाएँ चाहिए। (यहाँ महत्व का अर्थ है, जो महत्वपूर्ण है वह।)

यही कारण है कि आदिकाल से कवि को महान् माना गया है, उसके अन्तर्जगत् में महत्व की स्थापना को देखकर। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि कवि को अध्यात्मवादी, आदर्शवादी, अमुक-तमुक-वादी होना चाहिए। मैं सिर्फ़ यह कहना चाहता हूँ कि कवि के अन्तर्जगत् की ओर आदिकाल से ध्यान गया है, और उसके महत्व की स्थापना की गयी है।

किन्तु आधुनिक युग में, जबकि व्यक्ति पर तरह-तरह के दबाव हैं, उनमें से एक दबाव समाज का भी होता है। उसी प्रकार कलाकार पर भी समाज का दबाव होता है। समाज के दबाव के माध्यम भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। परम्परा का वहन समाज का दबाव नहीं तो क्या है? उसी प्रकार प्रचलित काव्य-प्रणाली से अपनी संगति एक अन्य प्रकार का सामाजिक दबाव ही है। हाँ, यह सही है कि ये दबाव प्रत्यक्ष नहीं, वरन् अप्रत्यक्ष होते हैं। जिस प्रकार इनडायरेक्ट टैक्सेशन (अप्रत्यक्ष कर-व्यवस्था) उपभोक्ता को नहीं खलता, उसी प्रकार समाज के अप्रत्यक्ष दबाव भी सामने नहीं आते, किन्तु वे बराबर सक्रिय रहते हैं।

उसी प्रकार वैचारिक आन्दोलन के रूप में भी कई सामाजिक दबाव होते हैं। ये विशेष आग्रहों-अनुरोधों का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार के विशेष आग्रह-अनुरोध कभी केवल कलात्मक शब्दावली का रूप भी धारण करते हैं। कला के एक विशेष पैटर्न के आग्रह, कला-सम्बन्धी एक विशेष भाव-दृष्टि से आग्रह, कोई वैचारिक दृष्टि अपनाने के आग्रह, लोकोपयोगी कला-सृजन करने के आग्रह—सब वस्तुतः सामाजिक दबाव ही हैं, किसी में किसी भाव-दृष्टि का आग्रह है तो किसी में किसी पैटर्न का आग्रह।

ये सब दबाव या आग्रह उचित होते हैं, यह कहना ग़लत है। उसी प्रकार ये सब अनुचित होते हैं, यह कहना भी उतना ही ग़लत है। उनमें से बहुत-से-आग्रह न केवल सही, वरन् पूर्णतः उचित हो सकते हैं।

किन्तु आग्रह-कर्ता जब एक वातावरण निर्मित करके कलाकार पर दबाव लाना चाहते हैं, तो वे यह नहीं देखते कि दबाव का, वस्तुतः क्या प्रभाव होगा। हाँ यह सही है कि ऐसे बहुतेरे निकल आते हैं जो अपनी अपरिपक्वावस्था के कारण, अथवा विशुद्ध अवसरवादी दृष्टि से प्रेरित होकर, दबाव ग्रहण करके उस दबाव के अनुसार कलाकृति प्रस्तुत करते हैं, चाहे घटिया ही क्यों न सही। शेष, जो दबाव स्वीकार करना नहीं चाहते, और चाहते हुए भी नहीं ही कर सकते, वे चुप बैठ जाते हैं, अलग हट जाते हैं और तिरोहित होने में ही अपना कल्याण समझते हैं। मेरे ख्याल से ये दोनों परस्पर-विपरीत प्रतिक्रियाएँ या परस्पर-वैपरीत्य सही भी हो सकता है, ग़लत भी। यह विशेष परिस्थिति पर निर्भर है कि कौन-सा ग़लत है, कौन-सा सही।

किन्तु इन आग्रहों की आधार-भूमि, इन आग्रहों के मूल-स्रोत, यदि व्यापक मानवीय सहानुभूति और करुणा से समन्वित हैं, यदि किसी व्यापक मानवीय आदर्श से प्रेरित हैं, तो यह अनुमान करना ग़लत नहीं है कि उन्हीं व्यापक सहानुभूतियों और व्यापक मानवीय आदर्शों का कुछ-न-कुछ तत्व या कुछ-न-कुछ अंश लेखक भी अपने में आत्मसात् किये हुए है। अतएव किसी सामान्य भूमि पर आग्रह-कर्त्ता और लेखक दोनों एकत्र हो सकते हैं, बशर्ते कि (और यह बड़ी शर्त है) आग्रहकर्त्ता महोदय रचना-प्रक्रिया में भी सूक्ष्म दृष्टि रखते हों, और उस रचना-प्रक्रिया का एक सिरे, अर्थात् लेखक के हृदय में तड़पते हुए जीवनानुभव, जीवनानुभवों के सामान्यीकरण (ज्ञान) और भाव-दृष्टि, को खूब समझते हों। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल छायावादी रचना-प्रक्रिया को नहीं समझते थे, इसीलिए उसका विरोध करते रहे। अधिक-से-अधिक, छायावाद को उन्होंने 'अभिव्यक्ति की लाक्षणिक प्रणाली' ही माना। डॉ. रामविलास शर्मा को प्रयोगवादी या नयी कविता में, 'असुन्दर' और 'विद्रूप' से अधिक कुछ नहीं दीखता। शिवदानसिंह चौहान को इस बात का खेद है कि आज की कहानी में 'कथानक' तत्व का लोप हो रहा है। अतएव ऐसे आलोचकों के आग्रह, रचना-प्रक्रिया में सूक्ष्म-दृष्टि के अभाव में, लादे जा रहे-से और खोखले मालूम होते हैं। कारण यह है कि नयी प्रकृतियों और प्रवृत्तियों की रचना-प्रक्रिया में सूक्ष्म-दृष्टि रखने के लिए आलोचक को संवेदनात्मक जीवन-ज्ञान आवश्यक है—ऐसे जीवन का ज्ञान जो नवीन प्रवृत्ति-रूप में सामने आया हो। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके आग्रह, उनके अपने मान्यता-रूप में, स्वभावतः ग़लत हैं; नहीं,

वे सही भी हो सकते हैं। किन्तु जब तक वे लादे जायेंगे, रचना-प्रक्रिया में सूक्ष्म दृष्टि के अभाव में, वे खोखले और निरुपयोगी ही साबित होंगे, और, अपने-आपमें उनके सहीपन के बावजूद, उनका विरोध होता ही रहेगा।

दूसरी ओर, भले ही कोई लेखक वैचारिक दृष्टि से कोई बाह्य आग्रह स्वीकार कर ले, जब तक उस आग्रह के तत्वों का आभ्यन्तरीकरण नहीं होता, जब तक अन्तर्जगत् के तत्वों में उसका रंग नहीं चढ़ जाता, जब तक वह हृदय में तड़पते हुए जीवनानुभवों का एक भाग नहीं बन जाता, तब तक उस आग्रह के अनुरूप रचित साहित्य निष्प्राण और कृत्रिम ही रहेगा। लेखक के लिए मुख्य बात आभ्यन्तरीकरण की है। आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया केवल विचार तक सीमित नहीं है, वह उससे ज्यादा गहरी, व्यापक और मानसिक है। जब तक लेखक अपने स्वयं के जीवनानुभवों से प्राप्त दृष्टि के रूप में उन्हें नहीं पाता, तब तक आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया पूरी नहीं हुई, यह समझना चाहिए। सच्चा आभ्यन्तरीकरण तो तब होता है, जब लेखक ज़िन्दगी में गहरा हिस्सा लेते हुए संवेदनात्मक जीवन-ज्ञान प्राप्त करके, उसी भाव-दृष्टि तक स्वयं अपने-आप पहुँचता है, कि जो भाव-दृष्टि आग्रह-रूप में बाहर से उपस्थित की गयी है।

आग्रह कई प्रकार से उपस्थित होते हैं। कुछ कला के नाम पर, कला की शब्दावली में प्रस्तुत होकर, साहित्य-जगत् का शासन भी करने लगते हैं। कुछ समय तक उनका शासन चलता भी है, लेकिन समाज और राष्ट्र की भिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न पीढ़ी कला की शब्दावली में छिपे आग्रहों की निन्दा करती है। उदाहरणत:, सन 1960 में **सैटर्डे रिव्यु** में टी.एस. ईलियट के विरुद्ध ज़बर्दस्त आक्रमण के रूप में लिखा हुआ कार्ल शैपिरो का लेख। महत्व की बात यह है कि जीवन-परिस्थिति में परिवर्तन के साथ-साथ भाव-दृष्टि बदलने लगती है, और यथार्थ के नये-नये पहलू सामने आते हैं, जिन्हें कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए उपयुक्त शब्द सम्पदा और परम्परा नहीं होती। लेखक को नये सिरे से प्रयत्न करना पड़ता है। भले ही पुरानी पीढ़ी को नयी पीढ़ी के काव्य में कोई सौन्दर्य न दिखायी दे, किन्तु नयी पीढ़ी को उसमें ही अपना आत्म-प्रकाश, अंत: सौन्दर्य, दिखायी देता है। पुराने लेखक आग्रह-रूपी अस्त्रों से नयों का बध करने का प्रयत्न करते ही रहते हैं। मज़ा यह है कि ये आग्रह कला और सौन्दर्य के नाम पर होते हैं, फिर भी नवीन प्रवृत्तिवालों को वे स्वीकरणीय नहीं हो पाते।

संक्षेप में, यथार्थ परिवर्तनशील होता है। अतएव आग्रह भी दो प्रकार के होते हैं—एक वे जो कला या दृष्टि के नाम पर परिवर्तन-क्रम की पिछली अर्थात् विगत कड़ी या सीढ़ी की ओर खींचते हैं, और वे जो परिवर्तन-क्रम की अगली कड़ी या सीढ़ी की ओर खींचते हैं। यह अगला या पिछलापन यथार्थ के परिवर्तन-क्रम को देखकर पहचाना जाना चाहिए, न कि वैचारिक दृष्टि से उच्चतरता या निम्नतरता की दृष्टि से। ऐसा मैं क्यों कह रहा हूँ?

यह कहना इसलिए आवश्यक है कि जीवन-परिस्थितियों में परिवर्तन से, और यथार्थ के नये-नये पहलुओं के खुलने से, उनके आभ्यन्तरीकरण के द्वारा लेखक का जो संवेदनात्मक वैयक्तिक इतिहास बनता है, वह इतिहास पूर्ववर्ती प्रवृत्ति के कवियों से सर्वथा भिन्न होता है। अतएव इस नवीन प्रवृत्तिवाले की रचना-प्रक्रिया भी बदल जाया करती है, और तदनुसार अभिव्यक्ति-शैली भी। अमरीका में आज नवीन काव्य-शैली का जो प्रचलन है, उसके विरुद्ध पुराने कवियों का आक्रोश सर्वथा स्वाभाविक है। उसी प्रकार नवीन काव्य-शैलीवालों को अपने अस्तित्व के लिए पुरानों का प्रतिरोध करना पड़ता है। यह विरोध वैचारिक दृष्टि से उच्चतरता या निम्नतरता का परिणाम नहीं है, वरन् एक काव्य-प्रवृत्ति के विशेष पैटर्न को और उसके साथ उसके अन्तर्गत समय (विगत), जीवन-तत्वों को समेटे रखने और स्थायी बनाने का प्रयत्न है। इसके विरुद्ध नये का विद्रोह होना स्वाभाविक ही है। दूसरे शब्दों में, पुरानी पीढ़ी के लोग, नयी पीढ़ी के लोगों द्वारा आभ्यन्तरीकृत जगत् और आभ्यन्तरीकरण-प्रक्रिया में विकसित भाव-दृष्टि और उन दोनों से उत्पन्न अभिव्यक्ति-प्रक्रिया—इन सबको असुन्दर, निषिद्ध और बेकार ठहराने का प्रयत्न करते रहते हैं, कभी कला और सौन्दर्य के नाम पर, कभी आध्यात्मिक आदर्श के नाम पर, कभी सामाजिक प्रगति के नाम पर।

इसका अर्थ यह नहीं है कि लेखक, वैचारिक अथवा भावना की दृष्टि से, जन-विरोधी, लोक-विरोधी, प्रगति-विरोधी हो नहीं सकता। वह बराबर हो सकता है, और उसका वैसा होना दिखायी भी देता है। किन्तु किसी लेखक की विचारधारा पर आक्रमण करना एक बात है, आभ्यन्तरीकृत यथार्थ की कवि-कृत व्याख्या पर आघात करना एक बात है, किन्तु उस पूरी काव्य-प्रणाली पर चोट करना एक अलग बात है, उस पूरी रचना-प्रक्रिया और अभिव्यक्ति-शैली पर आघात करना बात ही दूसरी है। जिस प्रकार आदर्श के शब्द-व्यापार में नितान्त अवसरवाद और बेईमानी दिखायी देती है, उसी प्रकार यथार्थ के उद्घाटन के नाम पर भी अयथार्थ और कृत्रिमता भी सामने आती है। यह तो विशिष्ट-विशिष्ट लेखक की विशिष्ट-विशिष्ट रचनाओं को सामने रखकर ही तय किया जा सकता है।

संक्षेप में, लेखक की रचना-प्रक्रिया के प्राथमिक और निगूढ़ स्तर—अर्थात् लेखक का अन्तर्जगत्, लेखक के अन्तर्जगत् का संवेदनात्मक पुंज, लेखक का समग्र व्यक्तित्व—पाठक और आलोचक के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है, और उसके आकलन के माध्यम से रस-ग्रहण होता है। अतएव सबसे अधिक वाद-विवाद, सबसे ज्यादा बहस इसी को लेकर होती है।

क्यों होती है? इसलिए कि संवेदनात्मक अन्तर्जगत् अर्थात् जीवनानुभव, रचना-प्रक्रिया के दौरान में, अपने विशेष संवेदनात्मक उद्देश्यो को लेकर अवतीर्ण होते हैं। ये संवेदनात्मक उद्देश्य, एक ओर, लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व का एक भाग है, उसके अनुभवात्मक इतिहास से सम्बन्ध रखते हैं, उसने जो कुछ आत्मसात् किया है, जो कुछ पाया और खोया है उससे नाता रखते हैं, उसकी विद्यमान जीवन-स्थिति और मनोदशाओं से सम्बन्धित रहते हैं। इन संवेदनात्मक उद्देश्यों से प्रेरित होकर ही कलात्मक अभिव्यक्ति होती है। रचनाओं में प्रकट इन संवेदनात्मक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर ही कवि ने अन्तर्व्यक्तित्व का, उसके अनुभवात्मक जीवन का, उसकी भाव-दृष्टि का, हमें अनुमान होता है। इस प्रकार वे एक ओर अन्तर्व्यक्तित्व को, तो, दूसरी ओर, रचना को एक-दूसरे से जोड़ देते हैं।

जीवन में जो कुछ अर्जित है, जो कुछ संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना के रूप में प्राप्त है, अर्थात् जो कुछ विशिष्ट अनुभव हैं, और जीवन-जगत् सम्बन्धी जो कुछ आत्म-कृत सामान्यीकरण हैं, जो भी जीवन-मूल्य आत्मसात् किये हैं, और जिनके लिए संघर्ष किया है, जो संस्कार जो आदर्श जो यथार्थ हृदय का अनन्य अंग बन गया है—वह सबका सब स्थिर रूप में व्यक्तित्व का अंग होता है।

दैनिक जीवन के दैनिक कार्यों में व्यस्त रहने से हम उसे सौन्दर्य-क्षण से दूर रहने हैं, जब मन द्रवित हो जाता है, कल्पना सक्रिय होकर चित्र उपस्थित करते हुए हमें जीवन के रस में डुबोने-सी लगती है, जब हम गहन होकर विस्तृत होने लगते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसे क्षण हमें अपने अकेले में किसी कमरे में किसी टेबुल के पास मिलें और लेखनी लेकर बैठने के लिए मजबूर करें। बिल्कुल नहीं। डूबकर फैलने के ये निजी क्षण रास्ते चलते, बात करते, या कभी-कभी बिल्कुल भीड़ में या एकान्त में भी, मिल सकते हैं। यह भी आवश्यक नहीं है कि ये क्षण हमें अभिव्यक्ति के लिए मजबूर करें। फिर भी ये अद्वितीय क्षण हैं, प्रतीति के क्षण हैं, क्योंकि ये सौन्दर्य के क्षण हैं, रसात्मक क्षण हैं। ये क्षण केवल कलाकार को ही प्राप्त नहीं होते, वे सामान्य जन को भी प्राप्त होते रहते हैं। इन्हीं क्षणों में समृद्ध पाठक, आत्माभिव्यक्ति से दूर रहकर भी, अन्य द्वारा रचित कलाकृति में अपनी अभिव्यक्ति देखता है। ये क्षण मानवता के लक्षण हैं—उस मानवता के, जो व्यक्ति और देश से ऊपर रहते हुए भी प्रत्येक हृदय में समायी हुई है।

'स्व' से ऊपर उठना, खुद की घेरेबन्दी तोड़कर कल्पना-सज्जित सहानुभूति के द्वारा अन्य के मर्म में प्रवेश करना, मनुष्यता का सबसे बड़ा लक्षण है। इस प्रकार की व्यापक और उदार सहानुभूति—कल्पनाशील सहानुभूति—मानवता के पिछले इतिहास ने, साहित्य और धर्म ने, कला और संस्कृति ने, संस्कार-रूप में हमें प्रदान की है। यही नहीं, बुद्धि स्वयं अनुभूत विशिष्टों का सामान्यीकरण करती हुई हमें जो ज्ञान प्रस्तुत करती है, उस ज्ञान में निबद्ध 'स्व' से ऊपर उठने, अपने से तटस्थ रहने, जो है उसे अनुमान के आधार पर और भी विस्तृत करने, की प्रवृत्ति होती है। भाषा स्वयं सामान्यीकरणों से उत्पन्न है। इस प्रकार, एक ओर तटस्थ रहकर, तो दूसरी ओर अपने से ऊपर उठकर, अपने से परे जाकर, विस्तार करने की प्रवृत्ति हममें पहले ही से विराजमान रहती है। भावना हमें डुबो देती है और परिचालित करती है, संचलित करती है। संवेदनात्मक ज्ञान के आधार पर और ज्ञानात्मक संवेदनाओं के आधार पर, हम एक साथ तटस्थ और तन्मय, अपने से परे और अपने में निमग्न, अपने से बाहर और अपने अन्दर, एक साथ रहते हैं। सहानुभूतिशील कल्पना और कल्पनाशील सहानुभूति हमें आत्म-विस्तार के लिए उद्यत कर देती है। संक्षेप में, बाह्य और अन्तर का भेद उस समय लुप्त-सा हो जाता है।

ऐसे क्षणों पर केवल कलाकार का अधिकार नहीं होता, वे सामान्य जनों को भी निरन्तर प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि साहित्य रचा और समझा जाता है। जिस प्रकार बुद्धि विशिष्टों का सामान्यीकरण करती है, उसी प्रकार कल्पना भी विशिष्ट का इस प्रकार मनश्चित्र बनाती है, कि वह मनश्चित्र सारे तत्समान विशिष्टों का प्रतिनिधि हो जाता है। ऐसे मनश्चित्र की प्रतिनिधिकता एक प्रकार का सामान्यीकरण नहीं तो क्या है?

किन्तु ये सारी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हमारे सामान्य जीवन में ही चलती रहती हैं। उन्हीं से हमारी भाव-सम्पदा बनती है। हृदय में जीवन-मूल्यों की संवेदनात्मक स्थिति उन्हीं के कारण है। संक्षेप में, निमग्नता और तटस्थता के योग से उत्पन्न आत्म-विस्तार, हमारे न देखे-जाने-पहचाने सामान्य जीवन का ही अंग है।

यह सही है कि व्यक्तियों के आत्म-वैभव की कोटियाँ होती हैं। कोई आदमी बहुत पढ़ा-लिखा होकर भी जड़ हो सकता है, और कोई डिग्रीधारी न होकर अत्यन्त परिष्कृत हो सकता है। कोई विख्यात पण्डित काव्य और कला के प्रति निःसंज्ञ और जड़ हो सकता है, लेकिन कोई बहुत मामूली पढ़ा-लिखा उसके प्रति सहज संवेदनशील हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि 'महान्' आलोचक संवेदनशील हों। यूनिवर्सिटियों के डाक्टरों की जड़ता दर्शनीय और प्रदर्शनीय है। ज्ञान के अहंकार में अज्ञान के अन्धकार का कुछ ऐसा शुभ्र रूप हमें उनमें मिलता है कि लगता है कला और साहित्य की छाती पर बैठे हुए ये टीले हैं।

ऐसे सौन्दर्य-क्षणों, ऐसे मनोवैज्ञानिक क्षणों, से वंचित अथवा अल्प-समृद्ध, दरिद्र जो आलोचक है, वह अपने को चाहे जितना बड़ा समझे—साहित्य-क्षेत्र का अनुशासक समझे—वह, वस्तुतः, साहित्य-विश्लेषण के अयोग्य है, कला-प्रक्रिया के कार्य में अक्षम है, भले ही वह साहित्य का 'शिखर' बनने का स्वाँग रचे, मसीहा बने।

आलोचक के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है अनुभवात्मक जीवन-ज्ञान, जो निरन्तर आत्म-विस्तार से अर्जित होता है। खुद की घेरेबन्दी में रहने वाले कुर्सी तोड़ मसीहाओं के बूते की वह बात नहीं। मतलब यह कि कला की बहुत-सी समस्याएँ केवल अज्ञान के कारण पैदा की जाती हैं, जबकि असल में वे होती नहीं, हो नहीं सकतीं।

ऐसे लोगों के जो भी विश्लेषण और निर्णय होते हैं, वे कलाकार की रचना-प्रक्रिया को बिना देखे-समझे होते हैं। वह आलोचना, जो रचना-प्रक्रिया को देखे बिना की जाती है, आलोचक के अहंकार से निष्पन्न होती है, भले ही वह अहंकार आध्यात्मिक शब्दावली में प्रकट हो, चाहे कलावादी शब्दावली में, चाहे प्रगतिवादी शब्दावली में।

उपर्युक्त जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया बतायी गयी, वह सामान्य जीवन में ही होती है। वह हमारे अन्तर्जीवन को समृद्ध करती है, और उसी समृद्धि का एक भाग बन जाती है। कलाकार के अन्तर्जीवन का भी वह एक भाग होती है।

संवेदनात्मक उद्देश्य इसी भाव-समृद्धि के अंग हैं और उसी से उद्गत होते हैं। लेखक के पूरे व्यक्तित्व से समुद्गत ये संवेदनात्मक उद्देश्य, उसके अनुभवों का विशेष रूप से संकलन करते हुए उन्हें अपनी पूर्ति की दिशा में प्रवाहित कर देते हैं। यह पूर्ति (लेखक-कलाकार के लिए) अभिव्यक्ति में होती है। साधारण जन की आत्म-पूर्ति की दिशा भिन्न होती है। उसके लिए वह सूक्ष्म दृष्टि या मर्म-दृष्टि के रूप में अवतरित होती है, और वह उसके संवेदनात्मक जीवन-ज्ञान या जीवनानुभूति का अंग बन जाती है।

संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा परिचालित, और आत्म-पूर्ति की विशेष दिशा में प्रवाहित, यह अनुभव-पुंज कल्पना द्वारा विस्तृत और मूर्तिमान हो उठता है, किन्तु साथ ही प्रवाहशील भी। अनुभव-प्रवाह चित्र प्रवाह में परिणत हो जाता है। संवेदनात्मक उद्देश्यों की प्रक्रिया, संवेदना और ज्ञान के योग से, कल्पना-चित्रों को विभिन्न विधान करती हुई एक ओर बहा देती है। अथवा यों कहिये कि कल्पना का अपना लॉजिक तैयार हो जाता है। मन कल्पना की इस स्वाभाविक गति में घुलता हुआ और उसमें तन्मय होता हुआ उसके संवेदनात्मक रस का पान करने लगता है। नि:सन्देह यह सौन्दर्य क्षण है, रस-क्षण है, जिसे कलाकार और सामान्य-जन दोनों प्राप्त करते हैं। जीवनानुभवों के ये सौन्दर्य-क्षण हैं जिनमें कल्पना-चित्र स्वयं प्रातिनिधिक हो उठते हैं। इसे हम कलात्मक सूक्ष्म-दृष्टि का क्षण भी कह सकते हैं, अथवा जीवन के सारभूत यथार्थ का क्षण भी कह सकते हैं।

संवेदनात्मक उद्देश्यों का उत्पत्ति-स्थल, उनका उद्गम स्रोत आत्मचरित्रात्मक है। उनके सम्बन्ध-सूत्र कलाकार की मनोरचना से लेकर उसके व्यक्तिगत इतिहास तक में समाये रहते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक साहित्य, मूलत: और सारत:, आत्मचरित्रात्मक है, भले ही बाहर-बाहर से वह चाहे जितना वस्तुवादी क्यों न दिखायी दे। उसकी यह आत्मचरित्रात्मकता मुख्यत:, अभिव्यक्ति के लिए लाये जाने वाले अनुभवों के संवेदनात्मक महत्व-बोध में है। यदि लेखक के पास संवेदनात्मक महत्व-बोध नहीं है, या क्षीण है, तो उन विशिष्ट अनुभवों की अभिव्यक्ति क्षीण होगी।

संवेदनात्मक उद्देश्यों को देख-परखकर ही यह पहचाना जा सकता है कि लेखक किस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है। एक ओर, यदि हम उन्हें देख लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अनुमान कर सकते हैं, तो दूसरी ओर, कलात्मक प्रभाव का विश्लेषण भी संवेदनात्मक उद्देश्यों के सन्दर्भ के बिना नहीं हो सकता।

लेखक, जो कि अपनी संवेदनात्मक क्षमता से साहित्य-सृजन करता है, वह संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार परिचालित होता है। वह अपनी अभिव्यक्ति का पैटर्न भी संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार बनाता है। दूसरे शब्दों में, संवेदनात्मक उद्देश्य, एक ओर, आत्मचरित्रात्मक होते हैं, तो दूसरी ओर, वे एक विशेष प्रकार का कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अभिव्यक्ति का विशेष पैटर्न गूँथते हैं, तो तीसरी ओर, ये संवेदनात्मक उद्देश्य अपने धक्के से हृदय में स्थित जीवन-अनुभवों अर्थात् ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान को जाग्रत और संकलित करके उन्हें अपनी दिशा में प्रवाहित करते हैं। जाग्रत अन्तश्चेतना में, अर्थात् इस प्रक्रिया में, कल्पना उत्तेजित होकर संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार अनुभवों के साकार चित्र प्रस्तुत करती जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संवेदनात्मक उद्देश्यों का कार्य, प्रारम्भ से लेकर अन्त तक, अन्तर्व्यक्तित्व की विशेषताओं और उसकी हलचलों से लेकर अभिव्यक्ति के अन्तिम पैटर्न तक, होता है। यह संवेदनात्मक उद्देश्य, अन्तर्व्यक्तित्व और आभ्यन्तरीकृत जगत् का प्रतिनिधित्व करते हुए, जाग्रत और संकलित अनुभवों को मनस्पटल पर एक के बाद एक मूर्तिमान करते हुए आगे बढ़ चलता है।

संवेदनात्मक उद्देश्यों को देखकर लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व की रचना के अन्तर्गत जीवन-तत्वों को और उनकी अभिव्यक्ति को देखा जा सकता है। प्रयोगवादी कविता के संवेदनात्मक उद्देश्यों को न समझने के कारण ही उसके सम्बन्ध में बहुत-सी भ्रान्तियाँ फैलायी गयीं। उसे या तो राजनैतिक रूप से प्रतिक्रियावाद कहा गया, या भारतीय संस्कृति के सन्देश (और) उसकी आत्मा के प्रतिकूल। होना तो यह चाहिए था कि संवेदनात्मक उद्देश्यों को समझकर, उन संवेदनात्मक उद्देश्यों को जाग्रत करने वाली जीवन-भूमि का विश्लेषण करते हुए, उन संवेदनात्मक उद्देश्यों की सहज मानवीयता—उन रचनाओं की सहज मानवीयता—को हृदयंगम किया जाता। लेकिन

इस प्रकार की कविताओं को एकदम असुन्दर, प्रतिक्रियावादी विद्रूप या निषेधात्मक कहकर टरका दिया गया। आलोचकों का उद्देश्य इस काव्य-प्रवृत्ति को समझना नहीं था, वरन् उससे संघर्ष करके उसे नष्ट कर देना था।

लगभग ऐसे ही उद्देश्य से परिचालित होकर पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद का विरोध किया। उन्होंने जब छायावाद से समझौता भी किया तो उसे 'अभिव्यक्ति की लाक्षणिक प्रणाली' कहकर छुट्टी पायी। लेकिन यह नहीं देखा कि आखिर लेखक इस प्रकार की प्रणाली को क्यों अपनाना चाहता है, या यों कहिये कि इस प्रकार की अभिव्यक्ति-प्रणाली आखिर कवियों के लिए क्यों स्वाभाविक हो उठी।

कहने का तात्पर्य यह कि अभिव्यक्ति की प्रणाली बदलते ही आलोचकों की नाड़ी छूटने लगती है। मुझे इस बात का गहरा सन्देह है कि इसका कारण यान्त्रिक बुद्धि है। अपनी-अपनी थियॅरीज़ और सिद्धान्तों के कटघरे में किसी नयी प्रवृत्ति को न फँसते देखकर उस नयी प्रवृत्ति को ही निन्दित किया गया, न कि इन सिद्धान्तों को बदला (गया,) अथवा उन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अब तक उनकी अपनी जो समझ थी उसमें परिवर्तन किया (गया)। उन्हें अपने-अपने बौद्धिक मानसिक ढाँचों की ज्यादा फ़िक्र थी, किसी नयी प्रवृत्ति के जीवन्त तथ्यों की नहीं।

संवेदनात्मक उद्देश्य विद्युत की वह धारा है जो अन्तर्व्यक्तित्व से प्रसूत होकर जीवन-विधान करती है, कला-विधान करती है अभिव्यक्ति-विधान करती है। आत्मचरित्रात्मक और सृजनशील ये संवेदनात्मक उद्देश्य, हृदय में स्थित जीवन्त अनुभवों को संकलित कर उन्हें, कल्पना के सहयोग से उद्दीप्त और मूर्तिमान करते हुए, एक ओर प्रवाहित कर देते हैं। यह कला का प्रथम क्षण है, या, कहिये, सौन्दर्य-प्रतीति का क्षण है। यह क्षण सामान्य-जन को भी प्राप्त होता रहता है।

किन्तु कला का द्वितीय क्षण तब उपस्थित होता है जब लेखक में शब्द-संवेदनाएँ जाग्रत होकर, वह विषय-तत्त्वों में व्यक्त कर लगता है। यह क्षण दो कारणों से महत्वपूर्ण है। एक तो इसलिए कि अब शब्द-संवेदनाएँ और भाव-संवेदनाएँ दोनों एक-दूसरे से सन्तुलित होने लगती हैं, दूसरे, इसलिए भी कि लेखक का मन दर्शक और भोक्ता, इन दो के बीच में केवल विभाजित ही नहीं होता। अब दर्शक केवल निष्क्रिय नहीं रहता, बल्कि सक्रिय हो जाता है, और साथ ही यह विषय तत्व के मनोरूपों को व्यक्त करने का प्रयास करने लगता है। संक्षेप में, अब यह दर्शक एक क्रियावान शक्ति बन जाता है। किन्तु उसकी क्रिया मनोरूपों के सम्बन्ध में होने से एक विशेष परिस्थतित निर्मित हो जाती है। वह परिस्थिति इस प्रकार है।

न केवल अन्तर का द्विधा विभाजन होता है, वरन् यह कि इस दर्शक-मन को शब्दाभिव्यक्ति में देर लगती है। फलत: उसे संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार प्रवाहित होने वाले मनोरूपों की गति को थाम लेना या मन्द करना पड़ता है, उसे संयमित करना पड़ता है। इस बीच शब्द-संवेदनाएँ जाग्रत होकर अपना कार्य मनोनुकूल पूरा कर चुकती हैं। इस बीच कभी-कभी, सम्भवत:, संवेदनात्मक उद्देश्य से परिचालित मनोरूपों की गति ही लुप्त हो जाती है, और रचित शब्दावली का भावार्थ भी पूरा नहीं हो पाता।

मेरा मतलब तटस्थता और तन्मयता से है। यदि दर्शक मनोरूपों की गतियों से इतना निर्लिप्त है कि वह शब्द-संवेदनाओं में खो जाता है और मनोरूपों की गति जड़ हो जाती है, तो ऐसी निर्लिप्तता भी उसके काम की नहीं होती। और यदि वह उन मनोरूपों की गतियों में पूर्णत: विलीन हो जाता है, तो शब्द-संवेदनाओं के लिए अवकाश की हीनता के फलस्वरूप अभिव्यक्ति निर्बल अथवा दुरूह हो जाती है। अतएव उसे मनोरूपों की गतियों को प्रवाहित करने वाले संवेदनात्मक उद्देश्यों से एकाकार होकर, साथ ही उन मनोरूपों का मज़ा लेते हुए, उनकी गतियों को आत्मसात् करते हुए, चलना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, उसे अनवरत रूप से एकीभूत स्थिति और द्विधा-रूप स्थिति क़ायम रखनी पड़ती है।

किन्तु केवल इतना ही नहीं होता। शब्द-संवेदनाओं और भाव-संवेदनाओं की परस्पर तुलना से अंगीकृत अभिव्यक्ति के फलस्वरूप रचना का जो अंश तैयार हो जाता है, वह स्वयं एक फ़ोर्स, एक शक्ति, बन जाता है, और यदि अनुभावात्मक संवेदनाएँ (विषयभू मनोधाराएँ) क्षणमात्र लुप्त भी हुईं, तब भी वह शब्दात्मक रचना-खण्ड स्वयं उसे अगला मार्ग सुझा देता है।

शब्द-संवेदनाओं को प्राप्त करते हुए लेखक जाने-अनजाने अपनी मूल भाव-सम्पत्ति और मनोधारा में भी परिवर्तन करता रहता है शब्द-संवेदनाएँ नवीन एसोसिएशन्स को जाग्रत कर देती हैं। फलत:, वह मूल मनोधारा यदि इस प्रकार से इन एसोसिएशन्स को प्राप्त करके समृद्ध हो जाती है, तो दूसरी ओर उसका—उस मनोधारा का स्वयं का—मूल रूप-स्वरूप बहुत-कुछ बदलता जाता है। यह महत्व की बात है। प्रारम्भिक स्फूर्ति ने जो तत्व-विधान और रूप-विन्यास किया था, वह परिवर्तित होता रहता है।

बुद्धि का कार्य यहीं उपस्थित होता है। उसे काव्य-निर्वाह करना पड़ता है। मूल मनोधारा ने अपने आवेग में रूपमय तत्वों को लाकर खड़ा कर दिया, कल्पना को उद्दीप्त कर दिया, और संवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में उसे प्रवाहित कर दिया। किन्तु शब्द-साधना के समय नवीन भावात्मक अनुषंग, नवीन अनुभव, उपस्थित होते हैं। वे मूल्यवान होने पर उन्हें जाने-अनजाने आत्मसा

कर लिया जाता है। शब्द-संवेदनाएँ लगातार कार्य करती रहती हैं। उनकी चोट होती रहती है। मूल मनोधारा में बहुत-कुछ परिवर्तन अर्थात् संशोधन होता जाता है। यह संशोधन किस प्रकार का होता है?

असल में, शब्दाभिव्यक्ति के समय लेखक मनोधारा के अन्तर में और भी अधिक प्रवेश करता है। उसके लिए वह अधिकाधिक तत्व-साक्षात्कार का और आत्म-साक्षात्कार का काल है। एक प्रकार से वह उसके आत्म-निर्माण का भी काल है। शब्दाभिव्यक्ति तो केवल उसका एक माध्यम है। संवेदनात्मक उद्देश्यों की तीव्रता पर यह निर्भर करता है कि कहाँ तक वह आगे बढ़ेगा। संवेदनात्मक उद्देश्यों की तीव्रता के अभाव में–अर्थात् प्रेरणा के अभाव में–उसकी रचना बहुत आगे बढ़ नहीं पाती। वह खण्डित हो जाती है, अथवा उसे जैसे-तैसे करके निबटा देता है। उसका तत्व-साक्षात्कार, आत्म-साक्षात्कार, छिछला और पतला, विरल और तुच्छ होता है।

किन्तु लेखक के पास यदि उतनी प्राण-शक्ति है, तो नि:सन्देह (वह) अब तक निर्मित शब्दात्मक रचना की सहायता से अपना अगला कदम भी देख लेता है। जीवन अनुभवों में डूबी हुई उसकी बुद्धि, रचना के संवेदनात्मक उद्देश्य से एकाकार होकर, आगे का पथ प्रशस्त करती है। फलत: काव्य-निर्वाह होता चलता है। यह बुद्धि, संवेदनात्मक उद्देश्य के अनुसार, शब्द-योजना और अभिव्यक्ति-निर्माण में एक सम्पादक का, संशोधक का, कार्य करती है। दूसरी ओर, वह संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनाओं को लक्ष्य में रखकर, उनसे अनुप्राणित होकर, आगे बढ़ती है। यह बुद्धि जीवन-तत्व में, जीवन-यथार्थ में, प्रवेश करनेवाली बुद्धि है। वह एक साथ कई कार्य करती है। भाव-यात्रा में वह ठीक दिशा को सूचित करती रहती है, संवेदनात्मक उद्देश्य से प्रेरित होने के कारण। जीवन-अनुभवों में सूक्ष्म दृष्टिफल को वह सामान्यीकरणों का रूप देती चलती है। तीसरी ओर, अभिव्यक्ति-निर्माण में वह सम्पादक-संशोधक का काम भी करती है, अतएव वह रूप-रचना में भी सहायक होती रहती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विधा-विभाजित मन की प्रक्रिया में तटस्थता नामक जो एक आत्म-स्थिति पैदा हो जाती है, वह तटस्थता नामक आत्म-स्थिति एक क्रियावान शक्ति है, और क्रिया में गतिमान होने के लिए ही उपस्थित रहती है।

(नयी कविता का आत्मसंघर्ष से)

14. लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस (छायावाद से अज्ञेय तक)

—विजयदेवनारायण साही

क्या 'लघुमानव' की मृत्यु हो गयी? कुछ दिनों तक पक्ष-विपक्ष में 'लघुमानव' की चर्चा सुनाई पड़ी। अब नहीं सुनाई पड़ती। क्या 'लघुमानव' की कल्पना ने आज के साहित्यिक कृतित्व की रूपरेखा समझने में कोई मदद की, या सिर्फ़ यह एक कौतूहलपूर्ण आग्रह बनकर रह गया? बहुत कुछ ये सारे प्रश्न शव-परीक्षा जैसे लगते हैं। किन्तु यदि लघुमानव की मृत्यु हो भी गयी हो तो भी शव-परीक्षा एक दृष्टि से उपयोगी होगी।

जो लोग साहित्य को मूलत: मानव मूल्यों से (अर्थात् मानवेतर मूल्यों से नहीं) जुड़ा हुआ मानते हैं और इसी में साहित्य की सार्थकता देखते हैं, उनके ऊपर एक सैद्धान्तिक या दृष्टिपरक जिम्मेदारी होती है। वह यह कि मनुष्य की परिभाषा क्या है, इस प्रश्न से साहित्य की मूल्यवत्ता को जोड़ते चलें। इस दृष्टि में यह भी स्वीकृति अनिवार्य है कि सम्पूर्ण मनुष्य को ग्रहण कर पाना सर्वदा असम्भव है। मनुष्य में अखंड आस्था, और उसको 'सबार ऊपर सत्य' अनुभव करने का एक अवश्यम्भावी नतीजा यह है कि मनुष्य को हम उपलब्धि और सम्भावना, दोनों का ऐसा सम्मिश्रण जानें जो पकड़ में आते-आते भी हाथ से छूट जाता है। सम्भावना को हम सत्य और सृष्टि दोनों ही रूपों में देख सकते हैं। देश-काल विपन्न प्रतिक्षण सर्जित-विसर्जित मानववादी भी मनुष्य के उस 'अनन्त' को, जो सम्भावना का विस्तार है, कम से कम भविष्य में फैला हुआ देखता है। और जो मनुष्य को मूलत: देशकालातीत 'सत्य' मानते हैं वह तो उसकी पकड़ में न आने वाली अनन्तता का ढिंढोरा पीटते ही हैं।

हिन्दुस्थान कभी भी योरुप की तरह मनुष्य को सिर्फ़ देश-काल-निबद्ध प्रतिक्षण सर्जित-विसर्जित सृष्टि मानने को तैयार होगा या नहीं, या उसका इस तरह मानने को तैयार हो जाना विश्व-सभ्यता के लिए शुभ होगा या अशुभ, इस अटकल में न पड़कर हम इतना तो अवश्य ही मानकर चल सकते हैं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जमाने से होकर आज तक मनुष्य को उसकी चिरन्तन परिवर्तनशीलता में समझने का ज़िम्मा हिन्दी साहित्य ने उठा लिया है, और अभी इस जिम्मेदारी से निकल भागने की कोई खास आतुरता नहीं दिखलाई पड़ रही है। अगर यह सत्य है, तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि बारम्बार मनुष्य को बदलते हुए देश-काल में परिभाषित करना साहित्य की ज़िम्मेदारी है। बल्कि हम यह भी कहें कि साहित्य तो यह काम करने के लिए अपनी प्रकृति से मजबूर है; आलोचना और दर्शन इस समस्त उपलब्धि को व्यवस्थित करके चेतना को अगली चढ़ान के लिए तैयार कर रहे हैं या नहीं, यह सन्दिग्ध हो सकता है। क्योंकि कविता की सृष्टि करना यह तो मनुष्य की आदिम प्रतिभा है जो शायद पाषाण-काल में भी रही होगी। परिभाषा देना और विचारों के कठघरे बनाना-बिगाड़ना, यह सभ्यता की बहुत बाद की देन है। और आज भी दुनिया में ऐसी जातियाँ मिल जायँगी जो जगंलों में बसी हुई कविता ही में जीती-मरती हैं, लेकिन आलोचना, दर्शन और परिभाषा के 'निरर्थक' कटघरों में जूझने की जरूरत उनको पड़ी ही नहीं।

मेरी समझ में आलोचना का काम साहित्यिक कृति की संवेदना को जबरदस्ती खीचकर पाठक तक पहुँचाना नहीं है। आलोचना सिर्फ इतना कर सकती है कि पाठक के जो भी वैचारिक या धारणात्मक पूर्वग्रह, जाने या अनजाने, अपनी उपस्थित या अनुपस्थिति के कारण, पाठक को उस ओर उन्मुख होने से रोक रहे हैं जहाँ से काव्य का 'प्रभाव' प्रवाहित हो रहा है, उन्हें विनष्ट करके पाठक को एक उचित तत्परता की अवस्था में छोड़ दे। यन्त्र-जगत् की एक स्थूल उपमा के द्वारा हम यों कह सकते हैं कि रेडियो की सुई को उचित लहर-मान पर लाकर लगा भर देना आलोचना का काम है; बाकी ट्रान्समीटर से आता हुआ गायन तो रेडियो सेट स्वयं पकड़ेगा। अब अगर वहाँ से गायन आ ही न रहा हो, या आवाज में गड़बड़ी हो, तो आलोचक गाने वाले के स्वर मिलाकर गा नहीं सकता।

मनुष्य की हर परिभाषा मूलत: 'सहज मनुष्य' की परिभाषा है। चाहे हम मनुष्य की उस परिभाषा को कितना भी विकृत या अयथार्थ क्यों न समझें। अगर वह 'सहज मनुष्य' की न हुई तो उसे परिभाषा कहना ही व्यर्थ है। यह कहना कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' मूलत: यह कहना है कि 'अपने सहज रूप में मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।' यह नहीं कि वह असामाजिक नहीं हो सकता। चाहे तो वह हो सकता है, लेकिन उस हालत में वह सहज नहीं होगा, वक्र या कुटिल हो जायगा। इसी तरह 'मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है' या 'मनुष्य एक भावुक प्राणी है', इसमें अन्य गुणों के केन्द्र में, या उसके अन्य गुणों को व्यवस्थित करने वाले इस या उस 'सहज-स्वरूप' या 'निजी-स्वरूप' की ओर ही इशारा है जिसे उपलब्ध करने का आग्रह था, जिसमें लय हो जाने की जरूरत हम महसूस करते हैं।

मनुष्य की कोई भी परिभाषा उसके सहज रूप को पूर्णत: पकड़ सकेगी, ऐसा मानववादी कभी मान ही नहीं सकता, जैसा ऊपर कहा गया। इसीलिए मनुष्य की परिभाषा वैज्ञानिक न होकर सृजनात्मक होती है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि उसे परिभाषित किया ही न जाय। नि:सीम होना हमारी विवशता है। लेकिन उस नि:सीम को बराबर सीमित जाल में फँसाते रहना और उसमें निरन्तर सफल-असफल होते रहना, यह हमारी सबसे बड़ी उपलब्धि है, सृष्टि है। इसलिए साहित्य कभी सहज मनुष्य को नहीं पकड़ता – वह केवल उस केन्द्रित-कालबद्ध, जाल में फँसी हुई सीमित झलक को पकड़ता है जहाँ से वह सहज

आभासित होता है। कुछ दिनों तक – युग परिवर्तन की एक मुद्रा में – सहजता का यह आभास सजीव और मर्मग्राही लगता है। हमें लगता है, अन्तिम पूर्ण सत्य को हम पा गये हैं। फिर धीरे-धीरे युग-परिवर्तन की दूसरी मुद्रा आने तक, सत्य की यह प्रतीति विनष्ट होने लगती है, हमें लगता है कि हमारी पकड़ में तो सिर्फ दो-चार तत्त्व ही आये। मनुष्य की सजीवता और मनुष्य का मर्म तो फिर भी छूट गया। और दूसरा जाल फेंकने की तैयारियाँ होने लगती हैं। आदमी को कटघरों में बाँध कर कौन रख सका है? लेकिन सिवा आदमी के इस कोशिश में लगा भी कौन?

इसलिए मुझे यह कहना कि लघुमानव 'सहज मानव' का विरोधी है, कुछ जँचता नहीं। और यह भी आग्रह मुझे काम का नहीं लगता कि हम 'सहज-मानव' या 'मानव' ही क्यों न कहें। क्योंकि 'सहज-मानव' या 'मानव' की किस झलक को हम देख रहे हैं और उस असीम की कितनी सजीवता हमारी पकड़ में आ रही है, इसी को समझने के लिए तो यह सारी खोजबीन है। अगर हम सिर्फ़ ऐसी शब्दावली का व्यवहार करें जिससे पाठक के मन में मनुष्य के एक पहलू और दूसरे पहलू में विवेक न जागृत होकर, उसके पूर्वग्रह ही पुष्ट होते रहें, तो हम पाठक की चापलूसी भले ही कर लें, साहित्य के प्रति अपने भाव-यन्त्र को अधिक उन्मुख, अधिक सूक्ष्म और अधिक स्पन्दनशील बनाने से रहे।

साहित्य के बारे में सोचने का यह ढंग उन्हें रुचेगा जो मनुष्य को देशकालातीत आत्मस्थ सत्व के रूप में सुनने या बताये जाने के अभ्यासी रहे हैं। उनसे बहस भी नहीं है, क्योंकि उनसे साहित्य की चर्चा ही क्या? आख़िरकार शंकराचार्य की कोई दिलचस्पी कालिदास में भी रही हो, इसका प्रमाण अभी तक तो नहीं हीं मिला है। काश मिलता।

लघु-मानव के प्रति एक आपत्ति यह भी है कि कल्पना मनुष्य की महत्ता या महानता का निषेध करती है; मनुष्य का जो सर्वश्रेष्ठ है, सबसे विराट् है, उससे हमारे सम्बन्ध को तोड़ देती है। मुझे इसमें शाब्दिक चमत्कार ज्यादा दिखलाई पड़ता है, तत्व कम। क्योंकि सत्य यही है कि लघु-महत् में वैसी दुश्मनी नहीं है, जैसा कि शब्दकोश बतलाता है। इस संबंध में मैं प्रसाद जी की सूक्ष्म दृष्टि का हवाला दूँगा जहाँ उन्होंने यथार्थ को लघु से और आदर्श को महत् से संबद्ध किया है: और यथार्थ और आदर्श दोनों को समन्वित दृष्टि से देखने की कोशिश की है। लघु और महत् दोनों कहीं न कहीं वैसे ही मिलते हैं, जैसे यथार्थ और आदर्श। यह कोई नयी उपलब्धि नहीं है। प्रसाद जी ही क्यों, सारे 'छायावाद-युग' की कोशिश इन दोनों के भेद को मिटाने की ही रही है। 'यथार्थोन्मुख आदर्शवाद', 'आदर्शोन्मुख यर्थाथवाद' या उसी वज़न पर अगर हम बना सकें : 'लघून्मुख-महत्वाद' या 'महदुन्मुख-लघुवाद' (जो कुछ भी इस सारगर्भित शब्दान्वयों का मतलब हो!) इस किस्म की शब्दावली छायावाद-युग की है, लक्ष्मीकान्त वर्मा की नहीं।

इसलिए अच्छा हो कि हम मानकर ही चलें कि लघु की कल्पना मनुष्य में जो 'महत्' है, उसका निषेध नहीं करती। साहित्य की समीक्षा को एक पश्चिमी आलोचक ने 'कॉमन-परसूट' – एक सहयोगी प्रयास – कहा है। साहित्य को समझने और आत्मसात् करने में उत्पन्न बाधाओं को दूर करने का यह सहयोगी प्रयास बहुत-कुछ सुगम हो जाये, अगर चर्चा अथवा विश्लेषण करने वाले कम से कम इस पर सहमत हो जायँ कि जिन बातों पर आज से एक पीढ़ी पहले बहस हो चुकी है, उन्हें फिर से नहीं उठायेंगे या उठायेंगे तो उन उत्तरों का ध्यान रखेंगे जो पहले दिये जा चुके हैं। फ़िजूल की बकवास तो इससे बन्द ही हो जायगी। कम से कम इतना तो हो ही जायगा कि मतभेद अगर प्रसाद जी से है, तो उसका गुबार लक्ष्मीकान्त वर्मा पर नहीं उतरेगा।

बहस इस पर हो सकती है, और है भी कि लघु और महत्, यथार्थ और आदर्श जहाँ मिलते हैं, उस मनोभूमि की अनुभूति कैसी है – दोनों के पारस्परिक संबंध की प्रकृति क्या है। साहित्य, चूँकि उस अनुभूति का साक्षात् अनुभव करता है, इसलिए उसके लिए यह जरूरी नहीं है कि वह दर्शन की तरह हर एक को टुकड़े-टुकड़े में बाँट कर परखे, मिलाये और फिर उत्तर दे। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि साहित्य के उत्तर में बौद्धिक गम्भीरता या औचित्य की कमी हो। आलोचना साहित्य का दर्शनशास्त्र है और उसका एक काम यह भी है कि वह संश्लिष्ट उत्तर का विश्लेषण करके उसकी सीमारेखा को सुस्पष्ट और तीक्ष्ण बनाये। नहीं तो जीवन के प्रति साहित्य का स्पर्श गूँगे के गुड़ की तरह होकर रह जायगा। रीतिकाल की कविता और मनोभूमि में कितना फ़र्क पड़ जाता, अगर रीतिकालीन कवियों के पास काव्य के बारे में विवेकसम्मत दार्शनिकता की भी एक परपाटी होती।

यथार्थ-आदर्श की मिश्रित मनोभूमि का 'स्पर्श' कैसा है, इसके बारे में पिछले चालीस बर्षों में हिन्दी साहित्य ने क्या उत्तर दिये हैं? किसी हद तक हम इसे यों रख सकते हैं। : छायावाद-युग के लिए आदर्श यथार्थ का ध्येय या लक्ष्य है। इसलिए दोनों के संबंध का चित्र परस्पर 'उन्मुखता' से खींचा जाता है। यह 'उन्मुखता' काल में भी है, कालातीत भी। इसमें सब एक-जैसे नहीं हैं। प्रेमचन्द में तो निश्चय ही यह 'उन्मुखता' कालबद्ध ही है। जो अपने को रहस्यवादी नहीं कहते, वे कवि भी काल में ही 'उन्मुख' हैं। यों 'रहस्यवादी' भी काल का अतिक्रमण मूलत: नहीं करते। सूक्ष्म विवेचना से यह दिखलाया जा सकता है। स्थिति – कालान्तर गति – लक्ष्य: यथार्थ-आदर्श, या लघु-महत् के संबंध का यह ढाँचा सिर्फ़ छायावादी कवियों या प्रेमचन्द्र में हो, ऐसा नहीं है। जो कुछ थोड़ी जानकारी मुझ जैसे व्यक्ति को हिन्दी के अतिरिक्त भी हिन्दुस्तान के साहित्य की हो सकती है (दुर्भाग्य से कुल मिलाकर बहुत कम है), उसके भरोसे यह कहने का साहस करूँ कि सारे हिन्दुस्तान के साहित्य की मनोभूमि इतिहास

के उस चरण में ऐसी ही रही है? और अगर हम साहित्य के बाहर सारे देश की मनोभूमि पर निगाह डालें तो यह स्वाभाविक भी लगता है। गुलामी की स्थिति यथार्थ और और लघुता की स्थिति थी। और दूर कहीं पर, किन्तु निश्चित या अनिश्चित काल के भीतर ही आज़ादी का लक्ष्य आदर्श और महत्ता का लक्ष्य था। सारा देश उस लक्ष्य की ओर बढ़ रहा था। यह बढ़ना, यह 'उन्मुखता', एक स्थितिजन्य सत्य थी और उन लोगों की मनोभूमि के लिए भी ढाँचा तैयार करती थी जिन्हें आज़ादी की लड़ाई में सीधी दिलचस्पी नहीं थी।

यह वर्णन बहुत सरल और आपत्तिजनक न लगे, इसलिए कुछ और संकेत जरूरी है एक तो यह कि संबंधों की रूपरेखा प्रस्तुत करने का मतलब यह नहीं है कि हमने उसके समस्त रंग, सारे उतार-चढ़ाव भी निबटा दिये। स्तर-भिन्नता के कारण, उसी संबंध के भीतर ही बड़ी विभिन्नता दिख सकती है। अनुभूति केवल एक ढाँचे या मनोभूमि में ही चक्कर नहीं काटती, उसमें अपनी खुद की विविधिता अथवा एकरसता; सम्पन्नता अथवा दरिद्रता; विस्फोट अथवा सन्तुलन; निविड़ता अथवा रक्षता होती है। नहीं तो एक ही मनोभूमि पर अभिव्यक्त होने वाले सभी लेखक एक ही जैसा लिखने लगें। या एक ही मनोभूमि पर विचरण करने वाले दो देशों या युगों की लय-सम्पन्नता एक-जैसी होती। लेकिन हम देख सकते हैं कि रोमांटिक मनोभूमि इंग्लैंड में जितनी समृद्ध और पल्लवित हुई, उतनी फ्रांस में नहीं; उसी तरह तथाकथित 'क्षयग्रस्त' मनोभूमि या उसके बाद 'आधुनिक मनोभूमि, फ्रांस में जितनी पल्लवित हुई, उतनी इंग्लैंड में नहीं। पेड़ तो सभी आम के होते हैं, लेकिन सभी न एक जैसे छतनार होते हैं, न सब में एक जैसी मंजरियाँ ही आती हैं, न फलों में स्वाद ही एक जैसा होता है। इसलिए इस सामान्य ढाँचे में हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती, उर्दू आदि में अलग-अलग कैसा पल्लवन हुआ, इसका लेखा-जोखा कोई बहुभाषाविद् हमारे सामने रखता तो मुझ जैसे बहुत से अंधकारग्रस्त लोगों को अपने देश को कुछ ज्यादा निकट से पहचानना संभव होता। अभी तो अपना हिन्दी का गाँव ही समूचा भारत लगता है। शेष सारे गाँव परदेश ही हैं।

'उन्मुखता' के विषय में दो बातें और। यह सब जानते हैं कि 'छायावाद' के कवि 'परिवर्तनवादी' लेकिन मेटाफ़िज़िक्स, मनुष्य देशकालातीत अनन्त सत्त्व के प्रभावमण्डल का दामन नहीं छोड़ते। मेटाफ़िजिक्स छायावाद के लिए चिन्तन या अनुभव की विद्या उतनी नहीं है जितनी की एक काव्यात्मक मुद्रा। इससे छायावादी काव्य में एक तरफ़ तो 'आदर्श', 'महत्' की झलकियाँ मिलती रहती हैं, दूसरी ओर गम्भीरता को दृष्टि भी होती है। इस गम्भीरता को परम्परा से जुड़कर पुष्ट होने का एहसास भी होता रहता है। क्योंकि छायावाद-युग की प्रचलित धारणा है कि मेटाफ़िजिकल होना ही 'भारतीय' परम्परा और संस्कृति से जुड़ जाना है। इसके अतिरिक्त होता भी क्या, जब उन्नीसवीं सदी में 'भारतीय संस्कृति' की पहली सड़क कपिल, कणाद, पतंजलि, वशिष्ठ, अश्वघोष, नागार्जुन, शंकर जैसे बाल की खाल निकालने वाले दर्शनशास्त्रियों के मुहल्ले में से होकर निकाली गयी थी। इस सड़क को निकालने में अंग्रेजों और हिन्दुस्तानियों ने मदद की थी, यद्यपि दोनों के उद्देश्य भिन्न थे। सड़क काफी चौड़ी थी और उन दिनों इस पर ट्राफिक बड़ी जबरदस्त थी। आगे हम देखेंगे कि छायावाद के दूसरे दौर में बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, दिनकर, नवीन आदि गद्य तथा काव्य लेखकों ने किस प्रकार छायावाद का बाकी सब बदस्तूर रखते हुए, मेटाफिज़िकल दार्शनिक मुद्रा और तज्जनित 'गंभीरता' को नमस्कार किया और इससे कौन से नये 'मोड़' पैदा हुए – क्योंकि यही समय 'प्रगतिवाद' के उद्भव का भी है। अभी तो इतना द्रष्टव्य है कि इस मेटाफ़िजिकल तत्त्व ने लघु-गति-महत्, अथवा यथार्थ-परिवर्तन-आदर्श के फ़ार्मूले में स्पष्टतः कुछ नये संवादी स्वर जोड़ दिये।

आध्यात्मिक तत्त्ववाद परिवर्तन के बिल्कुल विरुद्ध हो, ऐसा नहीं। हिन्दुस्तान का आध्यात्मिक तत्त्ववाद भी नहीं। परन्तु आध्यात्मिक तत्त्ववाद का परिवर्तन केवल एक बार घटित होता है। उसके बाद परिवर्तन का 'संसार' खत्म हो जाता है। इसलिए इसका रूप काल से कालातीत, अज्ञान से ज्ञान, अविद्या से विद्या, मोह से निज-स्वरूप में लय होने, असत्य से सत्य, तमस् से ज्योति, मृत्यु से अमरता, गुलामी से आजादी, क्षितिज के इस पार से उस पार, अंग्रेजी राज्य से हिन्दुस्तानी राज, वेश्यावृत्ति से आश्रम, शराब से खद्दर, यथार्थ से आदर्श, लघु से महत् तक ही चुक जाता है। क्षितिज के उस पार कुछ ऐसा है कि विद्युत्-चुम्बक की तरह यों खींचता है कि निराला की सुदृढ़ मांसपेशियाँ और महादेवी के कोमल भावतन्तु एक तरीखे चरमराते दिखते हैं, लेकिन बारम्बार टकराने के बावजूद भी न क्षितिज ही टूटता है, और न यही उत्तर मिलता है कि उस पार है क्या आखिर। 'कौन तम के पार, रे कह?'; 'तोड़ दो यह क्षितिज, मैं भी देख लूँ उस पार क्या है!' 'इस पार प्रिये तुम हो मधु है, उस पार न जाने क्या होगा।' और अन्त में:

फिर ये आये।
ये जो दीवारों के बाहर के वासी थे;
....
परिचय स्वागत की जब विधियाँ खत्म हो गईं
तब ये बोले :
यहाँ कहीं कुछ नया नहीं है।

उत्तर तो एक ही था : जैसा इस पार है, वैसा ही उस पार भी है; और उस पार के बाद भी एक क्षितिज है; और उसके पार भी एक उस पार है ..... और इसी तरह निरन्तर ..... लेकिन यह उत्तर 1947 के पहले नहीं दिया जा सकता था; यों 1947 आते-आते कुछ लोगों ने दीवाल पर चढ़ कर उस पार की ताक-झाँक शुरू कर दी थी। लेकिन यह आगे का विकास है। अभी हम छायावाद पर थोड़ी और दृष्टि डालें।

आज हम परिवर्तन को सहज ही एक श्रृंखला के रूप में देखते हैं। इस श्रृंखला की कड़ियाँ काल में क्रम से जुड़ी हुई दिखलाई देती हैं। और प्राय: इस श्रृंखला का छोर नहीं दिखता। विचारकों का कहना है कि जो परिप्रेक्ष्य हमें बहिर्जगत् में देखने पर मिलता है, अन्तर्मन में भी देखने पर वैसा ही स्वरूप अपनी आत्मा का दिखता है। कम से कम यह परस्परापेक्षिता तो बहुत कुछ सामान्यत: स्वीकृत और बहुकथित तथ्य है, इसका दार्शनिक आधार जो हो, बहिर्जगत् को अन्तर्जगत् जन्म देता है या अन्तर्जगत् बहिर्जगत् को, या कोई तीसरा ही इन दोनों को। लेकिन यह अनुभूति कि हमारे मन में परत पर परत की एक श्रृंखला है, प्याज़ के छिलके की तरह, और हर परत पहली से कुछ भिन्न दिखलाई पड़ती है—हमें बाहर जगत् में मंजिल पर मंजिल परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य जैसी ही लगती है। ये दोनों ही नये परिप्रेक्ष्य हैं जिनके बीच तो छायावाद में खोजने पर मिलेंगे लेकिन जिसकी अनुभूति आजादी के बाद साहित्य की अपनी है। ये दोनों ही भीतर और बाहर के परिप्रेक्ष्य मेटाफिज़िकल चश्मे को त्याग कर परिवर्तन की श्रृंखला की ओर देखने के नतीजे हैं। क्योंकि छायावाद के बाद का न सिर्फ बहिर्जगत् अध्यात्मविहीन है, बल्कि अन्तर्जगत् भी 'आध्यात्मिक' नहीं है। नये कवियों में से बहुतों में काफी दूर तक अन्तर्मन के महाद्वीप या महासागर में कोलम्बस-जैसी अन्वेषण यात्राएँ की हैं, कभी-कभी छायावादियों से ज्यादा भी; लेकिन हिन्दुस्तान के इतिहास में पहली बार यह घटित हुआ कि भीतर बैठने पर 'आत्मा' के दर्शन नहीं हुए। मिला कुछ और ही। नयी कविता की 'आन्तरिकता' उस अर्थ में आध्यात्मिक नहीं है जिस अर्थ में छायावाद की 'आन्तरिकता' आध्यात्मिक या अर्ध-आध्यात्मिक है। इस 'आध्यात्मिक मुद्रा' का विनाश किसने किया? पहले पापियों में आज के नये कवि या नये कहानीकार या नये उपन्याकार नहीं आयेंगे। जड़ खोदने का काम तो दिनकर, बच्चन, भगवतीचरण वर्मा आदि ने ही शुरू किया था। अज्ञेय और उनके साथ या बाद वालों ने तो सिर्फ़ मट्ठा डाला है।

वस्तुत: मेटाफिज़िकल तत्त्व तो गांधी जी ही की शैली में वर्तमान सत्याग्रह-युग के साहित्य के दो विशाल आच्छादन हैं, गाँधी जी और रवीन्द्रनाथ। ये दोनों उस मनोभूमि के निर्माता हैं, या खुद भी औरों की तरह अभिव्यक्ति मात्र, यह बहुत कुछ जिस दृष्टि से हम उस युग के परस्पर संबंधों का अध्ययन करना चाहें, उस पर निर्भर करता है। गांधी जी ने सत्य और स्वाधीनता की कुछ परिभाषाएँ दीं और उन तक पहुँचने का रास्ता बताया। यहाँ हमारे विवेचन का संबंध उन परिभाषाओं और मुद्राओं के मानसिक परिणामों से है। गांधी जी की 'स्वाधीनता' का एक आयाम इतिहास के बाहर देश काल से परे भी है। उनकी स्वाधीनता उस सत्याग्रही को सहज ही उपलब्ध हो जाती है जो उस आन्तरिक परिवर्तन की सीमारेखा को पार कर जाता है जो उसे गुलाम बनाये हुए है। फिर इतिहास के चौखटे में वह गुलाम है, इसका कोई मतलब ही नहीं रह जाता। क्योंकि उसका एक आयाम उस चौखटे के बाहर है और ज़रूरत पड़ने पर चौखटे के बाहर वाला आयाम ही सब कुछ माना जा सकता है। उपन्यासकार की कलाकृति की तरह गांधी जी का मनुष्य इतिहास के भीतर भी है, इतिहास के बाहर भी कालबद्ध भी है, कालातीत भी। (क्या इसी कारण गांधीवाद का सबसे सीधा और सबसे सशक्त प्रतिफलन उपन्यासों और कहानियों में ही हुआ है। काव्य और नाटक पर रवीन्द्रनाथ कुछ ज्यादा छाये हुए हैं?) इसका प्रमाण तो गांधी जी के सम्पूर्ण चिन्तन, कर्म और व्यक्तित्व में विद्यमान है; यहाँ आश्वासन भर के लिए कोई-सा भी एक उद्धरण देता हूँ :

"Every one of you should, from this very moment consider yourself a free man or woman and even act as if you are free and no longer under the heel of this imperialism. This is no make believe. You have to cultivate this spirit of freedom before it comes physically. The chairs of a slave are broken the moment he considers himself a free man." – Selections, by Nirmal Kumar Bose, p. 208.

सत्य को अन्तर्ध्वनित होते हुए पकड़ना, यह शैली भी गांधी जी की विशेषत: विख्यात है। सत्य को उसके मूल चारुत्व में आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति से ग्रहण कर लेना लगभग वैसी ही शैली है। अधिक विशिष्ट बात यह है कि अन्तर्ध्वनित यह सत्य, जो बारंबार देश-काल के बाहर से आता हुआ अनुभूत होता है, उसी अनुपात में इतिहास का सत्य भी बन जाता है। यह चरम विश्वास कि दोनों में कभी व्यवधान होगा ही नहीं, सत्याग्रह-युग मानवीय आस्था की रीढ़ है। बेशक, इस अखण्ड, असंदिग्ध आस्था पर हताश शंका प्रकट की बच्चन आदि ने मुँह चिढ़ाया प्रगतिवाद ने। उसके बाद तो इन्द्रजाल टूटता ही गया। आज के साहित्य की मनोभूमि की प्रथम अनुभूति यही है कि अन्त:सत्य और बहिर्सत्य के बीच एक विशाल खाई है जो पाटे नहीं पटती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परिवर्तन की व्यापक कल्पना उस युग में अध्यात्म के सिर्फ एक बार घटित होने वाले परिवर्तन की मनोभूमि से जुड़ गई थी। फिर भी हम इसे संवादी स्वर ही इसलिए कहेंगे कि उसकी भूमिका मूलत: भारतीय परिवर्तन को अधिक केन्द्रित करने की, और आज़ादी के बाद क्या होगा—इस परेशान और एकता को क्षीण करने वाले चिन्ता से मुक्त करने की थी। क्योंकि राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा से अलग या भिन्न जितनी धाराएँ थीं – मुस्लिम लीग से लेकर कम्युनिस्ट पार्टी तक

– उनका आरम्भ ही यहाँ से होता था : परिवर्तन तो ठीक है, लेकिन आज़ादी के बाद क्या होगा, इसका निबटारा अभी से हो कर लिया जाय। प्रामाणिक भारतीय मानस का एक ही उत्तर था : इस तरह के प्रश्न नहीं पूछने चाहिये; क्षितिज के पार क्या है, इसका हमें विश्लेषण नहीं करना चाहिए; आओं, हम सिर्फ़ उसका स्वप्न देखें और वेग से आकर्षित होते जायँ। इससे ज्यादा ऊहापोह शैतान का काम है। इस उत्तर के पीछे प्रत्यक्ष अनुभव यह था कि इन ऊहापोहात्मक धाराओं से एकता को बार-बार धक्का पहुँचता था। आज़ादी के बाद आज हम सोचते हैं कि काश हिन्दुस्तान ने आज़ादी के बाद ऊहापोह की मानसिक तैयारी कुछ अधिक की होती।

परिवर्तन, जो सिर्फ़ एक बार घटित होता है : लघु से महत्, यथार्थ से आदर्श, गुलामी से आजादी की ओर, स्वाभाविक है कि श्रृंखलाबद्ध परिवर्तन से अधिक आमूलक, अधिक नाटकीय, अधिक चमत्कारपूर्ण होगा। सत्याग्रह-युग विराट् नाटकीयता का युग है। उस युग के बारे में पढ़कर ही हम रोमांचित होने लगते हैं, फिर उस समय जिन्दा होना और उसकी लय को महसूस करना स्वर्ग में रहने के बराबर ही रहा होगा! क्या आश्चर्य है कि उस युग के बचे हुए अवशेष आज भी तृषित प्रेतात्माओं की तरह वैसा ही उतार-चढ़ाव, जैसा ही झंझा-झकोर, वैसी ही सिर को चक्कर देने वाली पेंगें, वैसी ही नाटकीय झंझार और इतिहास की वैसी ही उत्ताल तरंगों में फुफकारती हुइ गति तलाश करते घूमते हों! वह ऐसा समय था जब इलाहाबाद की सड़कों पर स्त्रियों के एक छोटे से जलूस के निकलने की ख़बर पाकर जवाहरलाल नेहरू जैसे आदमी को भी लगता था, जैसे इतिहास ने जबरदस्त अँगड़ाई ली हो और तेज़ी से छूटते हुए अग्निबाण की तरह आकाश में दौड़ चला हो और हमारा युग है कि न्यूयार्क में दुनिया के सभी देशों के प्रधानमंत्री और अध्यक्ष इकट्ठा होते हैं, मेजों पर घूसे बरसते हैं, रेडियो, टेलीविजन, अंखवार चीखते हैं और महफ़िल खत्म होने के बाद लगता है कि इतिहास नहीं बढ़ता; बिल्कुल नहीं बढ़ता; कुछ भी तो नहीं घटित होता! कहाँ है वह युग, जब एक सटीक शेर पर दिल्ली के कत्लेआम बन्द हो जाता था; जब एक राखी की याद पर सल्तनतें लुट जाती थी; जब एक लाठी की मार पर अंग्रेज अफ़सर आफ़िस क्लर्क को तरक्की दे देता था, जहाँ एक लड़कपन की याद पर गुण्डा आख़िरी गोली तक जीवित रहने की प्रतिज्ञा करता था; जब एक झोंपड़ी की दृढ़ता पाण्डेपुर की सिगरेट-फ़ैक्टरी को चुनौती देती अडिग खड़ी हो जाती थी? लघु और महत् की यह नाटकीय विराटता कहाँ है? इतिहास-रथ की उड़ी धूल में पीछे बहुत पीछे!

यह नाटकीयता सिर्फ़ छायावादी काव्य ही नहीं, प्रसाद और प्रेमचन्द्र के आसपास के गद्य को भी सम्पन्न करती चलती है। इसमें इतनी शक्ति थी कि बग़ैर स्टेज के भी प्रसाद को नाटकीय नाटक लिखना सम्भव हो गया। अगर प्रसाद को स्टेज की कोई जीवित परम्परा मिली होती तो उनकी अपनी प्रतिभा और युग की लय दोनों मिलकर हिन्दी नाटक में कैसी विशाल छवियाँ उत्पन्न करतीं, यह कल्पना करने की चीज है। रंगमंच के अभाव में हुआ यही कि प्रसाद के नाटकों की नाटकीयता कमज़ोर स्ट्रक्चर में भरी नहीं रह पाती, उबल-उबल कर गिर पड़ती है। लगता है कि झीनी चादर पर ऑरोरा बोरियालिस के रंगों की चमत्कृत करने वाली भागदौड़ हो रही है और चादर इस सारे उत्सव को सँभाल न पा रही हो। वस्तुत: शिल्प की यह कठिनाई छायावादी युग के साहित्य की सर्वाङ्गीण कठिनाई है। उस साहित्य का हुलास शिल्प के कटोरे में नाप-तौल कर भरा-पुरा न रहकर बार-बार छलक पड़ता है। कविता में भी और उपन्यास में भी। प्रेमचन्द ने दोनों की मैत्री की भरसक कोशिश की – और बहुत कुछ सफल हुई, लेकिन कहाँ तक? उनके आरंभिक उपन्यासों में भीतर का अमृत कटोरे में समा नहीं रहा है, इसकी कठिनाई स्पष्ट है। आगे चलकर यह कठिनाई सुलझती दिखती है। मगर प्रेमचन्द के शिल्प का विस्तृत विश्लेषण करना यहाँ उद्दिष्ट नहीं है। ध्यान में रखने की बात सिर्फ़ यह है कि इस नाटकीय, ओतप्रोत, अतिक्रान्त मनोभूमि ने काव्यशैली में फॉर्म-कन्टेन्ट, भाषा-अर्थ, शिल्प-अभिव्यक्ति आदि की विशिष्ट समस्याएँ पैदा कीं, और आगे चलकर बच्चन-भगवतीचरण वर्मा, तथा आज़ादी के बाद नये काव्य और नये उपन्यास-कहानी ने इन सब के लिए सन्तुलित ढाँचा निकालने की कोशिश की। परिणाम यह हुआ कि उन समस्याओं को लेकर विचार करने का ढंग बदल गया। लगता है कि जैसे कांग्रेस के झीने संगठन में राष्ट्रीयता की सम्पूर्ण भावधारा न प्रवाहित हो पाती हो, और बार-बार तमाम तरह की, सहयोगी, असहयोगी संस्थाओं में किनारे तोड़कर जा मिलती हो, और खुद कांग्रेस के आंतरिक संगठन में तरह-तरह के रिक्त या अर्द्धरिक्त खाई-गढ़ छोड़ती चलती हो।

नाटकीयता उस युग का दूसरा संवादी स्वर है। इसे भी हम प्रमुख स्वर न मानकर सहायक ही इसलिए मानेंगे कि सब के बावजूद भी परिवर्तन की मुद्रा में एक तरतीबवार गति को अन्त: सलिला प्रवाहित है। उस अन्त:सलिला की सतह पर तूफान पछाड़े खाता है, लेकिन गहरे कहीं भारतीय मानस आँवे की तरह ही पकता जाता है। गांधी का नेतृत्व परिवर्तनकारी ही नहीं, क्रांतिकारी भी था–लेकिन कहीं उसमें धीरे-धीरे बदलने वाली गति भी मौजूद है। हिन्दी के तत्कालीन साहित्य में यह दोनों ही गतियाँ दिखती हैं। रक्तचाप की नाप करने वाले डाक्टर ब्लड प्रेशर की अधिकतम और न्यूनतम दोनों ही गतियाँ देखकर सम्पूर्ण वेग का अन्दाज लगाते हैं। उस समय की मनोभूमि के व्यक्त और अव्यक्त दोनों स्तरों की धड़कनों के अनुमान के लिए गांधी जी का एक उद्धरण दूँगा जो रूपक की तरह हिन्दी काव्य पर भी लागू होता है:

"The nations have progressed both by evolution and revolution. The one is necessary as the other. Death which is an eternal verity, is revolution as birth and after is slow and steady evolution Death is as necessary for man's growth as life itself. God is the greatest Revolutionist the world has ever known or will know. He sends deluges.

He sends storms where a moment ago there was calm. He levels down mountains which he builds with exquisite care and infinite patience. I do watch the sky and it fills me with awe and wonder. In the serene blue sky, both of India and England, I have seen clouds gathering and bursting with a fury which has struck me dumb. History is more a record of wonderful revolutions than the so-called ordered progress – no history more so then the English. And I beg to inform the correspondent that I have seen people trudging slowly up mountains and have also seen men shooting up the air through great heights."

इन शब्दों की राजनीति पर नहीं, इन शब्दों में जो काव्य है, उस पर ध्यान केंद्रित कीजिए, और आपको निराला, प्रसाद, प्रेमचन्द इन सब के लहू की धड़कन सुनाई पड़ेगी। जीवन और मृत्यु, क्रान्तिकारी ईश्वर, प्रलय-प्रवाह, शान्त वातावरण में बराबर या जाने वाले तूफान, टूटते हुए विस्तृत आकाश, विकराल प्रलय-मेघ, धीरे-धीरे चढ़ता हुआ पर्वतारोही और छटते हुए उल्कापिण्ड – सरीखा मनुष्य: ये सारे चित्र तत्कालीन साहित्य में निरन्तर मँडराते रहते हैं। ऐसे युग की कल्पना कीजिए जब इन शब्दों का आशय बुद्धि द्वारा गृहीत अर्थवत्ता नहीं थी, साधारण जीवन में प्रतिफलित होने वाला प्राणों की लय थी : और आपको छायावाद-युग का स्पन्दन कुछ-कुछ स्पर्श करता हुए प्रतीत होगा।

गांधी जी हिन्दुस्तान के लिए गांधी इसलिए नहीं थे कि वे हमारे विचारों या आदर्शों के प्रवक्ता थे, उनका जोड़ देश के साथ कहीं और भी गहरा था, वे हिन्दुस्तान की जिन्दगी के rhythm की अभिव्यक्ति थे; इतनी पूर्णता के साथ, जो उस युग में किसी और को प्राप्त नहीं थी : और आगे भी किसी को हो सकेगी, कहना कठिन है।

लघु-महत्, यथार्थ-आदर्श की इस 'उन्मुखता' के सन्दर्भ में हम एक और प्रश्न पूछ सकते हैं। यह एक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी है, क्योंकि मेरी समझ में इस प्रश्न का उत्तर हिन्दी के 'छायावाद युग' ने – जिसे हम अखिल भारतीय दृष्टि से सत्याग्रह-युग कह सकते है–और भाषाओं के साहित्य से कुछ भिन्न ढंग से दिया। हिन्दी-क्षेत्र की परम्परा और ऐतिहासिक अनुभव जिस हद तक हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं से भिन्न था, उस हद तक हिन्दी के एक विशिष्ट 'व्यक्तित्व' का निर्माण उस युग में हुआ। इस संबंध में, कम से कम हिन्दुस्तान की अन्य भाषाओं के टेम्पर – मिज़ाज से तुलना करने से हमारे सार्वदेशिक ऐतिहासिक व्यक्तित्व के बारे में स्पष्ट और उपयोगी नतीजे निकाले जा सकते हैं। आज की जानकारी-या जानकारी के अभाव-में सत्य का एक सीमित पहलू ही देखकर सन्तोष करने के अतिरिक्त क्या चारा है? अस्तु, प्रश्न यह है कि आदर्श जिस तरह यथार्थ को आकर्षित करता है, उस आकर्षण का प्रमुख रूप क्या है?

उत्तर प्रदेश वह सूबा है जहाँ बंगाल की पुरवैया भी आती है और पश्चिम की पछुआ भी। पुरवैया तो तीन ही चार महीने चलती है, लेकिन जाड़ों में अधरों पर पपड़ियाँ छोड़ जाती है और गरमियों में लू चलकर झुलसा कर रख देती है। बंगाल की पुरवैया शरत्चन्द्र और रवीन्द्रनाथ को लाती है और पछुआ दयानन्द सरस्वती को। और कुल मिलाकर आठ महीने पछुआ का ही राज्य रहता है–रूखा, या तप से संयमित। उत्तर प्रदेश की–या साधारणत: हिन्दी भाषा की–प्रकृति कुल मिलाकर संयम की अधिक हैं, वेग के साथ बन्धन को तोड़ कर बहा ले जाने की कम। शायद कालिदास से हिन्दी ने यही सीखा है : गहरी से गहरी शराब के बावजूद भी, कल्पना की सम्पन्न से सम्पन्न उड़ानों के बावजूद भी, और विलास के बंधनहीन अवसरों में भी कालिदास की आँख नहीं झपकती। कालिदास की आँखों का वह निर्धूम, निष्कम्प, निश्चल प्रकाश जो मालवा की पहाड़ियों, उछलती हुई नदियों मथुरा की गम्भीर जमुना, फूलों को पानी देती हुई वन-कन्या, धूल उड़ाते हुए रथ, सोंधी मिट्टी पर बरसते हुए पानी–यहाँ तक कि मानदण्ड की तरह फैले हुए समूचे हिमालय पर–एक सरीखा, नवम्बर की धूप की तरह नरम, लेकिन तटस्थ पड़ता है, उसका कोई महत्वपूर्ण अंश शायद हिन्दी को उत्तराधिकार के रूप में मिला है। ऐसा नहीं है कि इस बीसवीं सदी में ही महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल जैसे ऊपर से रूखे और भीतर से अंकुर की तरह मुलायम लोग हुए हों। तुलसीदास मध्ययुग के दयानन्द सरस्वती हैं ही; विभोरावस्था को पहुँचे हुए सूरदास भी कालिदास की तरह कृष्ण-लीला को सिर्फ देखते ही हैं, चैतन्य की तरह आत्मविस्तृत नहीं हो जाते। सूरदास की तन्मयता जितनी गहरी होती जाती है, आँखें उतना ही साफ़ देखती हैं–और उस देखने में जयदेव या विद्यापति की तरह महकते हुए फूलों से धूम-नशीले, अल्पना और अंगराग से लहकते हुए कुंज कुटीर कम हैं, ज्यादातर तो उलूखल, मूसल, कछौटी, हरे बाँस की बे-सँवारी वंशी, बिल्कुल ही अनईस्थिटिक ढंग से फैलाया हुआ मक्खन ही है! हिन्दी की कल्पना चेरापूँजी की जल-थल करने वाली वर्षा से उद्भूत कल्पना नहीं है, उसका सौंधापन आषाढ़ के पहले दिन तप्त धरती पर पड़ी हुई बूँद-जैसा है। जिस राष्ट्रीय परिस्थितियों के बंगाल में शरत्चन्द्र को जन्म दिया, उन्होंने हिन्दी में प्रेमचन्द को। कहने में जैसा भी विरोधाभास लगे–लेकिन प्रेमचन्द की आँखें कालिदास के अधिक निकट हैं। होशोहवास की दुरुस्ती की एक सीमा है जिसके बाहर छायावादी कवि - निराला और प्रसाद भी कदम नहीं रखना चाहते। शरत् बाबू के 'देवदास' की तरह प्रसाद के कंकाल के 'विजय' भी, आदिम भावनाओं द्वारा ग्रस्त है, लेकिन भावना के उन तिमिराच्छन्न प्रदेशों का सफर नहीं करता जहाँ से बंगाल के लेखक की यात्रा शुरू होती है।

महत् के आकर्षण की प्रकृति की खोज करते समय इस सीमा को ध्यान में रखना जरूरी है, यद्यपि इसे बहुत स्थूल नहीं समझना चाहिए। इस संकेत का मतलब सिर्फ़ हिन्दी की आत्मा की हल्की सी ढलान की पहचान है। यह नहीं कि हिन्दी में बुद्धि और हृदय:

मर्यादा और स्वच्छन्दता; आवेग और संयम; कल्पना और रीति; शक्ति और नैतिकता का द्वन्द्व सारे संसार की तरह नहीं हुआ या नहीं होता। देखने की बात यह है कि वह द्वन्द्व चेतना के किस स्तर पर और किन चौहद्दियों के भीतर घटित होता है।

जैसा कि उस युग में स्वाभाविक था, महत् का आकर्षण, आज़ादी के आकर्षण की तरह दो धाराओं में होकर बहता था : नैतिक और शक्ति। इतिहास के विचित्र संयोगों में से यह भी है कि इन दोनों विद्युत्-तरंगों के परस्पर संतुलन का नाटक भी आधुनिक हिन्दी के जन्म-केन्द्र वाराणसी में खेला गया, और उसके प्रतीकात्मक पात्र थे प्रेमचन्द और प्रसाद। इन दोनों की भिन्नता और समानता; वक्रोक्तियाँ और प्रशंसाएँ; अलगाव और सम्मेलन; दोनों के पीछे समर्थकों और प्रशंसकों का जमघट और बिखराव; धारणाओं और व्यवहार के ठोस और तरल तत्त्व-यह सब मिलकर उस विशिष्ट वातावरण का निर्माण करते हैं जिसे फ्रेंच आलोचक टेन ने 'मिलियू' कहा है। दुर्भाग्य से उस 'मिलियू' अथवा युगभूमि की कहानी अभी कही नहीं गई है और हिन्दी आलोचना की दशा अगर ऐसी ही रही तो शायद कभी कही भी नहीं जायगी। साहित्य में भावनाओं, धारणाओं, विचारों, आदर्शों, उद्देश्यों, मन्तव्यों, अनुभूतियों व्यवहारों, प्रणालियों आदि के मिले-जुले, प्रतिक्षण सर्जित-विसर्जित प्रवाह जिसकी मनोभूमि (या अगर यह बहुत गतिहीन रूपक लगे तो 'मन:प्रवाह') कहते हैं, उसे सजीव और सशक्त रूप में देखने और समझने की अभ्यासी हिन्दी आलोचना नहीं हुई है।

प्रसाद-प्रेमचन्द्र की युगभूमि को मैंने संघर्ष या द्वन्द्व न कहकर सन्तुलन का नाटक इसलिए कहा है कि वस्तुत: यह चरम द्वन्द्व था भी नहीं, और उस युग की मानसिक अवस्था में हो भी नहीं सकता था। आख़िरकार हिन्दी साहित्य के दूसरे केन्द्र इलाहाबाद में दोनों धाराएँ बिल्कुल मिली-जुली दिखती हैं। यहाँ उतना भी पृथक्करण नहीं हुआ। निराला और महादेवी का गद्य और काव्य अप्रत्यक्ष रूप से एक धारा से निकलकर दूसरे में प्रवाहित होता रहता है।

आज़ादी का संघर्ष किसी भी देश के लिए नैतिक भी होता है और शक्तिपरक भी। स्वातंत्र्य न सिर्फ़ हमारी नैतिकता की आधार-भूमि होती है, बल्कि हमारी प्रभुत्व-सम्पन्नता भी। इसीलिए आज़ादी की कोई भी माँग हमारे नैतिक मन को तो अपील करती ही है, हमारी कल्पना को भी उत्तेजित करती है। मानवीय कर्तव्य और अधिकार दोनों की ही धाराएँ स्वाधीनता के चरम आकर्षण की धाराएँ बनीं, जैसा हर क्रान्ति में होता है।

छायावाद की चर्चा में अक्सर योरप के रोमांटिसिज्म़ का नाम चपका दिया जाता है। मैंने भरसक हिन्दी के सत्याग्रह-युग के साहित्य पर रोमांटिक विशेषण लगाने के परहेज किया है। क्योंकि योरप् की अट्ठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में - फ्रेंच क्रान्ति की गोद में - जिस मानसिक उद्वेलन को आज़ादी मिली, उसके स्वप्नों का केन्द्र प्रधानत: प्रभुत्व-सम्पन्न, शक्ति या सत्ताभिलाषी है। यह सही है कि हर क्रान्ति, जैसा ऊपर कहा गया, नैतिक और शाक्त, दोनों तत्त्वों के सम्मिश्रण की भूमि होती है। लेकिन योरप की क्रान्ति - फ्रेन्च और रूसी दोनों ही - प्रधानत: शक्ति के अजस्र स्रोत के विशाल विस्फोट की हीं चकाचौंध करने वाली ज्योति है। ट्राट्स्की कहता है कि क्रान्ति एक ऐसी विस्फोटक ज्वाला है जिसकी उद्दाम ज्योति के आगे नैतिकता-अनैतिकता के प्रश्न छोटे और छिछले मालूम पड़ने लगते हैं। अगर हम सत्याग्रह-युग के मानसिक उत्तर को शब्दबद्ध करें तो कह सकते हैं कि नैतिकता का उदात्तीकरण एक ऐसा विराट प्रभामण्डल है जिसके आगे सत्ता और, क्रान्ति अथवा क्रमिक विकास के प्रश्न गौण हो जाते हैं। ऊपर हमने गांधी जी का जो कथात्मक उद्धरण दिया, उसका आन्तरिक आशय यही है। योरपीय रोमांटिक कवियों ने मानवीय शक्ति के विस्फोट में नैतिकता के विलयन में स्थूलन से लेकर सूक्ष्मतम क्षणों को पकड़ने की कोशिश की है। हिन्दी के छायावादी काव्य में सत्याग्रह युग की भारतीय अनुभूति की पूरी कथा हो, ऐसा तो नहीं है। लेकिन जो कुछ भी कहा जा सका है, वह प्रधानत: नैतिकता में शक्ति के विलयन की ही कथा है। निराला, पंत, महादेवी मुख्यत: नैतिकता में ही शक्ति का होम करते हैं, यह तो स्पष्ट ही है। सबसे अधिक शाक्त जयशंकर प्रसाद भी योरपीय अर्थ में रोमांटिक नहीं है। मेरी कल्पना में इस समय प्रसाद के चरित्र आ रहे हैं : स्कन्दगुप्त, चाणक्य, मनु ..... ये सब नैतिक प्रत्यंचा पर चढ़े हुए शक्तिवाण ही तो हैं। रोमांटिसिज्म और छायावाद का साम्य उस एनर्जी में है जो मॉरल विज़न और इमेजिनेटिव विज़न के साथ-साथ भभक उठने से पैदा होती है, लेकिन दोनों तत्त्वों का अनुपात इन दोनों मनोभूमियों में बहुत भिन्न है, बल्कि हम कह सकते हैं कि परस्पर विलोम भी है। इसलिए दोनों का प्रकाश भिन्न है। इस भिन्नता को ध्यान में रखकर ही हम रोमांटिसिज्म की शब्दावली का व्यवहार छायावाद के संदर्भ में कर सकते हैं।

जिस तरह छायावाद युग की चरम आस्था यह है कि अन्तर्जगत् का सत्य और बहिर्जगत् का सत्य एक ही है और दोनों में कभी भी व्यवधान नहीं पैदा हो सकता, उसी तरह उसकी मान्यता की दूसरी आधारशिला यह है कि नैतिक विज़न और कल्पनाशील विज़न दोनों वस्तुत: एक हैं और इस दोनों में कभी भी बराबर नहीं पड़ सकेंगी। इस प्रकार महत् की महत्ता में एक अभूतपूर्व सहज आकर्षण शक्ति-उत्पन्न हो जाती है। राष्ट्रीय संघर्ष के स्तर पर नैतिक और कल्पनाजन्य महत्ताएं राष्ट्रीय नेतृप्व की महत्ता में घुल-मिल कर एकाकार हो जाती हैं। छायावाद की हर रचना एक ही साथ नैतिक भी है, कल्पनात्मक भी है और राजनैतिक भी है। इससे काव्य में अर्थ और लय की गूँज-अनुगूँज की सम्भावना बहुत बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए प्रसाद का 'बीती विभावरी जाग री' या निराला का 'राम की शक्तिपूजा' का पंत या 'धूम धुँआरे काजर कारे' या महादेवी का 'जाग तुझको दूर जाना' .... एकसाथ ही नैतिक, कल्पनात्मक और राजनैतिक स्तरों पर झंकृत होता हैं। यही दशा प्रेमचन्द्र के उपन्यासों की, विशेषत: 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' की है। लेकिन नैतिक और कल्पनात्मक तत्त्वों की यह मैत्री अपने सम्मिलित बोझ को एक ही झंकार

में बहुत दूर तक नहीं सँभाल पा रही है, इसका संकेत तो प्रसाद-प्रेमचन्द कटाक्षगाथा में ही मिलने लगता है। पछुआ और पुरवैया दोनों को मिलाकर कब तक आषाढ़ का पहला दिन रहेगा? ये अनुभूतियाँ खण्डित भी हुईं, और उन्हें फिर से समन्वित करने का प्रयास भी आज हो रहा है, लेकिन इस बीच में मनुष्य की परिभाषा - या यों कहें कि सहज मनुष्य की परिभाषा - को बदल देने की जरूरत पैदा हो गयी। एक नया समन्वय नये स्तर पर ही सम्भव हो सकता है।

दार्शनिक मुद्रा, विराट् नाटकीयता, और नैतिक तथा कल्पनात्मक स्वप्नलोकों का विशिष्ट अनुपात में सम्मिश्रण, इन तीनों तत्त्वों के अतिरिक्त दो अन्य तत्त्व भी हैं जो उस युग की मनोभूमि का निर्माण करते हैं। ये दोनों हिन्दी की अपनी विशिष्ट स्थिति से उपजते हैं। एक तो यह है कि हिन्दी की जिस भाषा को काव्य-मुखर करने का संकल्प छायावाद-युग ने किया था, उसे अपना तोतलापन छोड़े हुए बहुत दिन नहीं हुए थे। ब्रजभाषा और उर्दू दोनों ही से समान विद्रोह करके ही इस साहित्य का जन्म हो रहा था। दूसरे, हिन्दी का स्वयम् का एक 'संसार' था। यह 'संसार' इस रूप में समूचे भारत से छोटा था कि हिन्दी साहित्य भारत का एकमात्र साहित्य नहीं था। इसमें तो हिन्दी की गति बंगला, मराठी आदि के समान थी। लेकिन एक अर्थ में हिन्दी का 'संसारत्व' अन्य भाषाओं से कुछ अधिक कठिन दबाव महसूस कर रहा था। स्वयं हिन्दीभाषा प्रदेश में हिन्दी के अतिरिक्त दो सांस्कृतिक 'संसार' और थे। एक तो उर्दू का; और दूसरा अंग्रेजी शिक्षितों या रुचि-सम्पन्नों का। ये दोनों 'संसार' समाज के शासक वर्ग में से थे और इनका 'प्रेशर' हिन्दी के विरुद्ध ही पड़ता था। यह ऐसी स्थिति भी जो बंगला, मराठी या तमिल में नहीं थी। ये दोनों ही तत्त्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और इनका प्रभाव हिन्दी की मनोभूमि पर क्या पड़ा, यह अलग विश्लेषण का विषय है। आशा है इस ओर आलोचकों का ध्यान जायेगा। हमारे सामने जो प्रश्न है, उसमें हम इतना नतीजा जोड़ सकते हैं कि इनमें से पहला तत्त्व – भाषा की समस्या, जो मूलत: एक टेकनिकल समस्या है – संस्कृत शब्दावली के माध्यम से मनोभूमि को क्लासिकल और ऐब्स्ट्रैक्ट बनाती है; दूसरा तत्व – हिन्दी के संसारत्व की सीमा – उस 'विद्रोही' स्वर को जन्म देता है जो उसे रोमांटिसिज्म के निकट लाता है। कुछ मिलाकर पूरे देश की अनुभूति के समस्त उतार-चढ़ावों को ग्रहण करने और भाषा में व्यक्त करने की क्षमता में कमी आती है। प्रौढ़ भाषा की अवस्था में उस समय की अनुभूति की अभिव्यक्ति ज़्यादा सूक्ष्म, ज़्यादा विविध, ज़्यादा जटिल होती और इतना अधिक ऊबड़-खाबड़ रिक्त स्थान भी न छूटता। जैसी स्थिति है, उसमें अनुभूति के सरलीकरण की प्रवृत्ति अधिक है – जटिलता और विविधता अपरिचित और अजनबी मालूम पड़ती है। आज जब हिन्दी का पाट बहुत बढ़ गया है, तब भी हिन्दी के लेखकों में 'बिरादरीपन' का अभाव खटकने की शिकायत कभी-कभी सुनाई पड़ जाती है। हिन्दी का 'संसारत्व' अभी भी पूरी तरह नहीं टूटा है। कहने को मनोभूमि 'आधुनिक' हो गई है। नयी कविता की तथाकथित 'आधुनिकता' में हिन्दी के 'संसारत्व' का दबाव कौन-कौन से 'म्यूटेशन' (संशोधन) पैदा करता है? जहाँ तक छायावाद का सवाल है, उसने एक तरह की शिशुआस्था का आयाम जोड़ा जो ऐब्स्ट्रैस्ट शब्दावली से पुष्ट हो गया। इससे अधिक विश्लेषण इस लेख में सभव नहीं है।

ये सारे तत्त्व मिलकर यथार्थ और आदर्श – लघु और महत् – के संबंध के प्रति, एक विशेष दृष्टि को जन्म देते हैं। कहा गया है कि छायावाद ने यथार्थ का तिरस्कार करके हवाई या स्वप्नदर्शी उड़ान में निकल भागना चाहा। इसको 'पलायनवादी' दृष्टि भी कहा गया है। इस ढंग से कभी-कभी कवियों की तुलना में प्रेमचन्द को यथार्थवादी या यथार्थ के निकट कहा गया है। वस्तुत: प्रेमचन्द, प्रसाद और दूसरे छायावादी कवि समान मनोभूमि पर स्थिति हैं। इनके वर्ण्य विषय अलग-अलग हैं, और होना स्वाभाविक भी है। वे यथार्थ का तिरस्कार नहीं करते। यथार्थ के प्रति उनकी एक दृष्टि है। वे यथार्थ को मूलत: अपरिभाषित, निर्माणातुर, अविरोधी, कच्ची और गीली मिट्टी की तरह देखते हैं। जिस पर आदर्श की कोई मुहर लगाई जा सकती है, जिसको किसी भी शकल या रूप-रंगत में मोड़ा जा सकता है। जिस तरह अन्तर्जगत् का सत्य बिल्कुल अपने हाथ का है, उसे हम जिस स्वप्न के आकार का चाहें गढ़ सकते हैं, उसी तरह बहिर्जगत् का सत्य भी है, एक ही जादू दोनों को ही मन मुताबिक गढ़ता चलता है। संक्षेप में, कटु यथार्थ, कठोर यथार्थ ऐसा यथार्थ जिसके आगे हमें अपनी इच्छाओं को दबाना पड़े, या जो हमारे आन्तरिक सत्य के आगे हमें अभेद्य अड़चन-सा बनकर खड़ा हो जाय जिससे हमें 'समझौता' करना पड़े – इस तरह के यथार्थ की कल्पना न छायावादी काव्य में ही है, न आरम्भिक प्रेमचन्द में ही है। या है भी तो बहुत गौण। एक बार जब नैतिक या कल्पनात्मक 'विज़न' की आँच पड़ती है तो यथार्थ में एक नाटकीय परिवर्तन होता है – और वह रेशे-रेशे, कण-कण में व्याप्त हो जाता है – इस तरह कि यथार्थ की यथार्थता का एक चिन्ह भी शेष नहीं रह जाता; जिस तरह एक बार आश्रम खुल जाने पर वेश्या के वेश्यात्व का कोई निशान भी बाकी नहीं बचता। काव्य में तो नैतिक या कल्पनात्मक 'विज़न' की सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्नता स्वयंसिद्ध है ही, स्वयं प्रेमचन्द में यथार्थ की मिट्टी कितनी गीली है और कितने असम्भव रूपों तक में ढल सकती है, इसका अनोखा उदाहरण उनका वह अद्भूत उपन्यास 'कायाकल्प' है जो शिशु-आस्था का एक अप्रत्याशित दृश्य ही हमारे सामने प्रस्तुत कर देता है।

इसलिए छायावादी युग का लघु प्रतिक्षण महत् में विसर्जित या विलीन हो जाने को आतुर है। या हम यों कहें कि छायावादी दृष्टि उसे उस आतुरता के क्षण में ही पकड़ती है। उससे पहले, या उसके तले, वह देखती ही नहीं। उसके लिए 'लघु' का कोई साकार, ठोस, प्रतिरोधी रूप प्रस्तुत ही नहीं होता। मानव या तो महामानव है, या है ही नहीं। चाहे यह महामानव प्रधानता: नैतिक हो या कल्पनात्मक। इसमें शक नहीं कि छायावादी दृष्टि में एनर्जी और अनुगूँज है, क्योंकि हर तरह का विसर्जन एनर्जी को जन्म देता है, लेकिन मनुष्य की प्राणशक्ति का यही एक मात्र दिग्दर्शन नहीं है।

मैं यह नहीं कहता कि लघु-महत् के संबंध की यह दृष्टि असम्भव है, या गौण है। मनुष्य के ऊपर जो कुछ गुज़रा, जिसने भी उसके आकार की सृष्टि की, वह छोटा से छोटा भी न असम्भव है, न गौण है। लेकिन क्या यह कहने की ज़रूरत है कि इस दृष्टि के अलावा भी दृष्टियाँ हो सकती हैं कि मनुष्य उल्का पिण्ड की तरह मात्र भस्मसात् होता पुतला मात्र ही नहीं है? हम यह भी देख सकते हैं कि छायावादी दृष्टि की विशेषता एक युग से उपजी थी, उसके अन्दर हमको आकर्षित करने वाली मुद्रा उस युग से ही मिली थी। साहित्य या कला का पहला काम यह है कि वह हमें यह आश्वस्त करे कि वह जो कुछ कह रही है, वह सत्य है 'सत्यता' का यह आभास हम मात्र ऊपरी आवरण की छानबीन से नहीं कर पाते। उसमें हम वह अनाम, अपरिभाषिकीय वस्तु भी शामिल करते हैं जिसे आवाज़ की मुद्रा कहते है--जिस तरह ज़िन्दगी में भी हम आदमी के कहने के ढंग से अनुमान करते हैं कि वह सच कह रहा है या झूठ। इस 'टोन' की उत्पत्ति युग से ही होती है। ज़िद करके उस टोन को नहीं पकड़ा जा सकता और टोन बदल जाने पर वे बातें सत्य भी नहीं लगतीं जो पहले टोन में सत्य मालूम पड़ती थीं। यह विश्लेषण करना सम्भव है कि लघु-महत् के संबंध में, न सिर्फ हिन्दी में युग-परिवर्तन हुआ, बल्कि उसी तरह हिन्दी काव्य का टोन भी बदला और हिन्दी साहित्य ने नये ढंग से उस संबंध को देखने की कोशिश की। इस दृष्टि से नयी कविता और छायावाद के बीच की भी एक मंजिल है जिसके प्रमुख स्वर बच्चन, भगवतीचरण वर्मा और दिनकर आदि हैं जिन्हें बीसवीं सदी के तीसरे दशक की अभिव्यक्ति मान सकते हैं।

Was it for this that our people had behaved so gallantly for a year? Were all our brave words and deeds to end in this? The independence resolution of the Congress, the pledge of Jan '26, so often repeated? So I lay and pondered on that March night, and in my heard there was a great emptiness as of something precious gone, almost, beyond recall.

"This is the way the world ends
Not with a bang, but a whimper."

— Jawaharlal Nehru : Autobiography

पंडित नेहरू के इन शब्दों के साथ हिन्दुस्तान में बीसवीं सदी का तीसरा दशक शुरू होता है। मार्च की रात 5 मार्च, 1931 की रात है और यह प्रतिक्रिया है दिल्ली में इसके एक दिन पहले हुए गांधी-इरविन समझौते की। ऊपर से सब कुछ वैसा ही था, वैसा ही रूप-रंग, वैसी ही तरंगें, वैसा ही संघर्ष, वैसे ही लोग, वैसे ही शब्द, लेकिन पंडित नेहरू के शब्दों में, मन में एक विराट् रिक्तता आ गई, जैसे कुछ बहुत मूल्यवान हमेशा-हमेशा के लिए चला गया। इस मनःस्थिति की अभिव्यक्ति के लिए इलियट की प्रसिद्ध पंक्तियों का उद्धृत किया जाना आज एक विचित्र-सा प्रभाव मन पर छोड़ता है। मेरे देखने में इलियट का वह पहला उल्लेख है। (इलियट का उल्लेख हिन्दुस्तान में सबसे पहले कब और कहाँ हुआ? कोई विद्वान् अन्वेषक इस पर प्रकाश डालेंगे? पंडित नेहरू की आत्मकथा 1936 की लिखित है।) हिन्दुस्तान के किस विशिष्ट मानस का साम्य इलियट से बैठा? आगे चलकर इस कवि का नाम सिर्फ हिन्दी ही नहीं, भारत की सभी भाषाओं में साहित्यिक विवादों के केन्द्र में स्थापित हो गया जिसकी प्रतिध्वनियाँ अभी कुछ दिन पहले तक सुनाई पड़ती रहीं। भारतीय मानस अथवा हिन्दी मानस ने इलियट का क्या उपयोग किया?

हमारा उद्देश्य यहाँ हिन्दी में इलियट की कल्पित या अर्धकल्पित मूर्ति के उपयोग की छानबीन करना नहीं है, इसलिए इस रोचक प्रंसग को छोड़कर हम हिन्दी के तीसरे दशक की ओर ही ध्यान केन्द्रित करें, जहाँ ऊपरी ढाँचा वैसा ही रहते हुए भी, भीतर से मनोभूमि में परिवर्तन आ गया। भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, दिनकर, नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, नरेन्द्र शर्मा आदि ने वह आरम्भ किया जिसे आलोचकों ने छायावाद का दूसरा दौर कहा है। इसें हम छायावाद का शेषांश भी कह सकते हैं या नयी कविता का आरम्भ भी। यह सही है कि यदि हम इन कवियों और लेखकों का ध्यान से देखेंगे तो छायावाद और 'नयी कविता' के बीच दुर्लंघ्य खाई के बजाय एक क्रमशः विकसित होती हुई परम्परा दिखलाई पड़ेगी और छायावाद के 'महामानव' और आज के 'लघुमानव' के बीच इतनी सख्त फ़ौजदारी होती हुई भी नहीं मालूम पड़ेगी।

सुविधा के लिए हम चाहें तो तीसरे दशक द्वारा परिभाषित मानव का भी नाम रख सकते हैं। वस्तुतः उसके आशय को व्यक्त करने की शब्दावली उस युग ने खुद ही चलाई थी। बच्चन की मधुशाला में जाने वाला यात्री, भगवतीचरण वर्मा का बीजगुप्त या दिनकर का कभी रस खोज़ने वाला, कभी अंगारों पर चलने वाला आदमी - ये सब एक विशेष अर्थ में 'साधारण' आदमी हैं। उस समय के बहुप्रचलित शब्द को लें तो 'जनसाधारण' हैं। जिन्हें पारिभाषिक और आग्रहपूर्ण शब्दों से प्रेम हो, वे 'महामानव' और 'लघुमानव' के वज़न पर 'साधारण-मानव' का नामकरण कर सकते हैं। मैं थोड़ी ढीली शब्दावली में बड़े परिवेश में बड़े आदमी की कविता, छोटे परिवेश में छोटे आदमी की कविता, साधारण परिवेश में साधारण आदमी की कविता कहना पसन्द करूँगा। क्योंकि जैसा मैंने पहले ही कहा है, ये कल्पना-चित्र मूलतः आलोचना और विश्लेषण के औज़ार है, कृतिकारों के आदर्श और उद्देश्य नहीं। उनकी कसौटी यही है कि वे जीवन और साहित्य के विराट् और प्रमथित कर देने वाले उतार-चढ़ाव में कोई पैटर्न, कोई डिज़ाइन, कोई तारतम्य या संगति देखने में मदद कर सकते हैं या नहीं। उनकी सच्चाई इस कारण होती है कि जाने या अनजाने, अधिकतर अनजाने, कृतिकार मनुष्य को परिभाषित करता चलता है--सहज मनुष्य की अपनी विशेष छवि देखने के लिए तब तक बाध्य है जब तक उसकी कल्पना और अनुभूति का केंद्र मनुष्य है।

साधारणता के साथ बच्चन और उनके समकालीन कवि 'सहजता' का खास तौर से आभास देते हैं। एक बहुत दुहराया हुआ फ़िकरा यह है कि 'मनुष्य की अपनी सीमाएँ होती है।' इन सीमाओं के साथ या वस्तुत: इन सीमाओं के कारण ही उस युग के कृतिकार सहज आदमी का रूप खड़ा करते हैं जो दूसरे दशक के रूप में भिन्न है। बच्चन का पीने वाला सहज इसलिए है कि किसी को पीड़ा नहीं देता, बढ़-बढ़ कर बातें नहीं करता, जिन पर अपना अधिकार नहीं, उन बातों की चर्चा नहीं करता, उसका सबसे बड़ा शत्रु उसका छलरहित व्यवहार है, लोग उसे गलत समझते हैं, लेकिन दिल से वह ईमानदार और हमदर्द है। उसी तरह बीजगुप्त भी एक विशेष ढंग से 'सहज' आदमी है। उसकी सहजता की प्रतीति का कारण भी उसकी आडम्बरहीनता, निश्छलता, ईमानदारी और हमदर्दी है जो उसकी सारी सीमाओं के बावजूद, या यों कहें कि उन सीमाओं के कारण हैं। उसे भी बच्चन के पीने वाले की तरह गलत समझा जाता है। 'चित्रलेखा' उपन्यास की बहस भोग और योग को लेकर है। भोग में एक सहजता है—क्योंकि वह साधारण मनुष्य का अनिवार्य धर्म है—इसी कारण जहाँ कुमारगारि के चरित्र में ऐंठन अथवा तनाव दिखता है, वहाँ बीजगुप्त सीधा और सहज जान पड़ता है।

यह तसवीर संतही है और मै आशा करता हूँ कि विचारवान पाठक कों ठीक भी मालूम पड़ेगी। लेकिन छायावाद-युग के जो लक्षण हमने पहले अन्वेषित किये, उससे इस तसवीर का जोड़ किसी तरह बैठता है? लघु और महत्, यथार्थ और आदर्श, परिवर्तन और नाटकीयता, शिशु-आस्था और दार्शनिक मुद्रा—इन सब का स्वरूप और संबंध किस प्रकार इस नये चित्र में प्रतिफलित होता है? इसके लिए हमें थोडा और गहरे प्रवेश करना पड़ेगा।

लेकिन इस विवेचन के पूर्व गलतफहमी दूर करने के लिए दो-एक बातें ध्यान में रखना आवश्यक है। इस संक्षिप्त लेख में उस युग के सभी कवियों या गद्य-लेखकों का विश्लेषण करना सम्भव नहीं है। केवल विषय से संबंधित मनोभूमि की मौलिक बनावट के सामान्य रूप ही हम देखेंगे। इसलिए उदाहरण के लिए हम प्राय: दो लेखकों को लेंगे : बच्चन और भगवतीचरण वर्मा। दोनों की 'लोकप्रियता' अपने में बेजोड़ है। कहते हैं कि किसी समय देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' लिखकर हजारों (या लाखों?) लोगों को उर्दू छोड़कर हिन्दी पढ़ने को विवश कर दिया था। कविता में यदि उस क्रान्ति का कोई जोड़ है तो वह बच्चन की 'मधुशाला' है। अधिक से अधिक पाठकों को सामयिक कविता का चस्का लगाने का श्रेय जितना अकेले बच्चन को है उतना किसी अन्य कवि को नहीं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। उसी अनुपात में पिछले अस्सी वर्षों में कविता का जितना व्यापक शौक़ तीसरे दशक ने पैदा किया, उतना शायद किसी अन्य युग में सम्भव नहीं हुआ। गद्य के क्षेत्र में आज भी भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' अपराजित है। इसलिए, युग की प्रधान रुचि और मानव-संबंधी कल्पना की रूपरेखा हमें इन लेखकों में मिल जायगी। स्थूलत: बच्चन और भगवतीचरण वर्मा में हमारी दृष्टि से वे सभी उपलब्धियाँ और अभाव, विस्तार और सीमाएँ मौजूद हैं जो तीसरे दशक की अपनी हैं। बेशक, इस विशिष्ट रूपरेखा के अनगिनत रंगारंग हैं जो अलग-अलग कवियों में हैं। मनुष्य कभी परिभाषाओं में बाँधा नहीं जा सकता। किन्तु जहाँ तक कोई भी युग उसे परिभाषित कर सकता है, वहाँ तक वे सारे रंगारंग उसी केन्द्रीय चित्र के चारों ओर दिखलाई पड़ते हैं।

दूसरे, हमारा उद्देश्य कवियों की श्रेष्ठता की छानबीन करना नहीं है, बल्कि कृतियों के तल में काम करती हुई मनोभूमि का विश्लेषण करना है। दु:ख है कि हिन्दी आलोचना ने साहित्यकार को समझने से ज्यादा महत्वपूर्ण उसकी प्रंशसा-निन्दा करना समझा है। अधिकांश पाठकों की आदत कम से कम कुछ ऐसा ही सुनने की पड़ गई है। परिणाम यह है कि प्रशंसा-वन्दना तो हम कर सकते हैं, लेकिन काव्य की सीमारेखा निर्धारित करने से हम कतराते हैं। भारत-माता की जितनी प्रशंसा-वन्दना हमने सीखी, उतनी जागरूकता हमें हिन्दुस्तान की चौहद्दी के प्रति भी होती तो शायद आज की बहुत-सी समस्याएँ हमें नींद में सहसा आघात लगने जैसी न मालूम होतीं। जगबीती नहीं तो आपबीती से ही इतिहास सिखलाता है। हमारी श्रद्धा-भक्ति का एक महत्वपूर्ण अंग सीमारेखा की सचेत जसगरूकता (frontier-consciouseness) भी है, शायद आज इसे आग्रहपूर्वक सिद्ध करने की ज़रूरत नहीं है। इसकी पीड़ामय चेतना आज किसको नहीं है। देश और साहित्य की यह परस्पर समानता हम सिर्फ तर्क-चमत्कार के लिए नहीं दिखला रहे हैं। वस्तुत: सीमारेखा की जीवन्त जागरूकता (frontier consciouseness) मन और बुद्धि के संघटन के एक विशेष स्तर की माँग करती है जो प्रशंसा वन्दना के स्तर से भिन्न है, चाहे इस संघटन का उपयोग देश की कल्पना में हो, या तर्क में, या दर्शन में, या आलोचना में, या काव्य-बिम्बों में। दुर्भाग्य से हिन्दी का 'सीमा' शब्द संकोच या अभाव सूचित करता है, जबकि उसका अंग्रेजी पर्याय frontier विस्तार-सूचक है। विचारों की सीमा, कल्पना की सीमा, बिम्बों की सीमा, मनोभूमि की सीमा, संस्कृति की सीमा (frontiers of thought, concepts, images, sensibility, culture) आदि से हमारा तात्पर्य सिर्फ़ इतना ही नहीं होता कि इनमें चीजें शामिल नहीं हैं, बल्कि साथ ही साथ यह भी कि इनका फैलाव कहाँ तक है। कहने की शैली हमारी जो भी हो, बहुत गम्भीर अर्थ में किसी कृतिकार या युग को 'समझना' उसकी वन्दना करने से ज्यादा बड़ा काम है और सचमुच बड़ा लेखक, अगर उसमें कुछ भी दम है तो अभिनन्दित होने से अधिक 'समझा जाना' पसन्द करेगा। अभिनन्दन की प्यास दिमागी टुकड़ेपन की द्योतक है। कहने की जरूरत नहीं कि 'समझने' की एक (एकमात्र नहीं) अनिवार्य प्रक्रिया सीमारेखा का निर्धारण है।

इस भूमिका के साथ हम मन में महसूस होने वाली उस विराट् रिक्तता की ओर देखें जिसका एहसास पंडित नेहरू को हुआ था। क्योंकि यह विराट् रिक्तता सिर्फ नेहरू की नहीं, उस युग में पूरे देश की केंद्रीय समस्या है जिसका उत्तर देने की, या जिस पर भावात्मक

विजय प्राप्त करने की कोशिश उस युग की हिन्दी कविता करती है और जिस प्रयास में 'साधारण मानव' का रूप निर्मित होता है। बच्चन के मधुपायी में वह रिक्तता है, भगवतीचरण के बीजगुप्त में भी वह रिक्तता है, प्रगतिवादी चीख में भी वह रिक्तता है; इतना ही नहीं, उसी युग में लिखी गयी प्रसाद को 'कामायनी' के मनु में भी वही रिक्तता है जो कहीं गहरे गुंजलक मार कर बैठी है। 'कामायनी' का पूरा दर्शन, पूरा विराट् फैलाव उस एक रिक्तता की दार्शनिक और कल्पनात्मक कंचन से भर देने की कोशिश है। यह रिक्तता ही प्रेमचंद के 'गोदान' को ट्रैजेडी नहीं, बल्कि एक धुँधले प्रश्न चिन्ह में विलीन कर देती है। बेशक प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला और पन्त इस रिक्तता का समाधान अन्य कवियों से अलग ढंग पर खोजते हैं। उनकी पूँजी वही है जो उन्हें दूसरे दशक में मिली थी। आगे चलकर वह रिक्तता बढ़ती गई और कवियों का स्वर बदलता गया, जैसा आजकल है। दुर्भाग्य या सौभाग्य से प्रसाद, प्रेमचन्द या निराला को पुरानी मनोभूमि से इस नयी अनुभूति का सामना करने की जरूरत बहुत नहीं पड़ी। हम नहीं जानते कि यदि काल ने उन्हें अवसर दिया होता तो वे काव्य या कला के, और साथ ही मनुष्य के कौन से नये स्तर उद्घाटित करते। समय ने इसका दायित्व पन्त जी पर छोड़ा। और तीसरे दशक के बाद से लेकर आज तक पन्त जी का काव्य छायावादी मनोभूमि में नई अनुभूति को 'फिट' करने का एक विराट् – हीरोइक – प्रयास है। हम उनकी इस शक्तिशाली वीरता की तारीफ़ किये बिना रह सकते; लेकिन उनके भीष्म-संग्राम की छवि करुण भी है; इसलिए भी कि इस संग्राम का रूप अंतर्द्वन्द्व का है। विशेषत: इसलिए कि इस लड़ाई में जब उन्हें अपनी आस्था और कविता इस दोनों में से एक को तिलांजलि देना पड़ा तो उन्होंने काव्य को ही छोड़ देना स्वीकार किया, आस्था को नही। पन्त जी के परवर्ती काव्य में आस्था जितनी हठी होती गई है, 'कविता' उतनी ही क्षीण; इस ओर आलोचकों ने ध्यान अक्सर आकर्षित किया है, यद्यपि इस अद्भुत अन्तर्विरोध की जड़ में जाने की कोशिश कम की गयी है। पन्त जी के आरम्भिक काव्य के आधार पर उनकी तुलना अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ से कभी-कभी की गई है। इतिहास के अद्भुत चमत्कारों में से क्या यह भी है कि यह समानता पन्त की बाद की कविताओं और वर्ड्सवर्थ की बाद की कविताओं में भी स्थापित होती चली जायगी? ..... ऐसा क्यों हुआ? छायावादी मनोभूमि उस आन्तरिक रिक्तता के इन्कार पर खड़ी होती है। विपरीत युग में, पंत जी का सारा प्रयास कभी हताश, कभी प्रार्थना स्वरों में उस रिक्तता का सामना करने के बजाय, उसकी सत्ता से इन्कार करने का है। वह उसे हिरण्य मंत्रों से भर देना चाहते हैं। लेकिन वह रिक्तता उतनी ही विराटता के साथ उनके काव्य के चारो ओर व्याप्त हो जाती है। यही उत्तर वर्ड्सवर्थ के साथ हुआ, जो अन्त तक बदले हुए युग से पुराने आयुधों से लड़ता रहा। यह विडम्बना उत्तर पन्त की भी है। वैभवपूर्ण अतीत और हठी वर्तमान। कल्पना-शिशु राजयोगी बना और राजयोगी धीरे-धीरे हठयोगी बनता गया। प्रकृति से अरविन्द, और अरविन्द से काष्ठमौनी बाबा .....

'..... and in my heart there was a great emptiness as of something precious gone, almost beyond recall.'

इस नयी परिस्थिति का प्रतिफलन, दूसरे दशक के अन्य लेखकों, विशेषत: प्रसाद और प्रेमचन्द में किस प्रकार हुआ? संकेतत: यहाँ हम इतना कह सकते हैं कि प्रसाद जी इस रिक्तता को ज्ञान, क्रिया, इच्छा की भिन्नता के रूप में देखते हैं। क्या यह बिल्कुल ठीक विश्लेषण है। क्या मनु की आन्तरिक रिक्तता का उत्तर समरसता का दर्शन है, या श्रद्धा है या एक नई सृजनात्मक पीड़ा है? सबके बाद क्या प्रसाद जी 'कामायनी' में काव्यात्मक अनुभूति को दार्शनिक रिक्तता से बचाने में सफल हुए हैं जिसने वर्ड्सवर्थ और पन्त से बारम्बार बदला लिया? इन प्रश्नों का उत्तर हम पाठकों पर छोड़ते हैं। शायद इस नयी परिस्थिति का सबसे सार्थक मुक़ाबला, सृजनात्मक प्रतिभा द्वारा, पुरानों में प्रेमचन्द ने किया जिसका प्रमाण 'गोदान' है। क्या यह इस कारण था कि उनकी मनोभूमि गांधी के अधिक निकट थी? एक तरह से स्वयं गांधी जी ने अपने सत्यान्वेषण की प्रणाली से नये युग का सामना तो किया ही। कहते हैं कि वे अक्सर घोषित करते थे कि मैं अपने चारों ओर अंधकार देख रहा हूँ। प्रकाश देखने के लिए, आँखों को अन्धकार देखने की भी शक्ति होनी चाहिए। वस्तुत: छायावाद-युग के अन्तर्ध्वनित सत्य के दो प्रकाश-स्तम्भों-रवीन्द्रनाथ और गांधी जी- में यही अंतर था : रवीन्द्रनाथ की आँखें आत्मा का प्रकाश तो देख सकती थीं, परन्तु अन्धकार नहीं, जब कि गांधी जी अंधकार से भी आँखें मिला सकते थे। सम्पूर्णत: हिन्दी कविता पुरवैया के अधिक निकट है और हिन्दी गद्य पछुआ के, ऐसा रूपक हमने पहले बाँधा है। जो भी हो, 'गोदान' में प्रेमचन्द की प्रकाश-अभ्यस्त आँखें हिम्मत करके अंधकार को देखने की कोशिश कर रही हैं और यह एक ऐसी अनुभूति है जिसे छायावादी कवियों ने स्पष्टत: स्वीकार नहीं किया, 'कामायनी' के प्रसाद ने तो बिल्कुल नहीं। प्रेमचन्द-प्रसाद विवाद में इस दृष्टि-विपर्यय का क्या योगदान था? काश, हम जान सकते।

छायावादी शेष चिन्हों को छोड़कर हम तीसरे दशक के इन कवियों की ओर आकृष्ट हों जो इस युग के मानस-पुत्र थे। ऊपर हमने छायावादी मनोभूमि की तन्मय एकाग्रता और एकसाथ ही कई स्तरों-आध्यात्मिक, नैतिक, कल्पनाशील, राजनैतिक - पर ध्वनित होने की शक्ति का उल्लेख किया है। एक वाक्य में हम अगर कहना चाहें तो रिक्तता का मतलब यह था कि मनोभूमि की यह तन्मय एकाग्रता खण्डित हो गई। जो लहर पूरे कसाव और उन्माद के साथ पिछले दस-बारह बर्षों से उत्तरोत्तर बढ़ती हुई गति से उठी थी, यह जैसे अपनी चरमता पर पहुँच कर किसी चट्टान से टकराई और छितरा गई। तनाव ढीला हो गया और बूँदें बिखर गईं। इस बिखरी हुई बूँदों में चमकता हुआ इंन्द्रधनुष बच्चन, भगवतीशरण वर्मा, दिनकर, नवीन, सुभद्राकुमारी, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, शिवमंगलसिंह सुमन आदि का खुमारी और जवानी का काव्य है।

इस खण्डित लहर के कुछ टुकड़े तो साफ़ दिखते हैं। 'राजनैतिक' और 'कल्पनाशील' में एक तनाव पैदा हो गया और इसके बीच की 'नैतिक' कड़ी आधी इधर आधी उधर विलीन हो गयी। आध्यात्मिक मुद्रा लापता हो गई। एक तरफ बच्चन जैसे कवि हैं जो जानबूझ कर राजनैतिक तमाशों से कतराते हैं; दूसरी तरफ़ ऐसे प्रगतिवादियों का जन्म होता है जो सप्रयास सजग राजनैतिकता के आगे प्रेम और मधु के कल्पनाशील तमाशों को पलायनवादी समझते हैं। इस पर दोनों ही सहमत हैं कि ये दो नावें हैं जिन पर एकसाथ नहीं चला जा सकता। मज़ा यह है कि समुन्दर-पार से नवयुग ले आने के चक्कर में बच्चन प्रगतिवादियों से कम नहीं है। बच्चन इस परिवर्तन को शुष्क जड़ता से सरस चैतन्यता तक देखते हैं, प्रगतिवादी इतिहास के शिकंजे से कल्पना की मुक्ति की शकल में। यह बँटवारा मकानों के आँगन से होकर गुज़रने वाली जिला रेखाओं की तरह बाज कवियों के भीतर से होकर निकल गया। इसके अच्छे उदाहरण नवीन हैं जिनके काव्य में दार्शनिक, राजनैतिक, और कल्पनाशील रचनाएँ पत्थर के शिला खण्डों की तरह अलग अलग दिखलाई पैड़ती हैं, लेकिन जिनमें वह रासायनिक मिश्रण नहीं उत्पन्न हो पाता, जो आरम्भिक पंत, प्रसाद, निराला को सहज उपलब्ध है। दिनकर के काव्य में भी ये पृथक् समूह दिखलाई पड़ेंगे, यद्यपि उनका विभाजन उतना बिखरा हुआ नहीं है जितना नवीन में।

दार्शनिक या आध्यात्मिक मुद्रा को, जो छायावादी अनुभूति की विशेषता थी, तीसरे दशक ने लबादे की तरह उतार फेंका, उसी के साथ उस गम्भीरता को भी, जो उसमें निहित थी। जो गम्भीरता को नहीं छोड़ सके, उनमें दार्शनिक मुद्रा या अनुभूति का स्थान दर्शनशास्त्र ने ले लिया। नवीन जब गम्भीर होना चाहते हैं तो 'डाऊह', 'कोऊह', 'साऊह', 'सोऊह' का आवर्तन करते हैं। हमने देखा कि दर्शनशास्त्र का आग्रह पुराने छायावादियों में भी आ गया। प्रगतिवादी भी जब बहुत गम्भीर होते हैं तो मार्क्सवादी दर्शन को रचनाओं द्वारा उदाहृत करने की कोशिश करते हैं। लेकिन दार्शनिक काव्यानुभूति में और दर्शनशास्त्र में अन्तर है। गम्भीर होकर तीसरा दशक दार्शनिक की तरह बोलता है, कवि की तरह नहीं। कवि को कवि नहीं, दार्शनिक होना चाहिए, यह मान्यता काफ़ी प्रचलित हुई और आलोचकों ने अपनी सुविधा के लिए इसको काफ़ी बढ़ावा दिया—क्योंकि काव्य में उदाहृत दर्शनशास्त्र पर आस्फालन करना आसान काम है, काव्यानुभूति की छानबीन में गलती हो जाने गुंजाइश ज्यादा है।

न सिर्फ आध्यात्मिक मुद्रा लापता है, बल्कि उस नैतिक 'विज़न' का भी विघटन हो गया जो आरम्भिक छायावाद की विशेषता थी। बच्चन, भगवतीचरण, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा आदि उस अर्थ में नैतिक प्रभामण्डल का आभास नहीं देते, जिस अर्थ में पन्त, प्रसाद या निराला देते हैं। इस काव्य का प्रमुख आकर्षण कल्पनात्मक 'विजन' है, यदि बच्चन आदि के खुमार को 'विज़न' की संज्ञा से विभूषित किया जा सके। वस्तुत: उनके पास एक स्वप्निल शक्ति-प्रवाह है। नैतिक विज़न का विलयन इस शक्ति-प्रवाह में हो जाता है। यहाँ मुझे बच्चन के 'मधुकलश' के कई काव्य चित्र याद आ रहे हैं—'इन्द्रधनु पर शीश धरकर बादलों की सेज सुख पर'..... नेत्र मेरे आज सहसा तम-पटल के पार जाकर/देखते हैं रत्न सीपी से बना प्रसाद सुन्दर।' न जाने क्यों बच्चन के 'मधुकलश' की चर्चा उतनी नहीं हुई जितनी उनकी मधुशाला, 'निशा निमंत्रण' और 'एकान्त संगीत' की। न सिर्फ उस पुस्तक में उस युग की काव्यात्मक अनुभूति का काफी बड़ा ख़ज़ाना है, बल्कि उस काल की प्रधान काव्यात्मक समस्याओं की कुंजी भी है। जिसके बगैर उस युग को नहीं समझा जा सकता। यों भी, मेरी समझ में हिन्दी की लम्बी कविताओं में—जिनमें शुरू से आख़ीर तक काव्य गुण समान रूप से वर्तमान हो—मधुकलश की कविताएँ बेजोड़ हैं। खैर, उपर्युक्त चित्रों में हम देखेंगे कि 'शक्ति' का आभास प्रथम है। ये चित्र नैतिक भी हैं, यह सिद्ध करने का अरमान दूसरा है। नैतिकता और शक्ति के इस संबंध की दृष्टि से छायावाद का यह दूसरा दौर है। अंग्रेजी 'रोमांटिसिज्म' के समान है और इसके कुछ लक्षण रोमांटिसिज़्म से मिलते हैं। बेशक बच्चन, दिनकर आदि में रोमांटिक कवियों जैसी भावना का तनाव और निपट गम्भीरता नहीं मिलती। वस्तुत: गम्भीरता का ह्रास इस नयी 'सहज' मनोभूमि की विशेषता है।

इतना ही नहीं, मनुष्य का मन भी खण्डित हो गया है। मन के विभाजन का आविष्कार इस युग की विशेषता है। हम देखते हैं कि चित्रलेखा का बीजगुप्त और मधुशाला का यात्री दोनों ही एक ख़ास तरह की गतलफहमी' के शिकार हैं। आदमी का एक ऊपरी रूप है : एक उसका अन्तर है। इन दोनों में सामंजस्य नहीं है, न हो सकता है। होता यह है कि लोग पीने वाले या बीजगुप्त के ऊपरी कलेवर को तो देखते हैं, लेकिन उसके भीतर जो 'हृदय' है, उसे नहीं देखते। विचित्र बात यह है कि ऊपरी कलेवर का संबंध ज्ञान, आदर्श, मर्यादा, सामाजिक नियमों से है। किन्तु यह ऊपरी कलेवर क्रूर, जड़ और कठोर है। 'असली मनुष्य' तो भीतर धड़कते हुए दिल में है जिसे बुद्धि अथवा ज्ञान या पर्याताएँ अभिव्यक्ति नहीं दे पातीं। यह 'असली मनुष्य' हम सबके भीतर है और यही सहज मानव है। यही जब बन्धन तोड़कर आशा का निराशा के हिलकोरे खाता निकलता है तो तीसरे दशक की कविता जन्म लेती है।

ईमानदारी और सहजता का आधार मनुष्य के आदर्श, लक्ष्य या मर्यादाएँ नहीं है, बल्कि उसका हृदय है। स्वभावत: 'हृदय और बुद्धि', श्रद्धा और इड़ा, प्रेम और मर्यादा, सरस और जड़ के बीच एक दीवार खड़ी हो जाती है। बुद्धि के पीछे लाठी लेकर जितना तीसरा दशक पड़ा, उतना कोई अन्य काल नहीं। बच्चन से लेकर दिनकर तक को बुद्धि से शिकायत है, क्योंकि बना बनाया सरस खेल यह बुद्धि ही चौपट करती है। हम देखेंगे कि शिकायत कहाँ तक और किस अर्थ में जायज़ है। अभी हम इतना ही समझ लें कि हृदय और बुद्धि की दरार भी लहर के खण्डित हो जाने का लक्षण है। जिस अर्थ में हृदय को सहजता एवं ईमानदारी का

आधार माना जाता है, उस अर्थ में हृदय न सिर्फ भावनाओं का रूपक है, बल्कि 'नीयत' (motive) का भी। जब हम कहते हैं कि बीजगुप्त का हृदय निश्छल है, तो हमारा मतलब है कि उसकी नीयत दुरूस्त है।

क्या मनुष्य को हम उसके उद्देश्य में विसर्जित होते हुए देखते हैं? क्या हम उसे नीयत द्वारा परिचालित देखते हैं? उद्देश्य में विसर्जित होता हुआ मनुष्य 'महान्' है। नीयत द्वारा परिचालित मनुष्य 'साधारण' है। लेकिन एक और प्रश्न है : क्या नीयत और उद्देश्य एक ही वस्तुएँ हैं या दो? यही एक प्रश्न उस काल के समस्त साहित्य में प्रेत की तरह मँडराता है। उनकी पीड़ा और उनका खुमार इसमें है कि उन्हें कुछ दूर तक ये एक ही दिखलाई पड़ती हैं, लेकिन बाद में दो हो जाती हैं। वे देखते हैं कि ये दो वस्तुएँ हैं, लेकिन मेधा से, आवेश से, खुमारी से, यौवन से, रोकर, आँख मूँदकर, जैसे हो, इस द्वयता को कूद जाना चाहते हैं। नीयत के बारे में तो वे कुछ जानकारी रखते हैं, लेकिन उद्देश्य–गन्तव्य–? कौन जानता है ?

पाँव चलने को विवश थे, जब विवेक-विहीन था मन,
आज तो मस्तिष्क दूषित कर चुके पथ के मलिन कण।
मैं इसी से क्या करूँ, अच्छे-बुरे का भेद भाई,
लौटना भी तो कठिन है, चल चुका मैं एक जीवन।

हो नियति इच्छा तुम्हारी, पूर्ण मैं चलता रहूँगा।
पथ सभी मिल एक होंगे, तम भरे यम के नगर में।

विवेक के थके पाँवों की चलने की विवशता, अविश्राम तलाश और गन्तव्य का अंधकार में विलीन हो जाना–यह एक बहुत दुहराया हुआ रूपक है यहाँ नीत्शे की कुछ पंक्तियाँ याद आती हैं :

"Have I–Still a goal? A haven towards which my sail is set? A good wind? Ah, he only who knoweth whither he saileth, knoweth what is good, and a fair wind for him.

What still remaineth of me? A heart weary and flippant; an unstable will (;) fluttering wings; a broken back-bone.

This seeking for my home : O Zarathustra, dost thou know that this seeking hath been my home-sickening: it eateth me up.

Where is my home? For it do I ask and seek and have sought but have not found it. O eternal everywhere. O eternal nowhere. O eternal- in vain.

अनुभूति समान भी है, भिन्न भी है। दोनों प्रश्न एक ही पूछ रहे हैं, लेकिन टोन कितना भिन्न है। अन्तर केवल बच्चन और नीत्शे का ही नहीं है, हिन्दी और योरोपीय रोमांटिसिज्म का है। हिन्दुस्तान और योरप का है। सिर्फ नीयत के सहारे विलीन उद्देश्य को तलाश करने का काम भावना के इतने तनाव और ऐसी निपट गम्भीरता के साथ हिन्दी या हिन्दुस्तान ने किया ही नहीं। इस लिहाज़ से हिन्दी के लिए सबसे निकट का रोमांटिक कवि वायरन है। नीचे एक और बिम्ब है जो 'थक कर चूर और फक्कड़ हृदय ... जर्जर संकल्प ..... फड़फड़ाते डैने..... टूटी रीढ़' की बच्चन जी द्वारा देखी हुई तस्वीर प्रस्तुत करता है:

यह महान् दृश्य है
चल रहा मनुष्य है

अश्रु-स्वेद-रक्त से लथपथ, लथपथ, लथपथ!
अग्नि पथ, अग्नि पथ, अग्नि पथ!

क्या सचमुची यह महान् दृश्य है? किस अर्थ में? क्या यह सिर्फ एक नाटकीय मुद्रा है? किस अर्थ में? इसकी तुलना हम नीत्शे से क्यों कर करें?

जो भी हो, उस युग को सचेत उद्देश्य (जो मर्यादाओं का निर्माण करता है) और नीयत (जो हमें परिचालित करती है) (conscious purpose and motive) के बीच अन्तर स्थापित करके नीयत की तलाश करने की आवश्यकता थी और इसके लिए तीन रास्ते अपनाये। तीनों ही इस विभेद पर आधारित हैं। हृदयवाद (जो दिनकर, बच्चन, भगवतीचरण आदि अधिकतर कवियों की आधारशिला है; मनोविश्लेषण (जिसका इस्तेमाल इलाचन्द जोशी, जैनेन्द्र आदि ने किया) और ऐतिहासिक भौतिकवाद (जिसके सैद्धान्तिक आधार पर प्रगतिवाद की इमारत खड़ी हुई), ये तीनों दृष्टियाँ अक्सर एक दूसरे में घुल-मिल जाती हैं और लेखक या कवि आसानी से एक से दूसरे में विचरण करते हैं, क्योंकि इन सबका काम मुख्यत: मानसिक लहर को 'मोटिवें' से समन्वित करके

मुक्त और स्वच्छन्द वेग प्रदान करना है, उद्देश्य पर आधारित मर्यादाएँ जिसको बन्धन-स्वरूप जान पड़ती हैं। यह 'मुक्तिकारी' उल्लास एक नाटकीयता के साथ घटित होता है। हृदयवाद के सशक्त प्रवाह को हमने देखा। मनोविश्लेषण तो आदमी के अचेतन 'मोटिव' और सचेत उद्देश्य में अन्तर करता ही है। उस अचेतन मोटिव का 'विघूर्णन', 'विस्फूर्जन' बच्चन की 'उर-उमंगों की उद्दामता' से कम प्रचण्ड नहीं है जिसको 'न निराशा का भय, रोक सकता है ना आशा का प्रवंचन'। बेशक फ्रायड, एडलर, युंग या किसी का भी मनोविश्लेषणवाद सिर्फ इतना ही नहीं है। मगर हिन्दी लेखकों की रुचि शेष में थी ही नहीं! उनको मानव-मन की एक बनावट चाहिए थी जो लगभग 'प्राकृतिक शक्ति' की तरह तेज़ फूटने वाली 'नीयत' दे सके, जो बिना उद्देश्य की परवाह किये वेग से दौड़ सके और जरूरत हो तो उद्देश्य की जगह भी ले सके। मनोविश्लेषणवाद उन्हें स्थूलत: इस जरूरत को पूरा करता सा जान पड़ा। उन्होंने उसका इस्तेमाल कर लिया। इसी तरह ऐतिहासिक भौतिकवाद भी मनुष्य के सचेत उद्देश्य और उसकी नीयत में अन्तर करता है। आदमी का सचेत उद्देश्य कितना भी महान् हो, उसकी 'नीयत'- अथवा 'असली' उद्देश्य पूँजीवादी प्रचार हो सकता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद सचेत उद्देश्य के तल में काम करती हुई इस असली 'नीयत' की खोज करता है। मनोविश्लेषणवाद की ही तरह, ऐतिहासिक भौतिकवाद भी सिर्फ इतना ही नहीं है। लेकिन बाकी सब में हिन्दी लेखक की रुचि नहीं थी। वह केवल चेतन उद्देश्य से अलग दौड़ने वाली उद्दाम गति चाहता था। 'प्रगतिशील' होना तो उसने स्वीकार कर लिया, किन्तु 'प्रगतिवादी' या 'मार्क्सवादी' होने में उसे घुटन महसूस होती थी। मानव-मन की बनावट की इन तीनों दृष्टियों में अनिरुद्ध स्वचालित वेग के समान उपयोग के अतिरिक्त दो अन्य समान लक्षण भी हम फ़िलहाल अंकित कर सकते हैं। एक तो यह कि तीनों में नीयत जाने या-अनजाने, अधिकतर अनजाने ही, अपना काम करती हैं। बच्चन के पाँवों के चलने की विवशता विवेक-विहीन अवस्था में उत्पन्न होती है; अचेतन नीयत तो परिभाषा से ही विवेक के परे स्थित है और ऐतिहासिक भौतिकवाद का नियम भी हमारे अनजाने ही काम करता है। दूसरे, इस दृष्टि की बुनियाद वैज्ञानिक है। मनोविश्लेषण-शास्त्र और मार्क्सवाद तो घोषित रूप में विज्ञान का सहारा लेते हैं। बच्चन आदि भी वैज्ञानिक टेम्पर के बाहर नहीं हैं। वस्तुत: उनके आध्यात्मिक लबादे को उतार फेंकने की जड़ में विज्ञान ही है। विज्ञान का इस नयी दृष्टि से क्या संबंध है और क्यों है, इस पर आगे हम थोड़ा और विवेचन करेंगे।*

नीयत की तलाश तो हुई उसे बहुत उपयोगी भी पाया गया। किन्तु वह अटल प्रश्न तब भी बना रहा: क्या नीयत (motive) और उद्देश्य (purpose) एक ही वस्तुएँ हैं। छायावाद के पास तो एक सीधा उत्तर था—हाँ। बल्कि उसे उद्देश्य से अलग भी कोई नीयत हो सकती है, इसकी कोई जानकारी ही नहीं थी। देव-शिशु की तरह उसका बहिरंतर एक था। लेकिन बच्चन? भगवती चरण वर्मा? दिनकर? इनके पास क्या उत्तर है? 'यह प्रश्न शिथिल करता मन को भरता उर में विह्वलता है।' वे उत्तर देने से इन्कार करते हैं। बुद्धि कहती है, दोनों एक नहीं हैं, हृदय कहता है, हैं। यही वह स्थल है जहाँ रिक्तता महसूस होती है। बुद्धि से शिकायत जायज है। उनके मन का 'अरमान' यही है कि ये दोनों एक ही हों, यद्यपि वे देख नहीं पाते कि ऐसा कैसे होगा। इस प्रकार छायावाद में जो संकल्पात्मक अनुभूति, अन्तर्ध्वनित सत्य है, वह तीसरे दशक में 'अरमान' बनकर रह जाता है। रहस्यानुभूति, आनन्दानुभूति, वेदनानुभूति, तमाम अनुभूतियाँ 'अरमानों' के धरातल पर घटित होती है।

लेकिन क्या 'अरमान' प्रश्न का उत्तर हो सकता है? स्पष्ट है कि नीयत और उद्देश्य का प्रश्न मूलत: नैतिक प्रश्न है। कितना गहरा और भयानक प्रश्न यह था, यह इससे स्पष्ट है कि उस जमाने में इसका बमों के विस्फोट और पिस्तौल की गोलियों की आवाज के साथ पूछा गया जिसने एक बार समूचे देश को हिलाकर रख दिया। भगतसिंह के छुटे हुए बम की आवाज और आज़ाद की गोलियाँ—और उसके बाद दोनों का बलिदान—हमारे शुभ्र नैतिक मानस को तोड़ती हुई निकल गईं। उनकी नीयत के बारे में किसी को सन्देह नहीं था। लेकिन क्या उनका कार्य नैतिक था? उद्देश्य संकल्प की ओर से दु:खी, किन्दु दृढ़ आवाज में सिर्फ़ आवाज में सिर्फ एक व्यक्ति ने स्पष्ट उत्तर दिया-

गाँधी ने : 'नहीं।' बाक़ी देश के पास सिर्फ़ खंडित चेतना बची रह गई। तीसरे दशक की कविता 'अरमान' द्वारा खंडित चेतना की इस गहन विडम्बना को पी जाने का मादक प्रयास है :

हमने मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया
क्योंकि नहीं थी, अपनी कोई भी मर्यादा
हमको अनास्था ने कभी नहीं झकझोरा
क्योंकि नहीं थी अपनी कोई भी गहन आस्था:
.....
इसीलिए सूने गलियारे में
निरूद्देश्य,
निरूद्देश्य,

---

* अंग्रेजी में जिसे purpose और motive कहते हैं, उसके लिए मैने 'उद्देश्य' और 'नीयत' का प्रयोग किया है। इस शब्दावली पर जिन्हें अपत्ति हो, वे भाषा के मेरे सीमित ज्ञान को समझ कर मुझे क्षमा करेंगे। आशा करता हूँ, तात्पर्य स्पष्ट है।

चलते हम रहे सदा
दाएँ से बाएँ
और बाएँ से दाएँ
मरने के बाद भी
यम के गलियारे में
चलते रहेंगे सदा
दाएँ से बाएँ
और बाएँ से दाएँ - धर्मवीर भारती : 'अन्धायुग'

'अग्निपथ' की यह तसवीर—भारती ने देखी—जब निरूद्देश्य स्वचालित गति के ऊपर से 'अरमानों' की झिलमिली उतर चुकी थी। और झिलमिली के नीचे थी एक अथाह रिक्तता। लेकिन यह बाद की कथा है। यह 'पराजित' पीढ़ी का गीत है। अभी हम 'अपराजित' पीढ़ी को ही थोड़ा और गहरे उतर कर देखें। तीसरा दशक अपने काव्य-निर्मित 'साधारण मानव' की अपराजेयता की घोषणा ओजस्वी से लेकर तरलायित स्वरों तक में नाना प्रकार से करता है।

विवेकविहीन हालत में भी पाँवों की जो यह चलने की अपराजेय विवशता है, यही 'अपराजित' पीढ़ी की अपराजेयता का रहस्य है। चित्रलेखा-बीजगुप्त का प्रेम इसी अपराजेय विवशता से उद्भूत होता है। बच्चन का मधुपायी भी इसी अपराजेय विवशता के फलस्वरूप मधुशाला की ओर जाता है। यही अपराजेय विवशता उसे लहरों में निमंत्रण देती मालूम पड़ती है। और इसी अपराजेय विवशता से, मौका पड़ने पर वह 'साधारण' आदमी अग्निपथ पर भी तड़ातड़ चलते जाने का महान् दृश्य उपस्थित करता है। दिनकर की कविता में भी आदमी इस अपराजेय विवशता का दर्शन करके लगभग इसी किस्म की हरकत करता है। परमात्मा की ही भाँति इस अपराजेय विवशता के भिन्न-भिन्न नाम हैं। कहीं, इसे उद्दाम उर-उमंग कहा जाता है, कही अचेतन मानस का विघूर्णन और कहीं ऐतिहासिक अनिवार्यता; शायद सबसे प्यारा नाम, जो उस समय कहीं-कहीं कहा गया, वह था 'जिजीविषा'। इंगला-पिंगला पर फूत्कारती हुई यह जिजीविषा नामक जागृत कुण्डलिनी तंत्र विज्ञान के पंडित हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में अक्सर दिखलाई पड़ती है जो इस तीसरे दशक के सबसे समर्थ आलोचक हैं और जिनके हर दृष्टि-निक्षेप पर 'साधारण मानव' अपने सबसे प्रिय रूप में उल्लसित होता और हिलकोरे खाता चलता है। आश्चर्य की बात यह है कि छायावादी अनुभूति (पहले दौर की) अपराजेयता तो देखती है, लेकिन इसमें विवशता कहाँ है, यह नहीं देख पाती। अपराजेय विवशता? या अपराजेय संकल्प? प्रेमचन्द के सूरदास में यह अपराजेय विवशता कहाँ है? प्रसाद के चन्द्रगुप्त मौर्य में, चाणक्य में कहाँ है? निराला की रूखी डाल जब पार्वती बनकर स्मरहर को वरने के लिए 'वसन-वासन्ती' माँगती है तो उसमें अपराजेय विवशता है या अपराजेय संकल्प? शक्तिपूजा करने वाले राम में क्या है—विवशता या संकल्प? प्रेमचन्द के होरी में ? हाँ, शायद उसमें एक अपराजेय विवशता है जो उसको बार-बार धर्म की राह पर ला पटकती है, लेकिन अपराजेय संकल्प का अभाव क्या प्रश्न-चिन्ह बनकर खड़ा हो जाता? क्या यह अपराजेय विवशता पराजित भी करती है? और भातरी 'नयी कविता' की ओर से विवश तो देखते हैं, लेकिन उसमें अपराजेय क्या है, यह उनको नहीं दिखलाई पड़ता : जिस तरह होरी का पुत्र अपने पिता की विवशता तो देखता है, लेकिन उसमें अपराजेय क्या है, यह नहीं समझ पाता!

डॉ. रामविलास शर्मा की 'गोदान' पर आलोचना पढ़ते समय मैंने कहीं पढ़ा था कि होरी नाम का किसान तो पराजित होकर खप गया, लेकिन साहित्य की अगली पीढ़ी का मनुष्य होरी के पुत्र और मेहता नामक फ़िलासफ़र के सम्मिश्रण से निर्मित होगा। डॉ. रामविलास शर्मा से सहमत होने का सौभाग्य मुझे कम मिलता है और उनकी भविष्यवाणियाँ तो अक्सर गलत साबित होती है। लेकिन यहाँ मैं उनसे पूर्णत: सहमत हूँ। होरी को मरे हुइ छब्बीस-सत्ताइस वर्ष हो गये। और उसके बाद जो 'नयी पीढ़ी' आयी है, कविता में, गद्य में, उसके सबके सब सदस्य प्रो. मेहता द्वारा शिक्षित, होरी के मानस-पुत्र हैं। अपराजेय विवशता द्वारा पराजित पिता के दार्शनिक पुत्र! रह गई किसानी की बात, तो ज़रा-सा खरोंचिये, ऊपरी 'आधुनिक' की जिल्द के नीचे हममें से कौन किसान नहीं है? अज्ञेय नहीं हैं? भारती नहीं हैं? शमशेर नहीं हैं? सर्वेश्वर नहीं हैं? कुँवर नारायण नहीं हैं? हिन्दी के किस कवि में से किसानी की गन्ध नहीं आती - मैथिलीशरण गुप्त से लेकर सर्वेश्वर तक?

उदार दार्शनिक
तुम्हारे दर्शन में अपनी विकलता पाता हूँ
काश अपनी विकलता में
तुम्हारा दर्शन पा सकूँ! — कुँवर नारायण

किसानी और दर्शन—हिन्दी के किस कवि में से इन दोनों की गन्ध नहीं आती? कुछ मिलाकर हिन्दुस्तान नाम के देश की यही तो पूँजी है। इन दोनों गन्धों से जब चक्रवर्ती राजगोपालाचारी और फ़िराक़ गोरखपुरी तक नहीं अछूते बचे तो हिन्दी विचारी क्या खाकर अछूती रह जायगी, जो कभी 'दिल्ली की जुबान' भी नहीं बन पायी है?

यह अपराजेय विवशता क्या है? यह अपराजेय क्यों है? यह विवश क्यों है? इसका मनुष्य की सहजता से क्या संबंध है? छायावाद का अपराजेय संकल्प कैसे दूसरे दौर की अपराजेय विवशता में बदल गया? और इस अपराजेय विवशता के नीचे एक अथाह रिक्तता क्यों है? - क्या है जो इस साधारण मानव को बराबर सालता रहता है?—और तीसरा दशक क्यों ऊपर से छायावादी है, नीचे से कुछ और हो गया है? क्यों छायावाद से अलग न होकर छायावाद का दूसरा दौर है?

अन्तिम प्रश्न का सरल उत्तर तो हम उस युग के मनुष्य के मर्म में ही देख सकते हैं, जो ऊपर से कुछ और है, नीचे से कुछ और। परन्तु बात सिर्फ़ इतने से सूत्र में कह देने से इस स्थिति में जो महिमा-मण्डित ऐश्वर्य है, वह कहीं आँखों से ओझल न हो जाय। चूँकि यह महिमा-मण्डित ऐश्विर्य उसे मूल्यवान थाती के रूपी में छायावाद से मिला है, इसलिए छायावाद से उसका लगाव बहुत जरूरी है। खुद छायावादी मानस में इसकी जो गहरी प्रतिक्रिया हुई, उसकी एक प्रतिध्वनि तो प्रेमचन्द्र के 'गोदान' में है जिसका उल्लेख हमने पहले किया। दूसरी विराट् प्रतिध्वनि है, प्रसाद की 'कामायनी' में, जिसमें हिमगिरि के उत्तुंग शिखर से आरम्भ करके मनु फिर हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर आसीन हो जाता है : चिन्ता के साथ प्रलय-प्रवाह को देखने से आरम्भ करके, समरसता के साथ स्थिर भूमि को देखने में अन्त करता है। एक चित्र में वह अतीत की ओर देख रहा है, दूसरे चित्र में भविष्य की ओर। बेशक वह पहुँचता वहीं है, जहाँ से चला था; लेकिन इस बीच में उसकी दृष्टि में महान् परिवर्तन आ जाता है, जैसे एक परिक्रमा पूरी हो गई हो। इस परिक्रमा की कथा की 'कामायनी' में कही गयी है।

पहले वह श्रद्धा से मिलता है जो भीतर-बाहर बिल्कुल एक-सी है और जो 'अपराजेय संकल्प' की प्रतिमा है। उसका उत्तरोत्तर उल्लास उठती हुई लहर की तरह बढ़ता जाता है। फिर एक पुत्र होता है—एक नई पीढ़ी—और मनु को महसूस होती है एक विराट् रिक्तता, 'जैसे कुछ बहुत मूल्यवान पीछे छूट गया हो।' तब उसकी भेंट होती है इड़ा से जो 'ऊपर से कुछ और है, नीचे से कुछ और' और अतीव महिमा से मण्डित है। एक 'अपराजेय विवशता' के साथ वह इड़ा की ओर खिंचता चला जाता है। और तब एक अद्भुत बात होती है। जो मनु श्रद्धा के साथ बाहर-भीतर एक जैसा था, खुद उसके मन में ऐंठन उत्पन्न होने लगती है। यह ऐंठन बढ़ती जाती है और एक दिन उन्मत्तता की चरम स्थिति में 'अपराजेय संकल्प' का वह स्वामी 'अपराजेय विवशता' को छू लेता है। झंकार के साथ जैसे पक्के फ़र्श पर थाली गिर कर चूर हो जाये, वैसे ही इस वर्जित स्पर्श के साथ ही सारा इंद्रजाल टूट जाता है। ऐंठन पूरी हो जाती है और तड़ाक्-से व्यक्तित्व भी खण्डित हो जाता है। अब वह भी इड़ा की तरह 'अपराजेय विवशता' से व्याप्त 'ऊपर से कुछ और, अन्दर से कुछ और' है, और 'गलतफहमी' का शिकार बनता है ..... फिर उसके बाद युद्ध, क्रान्ति, विप्लव ..... लेकिन मनु की चेतना इस विभाजन और विप्लव को सह नहीं पाती और वह मूर्च्छित हो जाता है, जड़ और चेतन के बीच की कड़ी की तरह। उस टूटे हुए आदमी की खोज यहाँ से आरम्भ होती है। वह उस विराट् रिक्तता को देखता है जो गहरे कहीं श्रद्धा में भी है और इड़ा में भी और अपने पराजित विभाजन को भी देखता है। कौन उसे जोड़ेगा? कौन फिर एक बार उसके बहिरंतर को एक करेगा? उसे फिर एक बार हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर जाना पड़ेगा। प्रसाद जी का उत्तर है : समरसता का दर्शन।

लेकिन क्या यह सिर्फ दर्शन है, अनुभूति नहीं? तब फिर यह 'एलेगरी' का रूप क्यों—वेद की जगह वेद का निरूक्त क्यों? दीप्त बिम्बों की जगह रूपायित प्रतीक-कथा क्यों? अन्धकार को सीधे नहीं भेदा जा सकता, केवल उसी परिक्रमा की जा सकती है?

'कामायनी' के बाद हिन्दी कविता का अगला चरण इसी प्रश्न से शुरू होता है जिस 'समरसता' को प्रसाद जी ने अनुभूति से दर्शन में बदल दिया, उसे कैसे दर्शन से अनुभूति में बदला जाय। 'समरसता का दर्शन' या 'निर्वैयक्तिक अनुभूति'? इस प्रश्न को जिस व्यक्ति ने पूछा, उसका नाम था 'अज्ञेय:'

> उदार दार्शनिक,
> तुम्हारे दर्शन में अपनी विकलता पाता हूँ
> काश अपनी विकलता में
> तुम्हारा दर्शन पा सकूँ - कुँवर नारायण

आलोचकों में इस बात को लेकर बहुत दिनों तक बहस चलती रही कि पुत्रवती श्रद्धा को मनु क्यों छोड़कर चले जाते हैं और प्रसाद उस अनुभूति का सन्तोषप्रद 'मनोवैज्ञानिक' निरूपण क्यों नहीं कर पाते। वे भूल गये कि प्रसाद मनोवैज्ञानिक उपन्यास नहीं लिख रहे हैं वे एक प्रतीक-कथा द्वारा एक दार्शनिक स्थापना कर रहे हैं। अगर वे यह प्रश्न भी पूछते कि क्यों जब श्रद्धा मनु को तलाश करने जाती है तो अपने पुत्र को छोड़ कर ही उस तलाश में जाना उसके लिए आवश्यक हो जाता है और क्यों यहाँ भी प्रसाद उस अनुभूति का 'संतोषप्रद मनोवैज्ञानिक' निरूपण नहीं करते तो वे प्रसाद के मानस को ज़्यादा गहराई से समझ पाते। और प्रसाद एक ऐसे कवि हैं जिनके मानस को बिना गहराई के समझा नहीं जा सकता। उनके लिए सारा प्रश्न अनुभूति और दर्शन के संबंध का है। कामायनी वेद नहीं, वेद का निरुक्त है। 'एलेगरी' है। यह संकेत तो प्रसाद ने 'कामायनी' की भूमिका में ही दिया है। एक गम्भीर दार्शनिक मानस समस्त सृष्टि को देख रहा है। उस सारी सृष्टि में यही तो पहेली है : 'अपराजेय संकल्प' के भीतर से 'अपराजेय

विवशता' की तरह वह श्रद्धा-पुत्र कहाँ से आ गया? यही तो रिक्तता है, अन्धकार है—अन्धकार की अनुभूति कैसी? क्या अंधकार भी 'सत्य का मूल चारुत्व' हो सकता है जिसे संकल्पात्मक अनुभूति द्वारा पकड़ा जाय? रवीन्द्रनाथ की ही तरह प्रसाद की आत्मा अन्धकार को सामने से नहीं भेदती; वह दर्शन द्वारा उसकी परिक्रमा कर सकती है। लेकिन इस परिक्रमा के बाद प्रसाद इतना तो देख ही रहे हैं कि आगे की कहानी मनु की नहीं, श्रद्धा-मनु के उस पुत्र की कहानी है जो इड़ा द्वारा शिक्षित होता है और सारस्वत प्रदेश में लौट जाता है—आकुलि-किलात का निहत्था सामना करने। 'अपराजेय विवशता' द्वारा पराजित पिता का दार्शनिक पुत्र! क्या उसकी सीमारेखाएँ किसी धुँवले शिक्षिण पर होरी-धनिया के उस पुत्र से मिलती है जो मिलों-कारखानों के नगर में लौट जाता है, प्रो. मेहता द्वारा शिक्षित होने के लिए? क्या नाम है, उस मनु-पुत्र, होरी-पुत्र का—लघुमानव? क्यों वह दत्तक पुत्र होकर ही जीवित रह सकता है?

मैं उस भटकती हुई प्यासी आत्मा का
दर्द-भरा संगीत हूँ
जो मुझे अपने सफ़र में
इस वीरान राह की
अन्धी चट्टान पर
ख़ामोशी का ताज बना कर
छोड़ गई है। .....
ढाँक जिससे मैं सकूँ, जलते हुए सम्पूर्ण तन को
छाँह जिससे दे सकूँ, बेदम परिन्दों को गगन को
फिर न पलकें गिरा, आँसू छिपा, गर्दन मोड़
कहूँ, 'इस तूफ़ान ने मेरे दिये पर तोड़!'
पंख दो, पंख दो, नये मेरे पंख दो
पंख दो, पंख दो, बड़े मेरे पंख दो — सर्वेश्वर

'कामायनी' और 'मधुकलश' को आमने-सामने रखने पर प्रसाद की 'अखंडचेतना' और बच्चन की 'खण्डित-चेतना' में जो समानता है और जो अंतर है, वह स्पष्ट हो जायगा। बहुत आश्चर्यजनक ढंग से दोनों एक स्थल पर एक ही प्रतीक का उपयोग करते हैं—लेकिन दोनों की चेतना बिल्कुल दो भिन्न चीजें देखती हैं। बच्चन के मधुकलश का प्रमुख गीत है, 'लहरों का निमंत्रण' जिसमें सागर के किनारे खड़े हुए 'साधारण मानव' की तस्वीर है। वह इतना रोमांटिक करने वाला काव्य-चित्र है कि उसके आरम्भिक छन्द को उद्धृत करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है—वह बात मेरे शिथिल गद्य में नहीं कही जा सकती है:

रात की अन्तिम प्रहर है;
झिलमिलाते हैं सितारे
वक्ष पर युग-बाहु बाँधे
मैं खड़ा सागर किनारे,
वेग से बहता प्रभंजन
केश-पट मेरे उड़ाता,
शून्य में भरता उदधि,
उर की रहस्यमयी पुकारें,
इन पुकारों की प्रतिध्वनि
हो रही मेरे हृदय में
है प्रतिच्छायित जहाँ पर
सिन्धु का हिल्लोल-कम्पन
तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण।

एक प्रलय-प्रवाह और उसे देखता हुआ मनुष्य! यहीं से कामायनी की भी कथा शुरू होती है:

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह।

इसके बाद बच्चन के प्रतीक उलट जाते हैं। प्रसाद का मनु रात के अन्तिम प्रहर में नहीं, दिन के दोपहर में यह दृश्य देखता है, शिला की शीतल छाँह के तले। प्रभंजन वहाँ भी वेग से बहता है, लेकिन उसमें केश-पटों को उड़ा ले जाने की शक्ति नहीं है, वह केवल पैरों से टकराता फिरता है।' मनु जल और स्थल दोनों को देखता है तो उसे लगता है कि दोनों में एक तत्त्व की ही प्रधानता है, उसे जड़ कहो या चेतन। जब कि बच्चन का मनुष्य जल और स्थल में सीमाभेद करता है—स्थल जड़ का प्रतीक है, जल चेतन का 'क्यों धरणि अब तक न गल कर लीन जलनिधि में गई हो' ..... 'स्थल गया है भर पथों से नाम कितनों के गिनाऊँ' ..... 'राह जल पर भी बनी है रूढ़ि पर न हुई कभी वह।' और जबकि बच्चन के मनुष्य के हृदय में सिन्धु का हिल्लोलकम्पन प्रतिच्छायित है, मनु के हृदय में प्रतिच्छाया है, स्तब्ध हिमं की। आगे चलकर बच्चन का मनुष्य देखता है : 'सिंधु के इस तीव्र हाहाकार ने विश्वास मेरा है छिपा रक्खा कहीं पर एक रस-परिपूर्ण गायन।' प्रसाद के मनु का यह विश्वास ही नहीं है, उसको जानकारी है कि इस विशाल जलनिधि में 'एक रस-परिपूर्ण गायन' डूबा हुआ है। और उसके बाद उस प्रलय-प्रवाह को देखकर प्रसाद और बच्चन, दोनों की कल्पना में 'सुख, केवल सुख के केन्द्रीभूत संग्रह' के एक ही प्रतीक-चित्र उभरते हैं : नाचती हुई सिन्धु—कन्याएँ जिनके नृत्य के दर्शक देवता-गण हैं। प्रसाद का मनु उन सिन्धु-कलाओं का नाम जानता है—कीर्ति, दीप्ति, शोभा। बच्चन का मनुष्य, उनका नाम नहीं जानता। क्योंकि प्रसाद का मनु जब नाच हो रहा था, उस समय वहाँ उपस्थित था—'स्वयं देव थे हम सब'—यही मनुष्य की परिभाषा के प्रतीकों का अन्तर है। बच्चन का मनुष्य चित्रलिखित से उन देवताओं को कुछ विनोद की दृष्टि से देखता है—'साथ देवों के पुरन्दर/एक अद्‌भुत और अविचल चित्र-सा है जान पड़ता।' क्या उसने उस चित्र में मनु को पहचाना होगा? प्रसाद का मनु उस प्रलय-प्रवाह में अतीत की भाषा देखता है और बच्चन का मनुष्य भविष्य की। इसके बाद मनु पृथ्वी की ओर लौट जाता है और उसका अन्त हिमालय से पृथ्वी की ओर देखने में होता है। बच्चन का मनुष्य शायद रुकता नहीं, समुद्र में कूद जाता है—क्या अन्त होता है उसका?

जल और स्थल—दोनों कविताओं की प्रतीक-माला इतनीं स्पष्टत: मिलती-जुलती है कि जब-जब मैंने इस पर सोचा है मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ हैं। क्या 'कामायनी' की रचना के समय प्रसाद जी ने बच्चन का यह गीत सुना था? या कोई गहरी वस्तु है जो दोनों से समान प्रतीक-योजना में अभिव्यक्ति माँग रही है? सृजनात्मक प्रतिभा के किस स्तर पर अखंड और खंडित चेतना का यह तिरीक्षा वाद-विवाद घटित हो रहा है?

क्या ये प्रतीक जातीय स्मृति से संबद्ध हैं? हमारे दीर्घकालीन इतिहास में कब हमारी कल्पना जलोन्मुख रही और कब स्थलोन्मुख हो गई? क्या हमारे उत्थान-पतन, प्रगति और ह्रास का इन प्रतीकों से कुछ संबंध है? क्या मनु की तरह केवल स्थलोन्मुख हो जाने में ही समाधान है?

इन प्रतीकों का कोई रूढ़ या सुनियोजित अर्थ खोजने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। शायद एक बहुत बड़े पैमाने पर वे सारी मनुष्यता के आध्यात्मिक प्रतीक हैं। केवल उसकी व्यापकता को ध्यान में रखकर हम किसी कविता की ओर देखें तो कभी-कभी उन झंकारों की रेखाओं का अधिक सफ़ाई से देख पायेंगे जो इन कलात्मक बिम्बों के प्रत्यक्ष दर्शन पर हमें रोमांच की तरह अनुभूत होती है।

बच्चन के सीमित अर्थ में 'जल' प्रकृति की स्वयम् चालित गति का प्रतीक है। इसमें वे चैतन्यता का, और हो सके तो 'सुख, केवल सुख के केंद्रीभूत संग्रह' का आरोप करते हैं। चैतन्यता का यह आरोप केवल काव्यालंकार नहीं है, बल्कि अनुभूति का केन्द्रीय सिद्धान्त है। स्थल चूँकि गतिहीन है, इसलिए जड़ता का प्रतीक है। प्रसाद इन प्रतीकों को उलट कर पढ़ते हैं। सिर्फ़ गति के कारण ही उन्हें जल और स्थल में तत्त्वों का सा अन्तर है, यह नहीं दिखता।

जो भी हो, प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मूल सूत्र है: "जो मैं हूँ, वही मैं हूँ।" और सारस्वत-प्रदेश के युद्ध के बाद प्रसाद ने इसी दर्शन-जनित परिभाषा को बच्चन, दिनकर, भगवतीचरण आदि की अनुभूति-जनित परिभाषा: "जो मैं हूँ, वह मैं नहीं हूँ" के विरुद्ध टिका दिया। इसमें से कौन-सी सहज मनुष्य की परिभाषा है? क्या अनुभूति और दर्शन, इन दो में से एक को ही चुनना पड़ेगा? कोई तीसरा रास्ता नहीं है।

एक गंभीर दृष्टि से इन दोनों दृष्टियों में तात्त्विक अन्तर है। लेकिन इन दोनों में से एक को ही चुन लेने की अनिवार्यता उस युग को महसूस नहीं हो रही थी। वस्तुत: वे दोनों दृष्टियाँ एक समझौते पर आकर स्थिर हो गईं। इसीलिए नीत्शे जैसा भावना का तनाव हिन्दी के आवेश में नहीं मिलता। यह टकराहट ऊपरी थी, लेकिन अन्दर ही अन्दर इसमें समझौते की एक अनिवार्य आवश्यकता भी काम करती रही। इस समझौते ने एक तरफ़ 'अपराजेय विवशता' के वेग को थोड़ा कम किया, दूसरी तरफ़ 'अपराजेय संकल्प' को भी थोड़ा लचीला बना दिया। इस समझौते से दोनों दृष्टियों का समन्वय तो नहीं हो पाया, सन्तुलन अवश्य हो गया। यह सन्तुलन बेशक कुछ ही दूर तक चला भी। कुछ हद तक इसने दोनों में रक्त-संचार किया, लेकिन उसके बाद इसने भँवर आदि "गतिरोध" भी पैदा किये। कामायनी में इड़ा और श्रद्धा का दार्शनिक समझौता तो है ही। अनुभूति के क्षेत्र में इसी कारण यह अपराजेय गति "विज़न" को जन्म न देकर एक स्वप्निल शक्ति-प्रवाह, मस्ती और खुमारी के रूप में प्रकट होती है। इस स्वप्निल शक्ति-प्रवाह का सबसे अच्छा गुण एक तरह का लापरवाह खुलापन है जो साधारण जीवन में रसीलेपन की तरह व्याप्त हो गया है।

बच्चन, दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन आदि सभी कवि एक ख़ास अर्थ में 'जवानी' के कवि हैं। यह एक विशिष्ट-सी बात है। जवान तो अपने समय में प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, पंत सभी रहे होंगे - और मेरा अनुमान है कि मैथिलीशरण गुप्त भी - लेकिन इनमें से कोई भी ख़ास अर्थ में जवानी का क़वि कभी नहीं रहा। इस अर्थ में योरपीय रोमांटिसिज्म भी खास तौर से जवानी का काव्य बन कर नहीं आया। यह सही है कि हिन्दुस्तान एक क्रान्ति की अवस्था से गुजर रहा था और देश भर में मार्क्सवाद-गांधीवाद का द्वन्द्व भी चल रहा था। लेकिन खुद मार्क्स के लेखन में विशेषत: 'जवानी' का क्रान्ति से कोई रिश्ता हो, ऐसा नहीं लगता और न यही जान पड़ता है कि वह जवानों को सम्बोधित करके लिख रहा हो। किन कारणों से नयी चेतना, जिसका आधार अधिकतर विज्ञान था, 'जवानों' से संबद्ध हो गई और उसका मनोभूमि पर क्या प्रभाव पड़ा, यह अनुसन्धान का रोचक विषय हो सकता है।

इतना हम देख सकते हैं कि यथार्थ के जिस स्पर्श को ये कवि चित्रित कर रहे हैं, उसमें 'जवानी' की एक कल्पित तंसवीर 'आवेग' और 'फक्कड़पन' से संबद्ध है। एक गहरे स्तर पर नयी चेतना की 'जवानी' में सीमित कर देना भी छायावाद से आन्तरिक समझौते का ही फल है। छायावादी दृष्टि सम्पूर्ण जीवन की दृष्टि थी। उस सारी जीवन-दृष्टि को उलट देना इस कवियों का अभीष्ट नहीं है। वे केवल जिन्दगी के अंश—जवानी—को ही इस नयी यथार्थ आवेगशीलता से ध्वनित देख रहे हैं। एक ढंग से यह आंशिकता कविता के विस्तार को सीमित करती है और आगे चलकर गीतों की जो धारा निकली, वह इस सीमा में उलझ कर रह गई।

इस समझौते को हम 'चित्रलेखा' और प्रसाद के नाटकों की तुलना करके देख सकते हैं। प्रसाद अपने नाटकीय समाज को एक ऐतिहासिक स्थिति में रखते हैं। उस इतिहास से हमारा संबंध 'उत्तराधिकार' का है। लेकिन इस उत्तराधिकार के लिए हमें प्रयास करना पड़ता है। हमें लगता है कि ये सारे चरित्र एक लक्ष्य में विसर्जित हो रहे हैं। उस लक्ष्य की विवेक-सम्मतता को हम स्वीकार करते हैं। यह लक्ष्य ही नाटक को एकता प्रदान करता है और उसकी स्वीकृति के माध्यम से ही हमारा उन पात्रों से "साधारणीकरण" होता है। लेकिन यह स्वीकृति हम तभी दे सकते हैं जब हम अपने भीतर के 'यथार्थ' को उस लक्ष्यमूलक सत्य में विसर्जित होता देखें। विसर्जन की अनुभूति तनाव को जन्म देती है और हमें लगता है कि प्रसाद के पात्र हमसे "ऊँचे" स्तर पर प्रतिष्ठित हैं।

इसके विपरीत 'चित्रलेखा' में एक ढीलापन है, यद्यपि ऊपर से सारा वितान वैसा ही है। 'चित्रलेखा' का पूरा समाज इतिहास में अपनी अतीव महिमा के साथ है। उस इतिहास से हमारा जो 'उत्तराधिकार' का संबंध है, उसका पूरा उपयोग, हमें सहलाने के लिए उपन्यासकार करता है क्योंकि उन पात्रों की रुचि-अरुचि हमारी अपनी है। उस समाज का कोई 'लक्ष्य' या गन्तव्य नहीं है। परन्तु वह मृत समाज नहीं है। वह स्पन्दित हो रहा है। वस्तुत: लक्ष्य का स्थान 'व्यापार' ने ले लिया है। हम व्यापार यहाँ वाणिज्य के अर्थ में नहीं, बल्कि प्राकृतिक कर्म (function) के अर्थ में प्रयुक्त कर रहे हैं। राजा चन्द्रगुप्त, मंत्री चाणक्य, सामन्तगण सब 'फंक्शन' कर रहे हैं जिस तरह एक जीवित मनुष्य के अंग-प्रत्यंग फ़ंक्शन करते हैं। इस व्यापार-रत समाज को अतीव महिमा में मण्डित करके, हम 'व्यापार' को भी महिमा से मण्डित कर देते हैं। लगता है कि जिसे प्रसाद 'लक्ष्य', 'गन्तव्य', 'उद्देश्य' कहके अभिव्यक्त करते हैं, वह फ़ंक्शन का ही एक विस्तार है। चूँकि यह व्यापार निष्प्रयास, परिचालित-सा है, इसलिए हमें ढीलापन और सहजता महसूस होती है। चूँकि यह उद्देश्य या लक्ष्य की कल्पना से कहीं टकराता नहीं, इसलिए महिमा से मण्डित जान पड़ता है।

बीजगुप्त का समस्त भोग-विलास अपनी सारी अपराजेयता के बावजूद देवताओं द्वारा 'वर्जित' की कोटि में नहीं आता। ऐसा कदापि नहीं लगता कि जिन मान्यताओं पर यह समाज खड़ा है, उनसे उसकी टक्कर की सम्भावना हो। अपनी अपराजेय विवशता के कारण उसे किसी भी यातना का शिकार नहीं होता पड़ता। हर बार एक नाटकीय मुद्रा और निपूण मेधा के द्वारा वह मान्यताओं से समझौता कर लेता है। इस तरह बीजगुप्त के प्राकृतिक 'आवेग' के साथ-साथ हम मर्यादाओं पर आधारित छायावादी 'महानता' के आदर्श के अनायास ही उत्तराधिकारी हो जाते हैं। यह एक सुखद किन्तु अगम्भीर स्थिति है।

बीजगुप्त भोगी है, चित्रलेखा का भी प्रेमी भी है। यह प्रेम हृदय का एक सहज व्यापार है। भोग साधारण मनुष्य का सहज धर्म है। इसी आधार पर बीजगुप्त हमें अपने समान धरातल पर जान पड़ता है। इस 'साधारणीकरण' में हम बिना प्रयास किये ही उस समस्त महिमा के उत्तराधिकारी हो जाते हैं। यह अनुभव हमारे मर्म को सहलाता है। हमें यह बात बहुत अच्छी मालूम पड़ती है, जैसे हमारी चापलूसी की गई हो। चित्रलेखा की अपील, हमारे भीतर जो व्यापारिक मनुष्य है, उसके प्रति है। यह व्यापार-रत अथवा फ़ंक्शनल मनुष्य ही 'साधारण मानव' है।

व्यापार-रत मनुष्य की कल्पना के साथ ही हम मानवीय भावनाओं को भी व्यापार-रत भावनाओं के रूप में देखते हैं। इसी अर्थ में प्रेम हृदय का सहज व्यापार है। जब तक ये भावनाएँ व्यापार-रत हैं, तब तक हमें 'सहज' जान पड़ती हैं। इसीलिए जब चित्रलेखा बीजगुप्त को छोड़कर कुमारगिरि के पास विवश-सी चली जाती है तो हम इसे हृदय का सहज व्यापार समझ कर क्षमा कर देते हैं। कवि का काम मुख्यत: इस व्यापार-रत भावना पर झिलमिली चढ़ाना है। यह व्यापार-रत भावना छायावादी 'सूक्ष्म' भावना से भिन्न है जो लक्ष्य में विसर्जित होने के समय ही भावना का रूप ग्रहण करती है।

उसके पहले वह मात्र जड़ता है, या है नहीं। इसके दो लक्षण हैं। एक, कि यह भावना आघात-प्रत्याघात, या कार्य-कारण-संबंध की तरह उमड़ पड़ती है। यह अनिवार्य है। इसमें मनुष्य का विवेक कुछ नहीं कर सकता। दूसरे इसकी विशेषता इसके वेग में है। व्यापार-रत भावना जितनी वेगवान होगी, उतनी ही महिमा से व्याप्त होगी। यह वेग लक्ष्य के आकर्षण से नहीं उपजता। आन्तरिक उद्वेलन ही उसे चलाता है। तृप्ति का क्षण उसकी मृत्यु का क्षण है। मनु और इड़ा का 'वर्जित स्पर्श' है। चूँकि यह व्यापार-रत भावना अपने को बारम्बार दुहराती रहती है, और हर बार एक 'नयी तृप्ति' की माँग करती है, इसलिए उसमें वेग, अपराजेयता, अमर भूख अमिट प्यास दिखती है। नश्वरता और अमरता के इसी संयोजन पर हम तीसरे दशक की अनुभूति में लघु और महत् का सम्मिलन देख सकते हैं। हर नयी दौड़ एक नाटकीय परिवर्तन की सूचना है। लेकिन जहाँ छायावाद का परिवर्तन गुणात्मक (qualitative) है, वहाँ तीसरे दशक का परिवर्तन परिमाणात्मक (quantitative) है। इसके पीछे एक अरमान है इसका निरन्तर दुहराया जाना। यह परिमाणात्मक परिवर्तन कभी न कभी गुणात्मक परिवर्तन का रूप ग्रहण कर लेगा।

"O eternal, O everywhere, O eternal nowhere, O eternal — in vain."

स्वप्न देखना—यथार्थ और आदर्श के बीच पुल बनाते रहना—मनुष्य की कमजोरी नहीं है, मनुष्य का सबसे मूल्यवान अंश है। लेकिन क्या इस स्वप्न का आधार सिर्फ जीवन की पुनरावृत्ति है या सृजनात्मक संकल्प द्वारा उस पुनरावृत्ति से बाहर फूटती हुई राह? अगर स्वप्न ही देखना हमारी मनुष्यता है तो हम उस स्वप्न को पूरी तरह आँखें खोल कर क्यों न देखें, अधमुँदी आँखों से क्यों देखें? यदि गति हमारी यथार्थता है तो हम उसे विवश होकर क्यों झेलें, दायित्व समझकर अंगीकार क्यों न करें? ये गहरे विवाद तीसरे दशक के काव्य और आज की नयी कविता की मनोभूमि में निहित हैं।

मनुष्य की कोई भी भावना उसे जिस तरह एक छोर पर परात्पर सत्य तक ले जाती है, वैसे ही दूसरे छोर पर प्रकृति तक ले जाती है : क्योंकि मनुष्य जड़ और चेतन दोनों है। शरीर और आत्मा दोनों है। परात्पर सत्य उसकी चेतना की शुद्ध अवस्था है, उसी तरह प्रकृति उसकी जड़ता की। वह दोनों के सन्धिस्थल पर है। आदिम काल से एक ओर जहाँ वह परमात्मा में मानवीयता का आरोपित करता आया है। ये दोनों छोर उसे अपने से बाहर भी मिलने दिखते हैं। और वह प्रकृति और परमात्मा दोनों को एक-दूसरे पर आरोपित देखता है। कभी उस सन्धिस्थल पर प्रकृति विसर्जित हो जाती है, कभी ईश्वर। कभी अपने भीतर जड़ता विसर्जित-सी दीखती है, कभी चेतना। लेकिन मनुष्य की मनोभूमि की इतनी-से बीजगणित से हम इसमें जो 'इतिहास' अथवा पैटर्न है, उसे आँखों से ओझल नहीं कर सकते और न हम यही भूल सकते हैं कि सत्य की यह वह गुत्थी है जिसे मनुष्य खुद खोलता है और टटोल-टटोल कर आगे बढ़ता है। यह उसकी विवशता नहीं, उसका गम्भीर दायित्व है।

फ़ंक्शनल भावना फ़ंक्शनल सत्य के माध्यम से मनुष्य को प्रकृति से जोड़ती है। हम यह देखते हैं कि बच्चन, दिनकर आदि की कविता में प्रकृति के जो भी चित्र हैं, वे प्रकृति के 'व्यापारों' के चित्र हैं। बादल का उड़ना, समुद्र का उद्वेलित होना, हवा का चलना, फूल का खिलना और सूख जाना - सब का सब तीसरे दशक के लिए केवल एक 'फंक्शनल' अर्थ रखता है। महादेवी की कविता में प्रकृति जहाँ भी आई है, केवल अपने 'व्यापारिक' अर्थ में। हर आइटम के एक सहज 'व्यापार' की कल्पना की गई है, वही उसका अर्थ है, वही उसका सत्य है। इस दृष्टि से महादेवी की कविता दूसरे दशक का छायावादी मनोभूमि से भिन्न है, रहस्यवादी शब्दावली उसमें जितनी भी हो। न केवल कविता के प्रधान फार्म में, बल्कि अनुभूति की बनावट में भी महादेवी की कविता छायावाद को क्रमशः बच्चन आदि में परिवर्तित होते हुए उदाहृत करती है। इसीलिए जब निराला की डाल खिलना चाहती है तो उसमें एक संकल्प का स्वर है और महादेवी के जितने फूल हैं, वे एक तरल और मधुर मार्दव के साथ सहज ही खिलते हैं, झरते हैं।

ऊपर हमने जिसे मोटिव या 'नीयत' कहकर अभिव्यक्त किया है, वह और कुछ नहीं, यह फ़ंक्शनल भावना ही है, आशा करता हूँ, यह स्पष्ट होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुख्य द्वन्द्व फ़ंक्शन और पर्पज, व्यापारिक सत्य (functional truth) और उद्देश्यगत सत्य (purposive truth or moral truth) का है।

व्यापारिक सत्य क्या है और उसका द्वन्द्व उद्देश्यगत सत्य या नैतिक सत्य से क्यों होता है? बीसवीं शताब्दी के मनुष्य की प्रमुख समस्या इस विभेद की जड़ में हैं क्योंकि मनुष्य के उद्देश्यगत सत्य को, जो अभी तक अपराजित सम्राट था, विज्ञान ने सिंहासन से हटा दिया है। पदार्थ-मात्र में एक गति है, यह गति ही पदार्थ या प्रकृति का व्यापार है। लेकिन क्या यही उसका उद्देश्य भी है?

चन्द्रमा अपनी किरणें पृथ्वी पर फेंकता है। यह उसका फंक्शन है। ग्रह सूर्य के चारों तरफ चक्कर काटते हैं, यह उनका फ़ंक्शन है। विज्ञान के अनुसार यह समस्त ब्रह्माण्ड फैलता-सिकुड़ता है। यह उसका फंक्शन है। लेकिन क्या यही चन्द्रमा का उद्देश्य है? ग्रहों का उद्देश्य है? इस अखिल ब्रह्माण्ड के फैलने-सिकुड़ने का क्या उद्देश्य है? क्या कोई उद्देश्य है भी?

यू. एन. ओ. में भाषण होते हैं, प्रस्ताव स्वीकृत होते हैं, गिरते हैं। यह उसका फ़ंक्शन है। राष्ट्र उठते हैं, गिरते हैं। सरकारी मंत्री वक्तव्य देते हैं। यह फ़ंक्शन है। मैं खाता हूँ, पीता हूँ, सो जाता हूँ। रोज़ अपना काम करना हूँ। यह फ़ंक्शन है। लेकिन सब का क्या उद्देश्य है? क्या कोई उद्देश्य है भी?

पुरानी चेतना फ़ंक्शन और उद्देश्य के इस पीड़ादायक अन्तर से ग्रस्त नहीं थी, इसका एक उदाहरण है, हमारा शब्द 'धर्म'। 'धर्म' शब्द फ़ंक्शन और उद्देश्य, दोनों अर्थों में व्यवहृत होता है। जब हम कहते हैं कि फूल का धर्म है खिलना, तो हमारा मतलब उस फ़ंक्शन से है जो फूल की 'अपराजेय विवशता' है। यह एक फ़ंक्शनल सत्य—'तथ्य'—है। जब हम कहते हैं कि मनुष्य का धर्म है सच बोलना, तो यह कोई 'अपराजेय विवशता' नहीं है। हम चाहें तो झूठ भी बोल सकते हैं, लेकिन हमें सत्य बोलना चाहिए। यह एक उद्देश्यगत या नैतिक सत्य—'सत्य'—है।

यहाँ से लेकर अखिल ब्रह्माण्ड के फैलने-सिकुड़ने तक तथ्यों की अनिवार्यता तो दिखती है, लेकिन उसकी रेखा 'सत्य' को कहीं छूती नहीं दिखती, सिवाय मनुष्य के। लेकिन मनुष्य को भी यदि हम केवल फ़ंक्शन की पुनरावृत्ति के ही रूप में दिखते हैं—चाहे वह कितनी ही वेगवान और राशिभूत पुनरावृत्ति क्यों न हो—तो फिर वह 'वर्जित-स्पर्श' कैसे घटित होगा? यह रिक्तता कैसे भरेगी?

यह प्रश्न आज केवल हिन्दी लेखक के सम्मुख नहीं है, सारी मनुष्यता के सम्मुख है। इसकी चेतना तीखी है। इस तीखी चेतना के कारण एक विश्वमानस का निर्माण सम्भव है। यदि हिन्दी की 'नयी कविता' और दुनिया के अन्य देशों की सामयिक कविता में साम्य भी पैदा करती है। किन्तु उस 'वर्जित-स्पर्श' की झलक हिन्दी की कविता और अमेरिकन या योरपीय कविता में भिन्न है। आख़िर हिन्दी की कविता और अमेरिकन या योरपीय कविता में भिन्न है। आख़िरकार, कवि दार्शनिक की तरह केवल 'ऐब्स्ट्रैक्ट' उधेड़बुन नहीं करता। वह अपने चारों ओर के यथार्थ के स्वाद की सूचना देता चलता है। यह आस्वादन उसका पहला काम है। विश्लेषण द्वारा हम उस आस्वादन की प्रकृति को पहचानते हैं।

आकुलि किलात अभी मरे नहीं हैं, वे भी केवल मनु की तरह मूर्च्छित हो गये थे। और आज भी मनु-श्रद्धा का पुत्र सारस्वत-प्रदेश में निहत्था, उन असुर-पुरोहितों से घिरा खड़ा है। वह उनसे क्या कहे? जिनके 'असुरत्व' को प्रलय-प्रवाह भी नहीं मिटा पाया, जिनका सामना श्रद्धा ने किया ही नहीं, उन्हें कैसे वह देवत्व से भर दे? अज्ञेय के शब्दों में "आज के जीवन के दबाव की अभिव्यंजना का मार्ग उसे नहीं सूझता।"

लेकिन तीसरे दशक के कवि इस समानांतर द्वयता को इस अकिंचन जागरूकता के साथ नहीं देखते। यदि समानांतर रेखाओं को हम अधमुँदी आँखों से—महादेवी के चित्रों के पात्रों की तरह—देखें तो वे मिलती हुई जान पड़ेंगी। आँखें अधमुँदी ही रहें, यही सबसे बड़ी मूल्यवत्ता है। इसी के लिए तीसरा दशक, 'खुमारी और जवानी' का सहारा लेता है और बहुत गम्भीर होकर अगम्भीरता को अपनाता है।

प्रचलित शब्दावली में वह शिशु आस्था, कि अन्तः सत्य और बाह्य सत्य एक ही है, नष्ट हो गई। इन कवियों के सामने आधारभूत अनुभव यही है कि युग की करवट के साथ अन्तर में ध्वनित होते हुए सत्य और बाहर के यथार्थ-मूलक' सत्य में अन्तर दिखलाई पड़ता है। इसलिए जिस एकाग्रता को आरम्भिक छायावाद जन्म के साथ प्राप्त करता है, वह उत्तरकालीन कवियों के लिए सप्रयास साग्रह स्थापित करने की वस्तु है। छायावाद के लिए जो सहज ज्ञान है, तीसरे दशक के लिए वह निचुड़ी हुई चीज़ हो गई, जिसे 'आस्था' का नाम दिया गया। संक्षेप में, जहाँ बीसवीं सदी के दूसरे दशक के सामने सीधा रास्ता था, वहाँ तीसरे दशक के सम्मुख 'क्राइसिस' थी। इन कवियों के सामने दो ही रास्ते थे: या तो वे छायावाद के मूलभूत सूत्र पर ही प्रश्न-चिन्ह लगाते; या वे उस क्राइसिस को ही मानने से इन्कार कर देते। उन्होंने दूसरा रास्ता चुनना स्वीकार किया। इससे उन्हें 'बौद्धिकता' और बोझिल भावनाओं से तो एक नाटकीय ढंग से मुक्ति मिल गई, किन्तु उन्हें अनुभूति की गम्भीरता को छोड़ना पड़ा। बच्चन की रूपकोक्तियाँ, दिनकर का रिटॉरिक, भगवतीचरण वर्मा की लापरवाह दीवानगी, नवीन का बलवला, अंचल का उबाल, नरेन्द्र शर्मा का नफ़ीस ऐश्वर्य—इस सबमें गम्भीरता के अभाव की छाया है। कुछ मिलाकर लगता है, जैसे अँग्रेजी कवि लार्ड बायरन के पचासों टुकड़े कर दिये गये हों और उनमें से कुछ-कुछ टुकड़े इन तमाम कवियों की 'जवानी' में अलग-अलग ज़ज्ब कर दिये गये हों।

यह कहना कठिन है कि यह 'बायरानिक' आवेश आज की 'नयी कविता' में बिल्कुल ख़त्म हो गया है। बायरानिज़्म की ख़ासी छवि धर्मवीर भारती जैसे कवि में आज भी दिखलाई पड़ती है - तीसरे दशक से कुछ अधिक केंद्रित रूप में। सिर्फ़ बायरन का प्रभुत्व-सम्पन्न स्वर न पहले के कवियों में है, न भारती में। शायद उस सीमाहीन प्रभुता का अनुभव, जो अंग्रेज को नेपोलियन की हार के बाद हुआ था और जो उन्नीसवीं सदी के अन्त तक कायम रहा, आज किसी देश को होना असम्भव है - तीसरे दशक के गुलाम हिन्दुस्तान और आज के फूँक-फूँककर कदम रखने वाले हिन्दुस्तान की तो बात ही क्या। बनर्ड शा ने कहीं कहा है कि चतुर और कल्पना-बहुत उद्धत मानस के साथ मिलकर जब तेज़ आलोचनात्मक मेधा हलचल पैदा करने लगती है, जैसा पुराने इंग्लैण्ड में उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक वैज्ञानिक विचारों से हुआ तो बायरानिज़्म नाम का नतीजा निकलता है। यह उद्धत मेधावी निपुणता 'मधुशाला' और चित्रलेखा' दोनों की ही जान है और दोनों की व्यापक लोकप्रियता का कारण है।

तात्त्विक विरोध और व्यावहारिक समझौते की इस मिली-जुली मनोभूमि से ही छायावाद का तीसरा दौर "यथार्थ" को देखता है। समझौता हर हालत में यथार्थ से समझौता है। आदर्श-आदर्श में समझौता नहीं होता। मनोभूमि के विश्लेषण की दृष्टि से हम यों कह सकते हैं कि मनुष्य में हम कुछ ऐसा आविष्कृत करते हैं जो नैतिक और कल्पनात्मक आँच में पूर्णतः पिघल जाने से इन्कार

करता है। पिसे हुए शीशे की तरह हम उसे पानी में जितना ही चक्कर दें, वह घुल कर पानी नहीं बनता। जब तक उस जल में तेज़ भँवर है, तब तक पिसे हुए शीशे और पानी में अन्तर तो दिखता नहीं, इसलिए सिर खपाने से क्या लाभ? और अगर शीशा रंगीन है तो पानी को कुछ चमका ही देगा। पानी स्थिर हो जाने पर क्या होगा, इसको कौन जानता है? मस्ती, फक्कड़पन, बलवला, उबाल, लापरवाह दीवानगी, नफ़ीस ऐश्वर्य, शहादत - और इन सबके साथ ईमानदारी का खुलापन- यह सारी भावभूमि यथार्थ और आदर्श, लघु और महत् के उस रंगीन मिश्रण से उपजती है। जिन्दगी एक लाल महताबी के प्रकाश की तरह है जो एक अन्धकार से दूसरे अन्धकार तक जलती है, लेकिन जब तक जलती है, क्या ही प्रकाश देती है! हिन्दी के तीसरे दशक की कुछ बहुत ही मधुर कविताएँ इसी भावभूमि से लिखी गई हैं।

इस दौर का यथार्थ कोड़े मारता हुआ आता है। लेकिन इस मार में चोट नहीं है, एक तरह का नशीलापन है, कसैलापन है, मिर्च का मज़ा है। इसका स्वरूप ऐसा है कि आदर्शवादी प्रवाह में सहसा नारी अनावृत्त हो जाती है, पूज़न-आराधन प्राप्त करता हुआ पाषाण अट्टहास कर उठता है, जलती चिता पर बैठ कर मुर्दा गाने लगता है, भरे बाज़ार में शैतानी के साथ भैंसा-गाड़ी चलने लगती है, नगर-वेश्या मुस्कराकर योगी के माथे पर भरी राजसभा में विजय-मुकुट पहना देती है, छत पर खड़ी भीगे बालों वाली लड़की कौओं को रोटी खिलाती है और कहती है 'सब तन खाइयो .....।' संक्षेप में यह यथार्थ अपनी यथार्थता की घोषणा बहुत जोर से, बहुत नाटकीय ढंग से करता है कि आप चौंक पड़ें, लेकिन कहीं भी दिमाग़ पर ज़ोर नहीं डालता। जैसे दीवाल के मोड़ से गुजरते ही कोई बच्चा आपको चौंका दे, फिर हँसने लगे। इसीलिए लगता है कि बच्चन के साथ मधुशाला में चले जाइये, सिर-फुटौवल की नौबत नहीं आयेगी; दिनकर के साथ अंगारों पर टहलिये, पैर नहीं जलेंगे; साँप के फन पर खड़े होकर बाँसुरी बजाइये, प्राण जाने का भय नहीं है; चर्र-मर्र करती ही सही, भैंसा-गाड़ी चली ही जायगी, मुहल्ले के हाइजीन को ख़तरा नहीं है; और तो और जब अंचल जी ज़ोर से दहाड़ते हैं कि 'लूटूँ किसका यौवन', तो टोन में कुछ ऐसा है जो आश्वस्त करता है कि सचमुच कोई औरत सामने आ पड़े तो ये हज़रत हरगिज़ ऐसा नहीं करेंगे और न पुलिस-केस ही बनेगा; सिर्फ़ थरथराते गले से प्रणय-निवेदन की स्थिति उत्पन्न होगी। ईमानदार मस्ती में बड़ी ताकत है; वह हँसते-हँसते आदमी को सूली पर चढ़ा देती है, यथार्थ तो छोटी सी किरकिरी मात्र है। इस यथार्थ का साक्षात्कार वे ही कर सकते हैं जो करना और मर जाना जानते हैं - क्यों नहीं पूछते?

> मुझे तोड़ लेना वनमाली उस पथ में तुम देना फेंक
> मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।

विचारों के क्षेत्र में छायावाद के पहले और दूसरे दशक का वैपरीत्य सरल चिन्तन और द्वन्द्वात्मक चिन्तन का है। लेकिन हिन्दुस्तान का मानस मूलत: इन दो विरोधी तत्त्वों को घुलाकर एक करने का स्वप्न देखता है। वस्तुत: हर देश अपने-अपने ढंग से इन तत्त्वों का सामंजस्य करता है। यह सामंजस्य उसे कभी गति देता है, कभी उसे जर्जर बनाता है। समस्या वही है—कैसे इस अद्वैत और द्वैत को मिलाकर विशिष्टाद्वैत को जन्म दिया जाय। अलग-अलग सन्दर्भों में हिन्दुस्तान में कई बार इस विशिष्टाद्वैत की आवृत्ति हुई है। आज भी हमारे सामने चिन्तन की उस अगली मंजिल का रास्ता स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। कबीरदास और उनके साथियों की तरह आज भी नयी कविता अधिक से अधिक उस 'अज्ञात-वय-कुलशील', 'नामहीन', 'अलख', 'संख्यातीत रूपों में याद' किये हुए सत्य तक ही पहुँचती है। लेकिन दूसरा मार्ग ही क्या है? आदमी बराबर वज्रयानियों की तरह सिर्फ़ सत्य को 'कैसे' करके तो नहीं पूछता रह सकता, कभी न कभी तो वह पूछेगा ही - क्यों?

युग बदलने के बाद यथार्थ का लगा हुआ कोड़ा, 'त्यागपत्र' की मृणाल की तरह नशा नहीं उत्पन्न करता, बल्कि 'शेखर' की शशि की तरह छोड़ जाता है एक अमिट छाप, एक अज्ञात दुर्भाग्य से भरा हुआ दर्द और एक कभी भी उत्तरित न होने वाला 'क्यों'?

एक बहुत व्यापक विस्तार के साथ सरल और द्वन्द्वात्मक चिन्तन के आन्तरिक संघर्ष और ऊपरी समझौते का प्रयास तीसरे दशक में हुआ। वह केवल हिन्दी ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र को प्रमथिक करता हुआ दीखता है। उस व्यापकता को ध्यान में रखना बहुत जरूरी है, क्योंकि उसके बगैर हम हिन्दुस्तान के मानस को अच्छी तरह नहीं समझ पायेंगे जिसे अभिव्यक्ति देने की कोशिश हिन्दी कविता कर रही है।

राष्ट्रीय आन्दोलन और साहित्य की अनुभूति में पहले का सरल सामंजस्य सत्याग्रह-युग के दूसरे दौर में वक्र और परोक्ष हो जाता है। हम पहले ही देख चुके हैं कि 'राष्ट्रीय' कविता एक विशेष आइडियोलॉजिकल आग्रह के साथ लिखी हुई कविता हो गई जिसका रूप माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, सुभद्राकुमारी आदि में परिलक्षित होता है। जो पहले अन्तर्ध्वनित लय थी, अब वह विषयवस्तु होती जा रही है। लेकिन एक 'पैटर्न' के अर्थ में, परोक्षत: वह लय फिर भी ध्वनित हो रही है।

अन्तर्ध्वनित सत्य के सरल चिन्तन के प्रतीक-रूप में गांधी जी के नेतृत्व वर्तमान था, लेकिन उसके अतिरिक्त द्वन्द्वात्मक चिन्तन पर आधारित जो 'वामपक्ष' विकसित हुआ, उसका गांधीवाद या गांधी जी से क्या रिश्ता बना ? गांधीवादी हिस्सा बड़ा है, लेकिन शिथिल और टटोल-टटोल कर चलता दिखता है। द्वन्द्वात्मक हिस्सा छोटा है, लेकिन बहुत तेज़-तर्रार और त्रिकाल को

हस्तामलकवत् देखने की घोषणा करता है। इससे निकली हुई तमाम वैचारिक बनैती-पठैती के बावजूद भी (जिसकी भरमार उस युग में क्या साहित्य, क्या अख़बार, क्या राजनीति, सभी जगह है) विचारों से कोई गम्भीर लगान उस युग को नहीं है। दोनों विरोधी - लगभग परस्पर विनाशकारी दृष्टियाँ हैं - इतना तो स्पष्ट है। जो चीज़ इतनी स्पष्ट नहीं है, वह यह कि दोनों के साथ चलने की अनिवार्यता उससे भी गहरी है। स्थिति असामंजस्य और सामंजस्य दोनों की है। इससे जिस विशिष्ट चित्रफलक का निर्माण होता है, वही हिन्दुस्तान की आन्तरिक लय को व्यक्त करता है। जैसा आगे के इतिहास से ज्ञात हुआ, असमन्वयशीलों के समन्वय के इस विराट् देशव्यापी प्रयास ने बड़े-बड़े भँवर पैदा किये।

वह पैटर्न कुछ इस तरह का है : 'वाम-पक्ष' के चार रंग हैं जो एक सीमान्त से उठ कर रंग बदलती हुई रेखा की तरह गाँधीवाद में घुल जाते हैं। गाँधी जी की सापेक्षता में हम इन्हें यों रख सकते हैं: जवाहरलाल नेहरू, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, सुभाषचन्द्र बोस और कम्युनिस्ट पार्टी। यह सूची सम्पूर्ण नहीं है, क्योंकि बीच-बीच में और भी समूह हैं जो द्वन्द्वात्मक चिन्तन के और बारीक तेवर अभिव्यक्त करते हैं। ये सभी दूसरे दशक के 'अन्तर्ध्वनित सत्य' पर आधारित मूल्यों और तज्जनित राजनीति से अलग-अलग अंशों में असन्तुष्ट हैं। साथ ही कांग्रेस से, जिसका नेतृत्व अभी भी अन्तर्ध्वनित सरल चिन्तन पर आधारित है, चिपके भी रहना चाहते हैं, यहाँ तक कि कम्युनिस्ट पार्टी भी, जिसका एक हिस्सा कांग्रेस के बाहर है। आकर्षण-विकर्षण की यह प्रक्रिया तेज़ हलचल और बौद्धिक विवाद के बीच सम्पन्न होती है। इसी तरह छायावाद का समान स्वरों वाला आरंभिक आर्केस्ट्रा उत्तरकाल में परस्पर विरोधी और टकराते हुए स्वरों वाले सहगायन में बदल जाता है। यह भी द्रष्टव्य है कि ये सारे रंग स्थिर नहीं हैं, बल्कि तेज़ी से बदलते रहते हैं - उन पर गांधीवादी घटा, अंग्रेज सरकार और देश की संस्कृति का सम्मिलित दबाव बराबर पड़ रहा है।

हम इस पैटर्न को घटा में खिले हुए इन्द्रधनुष की तरह देखें या मन्दगति गज पर लगे हुए अंकुश की तरह या बुझती हुई राख में उपजती नयी चिनगारी की तरह। यह इस पर निर्भर करता है कि हम देश की इस द्विविध मनोभूमि का असली केंद्र ऊपर वर्णित चारों में से किसको मानते हैं। यशपाल के अनुसार तो इस नयी चेतना का स्वरूप शव और शवपरीक्षक डाक्टर जैसा है - किन्तु हम इसमें सन्निहित ऊपर की टकराहट और आन्तरिक समझौते की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

इस 'वाम-पक्ष' में भी हम 'जवानी' की एक ख़ास हवा की शब्दावली देखते हैं; 'लीडर्स आफ़ दि यूथ' का वाक्य अक्सर सुन पड़ता है। सुभाष बोस 'नयी चेतना' की ओर से उल्का की तरह गांधी जी से टकराये। यह टक्कर एक तरफ़ तो सुभाष की 'फॉर्मल' विजय, दूसरी गांधी जी की वास्तविक विजय में परिलक्षित हुई। गांधी जी को शिकस्त देने में तो देश न उनका साथ दिया, लेकिन उनसे अलग एक नयी पार्टी बनाने में, एक नया नेतृत्य प्रदान करने में देश उनकी मदद नहीं करता दिखता। नयी चेतना पुराने मूल्यों से तेज़ी से टकराये, लेकिन उनको स्थानान्तरित न करें, तीसरे दशक के राष्ट्रीय नाटक की ये शर्तें हैं। यह प्रत्यक्ष संघर्ष और अप्रत्यक्ष समझौते की ऊपरी लहर हैं, जो नये युग के मध्य में घटित होती है। उसकी एक आन्तरिक धारा नेहरू-गांधी के समन्वय में है जो ऊपर से बराबर एक साथ चलती मालूम पड़ती है। लेकिन उसकी तह में तनाव है हमने देखा कि 1931 में जब गांधी जी ने अंग्रेजों से समझौता किया तो पंडित नेहरू ने एक गहरी रिक्तता महसूस की और खण्डित अनुभूति के साथ गांधी जी के निर्णय को स्वीकार कर लिया। इस समन्वय का दूसरा अन्तिम छोर वह है जब जवाहरलाल ने 1947 में अंग्रेजों से समझौता किया और गांधी जी ने टूटकर उस समझौते के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया। 'अपराजेय संकल्प' और 'अपराजेय विवशता' के पहले समझौते ने देश की चेतना को विभाजित कर दिया, दूसरे समझौते ने देश को ही विभाजित कर दिया। गांधी-नेहरू और गांधी-सुभाष के इस संबंध को हम ब्लॅडप्रेशर की ऊँची-नीची दो गतियों (systolic and diastolic) की तरह देख सकते हैं। दूसरे दो तत्त्व, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी भी लहर की इसी दुहरी गति में फंसे हुए हैं। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी विचारों में घोर मार्क्सवादी है और जितनी ही वह उग्र है, उतनी ही गांधी जी के निकट खिंचती जाती है। कम्युनिस्ट पार्टी बौद्धिकत: इस तमाम राष्ट्रीय आन्दोलन की निरर्थरता के विश्वास पर खड़ी होती है, लेकिन उसमें अर्थ देखने के लिए हर हद तक बाध्य है कि कांग्रेस में सोशलिस्ट पार्टी के छोटे दरवाजे से घुसने का प्रयत्न करती है। आज़ादी के बाद हम देखते हैं कि गांधी जी के जीवन तक कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी मार्क्सवादी रही और कांग्रेस में शामिल रही। फिर जैसे ही सोशलिस्टों ने कांग्रेस छोड़ी, वैसे ही उनका चिन्तन गांधीवाद के निकटतर होता जाता है- द्वन्द्वात्मक चिन्तन का स्थान सरल चिन्तन लेता जाता है। उसी तरह कम्युनिस्ट पार्टी भी धीरे-धीरे आरम्भिक क्रांति की उग्रता को भी छोड़ देती है और क्रान्ति के हिंसात्मक मार्ग को भी। उसकी कोशिश उदारवादी अर्थ में पूर्णत: डिमोक्रैटिक समझे जाने की है।

इसके अतिरिक्त तीसरे दशक में इस संघर्ष-समझौते की अन्य गतियाँ भी हैं। सरल चिन्तन की धारा जिसका प्रतिनिधित्व गांधी जी करते हैं, सिद्धान्त से पूर्णत: भारतीय संस्कृति की हामी है, और 'पाश्चात्य संस्कृति' और मूल्यों के नितान्त निषेध पर खड़ी होती है - लेकिन यह धारा उस दौर में आगे बढ़ कर पाश्चात्य मूल्यों की प्रतिनिधि अंग्रेज सरकार से समझौता करती है और संघर्ष को स्थगित कर देती है। द्वन्द्वात्मक चिन्तन, जो अंग्रेज सरकार से सीधी टक्कर के लिए उतावला है, 'भारतीय संस्कृति' की पुरानी कल्पना का निषेध करता है और 'आधुनिकता' के नाम पर उसका 'पाश्चात्य मूल्यों' से आन्तरिक समन्वय है।

हम देखते हैं कि देश के मानस में कोई ऐसी लय है जो बारम्बार इन तत्त्वों को एक विशाल गति से आकर्षण-विकर्षण की प्रक्रिया में झिंझोड़ रही है और ये तत्त्व उसी के अनुरूप ढलते जा रहे हैं, बदले जा रहे हैं। अगर तीसरे दशक के लेखक इसको 'प्रलय-प्रवाह' की तरह देखते हैं-और तात्त्विक असमन्वयशीलों का समन्वय करने की कोशिश करते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

क्या इसकी उत्पत्ति अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से होती है? क्या इसके पीछे वर्ग-संघर्ष है? क्या हिन्दुस्तान कुल मिलाकर इस गति में सत्य का कोई नया प्रयोग कर रहा है? क्या राजनैतिक स्थिति ही साहित्यिक चित्रपटल को जन्म देती है? या कोई गहरी वस्तु है जो एकसाथ ही साहित्यिक वैचारिक, दार्शनिक और राजनैतिक स्तरों पर व्यक्त हो रही है?

व्यापक दृष्टि से देखने पर हमें लगता है कि यह गहरी वस्तु भी वहीं है और उसके पीछे शायद हिन्दुस्तान की चार हज़ार वर्षों की पुरानी सभ्यता और संस्कृति है। ये गतियाँ, ये संघर्ष, ये द्वन्द्व अन्यत्र भी मिल जाते हैं, उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड के रोमांटिक और विक्टोरियन काल में। लेकिन जहाँ विक्टोरियन काल इस सीमित द्वन्द्व पर बनावट का आवरण चढ़ाता है, वहाँ हिन्दुस्तान की अनुभूति में, हिन्दी साहित्य में, एक निश्छलता है जो अन्यत्र नहीं मिलती। सबके बावजूद 'साधारण मानव' में एक खुलापन है।

किसी युग का विश्लेषण करना कितना कठिन काम है, विशेषत: तब, जब कि हम उसके अत्यन्त निकट हों। यह तो इसी से स्पष्ट है कि ऊपर की रेखाओं के सहारे हमने जो मानचित्र खड़ा किया, वह उस पूरी छवि का आभास बिल्कुल नहीं देता जिसके माध्यम से यथार्थ का वह विशेष स्पर्श अभिव्यक्ति हुआ। हिन्दी आलोचक का काम इससे और भी कठिन हो जाता है कि हिन्दुस्तान के इतिहासकारों ने अपना दायित्व पूरा नहीं किया है। यूरोप के आलोचकों से ईर्ष्या होती है जिनके बगल में विचारों के, घटनाओं के, संस्कृति के परम्पराओं के संस्थाओं के, आर्थिक परिवर्तनों के इतिहासकार सहायक ग्रन्थ लिए बराबर मौजूद रहते हैं। वैज्ञानिक अनुसन्धान और सहयोगी प्रयास के मुक़ाबले में सिर्फ आलोचक की ख़ाली मेज़ और 'अन्तर्दृष्टि' कहाँ तक ले जायगी?

सरल चिन्तन और द्वन्द्वात्मक चिन्तन या सरल अनुभूति और द्वन्द्वात्मक अनुभूति का यह समन्वय, इड़ा और मनु का "वर्जित स्पर्श", कहाँ तक प्राणद है और कहाँ वह जर्जर और शिथिल बनाता है, कहाँ तक आगे बढ़ाता है और क्यों फिर संकल्प को तोड़ देता है, इसकी व्याख्या करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। आज के युग में ही हम उस संकल्प-शैथिल्य या राष्ट्रीय भावना की जर्जरता के एक रूप को परिलक्षित देखते हैं - लेकिन आवश्यकता उस आन्तरकि गति को भी देखने की है जिसके लिए हमने पहले कहा था : हिन्दुस्तान का मानस अन्दर ही अन्दर आँवे की तरह पकता जाता है।

तीसरे दशक ने हमारी चेतना में क्या योगदान दिया? किसी देश के सांस्कृतिक जागरण के कम से कम हिन्दुस्तान के पिछले सौ वर्षों के चार चरण दिखते हैं। पहले हम प्रकाश-प्रतीकों के प्रति सचेत होते हैं फिर उन आदर्शों और विचारों के प्रति जिनमें ये प्रतीक समाहित हो जाते हैं; फिर हम सभ्यता अथवा संस्कृति की उस आन्तरिक लय (rhythm) के प्रति जागरूक होते हैं। जो उन प्रतीकों और आदर्शों को पचा लेती है; फिर यह आन्तरिक लय अभिव्यक्ति माँगती है - एक नई सृजनशीलता के साथ, नये प्रतीकों का जन्म होता है। तीसरे दशक की कविता का सबसे महत्वपूर्ण योगदान यही है कि उसने यह देखा कि सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ सर्फ़ प्रतीकों और आदर्शों के सहारे नहीं चलतीं। उनको चलाने वाली वस्तु उनसे भी गहरी है जो उनका भी निर्माण करती है - वह है हमारे देश की आन्तरिक लय। आज की नयी कविता की मनोभूमि उस लय को बारम्बार सृजनशील अर्थ देने की कोशिश करती है। इसी दृष्टि से इन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति कविता के रूप को बदलती चलती है। छायावादी कलाकृति मूलत: एक विस्फोट करता हुआ कलारूप है - जैसे केंद्रीय अर्थ फूटकर चारों ओर क्रमश: विलीन होता हुआ बिखर रहा हो। तीसरे दशक की कलाकृति उसे विस्फोट की तरह नहीं, बल्कि एक लहर के तरह निर्मित करती है- जिस प्रयास में महादेवी से लेकर बच्चन तक के गीत निर्मित होते हैं। नयी कविता उस तरंग के रूप को एक 'स्ट्रक्चर' में बदल देती है, जैसे हीरे का क्रिस्टल हो।

दूसरा बड़ा योगदान, जो तीसरे दशक का था, वह था रोमांटिक मनोभूमि को मूलत: उस गहरे भँवर से निकाल ले जाने का, जहाँ से योरपीय डिकेडेंस की धाराएँ शुरू होती हैं। यह सही है कि उन्होंने इसके साथ ही निपट गम्भीरता को छोड़ दिया। लेकिन इसमें सब हानि ही नहीं हुई लाभ भी था। 'आलकुआ के घड़ियालों' से उनकी भेंट नहीं हुई। अपने अन्तिम रूप में रोमांटिक मनोभूमि 'अपराध-भावना' में बदल जाती है। आज योरप का मानस मूलत: रोमांटिक कवियों द्वारा दी हुई 'अपराध-भावना' से ग्रस्त है। लेकिन हिन्दी के तीसरे दशक के कवियों ने उस 'अपराध-भावना' का जन्म ही नहीं होने दिया और नयी कविता के लिए 'त्रास' की जगह 'पावनता' की ही थाती समर्पित की। समाजशास्त्री योरपीय साहित्य की अपराध-भावना को योरपीय साम्राज्यवाद द्वारा मानवता के प्रति किए हुए 'अपराध' की अनुभूति से उत्पन्न मान सकते हैं और हिन्दुस्तानी मानस में उसके अभाव को हिन्दुस्तान की साम्राज्यहीन निरपराधता से जोड़ सकते हैं। लेकिन इससे हम सिर्फ इतना ही पुष्ट कर सकेंगे कि किसी भी देश का साहित्य अपनी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक चौहद्दी से निर्मित होता है। जो समूचे देश की सीमा और विस्तार है, वही हिन्दी साहित्य की भी सीमा और विस्तार है—इसका प्रमाण तो हम बारम्बार पाते हैं। आज की नयी कविता, योरप की आधुनिक मनोभूमि से इस तथ्य में बिल्कुल भिन्न है कि उसमें वह व्यापक 'अपराध-भावना' नहीं है। यहाँ प्रधान प्रवृत्ति को ही ध्यान में रखकर यह बात कही जा रही है।

इसके पूर्व कि हम साधारण मानव से विदा लें, एक बार हम फिर उसकी ओर लौटकर देख लें –समुद्र के किनारे खड़ा हुआ, उमड़ती हुई कर्मठ भावनाओं से हिल्लोलित। उसने बहुत गीत गाये और बहुत-सी उमंगों का निर्माण किया: छायावाद के पहले दौर की जगह उसने एक नयी अनुभूति दी:

लौट आया यदि वहाँ से
तो यहाँ नव युग लगेगा,
नव प्रभाती गान सुनकर
भाग्य जगती का जगेगा,
शुष्क जड़ता शीघ्र बदलेगी
सरस चैतन्यता में -
यदि न पाया लौट मुझको
लाभ जीवन का मिलेगा;
पर पहुँच ही यदि न पाया
व्यर्थ क्या प्रस्थान होगा?
कर सकूँगा विश्व में
फिर भी नये पथ का प्रदर्शन!

Most of us suppose, have lost the old pagan feeling and not gained the new insight. Not for us to "have sight of Proteus rising from Sea"; or "hear old Triton blow his wreathed horn." And very few of us are fortunate enough -

"To see a world in a Grain of Sand
And a Heaven in a Wild Flower.
Holy infinity in the palm of your hand
And Eternity in an hour."

Not for most of us, unhappily, to sense the mysterious life of Nature, to hear her whisper close to our ears, to thrill and quiver at her touch. Those days are gone. But though we may not see the sublime in Nature as we used to, we have sought to find in the glory and tragedy of humanity, in, its mighty dreams and inner tempests, its pangs and failures, its conflicts and misery, and over all this, its faith in a great destiny and a realization of those dreams. That has been some recompense for us for all the heart-breaks that such a search involves, and often we have been raised above the pettiness of life. The many have not undertaken this search and having cut themselves adrift from the ancient ways find no road to follow in the present. They neither dream nor do they act. They have not understanding of human convulsions like the great French Revolution or the Russian Revolution. The complex swift, and cruel eruptions of human desires, long suppressed, freight : them. For them the Bastille has not yet fallen."

—Jawaharlal Nehru - Autobiography

बच्चन जी और पंडित नेहरू, दोनों ही उस ध्वस्त होते हुए बास्तील की थरथराहट को महसूस कर रहे है दोनों ही ठीक हैं। सिर्फ़ एक जगह उनकी दृष्टि गलती करती है। दुनिया में कोई वस्तु किसी का मुआवजा नहीं होती। हर वस्तु अद्वितीय है, अखण्ड अपनापे से व्याप्त है।

समुद्र में कूदे हुए उस मनुष्य की तसवीर हम फिर देखते है जब शम्भूनाथ सिंह उसको कातर और हमदर्द स्वरों में उत्साहित कर रहे हैं:

तुमने मान लो क्या हार?
परिचित छोड़ सागर तीर
लहरों के हृदय को चीर
सुनकर एक मौन पुकार
लाघें अगम सागर नीर,
तुमने छोड़ दी पतवार

पहुँचे जब प्रलय के द्वार;
पहुँच जब प्रलय के द्वार
तुमने मान ली क्या हार?
और उसकी अन्तिम छवि गिरिधर गोपाल यो देखते हैं :
मत आज बाँधो स्वर्ग में मीना बज़ारों का समाँ
अंगार के दरिया उगलते अजगरों का कारवाँ
मेरे लिए तो जिन्दगी वह भी नहीं, यह भी नहीं,
मुझसे बहा जाता नहीं, गतिहीन रक्त अथाह में!

X X X

जिस तरह बाढ़ के बाद उतरती गंगा
तट पर तज जाती विकृत शव अधखाया
वैसे ही तट पर तज अश्वत्थामा को
इतिहासों ने खुद नया मोड़ अपनाया

- धर्मवीर भारती - अन्धायुग

अज्ञेय और उनके साथियों के सामने—जो तारसप्तक हुए—समस्या यह थी कि तीसरे दशक के काव्य में जो अनिवार्य अगम्भीरता थी उससे मनोभूमि को फिर किसी प्रकार गम्भीरता की ओर वापस लाया जाये। इसका एक ही उपाय था—अन्तर्ध्वनित सत्य और बाह्य सत्य के जिस अन्तर को महसूस करते हुए भी तीसरा दशक झुठलाना चाहता था, उसे पूर्णत: स्वीकार कर लिया जाय। बेकन ने 'सत्य' संबंधी अपने लेख का आरम्भ अगम्भीरता के रूपांकन से यों शुरू किया है, What is Truth, asked the jesting Pilate, and did not wait for a answer." तीसरा दशक सत्य क्या है, यह तो पूछता है, परन्तु उत्तर की प्रतीक्षा नहीं करता : 'तारसप्तक' के कवि सत्य क्या है, पूछते हैं और अत्यन्त आतुरता से प्रतीक्षा करते हैं। उत्तर की यह आतुर प्रतीक्षा ही उन्हें मंजिल पर पहुँचे हुए राही नहीं, 'राहों का अन्वेषी' बनाती है। संक्षेप में यह कि उन्होंने क्राइसिस का सामना किया। इसका मतलब था—छायावाद के मूलभूत फ़ार्मूले पर प्रश्न-चिन्ह लगाना। इसी दृष्टि से हम अज्ञेय में अभिव्यक्त हिन्दी काव्य की मनोभूमि देखेंगे—जिससे 'लघु-मानव' का ढाँचा निर्मित होता है। क्योंकि यहाँ लघुता न तो विसर्जित होती है, न आवेग द्वारा संगृहीत होती है—बल्कि महत् उसे एक आन्तरिक आलोक द्वारा विद्ध करता है, उसकी सीमारेखाएँ और भी स्पष्ट हो जाती हैं। लघु और महत् का सम्मिलन प्रतीकात्मक स्तर पर होता है। शाब्दिक रूप में हम महत् की तीन अवस्थाएँ मान लें - छायावाद में उसका रूप लघु की महानता का है, तीसरे दशक में लघु की महिमा का है और उसके बाद की कविता में लघु के 'महत्व' का है। यों महत्व की जगह पर प्राय: 'सार्थकता' शब्द का उपयोग होता है।

यहाँ भी हमें गहरे कहीं धीरे-धीरे पकता हुआ मानस दिखता है और ऊपर से तात्त्विक विपर्यय। इस दृष्टि से नयी कविता निश्चय ही उसी परम्परा से उद्भूत होती है जिसने तीसरे दशक तक की कविता का निर्माण किया। वस्तुत: नयी कविता के अलग-अलग कवि एक तरफ़ छायावाद के दार्शनिक पथ से आये, दूसरी ओर बच्चन आदि के भावनात्मक मार्ग से। इसीलिए वे सब एक-जैसे नहीं हैं। किन्तु अन्त: सत्य और बाह्य सत्य अलग-अलग हैं, इस विडम्बना की खुली स्वीकृति ही उन सबका आरम्भ-स्थल है। और यह भी कि सिर्फ दार्शनिक समस्या नहीं है, मूलत: अनुभूति की समस्या है। अज्ञेय ने इसको सूत्रबद्ध किया और पुरानी परम्परा से जोड़ा।

अज्ञेय का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने 'समरसता का दर्शन' के बजाय 'निर्वैयक्तिक अनुभूति' का प्रश्न पूछकर एक बार फिर दर्शन को अनुभूति में घुला देने की राह निकाली, विवेक और हृदय, संकल्प और विवशता को एक नये 'योग' से बाँधा। इसीलिए, अज्ञेय हिन्दी काव्य की धारा को मोड़ते हुए-से प्रतीत होते हैं। केवल पारिभाषिक सूत्र में कहना चाहें तो इस नयी परिभाषा को यों रख सकते हैं : "जो मैं हूँ, वह नहीं हूँ, किन्तु जो मैं हूँ, वही मैं हो जाऊँ।" यूरोप के अस्तित्ववादियों से या इलियट से या व्यक्तित्ववादियों से इस परिभाषा का दार्शनिक साम्य दिख सकता है और इसीलिए कभी-कभी यूरोप के इन चिन्तकों या कृतिकारों का उल्लेख भी आता रहता है, किन्तु दिखलाया जा सकता है कि जब कि आज की यूरोपीय चेतना इस कल्पना तक 'त्रास' के माध्यम से पहुँचती है, हिन्दुस्तान (कम से कम हिन्दी की नयी कविता) की चेतना मूलत: गहरे दबी हुई प्रभासिक्त 'पावनता' के माध्यम से। यह महत्वपूर्ण अन्तर है। दो ऐतिहासिक परिस्थितियों, दो संस्कृतियों का अन्तर है। वस्तुत: आज विश्व-मानस के सामने गहरा प्रश्न यही है कि कैसे त्रासजनित विवेक को पावनताजनित विवेक में बदल दिया जाय। शायद अभी इसमें बहुत समय लगेगा। लेकिन हम तो भविष्य को, अपनी हजारों वर्षों की संस्कृति और ऐतिहासिक अनुभव से विवश होकर घोर अन्धकार के क्षणों में भी कालिदास की ही आँखें से देखने को बाध्य हैं जहाँ वे 'रघुवंश' को गहरे पराभव की सीमा तक ले जाकर अपने महाकाव्य का अन्त करते हैं जिसमें कोई आशा नहीं हैं, किन्तु त्रास भी नहीं है। सिर्फ है एक तटस्थ, निर्विकार और पावन सम्भावना—जहाँ गरम-गरम आँसुओं से अभितप्त गर्भ शीतल हो जाता है और सावन में बोये मुट्ठी भर बीज को छिपाए हुए पृथ्वी की तरह गनी पुत्रोत्पत्ति की बाट देखती है।

मनुष्य की सम्भावनाएँ असीम हैं ; किन्तु सार्त्र के अर्थ में या कालिदास के अर्थ में? आज का हिन्दुस्तान कालिदास का हिन्दुस्तान नहीं है। किन्तु हमारे भीतर जिन्दगी की जो 'कालिदासीय लय' है, उसे छोड़कर हम कहाँ जायेंगे? हमारे चाहने पर भी वह हमसे छूटेगी कैसे?

दर्शन और अनुभूति को घुलाने के लिए अज्ञेय वहीं से आरम्भ करते हैं जहाँ प्रसाद ने छोड़ा था। प्रसाद और अज्ञेय की समानता सहसा अचरज में डालती है। वही शालीनता, वही शब्दों की चौकसी, वही आभिजात्य और वही कुछ खुला हुआ और कुछ ढ़ंका हुआ व्यक्तित्व। बेशक दोनों के बीच दो युगों का अन्तर है। प्रेमचन्द ने एक बार प्रसाद से अपनी जीवनी के बारे में कुछ लिखने को कहा था। जबाव में प्रसाद जी ने एक कविता भेज दी। अज्ञेय भी शेखर की भूमिका में उन तमाम जीवन-संबंधी घटनाओं को बताना व्यर्थ समझते हैं जिसमें साहित्यिक कृति का "विज़न" उद्भूत होता है।

लगता है, वे सारे प्रश्न, वे सारे अभिप्राय, वे सारे प्रतीक, जो कामायनी में निहित हैं, अज्ञेय के कृतिकार मानस में मँडराते रहते हैं—यद्यपि उनके अर्थ भिन्न हो जाते हैं। शायद ये प्रतीक या अभिप्राय तीसरे दशक की मनोभूमि में ही निहित हैं और प्रसाद, बच्चन और अज्ञेय को अलग-अलग ढग से प्रमथिम करते है।

अज्ञेय की काव्य-कृति "चिन्ता" का नामकरण 1941 में हुआ, यद्यपि उसकी कविताएँ 1932-36 में लिखी गईं जब वे जेल में थे। इस सन्दर्भ में 'कामायनी' के प्रथम सर्ग "चिन्ता" की याद आना स्वाभाविक है। दोनों ने एक मन:स्थिति का विश्लेषण दो छोरों से किया। दोनों ने ही आदिम प्रेमी और आदिम प्रिया का माध्यम चुना और दो विभिन्न परिणामों पर पहुँचे—क्योंकि उनका आरम्भ दो छोरों से होता है। 'शेखर' की जो प्रति मेरे पास है, उसके कवर पर पहाड़ की चोटी पर बैठे हुए, ठुड्डी पर हाथ रखे, दृढ़ मांसपेशियों वाले एक चिन्ताग्रस्त पुरूष की तसवीर है। उसके चारों ओर गहरा नीला रात के अन्तिम पहर का-सा आकाश है जिसमें सितारे तो नहीं, लेकिन चारों ओर चिनगारियों के बबूके टिमटिमा रहे हैं। और चित्र से लगता है कि यह व्यक्ति बैठा हुआ अपने हृदय में उमड़ते हुए एक अथाह प्रलय-प्रवाह को देख रहा है। और उसके सामने है एक विराट् स्तब्धता। इसी मनुष्य के निर्माण का विज़न अज्ञेय ने उस रात्रि में देखा था जो उनकी भूमिका के अनुसार फाँसी ओर गुमनाम शहादत की सम्भावना लेकर उनके सामने उपस्थित हुई थी जब वे वायसराय की गाड़ी उड़ाने के अभियोग में गिरफ्तार हुए थे।

आपको लगेगा कि यह प्रसाद के मनु और बच्चन के लहर-विमोहित मनुष्य का मिला-जुला रूप है ; जैसे बच्चन के मनुष्य को लाकर सहसा मनु के उत्तुंग शिखर पर बैठा दिया गया हो। जो स्तब्धता मनु के हृदय के भीतर है, वह बाहर व्याप्त हो गई है और जो प्रलय-प्रवाह बाहर था, वह हृदय में समा गया है। सिर के ऊपर से शिला की शीतल छाँह अन्तरिक्ष में विलीन हो गयी।

अज्ञेय की समानता दुनिया भर के तमाम कवियों से खोजने की कोशिश की गयी है और अक्सर उन्हें हिन्दी के लिए 'बाहरी' आदमी समझा गया है। हिन्दी साहित्य का स्रोत जो लोग हिन्दुस्तान के बाहर, खास तौर से अंग्रेजी में खोजने की कोशिश करते हैं, वे यदि छोटे मुँह बड़ी बात न लगे तो कहना चाहूँगा, इसी कारण करते हैं कि उनका ज्ञान अंग्रेजी साहित्य के बारे में बहुत थोड़ा है। दुनिया के किसी कवि से यदि अज्ञेय की निकटता दिखती है तो वह जयशंकर प्रसाद से। वे दोनों एक ही सिमिट्रि की दो विपरीत दिशाएँ हैं जिसके 'बेस' में तीसरे दशक की खण्डित चेतना वाली मनोभूमि है।

'नदी के द्वीप' उपन्यास में अज्ञेय एक सुनियोजित ढाँचे में फिर अपनी आरम्भिक चिन्ता का समाधान खोजते हैं। प्रयोग का माध्यम फिर स्त्री-पुरूष है और एक गहरे स्तर पर कामायनी का ही रेखाचित्र उपन्यास में व्याप्त हो जाता है। श्रद्धा जैसी गौरा, इड़ा जैसी रेखा और दोनों के बीच परिक्रमा करता हुआ मनु की तरह भुवन। गौरा से आरम्भ करके रेखा को स्पर्श करता हुआ भुवन फिर गौरा तक लौट आता है। दूसरी समानताओं के विस्तार में न जाकर केवल हम उस 'वर्जित स्पर्श' की समस्या की ओर देखें, जो न सिर्फ़ 'कामायनी' और 'नदी के द्वीप' के मूल में हैं, बल्कि एक तरह से तीसरे दशक की जड़-चेतन, जीव-ईश्वर, भौतिकवाद-अध्यात्म, मार्क्सवाद-गांधीवाद, भारतीय संस्कृति-पाश्चात्य संस्कृति, हिंसा-अहिंसा, प्रेम-क्रांति, हृदय-बुद्धि, प्रेयसि-प्रिय, अनवरतगति-गन्तव्य, अन्त:सत्य-बाह्य सत्य, विज्ञान-नैतिकता, मांसलवासना प्लैटोनिज़्म, यथार्थ-आदर्श, लघु-महत् आदि नाना प्रकार की द्वन्द्वात्मक शब्दावली या विचारावली के केन्द्र में है। एक रहस्यमय ढंग से "देवताओं" ने मनु-इड़ा के स्पर्श को "वर्जित" कर रखा है। जब कोई गम्भीर उद्वेलन किसी देश के पूरे मानस को प्रमथित करता है तो उसकी अभिव्यक्ति देश के छोटे से छोटे और विराट् से विराट् स्तर पर होती है। देवताओं द्वारा यह "वर्जित स्पर्श" तीसरे दशक को अनिवार्य दिखता है; कम से कम उन्माद की दशा में वह उस "वर्जित स्पर्श" की ओर खिंचा जा रहा है। उसकी घनघोर वर्जना उनके कानों को प्रताड़ित कर रही है और वह केवल आशा यही कर सकता है कि जो होगा, ठीक होगा, रूकने की शक्ति उसके पास नहीं है। आध्यात्मिक प्रतीकों में महादेवी वर्मा का काव्य उस रहस्यमय "वर्जित स्पर्श" की अत्यन्त आर्द्र और मधुर वेदना से अनुप्राणित है। छायावादियों समेत तीसरे दशक के सभी कवि उस "वर्जित स्पर्श" की वर्जना को स्वीकार करते हैं। प्रसाद के विपरीत, अज्ञेय के "वर्जित स्पर्श" में दो विशेषताएँ हैं। एक तो यह कि मनु-इड़ा के वर्जित स्पर्श के साक्षी हैं, असुर-पुरोहित आकुलि-किलात जो जड़ता से आरोपित चेतना के प्रतीक हैं और भुवन-रेखा के साक्षी हैं 'अन्तरिक्ष के देवतागण और अकिंचन वनस्पतियाँ', जो चेतना से आरोपित जड़-चेतना से आरोपित जड़-प्रकृति के प्रतीक हैं। अज्ञेय उस "वर्जित स्पर्श" को दो हिस्सों में बाँट देते हैं—

उसकी आधी अनुभूति फुलफिलमेंट, अखंड पूर्णता की है और दूसरी आधी में नवीन सृष्टि के उपजने की असमर्थता है। द्वन्द्वों का स्पर्श किस सीमा तक अभिप्राय, अर्थ अथवा देवताओं के आशीर्वाद से अभिसिंचित होता है और कहाँ से और क्यों फिर वह अभिशप्त और असमर्थ हो जाता है? संकल्प और विवशता सचेत उद्देश्य और प्राकृतिक गति, भौतिकता और अध्यात्म, जड़ और चेतन कहाँ मिलकर अर्थ दे पाते हैं? कौन उन्हें अर्थ देता हैं? कैसे? देवताओं का क्यों ऐसा अभिशाप है कि मनु और इड़ा की अपनी सन्तान नहीं होगी? क्या इड़ा के लिए केवल दत्तक पुत्र ही लिखा है? मनु का उत्तराधिकारी कौन और क्यों कर होगा?

उत्तराधिकार के प्रश्न पर हिन्दुस्तान का मानस 'महाभारत' और 'रामायण' काल से लेकर आज तक प्रमथित होता आया है। साहित्य में इसके बहुत उदाहरण हैं। 'धर्म' और 'स्वभाव' के बीच का यह द्वन्द भारतीय मानस के किन गहरे अभिप्रायों और संघर्षों की सूचना देता है, शायद इसका अनुसन्धान हमें अपने को समझने में मदद करे। प्रश्न की यह दिशा सम्प्रति हमारे वश के बाहर है।

हम देखते हैं, प्राकृतिक गति, मानवीय संकल्प, वर्जित स्पर्श और अनुभूति की अर्थवत्ता आदि के सन्दर्भ में अज्ञेय मनुष्य की एक ऐसी तसवीर प्रस्तुत करते हैं जो प्रसाद के पैटर्न के निकट होती हुई भी बहुत भिन्न है। अनुभूति और दर्शन के संबंध का अनुसंधान अज्ञेय का भी उद्देश्य है, लेकिन इसके लिए वे प्रसाद के रास्ते को बिल्कुल उलट देते हैं और एक नयी राह निकालते हैं। यह उलटना बच्चन से भिन्न ढंग का है। यदि हम हीगेलवादी शब्दावली का उपयोग करें तो यों कह सकते हैं कि छायावाद और बच्चन आदि के मानवीय रूपों की थीसिस, ऐन्टीथिसिस की सिन्थिसिस अज्ञेय की चेतना में प्रकट हो रही है। यों वैपरीत्य भी एक प्रकार का साधर्म्य है, श्रेष्ठ कल्पना हिन्दुस्तान में भी मिल जायगी।

प्रसाद और अज्ञेय का लगभग पूर्ण वैपरीत्य-साधर्म्य एक उद्धरण से और स्पष्ट हो जाएगा। 'कामायनी' की भूमिका में प्रसाद जी लिखते हैं :

"आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं। तब भी उसके तिथिक्रम मात्र से सन्तुष्ट न होकर, मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उसके मूल में क्या रहस्य है? आत्मा की अनुभूति! हाँ, उसी भाव के रूप-ग्रहण की चेष्टा या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती हैं किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरंतन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग के पुरूषों और पुरूषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है।"

अज्ञेय भी सत्य और तथ्य के बीच जो अन्तर है, उसी से आरम्भ करते हैं, यद्यपि दूसरे छोर से : 'आज हम घटना (तथ्य) का अर्थ सत्य कर लेते हैं।' दोनों को जोड़ने वाली कड़ी है अनुभूति। लेकिन यह 'भाव के रूप-ग्रहण की चेष्टा' नहीं है—रूप के भाव-ग्रहण की चेष्टा है; दूसरे शब्दों में 'तथ्य' का सहसा अर्थ से 'आलाकित' हो जाना है। जाते हुए का पहचाना हुआ तो जाना है। यह आलोकित सत्य 'नदी के द्वीप' की तरह चमक कर विलीन हो जाता है। चिरन्तन प्रतिष्ठित तो तथ्य ही रहता है, सत्य नहीं। प्रसाद जी की दृष्टि में तथ्य एक विलीन होता हुआ 'नदी का द्वीप' है, चिरन्तन प्रवाह तो सत्य का ही है। इसीलिए प्रसाद जी कामायनी में भावों का रूप देकर एलेगरी की सृष्टि करते हैं और अज्ञेय अपने काव्य में रूपों का—अथवा तथ्यों को—प्रथम मानकर केवल उन्हें उन क्षणों में ग्रहण करने की कोशिश करते हैं जब वे अपने आन्तरिक तनाव के कारण आलोकित हो जाते हैं।

वस्तुत: सत्य, जिसे हम 'अनुभूत सत्य' कहकर अर्थ देते हैं, किसी चिरन्तन प्रवाह-कोष से 'अवतार' लेता है, या चिरन्तन जड़ प्रकृति से ही ऊपर की ओर फूटता है, इस दार्शनिक बहस में पड़े बगैर हम इतना ध्यान में रख लें कि 'अनुभूति' शब्द समान होने पर भी उसका अर्थ भिन्न हो गया और उसी के साथ कविता का मूल धर्म क्या है, इसकी परिभाषा भी। दोनों के अन्तर को इलियट की उक्ति values as held और value as felt के अन्तर से स्पष्ट कर सकते हैं। प्रसाद जी का सत्य एक दार्शनिक सत्य है जो 'मान्य' अथवा 'आस्था सम्मत' मूल्यों की तरह हमारे मानस में सूक्ष्म रूप से वर्तमान रहता है। अज्ञेय का सत्य 'साक्षात्कार' का एक क्षण है, एक द्वीप है जिसे हम अपने भीतर के जड़ और चेतन के संकल्पित संयोग से अनुभूत करते हैं। इस प्रकार 'कामायनी' में जो अनुभूति दर्शन में परिवर्तित हो जाती है, उसे अज्ञेय फिर दर्शन से अनुभूति में परिवर्तित करते हैं। कविता-संबंधी हमारी धारणाओं में इससे गहन परिवर्तन हो जाता है, विशेषत: अनुभूति की सार्वजनीनता को लेकर। यह सार्वजनीनता अपनी 'अनुभूति' के प्रति कृतिकार की तटस्थता अथवा 'निर्वैयक्तिकता' से उत्पन्न होती है—इसलिए नहीं कि हमारे बीच के 'मान्य सत्य' या 'आस्थाएँ' चिरन्तन एवं समान हैं, बल्कि इसलिए कि जिस चिरन्तन 'तथ्य' के दबाव में हम रह रहे हैं, वह तथ्य समान है। कवि और पाठक के बीच की जोड़ने वाली कड़ी 'आस्था' नहीं, 'यथार्थ' है।

अज्ञेय प्रसाद को कवि नहीं मानते, या केवल विश्वविद्यालयों का कवि मानते हैं। मुझे इस पर सदा आश्चर्य हुआ है, यद्यपि इसका कारण मैं समझ सकता हूँ। शायद उनकी निगाह वैपरीत्य पर अधिक पड़ती है, साधर्म्य पर कम। उससे अधिक आश्चर्य प्रसाद के कुछ कठिन प्रशंसकों पर हुआ है जो प्रसाद की परम्परा की अभिलाषा तो रखते हैं, लेकिन उस परम्परा को तीसरे दशक की मनोभूमि में फलित होता हुआ देखते हैं। बेशक परम्परा का अर्थ हम केवल पुनरावृत्ति लें, तो बात दूसरी है। लेकिन यदि परम्परा

हमेशा परिवर्तन और वैपरीत्य की दिशाओं में फूटती हुई चलती है, तो अज्ञेय, आगे के इतिहासकार को, प्रसाद की 'परम्परा' में ही दिखलाई पड़ेंगे। केवल पुनरावृत्ति पर आधारित 'कृष्ण-काव्य की परम्परा', 'रहस्यवाद की परम्परा', 'रीति-काव्य की परम्परा' आदि संकुचित और भ्रामक प्रयोगों से 'परम्परा' का कुछ ऐसा रूढ़िगत अर्थ हमारे मन में बैठ गया है कि विकासमान या द्वन्द्वात्मक अर्थ में हम परम्परा की कल्पना ही नहीं कर पाते।

(छठवाँ दशक से)

15. साहित्य का प्रयोजनः आत्मानुभूति

— आ. नंददुलारे वाजपेयी

साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति है, यहाँ 'प्रयोजन' और 'आत्मानुभूति' शब्दों पर पहले विचार कर लेना आवश्यक है। 'प्रयोजन' शब्द कभी निमित्त के अर्थ में आता है, और कभी उद्देश्य के अर्थ में व्यहृत होता है। इससे कभी हेतु या कारण का अर्थ लिया जाता है, और कभी फल या कार्य का। विशेषकर हिन्दी में इसके प्रयोगों में बड़ी विभिन्नता है। यहाँ हम इसका प्रयोग हेतु या प्रेरक के अर्थ में ही कर रहे हैं। आत्मानुभूति साहित्य का प्रयोजन है, इसका अर्थ हम यह लेते हैं कि आत्मानुभूति की प्रेरणा से ही साहित्य की सृष्टि होती है।

'आत्मानुभूति' शब्द भी निश्चयार्थक नहीं है। इसके प्रयोग में भी बड़ा मतभेद है। यह दर्शन-शास्त्र का शब्द है; परन्तु कुछ दार्शनिक तो इस शब्द को ही स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि आत्मा के साथ अनुभूति का संबंध ही नहीं है, अतः ये दोनों शब्द एक साथ नहीं रह सकते। आत्मा निरपेक्ष तत्व है और अनुभूति सापेक्ष गुण है। निरपेक्ष तत्त्व का सापेक्ष वस्तु से कोई योग नहीं हो सकता। अखंड, अंज, अव्यय, नित्य, अविकारी, आत्मा से सीमित, व्यक्तिगत अथवा समूहगत अनुभूति का संबंध नहीं है। 'न जायते म्रियतें वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता व न भूयः'। त्रिकाल में भी न उत्पन्न होने वाली और न मरने वाली आत्मा से देश-काल परिच्छिन्न अनुभूतियों क्या संगति?

जहाँ एक ओर यह धारणा या मत है, वहीं दूसरी ओर आत्मा और अनुभूति का परस्पर संबंध मानने वाले दार्शनिक और विचारक भी हैं। यदि पहला तत्त्वज्ञान उपनिषद् और गीता का है, तो दूसरे मत की प्रतिष्ठा भी उपनिषद् और गीता से ही की जाती है। भारतीय तत्त्व-चिंतन में पुरुष और प्रकृति के साथ-साथ आत्मा और अनुभूति का सापेक्ष संबंध फिर स्थिर करने वाले अनेक आचार्य हैं। विशेषकर द्वैतवादी दर्शनों में इन प्रकार को विचार-भूमिकाएँ मिलती है। शक्ति-सिद्धान्त को मानने वाले संप्रदाय जो अपने मत-चिंतन को शक्ति-अद्वैत के नाम से घोषित करते हैं, आत्मा को शक्ति-रूप ही स्वीकार करते हैं। उनके विचार में शक्ति ही आत्मा है; अनुभूति-शक्ति है, अतः अनुभूति ही आत्मा है।

इस प्रकार आत्मा और अनुभूति के संबंध की अनेकरूपता का आभास हमें भारत की विभिन्न चिन्ता-धाराओं से प्राप्त होता है। हम यहाँ किसी एक मत को स्वीकार करने या दूसरे मत का तिरस्कार करने की दृष्टि से इस दार्शनिक चर्चा में नहीं पड़े हैं। हमारा प्रयोजन केवल आत्मानुभूति शब्द और उसके अर्थ पर दृष्टिपात करना है, और हम देखते हैं कि इस शब्द को लेकर दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। मतैक्य तो दूर, आत्मा और अनुभूति के पारस्परिक संबंध को लेकर सभी संभव दृष्टियों के स्थापन की चेष्टाएँ की गयी हैं, जिनमें साम्य या समन्वय ढूँढने का प्रयास हम यहाँ नहीं कर सकेंगे। एक ओर निरपेक्ष और स्वाधीन आत्म-तत्त्व के साथ त्रिकाल में भी अनुभूति का कोई संबंध न मानने वाले अद्वैत दार्शनिक हैं, दूसरी ओर अनुभूति के बिना आत्मा की सत्ता ही न स्वीकार करने वाले शक्ति-तंत्र के संस्थापक आचार्य हैं; और इन दोनों के मध्य आत्मा और अनुभूति का बहुरूपी संबंध स्थिर करने वाले सापेक्षवादी द्वैत चिन्तक हैं। हम इस अन्तहीन विचार-व्यूह में प्रवेश करने में अभिमन्यु की भाँति शंकित हैं, अतएव हम इससे विरत रहकर ही सन्तोष करेंगे।

सच तो यह है कि हमें इस दार्शनिक ऊहापोह में जाने की आवश्यकता ही नहीं है। हमारा प्रस्तुत विषय इसकी अपेक्षा नहीं करता। आत्मानुभूति के स्थान पर हमारा काम केवल अनुभूति से चल सकता है; अतः हम आत्मानुभूति के शब्द प्रपंच में न पड़कर 'अनुभूति' से ही काम निकालेंगे।

काव्य की प्रेरणा अनुभूति से मिलती है, यह स्वतः एक अनुभूत तथ्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस का निर्माण करते समय लिखा था - 'स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषानिबन्ध मतिमंजुल मातनोति'। यहाँ 'स्वांत सुखाय' से उनका तात्पर्य आत्मानुभूति या अनुभूति से ही है। रस-सिद्धान्त का निरूपण करने वाले शास्त्रज्ञों ने काव्य का उपादान विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि को बताया है। साहित्य-मात्र के मूल में अनुभूति या भावना कार्य करती है, यह रस-सिद्धान्त की प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है।

हम एक नाटक का अभिनय देखते हैं, जिसमें अनेक पात्र भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में उपस्थित होकर परस्पर वार्तालाप करते हैं और अनेक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराते हुए नाटकीय व्यापार को आगे बढ़ाते हैं। इसमें हमें नाटककार की अनुभूति प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती; परन्तु यह स्पष्ट है कि प्रत्येक पात्र की अनुभूति के रूप में रचयिता की अनुभूति काम करती रहती है। हम कोई उपन्यास पढ़ते है,' जिसमें विविध व्यक्तियों की दैनिक घटनावली का चित्रण रहता है। पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि हम जीवन के वास्तविक रूप को ही देख रहे हैं और उन घटनाओं का परिचय पा रहे हैं, जो वास्तव में घटित हुई हैं। हम इस ऊपरी

जीवन-व्यापार में रचयिता की सत्ता को भूल जाते हैं; पर क्या उसकी अनुभूति के बिना वह रचना किसी प्रकार संभव है? क्या स्रष्टा की अनुभूति से रहित काव्य-सृष्टि की कल्पना भी की जा सकती है?

काव्य में अनुभूति की इस व्यापकता का निर्देश करने में भारतीय साहित्य-शास्त्र का ध्वनि-सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। वह प्रमुख रूप से इसी तत्त्व पर प्रकाश डालता है कि काव्य और साहित्य की बाहरी रूपरेखा में मर्म में आत्मानुभूति या विभावन व्यापार ही काम करता है। काव्य की सम्पूर्ण विविधता के भीतर एकात्म्य स्थापित करने वाली यही शक्ति है। सम्पूर्ण काव्य किसी रस को अभिव्यक्त करता है, और वह रस किसी स्थायी भाव का आश्रित होता है और वह स्थायी भाव रचयिता की अनुभूति से उद्‌गम प्राप्त करता है।

यहाँ कुछ ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनकी ओर हमें आवश्यक रूप से ध्यान देना पड़ता है। काव्य-साहित्य में अनुभूति की व्यापकता को स्वीकार करते हुए भी क्या हम उसे सम-रस या रस-रूप कह सकते हैं? क्या समस्त कवियों और रचनाकारों की अनुभूति एक रूप या समान होती है? यदि नहीं, तो क्या अनुभूति में स्वरूपगत भेद होते हैं? इसके साथ ही दूसरा प्रश्न यह है कि साधारण अनुभूति और काव्यानुभूति एक ही हैं या उनमें भी अन्तर है? अन्तर है, तो किस प्रकार का? साधारणत: हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ-न-कुछ अनुभति होती है; परन्तु प्रत्येक व्यक्ति में काव्य-शक्ति नहीं होती। उसमें अपने अनुभूतियों के प्रकाशन की क्षमता नहीं होती। तो क्या ये दोनों वस्तुएँ - अनुभूति और काव्यानुभूति - स्वरूपत: भिन्न हैं।

यहाँ सुविधा के लिए हम दूसरे प्रश्न को पहले लेंगे। यह संभव है कि प्रत्येक व्यक्ति कवि नहीं होता, उसमें अपनी अनुभूतियों के प्रकाशन की योग्यता नहीं; पर इतने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि साधारण अनुभूति और काव्यगत अनुभूति दो भिन्न वस्तुएँ है। इस संबंध में वर्तमान युग के प्रसिद्ध कला-शास्त्री बेनिडीटो क्रोचे का मत ध्यान देने योग्य है। क्रोचे का कथन है कि अनुभूति वही है, जो काव्य या कलाओं के रूप में अभिव्यक्ति होती है। जिस अनुभूति में यह अभिव्यक्ति-क्षमता नहीं है, वह वास्तव में अनुभूति न होकर कोरी इन्द्रियता या मानसिक जमुहाई मात्र है। वह अनुभूति जो आत्मिक व्यापार का परिणाम है, सौन्दर्य-रूप में अभिव्यक्त हुए बिना रह ही नहीं सकती। उसे काव्य स्वरूप ग्रहण करना ही पड़ेगा। क्रोचे के मत में अनुभूति अभिव्यक्ति ही है और अभिव्यक्ति ही काव्य है। यह तीनों अन्वयर्थ या समानार्थी शब्द हैं, इनमें परस्पर पूर्ण तादात्म्य है।

यदि क्रोचे के इस निर्देश को हम स्वीकार कर लें, तो पहले प्रश्न का उत्तर भी हमें आप-ही आप मिल जाता है। वह प्रश्न अनुभूति की समरूपता या समरसता का है। क्रोचे के निरूपण के अनुसार अनुभूति का समरस या समरूप होना अनिवार्य है। एक ही अखंड अनुभूति समस्त कवियों और रचनाकारों में होती है। काव्य मात्र में उसकी अखंडता स्वयंसिद्ध है। समस्त कवि एक हैं, उनमें परस्पर भेद नहीं। अनुभूतिशील मानवता ही सर्वत्र और सब काल में एक है। काव्य और कला की अजस्र धारा देश और काल का भेद नहीं जानती। भेद वास्तविक नहीं है, उसका यथार्थ हमें समझना होगा।

काव्यगत अनुभूति के संबंध में यह क्रोचे की स्थापना है। भारतीय विचार भी इससे भिन्न नहीं है। अभी मैंने विभाव, अनुभाव आदि रस के प्रमुख उपादानों में भावना या अनुभूति की व्याप्ति का उल्लेख किया है। काव्य के आस्वाद के निमित्त 'सहृदय' की योग्यता बता कर और शब्दों पर उलझने वाले न्यायशास्त्रियों तथा वैयाकरणों को काष्ठ-कुड्य की उपमा देकर हमारे विनोदप्रिय पूर्वजों ने काव्य अनुभूति की विशेषता सिद्ध की थी। उन्होंने काव्य के विविध प्रकारों, शैलियों और पद्धतियों के बीच कोई ऐसी विभेदक रेखा नहीं खींची है; जिससे उसके सर्व सामान्य स्वरूप पर किसी प्रकार का व्याघात या विक्षेप आये। समस्त काव्य-शैलियों और काव्य-स्वरूपों में अनुभूति की अखंड एकरूपता का अनवरत प्रवाह दिखाकर भारतीयों ने काव्य की सार्वजनीनता और सार्वभौमिकता सिद्ध की थी।

आत्माभिव्यंजक रचना से कभी-कभी उन कृतियों का अर्थ लिया जाता है, जिनमें रचनाकार की व्यक्तिगत अनुभूति अधिक प्रत्यक्ष होकर आती है; परन्तु इसी कारण दूसरी रचनाओं को अनुभूति-रहित नहीं कहा जा सकता। कुछ समीक्षकों ने 'सब्जेक्टिव' (व्यक्तिगत) और 'आब्जेक्टिव' (वस्तुगत) काव्य के दो भेद कर आत्मानुभूति की प्रधानता 'सब्जेक्टिव' काव्य में मानी है, परन्तु इस भेद को हम वास्तविक नहीं कह सकते। यह तो केवल प्रकार-भेद है। 'व्यक्तिगत अनुभूति' से प्रेरित रचनाएँ कभी-कभी तो वास्तविक अनुभूति के स्तर पर पहुँचतीं ही नहीं, अतएव उन्हें तो काव्य की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती। वास्तव में अनुभूति के व्यक्तिगत और वस्तुगत भेद किये ही नहीं जा सकते, उसकी तो अखंड सत्ता है। आत्मानुभूति तो काव्यमात्र की विशेषता है। किसी एक प्रकार की रचना को आत्माभिव्यंजक कह कर दूसरी, काव्य-रचनाओं को आत्माभिव्यंजना से रहित मानना कोरी भ्रान्ति है।

इसी प्रकार हम कभी रस-विशेष की रचना को दूसरे रसों की रचना से श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं और कभी महाकाव्य, खण्ड-काव्य, प्रगीत आदि काव्य-भेदों की निरपेक्ष रूप में तुलना करने लगते हैं। उदाहरण के लिए, प्राय: शृंगार-रस को रसराज घोषित किया जाता है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई भी शृंगारिक रचना, किसी भी अन्य रस की रचना से स्वत: श्रेष्ठ है। सभी रसों में एक ही अनुभूति-धारा प्रवाहित रहा करती है, अतएव यह भेद कृत्रिम है। महाकाव्य इसलिए महाकाव्य नहीं है कि उसमें

'काव्य' की सत्ता किसी लघुगीत या प्रगीत की काव्यसत्ता से प्रकृत्या भिन्न है, दोनों काव्यत्व की भूमि पर समान हैं। आकार-प्रकार और परिमाण आदि के अन्तर भले ही हों।

किसी प्रचंड बुद्धिवादी समस्या-नाटक में और किसी अतिरिक्त गीत नाटय में, सहस्रों पृष्ठों से समाहित उपन्यास में और चार या दस पंक्तियों के गद्य गीत में भी अनुभूति की समानता रहती है। इसी समता के बल पर वह समस्या-नाटक भी काव्य है, वह विशाल उपन्यास भी और वह अति-लघु गद्य-गीत भी। यदि अनुभूति की सत्ता में अन्तर होता, तो इसमें से किसी एक, दो या सब को काव्य की पदवी ही न मिलती। यदि वे सभी काव्य साहित्य के अंग हैं, तो इनमें अनुभूति की अजस्र एकरूपता है ही।

एक ओर सूर, तुलसी और मीरा आदि कवियों में और दूसरी ओर देव, बिहारी और मतिराम आदि रचनाकारों में क्या अन्तर है? क्या यह कि वे भक्त और सन्त थे और उनकी रचनाओं से भक्ति और ईश्वर प्राप्ति की शिक्षा मिली और ये संसारी और दरबारी व्यक्ति थे और इनकी कृतियों से लोक-कल्याण न हो सका? परन्तु भक्ति और ईश्वर-प्राप्ति के संदेशवाहक सभी तो कवि नहीं हुए और न सभी संसारी और दरबारी व्यक्तियों ने कलम हाथ में ली। ऐसी अवस्था में तुलना की भूमि भक्ति, ईश्वर-प्राप्ति या लोक-कल्याण नहीं हो सकती। तुलना का आधार होगा, कवित्व या काव्यत्व जिससे ऊपर गिनायी वस्तुओं को कोई संबंध नहीं और जिसका एकमात्र मानदंड है अनुभूति। सम्भव है हम यह कहें कि देव-बिहारी आदि में अनुभूति थी ही नहीं, वे, कवि ही नहीं थे। यह कहने का हमें अधिकार है; पर इस कारण हम यह कहने के अधिकारी नहीं हो जाते कि सूर और तुलसी पहुँचे हुए भक्त थे, अतएव वे श्रेष्ठ कवि भी थे। इस प्रकार का तर्क करने वाले व्यक्ति ही भक्ति को स्वतंत्र काव्य-रस सिद्ध करना चाहते हैं; पर उनकी यह उपपत्ति सच्चे काव्य-प्रेमियों को मान्य नहीं हो सकती।

अनुभूति को काव्य का प्रयोजन मानने वालों के सम्मुख यह प्रश्न भी आता है कि अनुभूति के प्रकाशन का माध्यम क्या हो। कभी कागज और कूची की सहायता से, कभी स्वर-ताल-लय के योग से, कभी पत्थर को काट-छाँट कर और कभी शब्दों की अर्थ व्यंजक शक्ति का आश्रय लेकर अनुभूति प्रकाशित होती है। इन विभिन्न माध्यमों का उपयोग भिन्न-भिन्न कलाकार अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार करते हैं। इन माध्यमों में कौन-अधिक उपयुक्त और कौन कम उपयुक्त होगा, यह तो रचयिता की योग्यता पर अवलम्बित है। इस संबंध में नियम-निर्देश करना सम्भव नहीं; परन्तु एक ही माध्यम द्वारा प्रकाशित होने वाली अनुभूति के संबंध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रत्येक अनुभूति एक ही उत्कृष्ट अभिव्यक्ति पा सकती है। हम एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द्र अथवा एक छंद के स्थान पर दूसरा छंद रखकर 'आदर्श' अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। आदर्श अभिव्यक्ति सदैव एक ही होगी।

यदि प्राचीन वन्य कलाकार के सम्मुख आज के समृद्ध साधन नहीं थे, तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी अनुभूति अपनी 'आदर्श' अभिव्यंजना नहीं प्राप्त कर सकी। वन्य कलाकार की वही आदर्श अभिव्यंजना है, जो उसने अपने मोटे साधनों से की है। महात्मा कबीर के पास शुद्ध परिष्कृत शब्द-रोशि नहीं थी; किन्तु उन्होंने जिस किसी प्रकार से अपने भाव व्यक्त किये, वही उनका आदर्श प्रकार है। अनुभूति और अभिव्यक्त में ऊपरी सापेक्षता रहते हुए दोनों की अंतरंग अनन्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता।

वह काव्य भी काव्य ही है, जिसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति की पूर्ण एकरूपता न स्थापित हो पायी हो, जिसमें कवि अपनी अनुभूति के प्रकाशन का उपयुक्त और आदर्श माध्यम प्राप्त करने में असफल रहा हो। पर वह रचना काव्य नहीं है, जिसमें वास्तविक अनुभूति का ही अभाव हो। भारतीय समीक्षा के अनुसार ऐसी रचना ध्वन्यात्मक या रसात्मक काव्य के अन्तर्गत नहीं आती, उसे गुणीभूत व्यंग्य या चित्र-काव्य-मात्र कहते हैं। अनुभूति की अस्पष्टता अथवा उसका अभाव ही इन दोनों प्रकार की रचनाओं के मूल में रहा करता है।

अनुभूति का स्वरूप और समस्त काव्य-साहित्य में उसकी व्यापकता दिखाने का जो प्रयत्न ऊपर किया गया, उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्यानुभूति स्वत: एक अखंड आत्मिक व्यापार है, जिसे किसी भी दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक, या साहित्यिक खंड-व्यापार या वाद से जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। समस्त साहित्य में इस अनुभूति या आत्मिक व्यापार का प्रसार रहता है। काव्य के अनन्त भेद हो सकते हैं, उनके निर्माण में असंख्य सामाजिक या सांस्कृतिक परिस्थितियों का योग हो सकता है; परन्तु उसका काव्यत्व तो उसकी सर्वसंवेद्य अनुभूति-प्रवणता में ही रहेगा। किसी महामहिम उपदेशक की रचना भी काव्य-दृष्टि से नि:सार हो सकती है और किसी क्षुद्रतम जीव की चार पंक्तियाँ भी काव्य का अनुपम शृंगार हो सकती हैं। वर्ग-संघर्ष की भावना किसी युग में काव्य-प्रेरणा का कारण हो सकती है; परन्तु वह भावना काव्यानुभूति का स्थान नहीं ले सकती, जो काव्य-साहित्य की मूल आत्मा है। काव्य का प्रयोजन मनोरंजन अथवा सामाजिक वैषम्य से दूर भागना अथवा पलायन भी नहीं हो सकता, क्योंकि वैसी अवस्था में आत्मानुभूति के प्रकाशन का पूरा अवसर रचयिता को नहीं मिल सकेगा, उसकी रचना अधूरी और अपंग रहेगी। इसी प्रकार स्थूल इन्द्रियता पर आधारित अनुभूति भी श्रेष्ठ काव्यत्व में परिणत नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ आत्सानुभूति के प्रकाशन में विकारी कारण मौजूद रहेंगे। कवि के पूर्ण व्यक्तित्व का उत्सर्जन करने वाली आत्म-प्रेरणा ही

काव्यानुभूति बन कर उस कल्पना-व्यापार का संचालन करती है, जिससे काव्य बनता है। काव्य और कला की मुखर वर्णमयता में, समस्त वर्णभेद, वर्गभेद तिरोहित हो जाते हैं। मानव-कल्पना का यह अनुभूतिलोक नित्य और शाश्वत है। चिरंतन विकास की सरिता इसे चिरकाल से सींचती आ रही है और चिरकाल तक सींचती जाएगी।

(आधुनिक साहित्य से)

16. रस-सिद्धान्त : आक्षेप और समाधान

—डॉ. नगेन्द्र

रस-सिद्धान्त का विकास और प्रसार निर्विघ्न नहीं रहा। प्राय: आरम्भ से ही समय-समय पर उसके विरुद्ध अनेक प्रकार के आक्षेप होते रहे हैं। उन आक्षेपों का सार संग्रह इस प्रकार है :

(1) रस को जागतिक अनुभूतियों से सर्वथा विलक्षण-अलौकिक तथा ब्रह्मास्वादसहोदर माना गया है। मध्ययुग में इस प्रकार की कल्पना सम्भव थी, परन्तु आज के मनोवैज्ञानिक युग में यह कैसे ग्राह्य हो सकती है? मनोविज्ञान के द्वारा प्रत्येक अनुभूति का निर्वचन सम्भव है - फिर रस ही अनिर्वचनीय कैसे हो सकता है?

(2) रस-सिद्धान्त का पूरा बल भाव पर ही रहता है; परिणामत: काव्य के अन्य रूपों के साथ न्याय नहीं हो पाता जो पाठक की कल्पना को चमत्कृत या उसके विचारों को उद्दीप्त कर अथवा शब्द-अर्थ में कलात्मक चमत्कार उत्पन्न कर अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं। प्राचीन युग में अलंकार, रीति, ध्वनि, तथा वकोक्ति आदि सिद्धान्त इसी तर्क के आधार पर उठ खड़े हुए थे और वर्तमान युग में अनेक आलोचकों ने भी नवीन शब्दावली में इसी आक्षेप की आवृत्ति की है। उनका तर्क यह है कि काव्य के अनेक प्रयोजन हैं - भाव के उद्‌बोध की अपेक्षा पाठक के मन में सुन्दर बिम्ब की उद्‌बुद्धि या नवीन शब्दार्थ-बोध आदि भी अपने आप में कम महत्वपूर्ण नहीं है। आज के बुद्धिप्रधान जीवन में हमारी अनुभूतियाँ शुद्ध रागात्मक नहीं रह गयी हैं, उनमें विचार-सूत्र अनिवार्यत: गुंथे रहते है। अत: काव्य में भी आज बौद्धिक अनुभूतियों का ही प्राधान्य हो गया है। रस-सिद्धान्त में सौन्दर्य के इन नवीन रूपों के उचित मूल्यांकन की व्यवस्था नहीं है।

(3) रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत भावों की बँधी हुई संख्या है जो काव्यवस्तु की परिधि को सीमित कर देती है। मानव-मन तो अथाह सागर के समान है जहाँ असंख्य लहरें निरन्तर उठती-गिरती रहती हैं। उन्हें नौ या ग्यारह स्थायी भावों और तैंतीस संचारियों मे सीमित कर देना सर्वथा असंगत है। युग-युग के काव्य में व्यक्त मानव-चेतना की असंख्य तरल-चटुल, गुरु-गंभीर तथा परस्पर संकीर्ण वृत्तियाँ न रस की पारिभाषिक शब्दावली में बँध सकती हैं और न उनके साथ न्याय हो सकता है। विश्व के काव्य का - स्वयं भारतीय भाषाओं के आधुनिक काव्य का, जो रस-सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में नहीं लिखा गया, पर्याप्त अंग ऐसा है जिसमें रस-निर्णय करना संभव ही नहीं हो सकता। कौन कह सकता है कि हेमलेट या गोदान का, कुरुक्षेत्र या वेस्टलैंड का अंगी रस क्या है? इसका कारण यह है कि आदिम वासनाओं पर ही आधृत होने के कारण रस-सिद्धान्त अपर्याप्त है। अवचेतन मन के रहस्य-लोक का उद्‌घाटन हो जाने पर तो उसकी अपर्याप्तता और भी बढ़ गयी है। निरन्तर विकसनशील मानव-चेतना और उसकी बढ़ती हुई जटिलताओं के लिए इसमें कोई व्यवस्था नहीं है।

(4) रस की सिद्धि के लिए एक परिपूर्ण काव्य-विधान की अपेक्षा रहती है जो काव्य के प्रबन्ध-रूपों के अतिरिक्त अन्यत्र प्राय: कठिन ही होता है। भारतीय मुक्तक की कल्पना भी प्रबंध के लघुतम रूप में ही की गयी है, अत: वहाँ भी यह विधान बैठ जाता है। किन्तु ऐसे भी अनेक छन्द या सूक्तियाँ मिलती हैं जहाँ कोई अत्यन्त सूक्ष्म भाव-गन्ध या अत्यन्त तरल अनुभूति-चित्र ही कवित्व का सार-सर्वस्व होता है। वहाँ रस की सिद्धि कैसे मानी जा सकती है?

(5) रसों के विरोध और अविरोध की स्थिर धारणाओं के कारण रस के क्षेत्र का और भी अधिक परिसीमन हो गया है : मानव-चेतना और उसकी अभिव्यक्तियां अन्तर्विरोधों का पुंज है। जीवन का चित्र जितना अधिक प्रबल एवं परिपूर्ण होगा उसमें अन्तर्विरोध उतने ही अधिक होंगे - और, कवि तथा काव्य के विषय में भी यही सत्य है। भारतीय वाङ्मय में महाभारत और पाश्चात्य वाङ्मय में शेक्सपियर का नाट्य-साहित्य आपनी समग्रता में जीवन के अनन्त अन्तर्विरोधों का समेटे हुए है। वास्तव में वहाँ तो काव्य का गौरव ही इन प्रबल अन्तर्विरोधों के कारण उभरता है। रस-सिद्धान्त की कसौटी पर तो यह महत्व दोष बनकर रह जाएगा।

(6) रस-सिद्धान्त की एक बड़ी सीमा यह है कि वह रस को केवल सहृदय-निष्ठ मानकर चलता है जिसके कारण कविगत रस और काव्यगत रस की सर्वथा उपेक्षा हो जाती है। परिणामत: जहाँ किसी प्रकार के पूर्वग्रह आदि के कारण सहृदय की ग्रहण-शक्ति बाधित हो जाती है वहाँ सरस काव्य का भी उचित मूल्यांकन नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त यह भी सदा आवश्यक नहीं होता कि काव्य या नाट्यगत स्थायी भाव और सहृदय के स्थायी भाव में सर्वत्र तादात्म्य ही हो कभी-कभी दोनों में केवल असंगति ही नहीं, विरोध तक उत्पन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए, एक ऐसा दृश्य लीजिए जहाँ नायक-नायिका किसी निविड़ जंगल में नर-मांस-भक्षण का दृश्य देखते हों। इस परिस्थिति में नायक के हृदय में (यदि वह वीर पुरुष है) क्रोध, नायिका के हृदय में भय और प्रेक्षक या पाठक के चित्त में जुगुप्सा का ही उदय होगा।[1]

1. देखिए, श्री मढेंकर का मत : आधुनिक हिन्दी तथा मराठी में काव्य शास्त्रीय अध्ययन, पृ. 284

इस प्रकार काव्य में वर्णित स्थायी भाव के साथ सहृदय के स्थायी भाव का तादात्म्य न होने से रस का परिपाक कैसे होगा? रस-सिद्धान्त की यह एक अत्यन्त स्पष्ट विसंगति है।

(7) रस की अभिव्यक्ति मानना संगत नहीं है। - रस का अर्थ यदि काव्यास्वाद है तो उसकी प्राय: निर्मिति ही होती है। रस या काव्यास्वाद किसी एक भाव की शुद्ध एवं अमिश्र अनुभूति न होकर अनुभूतियों का एक विधान होता है, जिसका उद्‌बोध न होकर निर्माण ही संभव है। अत: रस-सिद्धान्त, जिसके अनुसार वासना रूप से स्थित किसी एक स्थायी भाव के अभिव्यक्त रूप का ही नाम रस है, काव्यास्वाद के सच्चे रूवरूप का निरूपण नहीं करता।

(8) आत्मवाद की दृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठित होने के कारण रस-सिद्धान्त स्थायी मूल्यों का ही आधार लेकर चलता है। किन्तु, वर्तमान जीवन में तो स्थायित्व की भावना का ही पूर्णत: विघटन हो गया। आज तो परिवर्तन ही सत्य है जिसमें केवल क्षण की ही सत्ता स्वीकार्य हो सकती है। अत: आज की कविता केवल अनुभूयमान क्षण की ही अभिव्यक्ति कर सकती है। इसके विपरीत रस की सिद्धि के लिए स्थायी भाव का संस्कार अनिवार्य होता है - भाव की सद्य:-अनुभूति अथवा अनुभूयमान रूप के निरूपण का आस्वाद रस नहीं हो सकता। इसलिए समसामयिक कविता के सही मूल्यांकन के लिए रस-सिद्धान्त उपयुक्त नहीं है।

(9) रस-सिद्धान्त में आनन्द पर, विशेषकर आनन्द की सिद्धावस्था पर, अनावश्यक बल दिया जाता है। काव्य के अन्य भव्यतर प्रयोजन, जैसे चारित्र्य का निर्माण, सत्कर्म में प्रवृत्ति, चेतना का उत्कर्ष आदि उपेक्षित हो जाते हैं और रंजन पक्ष प्रमुख बन जाता है। बलाबल के इस प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष विपर्यय से काव्य और जीवन दोनों की क्षति हो सकती है और हुई हैं।

रस-सिद्धान्त के विरुद्ध प्राय: ये अथवा इसी प्रकार के आक्षेप किये गये हैं और किये जा रहे हैं। सत्यासत्य का सम्यक् रूप से निर्णय करने के लिए इन पर विचार करना उपादेय होगा।

पहला आक्षेप रस की ब्रह्मानन्दसहोदरता को लेकर किया जाता है - यह सबसे सरल और बहुचर्चित आक्षेप है जिसका प्रयोग रस की मान्यता के विरुद्ध कोई भी किसी समय कर सकता है। ब्रह्मानन्दसहोदर विशेषण केवल इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि रसानुभूति सामान्य ऐन्द्रिय अनुभूति नहीं है, वह भावों के साधारण सुख-दु:खात्मक अनुभव से भिन्न है, रागद्वेष से मुक्त होने के कारण उसका स्वरूप सामान्य विषयानुभूति की अपेक्षा अत्यन्त उदात्त और अवदात होता है। अद्वैतवादी आचार्यों ने केवल रस की ही नहीं आनन्द के प्रत्येक रूप की कल्पना ही आत्मानन्द के संदर्भ में की है, क्योंकि आनन्द अद्वैत दर्शन के अनुसार केवल आत्मा का ही 'स्व-रूप' है, मन तथा अन्य ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं। अपने अत्यन्त सूक्ष्म-परिष्कृत रूप के कारण काव्य का आनन्द विषयानन्द से दूर और आत्मानन्द के निकट है - ब्रह्मानन्दसहोदर का अर्थ केवल इतना ही है। यदि आपकी आत्मा में आस्था नहीं है तो आप चेतना शब्द का प्रयोग कर सकते हैं और रस को चेतना की समाहिति मान सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि 'ब्रह्मानन्दसहोदर' विशेषण एक विशिष्ट चिन्तन-प्रणाली का पारिभाषिक शब्द है - उसे केवल ऐतिहासिक सन्दर्भ में ग्रहण करना चाहिए और आज का प्रमाता यदि ब्रह्म अथवा आत्मा की धारणा को ग्रहण या स्वीकार नहीं कर सकता तो इस शब्द का आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में आख्यान कर लेना चाहिए। मैं स्वयं रस को आत्मानन्द के सन्दर्भ में ग्रहण नहीं करता; इसलिए नहीं कि आत्मा के अनस्तित्व के विषय में मैं सर्वथा आश्वस्त हो गया हूँ, वरन् इसलिए कि आत्मानन्द की धारणा उलझी और विवादग्रस्त है जबकि रस के विषय में मेरी या प्रत्येक सहृदय की अनुभूति सर्वथा असंदिग्ध है। अत: मैं रसशास्त्र में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली - सत्त्वोद्रेक, आत्मविश्रान्ति, ब्रह्मानन्दसहोदर आदि - का विवेक-सम्मत अर्थ ही ग्रहण करता हूँ- करना चाहता हूँ। जीवन के सूक्ष्म तत्त्वों की धारणाएँ देशकाल-परिबद्ध और व्यक्ति-सीमित न होकर विकासशील होती हैं, इसी रूप में वे सार्वभौम एवं शाश्वत हो सकती है। केवल रस-सिद्धान्त का ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र का यह दुर्भाग्य रहा है कि जिसने उसे पढ़ा और समझा है वह प्राचीन धारणाओं को एकदम रूढ़ मान बैठा है और जिसने कभी पढ़ने और समझने का प्रयत्न नहीं किया वह कुछ उड़ती हुई बातों को लेकर अनर्गल आलोचनाएँ कर रहा है।

दूसरे आक्षेप का उत्तर, ध्वनि और अलंकार के साथ अन्तरंग संबंध स्थापित कर, रस-सिद्धान्त आज से एक सहस्राब्द पूर्व दे चुका है। काव्य में ध्वनि की प्रतिष्ठा वस्तुत: कल्पना-तत्त्व की प्रतिष्ठा है और अलंकार भी बिम्ब-विधान का ही पर्याय है। इसमें से ध्वनि तो रस का अनिवार्य माध्यम है ही, अलंकार भी उपेक्षणीय नहीं है - और इसका प्रमाण यह है कि प्रबल-से-प्रबल रसवादी आचार्य ने भी अपने शास्त्र-ग्रन्थ में अलंकार का सविस्तार वर्णन किया है। उसने रस को काव्य का जीवित मानते हुए भी वाग्वैदग्ध्य के महत्व को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। इसी प्रकार बुद्धि तत्व का भी रस के विधान में त्याग नहीं किया गया: उत्कृष्ट कोटि के सरस काव्य के लिए भाव-वैभव के साथ-साथ अर्थ-गौरव की भी अपेक्षा अनिवार्यत: रही है। अत: कल्पना और विचार को रस-सिद्धान्त में अस्वीकृत नहीं किया गया; शर्त केवल इतनी है कि ये दोनों ही अनुभूति का विषय बनकर आने चाहिए। अनुभूत

कल्पना और अनुभूति विचार रस के अंग बन जाते हैं और केवल कल्पना या केवल विचार अर्थात् अननुभूत कल्पना और विचार तो काव्य के ही विषय नहीं रहते। - रस-सिद्धान्त में अगर उनके लिए स्वतंत्र स्थान नहीं है, तो उसका दोष? वास्तव में अपने व्यापक अर्थ में रस सौन्दर्य का ही पर्याय है, सौन्दर्य अपने तत्त्व रूप में रमणीय अर्थबोध का ही नाम है - और रमणीय वह है जिसमें सहृदय का चित्त रमण करे अर्थात् जो उसकी आनन्द चेतना का विषय हो। इस प्रकार सौन्दर्य की कल्पना रस के बिना नहीं हो सकती - सुन्दर और सरस में भेद नहीं किया जा सकता।

रस-संख्या से संबद्ध आक्षेप विषय के अल्पबोध पर ही आश्रित है। संख्या का प्रश्न रस-सिद्धान्त का अत्यन्त गौण विषय है। इसमें सन्देह नहीं कि अधिकांश आचार्यों ने रसभावादि की निश्चित संख्या को ही स्वीकार किया है, परन्तु यह विषय अन्त तक विवादास्पद ही रहा है और संख्या को बढ़ाने-घटाने के प्रयत्न निरन्तर चलते रहे हैं। साथ ही यह आवाज़ भी बराबर उठती रही है कि रसों और भावों की संख्या का परिसीमन अधिक संगत नहीं है - प्रत्येक भाव से यहाँ तक कि सात्त्विक भाव, से भी रस की सिद्धि सम्भव है। उधर रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय भावशान्ति, भाव-संधि, भावशबलता आदि का भी रस में अन्तर्भाव होने से यह सर्वथा निश्चित हो जाता है कि रस-सिद्धान्त रसों और भावों की 'बँधी हुई संख्या' का क़ायल नहीं है। सामान्य सिद्धान्तों और विषयों का निर्धारण करना प्रत्येक शास्त्र का कर्तव्य-कर्म है और उसके लिए वर्गीकरण आदि की प्रणाली, नाम-रूप-संख्या आदि का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। कभी किसी शास्त्रकार ने भेद-प्रस्तार या गणना को एकान्त निश्चित एवं अन्तिम नहीं माना - जब कभी भेद-वर्णन का प्रसंग आया है, संस्कृति के आचार्य ने स्पष्ट कह दिया है कि ये भेद उपलक्षण मात्र हैं अर्थात् ईट्टक्ता के ही द्योतक हैं, इयत्ता के नहीं। ऐसी स्थिति में बँधी हुई संख्या और लीक का आरोप दुहराते रहना या तो दुराग्रह का द्योतक है या अल्प्-बोध का। अत: हेमलेट या गोदान में कौन-सा रस है, यह प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। यद्यपि परम्परानिष्ठ रसवादी के लिए हेमलेट या वेस्टलैण्ड, गोदान या शेखर - किसी में भी नियम के अनुसार रस-निर्णय करना कठिन नहीं है, फिर भी समस्या का समाधान हम यह नहीं मानते। शेखर में कौन-सा रस है, यह प्रश्न ही रूढ़िवादी दृष्टिकोण का परिचायक है और इसका उत्तर भी उसी दृष्टिकोण से तुरन्त दिया जा सकता है। परन्तु हम तो प्रश्न और उत्तर दोनों को ही महत्वहीन मानते हैं - रस-सिद्धान्त का गौरव यह सिद्ध करने में नहीं है कि इन ग्रन्थों का अंगी रस कौन-सा है, वरन् यह सिद्ध करने में है कि इनमें से प्रत्येक की आस्वाद्यिता का मूल आधार रस अथवा रागात्मक प्रभाव या अनुभूति की समृद्धि ही है।

उपर्युक्त समाधान में अगले आक्षेप का उत्तर भी अन्तर्भूत है। रस केवल परिपाक-अवस्था का ही नाम नहीं है। यह यहीं नहीं कहा गया कि रसवत्ता के ही लिए सर्वत्र रस का पूरा परिकर ही प्रस्तुत रहना चाहिए : व्यभिचारी भाव के नहीं, केवल अनुभाव के चित्रण से भी रस की सिद्धि हो जाती है : जो अवयव वर्णित नहीं है, उनका आक्षेप हो जाता है। विभावादि के विधान पर रसशास्त्र में बल इसलिए दिया गया है कि उनकी प्रच्छन्न या प्रकट सत्ता के आधार के बिना भाव की कल्पना भी सम्भव नहीं है, अनुभूति तो दूर की बात रही। भाव की निराधार या निरपेक्ष सत्ता रसशास्त्र में ही नहीं मनोविज्ञान में भी सर्वथा अमान्य है और आधुनिक मनोविज्ञान तो भाव की स्वतंत्र कल्पना के विषय में और भी शंकालु होता जा रहा है। मराठी के रसवादी आलोचकों ने इसी आक्षेप का प्रतिवाद करने के लिए भाव से भी सूक्ष्मतर 'भाव-गंध' की कल्पना की है। रस-सिद्धान्त में और भी आगे बढ़ने का अवकाश है : रस का स्थायी धर्म है गुण जो चित्त की द्रुति, दीप्ति और व्याप्ति आदि अवस्थाओं का वाचक है। अत: ऐसी उक्ति भी, जहाँ भाव का स्वरूप स्पष्ट न हो, जो केवल चित्त का स्पर्श ही करती हो, सिंहद्वारों पर स्थापित विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि की दृष्टि बचाकर, अनुभूति के मन्त्रबल से रसचक्र में अनायास ही प्रविष्ट हो जाती है। एक उदारहण देकर मैं अपने मन्तव्य को स्पष्ट करना चाहता हूँ -

सोन-मछली
हम निहारते रूप,
काँच के पीछे
हाँप रही है मछली।
रूप-तृषा भी
(और काँच के पीछे)
है जिजीविषा।

अज्ञेय की यह कविता नयी कविता है और सुन्दर भी। इसके आकर्षण का रहस्य क्या है? सुन्दर बिम्ब? हाँ, इन पंक्तियों द्वारा प्रमाता की कल्पना में उद्बुद्ध बिम्ब निश्चय ही अत्यन्त आकर्षक और सजीव है। काँच के पीछे अपनी प्राण-रक्षा के लिए जल में तड़पती हुई, सोन-मछली का चित्र एकदम आँखों के सामने नाच उठता है - चमकती हुई मछली की तरंगित आकृति मानो 'जिजीविषा' शब्द के बलयित उच्चारण के साथ शब्द मूर्त हो जाती है। इतने कम शब्दों में ऐसा सजीव चित्र प्रस्तुत कर देना

निश्चय ही सधे हुए कलाकार का काम है। परन्तु मैं पूछता हूँ कि क्या शब्द-चित्र ही इस कविता की अंतिम सिद्धि है? क्या प्रस्तुत शब्द-चित्र को रससिक्त करने वाली सवेदना, जो केवल मानव-चेतना को ही वरदान रूप में प्राप्त है, इसकी चरम सिद्धि नहीं है? बिम्ब निश्चय ही कला की सिद्धि है पर उस बिम्ब को जीवन्त करने वाला तत्त्व तो मानव-चेतना का स्पर्श ही है, और उसी का नाम रस है।

एक अन्य आक्षेप रसों के पारस्परिक विरोधाविरोध को लेकर किया गया है। इसकी मूल ध्वनि यह है कि रस-सिद्धान्त में भावों का परस्पर संबंध सर्वथा निश्चित मान लिया गया है; परिणामत: अपनी रूढ़ता में रस-प्रक्रिया इतनी सरल और सुलझी बन जाती है कि अन्तश्चेतना की उलझनों और गुत्थियों के लिए उसमें अवकाश नहीं रह जाता। हमारा निवेदन है कि यह आक्षेप भी अल्पज्ञान का ही प्रमाण है। रस-सिद्धान्त में रसों के परस्पर विरोधी रूपों के विवेचन के साथ-साथ उनके शमन का भी अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया गया है। और, शमन के ये उपाय इतने अधिक एवं विभिन्न हैं कि मानसिक जीवन के सभी प्रकार के सहज अन्तर्विरोध उनमें समाहित हो जाते हैं। केवल एक रस के सन्दर्भ में ही विचार करें तो भी रस-प्रक्रिया पर सरलता का आरोप संगत नहीं है, क्योंकि शृंगार जैसे रस के वृत्त में एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न और परस्पर विरुद्ध प्राय: सभी भावों का मुक्त संचरण शास्त्र-सम्मत माना गया है। शेक्सपियर के जिन नाटकों की दुहाई देकर अंग्रेज़ी के विद्वानों ने रस-सिद्धान्त पर प्रस्तुत आक्षेप किया है उनमें भी ऐसा प्रसंग शायद ही हो जहाँ भावों के विरोध का, रसशास्त्रीय नियमों के अनुसार, परिहार न हो सके। और, यदि कहीं ये नियम लागू नहीं होते तो भी कुछ अन्तर नहीं पड़ता–क्योंकि एक तो विरोध-कल्पना रस-सिद्धान्त का मौलिक अंग नहीं है और दूसरे यह स्थिर न रहकर काव्य के विकास के साथ विकासशील रही है, अर्थात् इसमें समय-समय पर आवश्यक संशोधन भी होते रहे हैं। वस्तुत: रस-संख्या की भांति रस-विरोध की कल्पना भी रस-सिद्धान्त की आनुषंगिक सिद्धि मात्र है, यद्यपि उसी की भांति इसका भी मनोवैज्ञानिक आधार अपने आप में काफ़ी पुष्ट है।

रस को केवल सहृदयनिष्ठ मान लेने से रस-कल्पना में काव्यगत रस और कवि की रस-चेतना की उपेक्षा की गयी है–इस आक्षेप पर कई पहलुओं से विचार किया जा सकता है। रस का अर्थ यदि मूलत: काव्यास्वाद है, तब तो उसकी स्थिति सहृदय में ही माननी पड़ेगी, क्योंकि आस्वाद की चेतन-क्रिया व्यक्ति में ही सम्भव है, वस्तु में नहीं। कवि, काव्य और सहृदय के त्रैत में काव्य जड़ पदार्थ हैं, अत: आस्वाद की क्षमता उसमें नहीं हैं। हाँ, वह आस्वाद का निमित्त अवश्य ही होता है। कवि भी व्यक्त रूप में रस का स्रष्टा है–शास्त्रीय शब्दावली में रस के अभिव्यंजक काव्य का कर्ता है। अत: रस अर्थात् काव्य के आस्वाद का भोक्ता वस्तुत: सहृदय ही है, इसका निषेध कम-से-कम व्यवहार में नहीं किया जा सकता। तत्त्वदृष्टि से भी, प्रमाता के अतिरिक्त पदार्थ में रस की स्थिति प्रमाणित करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है : भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों की समस्त ऊहापोह अभी तक अद्वैत से अधिक प्रामाणिक कल्पना नहीं कर सकी। परन्तु हम इस विवाद में आपको नहीं उलझाना चाहते, क्योंकि काव्य के सत्यों को हम दर्शन और तर्कशास्त्र की उपकल्पनाओं से यथासम्भव दूर रखकर काव्य के परिप्रेक्ष्य में ही समझना चाहते हैं। किन्तु यहाँ एक दूसरा प्रश्न सामने आता है कि काव्य का इस रस से क्या संबंध है? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि काव्य रस को प्रेरक या निमित्त कारण है। स्वयं अभिनव ने गुणालंकारमय शब्दार्थ–काव्य के महत्व का उच्छ्वासमय वाणी में निर्वचन किया है; यह गुणालंकारमय शब्दार्थ ही विभावादि के साधारणीकरण–आधुनिक शब्दावली में भावात्मक रूप में उपस्थापन–द्वारा सहृदय के स्थायी भाव को देशकाल की सीमा एवं व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त करता हुआ, रस में परिणत कर देता है। अभिनव के अनुसार स्थायी भाव की निर्विघ्न प्रतीति ही रस है–इस प्रतीति का भोक्ता निश्चय ही सहृदय है, परन्तु सन्दर्भ में इसे निर्विघ्न करने का एकमात्र साधन गुणालंकारमय शब्दार्थ या काव्य ही है। अत: काव्य का महत्व रस-सिद्धान्त में गौण नहीं है, हो भी कैसे सकता था, काव्य की तो जन्मभूमि या आधारभूमि ही काव्य है, जिसके बिना अस्तित्व ही काल्पनिक बन जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि सहृदय की ग्रहण-शक्ति की विफलता रस का सबसे बड़ा विघ्न है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उससे काव्य-सौन्दर्य का अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में कवि या काव्य का दोष नहीं होता, यहाँ तो सहृदयता ही दुष्ट हो जाती है। यहाँ तक तो हुई प्रमातृगत रस की बात, वस्तुगत रस-कल्पना का भी भारतीय रसशास्त्र में अभाव नहीं है। भरत, लोल्लट और शंकुक द्वारा प्रतिपादित रस तो निश्चय ही वस्तुगत है - उसकी रंगमंच पर काव्य-कौशल तथा नाट्य-कौशल के द्वारा सृष्टि होती है और वह आस्वाद रूप न होकर आस्वाद्य ही होता है। उधर जैन आचार्यों ने भी रस की स्थिति काव्यगत भाव-सामग्री में ही मानी है। इसी प्रकार कविगत रस की कल्पना भी नयी नहीं है, भरत, आनन्दवर्धन, भट्टनायक तथा अभिनव आदि सभी मूर्धन्य रसाचार्यों ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उसे स्वीकार किया है :

'कवेरन्तर्गत भावं भावयन् भाव उच्यते।'

अर्थात् जो कवि की अनुभूति का भावन कराता है, शास्त्र में उसका नाम भाव है।

यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसा: सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिता।। नाट्यशास्त्र।6।7

-अर्थात् जिस प्रकार बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष से पुष्प तथा फल होते हैं, उसी प्रकार (कविगत) रस ही मूल है और उसके द्वारा ही भावों की स्थिति होती हैं।

भरत द्वारा उद्धृत इस श्लोक की व्याख्या करने हुए, अभिनव ने, आनन्दवर्द्धन का प्रमाण देकर, कविगत रस का महत्व अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है :

"उसी कविगत साधारणीभूत रससंविन्मूलक काव्य के द्वारा नट का व्यापार होता है। और वही (कविगत) संवित् वास्तव में (मूलभूत) रस है। उसकी प्रतीति के वशीभूत उस (कविगत रस से प्रभावित) सामाजिक को अपोद्धारबुद्धि अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक आदि के द्वारा बाद को विभावादि की प्रतीति होती है। इस प्रकार मूल बीज के स्थान पर कविगत रस (भावादि का मूल कारण) है। कवि सामाजिक के समान ही है। इसीलिए ध्वन्यालोककार श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है कि 'यदि कवि शृंगारी है तो सारा जगत् रसमय हो जाता है और वह यदि वीतराग है तो सारा काव्य नीरस हो जाता है' इत्यादि। उस (बीजस्थानीय कविगत रस) से वृक्ष-स्थानीय काव्य (उत्पन्न) होता है। उसमें पुष्प-स्थानीय अभिनयादि रूप नट का व्यापार होता है। उसमें फलस्थानीय सामाजिक का रसास्वाद होता है। इसलिए (सामाजिक के लिए सारा काव्य)-जगत् रसमय ही होता है।"

(हिन्दी अभिनवभारती, पृ. 515)

कविगत रस का इस व्याख्या के उपरान्त श्री मर्ढेकर के आक्षेप का सहज ही निराकरण हो जाता है : मांसभक्षण के उपर्युक्त प्रसंग में कवि की अनुभूति ही मूल भाव है, सहृदय की अनुभूति-रूप रस का निर्णय उसी के अनुसार होगा। काव्यगत स्थायी भाव से अभिप्राय प्रत्येक पात्र के स्थायी भाव का नहीं है वरन् स्थायी भाव का ही है : कवि का भाव यदि जुगुप्सा है तो सहृदय को भी जुगुप्सा (वीभत्स रस) का अनुभव होगा, कवि का भाव यदि क्रोध है तो क्रोध (रौद्र रस) का और यदि भय है तो भय (भयानक रस) का।

रस की अभिव्यक्ति का विरोध भी भारतीय काव्यशास्त्र के लिए नया नहीं है। ध्वनि की स्थापना से पूर्व लोल्लट तथा शंकुक ने और उसके बाद भी भट्टनायक, महिमभट्ट, धनंजय आदि ने रस की अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निषेध किया है। स्वयं भरत का मत ही उसके विरुद्ध है, भरत के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ वस्तुत: निर्मिति है। निष्पत्ति का अर्थ स्पष्ट करने के लिए उन्होंने षाड्वादि रस का जो दृष्टान्त दिया है, उससे यह सन्देह नहीं रह जाता कि उनके मत से रसास्वाद एक मिश्र अनुभूति है जिसमें आधारभूत स्थायीभाव के साथ काव्य तथा नाट्य सौन्दर्य की अनुभूतियों का भी मिश्रण रहता है, जिस प्रकार षाडवादि रस के आस्वाद में अन्न के स्वाद के साथ द्रव्य, व्यंजन और औषधि आदि का स्वाद मिला होता है। लोल्लट ने भी उपचिति की प्रकल्पना के द्वारा इसी मत का पोषण किया है और भट्टनायक ने अभिव्यक्ति का खण्डन करते हुए मुक्ति की कल्पना इसी आधार पर की है - भट्टनायक के अनुसार भी सहृदय रस रूप में जिस स्थायी भाव का भोग करता है वह अमिश्र न होकर गुणालंकार अर्थात् काव्य-सौन्दर्य और चतुर्विध अभिनय अर्थात् नाट्य-सौन्दर्य की अनुभूति से संवलित होता है : वह पाश्चात्य काव्यशास्त्र में निरूपित 'कलात्मक भाव' का ही पर्याय है। अत: 'निर्मिति' की धारणा रसशास्त्र में अज्ञात नहीं थी। किन्तु, इसके साथ, यह कहना भी संगत नहीं है कि रसाभिव्यक्ति का सिद्धान्त सर्वथा अमान्य है। जिस आधुनिक आलोचक ने अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में काव्यास्वाद को शुद्ध अनुभूति न मानकर अनुभूतियों का एक विधान माना है, उसी के विश्लेषण के आधार पर 'अभिव्यक्ति' की भी सिद्धि हो जाती है। डॉ. रिचर्ड्स ने काव्यास्वाद की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए उसके छह अवस्थान माने हैं : चाक्षुष संवेदन (बिम्ब-विधान); सम्बद्ध बिम्ब-विधान; स्वतंत्र बिम्ब-विधान; विचार; भावोद्बोधन और दृष्टिकोण का निर्माण। इस विश्लेषण के अनुसार - किसी मुद्रित या लिखित कविता का अध्ययन करने पर पाठक के मन में पहले तो अक्षरों के बिम्ब उभरते हैं, फिर उनकी रूपाकृतियों और नाद से संबद्ध बिम्ब, तब इन अक्षरों द्वारा निर्मित शब्दों के प्रचलित वाच्यार्थ से संबद्ध बिम्ब उभरकर आते हैं जो अपेक्षाकृत स्वतंत्र होते हैं; इसके उपरान्त इन शब्दों के वाच्यार्थ के समन्वित रूप द्वारा पाठक की कल्पना और विचार जाग्रत हो उठते हैं जिनके फलस्वरूप उसके भाव उद्बुद्ध हो जाते है--और अन्त में इस प्रक्रिया का संयुक्त परिणाम होता है एक मनोदशा का निर्माण। इस प्रकार कविता द्वारा प्रमाता के भाव का उद्बोध तो मनोवैज्ञानिक को भी मान्य है : मनोविज्ञान भी भाव की उद्बुद्धि का निषेध नहीं करता, क्योंकि वहाँ भी मानव-चेतना की कुछ प्रवृत्तियों की 'स्थिर वृत्तियों' के रूप में कल्पना की गयी है। कविता के द्वारा प्रमाता की चेतना में जिस भाव या भावशबलता का उद्बोध होता है वह निश्चय ही उसका अपना भाव या अनुभव होता है। कवि का भाव या अनुभव उसका प्रेरक या निमित्त कारण अवश्य होता है, परन्तु कवि के भाव का ही यथावत् संचरण या स्थानान्तरण प्रमाता के चित्त में नहीं होता - नहीं हो सकता। यहीं हम अभिव्यक्ति तथा सम्प्रेषण या संचार-सिद्धान्तों के विवाद की सीमाओं में प्रवेश कर जाते हैं और हमारे सामने एक बार फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि काव्यानुभूति अथवा रस का संचरण (सम्प्रेषण)[1] होता है अथवा अभिव्यक्ति? इस प्रश्न का समाधान भी हम यथाप्रसंग कर चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही पर्याप्त होगा कि अभिव्यक्ति-सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रमाता के चित्त में जिस अनुभूति के उदय की कल्पना

1. कम्युनिकेशन

निहित है वह कवि की अनुभूति से स्वतंत्र एवं भिन्न नहीं होती; उसका मूल कविगत अनुभूति ही है, अत: वह कविगत अनुभूति के बहुत-कुछ समान ही होती है। इसी तरह 'संचरण' का भी यह अभिप्राय नहीं है कि प्रमाता के चित्त में कवि की अनुभूति का ही यथावत् सम्प्रेषण या स्थानान्तरण हो जाता है और प्रमाता अपनी अनुभूति का नहीं कवि की अनुभूति का ही आस्वादन करता है। आई.ए. रिचर्ड्स ने अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में ऐसी अनर्गल कल्पना का प्रतिवाद किया है। संचरण-सिद्धान्त का भी प्रतिपाद्य यही है कि किसी कविता को पढ़कर प्रमाता के चित्त में उस कविता में व्यक्त कवि की मूल भावना के समान अनुभूति का ही उदय होता है - ठीक वही अनुभूति प्रमाता के चित्त में संचरित नहीं हो जाती, हो ही नहीं सकती। अत: सम्प्रेषण और अभिव्यक्ति का विरोध प्राय: शास्त्रीय ही है, व्यवहार में दोनों में विशेष भेद नहीं रह जाता, क्योंकि दोनों में 'समान अनुभूति' की कल्पना ही निहित है : न तो सप्रेषण-सिद्धान्त यह दावा करता है कि काव्य के आस्वादन में प्रमाता केवल कवि की ही अनुभूति का आस्वादन करता है - उसमें प्रमाता की अपनी अनुभूति का योग नहीं होता और न अभिव्यक्तिवाद यह प्रस्तावना करता है कि प्रमाता कवि की अनुभूति से सर्वथा स्वतंत्र शुद्ध स्वानुभूति का ही आस्वादन करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'निर्मिति' तथा 'सम्प्रेषण' की स्थापनाओं के द्वारा 'अभिव्यक्ति' का खण्डन करने से रस-सिद्धान्त की अमान्यता सिद्ध नहीं हो जाती, क्योंकि एक तो रस की अभिव्यक्ति का एकान्त निषेध असम्भव है, दूसरे अभिव्यक्ति की कल्पना में 'निर्मिति' और 'सम्प्रेषण' की कल्पनाओं का भी अभाव नहीं है।

अब केवल दो आपेक्ष शेष रह जाते हैं। इनमें से एक तो यह है कि रस-सिद्धान्त के साथ आज के साहित्य की मूल चेतना की संगति नहीं बैठती। रस-सिद्धान्त जीवन के स्थायी मूल्यों पर आधृत है, जबकि आज तो स्थायित्व की धारणा ही विघटित हो गयी है। आज के जीवन में आस्था का ही पूर्णतया विघटन हो गया है, अत: आज की कविता के लिए आनन्दवादी मूल्यों पर आधृत रस-सिद्धान्त निरर्थक है। आस्था का प्रश्न एक व्यापक प्रश्न है जिसका काव्य से ही नहीं जीवन के साथ घनिष्ठ संबंध है। इसमें सन्देह नहीं कि आज जीवन के लिए जितना खतरा पैदा हो गया है उतना इतिहास के किसी युग में नहीं था और जब मानवता का अस्तित्व ही प्रतिक्षण खतरे में है तो आस्था के लिए अवलम्ब ही क्या रहा? इसलिए यह अनास्था - और तज्जन्य विषाद आज का अनुभूत तथ्य है जिससे कोई सच्चा कलाकार बच नहीं सकता। पर मैं पूछता हूँ कि क्या आज वास्तव में ही आस्था का विघटन हो गया है? यदि ऐसा है तो प्रभाव-विस्तार, शक्ति-संगठन, शांति और सुरक्षा के विश्वव्यापी प्रयत्नों का आधार क्या है? क्या सर्वनाश का यह खतरा ही हमारी जिजीविषा को तीव्र नहीं कर रहा और क्या जिजीविषा की तीव्रता ही आस्था की अनिवार्यता को सिद्ध नहीं कर करती? क्या आज की सम्भावनाओं में केवल प्रलय की सम्भावना ही काम्य है? सर्वनाश के भय से एकत्र मानव-समाज के सार्वभौम संगठन की सम्भावना का कोई मूल्य नहीं है? सम्भावनाएँ दोनों ही हो सकती हैं : अब यह आप पर निर्भर करता है कि किसका चयन करें। यदि आप यही मानने का आग्रह करते है कि प्रलय का खतरा ही आज का एकमात्र सत्य है और उसी की अभिव्यक्ति सच्ची कला है, तो इसमें रस-सिद्धान्त का क्या दोष? - यद्यपि यह आत्मघाती निराशा भी रस की परिधि से बाहर नहीं पड़ती और यदि आपमें सचमुच ही इस निराशा को सुन्दर रूप प्रदान करने की क्षमता है, तो रस-सिद्धान्त ही वस्तुत: आपकी कला का मूल्यांकन कर सकता है। फिर भी, व्यापक दृष्टि से, इस विषय में मैं केवल यह निवेदन करना चाहता हूँ कि जिनकी चेतना अधिक अमाविल और विचारणा अधिक स्वस्थ है, वे आपसे सहमत नहीं हैं। जब तक जीवन है, तब तक आस्था अनिवार्य है और जीवन में ही विश्वास नहीं है तो कला के प्रति विश्वास करने से क्या सिद्ध होगा? इसी आक्षेप का दूसरा पहलू यह है कि रस के परिपाक के लिए स्थायी भाव की सद्य:अनुभूति की नहीं वरन् अतीत के संस्कार या वासना की आवश्यकता होती है जबकि वर्तमान जीवन में केवल क्षण ही सत्य है और आज की कविता सद्य:अनुभूति की भी नहीं वरन् अनुभूयमान क्षण की ही कविता है। किन्तु यह केवल वाग्विलास है : सिद्धान्त का कल्पनात्मक प्रतिपादन है जो तथ्य से भिन्न है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में अनुभूति और कर्म, भोग और सृजन की युगपत् सत्ता नहीं होती - यह प्रकृति का नियम है। अत: काव्य की सृष्टि भी अनुभूति के भोग की अवस्था में असम्भव है। जब अनुभूत क्षण को शब्द-बद्ध करना ही इतना कठिन होता है तो अनुभूयमान क्षण को आप शब्द में कैसे बाँध सकते हैं? अनुभूयमान भाव की संवेदनों से अधिक कोई स्थिति नहीं - इसमें सन्देह नहीं कि सूक्ष्मचेता कलाकार की कल्पना इन अरूप संवेदनों को रूप देने का प्रयास करती है, परन्तु ज्यों ही ये संवेदन रूपायित होते हैं त्यों ही अनुभूत भी हो जाते हैं : अनुभूयमान की रूपायिति ही अनुभूति है, जहाँ 'क्षण' 'अतीत' बन जाता है। क्रोचे ने इसे ही सहजानुभूति माना है। क्रोचे के अनुसार यह सहजानुभूति ही कला है। परन्तु कला के वे दो रूप मानते हैं–एक आन्तरिक रूप दूसरा और व्यावहारिक रूप। सहजानुभूति कला का आन्तरिक रूप है जो अवश भाव के कलाकार की चेतना में घटित हो जाता है–व्यवहार की दृष्टि से यह कला की 'प्रकल्पना' है, कला नहीं; व्यवहार में हम जिसे कला कहते हैं, जो विवेचना का विषय है, वह इस सहजानुभूति की मूर्त उपकरणों द्वारा प्रस्तुति का ही नाम है जिसे कलाकार स्वेच्छा से अपनी अतीत सहजानुभूति के आधार पर सिद्ध करता है। अत: अनुभूयमान क्षण की अभिव्यक्ति की कल्पना असिद्ध है; अनुभूत की ही सर्जना या पुन:सर्जना संभव है। इस प्रकार पहले असम्भव की कल्पना कर और फिर शब्द को, जो अनादि काल से मानव-जीवन की अभिव्यक्ति का सबसे समर्थ साधन रहा है, सर्वाधिक वेध्य उपकरण कहकर, असाध्य-साधन के श्रेय का भागी बनना बुद्धि का चमत्कार तो माना जा सकता है किन्तु काव्य-सत्य के रूप में मान्यता प्राप्त करना उसके लिए सम्भव नहीं है।

रस-सिद्धान्त के विरुद्ध अंतिम आक्षेप यह है कि उसके कारण काव्य में पूरा बल आनन्द पर ही पड़ जाता है जिससे भोग-वृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है और उदात्त वृत्तियों की उपेक्षा हो जाती है। यह आक्षेप मूलत: नैतिक है और भिन्न-भिन्न युगों में तरह-तरह के रूप धारण कर जीवन तथा काव्य में आनन्द का विरोध करता रहा है। इसका एक उत्तर तो यह है कि भारतीय दर्शन और काव्यशास्त्र में आनन्द के जिस रूप की कल्पना की गयी है वह मानव-चेतना के परिपूर्ण विकास का पर्याय है- मानव व्यक्तित्व के सर्वांग उत्कर्ष का भावात्मक रूप या आस्वाद ही आनन्द है। यह विषय-भोग, सुख, मनोरंजन, प्लेज़र या लज़्ज़त का पर्याय नहीं है। आनन्द की इसी सर्वांगपूर्ण कल्पना पर आधृत होने के कारण रस की परिधि में मानव-चेतना की मधुर और कटु, सुखमय और दु:खमय सभी प्रकार की वृत्तियों का सहज रूप में अन्तर्भाव कर लिया गया है। उसमें आनन्द की सिद्धावास्था ही नहीं, साधनावस्था की भी पूर्ण स्वीकृति है। अत: रस के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर इस प्रकार का आरोप नहीं लगाया जा सकता - और इसका प्रमाण है आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का रस-विवेचन जिन्होंने आनन्द का विरोध करते हुए भी रसवाद को ही काव्य का सबसे अधिक प्रामाणिक सिद्धान्त माना है। इसके अतिरिक्त, क्या आनन्द अपने आप में ही कल्याणकर नहीं है - क्या कल्याण की भी चरम सिद्धि आनन्द नहीं हैं?

उपर्युक्त प्रश्नों के समाधान के पश्चात् रस-सिद्धान्त की महत्व-प्रतिष्ठा अनायास ही हो जाती है। शास्त्र-रूढ़ियों से मुक्त रस-सिद्धान्त अपने व्यापक एवं विकासशील रूप में काव्य का सार्वभौम सिद्धान्त है जिसके आधार पर प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के सर्जनात्मक साहित्य का, सर्जनात्मक साहित्य की प्रत्येक विधा का, उचित मूल्यांकन किया जा सकता है। इसकी प्रकल्पना इतनी सर्वांगीण है कि मानव-चेतना की मूल-वृत्ति - राग - को धुरी बनाकर यह अन्य सभी प्रमुख तत्त्वों को उचित रूप में स्वीकार कर चलता है। अत: जीवन के समस्त रूपों तथा विविध मूल्यों के साथ रस-सिद्धान्त का पूर्ण सामंजस्य है जिसमें विभिन्न वादों के अन्तर्विरोध समाहित हो जाते हैं। कारण वास्तव में यह है कि रस-सिद्धान्त मानववाद के दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित है : यह मानव को उसकी देह और आत्मा, शक्ति और सीमा तथा समस्त रागद्वेष के साथ स्वीकार करता है; इसलिए मानव के अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के साथ इसका अभिन्न संबंध है। जिस प्रकार मानववाद मानव को अंतिम सत्य मानकर जीवन के विकास के साथ निरन्तर विकासशील है, उसी प्रकार मानव-संवेदना को चरम सत्य मानकर रस-सिद्धान्त भी विकासशील है। जैसे-जैसे जीवन की गतिविधि बदलती जाती है, वैसे-वैसे मानववाद की प्रकल्पना में भी संशोधन होता जाता है; ठीक उसी प्रकार जैसे-जैसे साहित्य की गतिविधि में परिवर्तन होता जाता है, वैसे-वैसे रस का स्वरूप भी व्यापक होता जाता है। जीवन के निरन्तर विकासशील धारणाओं और आवश्यकताओं का आकलन जिस प्रकार मानववाद में ही हो सकता है, उसी प्रकार साहित्य की विकासशील चेतना का परितोष भी रस-सिद्धान्त के द्वारा ही हो सकता है। जीवन की भूमिका में जब तक मानवता से महत्तर सत्य का आविर्भाव नहीं होता-और -साहित्य की भूमिका में जब तक मानव-संवेदना से अधिक रमणीय सत्य की उद्‌भावना नहीं होती तब तक रस-सिद्धान्त से अधिक प्रामाणिक सिद्धान्त की प्रकल्पना भी नहीं की जा सकती।

(मेरे प्रिय निबंध से)

17. परम्परा का मूल्यांकन

— डॉ॰ रामविलास शर्मा

जो लोग साहित्य में युग-परिवर्तन करना चाहते हैं, जो लकीर के फकीर नहीं हैं, जो रूढ़ियाँ तोड़कर क्रान्तिकारी साहित्य रचना चाहते हैं, उनके लिए साहित्य की परम्परा का ज्ञान सबसे ज्यादा आवश्यक है। जो लोग समाज में बुनियादी परिवर्तन करके वर्गहीन शोषणमुक्त समाज की रचना करना चाहते हैं, वे अपने सिद्धान्तों को ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम से पुकारते हैं। क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि इतिहास के ज्ञान के बिना ऐतिहासिक भौतिकवाद का ज्ञान सम्भव है? कम से कम ऐतिहासिक भौतिकवाद के संस्थापकों की पुस्तकें पढ़ने से ऐसा नहीं लगता। जो महत्त्व ऐतिहासिक भौतिकवाद के लिए इतिहास का है, वही आलोचना के लिए साहित्य की परम्परा का है। इतिहास के ज्ञान से ही ऐतिहासिक भौतिकवाद का विकास होता है, साहित्य की परम्परा के ज्ञान से ही प्रगतिशील आलोचना का विकास होता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के ज्ञान से ही समाज में व्यापक परिवर्तन किये जा सकते हैं और नयी समाज-व्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है। प्रगतिशील आलोचना के ज्ञान से साहित्य की धारा मोड़ी जा सकती है और नये प्रगतिशील साहित्य का निर्माण किया जा सकता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद कुछ अमूर्त सिद्धान्तों का संग्रह नहीं है, वह मानव समाज के इतिहास का मूर्त ज्ञान है। वैसे ही प्रगतिशील आलोचना किन्हीं अमूर्त सिद्धान्तों का संकलन नहीं है, वह साहित्य की परम्परा का मूर्त ज्ञान है। और यह ज्ञान उतना ही विकासमान है जितना साहित्य की परम्परा।

ऐतिहासिक भौतिकवाद के संस्थापकों के अनुसार जब से सभ्यता का विकास हुआ, व्यक्तिगत सम्पत्ति और वर्गों का अभ्युदय हुआ, तब से सारी संस्कृति, समस्त साहित्य का विकास ऐसी समाज-व्यवस्था में हुआ है, जिसमें सम्पत्ति अधिकांश जनता के शोषण का साधन रही है। सामन्ती व्यवस्था में सामन्ती सम्पत्ति और पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीवादी सम्पत्ति अपने साथ के तमाम आर्थिक सम्बन्धों सहित शोषण-व्यवस्था कायम किये रही है। सभ्य समाज में सदैव सम्पत्तिशाली वर्गों का प्रभुत्व रहा है। अब जिस नये समाज की रचना करनी है, उसमें इस प्रभुत्व को समाप्त कर दिया जायेगा; जिस नयी सभ्यता की रचना करनी है, वह पुरानी सभ्यता से गुणात्मक रूप से भिन्न होगी। तब पुराने इतिहास की जरूरत क्या है? नयी सभ्यता को पुरानी सभ्यता की जरूरत क्या है?

नयी सभ्यता पुरानी सभ्यता से गुणात्मक रूप से भिन्न होगी, ऐतिहासिक प्रक्रिया का यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष यह है कि वह पुरानी सभ्यता की समस्त उपलब्धियों को आत्मसात् करके आगे बढ़ेगी और इतने बड़े पैमाने पर, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर, उन्हें अपनायेगी कि वैसा कार्य मानव इतिहास में अभूतपूर्व होगा।

मनुष्य जाति का इतिहास -- आदिम गण समाजों के विघटन के बाद - वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। जब-जब शोषित वर्गों ने अपने अधिकारों के लिए, अपनी स्थिति सुधारने के लिए संघर्ष किया, तब-तब उनका यह संघर्ष उनके उत्तराधिकारी नये समाज के विधायकों के लिए महत्त्वपूर्ण रहा है। इसके साथ उन्होंने अपने वर्ग-हितों के अनुकूल अपनी संस्कृति, अपने साहित्य की रचना की है। पर इसके अलावा सभ्यता का इतिहास वर्ग-सहयोग का इतिहास भी है। भले ही यह सहयोग शोषक वर्ग ने लोगों को फुसलाकर, डरा-धमकाकर या दबाकर प्राप्त किया हो, बलप्रयोग द्वारा उन्हें अपनी आज्ञा मानने पर बाध्य किया हो, पर है वह वर्ग-सहयोग। प्रश्न इच्छा-अनिच्छा का नहीं है, प्रश्न ऐतिहासिक प्रक्रिया के वस्तुगत रूप का है। सैकड़ों पीढ़ियों तक श्रमिक जनता ने जिस सभ्यता का निर्माण किया है, जो उसके श्रम के बिना अस्तित्व ही में न आती, क्या उसके प्रति उसका नकारात्मक रुख अपनाना सही है? अनेक देशों में ऐसा हुआ है कि सामन्ती व्यवस्था खत्म करने के बाद जनता ने राजप्रासादों का उपयोग अपने हित में किया। उसने सामन्ती शोषण का प्रतीक मानकर उन प्रासादों को बारूद से उड़ा नहीं दिया, उसने उनकी पहले से और भी अधिक रक्षा की और पहले की अपेक्षा उनका और भी अच्छा उपयोग किया। तब पुरानी संस्कृति के कौन से तत्त्व उसके लिए हानिकार हैं, इसका निर्धारण आवश्यक होता है।

ऐतिहासिक विकासक्रम में किसी भी समाज व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पत्तिशाली वर्ग की भूमिका उस व्यवस्था के अभ्युदय काल में वही नहीं होती जो उसके ह्रास काल में होती है। अपने अभ्युदय काल में यह सम्पत्तिशाली वर्ग पुरानी व्यवस्था को बदलता है और सभ्यता के विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। अपने ह्रास काल में वह अपना प्रभुत्व कायम रखना चाहता है, सामाजिक परिवर्तन के आड़े आते है, सभ्यता के विकास में बाधक बनता है। दोनों स्थितियों में वह जिस तरह की संस्कृति को प्रश्रय देता है, उसमें बहुत बड़ा अन्तर है।

इसलिए साहित्य की परम्परा का मूल्यांकन करते हुए सबसे पहले हम उस साहित्य का मूल्य निर्धारित करते हैं जो शोषक वर्गों के विरुद्ध श्रमिक जनता के हितों को प्रतिबिम्बित करता है। इसके साथ हम उस साहित्य पर ध्यान देते हैं जिसकी रचना का आधार शोषित जनता का श्रम है; और यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि वह वर्तमान काल में जनता के लिए कहाँ तक उपयोगी है और उसका उपयोग किस तरह हो सकता है। इसके अलावा जो साहित्य सीधे सम्पत्तिशाली वर्गों की देख-रेख में रचा गया है और उनके

वर्गहितों को प्रतिबिम्बित करता है, उसे भी परखकर देखना चाहिए कि यह अभ्युदयशील वर्ग का साहित्य है या ह्रासमान वर्ग का। यह स्मरण रखना चाहिए कि पुराने समाज में वर्गों की रूपरेखा कभी बहुत स्पष्ट नहीं रही। जहाँ पूँजीवाद का यथेष्ट विकास हो गया है, वहीं यह सम्भावना होती है कि सम्पत्तिशाली और सम्पत्तिहीन वर्ग एक-दूसरे के सामने पूरी तरह विरोधी बनकर खड़े हों। पुराने साहित्य में वर्ग-हित साफ-साफ टकराते हुए दिखायी दें, इसकी सम्भावना कम होती है। सभ्यता के अनेक तत्वों की तरह साहित्य में भी ऐसे तत्त्व होते हैं जो विराधी वर्गों के काम में आते है। आग जलाकर खाना पकाना मानव सभ्यता का सामान्य तत्त्व वन गया है। कल-कारखानों में भाप और बिजली से चलनेवाली मशीनों का उपयोग समाजीवादी व्यवस्था में होता है और पूँजीवादी व्यवस्था में भी। सभ्यता का हर स्तर वर्गबद्ध नहीं होता। इसी तरह साहित्य का हर स्तर सम्पत्तिशाली वर्गों के हितों से बँधा हुआ नहीं रहता। साहित्य की इस व्यापकता को स्वीकार न करना वैसे ही है जैसे समाजवादी व्यवस्था में बिजली का उपयोग न करना क्योंकि इसका आविष्कार पूँजीवादी समाज में हुआ था और उसका उपयोग भी पूँजीपतियों ने अपने हित में किया था।

साहित्य मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन से सम्बद्ध है। आर्थिक जीवन के अलावा मनुष्य एक प्राणी के रूप में भी अपना जीवन बिताता है। साहित्य में उसकी बहुत-सी आदिम भावनाएँ प्रतिफलित होती हैं जो उसे प्राणिमात्र से जोड़ती हैं। इस बात को बार-बार कहने में कोई हानि नहीं है कि साहित्य विचारधारा मात्र नहीं है। उसमें मनुष्य का इन्द्रिय-बोध, उसकी भावनाएँ, आन्तरिक प्रेरणाएँ भी व्यंजित होती हैं। साहित्य का यह पक्ष अपेक्षाकृत स्थायी होता है।

जिस समय ऐतिहासिक भौतिकवाद की स्थापना हुई, उस समय जीव-विज्ञान में विकासवाद का बोलबाला था। यह विकासवाद सही हो चाहे गलत, यह बात सच है कि साहित्य में विकास-प्रक्रिया उसी तरह सम्पन्न नहीं होती जैसे समाज में। समाजिक विकास-क्रम में सामन्ती सभ्यता की अपेक्षा पूँजीवादी सभ्यता को अधिक प्रगतिशील कहा जा सकता है और पूँजीवादी सभ्यता के मुकाबले समाजवादी सभ्यता को। पुराने चरखे और करघे के मुकाबले मशीनों के व्यवहार से श्रम की उत्पादकता बहुत बढ़ गयी है। पर यह आवश्यक नहीं है कि सामन्ती समाज के कवि की अपेक्षा पूँजीवादी समाज का कवि श्रेष्ठ हो। यह भी संभव है कि आधुनिक सभ्यता का विकास कविता के विकास का विरोधी हो और कवि स्वयं बिकाऊ माल बन रहा हो। व्यवहार में यही देखा जाता है कि 19वीं और 20वीं सदी के कवि - क्या भारत में और क्या यूरुप में - पुराने कवियों को घोटे जा रहे हैं और कहीं उनके आस-पास पहुँच जाते हैं तो अपने को धन्य मानते हैं। ये जो तमाम कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं का मनन करते हैं, वे उनका अनुकरण नहीं करते, उनसे सीखते हैं, और स्वयं नयी परम्पराओं को जन्म देते हैं। जो साहित्य दूसरों की नकल करके लिखा जाय, वह अधम कोटि का होता है और सांस्कृतिक असमर्थता का सूचक होता है। जो महान् साहित्यकार हैं, उनकी कला की आवृत्ति नहीं हो सकती, यहाँ तक कि एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करने पर उनका कलात्मक सौन्दर्य ज्यों का-त्यों नहीं बना रहता। औद्योगिक उत्पादन और कलात्मक उत्पादन में यह बहुत बड़ा अन्तर है। अमरीका ने ऐटमबम बनाया, रूस ने भी बनाया, पर शेक्सपियर के नाटकों जैसी चीज का उत्पादन दुबारा इग्लैंड में भी नहीं हुआ।

भौतिकवाद दो तरह का है, एक यान्त्रिक भौतिकवाद, दूसरा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। यान्त्रिक भौतिकवाद की विशेषता यह है कि वह चेतना को आर्थिक सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब मात्र मानता है। प्रतिबिम्ब यान्त्रिक होता ही है। जब चेतना प्रतिबिम्ब है, जब संस्कृति भी प्रतिबिम्ब है, साहित्य भी प्रतिबिम्ब है। इस स्थिति में पुराना आर्थिक ढाँचा बदलने पर संस्कृति का ताना-बाना भी पूरी तरह बदल जाता है। इस यान्त्रिक भौतिकवाद का विकास फ्रान्स में हुआ; 19वीं सदी में जब भौतिक विज्ञान का विकास हुआ, तो इस विज्ञान का दार्शनिक दृष्टिकोण इसी यान्त्रिक भौतिकवाद से प्रभावित हुआ। इसके विपरीत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मनुष्य की चेतना को आर्थिक सम्बन्धों से प्रभावित मानते हुए उसकी सापेक्ष स्वाधीनता स्वीकार करता है। आर्थिक सम्बन्धों से प्रभावित होना एक बात है, उनके द्वारा चेतना का निर्धारित होना और बात है। भौतिकवाद का अर्थ भाग्यबाद नहीं है। सब कुछ परिस्थितियों द्वारा अनिवार्यत: निर्धारित नहीं हो जाता। यदि मनुष्य परिस्थितियों का नियामक नहीं है तो परिस्थितियाँ भी मनुष्य की नियामक नहीं हैं। दोनों का सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक है। यही कारण है कि साहित्य सापेक्षरूप में स्वाधीन होता है।

गुलामी अमरीका में थी और गुलामी एथेन्स में थी किन्तु एथेन्स की सभ्यता ने सारे यूरुप को प्रभावित किया और गुलामों के अमरीकी मालिको ने मानव संस्कृति को कुछ भी नहीं दिया। सामन्तवाद दुनिया भर में कायम रहा पर इस सामन्ती दुनिया में महान् कविता के दो ही केन्द्र थे - भारत और ईरान। पूँजीवादी विकास यूरुप के तमाम देशों में हुआ पर रैफेल, लेओनार्दो दा विंची और माइकेल ऐंजेलो इटली की देन हैं। यहाँ हम एक ओर यह देखते हैं कि विशेष सामाजिक परिस्थितियों में कला का विकास सम्भव होता है, दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि समान सामाजिक परिस्थितियाँ होने पर भी कला का समान विकास नहीं होता। यहाँ हम असाधारण प्रतिभाशाली मनुष्यों की अद्वितीय भूमिका भी देखते हैं। जिस तरह औद्योगिक उत्पादन का समाजीकरण पूँजीवादी व्यवस्था में होता है, उस तरह साहित्यिक रचना का समाजीकरण नहीं होता। कारखाने में 1500 मज़दूर मिलकर दिन-प्रतिदिन थान के थान कपड़े निकाल सकते हैं। यदि साहित्यकारों को साहित्य-रचना के कारखाने में भर्ती कर दिया जाय, तो हो सकता है कि उनके कुछ दोष दूर हो जायें, अथवा वे एक दूसरे से इतना लड़ें कि और किसी काम के लिए उन्हें फुरसत न मिले, पर नियमित

रूप से उच्च कोटि के उपन्यास, काव्य, नाटक, पंचवर्षीय योजना के अनुसार, उस कारखाने से निकलते रहेंगे, इसकी सम्भावना जरा कम है। साहित्यकार आपसी सहयोग से लाभ उठाते हैं पर अभी उस तकनीक का पता नहीं लगाया जा सका जिसे लोगों को सिखाकर साहित्य का सामूहिक उत्पादन किया जा सके।

साहित्य के निर्माण में प्रतिभाशाली मनुष्यों की भूमिका निर्णायक है। इसका यह अर्थ नहीं कि ये मनुष्य जो कुछ करते हैं, वह सब अच्छा ही अच्छा होता है, या उनके श्रेष्ठ कृतित्व में दोष नहीं होते। कला का पूर्णत: निर्दोष होना भी एक दोष है। ऐसी कला निर्जीव होती है। इसीलिए प्रतिभाशाली मनुष्यों की अद्वितीय उपलब्धियों के बाद कुछ नया और उल्लेखनीय करने की गुंजाइश बनी रहती है। आजकल व्यक्ति-पूजा की काफी निन्दा की जाती है। किन्तु जो लोग सबसे ज्यादा व्यक्ति-पूजा की निन्दा करते हैं, वे सबसे ज्यादा व्यक्ति-पूजा का प्रचार भी करते हैं। अन्तर इतना है कि ब्रह्मा की जगह उन्होंने विष्णु को बिठा दिया। लेकिन पूजा तो पूजा। ईश्वर अल्ला तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान। यदि कोई भी साहित्यकार आलोचना से परे नहीं है, तो राजनीतिज्ञ यह दावा और भी नहीं कर सकते, इसलिए कि साहित्य के मूल्य, राजनीतिक मूल्यों की अपेक्षा, अधिक स्थायी हैं। अंग्रेज कवि टेनीसन ने लैटिन कवि वर्जिल पर एक बड़ी अच्छी कविता लिखी थी। इसमें उन्होंने कहा है कि रोमन साम्राज्य का वैभव समाप्त हो गया पर वर्जिल के काव्य सागर की ध्वनि-तरंगें हमें आज भी सुनायी देती हैं और हृदय को आनन्द-विह्वल कर देती हैं। कह सकते हैं कि जब ब्रिटिश साम्राज्य का कोई नामलेवा और पानीदेवा न रह जायेगा, तब शेक्सपियर, मिल्टन और शेली विश्व संस्कृति के आकाश में वैसे ही जगमगाते नज़र आयेंगे जैसे पहले, और उनका प्रकाश पहले की अपेक्षा करोड़ों नयी आँखें देखेंगी।

साहित्य के विकास में प्रतिभाशाली मनुष्यों की तरह, जनसमुदायों और जातियों की विशेष भूमिका होती है। इसे कौन नहीं जानता कि यूरुप के सांस्कृतिक विकास में जो भूमिका प्राचीन यूनानियों की है, वह अन्य किसी जाति की नहीं है। जनसमुदाय जब एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था में प्रवेश करते हैं, तब उनकी अस्मिता नष्ट नहीं हो जाती। प्राचीन यूनान अनेक गणसमाजों में बँटा हुआ था। आधुनिक यूनान एक राष्ट्र है। यह आधुनिक यूनान अपनी प्राचीन संस्कृति से अपनी एकात्मकता स्वीकार करता है या नहीं? 19वीं सदी में शेली और बायरन ने अपनी स्वाधीनता के लिए लड़नेवाले यूनानियों को ऐसी एकात्मकता पहचनवाने में बड़ा परिश्रम किया। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान इस देश ने इसी तरह अपनी एकात्मकता पहचानी। इतिहास का प्रवाह ही ऐसा है कि वह विच्छिन्न है और अविच्छिन्न भी। मानव समाज बदलता है और अपनी पुरानी अस्मिता कायम रखता है। जो तत्व मानव समुदाय को एक जाति के रूप में संगठित करते हैं, उनमें इतिहास और सांस्कृतिक परम्परा के आधार पर निर्मित यह अस्मिता का ज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बंगाल विभाजित हुआ और है, किन्तु जब तक पूर्वी और पश्चिमी बंगाल के लोगों को अपनी साहित्यिक परम्परा का ज्ञान रहेगा, तब तक बंगाली जाति सांस्कृतिक रूप से अविभाजित रहेगी। विभाजित बंगाल से विभाजित पंजाब की तुलना कीजिए, तो ज्ञात हो जायेगा कि साहित्य की परम्परा का ज्ञान कहाँ ज्यादा है, कहाँ कम है, और इस न्यूनाधिक ज्ञान के सामाजिक परिणाम क्या होते हैं।

एक भाषा बोलनेवाली जाति की तरह अनेक भाषाएँ बोलनेवाले राष्ट्र की भी अस्मिता होती है। संसार में इस समय अनेक राष्ट्र बहुजातीय हैं, अनेक भाषाभाषी हैं। जिस समय राष्ट्र के सभी तत्त्वों पर मुसीबत आती है, तब उन्हें अपनी राष्ट्रीय अस्मिता का ज्ञान बहुत अच्छी तरह हो जाता है। जिस समय हिटलर ने सोवियत संघ पर आक्रमण किया, उस समय यह राष्ट्रीय अस्मिता जनता के स्वाधीनता संग्राम की समर्थ प्रेरक शक्ति बनी। सोवियत संघ के लोग हिटलर-विरोधी संग्राम को उचित ही महान् राष्ट्रीय (अथवा देशभक्तिपूर्ण) संग्राम कहते हैं। इस युद्ध के दौरान खासतौर से रूसी जाति ने बार-बार अपनी साहित्य-परम्परा का स्मरण किया। सोवियत समाज ज़ारशाही रूस के समाज से भिन्न है। समाज-व्यवस्था के विचार से इतिहास का प्रवाह विच्छिन्न है जातीय अस्मिता की दृष्टि से यह प्रवाह अविच्छिन्न है। ज़ारशाही रूस के तोल्स्तोय सोवियत समाज में पढ़े जाने वाले लोकप्रिय साहित्यकार हैं, और रूसी जाति की अस्मिता को सुदृढ़ और पुष्ट करनेवाले महान् साहित्यकार हैं। समाजवादी व्यवस्था कायम होने पर जातीय अस्मिता खण्डित नहीं होती वरन् और पुष्ट होती है। इसके साथ सोवियत संघ में बहुजातीय राष्ट्रीयता का पुनर्जन्म हुआ है और यह राष्ट्रीयता अब एक सामाजिक शक्ति है जैसी वह 1917 से पहले नहीं थी। ज़ारशाही रूस में बहुत-सी जातियां पराधीन बनाकर रखी गयी थीं। उन सब पर रूसी जाति के सामन्त और पूँजीपति शासन करते थे। जैसे और बहुत-से साम्राज्य होते हैं, वैसे ही यह भी एक साम्राज्य था। 1917 की क्रान्ति के बाद रूसी और गैररूसी जातियों के आपसी सम्बन्धों में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। बहुत-सी जातियाँ सोवियत संघ में शामिल न हुईं, अलग हो गयीं। कुछ विलम्ब से, दूसरे महायुद्ध से कुछ ही पहले, अन्य जातियाँ उसमें शामिल हुईं। सोवियत संघ में आज जितनी जातियाँ शामिल हैं, उनका वैसा मिला-जुला राष्ट्रीय इतिहास नहीं है, जैसा भारत की जातियों का है। राष्ट्र के गठन में इतिहास का अविच्छिन्न प्रवाह बहुत बड़ी निर्धारक शक्ति है। यूरुप के लोग यूरोपियन संस्कृति की बात करते हैं। पर यूरुप कभी राष्ट्र नहीं बना। और अब तो पूर्वी यूरुप और पश्चिमी यूरुप, दो यूरुपों का अलग उल्लेख आम बात है। संसार का कोई भी देश, बहुजातीय राष्ट्र की हैसियत से, इतिहास को ध्यान में रखें तो, भारत का मुकाबला नहीं कर सकता। यहाँ राष्ट्रीयता एक जाति द्वारा दूसरी जातियों पर राजनीतिक प्रभुत्व कायम करके स्थापित नहीं हुई। यह मुख्यत: संस्कृति और इतिहास की देन है। इस संस्कृति के निर्माण में इस देश के कवियों का सर्वोच्च स्थान है।

इस देश की संस्कृति से रामायण और महाभारत को अलग कर दें, तो भारतीय साहित्य की आन्तरिक एकता टूट जायेगी। किसी भी बहुजातीय राष्ट्र के सामाजिक विकास में कवियों की ऐसी निर्णायक भूमिका नहीं रही, जैसी इस देश में व्यास और वाल्मीकि की है। इसलिए किसी भी देश के लिए साहित्य की परम्परा का मूल्यांकन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना इस देश के लिए है।

यदि समाजवादी व्यवस्था कायम होने पर ज़ारशाही रूस नवीन राष्ट्र के रूप में पुनर्गठित हो सकता है, तो भारत में समाजवादी व्यवस्था कायम होने पर यहाँ की राष्ट्रीय अस्मिता पहले से कितना पुष्ट होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है। वास्तव में समाजवाद हमारी राष्ट्रीय आवश्ययकता है। पूँजीवादी व्यवस्था में शक्ति का इतना अपव्यय होता है कि उसका कोई हिसाब नहीं है। देश के साधनों का सबसे अच्छा उपयोग समाजवादी व्यवस्था में ही सम्भव है। अनेक छोटे-बड़े राष्ट्र, जो भारत से ज्यादा पिछड़े हुए थे, समाजवादी व्यवस्था कायम करने के बाद पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा शक्तिशाली हो गये हैं, और उनकी प्रगति की रफ़्तार किसी भी पूँजीवादी देश की अपेक्षा तेज़ है। भारत की राष्ट्रीय क्षमता का पूर्ण विकास समाजवादी व्यवस्था में ही सम्भव है।

और साहित्य की परम्परा का पूर्ण ज्ञान समाजवादी व्यवस्था में ही सम्भव है। समाजवादी संस्कृति पुरानी संस्कृति से नाता नहीं तोड़ती,- वह उसे आत्मसात् करके आगे बढ़ती है। अभी हमारे देश की निरक्षर निर्धन जनता नये और पुराने साहित्य की महान उपलब्धियों के ज्ञान से वंचित है। जब वह साक्षर होगी, साहित्य पढ़ने का उसे अवकाश होगा, सुविधा होगी, तब व्यास और वाल्मीकि के करोड़ों नये पाठक होंगे। वे अनुवाद में ही नही, उन्हें संस्कृत में भी पढ़ेगे। और तब इस देश में इतने बड़े पैमाने पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान होगा कि सुब्रह्मण्य भारती की कविताएँ मूलभाषा में उत्तर भारत के लोग पढ़ेंगे और रवीन्द्रनाथ की रचनाएँ मूलभाषा में तमिलनाडु के लोग पढ़ेगे। यहाँ की विभिन्न भाषाओं में लिखा हुआ साहित्य जातीय सीमाएँ लाँघकर सारे देश की सम्पत्ति बनेगा। जिस भाषा के बोलनेवाले अधिकतर निरक्षर हैं और अपने साहित्यकारों का बहुत से बहुत नाम सुनते हैं, वे तो इनकी रचनाएँ पढ़ेंगे ही। और तब अंग्रेज़ी भाषा प्रभुत्व जमाने की भाषा न होकर वास्तव में ज्ञान-अर्जन की भाषा होगी। और हम केवल अंग्रेज़ी नहीं, यूरुप की अनेक भाषाओं के साहित्य का अध्ययन करेंगे, और एशिया की भाषाओं के साहित्य से हमारा परिचय गहरा होगा। तब मानव संस्कृति की विशद धारा में भारतीय साहित्य की गौरवशाली परम्परा का नवीन योगदान होगा।

(परंपरा का मूल्यांकन से)

18. फ्रांसीसी राज्यक्रांति और मानवजाति के सांस्कृतिक विकास की समस्या

— डॉ० रामविलास शर्मा

[1]

फ्रांस की राज्यक्रांति का बहुत गहरा असर अनेक देशों पर पड़ा, विशेष रूप से यूरोप के देशों में जो जागरण हुआ, साहित्य में जो प्रगति हुई, उसका घनिष्ठ संबंध फ्रांस की राज्यक्रांति से है। यह क्रांति 18वीं सदी के अंतिम चरण में हुई, उसके बाद इंगलैंड में प्रसिद्ध साहित्यिक आंदोलन चला जिसे हम रोमांटिक आंदोलन के नाम से जानते हैं। फ्रांस में बादशाही और उसके समर्थक जमींदारों की सत्ता बलपूर्वक उलट दी गई। इस सत्ता का बहुत बड़ा समर्थक वहाँ का पादरी समुदाय था, उसका प्रभुत्व भी समाप्त किया गया। यूरोप में कोई ऐसा देश नहीं था जिसमें भूस्वामी और उसके साथ चर्च प्रभुसत्ता पर अधिकार न किए रहा हो। यूरोप के अन्य देशों की अपेक्षा इंगलैंड आर्थिक विकास में आगे बढ़ा हुआ था। किंतु 18वीं सदी के उत्तरार्ध में, औद्योगिक क्रांति के बावजूद, राज्यसत्ता पर अधिकार अभी वहाँ के बड़े जमींदारों का था। इंगलैंड का चर्च भी बहुत शक्तिशाली था। फौज में और नाकरशाही में अभिजात वर्ग का बोलबाला था। इंगलैंड के बुद्धिजीवी और क्रांतिकारी यह देखते थे कि जब तक इस अभिजात वर्ग को सत्ता से नहीं हटाया जाता, तब तक उनका देश प्रगति नहीं कर सकता। इसी सामाजिक संदर्भ में हमें रोमांटिक आंदोलन और उस पर फ्रांसीसी राज्यक्रांति के प्रभाव का अध्ययन करना चाहिए।

इंगलैंड के रोमांटिक कवियों की पहली पीढ़ी में प्रमुख थे वर्ड्सवर्थ और कोलरिज। 1798 में दन दोनों ने मिलकर एक युगांतरकारी पुस्तक निकाली थी जिसका नाम था लिरिकल बैलेड्स। इंगलैंड में शेक्सपियर के जमाने में और उसके पहले बहुत-सा बैलेड साहित्य रचा गया था। यह साहित्य अधिकतर मौखिक, लोकसाहित्य जैसा था। अभिजातवर्गीय साहित्य की भाषा जिस तरह की थी, उससे बैलेड साहित्य की भाषा काफी भिन्न थी। उक्त कवियों ने अपनी पहली पुस्तक का नाम लिरिकल बैलेड्स रखा, यह तथ्य ध्यान आकर्षित करता है। फ्रांसीसी राज्यक्रांति का प्रभाव सबसे पहले इसी में दिखाई देता है कि साहित्य को संवर्धित करने के लिए ये लोग लोकसाहित्य पर ध्यान देते हैं। वर्ड्सवर्थ और कोलरिज दोनों ने पुराने साहित्य का गहराई से अध्ययन किया; खास तौर से कोलरिज ने पुरानी बैलेड कविताओं का अनुकरण किया। उनकी छंद-योजना, उनकी भाषा, बहुत जगह उनके विषय का भी अनुकरण उन्होंने किया था। प्रसिद्ध है कि रोमांटिक कवियों ने लिरिक कविताएँ रचीं। आमतौर से माना जाता है कि लिरिक कविताओं में कवि अपनी व्यक्तिगत भावनाएँ व्यक्त करता है, इन कविताओं का संबंध अधिकतर उसके अपने सुख-दुख से होता है। किंतु पुराना बैलेड साहित्य मुख्यत: वर्णनात्मक है, नाटकीय है। बहुत-सी रोमांटिक कविताएँ ऐसी हैं जिनका संबंध कवि के व्यक्तिगत जीवन से है परंतु बहुत-सी लिरिक कविताएँ ऐसी भी हैं जो नाटकीय हैं, वर्णनात्मक हैं, राजनीतिक हैं। इनमें वस्तुगत स्थितियों का वर्णन किया गया है। लिरिक कह देने से यह न समझना चाहिए कि समस्त रोमांटिक कविता व्यक्ति केंद्रित है। वास्तव में अधिकांश रोमांटिक कविता नाटकीय है या वर्णनात्मक है। उसका एक अंश ही लिरिक का हैं। लिरिकल बैलेड्स में वर्ड्सवर्थ और कोलरिज एक ओर लिरिक कविता का विकास कर रहे थे, दूसरी ओर उसका संबंध पुराने ढंग के बैलेड साहित्य से जोड़ रहे थे।

वर्ड्सवर्थ ने एक प्रसिद्ध निबंध लिखा था जिसमें उन्होंने 18वीं सदी की अभिजातवर्गीय काव्य-भाषा की आलोचना की थी। इस निबंध में उन्होंने कहा था कि कविता में ऐसी भाषा का व्यवहार करना चाहिए जो आम जनता की भाषा हो। अभिजातवर्गीय भाषा आज जनता की भाषा नहीं है, उसे कविता की भाषा बनाए रखना सही नहीं है। उनके इस निबंध पर बहुत बहस हुई है और अभी तक लोग वर्ड्सवर्थ की आलोचना करते चले आ रहे हैं। लिरिकल बैलेड्स के दौर के बाद वर्ड्सवर्थ और कोलरिज की मित्रता टूट गई और कोलरिज ने भी वर्ड्सवर्थ की आलोचना कर डाली। यह स्मरण रखना चाहिए कि वर्ड्सवर्थ का सारा दृष्टिकोण अभिजात वर्ग के विरोध से संबंधित है। वह केवल कविता की भाषा को नहीं, कविता की विषयवस्तु को भी सामान्य जनों तक, विशेष रूप से गाँव के किसानों तक ले जाना चाहते थे। जो कविता कुछ अपवादों को छोड़कर, अभिजात वर्ग तक सीमित थी, उसे वह अब एक नए धरातल पर विकसित करना चाहते थे। इंगलैंड के एक राजनीतिज्ञ थे चार्ल्स जेम्स फॉक्स। जनवरी, 1801 में उन्हें अपनी दो कविताएँ भेजते हुए वर्ड्सवर्थ ने लिखा था, "ये दो कविताएँ मैंने यह दिखाने के लिए लिखी थीं कि जो लोग सुंदर कपड़े नहीं पहनते, वे भी गहराई से भावों का अनुभव कर सकते हैं।

कविता में व्यक्त भाव ऐसी चीज नहीं है जिन पर अभिजात वर्ग का इजारा हो। वर्ड्सवर्थ की धारणा है कि अभिजात वर्ग के भाव बहुत ही छिछले होते हैं। गहराई से चीजों को देखने, उनका अनुभव करने, उनके प्रति अपनी संवेदनाएँ प्रकट करने की क्षमता जितनी आम जनता में होती है, उतनी उच्च वर्गों में नहीं होती। जून, 1802 में वर्ड्सवर्थ ने जॉन विल्सन को एक पत्र लिखा, "जो लोग समाज में हमारे स्तर के हैं, वे बार-बार एक गलती करते हैं। वह यह कि वे समझते हैं कि जिनके साथ उनका उठना-बैठना होता है, वे लोग और मानव प्रकृति एक ही चीज हैं। हम लोग आखिर किसके साथ ज्यादा उठते-बैठते हैं? भद्र लोगों के साथ, भाग्यशाली लोगों के साथ, पेशेवर लोगों के साथ, महिलाओं के साथ, ऐसे लोगों के साथ जिनमें आधी अशरफी के मूल्यवाली पुस्तकें

खरीदने या आसानी से प्राप्त करने की क्षमता है, जो किताबें लकदक बहुत ही नफीस कागज पर छपी हुई हों। यह सही है कि ये सब लोग भी मानव प्रकृति का एक हिस्सा हैं लेकिन यह दुखदायी भूल होगी यदि हम समझ लें कि विशाल मानव-अस्तित्व के सही प्रतिनिधि यही हैं। फिर भी बहुत कम ऐसे लोग हैं जो पुस्तकों के बारे में इस तरह न सोचते हों कि ये जो उच्च स्तर के लोग हैं, इन्हीं को प्रसन्न करने की शक्ति उनमें होनी चाहिए। बहुत कम ऐसे लोग हैं जो नीचे उतरते हैं, जो झोंपड़ों और खेतों तक जाते है और बच्चों तक पहुँचते हैं।" इस उद्धरण से पाठक देखेंगे कि वर्ड्सवर्थ बहुत साफ तरीके से आम जनता को अभिजात वर्ग से अलग करते हैं। वह समझते हैं कि पुस्तकें सिर्फ उन लोगों के लिए न लिखनी चाहिए जो धनी हैं, जो अच्छी-अच्छी किताबें खरीद सकते हैं। कवियों का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वे इन्हें प्रसन्न करने को कविता रचें। उनको साधारण लोगों की तरफ ध्यान देना चाहिए और उन बच्चों की तरफ भी देना चाहिए जो अभी धनी वर्ग की बहुत-सी बुराइयों के शिकार नहीं हुए। बच्चोंवाली बात से रवींद्रनाथ की याद आ जाती है। उन्होंने बहुत-सी कहानियों में गाँव के लोगों का वर्णन किया है और बहुत-सी कहानियों और कविताओं में बच्चों के जीवन का चित्रण किया है। वर्ड्सवर्थ और उनसे पहले ब्लेक ने बच्चों के ऊपर कविताएँ लिखी हैं। यह एक व्यापक धरातल है जो अभिजातवर्गीय संकीर्णता से साहित्य को ऊपर उठाता है।

वर्ड्सवर्थ ने कविता और कविता की भाषा पर विचार करते हुए स्पष्ट लिखा था, "साधारण और देहात का जीवन आमतौर से इसलिए चुना गया था कि उस परिस्थिति में हृदय के मूल भावों को परिपक्व होने के लिए ज्यादा अच्छी जमीन मिलती है, वहाँ उनके ऊपर प्रतिबंध कम होता है और वे अधिक जोरदार और अधिक साफ भाषा बोल सकते हैं।" वर्ड्सवर्थ को प्रकृति का कवि माना जाता है। वह हैं भी प्रकृति के बहुत अच्छे कवि परंतु इस निबंध में उन्होंने जो सिद्धांत प्रतिपादित किया है, उसमें जोर प्रकृति के ऊपर नहीं, मनुष्य के ऊपर है, गाँव के मनुष्य के ऊपर। प्रकृति की चर्चा सिर्फ इसलिए है कि उसके संसर्ग में गाँव का मनुष्य सारा जीवन बिताता है। आगे चलकर वर्ड्सवर्थ के चिंतन में यह मनुष्य पीछे रह गया, प्रकृति आगे आ गई। जिस समय फ्रांस की राज्यक्रांति का असर वर्ड्सवर्थ पर गहरा था और ताजा था, वह सबसे पहले सामान्य जनों पर ध्यान केंद्रित किए थे। उनका एक वाक्य शिक्षाप्रद है - और इस तरह की बातें हमारे यहाँ के साहित्यक आंदोलनों में अक्सर दोहराई गई है। But Poets do not write for Poets alone, but for men. प्रश्न किया गया है कि साहित्य किसके लिए लिखा जाता है। कवियों का ध्यान अक्सर दूसरे कवियों पर रहता था। कवियों का एक छोटा-सा गुट काव्य रचता है, दूसरा गुट प्रशंसा या निंदा करता है। बाकी समाज से कुछ लेना-देना नहीं होता। यहाँ वर्ड्सवर्थ लोकसाहित्य की धारणा प्रस्तुत करते हैं। साहित्य केवल कवियों के लिए नहीं होता, वह मनुष्यों के लिए होता है। यहाँ 'मनुष्य' अभिजात वर्ग से बाहर कामकाजी मनुष्य हैं, खासतौर से किसान हैं। वे सब मानवजाति हैं, उसका मुख्य अंग हैं, और उनके लिए साहित्य रचा जाना चाहिए। फ्रांसीसी राज्यक्रांति ने मानव मात्र की समानता की घोषणा की थी। स्वाधीनता, समानता और भाईचारा, ये उसके तीन प्रसिद्ध नारे थे। वर्ड्सवर्थ चाहते हैं कि न केवल एक भाषा बोलनेवाले कविता द्वारा संबद्ध हों, एक दूसरे से भाईचारे की भावना से मिलें और साथ रहें, वरन समस्त मानवजाति एक ही भाईचारे में बँधकर नया जीवन बिताए। उनका वाक्य है - The Poet binds together by passion and knowledge the vast empire of human society, as it is spread over the whole earth; and over all time.

मानवजाति समस्त धरती पर फैली हुई है, समस्त काल में उसका प्रसार है। इस मानव समाज को आपस में बाँधनेवाला कौन है? वह कवि है। और कवि उसे बाँधता है भाव और ज्ञान के द्वारा। भाव और ज्ञान वर्ड्सवर्थ के लिए परस्पर विरोधी नहीं हैं। वे एक दूसरे के पूरक हैं, एक साथ चलते हैं। कविता के लिए भावशक्ति और ज्ञानशक्ति का संयोग दरकार है। फ्रांसीसी राज्यक्रांति ने जो भाईचारे का नारा दिया था, उसे हम वर्ड्सवर्थ को अंग्रेजी कविता में लागू करते हुए देखते हैं।

वर्ड्सवर्थ प्रकृति के उपासक थे। उन्होंने प्रकृति को लगभग वही स्थान दिया जो धार्मिक साहित्य में ईश्वर को दिया जाता है। चर्च के समर्थक वर्ड्सवर्थ की प्रकृतिसंबंधी रचनाओं से प्रसन्न नहीं थे। वर्ड्सवर्थ ने ईश्वर का सीधा विरोध न करके उसके स्थान पर प्रकृति को स्थापित किया था। प्रकृति से मनुष्य का जो सहज लगाव है, उसके साथ जो उसका चिरंतन संसर्ग है, उस पर उन्होंने बल दिया था। उनकी प्रकृति कोई अमूर्त सत्ता नहीं है; वह इंगलैंड की प्रकृति है, विशेष रूप से इंगलैंड के ऊपरी भाग की प्रकृति है। यहाँ के पक्षियों, झीलों, पर्वतों पर, और इनके बीच रहनेवाले मनुष्यों पर वर्ड्सवर्थ ने बहुत-सी कविताएँ लिखीं। चर्च का जो विरोध फ्रांसीसी राज्यक्रांति की विशेषता है, यहाँ वह इस ढंग से प्रकट होता है। आगे चलकर वर्ड्सवर्थ के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। वह प्रकृति को छोड़कर सीधे चर्च और ईश्वर पर कविताएँ लिखने लगे। जो प्रारंभिक क्रांतिकारी उत्साह था, वह समाप्त हो गया। लेकिन आलोचक यह स्वीकार करते हैं कि जीवन के उत्तरार्ध में उन्होंने जो कविताएँ लिखी, वे निर्जीव-सी हैं। जहाँ-तहाँ पुराने वर्ड्सवर्थ की झलक मिल जाती है किंतु जिस आस्था से, जिस विश्वास से उन्होंने पहले रचनाएँ की थीं, और जिससे यह युगांतरकारी परिवर्तन अंग्रेजी काव्य में हुआ, वह बाद में नहीं रहा। बाद में जो भी हुआ, उससे साबित यही होता है कि फ्रांसीसा राज्यक्रांति की सकारात्मक भूमिका के समाप्त हो जाने पर, शासक अभिजात वर्ग का साथ देने पर, वर्ड्सवर्थ की प्रतिभा कुंठित हो गई। अधिकतर आलोचक सारी समस्याओं पर शुद्ध मनोविज्ञान के स्तर पर विचार करते हैं। अंग्रेजी साहित्य का एक प्रसिद्ध इतिहास है जो लेगुई और कज़ामियाँ, इन दो फ्रांसीसी विद्वानों ने लिखा था। इनमें कज़ामियाँ अक्सर मनोविज्ञान के स्तर पर

साहित्यकारों के व्यक्तित्व और उनकी रचनाओं का विश्लेषण करते हैं। इसलिए वर्ड्सवर्थ और कोलरिज के संबंध मे उन्होंने जो कुछ कहा है, वह और भी महत्त्वपूर्ण है। इंगलैंड में पहले धार्मिक जागरण हुआ, उसके बाद मनुष्य के चिंतन को जो निर्णायक धक्का लगा, वह फ्रांसीसी राज्यक्रांति का था - The decisive shock to thought comes with the French Revolution. अंग्रेज साहित्यकारों के चिंतन को जिस चीज ने निर्णायक रूप से झकझोरा, वह थी फ्रांस की राज्यक्रांति। आगे कहते हैं, वर्ड्सवर्थ और कोलरिज को जिस क्रांतिकारी आस्था ने अब तक आंदोलित किया था, वह उनके कलात्मक और मानवीय कर्म का स्रोत है - The revolutionary faith which had Thitherto animated them is the source of their artistic and human vacation.

मनुष्य के रूप में वे जो कुछ करते हैं और कलाकार के रूप में जो कुछ रचते हैं, वह क्रांतिकारी आस्था से प्रेरित है। यह क्रांतिकारी आस्था उन्होंने फ्रांसीसी राज्यक्रांति से प्राप्त की थी। कज़ामियाँ कहते हैं - वे एक आंदोलन के सिद्धांतकार हैं, उसके मसीहा हैं, भविष्यद्रष्टा हैं। बहुत दिनों से जैसे लोग उनकी बाट जोह रहे थे। वे इस रूप में स्थापित हुए, उनके सिद्धांत स्थापित हुए तो उसी क्रांतिकारी आस्था के कारण। उसी से उनको मान्यता प्राप्त हुई।'

इंगलैंड के पाँच रोमांटिक कवियों ने साहित्य को संवर्धित किया, इसके बारे में संदेह की गुंजाइश नहीं है। वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, शेली, बायरन, कीट्स - ये कवि किस हद तक फ्रांसीसी क्रांति से प्रभावित थे, यह प्रभाव अच्छा था या बुरा, इस पर आज तक बहस होती चली आ रही है। किंतु किसी न किसी रूप में इन पाँचों कवियों पर राज्यक्रांति का प्रभाव पड़ा, इस बारे में किसी को दुविधा नहीं हैं। शेक्सपियर और मिल्टन के बाद अंग्रेजी कविता का यह सबसे महत्त्वपूर्ण युग था, इस बारे में भी किसी को संदेह नहीं है। वर्ड्सवर्थ के उदाहरण से देखा जा सकता है कि मानवजाति के सांस्कृतिक विकास में फ्रांसीसी राज्यक्रांति का महत्त्वपूर्ण योगदान था। फ्रांस की यह राज्यक्रांति फ्रांसीसी जनता की जातीय क्रांति भी थी। फ्रांसीसी लोगों को जाति के रूप में संगठित करने का बहुत कुछ श्रेय उस प्रेरणा को है जो उन्हें इस क्रांति से प्राप्त हुई थी। इस क्रांति ने पड़ोसी देशों में भी इस जातीय भाव को जाग्रत किया। इन पड़ोसी देशों में इंगलैंड भी था। इंगलैंड में जो पुनर्जागरण का युग कहलाता है, जिसके महान साहित्यकार शेक्सपियर और मिल्टन थे, उसकी उपलब्धियों को 18वीं सदी में अभिजातवर्गीय प्रभाव से बहुत कुछ नकारा गया था। उसके कुछ सतही रूपों को उभारा गया था, उसका जो वास्तविक मानवतावाद था, उसे दबा दिया गया था। फ्रांसीसी राज्यक्रांति के बाद इंगलैंड में जो रोमांटिक आंदोलन शुरू हुआ, उसके सूत्रधारों ने अपनी जातीय विरासत को फिर से पहचाना। इस विरासत में शेक्सपियर तो थे ही, मिल्टन का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण था। उन्होंने 17वीं सदी के उस गृहयुद्ध में भाग लिया था जिसमें बादशाही को ध्वस्त कर दिया गया था और इंगलैंड में गणतंत्र की स्थापना हुई थी। रोमांटिक कवियों में प्राय: सभी मिल्टन को किसी न किसी संदर्भ में याद करते हैं। इनमें अग्रणी हैं वर्ड्सवर्थ। 1802 में उन्होंने मिल्टन पर एक सॉनेट लिखा था। उसमें उन्होंने मिल्टन का आह्वान किया था कि देश को तत्कालीन स्थिति से उबारने के लिए उन्हें फिर आना चाहिए। अर्थात मिल्टन के समय की क्रांति ने जो कार्य किए थे, वे अधूरे रह गए थे; उन्हें पूरा करने के लिए मिल्टन को फिर से अपने देश में आना चाहिएं। इस सॉनेट में वर्ड्सवर्थ ने अपने देश के लिए कहा है कि वह एक दलदल है जिसमें पानी बराबर सड़ रहा है- She is a fen of stagnant waters. पानी ठहरा हुआ है, और पानी सड़ रहा है। अलंकार योजना हटा दी जाए तो इसका अर्थ यह है कि अभिजात वर्ग के प्रभुत्व से इंगलैंड अभी निकला नहीं है। औद्योगिक क्रांति हो चुकी है किंतु अब भी अभिजात वर्ग शासक वर्ग बना हुआ है। उसके प्रभाव से जनता में अनेक प्रकार के अंधविश्वास फैले हुए हैं। किसान अभी वास्तविक रूप में स्वतंत्र नहीं हुए। इसलिए जो व्यापक सांस्कृतिक विकास होना चाहिए था, वह नहीं हुआ। इस तरह अप्रत्यक्ष रूप से वर्ड्सवर्थ ने मिल्टनयुगीन 17वीं सदी की क्रांति को समकालीन फ्रांस की राज्यक्रांति से जोड़ा।

पुरानी विरासत का फिर से मूल्यांकन करनेवालो में वर्ड्सवर्थ के सहयोगी कोलरिज भी थे। अंग्रेजी आलोचना का विकास जैसा कोलरिज ने किया, वैसा उनसे पहले किसी ने न किया था। वैसे तो कोलरिज ने आलोचना बहुत लोगों पर लिखी है, अनेक सिद्धांनों की चर्चा की है, पर दो बातें विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्होंने शेक्सपियर के नाटकों की जो व्याख्या की, उससे शेक्सपियर का आधुनिक मूल्यांकन आरंभ होता है। कोलरिज से पहले किसी ने इस बात पर ध्यान न दिया था कि उनके पात्रों में इतनी मनावैज्ञानिक गहराई है। मनुष्य के मन का अध्ययन कुछ नाटकों में शेक्सपियर का केंद्रीय विषय है। उन्होंने समाज का चित्रण किया है और उस समाज में रहने वाले अनेक प्रकार के मनुष्यों का चित्रण किया है। उनके नाटकों में जो शिखर पर हैं, उनके पात्रों का जैसा चरित्र-विश्लषण कोलरिज ने किया, वैसा उनके पहले किसी ने न किया था। इस तरह उन्होंने शेक्सपियर के अध्ययन में एक नई मनावैज्ञानिक दिशा की ओर संकेत किया। अधिकांश अंग्रेजी आलोचना कोलरिज के मार्ग पर ही बढ़ती दिखाई देती है। यह एक तरह से शेक्सपियर का उद्धार करना था जिसका श्रेय कोलरिज को है। उनसे पहले के आलोचक अरस्तू से बहुत ज्यादा प्रभावित थे। फ्रांस का अभिजात वर्ग और बहुत कुछ उसका अनुकरण करनेवाला इंगलैंड का अभिजात वर्ग अरस्तू को गुरु मानता था। 16वीं सदी से पहले अरस्तू का प्रभाव चर्च के भीतर-बाहर था ही। इस दीर्घकालीन प्रभाव को समाप्त करने का श्रेय रोमांटिक कवियों को है। इनसे अग्रगण्य हैं कोलरिज। अरस्तू के प्रभाव से मुक्त होने के बाद ही शेक्सपियर तथा अंग्रेजी साहित्यकारों का नया मूल्यांकन संभव हुआ।

कोलरिज की सिद्धांत-चर्चा में नई बात यह है कि वह काव्य-प्रक्रिया में दो पक्ष देखते हैं। एक है उसका स्वत:स्फूर्त पक्ष और दूसरा है उसका विवेक नियंत्रित पक्ष। भावबोध के साथ विवेक सक्रिय है। यह द्वंद्ववाद है, डायलेक्टिक्स को लागू करने का प्रयास है और शायद कोलरिज पहले आलोचक हैं जिन्होंने अंग्रेजी आलोचना में डायलेक्टिक्स के सिद्धांत को लागू किया है। जो स्वत:स्फूर्त है, वह नियंत्रित नहीं है, जो नियंत्रित है, वह स्वत:स्फूर्त नहीं है। दो विराधी चीजें हैं। साहित्य पूरी तरह नियंत्रित नहीं होता; होता तो उसके नियम सीख लिए जाते और कोई भी आदमी बहुत बड़ा साहित्यकार हो जाता। दूसरी तरफ वह विवेक से, नियमों से परे नहीं होता, आदमी उन नियमों को पूरी तरह जाने चाहे न जाने। इसलिए वह पूरी तरह स्वत:स्फूर्त नहीं होता। साहित्य स्वत:स्फूर्त होता है और नियमबद्ध भी होता है। इन दो पक्षों के मिलने से साहित्य-रचना संभव होती है।

कोलरिज ने मनुष्य की चेतना के नए स्तरों को टटोला। उन्होंने शेक्सपियर के नायकों के मन में पैठने की चेष्टा की थी; वैसे ही उन्होंने अपने मन के अंदर पैठने का प्रयत्न भी किया था। शेक्सपियर के बाद शायद अंतर्मन का वैसा कलात्मक चित्रण अंग्रेजी साहित्य में अन्यत्र नहीं है जैसा कोलरिज में दिखाई देता है। जिन्हें लोग सुपरनेचुरल कहते हैं, प्रकृति से परे जो शक्तियाँ हैं, भूत-प्रेत आदि, उन पर जो उनकी कविताएँ हैं अथवा जहाँ मनुष्य फैंटेसी की दुनिया में रहता है, वह सब कोलरिज के अंतर्मन का चित्रण हैं। उनका एन्शेंट मेरीनर एक मल्लाह है; वह है तो मनुष्य, लकिन लगता है, किसी दूसरी दुनिया से आया है। क्रिस्टाबेल कविता का वातावरण मध्यकाल का है। एक अधूरी कविता है कुब्ला खान। इसका नायक भी मनुष्य है। लेकिन जिस दुनिया में कोलरिज हमें ले जाते हैं, वह सामान्य जीवन की दुनिया नहीं है। इन तीन कविताओं में उन्होंने मानव-मन के नए स्तरों का उद्‌घाटन किया है। शेक्सपियर के अध्ययन से उन्हें इस दिशा में आगे बढ़ने की कितनी प्रेरणा मिली, यह कहना कठिन है। अभी मनोविज्ञान की पुस्तकें न लिखी जा रहीं थीं। शेक्सपियर के समय में तो उनका और भी अभाव था। शेक्सपियर और कोलरिज, ये दोनों कवि मनुष्य के अंतर्मन में पैठने का प्रयास करते हैं, मन की शास्त्रीय सीमाएँ तोड़ देते हैं। 18वीं सदी में सामान्यत: जो कविताएँ लिखी जाती थीं, उनमें मनुष्य की कल्पना के पर जैसे बाँध दिए गए थे। जिसे विवेक कहा जाता है, वह अभिजात वर्ग का सीमित सौंदर्यबोध था। जो कुछ अभिजात वर्ग को अच्छा लगता है वह विवेकपूर्ण है, उचित है; उससे परे जो कुछ भी है, वह अविवेकपूर्ण है, अशास्त्रीय है, अनुचित है। इसीलिए रोमांटिक कविता की तुलना में 18वीं सदी की कविता, ब्लेक या बर्न्स जैसे कवियों को छोड़कर, नीचे स्तर की मालूम होती है। रोमांटिक कवियों की यह बहुत बड़ी देन है कि उन्होंने मनुष्य को स्वाधीन किया। यह कल्पना वर्ड्सवर्थ में एक ढंग की है, कोलरिज में दूसरे ढंग की। इस पर बहुत लिखा गया है कि कल्पना वास्तव में होती क्या है। यहाँ इतना ही कहना काफी है कि कोलरिज कल्पना के ऊपर कोई प्रतिबंध नहीं मानते, वह अपनी चेतना को मुक्त आगे बढ़ने, स्वप्न देखने की छूट देते हैं। इस तरह 19वीं सदी में अति यथार्थवाद तक जो भी कल्पनाशील रचनाएँ सामने आई हैं, वे किसी न किसी रूप में कोलरिज की ऋणी हैं। इन रचनाओं कोलरिज ने बैलेड रूप को ग्रहण किया है। बैलेड रूप में छंद इतना मुक्त है कि शेक्सपियर के बाद अंग्रेजी साहित्य में उतना मुक्त वह नहीं देखा गया। 18वीं सदी में छंद बड़े नपे-तुले होते थे। पाठक जानता था, अब यति आनेवाली है, अब अंत्यानुप्रास आनेवाला है। रोमांटिक कवियों ने शेक्सपियर के युग की बहुत-सी छंद-शैलियों को फिर से प्रचारित किया, इनमें कोलरिज ने आगे बढ़कर काम किया। कोलरिज जहाँ अतियथार्थवादी दिखाई देते हैं, मध्यकालीनता का वातावरण रचते दिखाई देते हैं, वहाँ भी वे लोकसंस्कृति के नजदीक हैं। ऊपर से देखने में लगेगा कि ये सब बातें फ्रांसीसी राज्य-क्रांति से बहुत दूर की हैं लेकिन उस क्रांति ने अंग्रेज कवियों के चिंतन को झकझोरा था, उसका फल यह हुआ कि अभिजातवर्गीय विवेक की सीमाएँ टूटीं, अभिजातवर्गीय कल्पना की सीमाएँ भी टूटीं।

फ्रांस की राज्यक्रांति के बाद यूरोप के बादशाह, बड़े-बड़े जमींदार फ्रांस पर आक्रमण की तैयारी करने लगे। रूसी क्रांति के बाद जैसे साम्राज्यवादी देशों ने रूसी प्रजातंत्र को घेरकर उसका नाश करने का प्रयत्न किया था, वैसा ही प्रयत्न 18वीं सदी के अंत में ब्रिटेन और यूरोप के अर्ध सामंती शासकों ने किया था। इंगलैंड ने फ्रांस से लड़ाई छेड़ दी। बहुत से लेखकों के मन में अंतर्द्वंद्व मचा कि किसका साथ दें। इंगलैंड अपना देश है, वहाँ का शासक वर्ग लड़ रहा है; और फ्रांस एक क्रांतिकारी देश है, वहाँ की जनता सामंतवाद को खत्म करना चाहती है। किसके साथ सहानुभूति होनी चाहिए ? कोलरिज ने 1798 में एक कविता लिखी थी - 'फ्रांस ऐन ओड'। इसमें उन्होंने अपनी स्थिति बहुत स्पष्ट कर दी है। "फ्रांस आजाद है। उसके गीत चिरंजीवी हैं। जहाँ तक ब्रिटेन का संबंध है, वह नाम सुनकर मैंने शर्म से अपना सिर झुका लिया और ब्रिटेन के नाम पर आँसू गिराए।" And hung my head and wept at Britain's name. जो प्रबुद्ध साहित्यकार थे, वे समझ रहे थे कि यूरोप के प्रतिक्रियावादी मिलकर फ्रांसीसी राज्यक्रांति की उपलब्धियों का नाश करना चाहते हैं और वे अपने देश के शासक वर्ग की आलोचना करने में पीछे नहीं थे, फ्रांसीसी राज्यक्रांति ने घोषणा की थी कि मनुष्य मात्र समान हैं किंतु फ्रांस अपने उपनिवेश बना रहा था और ब्रिटेन ने भी साम्राज्य का प्रसार किया था। रोमांटिक कवियों ने इस उपनिवेशवाद का विरोध किया। इन कवियों में कोलरिज भी थे। जिस साल उन्होंने फ्रांस पर उपर्युक्त कविता लिखी थी, उसी साल उन्होंने एक दूसरी कविता लिखी थी 'फियर्स इन सौलीट्यूर्ड' (अकेलेपन के भय)। इसमें वह ब्रिटिश नीति की आलोचना करते हैं : "जिस तरह मिस्र के विषैले दलदल से बादल उठते हैं और हवा के साथ उड़ते चले जाते हैं, उसी तरह मेरे देशवासियो, हम लोग दूर-दूर के समाजों तक गए हैं, और अपने साथ गुलामी और मुसीबतें

ले गए हैं। इनसे भी घातक हमारे दुर्गुण हैं। इनका गहरा असर मनुष्य को धीरे-धीरे नारकीय यातना देकर संपूर्ण मनुष्य का, उसके शरीर और उसकी आत्मा का, नाश करता है।"

कोलरिज जैसे कवियो की सहानुभूति उन लोगों के साथ थी जो उत्पीड़ित थे, जो साम्राज्यवाद की गुलामी में फँस रहे थे। यह चेतना शेली और बायरन में और भी प्रखर है। शेली ईश्वर पर विश्वास न करते थे, कोलरिज ईश्वर पर विश्वास करते थे। वर्ड्सवर्थ ईश्वर की जगह प्रकृति को प्रतिष्ठित कर रहे थे। चर्च के विरोधी ये सभी लोग थे। वर्ड्सवर्थ और कोलरिज अपने रचनात्मक दौर में, लगभग 1815 तक, सांप्रदायिक ढंग से चर्च के साथ न बँधे थे। 'लाइंस' नाम की एक कविता में कोलरिज ने लिखा कि ईश्वर ने मनुष्यजाति को एक विशाल परिवार की तरह रहने को बनाया है, वह हमारा पिता है और यह सारा संसार हमारा घर है। यहाँ ईश्वर का नाम आने से यह न समझना कि फ्रांसीसी राज्यक्रांति से जो भाईचारे का संदेश मिला था, वह खत्म हो गया। कोलरिज का ईश्वर हर जगह है, उसने सभी मनुष्यों को बनाया है। इसलिए संसार का नया रूप होना चाहिए, जहाँ सब लोग भाई-भाई की तरह मिलकर शांति से रह सकें।

कोलरिज की तरह कीट्स अत्यंत कल्पनाशील कवि हैं, वह सघन इंद्रियबोध के कवि हैं। चित्रकला की बहुत-सी प्रभावशाली विशेषताएँ उनकी कविता में दिखाई देती हैं, 19वी सदी के परवर्ती कवियों पर जितना प्रभाव कीट्स का है, उतना शायद अन्य किसी कवि का न होगा। ऊपर से देखने में लगता है कि ऐसा कवि राजनीति से बहुत दूर होगा। दरअसल रोमांटिक कविता के साथ जो पलायनवाद की धारणा जुड़ी हुई है, उसमें सबसे पहले लोगों को कीट्स का नाम ही याद आता है। किंतु यदि कोलरिज के उदाहरण को सामने रखें और इस बात पर विचार करें कि किस नए साहित्यिक आंदोलन ने मनुष्य की कल्पना को नई दिशाओं में विकसित होने का अवसर दिया तो उससे कीट्स की कविता में ऐसा कुछ आश्चर्यजनक न दिखाई देगा जिससे हम कहें कि उनकी कल्पनाशीलता का कोई भी संबंध फ्रास की राज्यक्रांति अथवा उनके समकालीन सामाजिक आंदोलनों से नहीं है। अंग्रेज कवियों में शायद वह सबसे अधिक शेक्सपियरयुगीन कवियों के समीप थे। उन पर उन्होंने अनेक सुंदर कविताएँ लिखीं, उनसे अंग्रेजो भाषा सीखी। कीट्स के लिए प्रसिद्ध है कि वह ग्रीक भापा न जानते थे, लैटिन भाषा का बहुत सामान्य ज्ञान था। शेक्सपियर के लिए भी कहा जाता है कि उन्हें ग्रीक-लैटिन का विशेष ज्ञान न था। जो भी हो, अंग्रेजी भाषा की जैसी विशेषताएँ शेक्सपियर में दिखाई देती हैं, वैसी ही अनेक विशेषताएँ कीट्स में भी हैं। अंग्रेज आलोचक मैथ्यू आर्नेल्ड शेली की रचनाओं से काफी क्षुब्ध थे पर वह कीट्स के बहुत बड़े प्रशंसक थे और उनका विचार था कि शेक्सपियर के बाद अगर किसी ने अच्छी अंग्रेजी लिखी है, तो कीट्स ने लिखी है।

रोमांटिक कवियों के बारे में लोग समझते हैं कि ये अधिकतर अपने बारे में लिखते हैं। कीट्स ने भी अपने बारे में काफी लिखा है किंतु उनकी अधिकांश रचनाएँ वर्णनात्मक हैं। उन्होंने पद्य में कथाएँ लिखी हैं और बहुत अच्छी कथाएँ लिखी हैं; संभवत: बायरन के साथ रोमांटिक कवियों में वह सबसे अच्छे वर्णनात्मक कविता के लेखक हैं। वर्ड्सवर्थ प्रकृति के कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं, शेली ने भी बहुत अच्छी प्रकृति संबंधी कविताएँ की हैं। जैसी सघन ऐंद्रियता कीट्स की प्रकृतिसंबंधी कविताओं में है, वैसी अन्य 19वीं सदी के कवियों में नहीं है। उन्हें प्रकृति के श्रेष्ठ कवियों में गिना जाना चाहिए। कोलरिज की तरह उन्होंने पुराने बैलेड साहित्य का अध्ययन किया था। वह फ्रांसीसी भाषा से परिचित थे। पुरानी फ्रांसीसी में जो बैलेड लिखे गए थे, उनसे भी परिचित थे। उनकी एक प्रसिद्ध कविता है, 'ला बेल दाम सांमूसी।' इसका शीर्षक उन्होंने एक पुरानी फ्रांसीसी बैलेड से लिया था। लोक-कविताओं की कला को आत्मसात करने का जो रुझान कोलरिज में दिखाई देता है, वही कीट्स में पुष्ट होता है।

बहुत समय तक लोग यह मानते रहे कि कीट्स केवल इंद्रियबोध और किशोर कल्पनाओं के कवि हैं, उनमें कोई वैचारिक दृढ़ता नहीं है। किंतु परवर्ती अनुसंधान और उनके काव्य के विवेचन ने यह सिद्ध कर दिया कि वह एक गंभीर विचारक थे। उनके विचार जैसे कविता में व्यक्त हुए हैं, उससे भी स्पष्ट रूप में वे उनके गद्य में व्यक्त हुए हैं। कोलरिज ने बहुत गद्य लिखा है, कीट्स ने बहुत कम गद्य लिखा है। लेकिन कीट्स का गद्य कसा हुआ है और 19वीं सदी के श्रेष्ठ गद्यशिल्प का नमूना है। यह गद्य अधिकतर उनके पत्रों में है। इसमें, उन्होंने कविता के बारे में, अनेक कवियों के बारे में, अपने विचार व्यक्त किए हैं। कीट्स के समय में इस बात पर बहुत बहस होती थी कि मानवजाति प्रगति कर सकती है या नहीं। फ्रांसीसी राज्यक्रांति के बाद बहुत से लोग यह समझते थे कि मनुष्य की प्रकृति पूर्णत: बदल जाएगी। इनके विरोधी कहते थे कि मनुष्य की प्रकृति हमेशा एक-सी रही है, कभी न बदलेगी। इस विवाद से थोड़ा हटकर कीट्स ने 'हाइपीरियन' कविता लिखी जिसमें देवताओं का पुराना समूह हटा दिया जाता है और उसकी जगह नया समूह आता है।

सूर्य के पुराने देवता हाइपीरियन हैं, उन्हें हटा दिया जाता है, उनकी जगह सूर्य के नए देवता अपोलो आते हैं, वह उनसे अधिक सुंदर हैं। कीट्स ने कविता इस तरह लिखी है कि हाइपीरियन के प्रति पाठक में गहरी सहानुभुति जागृत होती है, साथ ही वह अपोलो से भी आकर्षित होता है। यह कविता पूरी नहीं हुई। इसमें कीट्स ने जो संदेश दिया है, वह यह है कि समाज बदलता

है और जो नए मनुष्य आते हैं, वे पहलेवालों की अपेक्षा अधिक सुंदर होते हैं और शक्तिशाली भी होते हैं। शक्ति और सौंदर्य का संबंध जोड़ने वाले संभवत: अंग्रेजी के वह पहले कवि हैं। यह भी मनोरंजक तथ्य है कि इस कविता पर मिल्टन का बहुत अधिक प्रभाव है। इस प्रभाव से कीट्स को असंतोष भी हुआ और उन्हें लगा कि इस कविता में भाषा की जैसी भव्यता है, वह बोलचाल की भाषा से दूर है। इसलिए उन्होंने उसे फिर से लिखना शुरू किया और फिर से लिखने में उन्होने दांते का प्रभाव ग्रहण किया। दांते इटली के बहुत प्रसिद्ध कवि थे और उनकी भाषा बोलचाल की भाषा के बहुत निकट है। कीट्स दांते की तरह सारी घटानाएँ स्वप्न में देखते हैं; इसके साथ भाषा में सरलता और शक्ति का सामंजस्य भी उन्होंने दांते से सीखा। यह कविता भी अधूरी है किंतु वह कीट्स के नए विकास की ओर संकेत करती है। 20वीं सदी में ऐसे बहुत से कवि हुए हैं जिन्होंने दांते का अनुकरण किया है। रचनात्मक ढंग से दांते का अनुसरण करते हुए, अंग्रेजी कविता और अंग्रेजी भाषा की जातीय विशेषताओं की रक्षा करते हुए, कीट्स ने इस दिशा में पहल की थी। यहाँ हम परवर्ती कवि रोसेत्ती का जिक्र कर सकते हैं। इटालियन उनकी मातृभाषा थी, वह अंग्रेजी के कवि थे और वह कीट्स से भी बहुत प्रभावित थे। उन्होंने दांते के ऊपर अनेक कविताएँ लिखी हैं। रोसेत्ती चित्रकार भी थे। उन्होंने और उनके सहयोगियों ने कीट्स की कविताओं पर अनेक चित्र बनाए हैं। दोनों की कल्पना ऐसी है कि वह काव्यकला को चित्रकला बना देती है।

सितंबर, 1819 में कीट्स ने अमरीका में रहने वाले अपने भाई जॉर्ज कीट्स को एक पत्र लिखा था। इसमें उन्होंने सामाजिक विकास के बारे में और यूरोप तथा ब्रिटेन के इतिहास के बारे में अनेक विचार व्यक्त किये थे। इन विचारों में एक महत्त्वपूर्ण धारणा यह है कि प्रगति अविच्छिन्न निरंतरता के साथ नहीं होती। समाज आगे बढ़ता है, कभी-कभी वह पीछे हटता है और फिर आगे बढ़ता है। उन्होंने कहा था कि मध्ययुग के बाद जो पहला परिवर्तन हुआ, वह अच्छा था। उसके बाद का परिवर्तन बुराई की दिशा में हुआ। और उसके बाद परिवर्तन फिर अच्छाई की ओर हुआ। पहला परिवर्तन यह था कि राजा ने सामंतों के उत्पीड़न को दबाया और उस समय उसने आम जनता के साथ संयुक्त मोर्चा बनाया। अभी उसने स्थाई सेना संगठित न की थी। टेक्स भी थोड़े ही थे और इस तरह जनता शक्तिशाली हुई। राजा उस पर शासन करता था किन्तु जनता एक तरह से उसके ऊपर अपना प्रजा-दंड ताने हुए थी -and the people held a rod over kings. 'निरंकुश' राज्यसत्ता दरअसल जनता पर निर्भर थी, उसके कार्यक्रम की दिशा सामंतो के विरुद्ध थी उसके बाद जो दूसरा परिवर्तन हुआ, उससे समाज पीछे हटा। अब राजा सचमुच निरंकुश हो गया। उसने जनता को दबाना शुरू किया और बड़े सामंत थे, उनसे उसने दोस्ती की ये सामंत उसके चाटुकार हो गए। इस तरह राजाओं ने एक लंबा संघर्ष चलाया जिससे कि जनता के अधिकार नष्ट कर दिए जाएँ।

प्रजा के अधिकारों का नाश करने के लिए राजाओं ने दीर्घकाल तक संघर्ष किया। इसके बाद प्रतिक्रिया हुई। इंगलैंड के लोगों ने राजा के विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी। 17वीं सदी के जिस गृहयुद्ध की उपज क्रॉमवेल और मिल्टन थे, उसके बारे में कीट्स ने लिखा था- The English were the only people in Europe who made a grand kick at this. इंगलैंड की जनता ने एक जबर्दस्त ठोकर मारी और बादशाही खत्म कर दी। कीट्स को अपने जातीय इतिहास पर गर्व है, यूरोप में सबसे पहली सामंत-विरोधी क्रांति इंगलैंड में हुई। वह क्रांति जनता ने की और बादशाही के विरुद्ध की। उसके बाद वह फ्रांसीसी राज्य क्रांति की ओर आते हैं और कहते हैं - The example of England, and the liberal writers of France and England sowed the seed of opposition to this Tyranny — and it was swelling in the ground till it burst out in the French Revolution. इंगलैंड के उदाहरण ने फ्रांस की जनता को प्रेरित किया। इसके सिवा वहाँ के जो लेखक थे, वे अत्याचारों के विरुद्ध जनता को प्रेरित करते रहे थे। अंतत: यह विद्रोह-भावना संगठित होकर फ्रांसीसी राज्यक्रांति के विस्फोट के रूप में लोगों के सामने आई। कीट्स संभवत: पहले इतिहास-विवेचक हैं, जिन्होंने इंगलैंड के गृहयुद्ध का संबंध फ्रांस की राज्यक्रांति से जोड़ा और बताया कि दोनों में बादशाही और अत्याचार के विरुद्ध जनता ने संघर्ष किया। यह तीसरा परिवर्तन था, और जनता फिर शक्तिशाली हुई। समाज इस तरह प्रगति करता है। किंतु फ्रांस की राज्यक्रांति से डरकर इंगलैंड के बादशाह ने अपनी निरंकुशता को और दृढ़ किया। जमींदार वर्ग ने अपनी शक्ति को और संगठित किया और उसने प्रयत्न किया कि समाज में हर तरह के विकास, हर तरह के सुधार का रास्ता बंद कर दिया जाए। समकालीन राज्यसत्ता और समकालीन शासकवर्ग की तीखी आलोचना कीट्स के इस पत्र में है। उन्होंने लिखा कि फ्रांसीसी राज्यक्रांति का एक दुर्भाग्यपूर्ण अंत इंगलैंड में हुआ। उसने इंगलैंड में स्वाधीन चिंतन की द्रुत प्रगति पर रोक लगा दी। It put a stop to the rapid progress of free sentiments. जो लोग इंगलैंड के जनतंत्र का बहुत गुणगान करते हैं, उन्हें देखना चाहिए कि फ्रांस की राज्यक्रांति के बाद इंगलैंड में जनतंत्र का विकास न हो रहा था, वरन् जो अधिकार जनता को पहले से प्राप्त थे, उनको भी समाप्त किया गया था। कीट्स ने आगे कहा -and (it) gave our Court hopes of turning back to the despotism of the 16th Century. राजदबार को आशा हुई कि अब फ्रांसीसी राज्यक्रांति से भय उत्पन्न करके हम फिर 16वीं सदी की निरंकुशता की ओर लौट जाएँगे। They have made a handle of this event in every way to undermine our freedom. शासकवर्ग ने प्रयत्न किया है कि फ्रांसीसी राज्यक्रांति का बहाना बनाकर, लोगों को क्रान्ति का भय दिखाकर, हर तरह से हमारी स्वाधीनता की जड़ें काट दे। शासकों ने जनता में एक भयानक

अंधविश्वास फैलाया कि किसी तरह का भी सुधार, किसी तरह की भी नई प्रगति हानिकारक है। They spread a horrid superstition against all innovation and improvement. इस समय स्थिति यह है कि इस अंधविश्वास को मिटाने के लिए इंगलैंड की जनता संघर्ष कर रही है। The present struggle in England of the people is to destroy this superstition. और यह केवल सोच-विचार की बात नहीं है; लोगों के दशा ऐसी है, वे ऐसी कठिनाई में जी रहें हैं, कि वे विद्रोह करने पर आमादा हो गए हैं। What has roused them to do it is their distress. यदि वे विद्रोह करें तो मानना चाहिए कि कष्टों से भी लाभ हुआ है, जनता ने विद्रोह करना तो सीखा। यद्यपि यह अनुभव बहुत ही भयानक है, फिर भी उससे लाभ हो सकता है। Perhaps on this acccount the present distresses of this nation are a fortunate thing — tho' so horrid in their experience.

19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में, औद्योगिक क्रांति के बाद, इंगलैंड की जनता अपार कष्टों का सामना कर रही थी। वह फ्रांसीसी राज्यक्रांति से प्रभावित होकर वहाँ दूसरी बार भी गृहयुद्ध छेड़ सकती थी। लेकिन फ्रांस आक्रमण करने आ रहा है, तुम्हारी प्रभुसत्ता का नाश हो जाएगा, तुम गुलाम हो जाओगे - इस तरह की धारणाओं का प्रचार करके शासक वर्ग ने जनता को दबाया। कीट्स को आशा थी कि अपनी कठिनाइओं से क्षुब्ध होकर जनता विद्रोह करेगी किंतु ऐसा नहीं हुआ। उनके पत्र की थोड़ी-सी पंक्तियाँ देखकर पाठक समझ सकेंगे कि फ्रांसीसी राज्यक्रांति का उतना ही गहरा असर कीट्स पर था जितना वर्ड्सवर्थ, कोलरिज अथवा अन्य किसी कवि के ऊपर था।

जिसे रोमांटिसिज़्म (छायावाद, स्वच्छंदतावाद) कहा जाता है, वह अनेक प्रकार का था। कभी-कभी एक ही कवि में कई तरह का रोमाटिसिज़्म देखने को मिलता है। इंगलैंड के रोमांटिक कवियों में बायरन ने व्यंग्यपूर्ण कविताएँ सबसे अधिक लिखीं। उनसे पहले के युग में ड्राइडन और पोप बहुत शक्तिशाली व्यंग्यकार हुए थे। बायरन ने इनसे बहुत-सी बातें सीखीं किंतु अपने युग के अनुरूप उन्होने व्यंग्य कविता को नई दिशा में मोड़ा। छंद की दृष्टि से, संरचना की दृष्टि से, विषयवस्तु की दृष्टि से, यह नई दिशा थी। पुराने व्यंग्यकार अधिकतर इस तरह व्यंग्य करते थे कि पाठक की सहानुभूति शासक वर्ग के प्रति बनी रहे। बायरन शासक वर्ग को, और उसके साथ जो बुद्धिजीवी थे, उनको अपने प्रहार का लक्ष्य बनाते थे। उन्होंने एक बड़ा काव्य लिखा था डॉनजुआन। जैसे स्पेन के प्रसिद्ध लेखक सरवेंटीस का उपन्यास दोन किख़ोते बड़े आकार का है, पुराने महाकाव्यों की याद दिलाता है, फिर भी व्यंग्यप्रधान है, वैसे ही यह डॉनजुआन महाकाव्य की तरह है, फिर भी व्यग्य प्रधान है। बायरन ने ब्रिटिश समाज के किसी स्तर को छोड़ा नहीं है। जितना भी रूढ़िवाद था, जितनी भी सड़ी-गली चीजें समाज के अंदर थीं, पारिवरिक जीवन से लेकर राजनीति तक, सभी आडंबरों पर तीव्र प्रहार बायरन ने इस काव्य में किया है। व्यंग्यपूर्ण कविताओं के अलावा उन्होंने भावुकतापूर्ण, कल्पनाशील रचनाएँ भी की हैं। प्रारंभ में उन्होंने बहुत-सी पद्य कथाएँ लिखीं और ये बहुत लोकप्रिय हुईं। इनकी कल्पनाशीलता यथार्थ से दूर है, कुछ सनसनीखेज घटनाएँ होती हैं, नायक को अतिरंजित रूप में वीर और प्रेमी बनाकर चित्रित किया जाता है। बायरन को इससे बड़ी ख्याति मिली, यह बात सही है, किंतु ये पद्यकथाएँ उनकी श्रेष्ठ रचनाएँ नहीं हैं। इनसे मिलती-जुलती चीज उन्होंने यात्रा-काव्य के रूप में लिखी। इसमें चाइल्ड हैराल्ड्स पिल्ग्रिमेज नामक उनका प्रसिद्ध काव्य है। इसके प्रारंभिक अंश पहले लिखे गए और फिर कुछ वर्षों के अंतराल के बाद दूसरे अंश लिखे गए। चाइल्ड हैराल्ड एक तरह के बायरन स्वयं हैं, वे यात्रा करते हैं और यात्रा के दौरान विभिन्न देशों की परिस्थितियाँ देखते हैं। यह काव्य इंगलैंड के अलावा यूरोप में बहुत ही लोकप्रिय हुआ। इसका कारण यह था कि अनेक देशों से लोग अपने यहाँ की निरंकुश राज्यसत्ता के खिलाफ लड़ रहे थे। अपने यात्रा-काव्य द्वारा बायरन ने इन संघर्षों का समर्थन किया। अपने समय के वह ऐसे अंग्रेज कवि थे जिन्हें देश के अलावा यूरोप में जबरदस्त लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। उस समय इटली में संघर्ष चल रहा था। यूनान में केवल आंतरिक संघर्ष नहीं, बाहरी शत्रु के खिलाफ भी संघर्ष चल रहा था। तुर्कों ने यूनान पर अपना आधिपत्य जमा रखा था। वहाँ की जनता स्वाधीन नहीं थी। उसे अपने देश की निरंकुश सत्ता से नहीं लड़ना था बल्कि विदेशी सत्ता से लड़ना था। 19वीं सदी के जितने प्रगतिशील बुद्धिजीवी थे, वे सब तुर्कों के विरुद्ध यूनान के स्वाधीनता-संग्राम का समर्थन कर रहे थे। इनमें बायरन और शेली प्रमुख थे।

कुछ अत्यंत उत्साहवर्धक राजनीतिक कविताएँ बायरन ने यूनान के बारे में लिखी थीं। यूनानियों ने प्राचीन काल में ईरान के आक्रमणकारियों को मैराथान नाम के प्रसिद्ध मैदान में परास्त किया था। इस मैदान में खड़े होकर बायरन कहते हैं, मैं यहाँ के प्राचीन इतिहास को देख रहा हूँ। ये पर्वत उस समय से यहाँ खड़े हुए हैं, और मैं सोचता हूँ कि शायद यूनान के लोग फिर उठ खड़े होंगे और इन नए आततायी आक्रमणकारियों को निकाल बाहर करेंगे। वह कविता ऐसी है जिसे कोई निष्ठावान यूनानी देशभक्त लिख सकता था। विदेशी होते हुए भी दूसरे देश के स्वाधीनता आंदोलन से ऐसा आत्मीय संबंध स्थापित करना बायरन के उदार मानवतावाद का प्रमाण है। अपने जीवन के अंतिम चरण में उन्होंने यूनान के स्वाधीनता-संग्राम में सक्रिय भाग लिया। उनकी मृत्यु भी वहीं यूनान में हुई। दिन पर दिन उनका राजनीतिक दृष्टिकोण परिपक्व होता गया, पहले की भावुकता कम होती गई; परिस्थितियों का वस्तुगत अध्ययन करना, उनसे सही निष्कर्ष निकालना, यह उनके विकास की दिशा थी। आलोचक मैथ्यू आरनौल्ड बायरन के प्रशंसक थे: जिस

तरह बायरन ब्रिटिश समाज से विक्षुब्ध थे, उसी तरह आरनौल्ड भी अपने समकालीन समाज से क्षुब्ध थे। उन्होंने बायरन के राजनीतिक चिंतन का मानो निचोड़ प्रस्तुत करते हुए उनके ये शब्द उद्धत किए थे - Give me a republic. The king times are fast finishing, there will be blood shed like water and like mist, but the peoples will conquer in the end. I shall not live to see it, but I foresee it. बायरन का कहना था कि बादशाह नहीं, मुझे प्रजातंत्र चाहिए। बादशाहों के दिन लद गए। खून पानी की तरह बहेगा और आँसू कुहासे की तरह झरेंगे। लेकिन जनता अंत में विजयी होगी। मैं यह सब देखने को जीवित न रहूँगा किंतु भविष्य के गर्भ में मैं उसे देख रहा हूँ। बायरन को जनता की शक्ति में अटूट विश्वास था और वह समझते थे कि ब्रिटेन तथा यूरोप में क्रांति विजयी होगी। यह आस्था उनकी काव्यशक्ति का स्रोत है।

बायरन की सहानुभूति यूरोप के देशों की स्वाधीनता की लड़ाई तक सीमित नहीं थी। वह भारत की ओर देख रहे थे। 1757 में पलासी की लड़ाई के बाद 1857 के स्वाधीनता संग्राम तक अंग्रेज भारत में अपना राज्य बराबर बढ़ाते गए और उसे सुदृढ़ करते गए। ब्रिटेन और यूरोप के प्रबुद्ध विचारक और साहित्यकार इस सारे साम्राज्य-विस्तार से प्रसन्न नहीं थे। वे जानते थे कि अंग्रेज भारतवासियों की उन्नति के लिए वहाँ नहीं गए। वे उन्हें गुलाम बना रहे हैं और इससे एक सभ्य देश का विकास समाप्त हो जाएगा, वह सदियों पीछे ठेल दिया जाएगा। जिन अंग्रेज कवियों ने भारत के बारे में लिखा, उनमें बायरन अग्रगण्य हैं। 1811 में उन्होंने एक कविता लिखी जिसका शीर्षक है 'द कर्स ऑफ मिनरवा'। मिनरवा नाम की देवी इंगलैंड के निवासियों को शाप देती है। अंग्रेज़ों को स्वाधीनता प्राप्त हुई है लेकिन वे अपनी स्वाधीनता का दुरुपयोग कर रहे हैं, वे दूसरों को गुलाम बना रहे हैं। जिन्हें वे गुलाम बना रहे हैं, वे एक दिन अवश्य विद्रोह करेंगे और इन्हें अपने देश से निकाल बाहर करेंगे। इस कविता के साथ 1857 के संग्राम को याद करें तो ऐसा लगेगा कि बायरन महान भविष्यद्रष्टा हैं: 1857 में जो कुछ घटित हुआ, उसका पूर्वाभास 1811 की इस कविता में हैं -

Look to the East, where Ganges, swarthy race
Shall shake your tyrant empire to its base;
Lo! there Rebellion rears her ghastly head,
And glares the Nemesis of native dead;
Till Indus rolls a deep purpureal flood
And claims his long arrear of northern blood,
So may ye perish! Pallas, when she gave
Your free born rights, forbade ye to enslave.

मिनरवा अंग्रेज़ों से कहती है : 'पूरब की तरफ देखो। गंगा के किनारे ये जो काले आदमी हैं, वे तुम्हारे अत्याचारी साम्राज्य को उसकी जड़ सहित हिला देंगे। देखो, वह विद्रोह अपना भयावना सिर उठा रहा है। और देशीजनों की मृत्यु का प्रतिशोध दहक रहा है। सिंधु नदी लाल रक्त की धारा जैसी बह रही है। उत्तर के निवासियों का रक्त वह माँगती रही है, वह बहुत पुरानी माँग अब पूरी हो रही है। इसी तरह तुम्हारा नाश हो। पैलास देवी ने जब तुम्हें स्वाधीन नागरिकों के अधिकार दिए थे, तब उसने निषेध किया था कि दूसरों को दास मत बनाना।' बायरन की इन पंक्तियों से अंग्रेज शासक वर्ग के प्रति उनके तीव्र रोष का बोध होता है। केवल इंगलैंड की जनता पर नहीं, भारत की जनता पर भी उनके विश्वास का बोध होता है। वह समझते हैं कि ये लोग सदा गुलाम न बनें रहेंगे, वरन एक दिन प्रतिशोध लेंगे और अंग्रेजों की दासता से स्वयं को मुक्त करेंगे।

शेली की एक बहुत अच्छी कविता है 'ऐडोनिस', जो कीट्स की मृत्यु पर लिखी गई है। वह कविता केवल कीट्स पर नहीं है, सामाजिक जीवन में कवि की भूमिका पर भी है। शेली और कीट्स, दोनों ही कविता के प्रति जबरदस्त आस्था के धनी थे। कवि की रचना प्रक्रिया किस तरह की होती है, किन चीजों से प्रेरित होकर वह लिखता है, उसके कार्य का प्रभाव समाज पर कैसा पड़ेगा, इस बातों के ऊपर इन्होंने बहुत गहराई से सोचा था। वे कविता रचते समय जैसे स्वयं का अध्ययन करते जाते थे। रचनात्मक आलोचना के क्षेत्र में शेली और कीट्स ने गद्य और पद्य में जो कुछ लिखा है, वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। कवियों के प्रंसग में स्वभावत: शेली पुराने कवियों के बारे में सोचते हैं और इनमें मिल्टन का व्यक्तित्व उभर कर एक वीर नायक की तरह उनके सामने आता है। मिल्टन को याद करने का अर्थ है 17वीं सदी के गृहयुद्ध में प्रजादल का समर्थन, मिल्टन और क्रामवेल जिस क्रांति से जुड़े थे, उसका समर्थन। क्रांति के बाद प्रजातंत्र कायम हुआ, फिर वह समाप्त कर दिया गया, और जो पुराने क्रांतिकारी थे, उनसे बदला लिया गया। इस दौर में मिल्टन को भी बहुत कष्ट सहने पड़े। उनकी आँखों की ज्योति चली गई, फिर भी उन्होंने जनता की शक्ति में अपना विश्वास नहीं खोया। इसी को लक्ष्य करके कीट्स के ऊपर अपनी 'एडोनिस' कविता में शेली ने लिखा था-

Blind, old, and lonely, when his country's pride,
this priest, the slave, and the liberticide,
Trampled and mocked with many a loathed rite
Of lust the blood; he went, unterrified,
Into the gulf of death.

'अंधे हो गए थे, बूढ़े थे, अकेले थे, और उस समय उनके देश के गर्व को पुरोहित, दास, स्वतंत्रता के हत्यारे पैरों के नीचे रौंद रहे थे और वीभत्स क्रियाओं द्वारा उनका मखौल उड़ाते थे। ऐसे समय वह निर्भय होकर मृत्यु के गह्वर में आगे बढ़े।' बादशाहत फिर कायम हुई उसके प्रति शेली को कितनी घृणा थी, वह इन पंक्तियों से प्रकट होती है।

शेली और कीट्स एक दूसरे से बहुत भिन्न कोटि के कलाकार माने जाते हैं। कीट्स की रचनाएँ चित्रकला की याद दिलाती हैं। शेली की कविताएँ संगीतमय हैं, संगीतकला के बहुत निकट हैं। रोमांटिक भावबोध से कविता के जिस रूप का सबसे गहरा संबंध है, वह लिरिक है। यह स्वत:स्फूर्त गेयता शेली की कविता में सर्वाधिक विकसित हुई। वैसे उन्होंने काव्य में अनेक रूपों का प्रयोग किया। उन्होंने काव्यात्मक नाटक लिखे जैसे कीट्स और बायरन ने लिखे थे। उन्होंने वर्णनात्मक कविताएँ लिखीं। उन्होंने व्यंग्य रचनाएँ भी कीं। किंतु जिस तरह की कविताओं के लिए वह प्रसिद्ध हुए, जिनका प्रभाव केवल इंगलैंड, यूरोप पर ही नहीं बल्कि हमारे देश पर भी पड़ा, वे लिरिक थीं। यहाँ उल्लेखनीय यह हैं कि शेली की लिरिक कविता की विषयवस्तु उनके व्यक्तिगत तक सीमित नहीं है। वह अपने ऊपर लिखते हैं, वह प्रकृति के ऊपर लिखते हैं। वह राजनीतिक आंदोलनों पर भी लिखते हैं और यहाँ स्वत:स्फूर्त गेयता का गुण ले आते हैं। कविता इतने सहज ढंग से प्रवाहित होती है कि लगता है, आदमी उमंग में आकर गा रहा है। उनकी कविता में प्रेम, प्रकृति और सामाजिक परिवर्तन, ये तीन विषय लौट-लौटकर अनेक प्रकार से आते हैं एक संगीतकार की तरह मानो वह अनेक रागों में इन विषयों पर रचना करते हैं।

बायरन की तरह शेली को यूनान के स्वाधीनता-संग्राम से गहरी दिलचस्पी थी और यूनान के नव-जागरण पर उन्होंने हेलास नाम का नाटक लिखा था। यूनान के स्वाधीनता आंदोलन को बढ़ावा देने के लिए उन्होंने यह नाटक लिखा था। गद्य में उन्होंने इसकी एक भूमिका लिखी, उसके कुछ अंशों को प्रकाशक ने छापने से इनकार किया। बाद को वे अंश प्रकाशित हुए। उस भूमिका से ज्ञात होता है कि शेली हवाई सपने देखने वाले कवि नहीं थे। वे मानते थे कि जैसे यूरोप के अत्याचारी शासक मिलकर अपना एक मोर्चा बना लेते हैं, वैसे ही इनका विरोध करने वाले विभिन्न देशों के लोगों को अपना मोर्चा बनाना चाहिए। उन्होंने हेलास की भूमिका में लिखा था-

This is the age of the war of the oppressed against the oppressors, and everyone of those ring leaders of the privileged gangs of murderers and swindlers, called Sovereigns, look to each other for aid against the common enemy and suspend their mutual jealousies in the presence of a mightier feat. Of this holy alliance all the despots of the earth are virtual members. But a new race has arisen throughout Europe, nursed in the abhorrence of the opinions which are its chains, and she will continue to produce fresh generations to accomplish that destiny which tyrants foresee and dread.

'यह ऐसा युग है जब उत्पीड़ित जन उत्पीड़कों के विरुद्ध उठ खड़े हुए हैं और लड़ रहे हैं। ये जो विशेषाधिकारी हत्यारों और ठगों के गुट हैं, इनके नेता राजा-महाराजा कहलाते हैं। वे एक दूसरे की ओर देखते और सोचते हैं कि आज सामान्य शत्रु सामने है, हमें एक दूसरे की मदद करनी चाहिए। अधिक शक्तिशाली शत्रु के सामने वे आपसी ईर्ष्या-द्वेष को कुछ समय के लिए स्थापित कर देते हैं। यह जो उनका पवित्र गठबंधन है, धरती के सभी तानाशाह उसके सदस्य-से ही हैं। किंतु अब नई पीढ़ी का जन्म हो चुका है। समस्त यूरोप में यह नई पीढ़ी उन विचारों से घृणा करती है जो उसे अब तक जंजीरों से जकड़े हुए थे। नई-नई पीढ़ियाँ उत्पन्न होती रहेंगी जिससे कि जो चीज होनी ही है, जिससे अत्याचारी भय खाते हैं, जिसे वे भविष्य में देख रहे हैं, वह घटित होकर रहे।"[2] शेली की इन पंक्तियों से पाठक देखेंगे कि औद्योगिक क्रांति के बाद 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में अभी जो मुख्य कार्य था, वह सामंतवाद के अवशेषों और निरंकुश राजाओं की सत्ता को खत्म करना था। पूँजीवाद का विकास हुआ लेकिन पूँजीपतियों को जहाँ-तहाँ रिआयतें मिलीं, सत्ता उनके हाथ में नहीं थी, सत्ता पर अभिजात वर्ग हावी था। शेली की, और उनके बाद भी जो मजदूर आंदोलन इंगलैंड में चलाया गया उसकी, माँग मुख्यत: यही थी कि बादशाहत खत्म की जाए, बड़े जमींदारों के अधिकार खत्म किए जाएँ, चर्च का प्रभुत्व खत्म हो और लोकतंत्र कायम हो। एशिया की तरफ उँगली उठाकर तानाशाही और निरंकुशता की बात बहुत कही जाती है। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि इंगलैंड की औद्योगिकी क्रांति के बाद भी निरंकुश बादशाही यूरोप में जमी हुई थी और लोग इसी के विरुद्ध लड़ रहे थे। इस लड़ाई का समर्थन कर रहे थे शेली जैसे कवि, जो फ्रांसीसी राज्यक्रांति से प्रभावित थे।

वायरन ने 'द कर्स ऑफ मिनरवा' 1811 में लिखी, 1812 में शेली ने एक प्रसिद्ध निबंध लिखा 'ऐन ऐड्रेस टु दि आइरिश पीपुल'। अंग्रेजों ने केवल एशिया के लोगों को गुलाम न बनाया, अपने पड़ोसी देश आयरलैंड की गोरी जाति को भी गुलाम बनाया था। शेली यूनान की स्वाधीनता के समर्थक थे और आयरलैंड की स्वाधीनता के समर्थक थे। यह निबंध उन्होंने स्वयं आयरलैंड जाकर जनता के बीच बाँटा था। इसमें शेली ने कहा था अंग्रेज साम्राज्य-विस्तार के लिए जो युद्ध कर रहे हैं, उससे इंगलैड की सामान्य जनता को कोई भला होने वाला नहीं है। राष्ट्र की सीमाओं का विस्तार करने से या धन संग्रह करने से गरीब जनता के हितों को कोई लाभ न होगा। गौरव की प्राप्ति से गरीबों को कुछ नहीं मिलता। 'ग्लोरी' गौरव, यह एक ऐसा शब्द है जो महत्वाकांक्षा अथवा राजनीतिज्ञों के लोभ को छिपाने के लिए लबादे का काम करता है। स्पेन ने विजय प्राप्त की, वह बंजर विजय है। वह ऐसी सरकार के लिए प्राप्त की गई है जो धर्मांध है और अत्याचारी है। गरीबों को इससे कुछ नहीं मिला। उसके बाद कहते हैं - The conquests in India, by which England has gained glory indeed, but a glory not more honourable than that of Buonaparate, are nothing to them. The poor purchase this glory and this wealth at the expense of their blood and labour and happiness and virtue. 'अंग्रेजी ने भारत पर विजय प्राप्त की, इससे अवश्य इंगलैंड को गौरव प्राप्त हुआ। परंतु यह गौरव वैसे ही सम्मानप्रद नहीं है जैसे नैपोलियन बोनापार्ट ने यूरोप को जीता और उसका गौरव सम्मानप्रद नहीं है। यह विजय इंगलैंड के गरीबों के लिए कुछ भी नहीं है। जो गरीब आदमी हैं, वे यह गौरव और यह सम्पत्ति अपना खून देकर, अपना श्रम देकर, अपने सुख और सद्गुणों की बलि देकर खरीदते हैं।'[3] इन शब्दों में शेली ने साम्राज्य-विस्तार की निंदा की और उनकी सहानुभूति केवल आयरलैंड के गोरे लोगों के प्रति नहीं है, वह भारतवासियों के प्रति भी है। स्पष्ट है कि वह भारत को भी स्वतंत्र देखना चाहते हैं।

भारत के दर्शन के बारे में, भारत के धर्मों के बारे में, यहाँ के रीति-रिवाजों के बारे में अंग्रेज बहुत दिनों से घृणित प्रचार करते आए थे और वे इंगलैंड के लोगों को आश्वस्त करना चाहते थे कि वे भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करने आए हैं। शेली यह मानते थे कि इंगलैंड को ईसाई धर्म की जरूरत नहीं है। वे ईश्वर में विश्वास न करते थे। 'नास्तिकता की आवश्यकता' निबंध उनकी प्रारंभिक रचनाओं में है। ईसा मसीह के व्यक्तित्व के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हुए भी शेली ईसाई धर्म को अनावश्यक मानते थे। किंतु भारत के बारे में उन्हें जो कुछ समझाया गया था, उससे वह सोचते थे कि वहाँ की परिस्थितियों में यदि ईसाई धर्म का प्रचार किया जाए तो भारत के लिए लाभदायक होगा। किंतु उन्होंने इसके साथ यह भी लिखा कि यूरोप में और इंगलैंड में जैसे नवजागरण फैल रहा है और ईसाइयत से लोग मुक्त हो रहे है, वैसे ही आगे चलकर भारत में भी नवजागरण होगा। 1819 में उन्होंने एक निबंध लिखा था - A Philosophical View of Reform (सुधार के प्रति दार्शनिक दृष्टि)। इसमें उन्होंने भारत के बुद्धिजीवियों के बारे में लिखा था : ऐसा कहा जाता है कि भारत के बहुत से लोग यूरोप की कलाओं और दर्शन से खूब परिचित हो गए हैं। वहाँ वे लॉक और ह्यूम और रूसों बे बारे में वैसे ही सुपरिचित ढंग से बातें करते हैं जैसे यहाँ। भारतीय समाज को यहाँ शेली ने 'ब्रह्मनीकल' सोसाइटी कहा है। उन्हें बताया गया था कि समाज पर ब्राह्मणों का ही वर्चस्व है। उस समाज में लोग अब लॉक, ह्यूम और रूसो की बातें करते है। इसके बाद वह बताते हैं कि भारतवासियों को यूरोप के दर्शन से तभी लाभ होगा जब वे स्वयं अपनी संस्कृति का विकास करेंगे और स्वाधीन होकर ही वे इस संस्कृति का विकास कर सकते हैं। उनके शब्द हैं - But the thing to be sought is that they should as they would if they were free attain to a system of arts and literature of their own.

'जो उनका अपना साहित्य है, जो उनकी अपनी कलाएँ हैं, उनका विकास यदि वे स्वाधीन होते तो कैसे करते, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।'[4] इसलिए यूरोप के दर्शन से और कलाओं से उन्हें लाभ तभी होगा जब से स्वाधीन होकर अपनी संस्कृति का विकास करेंगे।

तोल्स्तोय की तरह शेली अहिंसावादी थे। वह चाहते थे कि लोग शांतिपूर्ण प्रतिरोध करें, हिंसा का सहारा न लें। फ्रांसीसी राज्यक्रांति के बारे में उनकी धारणा थी कि उससे जो उपलब्धि होनी चाहिए थी, वह हिंसा के कारण नहीं हुई। किंतु इस दिशा में उनके विचार हमेशा एक-से नहीं रहे। औद्योगिक क्रांति के बाद और उसके दौरान इंगलैड के मजदूर क्रमशः संगठित होने लगे। शेली के जीवनकाल में मैनचेस्टर नगर में मजदूरों ने सभा की और उस सभा को भंग करने के लिए शासक वर्ग ने उस पर निर्मम आक्रमण किया। सशस्त्र पुलिस दल ने घोड़ों पर सवार होकर भीड़ पर आक्रमण किया और उसमें बहुत-सी स्त्रियाँ, बच्चें और पुरुष मारे गए। शेली ने इसकी तीव्र भर्त्सना की और अपनी प्रसिद्ध कविता 'मास्क ऑफ अनार्की' लिखी। जैसे हेलास नाटक की भूमिका का एक अंश शेली के जीवन में प्रकाशित न हुआ, वैसे ही यह कविता भी उनके जीवनकाल में प्रकाशित न हुई। प्रकाशकों ने और शासकों ने जो विचार-स्वाधीनता पर रोक लगा रखी थी, उसका प्रभाव शेली की रचनाओं पर भी पड़ा। इन रचनाओं को जनता तक पहुँचने से रोका गया। 'मास्क ऑफ अनार्की' में शेली ने मजदूरों को संबोधित करते हुए कहा - जो जंजीरें तुम्हें जकड़े हुए हैं, वे तुम्हारे अंगों पर उस समय आ गिरी थीं जब तुम सो रहे थे। जैसे आकाश से ओस टपकती है वैसे ही ये जंजीरें तुम्हारे ऊपर गिरीं। अब तुम शेरों की तरह जागो और इन्हें झटककर फेंक दो, इसलिए कि तुम बहुसंख्यक हो और तुम्हारे उत्पीड़क थोड़े

से हैं। Ye are many - they are few. मजदूरों का इस तरह आह्वान करनेवाली - उत्पीड़क मुट्ठी-भर हैं और तुम बहुसंख्यक हो - यह अपने ढंग की पहली कविता है। शेली ने जिस निबंध में भारतवासियों से स्वाधीन होने और उनके सांस्कृतिक विकास की चर्चा की थी, लॉक ह्यूम और रूसों का उल्लेख किया था; उसी में उन्होंने इस प्रश्न पर विचार किया था कि जनता को विद्रोह करने का अधिकार है या नहीं। उन्होंने लिखा था कि प्रतिरोध में एक ऐसी सीमा आ सकती है जब लोगों को विद्रोह करना पड़े। विद्रोह करने का अधिकार इस स्थिति में पैदा होता है कि जाति की इच्छा को दबाने के लिए शासक शस्त्रबल का प्रयोग करते हैं। सरकार स्थायी सेना भंग कर दे तो प्रतिरोध का जो उद्देश्य है, वह विवाद के मुद्दों पर निरंतर आंदोलन करने से सिद्ध हो जाएगा। जो सामान्य कानून के न्यायालय हैं, उनके सामने ये मसले हल हो जाएँगे, जनता की एकता, उसकी जो विशाल संख्या है, उसके असामयिक प्रदर्शन से वे मसले हल हो जाएँगे। लेकिन यहाँ शर्त यह है कि सरकार अपनी स्थायी सेना भंग करे। यदि सरकार अपनी स्थायी सेना भंग नहीं करती और उससे वह लोगों के आंदोलन का दमन करती है, तब लोगों को क्या करना चाहिए? तब उन्हें विद्रोह करना चाहिए। शेली कहते हैं - The last resort of resistance is undoubtedly insurrection. The right of insurrection is derived from the employment of armed force to counteract the will of the nation. Let the government disband the standing army ... शेली ने स्पष्ट कर दिया कि अहिंसात्मक आंदोलन तभी सफल हो सकता है, तब शासक दल शस्त्रबल का प्रयोग न करे, जब शस्त्रबल का प्रयोग करने के साधन उसके पास न हों। जनता की विशाल संख्या, उसकी जातीय एकता शासक वर्ग को बाध्य कर सकती है कि वह सत्ता त्यागे और जनता के हाथ में प्रभुत्व सौंपे। किंतु ऐसा होता नहीं है और इसलिए विद्रोह की नौबत आती है।

फ्रांस की राज्यक्रांति में जो हिंसा हुई, उसकी भर्त्सना से संतोष करने के बदले शेली ने उस क्रांति के कारण को समझने का प्रयत्न किया; हिंसा क्यों हुई, यह समझने का प्रयत्न किया। 1812 में उन्होंने एक निबंध लिखा था - Proposals for an Association of Philanthropists (परोपकारियों के संगठन के बारे में प्रस्ताव)। इसमें उन्होंने कहा था - युगों की अबाध निरंकुशता ने फ्रांसीसी जाति को धूल में मिला दिया। फ्रांस के लोगों को लूटा गया, उन्हें अपमानित किया गया, एक के बाद दूसरे तानाशाहों का गुट उन पर शासन करता गया और इनमें प्रत्येक पहले वाले से अधिक खूँखार, अधिक निर्दय था। "इस तरह की स्थिति में फ्रांस के सैनिकों ने स्वाधीनता के लिए अमेरिका के मैदानों में लड़ना सीखा। और ठीक उसी समय विज्ञान का प्रकाश अंधविश्वासों के बादलों के बीच से फूटा जिन बादलों ने यूरोप के नैतिक दिवस को ढाँक लिया था। मनुष्य के पतन की जो परकाष्ठा हो सकती थी, उसमें फ्रांसीसी जन पड़े हुए थे। और जब उन्होंने सत्य की घोषणा सुनी, जिसे सुनने के कान आदी नहीं थे, कि वे मनुष्य हैं और दूसरों के बराबर हैं, तो सबसे पहले उठकर उन्होंने अपना आक्रोश उन लोगों पर उतारा जो धरती के इजारेदार बने हुए थे, इसलिए कि उन्हें खुले खजाने ठगा गया था, प्रकृति से उन्हें जो स्वाधीनता मिली थी, वह उनसे छीनी गई थी।" 'फ्रांस के लोगों ने विद्रोह इसलिए किया कि उन्हें दीर्घकाल तक सताया गया था। निरंकुश बादशाहों ने उन पर शासन किया और उन्हें अध:पतन की दशा में पहुँचा दिय। फ्रांस के लोग अमेरिका में जाकर लड़े। अमेरिका में ब्रिटेन के लोग आकर बसे थे। लेकिन ब्रिटेन के शासक अपने यहाँ के लोगों को सताते थे और अमरीकी उपनिवेशों में जो उनके भाई-बंधु थे, उनको भी गुलाम बनाकर रखना चाहते थे। इसे विरुद्ध अमरीकियों ने विद्रोह किया। उनके इस विद्रोह में फ्रांसीसियों ने स्वाधीनता के लिए लड़ना सीखा। स्वभावत: इसका असर फ्रांस के स्वाधीनता आंदोलन पर पड़ा अर्थात फ्रांस की राज्यक्रांति अमरीकी स्वाधीनता संग्राम से प्रभावित हुई।

शेली ने उन दार्शनिकों, विचारकों का उल्लेख भी किया जो चर्च के आधिपत्य और सांप्रदायिक अंधविश्वासों से लड़ते रहे थे। इनकी विचारधारा ने क्रांतिकारियों को प्रभावित किया। सभी मनुष्य समान हैं, यह सत्य फ्रांसीसी जाति ने सुना। जो लोग धरती के इजारेदार थे, सामंती विशेषाधिकारों के बल पर किसानों को भूमि से वंचित किए हुए थे, उन पर फ्रांसीसी जनता ने अपना क्रोध उतारा। दूसरे शब्दों में, फ्रांस की क्रांति सामंत विरोधी क्रांति थी, वह बादशाही सत्ता के विरुद्ध थी। उसे शासक वर्ग के उत्पीड़न ने अनिवार्य बना दिया था। उसमें महत्वपूर्ण भूमिका वहाँ के विचारकों ने निबाही थी। क्रांति के लिए जनमानस को तैयार करने में, विशेष रूप से शिक्षित वर्ग को तैयार करने में वहाँ के दार्शनिकों और विचारकों का बहुत बड़ा योगदान था। कीट्स ने जैसे इंगलैड के गृहयुद्ध और फ्रांस की राज्यक्रांति के संबंध को पहचाना था, वैसे ही शेली ने अमरीकी स्वाधीनता संग्राम और फ्रांस की राज्यक्रांति के संबंध को पहचाना। 1819 वाले सुधार संबंधी लेख में शेली ने कहा था - The just and successful revolt of America corresponds with a state of public opinion in Europe of which it was the first result. The French Revolution was the second. अमरीका में विद्रोह सफल हुआ। यूरोप की जो प्रगतिशील विचारधारा थी, यह विद्रोह उसके अनुरूप था और उस विचारधारा का यह पहला प्रतिफलन था। उसका दूसरा प्रतिफलन फ्रांस की राज्यक्रांति थी।[7] इस तरह शेली ने अमरीका और यूरोप के संबंधों को प्रगतिशील विचारधारा की बुनियाद पर देखा। जिस विचारधारा ने अमरीकी उपनिवेशियों को आजादी के लिए लड़ने को प्रेरित किया, वह उस विचारधारा से मिलती-जुलती थी जो फ्रांस में क्रांतिकारियों को प्रेरित कर रही थी। अमरीकी स्वाधीनता संग्राम संसार के क्रांतिकारी आंदोलन से कोई अलग-अलग घटना नहीं थी। वह इसका महत्वपूर्ण अंग था। वह स्वयं यूरोप के विचारधारा से प्रभावित था, और फिर उसने यूरोप तथा एशिया के स्वाधीनता आंदोलन को प्रभावित किया।

जैसे शेली ने अमरीका और यूरोप के क्रांतिकारी संबंधों को देखा था, वैसे ही उन्होंने यूरोप और ब्रिटेन के सांस्कृतिक संबंधों को भी देखा था। विशेष रूप से फ्रांस के दर्शन से समकालीन चिंतन का संबंध जोड़ा था और पुराने अंग्रेजी साहित्य से समकालीन अंग्रेजी साहित्य के संबंध पर जोर दिया था। जैसे कीट्स अंग्रेजी भाषा सीखने कै लिए शेक्सपियर के युग की ओर देखते थे, वैसे ही शेली चाहते थे कि ऐसी भाषा लिखी जाए जिसे सामान्य जनता समझे और कवि ऐसी भाषा अपने पूर्ववर्ती कवियों से सीख सकते हैं। शेली ने अपने नाटक चेंची की भूमिका में लिखा था, "मैं उन आधुनिक आलोचकों से एकदम सहमत हूँ जो कहते हैं कि लोगों को आंदोलित करने के लिए, उनमें वास्तविक सहानुभूति जगाने के लिए, हमें मनुष्यों की सुपरिचित भाषा का व्यवहार करना चाहिए। और यह कि हमारे महान पूर्वज प्राचीन कवि ऐसे लेखक है जिनके अध्ययन से हम वैसा ही कुछ स्वयं अपने युग के लिए करने की प्रेरणा पा सकते हैं जैसा कुछ उन्होंने अपने युग के लिए किया था।"[8]

शेली क्रांतिकारी विचारक थे, नई दिशाओं में साहित्य का विकास कर रहे थे। इसका अर्थ यह नहीं था कि उन्होंने पुराने साहित्य के प्रति निषेध-भावना स्वीकार कर ली थी। जहाँ 18वीं सदी के अभिजातवर्गीय साहित्य को उन्होंने अलग रखा, वहाँ पुनर्जागरण के साहित्य से अपना संबंध जोड़ा। शेक्सपियर, मिल्टन और उस युग के अनेक कवियों ने जो साहित्य रचा था, उसमें जैसी भाषा का व्यवहार किया था, उससे बहुत कुछ सीखा जा सकता है–शेली यह मानते थे। यह कोई अपनी विरासत पर संकीर्ण जातीयता वाला गर्व नहीं था। यूरोप में जो नवजागरण हुआ था और इंगलैड से पहले हुआ था, उसका महत्व भी वह जानते थे। शेली के समय में कुछ लोग कहने लगे थे कि अब कविता की आवश्यकता नहीं है। उनके इस प्रचार से क्षुब्ध होकर शेली ने एक बहुत जोरदार निबंध लिखा था कविता के पक्ष में - 'ए डिफेंस ऑफ पोएट्री'। इसमें उन्होंने इटली के महान कवि दांते के बारे में लिखा था - The poetry of Dante may be considered as the bridge thrown over the stream of time, which unites the ancient and modern world.

'दांते की कविता एक पुल की तरह है जो समय की नदी के ऊपर बना दिया गया है। यह पुल आधुनिक संसार को प्राचीन संसार से जोड़ता है'।[9] यही बात एंगेल्स ने 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के इटालियन संस्करण की भूमिका में दांते के बारे में कही था। "दांते मध्यकाल के अंतिम कवि हैं और आधुनिक युग के वह प्रथम कवि हैं।" इस तरह मानो वह दो संसारो को जोड़ रहे हैं। शेली ने उसी निबंध में आगे लिखा था, "यूरोप निद्रा में डूबा हुआ था, उसे सबसे पहले जगानेवाले दांते थे।"[10] इंगलैंड का नवजागरण और इटली का पुनर्जागरण एक दूसरे से जुड़े हुए थे। वैसे ही अमरीकी स्वाधीनता संग्राम और फ्रांस की राज्यक्रांति एक दूसरे से जुड़े हुए थे।

इसी व्यापक दृष्टिकोण से शेली आयरलैंड की स्वाधीनता, भारत की स्वाधीनता, यूनान की स्वाधीनता, इन सबको एक ही विशाल क्रांतिकारी आंदोलन से जोड़ रहे थे। क्रमशः मजदूर वर्ग की भूमिका महत्वपूर्ण होने लगी थी। शेली के देहांत के बाद इंगलैंड में जो शक्तिशाली चार्टिस्ट आंदोलन चला, उसने शेली की इस स्थापनाओं को ग्रहण किया और सक्रिय रूप से भारत के स्वाधीनता संग्राम का समर्थन किया।

[2]

1835 में ब्रिटेन में एक जबरदस्त मजदूर आंदोलन शुरू हुआ। इसे चार्टिस्ट आंदोलन कहते हैं। यह आंदोलन कितना जोरदार था, इसका पता यूरोप के लोगों को नहीं था। एंगेल्स ने 10 साल बाद लिखी हुई 'मजदूर वर्ग की अवस्था' पुस्तक में बताया था कि जर्मन लोग नहीं जानते, किस तरह यह आंदोलन आगे बढ़ा था। जनता से कहा गया था कि वह सशस्त्र हो जाए। अक्सर उसे विद्रोह करने के लिए कहा जाता था। एंगेल्स ने फ्रांसीसी राज्यक्रांति को याद करते हुए लिखा था, "जैसा फ्रांसीसी राज्यक्रांति में किसानों ने अपने बल्लम-भाले इकट्ठे किए थे और लड़ने को तैयार हुए थे, वैसे ही ब्रिटेन में आम जनता से मजदूरों के नेता कहते थे, अपने हथियार इकट्ठे करो और लड़ने को तैयार हो जाओ।"[11] 1848 में जब फ्रांस और जर्मनी में क्रांतिकारी उभार आया, तब इंगलैड में यह आंदोलन लगभग ठंडा हो गया था। उसके ठंडा होने का मुख्य कारण यह था कि तब तक ब्रिटेन के चतुर पूँजीपति उपनिवेशों की लूट से, खासतौर से भारत की लूट से, एक हिस्सा मजदूरों में बाँटने लगे थे। 1835 में यह आंदोलन शुरू हुआ, उसका कारण यह था कि उस समय मजदूरों की हालत बहुत खराब थी और उन्हें इस उपनिवेशी लूट में भागीदारी करने का अवसर न मिला था। 1848 तक यह परिस्थिति बदल गई थी। यही कारण है कि यूरोप के दो बड़े देशों, फ्रांस और जर्मनी, में क्रांतिकारी उभार आया, तब इंगलैंड में मजदूर आंदोलन ठंडा रहा। फिर भी पुराने आंदोलन के क्रांतिकारी नेता कोशिश कर रहें थे कि आंदोलन को आगे बढ़ाएँ। इनसे भयभीत होकर अंग्रेज सरकार ने एक कवि और एक पत्रकार मजदूर नेता अर्नेस्ट जोन्स को जेल में डाल दिया। 1848 में जब वह जेल की काल कोठरी में थे, तब उन्होंने एक कविता लिखी - 'द न्यू वर्ल्ड' (नया संसार)। उन्होनें मजदूरों को बताया कि उनकी लड़ाई समाप्त होने के बाद वे किस तरह का समाज रचेंगे। कविता-पुस्तक 1851 में प्रकाशित हुई। जब 1857 में अंग्रेजी के विरुद्ध भारत में लड़ाई शुरू हुई, तब अर्नेस्ट जोन्स ने वह कविता फिर से प्रकाशित

की। वह ब्रिटिश मजदूरों की लड़ाई को और भारतीय जनता की लड़ाई को एक दूसरे से संबद्ध मानते थे। भारत की जनता अपनी आजादी के लिए लड़ती है तो इससे इंगलैंड के मजदूरों को फायदा होगा, उन्हें अपने यहाँ के पूँजीपतियों की गुलामी से मुक्त होने में मदद मिलेगी। इसलिए उन्होंने अपनी कविता का नाम बदला और नया नाम रखा - 'दि रिवोल्ट ऑफ हिंदुस्तान ऑर द न्यू वर्ल्ड' (हिंदुस्तान का विद्रोह अथवा नया संसार)। इस तरह इंगलैंड के मजदूर वर्ग का जनवादी आंदोलन भारत के स्वाधीनता संग्राम से जुड़ गया। बायरन की तरह अर्नेस्ट जोन्स ने भी कल्पना की थी कि एक दिन आएगा, जब भारत के देशी सिपाही उठ खड़े होंगे और वे अंग्रेज फौज को भारत की सीमाओं से बाहर निकाल देंगे। इस दृश्य की कल्पना करते हुए कि अंग्रेज फौज भाग रही है और भारतीय सेना उसका पीछा कर रही है, उन्होंने लिखा था -

"विजयी सैलाब, सैकड़ों पर्वतों से जनता के अधिकारों की दुर्धर्ष नदी बहती हैं।
और सिपाही जागते हैं, एक के बाद दूसरी पल्टन जागती है,
अंत में उन्हें याद आ गया है कि उनकी भी एक मातृभूमि है।
तब वहाँ से भागते हैं पैसे के लोभी जज, ऐयाश लॉर्ड,
वे मुफलिस अंग्रेज जो यहाँ आकर नवाब बन गए थे,
अत्याचारी महाजन और घमंडी व्यापारी भागते हैं,
जब सारे देश में स्वतंत्रता का दुंदुभि-घोष फैल जाता है।"

अर्नेस्ट जोन्स 1857 के विद्रोह को भारत का स्वाधीनता-संग्राम मानते थे। स्वतंत्रता का दुंदुभि-घोष फैल जाता है, यह कहने का आशय यही है कि भारत के लोग अपनी आजादी के लिए लड़ रहे हैं। अंग्रेजी राज के लिए कहा जाता था कि उसमें कभी सूर्यास्त नहीं होता। अर्नेस्ट जोन्स ने कहा कि यह तो सही है कि सूर्य नहीं डूबता, लेकिन ब्रिटिश साम्राज्य की धरती पर मनुष्य का रक्त भी कभी नहीं सूखता। अंग्रेजों ने अपना राज्य लोगों का खून बहाकर स्थापित किया और बिना खून बहाए वे उसकी रक्षा नहीं कर सकते। अर्नेस्ट जोन्स 'पीपुल्स पेपर' नामक एक पत्र निकालते थे। उसमें उन्होंने भारतीय जनता के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए अंग्रेज मजदूरों से कहा : "हम हिंदुस्तानी भाइयों के प्रति अंग्रेज जनता की सहानुभूति प्रकट करते हैं। उनका उद्देश्य आपका उद्देश्य है, उनकी सफलता अप्रत्यक्ष रूप से आपकी सफलता भी है।" ये शब्द उन्होंने मजदूरों को लक्ष्य करके लिखे थे, उन्हें बताया था कि हिंदुस्तान की जनता का लक्ष्य वही है जो आपका लक्ष्य है - ब्रिटिश जमींदारों और पूँजीपतियों की गुलामी से मुक्ति पाना। अर्नेस्ट जोन्स ने इस विद्रोह के राष्ट्रीय महत्व को पहचाना था। उन्होंने इसे - 'नेशनल इन्सरेक्शन' कहा था। इसी तरह की शब्दावली का प्रयोग मार्क्स ने किया था। उन्होंने उसे 'नेशनल रिवोल्ट' कहा था। भारत में केवल सिपाही अंग्रेजो से न लड़ रहे थे, आम जनता लड़ रही थी। वह जन संग्राम है, यह बात अर्नेस्ट जोन्स जानते थे। उन्होंने कहा था कि अंग्रेजों की ओर से यह 'वार विद द पीपुल' है, पूरी जनता के विरुद्ध संग्राम है। अर्नेस्ट जोन्स ने 'पीपुल्स पेपर' में भारतसमर्थक अनेक लेख लिखने के अलावा सार्वजनिक सभाओं में भाषण किए थे। वे काफी गरीबी की हालत में थे और बहुत-से उनके विरोधी थे। अंग्रेजों ने बहुत जबरदस्त भारतविरोधी प्रचार किया था, वहाँ आततायीपन की, हत्याओं की बहुत-सी घटनाएँ लोगों को सुनाई थीं। फिर भी बड़ी वीरता से अर्नेस्ट जोन्स ने इनका मुकाबला किया और अंग्रेज मजदूरों के सामने वास्तविकता का सही चित्र पेश करने की कोशिश की।

मजदूरों के एक दूसरे नेता थे रिचार्ड कांग्रीव। नवंबर, 1857 में उन्होंने एक छोटी-सी पुस्तिका प्रकाशित की थी जिसका नाम था 'इंडिया'। इसमें उन्होंने भारत के स्वाधीनता आंदोलन का समर्थन किया और अंग्रेज मजदूरों का आह्वान किया कि वे भरसक प्रयत्न करें कि इस स्वाधीनता संग्राम का दमन न किया जा सके। उन्होंने अंग्रेज मजदूरों को उनकी जातीय विरासत का स्मरण कराया : जिस जाति ने मिल्टन और क्रौमवेल पैदा किए थे और क्रौमवेल के सैनिक पैदा किए थे, वह किसी भी महान, गौरवपूर्ण या निष्ठायुक्त कर्म के योग्य है। काश, उस जाति को बलवान पुरुष की भांति नींद से जागते मिल्टन के समान मैं भी देख पाता। काश, दो दुखभरी शताब्दियों का अंतराल पार करके मिल्टन का शक्तिशाली स्वयं हमारे कंठ में गूँज उठता, और वह गूँज इतनी प्रबल होती कि उनकी उच्च भावना को व्यंजित कर पाती। पाठक देखेंगे कि जैसे शेली मिल्टन का स्मरण करते थे और क्रांतिकारी आंदोलन से उनका संबंध जोड़ते थे, वैसे ही कांग्रीव ने मिल्टन का स्मरण किया है, उनका संबंध क्रांतिकारी आंदोलन से जोड़ा है। वह सोचते हैं कि 1857 में यदि मिल्टन जीवित होते तो वे अंग्रेजों को बताते कि तुम्हारा जातीय गौरव किस बात में है। अभिजात वर्ग के लिए लड़ने में तुम्हारा गौरव नहीं है। अभिजात वर्ग को परास्त करके एक गणतंत्र कायम करने में तुम्हारा गौरव है। भारत पर अंग्रेजों ने जो अधिकार जमाया है, वह सरासर अन्यायपूर्ण है, इस बारे में कांग्रीव को कोई दुविधा नहीं थी। उन्होंने लिखा, मैं विश्वासपूर्वक कहता हूँ कि हमने भारत पर जो बलपूर्वक अधिकार जमा रखा है, उसे कोई भी अंग्रेज राजनीतिज्ञ युक्तिपूर्वक उचित नहीं सिद्ध कर सकता।

शासन वर्ग यही प्रचार करता था कि उसने न्यायोचित ढंग से भारत पर अधिकार किया है। पर वह सभी लोगों की आँखों में धूल नहीं झोंक पाता। उसके प्रचार का बहुत युक्तिपूर्ण खंडन कांग्रीव ने किया था। अंग्रेजों को समझाया जाता था कि तुम्हारा राज्य अब दिन पर दिन बड़ा होता जा रहा है, इस साम्राज्य से तुम्हारा गौरव बढ़ रहा है। जैसे शेली ने साम्राज्य-विस्तार से गौरव बढ़ने की धारणा का खंडन किया था, वैसे ही कांग्रीव ने लिखा, हम तब महान थे जब हिंदुस्तान को हथियाने का सपना किसी एडवेंचरर (लुटेरे) की आँखों पर छाया हुआ न था। हम फिर महान होंगे जब राष्ट्र की शक्ति को एक महान शासन सही दिशा में प्रेरित करेगा, उचित रूप में व्यक्त करेगा। कांग्रीव मानते थे, इंगलैंड का शासन राष्ट्र की शक्ति को सही दिशा में प्रेरित नहीं कर रहा है। इस दिशा को बदलना है और यह दिशा तभी बदली जा सकती है जब भारत के स्वधीनता-संग्राम का समर्थन किया जाए। बहुत-से लोग समझते थे कि भारत पिछड़ा हुआ है और इसलिए वहाँ पर ईसाई धर्म का प्रचार करना उसको प्रगतिशील रास्ते पर आगे बढ़ाना है। यहाँ कांग्रीव के विचार शेली से आगे बढ़े हुए हैं उन्होंने लिखा था, "मैं ईसाई धर्म पर विश्वास नहीं करता। मैं अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए उसे निर्देशक नहीं मानता और न सामाजिक अथवा अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए उसे निर्देशक मानता हूँ। उसे अन्य जातियों पर जबरदस्ती लादा जाए, इसका तो मैं तीव्र विरोध करता ही हूँ, वह समझा-बुझाकर उन पर लादा जाए मैं इसका विरोध भी करता हूँ, भले ही उनका धार्मिक संगठन कितनी भी ह्रासग्रस्त दशा में हो।"

कांग्रीव जानते थे इंसाइयत से कोई समस्या हल होने वाली नहीं है। वह नए दर्शन, नए चिंतन की दिशा में सोच रहे थे और समझते थे कि जैसे इंगलैंड में कुछ मजदूर इस दर्शन को पहचान रहे हैं, वैसे ही भारत में इस नए दृष्टिकोण का प्रसार होगा। भारत में जो अंग्रेज सैनिक हैं, वे दूसरों को गुलाम बनाने का साधन हैं। मजदूरों को कोशिश करनी चाहिए कि वे फौज में रंगरूटों की भर्ती बंद कराएँ। मजदूरों को लक्ष्य करके उन्होंने बहुत जोरदार शब्दों में कहा "तुम और केवल तुम रंगरूटों की भर्ती रोक सकते हो।" इस तरह का प्रचार 1914-18 की लड़ाई में बहुत-से कम्युनिस्टों ने किया था। लेकिन 1857 में इस तरह की बातें कहने वाले बहुत थोड़े लोग थे और उनमें एक गौरवपूर्ण नाम है रिचार्ड कांग्रीव का। उन्होंने इंगलैंड के मजदूरों और आम जनता से कहा, यदि कोई तुम्हें गुलाम बनाने आए तो क्या तुम उसका विरोध न करोगे? जैसे तुम उसका विरोध करोगे, वैसे ही समझो भारत के लोग इस गुलामी का विरोध कर रहे हैं। जैसे अपने देश को विदेशी उत्पीड़न से बचाने के लिए तुममें एक-एक आदमी उठ खड़ा होगा, वैसे ही उसके उत्पीड़क बनने के विरोध में एकमत होकर अपनी आवाज बुलंद करो।

फ्रांसीसी राज्यक्रांति, शेली की रचनाएँ, चार्टिस्ट आंदोलन, अर्नेस्ट जोन्स और कांग्रीव द्वारा भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का समर्थन - ये सब एक ही क्रांतिकारी परंपरा के अंतर्गत हैं, वे सब मनुष्यजाति के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की एक ही दिशा की सूचक हैं। इस दिशा से ब्रिटेन के शासक वर्ग को घृणा थी। स्वभावत: उसे शेली और बायरन जैसे कवियों से भी घृणा थी। इस बारे में एंगेल्स ने 1843 में लिखा था, सोशलिस्टों की, और अंशत: चार्टिस्टों की, अर्थतंत्र-संबंधी जोरदार पुस्तिकाएँ लोग घृणा से एक ओर फेंक देते हैं, इन्हें अपने पाठक केवल निम्न वर्गों में मिलते हैं। "बायरन और शेली के प्राय: सभी पाठक अब निम्न वर्गों में रह गए हैं। इनमें शेली की रचनाएँ कोई भी 'शरीफ' आदमी भारी बदनामी मोल लिए बिना अपनी मेज पर नहीं रख सकता।"[12] शेली ने ब्रिटेन के मजदूरों का पक्ष लिया और भारत की स्वाधीनता का समर्थन किया। चार्टिस्ट नेताओं ने यही काम किया और इनका दमन किया ब्रिटेन की प्रतिक्रियावादी सरकार ने। ब्रिटेन में प्रगतिशील वहाँ के जमींदार और पूँजीपति नहीं थे, इनके विरोधी शेली और बायरन जैसे साहित्यकार थे।

1957 में 1857 की शताब्दी के अवसर पर भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने एक निबंध संग्रह निकाला था। इसमें संपादक पूरनचंद जोशी थे। उसमें अंग्रेज लेखक जेम्स ब्राइन ने लिखा था, "विद्रोह की शताब्दी के इस साल यह स्मरण करने योग्य है कि दुख और पराजय की घड़ी में ब्रिटिश मजदूर वर्ग की आवाज़ खामोश नहीं थी।"[13] वह आवाज न्याय की आवाज थी, वह क्रांतिकारियों की आवाज थी, वह मजदूर वर्ग के हित में भी, वह भारतीय जनता के हित में थी और वह मानव जाति के विकास के हित में थी।

प्रश्न यह है कि 1857 में अंग्रेजों से लड़ने वाले हिंदुस्तानियों में क्या ऐसे कोई आदमी थे जो फ्रांसीसी राज्यक्रांति से परिचित थे, उससे प्रेरित थे अथवा जो समझते थे कि इंगलैंड की आम जनता उनकी शत्रु नहीं है, वरन् वहाँ के शासक ही उनके शत्रु हैं। इस प्रश्न का उत्तर है- हाँ, ऐसे लोग थे। उनके बारे में हमें बहुत जानकारी नहीं है। फिर भी जितनी जानकारी है, उससे पता चलता है कि अंग्रेजों से लड़ने वाले हिंदुस्तानियों में ऐसे आदमी थे जो यूरोप के इतिहास से, ब्रिटेन के इतिहास से परिचित थे और वे भारतीय संग्राम का महत्व अच्छी तरह समझते थे। इनमें एक रुड़की के पढ़े हुए इंजीनियर मोहम्मद अली खाँ थे। इन्हें लखनऊ में पकड़ा गया था और इनका उल्लेख विलियम फोर्ब्स मिचेल नाम के सैनिक अफसर के संस्मरणों मे है। विलियम फोर्ब्स मिचेल स्कॉटलैंड के निवासी थे। वह ब्रिटिश सेना में साधारण अफसर थे, लखनऊ की लड़ाई में वह मौजूद थे। उन्होंने 1893 में एक पुस्तक प्रकाशित की थी जिसका नाम था - रेमिनिसेन्सेज ऑफ द ग्रेट म्यूटिनी। मोहम्मद अली ने उन्हें बताया था कि वह दिल्ली में किले की और नगर की सुरक्षा की देखभाल करते थे। वहाँ जितने रक्षात्मक उपाए किए गए थे, वहाँ तोपें जिस तरह लगाई

गई थीं, उस सबकी देखभाल मोहम्मद अली खाँ ने की थी। उसके बाद वह लखनऊ आए थे और लखनऊ में भी रक्षा-व्यवस्था उन्हीं के जिम्मे थी। वह अंग्रेजी फौज का भेद लेने के लिए वहाँ केक बेचते हुए आए थे। वह बहुत अच्छी अंग्रेजी बोलते थे। पकड़े जाने के बाद उन्होंने मिचेल को बताया कि कानपुर में वह और अजीमुल्ली एक ही स्कूल में पढ़ते थे और उन्हें अध्यापक गंगादीन ने अंग्रेजी सिखाई थी। अजीमुल्ला के साथ वह नाना साहब के आवेदन की पैरवी करने के लिए इंगलैड भी गए थे। इंगलैंड से लौटते हुए वे क्राइनिया पहुँचे। वहाँ उस समय ब्रिटेन, फ्रांस और तुर्की मिलकर रूस से लड़ रहे थे। वहाँ उन्होंने रूसियों की गोलीबारी देखी और उससे बहुत प्रभावित हुए। इस संदर्भ में अजीमुल्ला का उल्लेख रसेल ने अपनी डायरी में किया है। मिचेल ने भी उस घटना का उल्लेख अपने संस्मरणों में किया है। मिचेल के अनुसार उन्हें मोहम्मद अली ने बताया कि क्राइनिया से लौटते हुए वे लोग जब कुस्तुनतुनिया पहुँचे, तब वहाँ उन्हें कुछ रूसी मिले। उन रूसियों ने कहा कि यदि तुम भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करो तो हम तुम्हारी मदद को आ सकते हैं। फोर्ब्स मिचेल के अनुसार मोहम्मद अली खाँ ने कहा था - It was then that I and Azeemoolla formed the resolution of attempting to overthrow the Company's Government. ("उससे मिलने के बाद मैंने और अलीमुल्लाह ने यह दृढ़ निश्चय किया कि हम कंपनी सरकार का तख्ता उलट देंगे")[14] यह बात सही हो तो मानना चाहिए कि रूसी क्रांतिकारियों और भारतीय क्रांतिकारियों का यह प्रथम संपर्क था और रूसी क्रांतिकारी चाहते थे कि भारत में अंग्रेजी राज्य समाप्त हो। अलीमुल्ला और मोहम्मद अली वहाँ रूसियों की तोप चलाने की कला देखकर आए थे, उससे प्रभावित हुए थे। उन्होंने लौटकर यहाँ विद्रोह कर संगठन किया। मोहम्मद अली ने कहा, हालाँकि हम देश को अंग्रेजों के चंगुल से छुड़ा नहीं पाए -Although we have failed to wrest the country from the English ...[14] किसी को संदेह न होना चाहिए, विद्रोह का लक्ष्य था देश को अंग्रेजों के चंगुल से छुड़ाना।

मोहम्मद अली किस तरह के बुद्धिजीवी थे, इसका पता एक घटना से लगेगा। जैमी ग्रीन नाम धारण किए जब वह फोर्ब्स मिचेल वे मिले, और अभी पकड़े न गए थे, तब उन्होंने सबसे पहले इंगलैंड के अखबार देखने की फरमाइश की -asked to see the newspapers, and seemed anxious to know what the English press said about the mutiny ... [15] वह जानना चाहते थे कि इंगलैड में भारतीय संग्राम के बारे में क्या लिखा जा रहा है, इंगलैंड का जनमत कैसा है, हमारे यहाँ की खबरें वे किस तरह से दे रहे हैं, दुनिया में क्या हो रहा है, यह सब जानने के लिए मोहम्मद अली जैसे नेता उस समय बहुत उत्सुक थे। जैसे कांग्रीव और अर्नेस्ट जोन्स को विश्वास था कि भारतीय जनता न्याय के लिए लड़ रही है, वैसे ही मोहम्मद अली को विश्वास था कि इंगलैंड और स्कॉटलैंड के लोग आमतौर से न्यायप्रिय हैं। यदि उन्हें सच्ची बातों का पता चले तो वे यहाँ संग्राम का दमन करने के बदले भारतीय जनता की सहायता करेंगे। उन्होंने कहा था - The people of England, - and by England I mean Scotland as well - are just ... ("इंगलैंड के लोग, और इंगलैंड में यहाँ मैं स्टाकलैंड को भी शामिल करता हूँ, न्यायप्रिय हैं।")[16] उस समय अंग्रेज अनेक प्रकार के अत्याचार उन लोगों पर करते थे जिन्हें वे पकड़ लेते थे। मुसलमानों को सुअर का मांस खिलाते थे। जैसे ही पता चला कि मोहम्मद अली मुसलमान हैं, सैनिकों ने कहा कि हम सुअर का मांस लेने जाते हैं। मिचेल ने मना किया। इससे मोहम्मद अली बहुत प्रसन्न हुए। यद्यपि वह जानते थे कि अगले दिन उन्हें फाँसी दे दी जाएगी, लेकिन मिचेल के व्यवहार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन्होंने एक सोने की अँगूठी उन्हें भेट की। अंगूठी वह अपने घने बालों छिपाए हुए थे। यह एक तरह का सौहार्द था जो उन्होंने सामान्य ब्रिटिश जनता के प्रति व्यक्त किया था। जब उन्हें फाँसी दी गई, तब वहाँ उपस्थित हाइलैंड पल्टन के सैनिक रो रहे थे। थोड़ी ही देर में उनके बीच मोहम्मद अली अत्यंत लोकप्रिय हो गए थे।

विशेष बात यह है कि मिचेल ने जब उनसे पूछा कि आप यहाँ कैसे लड़ रहे हैं, इन विद्रोहियों का साथ क्यों दे रहे हैं, तो उन्होंने बताया कि हिंदुस्तानियों पर कैसे अत्याचार किए जाते हैं, कैसे उनके साथ भेदभाव बरता जाता है। इसलिए हम अंग्रेजी राज को खत्म करना चाहते हैं। मिचेल ने उनके पारिवारिक जीवन के बारे में पूछा। जिस समय वह अपनी पत्नी और अपने दो लड़कों के बारे में बता रहे थे, उस समय अचानक वह भावुक हो गए किंतु अपने को सँभालते हुए उन्होंने याद किया कि क्रांतिकारियों को धैर्य न खोना चाहिए। उन्होंने इंगलैंड के इतिहास और फ्रांस की राज्यक्रांति के इतिहास को याद किया। फोर्ब्स मिचेल ने लिखा है - Once, and only once, did he show any weakness, in alluding to his wife and two boys in their far away home in Rohilcund, when he remarked that they would never know the fate of their unfortunate father. But he at once checked himself, saying,. "I have read French history as well as English; I must remember Danton and show no weakness. "एक बार, और केवल एक बार उन्होंने कोई कमजोरी दिखाई, जब वह अपनी पत्नी और दो लड़कों की बात कह रहे थे, जो बहुत दूर रूहेलखंड में अपने घर में थे, जब उन्होंने कहा कि उन्हें अपने अभागे बाप की किस्मत का पता कभी न चलेगा। लेकिन उन्होंने तुरंत खुद को यह कहते हुए सँभाला, 'मैंने फ्रांसीसी इतिहास पढ़ा है और अंग्रेजी भी (अंग्रेजों का इतिहास भी)। मुझे दांतों को याद करना चाहिए और कोई कमजोरी न दिखानी चाहिए।"[17]

फ्रांसीसी राज्यक्रांति के एक प्रमुख नेता थे दांतो। 1848-49 की जर्मन क्रांति का विश्लेषण करते हुए एंगेल्स ने दांतों को "क्रांतिकारी नीति का अद्यावधि ज्ञात सर्वश्रेष्ठ आचार्य" कहा था।[18] रूस के सशस्त्र विद्रोह की तैयारी करते हुए लेनिन ने अक्टूबर

1917 में इन्हीं शब्दों के साथ दांतों का हवाला दिया था।[19] 1857 में भारतीय क्रांतिकारी मोहम्मद अली को दांतों से प्रेरणा मिली थी, यह तथ्य उस स्वाधीन संग्राम के उदार अंतर्राष्ट्रीयतावादी पक्ष को उजागर करता है।

मोहम्मद अली के मित्र और सहयोगी थे अजीमुल्ला। अंग्रेजी के अलावा फ्रांसीसी भाषा पर भी उनका अधिकार था। आगरे के एक सर्जन वजीर खाँ ने अजीमुल्ला के लिए कहा था, He spoke French fluently (फ्रेंच वह धाराप्रवाह बोलते थे)।[20] यह बहत संभव है कि मोहम्मद अली को फ्रांसीसी राज्यक्रांति के इतिहास के जानकारी फ्रांसीसी भाषा में प्राप्त साहित्य से हुई हो, वह स्वयं उस भाषा से परिचित रहे हों, अथवा न रहें तो अजीमुल्ला से उन्हें सहायता मिली हो। 1857 तक फ्रांसीसी राज्यक्रांति का वस्तुगत इतिहास प्रस्तुत करनेवाले ग्रंथ अंग्रेजी में बहुत कम थे। अजीमुल्ला अनेक कार्यों में मोहम्मद अली के घनिष्ठ सहयोगी थें। इन कार्यों में किलेबंदी और तोपों के उपयोग की विद्या शामिल थी। क्राइमिया के युद्ध में रूसियों की गोलाबारी दोनों मित्रों ने एक साथ देखी थी। अजीमुल्ला की भेंट लंदन में 'टाइम्स' पत्र के संवाददाता रसेल से हुई थी। रसेल ने उनके लिए लिखा है कि वह इकहरे बदन के खूबसूरत नौजवान थे, फ्रेंच और अंग्रेजी बोलते थे- He spoke Freanch and English.[21] वह क्राइमिया जाने को बहुत उत्सुक थे। रूस के जिन रुसतमों ने अंग्रेजों और फ्रांसीसियों, दोनों की ठुकाई कर दी थी, उन्हें वह देखना चाहते थे। सूर्यास्त से कुछ पहले रूसी तोपों की गोलाबारी देखते रहे - was looking with marked interest at the fire of Russian guns. रसेल से उन्होंने कहा था : मेरा ख्याल है, तुम वह सुदृढ़ स्थान कभी न ले पाओगे।[22]

मार्क्स और एंगेल्स के क्राइमिया के युद्ध पर, युद्ध के दौरान, एक लेखमाला प्रकाशित की थी। इसी तरह उन्होंने 1857 के संग्राम पर लेखमाला निकाली थी। सेवास्तोपोल की सुरक्षा-व्यवस्था और तोपों के उपयोग की पद्धति पर एंगेल्स ने विशेष ध्यान दिया था। उन्होंने दिल्ली की सुरक्षा-व्यवस्था पर भी लिखा था। सुरक्षा की योजना पूरी तरह अमल में नहीं लाई गई पर "अमल में खामी के बावजूद मूल योजना सेवास्तोपोल की सक्रिय सुरक्षा से बहुत मिलती-जुलती थी।"[23] मोहम्मद अली सेवास्तोपोल की सुरक्षात्मक कार्यवाही से परिचित थे। दिल्ली की सुरक्षा के लिए योजना बनाते हुए उन्होंने अपनी जानकारी का उपयोग अवश्य किया होगा।

फ्रांसीसी राज्यक्रांति से पहले फ्रांस के दार्शनिकों ने चर्च और धार्मिक अंधविश्वासों के विरुद्ध जबर्दस्त संघर्ष किया था। शेली इस संघर्ष से परिचित थे, अपने लेखों में उन्होंने इन दार्शनिकों की प्रशंसा की थी। रोमांटिक कवियों में उन्हीं ने सबसे अधिक चर्च और धार्मिक अंधविश्वासों का लगातार खुलकर विरोध किया था। ऐसा लगता है, अजीमुल्ला फ्रांसीसी दार्शनिकों के साहित्य से परिचित थे वह अपने चिंतन और आचरण में मजहबी कट्टरपन से बहुत दूर थे। उन्होंने रसेल से कहा था : I am of no religion (मेरा कोई मजहब नहीं है)।[24] यह स्थिति उन्हें फ्रांस के दार्शनिकों से जोड़ती है।

यहाँ यह याद रखना चाहिए कि इंगलैड का मजदूर-आंदोलन अभी समाजवाद के लिए न लड़ रहा था; उसी मुख्य माँग यह थी कि पार्लियामेंट में जनता को प्रतिनिधित्व मिले। पार्लियामेंट कहने के लिए पार्लियामेंट थी लेकिन उसके अधिकांश सदस्य जमींदार थे, वे जमींदार वर्ग के प्रतिनिधि थे। उसमें पूँजीपतियों को भी प्रतिनिधित्व न मिला था। जमींदार बहुत दबाव पड़ने पर पूँजीपतियों को कुछ रिआयतें दे देते थे, बाकी सत्ता उन्होंने अपने हाथ में रखी थी। 1857 में भी इंगलैंड का जमींदार वर्ग सत्तारूढ़ बना हुआ था। सोचने की बात है कि जो लोग अपने देश में अभी पूँजीवादी जनतंत्र कायम न कर पाए थे वे भारत में जनतंत्र कैसे कायम कर सकते थे। कहने को एशिया के राजा अपनी निरंकुशता के लिए बदनाम हैं, वास्तव में ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में जिस तरह की निरंकुशता कायम की थी, उससे भारतवासी और एशिया के लोग अपने इतिहास में कभी परिचित न हुए थे। इसके विपरीत जब सैनिकों ने दिल्ली में अपनी राज्यसत्ता कायम की, तो वह न केवल सामंतवादी सत्ता से अलग थी, वरन इंगलैंड की पार्लियामेंटशाही से भी अलग थी। उन्होंने दिल्ली में एक कोर्ट कायम किया था। यह फौजी पंचायत न केवल फौजी मामले देखती थी वरन वह दीवानी मामले भी निपटाती थी। जितने भी आवेदनपत्र बादशाह के पास आते थे, उन पर निर्णय इसी फौजी पंचायत द्वारा होते थे। वास्तविक सत्ता इस फौजी पंचायत के हाथ में थी। और यह फौजी पंचायत अचानक नहीं प्रकट हो गई। बहुत दिनों से अंग्रेजों को ज्यादा तनख्वाह, देशी सिपाहियों को कम तनख्वाह, कम भत्ता, आदि-आदि बातों को लेकर फौज के लोग आंदोलन चलाते रहे थे। शांतिपूर्ण आंदोलन करने पर भी उनको कड़ी सजाएँ मिलती थीं। जहाँ विद्रोह की झलक भी अंग्रेजों को दिखाई दी, तुरंत तोप से बाँधकर उनको उड़ा देते थें। इस तरह आंतक के द्वारा वे देशी सिपाहियों को अपने नियंत्रण में रखना चाहते थे।

अनेक अंग्रेज अफसर इस बात से परिचित थे कि फौज के अंदर एक नया आंदोलन शुरू हो गया है और वह ट्रेड यूनियनों जैसा आंदोलन है। इसके लिए 1853 में कैंपबेल ने एक बहुत अच्छा शब्द इस्तेमाल किया था - "मिलटरी ट्रेड यूनियनिज्म"।[25] देशी फौज के अंदर एक तरह का फौजी मजदूर सभापन जाग रहा है। 1858 में जे.सी. विल्सन विशेष कमिश्नर नियुक्त किए गए। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि बंगाल-सेना की हर पल्टन में तीन-चार आदमियों की एक कमेटी होती थी वही विद्रोह की तैयारी कर रही थी। कहाँ पर क्या करना है, क्या योजना बनानी है, आदि-आदि सारी बातें ये तीन-चार सदस्य निश्चित करते थे।[26] इसका मतलब यह हैं कि जिन पंचायतों के जरिए सिपाहियों ने फौज के भीतर अपना ट्रेड यूनियन आंदोलन चलाया था, उन्हीं के जरिए उन्होंने विद्रोह का संगठन और संचालन किया था और उन्हीं के द्वारा उन्होंने स्वाधीन भारत की सरकार का संचालन किया था।

सिपाही अपने किसान-जीवन के अनुभवों को फौज के भीतर और बाहर नई राजनीतिक कार्यवाही के लिए इस्तेमाल कर रहे थे। इस पंचायतों को क्रांति और सत्ता का माध्यम केवल किसान बना सकते थे; नवाब, राजा और बादशाह नहीं। अठारह सौ सत्तावन के स्वाधीनता-संग्राम पर किसानों के अमिट हस्ताक्षर इन पंचायतों पर कार्यवाही में देखें। यह स्वाधीनता-संग्राम क्रांति था या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर भी इन पंचायतों की कार्यवाही का अध्ययन करके दें। सामंतों की भूमिका नगण्य नहीं थी पर वह निर्णायक नहीं थी। सारे देश के बड़े सामंत अंग्रेजों का साथ दे रहे थे, उनके विरुद्ध हिन्दी प्रदेश के छुटभैये सामंत लड़े तो वह सिपाहियों की कुशल राजनीति के कारण। इन्हीं छुटभैयों के साथ हो गए थे दिल्ली के मुफलिस बादशाह बहादुरशाह। अंग्रेज सेना जब दिल्ली के भीतर घुस आई, तब प्रधान सेनापति बख्त खाँ ने उन्हें आश्वासन दिया कि सेना का बड़ा भाग लखनऊ में है, वह साथ चलें, पर बहादुरशाह बेगम की बात सुनते थे, बख्त खाँ की नहीं। क्रांतिकारी सेनानायक और उनके ढुलमुल सामंत सहयोगी, दोनों में यही अंतर था। मान लीजिए, दिल्ली गई तो सबकुछ गया,यह मानकर बख्त खाँ हथियार डाल देते तो डेढ़ साल तक दिल्ली के बाहर चलनेवाली लड़ाई की नौबत ही न आती; पर बख्त खाँ ने वैसा नहीं किया। अंग्रेजों ने दिल्ली का घेरा डाला और अपनी समझ में सारा प्रबंध कर लिया कि बची हुए फौज के साथ बख्त खाँ दिल्ली से निकलने न पाए। लेकिन बख्त खाँ फौज के साथ अंग्रेजों की नाक के नीचे से निकल गया और लखनऊ पहुँचकर उन्होंने वहाँ का मोर्चा सँभाला। अंग्रेजों ने दिल्ली के निहत्थे शहरियों का कत्लेआम रचाया, करोड़ों की संपदा लूटी, शहजादों का वध किया, लेकिन बख्त खाँ और उनके वीर सैनिकों के पैरों की धूल भी उनके हाथ न लगी।

1911 में पंजाब सरकार ने गदरसंबंधी कागजात नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की थी। इसमें अनेक ऐसे दस्तावेज हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि बादशाह के नाम जो आवेदनपत्र आते थे, उन पर जो भी कार्यवाही करनी हो, उसका फैसला करती थी वह पंचायत। फौजी मामले ही नहीं दीवानी मामले भी वही निपटाती थी। वह सेनापति के अधीन नहीं है, सेनापति असके अधीन हैं, यह बख्त खाँ को लिखे पत्र से जाहिर हो जाता है। उसमें उन्हें बताया गया है : हम एक राज्य का संगठन कर रहे हैं, और यह काम तभी हो सकता है जब हम सारा प्रबंध राजनीति के अनुसार करें।[27]

वास्तव में फौजी पंचायत के सदस्य नई राजनीति का निर्माण कर रहे थे और उसके अनुसार काम कर रहे थे। जो काम पूँजीवादी राजनीति आज तक नहीं कर पाई, उसे उन्होंने जरा-सी देर में बेझिझक कर डाला। पंचायत में सदस्य सांप्रदायिक आधार पर चुने जाएँ, एक हिंदू हो तो दूसरा मुसलमान हो, यह प्रस्ताव संविधान के मसौदे में दर्ज था। पंचायत ने इसे रद्द कर दिया और तय किया कि उसके सदस्य फौज में वरीयता और योग्यता के आधार पर ही चुने जाएँगे। यदि कोई व्यक्ति योग्य हो लेकिन वरीयता में पीछे हो तो इस बिना पर उसे चुने जाने से रोका न जाएगा।[28] 1906 में मुस्लिम लीग का जन्म, मैन्टेग्यूचेम्सफोर्ड सुधार, 1935 का काला कानून, कांग्रेसी मंत्रिमंडल, दूसरा महायुद्ध, क्रिप्स मिशन, कैबिनेट मिशन, वेवल, फिर माउंटबैटन, अंत में सांप्रदायिक हिंसा से रक्तरंजित भारत और पाकिस्तान की स्वाधीनता-यह प्रक्रिया है पूँजीवादी राजनीति की। संप्रदाय के आधार पर नहीं, योग्यता के आधार पर शासन समिति के सदस्य चुने जाएँगे-यह थी नई क्रांतिकारी राजनीति, जिसे स्वीकृति के लिए किसी लाट गवर्नर के सामने पेश न किया गया था।

1857 में ईद के अवसर पर अंग्रेजों के एजेंटों ने बड़ी कोशिश की, गोकुशी के सवाल पर शहर में दंगा करा दिया जाए पर बख्त खाँ ने उनकी सभी कोशिशें बेकार कर दीं। अंग्रेज दंगा कराने के लिए कैसे रुपया बाँटते थे, यह उन्हीं के दस्तावेजों से ज़ाहिर हो जाता है। 14 सितंबर, 1857 को अवध के चीफ कमिश्नर ने तै किया कि "बरेली की हिंदू आबादी को मुसलमान बाग़यों के खिलाफ लड़ने को आमादा करने के लिए पचास हजार रुपयों की धनराशि खर्च की जाए।" लेकिन ढाई महीने के लगातार प्रयत्न के बाद जब कोई एक टका भी लेने को तैयार न हुआ तब चीफ कमिश्नर ने भारत सरकार को सूचना भेजी : "कोशिश बिल्कुल बेकार हुई। उल्लिखित धनराशि का कोई भी अंश खर्च किए बिना वह कोशिश छोड़ दी गई है।"[29]

दिल्ली की तरह लखनऊ में भी फौजी पंचायत थी। उसी ने अवध में विद्रोह का संगठन और युद्ध का संचालन किया था। इन पंचायतों ने एक बहुत बड़ा काम यह किया कि उन्होंने सामंती अलगाव खत्म करने और देश की एकता को मजबूत करने की ओर पूरा ध्यान दिया। विरजिस कदर को अवध की राजगद्दी पर बिठाने के पहले फौज के अफसरों ने हजरत महल से एक शर्तनामे पर हस्ताक्षर कराए थे जिसकी पहली शर्त यह थी कि "दिल्ली से जो भी हुक्म आएगा, वह माना जाएगा और जैसा भी हुक्म होगा, वह आखिरी होगा" अर्थात् वह उसी रूप में माना जाएगा।[30] अवध के बादशाह दिल्ली से अलग अपना स्वतंत्र राज्य बनाए हुए थे। सामंतों की यह स्वतंत्रता फौजी पंचायतों ने खत्म की। जहाँ भी उनके नेतृत्व में लोग लड़े, वे दिल्ली के झंडे के नीचे लड़े।

निशान सिंह नाम के एक जमींदार कुँवर सिह के साथ अंग्रेजों से लड़े थे। कुँवर सिंह के साथ वह बाँदा, वहाँ से काल्पी, फिर लखनऊ पहुँचे थे। उनके बयान के अनुसार लखनऊ में कुँवर सिंह को खिलअत देकर सम्मानित किया गया था, इसके साथ ही उन्हें यह फर्मान मिला था कि वह अपने देश जाएँ और उस पर अधिकार करें। उन्हें आजमगढ़ जिले के लिए भी फर्मान दिया गया

था और खर्च के लिए बारह हजार रुपए नकद दिए गए थे, सोलह हजार रुपयों को चेक भी दिया गया था कि वह रकम राजा मानसिंह से प्राप्त करें।[31] निशान सिंह का यह बयान इतिहासकार कालींकिंकर दत्त लिखित कुँवर सिंह और अमर सिंह की जीवनी में दिया हुआ है। विरजिस कदर से फर्मान पाने का अर्थ है, कुँवर सिंह लखनऊ की फौजी पंचायत के नेतृत्व में लड़ रहे थे।

जिस दिन झाँसी में विद्रोह शुरू हुआ, उस दिन शहर में डुग्गी पीटी गई, खल्क खुदा का, मुल्क बादशाह का, राज रानी लक्ष्मीबाई का। उसके बाद विद्रोही सैनिक दिल्ली चले गए। इस सिलसिले में इतिहास मजूमदार ने कमिश्नर पिंकने की रिपोर्ट का हवाला दिया है, जिसके अनुसार झाँसी राज्य के दो दावेदार थे - रानी लक्ष्मीबाई और सदाशिवराव। रानी के पक्ष में फैसला सैनिकों ने किया - The mutineers made it over the her.[32]

झाँसी के बारे में सुरेंद्रनाथ सेन ने अपने गदर के इतिहास में एक दिलचस्प बात लिखी है : "पेशवा के जमाने में वह सूबेदार के अधीन एक सूबा थी। ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार ने उसे ऊँचा उठाकर राज्य का दर्जा दिया।[33] अंग्रेज मराठा राज्य को विघटित करके उसे अपने अधीन करने की नीति पर चल रहे थे। इसके विपरीत सैनिक झाँसी को दिल्ली के अधीन करके राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने की नीति पर चल रहे थे। राष्ट्रीय विघटन और राष्ट्रीय एकीकरण-दो तरह की नीतियों का भेद यहाँ स्पष्ट है। विघटन के सूत्रधार अंग्रेज थे, एकीकरण के सूत्राधार सैनिक थे। कुछ ऐसा ही भेद अवध की बादशाहत के संदर्भ में भी दिखाई देता है। सुरेंद्रनाथ सेन का सारगर्भित वाक्य है : "अवध पुराना सूबा था और नया राज्य था।"[34] वह सूबा था, दिल्ली की बादशाही के अधीन था। 1764 में शाहआलम दिल्ली के बादशाह, के साथ शुजाउद्दौला, अवध के नवाब, बक्सर में अंग्रेजों से लड़े थे। अंग्रेज जीते, बादशाह और नवाब की फौजें हारीं। संधि के अनुसार बादशाह ने ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा का दीवान बनाया। किसी व्यक्ति को नहीं, एक कंपनी को दीवान बनाया। यह नई किस्म का अंग्रेजी सामंतवाद था। उधर वजीर ने, अर्थात् अवध के नवाब ने, मंजूर किया कि वह अंग्रेजों को छोड़कर किसी भी विदेशी ताकत से राजनीतिक गँठजोड़ न करेंगे। इस तरह अवध के नवाब स्वतंत्र बादशाह बने। नवाबी पनपी अंग्रेजों की छत्रछाया में। इससे उन्होंने सामूहिक रूप में कंपनी के माध्यम से धन कमाया और निजी तौर पर इतनी संपदा बटोरी कि भारत से विलायत तक कंपनी के अधिकारी नवाब कहे जाने लगे। इधर अवध के राज्य की मूल भूमि सिकुड़ते-सिकुड़ते आधी रह गई और उसके "शासक का दर्जा एक पराधीन सामंत का हो गया।"[34] सुरेंद्रनाथ सेन में 'फ्यूडेटरी' शब्द इस्तेमाल करके अंग्रेजों को महासामत घोषित कर दिया है। इस अवध को विद्रोही सैनिकों ने फिर से दिल्ली के अधीन करके राजनीतिक रूप से उसे राष्ट्र का अंग बनाया था।

क्या सेन, क्या मजूमदार, क्या और दर्जनों इतिहासकार, वे बार-बार यह कहते नहीं थकते कि 1857 में भारत के सामंत अपनी रियासतों के लिए लड़े। इसलिए यह संग्राम राष्ट्रीय तो हो ही न सकता था। पर ये सामंत दिल्ली के अधीन होकर लड़े, अंग्रेजों की दी हुई 'स्वतंत्रता' त्यागकर राष्ट्र के अंग बनकर लड़े, यह बात वे विद्वान नहीं कहते। अंग्रेजों की नीति और सैनिकों की नीति में वे भेद नहीं करते, स्वभावत: विद्रोह के संचालन में सैनिकों की भूमिका वे अस्वीकार करते हैं। बहुत से तथ्य वे छोड़ जाते हैं, पर जो तथ्य देते हैं, उनसे भी अंग्रेजों की प्रतिक्रियावादी, तथा किसान-सिपाहियों की प्रगतिशील भूमिका स्पष्ट हो जाती है।

किसानों और जमींदारों के हितों में विरोध होता है। राजाओं, नवाबों, बादशाहों की शान-शौकत का आधार किसानों की पैदा की हुई अतिरिक्त उपज होती है। जमींदारों के हितों को कायम रखने के लिए किसान लड़ें तो वे अपने शोषण को बनाए रखने के लिए लड़ेंगे। यह कोई प्रगतिशील बात न हुई। लेकिन अंग्रेज पुराने सामंतवाद की जगह नया सामंतवाद कायम कर रहे थे। भूमि पर किसानों का सामूहिक अधिकार हो चाहे व्यक्तिगत अधिकार हो, मूलत: अधिकार उन्हीं का था। वे शासक को कर देते थे (बलि मिस देखे देवता, कर मिस मानव देव-तुलसीदास), भाड़ा या लगान न देते थे। महासामंत अंग्रेजों ने किसानों से उनका भूमि पर मूल अधिकार छीन लिया। भारतीय इतिहास पर अपनी टिप्पणियों में मार्क्स ने और 'आज का भारत' में रजनी पाम दत्त ने यह बात बहुत स्पष्ट कर दी थी। अत: यदि किसान अंग्रेजों के नए सामंतवाद के विरुद्ध पुराने सामंतवाद की बहाली के लिए लड़ते, तो भी उनका यह काम प्रगतिशील होता। पर यहाँ मुख्य राजनीतिक कार्य अंग्रेजों के प्रभुत्व को खत्म करना था। महाप्रभुओं से निपटने के लिए छोटे प्रभुओं को साथ लेकर लड़ना सर्वथा उचित राजनीति था। 1857 के किसान-सिपाही मार्क्सवाद-लेनिनवाद न पढ़े थे पर 1937 में चीन के जनवादी क्रांति के नेता माओ जे दुंग यह सब पढ़े थे। उनका कहना था, हमारे शत्रु जापानी साम्राज्यवादी और उनके चीनी सहयोगी हैं। इसलिए पूँजीपति ही नहीं, जमींदार भी जापान का विरोध करें तो वे कम्युनिस्टों के सहयोगी हो सकते हैं। उन्होंने च्याङ्काई शेक की पार्टी को आश्वस्त किया था : "जमींदारों से जमीन छीनना बंद कर दिया जाएगा।"[35] साम्राज्यवाद के विरुद्ध किसानों और जमींदारों का संयुक्त मोर्चा बनाने की नीति पर सबसे पहले 1857 में अमल किया गया था और मोर्चे में पूँजीपति भी थे। लखनऊ में विद्रोह शुरू होने से पहले ही अंग्रेज अधिकारियों ने नौकरों से शिकायतें सुनीं कि गल्ले के व्यापारियों ने और दुकानदारों ने उन्हें उधार देना बंद कर दिया है। कैप्टेन ऐंडरसन का विचार था, "यह बात इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण थी कि दुकानदारों को, जो कुछ होने जा रहा था, उसका पता था।"[36] अंग्रेज अधिकारी शेरर ने कालिंजर पहुँचकर देखा, महाजनों और व्यापारियों ने कुछ आदमियों के रक्षक दल बनाए हैं। "उन्होंने हमारे सामने उनकी परेड कराई। उन्होंने कुछ कहा नहीं। इसलिए स्पष्ट ही उद्देश्य

हमें इस बात का उलाहना देना था कि हमारा अधिकार खत्म हो गया है।"[37] पंजाब में अंग्रेजों को शिकायत थी कि जमींदारों से तो उन्हें सहायता मिल रही थी पर महाजनों और व्यापारियों से उन्हें उधार पर बहुत कम पैसा मिला था।[38] अंग्रेजों द्वारा पकड़े गए एक विद्रोही के अनुसार लखनऊ के साहूकार नाना साहब का समर्थन कर रहे थे।[39] पटना में कमिश्नर टैलर को विश्वास था कि साहूकार लुत्फ अली से बागियों को पैसा मिलता है।[40]

सामंतों की तरह महाजन भी किसानों के ढुल-मुल सहयोगी थे पर जैसे नए-पुराने सामंतों में भेद था, वैसे ही नए-पुराने महाजनों में भी भेद था। नए जमींदारों की तरह नए महाजन अंग्रेजों के मुख्य सहयोगी थे। ईस्ट इंडिया कंपनी जैसे जमींदार बनी थी, वैसे ही वह सामंतों को कर्ज देकर उनकी रियासतें हड़पने वाला महाजन भी बनी थी। जमींदारों और किसानों की जमीन-जायदाद हड़पने का यह धंधा बड़े पैमाने पर नए महाजनों ने चालू किया था। यही कारण हैं कि मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, रोहतक आदि स्थानों में महाजनों की कोठियों पर किसानों ने आक्रमण किए और उनके बहीखाते नष्ट कर दिए। शशिभूषण चौधरी ने 1857-59 के गैर फौजी विद्रोहों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। इन विद्रोहों में किसानों ने आमतौर से नए महाजनों के ठिकानों पर ही आक्रमण किया था। बिहार में नील की खेती करानेवाले गोरे जमींदारों के गोदाम जला दिए गए थे। निलहे गोरों और नए महाजनों के खिलाफ किसानों का संघर्ष स्वाधीनता संग्राम के सामंतविरोधी पक्ष को उजागर करता है। कई जगह, यथा मुजफ्फरनगर में, किसान-विद्रोह पहले शुरू हुआ, सिपाहियों ने बगावत उसके बाद की।[41] वैसे आमतौर से सिपाहियों की बागवत पहले शुरू हुई, किसानों ने विद्रोह उसके बाद किया। शशिभूषण चौधरी ने बगावत और विद्रोह में भेद करते हुए लिखा है कि "दोनों असंदिग्ध रूप से संयुक्त थे, बगावत के फलस्वरूप जन विद्रोह फट पड़ते थे" - the mutiny resulting in popular disturbances.[42] किसानों के संघर्षों को क्रांतिकारी रूप देने में निर्णायक भूमिका सैनिकों की थी। बगावत से संबंधित इतिहासकारों के सिद्धांतों पर अपनी पुस्तक Theories of the Indian Mutiny (1965) शशिभूषण चौधरी ने इस वाक्य से आरंभ की है, "1857 की गर्मियों में समूचे उत्तर भारत में सिपाहियों और नागरिकों ने अपने ब्रिटिश फौजी अफसरों तथा सरकारी अधिकारियों को मारना शुरू कर दिया।" किसानों की शिकायतें तो बहुत पुरानी थीं, 1857 की गर्मियों में ही वे विद्रोह करने पर क्यों उतर आए? उन्हें अवश्य मालूम था कि सेना बगावत करनेवाली है या कर रही है। इसलिए उन्होंने भी अपना काम शुरू कर दिया।

जहाँ भी हथियारबंद लड़ाई हुई, किसान और सिपाही मिलकर लड़े। अक्सर रंगरूटों की तरह सैनिक-जत्थों में भर्ती होकर किसान सिपाहियों के साथ एक ही नेतृत्व में लड़े। 1857 की गर्मियों में पटना कमिश्नर के अनुसार जो लगभग एक हजार आदमी अमर सिंह के नेतृत्व में लड़ रहे थे, उनमें "अंशत सिपाही थे, अंशत: गाँव के लोग थे।"[43] छापामार युद्ध जहाँ भी चलाया गया, उसका आधार किसानों का सहयोग था। अगस्त, 1857 में ही मार्क्स ने नोट किया था कि अंग्रेजों को परिवहन और रसद की प्राप्ति में भारी कठिनाई होती थी और वे अपने सैन्यदल केंद्रित न कर पाते थे। "इससे यह नहीं लगता कि उनके प्रति किसानों के मन में अच्छे भाव हैं।"[44] और सितंबर 1857 में मार्क्स ने उत्तर भारत में अंग्रेज सैन्यदलों की तुलना उन छोटी-छोटी चौकियों से की जो मानो "क्रांति के समुद्र के बीच इक्का-दुक्का चट्टानों पर कायम कर दी गई हों।"[45] यह क्रांति का समुद्र -a sea of revolution राजनीति में सक्रिय उत्तर भारत का विशाल किसान समुदाय था।

किसानों का असंतोष भारतव्यापी था किंतु विद्रोह वहीं हुआ जहाँ सेना ने अपनी भूमिका निबाही। शशिभूषण चौधरी का कहना है कि महाराष्ट्र के दक्षिणी भाग में बड़े पैमाने पर कोई फौजी बगावत नहीं हुई, फिर भी इनाम कमीशन ने जमींदारों को और भी बुरी तरह प्रभावित किया था और उन्होंने "हलचल पैदा कर दी।"[46] यह हलचल commotions विद्रोह का रूप न ले सकी, इसका कारण सिपाहियों की बगावत का अभाव था। नवंबर 1905 में लेनिन ने लिखा था, रूस की फौजी बारिकें कैदखानों से बदतर हैं, "और वे बारिकें क्रांति की सुलगती भट्टियाँ बन रही हैं।"[47] जारशाही रूस की फौज प्रजा के दमन का अस्त्र थी, वह उसी दमन को खत्म करने का साधन बन रही थी। भारत में देशी फौज अंग्रेजी राज को कायम करने और उसे बनाए रखने का साधन थी, वह उस राज को खत्म करने का साधन भी बन सकती थी। गाँवों के किसान और फौजी वर्दी पहने हुए पल्टनों के किसान - ये दोनों एक ही शक्ति के दो रूप थे।

किसानों के साथ देहात और शहरों के कारीगर जन मोर्चे का एक महत्वपूर्ण अंग थे। इनमें विशेष भूमिका हथियार बनाने वाले कारीगरों की थी। भारत में औद्योगिक क्रांति न हुई थी, ब्रिटेन में हो चुकी थी। ब्रिटिश फौज के अस्त्र-शस्त्रों का मुकाबला करने के लिए भारतीय कारीगरों को हथियार जुटाने थे। इनमें तोपें, और उसके गोले, बंदूकें और उनके कार्तूस बनाने का काम मुख्य था और इन्हें बर्छी-भाले बनानेवाले पुराने ढंग के कारीगर तैयार न कर सकते थे। वैसे यह धंधा बहुत पुराना था। तोपें बनाना बाबर के समय से यहाँ चालू था। बारूद का प्रयोग और पहले से हो रहा था। 'न्यू अमेरिकन एनसाइक्लोपीडिया' के लिए तोपों पर अपने लेख में एंगेल्स ने भारत की चर्चा करते हुए लिखा था, "1258 के लगभग हम दिल्ली के बादशाह की गाड़ियों पर आतिशबाजी की बात पढ़ते हैं। सौ साल बाद भारत में तोपों का व्यवहार आम हो गया था और जब 1498 में पुर्तगाली वहाँ पहुँचे तो उन्होंने देखा कि बारूदी हथियारों (firearms) के व्यवहार में भारत के लोग उतना ही आगे बढ़े हुए है जितना वे स्वयं हैं।"[48]

यदि पंद्रहवीं सदी में पुर्तगाल आधुनिक युग में प्रवेश कर चुका था, तो निस्संदेह उस युग में तब तक भारत का प्रवेश भी हो चुका था। तोपें, बंदूकें, उनके लिए आवश्यक गोली-गोले, पुराने ढंग के कारीगर न बना सकते थे। इसके उत्पादन के लिए नए ढंग का श्रम संगठन, कारीगरों के नए ढंग का सहयोग आवश्यक था। फ्रांसीसी राज्यक्रांति के समय ब्रिटेन उद्योग धंधों में अधिक विकसित था, फ्रांस में रेलों का चलन न हुआ था। इसी पिछड़े हुए फ्रांस के नैपोलियन ने यूरोप की बड़ी-बड़ी फौजों के छक्के छुड़ा दिए थे। 1857 में भारत की पराजय अनिवार्य नहीं थी। सवाल यह है कि औद्योगिक क्रांति से पहले, मध्यकाल के बाद, सत्रहवीं सदी के ब्रिटेन में मजदूर वर्ग था या नहीं। जाहिर है, था, और केवल सूत कातने और कपड़ा बुननेवाला वर्ग नहीं, हथियार बनानेवाला मजदूर वर्ग भी था। इन हथियारों के मुकाबले के हथियार बनानेवाले भारतीय कारीगरों को भी मजदूर वर्ग की संज्ञा देना उचित होगा। और चीजों का उत्पादन दरकिनार, युद्ध सामग्री का उत्पादन अवश्य ही यहाँ छोटे बड़े कारखानों में होता था।

मई, 1857 में मेरठ से दिल्ली आनेवाले सैनिकों के सामने पहली बड़ी समस्या गोली बारूद और हथियारों का प्रबंध करने की थी। अंग्रेजों ने दिल्ली के अपने अस्त्रागार को बारूद से उड़ा दिया था, इसलिए गोली बारूद की शीघ्र व्यवस्था करना और भी जरूरी हो गया था। 7 अगस्त, 1857 को अंग्रेजों के भेदियों ने देशी सेना के जिम अस्त्रागार को बारूद में आग लगाकर उड़ा दिया था।[47] उसमें इस नई व्यवस्था के फलस्वरूप तैयार की हुई सामग्री थी। बहराइच में युद्ध सामग्री बनाने के एक कारखाने का उल्लेख रसेल ने इस प्रकार किया है : 'जहाँ नाना साहिब के भाई बालाराव बहुत दिन तक रहे थे, वहाँ सराय के भीतर बड़े सायबानों की एक कतार थी। इनमें भौंकनियाँ, भाटदयाँ, साँचे, तोपें ढालने के कुंड, गोलियाँ, और छर्रेदार गोले (ग्रेपशॉट) बनाने के विचित्र उपकरण थे।"[48] इस स्थान का उपयोग अनेक कारीगरों के एक साथ काम करने के लिए होता था, यह रसेल के विवरण से समझा जा सकता है। युद्ध सामग्री तैयार करने के ऐसे बहुत से स्थान अंग्रेजों को युद्ध में दौरान मिले थे। दिल्ली, झाँसी, अवध और बिहार में ऐसे स्थानों के उल्लेख से पता चलता है कि देश में युद्ध सामग्री तैयार करनेवाले कुशल कारीगरों का बहुत बड़ा समुदाय था। उनकी कुशलता के नमूने देखकर कभी कभी अंग्रेज चकित रह जाते थे। रसेल ने एक जगह पीतल के नए ढले हुए गोले देखे, वे "बहुत अच्छे बने हुए (very well made) थे।"[49] बिहार में एक फौजी अफसर ने हाल की बनी एक तोप देखी। वह लकड़ी की थी और उसको ताँबे की नली "अत्यंत कुशलता से बनाई गई" (most skilfully made) थी।" वह बहुत दिन चलनेवाली न थी लेकिन थोड़े समय के लिम "प्रभावशाली ढंग से (effectually) आत्मरक्षा के काम आ सकती थी।"[50] इसके साथ दो अधबनी तोपें थीं जो मानों इस बात का सबूत थीं कि विद्रोही दल लड़ते जाते थे और हथियार भी बनाते जाते थे। रसेल ने जहाँ पीतल के बहुत अच्छे बने हुए गोले देख थे, वहाँ उन्होंने अगिन बाण (rockets) भी देखे थे। इसमें "बड़ी चतुराई से (most ingeniously)" एक ऐसा उपकरण लगाया गया था कि बान उल्टा पीछे को न उड़े, "हमारे इंजिनियरों ने इसे नोटकर लिया।"[51] कुछ इंजिनियर इधर भी थे। यह अनुमान असंगत न होगा कि देशभक्त इंजिनियरों और कारीगरों ने परस्पर सहयोग से आत्मरक्षा के साधन जुटाए थे। और भी महत्पूर्ण बात यह कि एक स्थान छोड़कर कुशल कारीगर युद्ध सामग्री बनाने दूसरे स्थान पर पहुँच जाते थे। नवंबर, 1857 में युद्ध सामग्री बनानेवाले कारीगर दिल्ली से लखनऊ आ गए थे।[52] बहादुरशाह लखनऊ न आए पर दिल्ली के कारीगर आए। किसानों और कारीगरों का एका किसानों और सामंतों की एकता से ज्यादा मजबूत था। कारीगरों के सहयोग के बिना, युद्ध सामग्री के लगातार निर्माण के बिना, यह लड़ाई एक बहुत बड़े क्षेत्र में, इतने दिनों तक न चल सकती थी। रमेशचंद्र मजूमदार ने अमर सिंह का साथ देनेवाले, बाद को पकड़े जानेवाले एक सैनिक का बयान उद्धृत किया है। उसके अनुसार अमर सिंह की तोपें एक मिस्त्री ने बनाई थीं। और यह मिस्त्री कलकत्ते से लाया गया था - (a mechanic brought from Calcutta)।[53] अवश्य ही बंगाल के जमींदारों और उनके अनुयाइयों से इस मिस्त्री के विचार भिन्न थे। उस सैनिक के अनुसार "गंगा में अंग्रेजी नावों से ढेरों गँगा उठा लिया गया था और उससे तोपों के गोले जगदीशपुर में भी बनाए गए थे।"[54] तोपें और गोले बनाने वाले बहुत से कारीगर थे। जो काम ये कारीगर कर रहे थे, वही काम कलकत्ते से आनेवाला मिस्त्री कर रहा था। इस सहयोग को बीजरूप में बंगाली हिंदी मजदूरों की एकता का प्रतीक मानना चाहिए।

अनेक वर्ग सन् सत्तावन के विद्रोह में भाग ले रहे थे, इनमें सबसे बड़ा वर्ग किसानों का था। इस परिस्थिति से विद्रोह का राष्ट्रीय और लोकप्रिय स्वरूप निर्धारित हुआ था। अनेक अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने विद्रोह का यह स्वरूप तुरंत पहचान लिया था। मजदूर आंदोलन से संबद्ध चार्टिस्ट नेताओं ने तो उसे पहचाना ही था, डिजरेली जैसे पुरातनवादी राजनीतिज्ञ ने भी प्रश्न किया था : "भारत की यह उथल पुथल फौजी बगावत है या राष्ट्रीय विद्रोह है।"[55] विद्रोह में सामंतों के शामिल होने का उल्लेख करते हुए मार्क्स ने जुलाई, 1857 में डिजरेली के प्रश्न में निहित धारणा को पुष्ट किया था, "क्रमशः और तथ्य भी सामने आएँगे जो स्वयं जॉन बुल को भी विश्वास करा देंगे कि जिसे वह फौजी बगावत समझता है, वह वास्तव में राष्ट्रीय विद्रोह है।"[56] जो लोग इस विद्रोह को प्रतिक्रियावादी सिद्ध करने के लिए मार्क्स का हवाला देते हैं, वे मार्क्स के प्रति भारी अन्याय करते हैं।

दिसंबर, 1857 में एक अंग्रेज फौजी अफसर ने लिखा था : "संकट आ गया। पहले लगता था कि यह फौजी बगावत मात्र है लेकिन बहुत जल्दी उसका स्वरूप बदल गया और वह राष्ट्रीय विद्रोह बन गया।"[57] बंगाल के बुद्धिजीवियों के लिए कहा जाता है कि वे अंग्रेजी राज की प्रगतिशील भूमिका पहचानते थे, इसलिए उन्होंने विद्रोह का समर्थन न किया था। इन बुद्धिजीवियों के एक श्रेष्ठ

प्रतिनिधि थे अर्थशास्त्री रमेशचंद्र दत्त। उन्होंने लिखा था : "इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि जो सिपाहियों की बगावत मात्र थी, उसे राजनीतिक कारणों ने उत्तरी और मध्य भारत की जनता के बड़े-बड़े वर्गों में फैला दिया और उसे राजनीतिक विद्रोह में बदल दिया।"[58] अंग्रेजों ने विद्रोह को धार्मिक अंधविश्वासों से प्रेरित कहा था, इसके विपरीत रमेशचन्द्र दत्त ने उसके राजनीतिक कारणों पर जोर दिया था।

विद्रोह उत्तर और मध्य भारत के बहुत बड़े क्षेत्र में फैला, सारा भारत उसमें नहीं सिमट आता। इस कारण कुछ लेखक उसका राष्ट्रीय स्वरूप अस्वीकार करते हैं। 1905 की असफल रूसी क्रांति के रूसी होने में किसी को संदेह नहीं हैं, किंतु पूरे रूस में उसका प्रसार भी न हुआ था। लेनिन के शब्दों में, "पश्चिम और उत्तर पश्चिम तो जागा, पर मध्य पूर्व और दक्षिण अब भी आधी नींद में थे।"[59] अधिकांश देश सोता रहा, क्रांति का राष्ट्रीय स्वरूप निर्धारित हुआ था उस भाग द्वारा जो जाग रहा था। 1905 की रूसी क्रांति राष्ट्रीय तो थी ही, वह एक अंतर्राष्ट्रीय महत्व की घटना भी थी। उसने यूरोप ही नहीं, एशिया को भी प्रभावित किया था। लेनिन ने इस प्रसंग में लिखा था, "रूसी क्रांति ने पूरे एशिया में एक आंदोलन को जन्म दिया। तुर्की, ईरान और चीन की क्रांतियाँ साबित करती हैं कि 1905 के शक्तिशाली विकल्प ने गहरी छाप लगाई और यह जो प्रभाव लाखों -करोड़ों आदमियों के आगे बढ़ने मे देखा जाता है, वह मेटा नहीं जा सकता।"[60] आंदोलन की लहरें इस तरह एक सीमित केंद्र से आरंभ होकर दूर दूर तक फैलती जाती हैं। वे हमेशा सतह पर नहीं दिखाई देतीं।

1857 में भारत ही नहीं, एशिया जाग रहा था। सन् 1857 में मार्क्स ने नोट किया था कि भारत में देशी सेना ने उसी समय विद्रोह किया था जिस समय "महान एशियाई जातियों में अंग्रेजों की प्रभुता के विरुद्ध व्यापक क्षोभ फैल रहा था, और इसमें जरा भी संदेह नहीं कि बंगाल सेना का विद्रोह ईरानी और चीनी युद्धों से घनिष्ठ रूप में जुड़ा हुआ था।"[61] इस तरह 1857 का जनसंग्राम एशिया के साम्राज्यविरोधी जागरण का एक हिस्सा था। ब्रिटिश साम्राज्य संसार का सबसे बडा साम्राज्य था। भारत इस साम्राज्य की धुरी था। धुरी के हिलने से साम्राज्य के सभी अंग हिल जाएँ, यह अनिवार्य था। ब्रिटेन और यूरोप के जो मजदूर अपने पूँजीपतियों और जमींदारों की गुलामी से छुटकारा पाना चाहते थे, वे उस जनसंग्राम का स्वागत करें, यह भी अनिवार्य था। 1957 में उन्नीसवीं सदी के हिंदी-चीनी जनसंग्रामों को याद करते हुए यू शेंग-वू तथा चेन-कुन ने लिखा था : "जनक्रांति के इस ज्वार में विदेशी आक्रमण और उत्पीड़न के विरुद्ध चीनी और हिंदी जनों के संघर्ष सबसे ज्यादा व्यापक थे। एशियाई जातियों के बाद वाले मुक्ति आंदोलनों पर उन्होंने गहरा असर डाला।"[62]

दिलचस्प बात यह है कि चीन में रूसी साम्राज्य के प्रसार की तीव्र निंदा करते हुए लेनिन ने 1857 के विद्रोह को याद किया था। जहाँ-जहाँ साम्राज्यवादी पहुँचते हैं, वहाँ लोगों के सामने दो ही रास्ते रह जाते हैं : "मरता क्या न करता की हालत में या तो वे विद्रोह करें या भूख से जान दें। भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध देशी लोगों के विद्रोह और वहाँ फैली हुई भुखमरी को याद कर लेना काफी होगा।"[63] भारत, ईरान, चीन - इन तीनों के स्वाधीनता संग्राम मार्क्स की निगाह में परस्पर संबद्ध थे। यही विचार लेनिन का था। रूसी क्रांति से थोड़ा ही पहले दिसंबर, 1916 में लेनिन रूस और यूरोप के मजदूरों को समझा रहे थे कि देश की रक्षा के नाम पर उन्हें स्वाधीनता आंदोलन के विरुद्ध अपने पूँजीपतियों का साथ न देना चाहिए। पहला महायुद्ध अभी चालू था। रूस और इंगलैंड एक ही शिविर में थे और जर्मनी से मार खा रहे थे। ऐसे में भारत, चीन, ईरान इनके खिलाफ लड़ाई छेड़ दें, तो क्या उनका यह काम अनुचित होगा? अनुचित होना दरकिनार, लेनिन ने कहा, ऐसी लड़ाई का स्वागत करना चाहिए क्योंकि एशिया की जातियाँ फ्रांस की राज्यक्रांति के दौर से गुजरती होंगी। उन्होंने प्रश्न किया : "यदि रूस और इंगलैंड को जर्मनी सबक सिखा दे, फिर भारत, चीन तथा एशिया की अन्य क्रांतिकारी जातियों के साथ जो अपने-अपने 1789 और 1793 पूरे कर रही हैं, गठबंधन करके ईरान उन पर हमला करे, तो क्या हम कल उनके लिए पितृभूमि की रक्षा के अधिकार को मान्यता दे देंगे?"[64]

एशिया की जातियाँ अपने यहाँ 1789 और 1793 पूरे कर रहीं थीं। 1789 में फ्रांस की राज्यक्रांति शुरू हुई, 1793 में वह पूरे उभार पर थी। भारत में अंग्रेजों के मुख्य सहायक यहाँ के बड़े-बड़े सामंत थे। अंग्रेजों से लड़ने का मतलब था, इस सामंतों से भी लड़ना। इसके सिवा अंग्रेजी के पाले-पोसे महाजनों से भी किसान क्रांतिकारी ढंग से निपट रहे थे। स्वाधीनता संग्राम का यह सामंत विरोधी पक्ष था। सबसे बड़ी बात यह थी सैनिकों ने जहाँ भी नई राज्यसत्ता कायम की, वहाँ उन्होंने प्रभुत्व सामंतों का न होने दिया, चाहे वे उनके सहयोगी ही रहे हों। उन्नीसवीं सदी में कम से कम एक लेखक फ्रांस में ऐसा था जो 1857 की जन-पंचायतों का महत्व समझता था। पूरनचंद जोशी के संकलन में एक लेख 'समकालीन फ्रांसीसी पत्रकारिता' पर है। इसमें एक जनवादी पत्रकार आंतोमेल पर यह टिप्पणी हैं : "जोंकिएर आंतोमेल इस धारणा पर जोर देते हैं कि भारत में जो लोकतांत्रिक शक्तियाँ 1857 में थीं वे मूलत: कम्यून (पंचायत), म्युनिसिपैलिटी थीं, जो सामंती शासन तंत्र में बरकरार रही थीं, बड़े मुगलों के युग से जो विरासत में मिलीं थीं और अंग्रेजी द्वारा बनी रहने दी गई थीं। उनके (आंतोमेल के) अनुसार यही शक्तियाँ विद्रोहियों को विजय की आशा देती हैं।"[65] बात बहुत सही है। फ्रांसीसी राज्यक्रांति के दौरान जनसत्ता के नए रूप उभरकर आए थे। उनमें ये अतिशय महत्वपूर्ण

जन पंचायतें थीं। लेनिन का कहना था, क्रांति जिस नए ढंग की सरकार बनाती है, उसकी मिसालें "उच्चतम क्रांतिकारी उभार के समय में ही जैसे 1792 और 1871 के फ्रांस में अथवा 1905 के रूस में देखने को मिलती हैं।"

पूरनचंद जोशी के संकलन में उर्दू-फारसी जाननेवाले किसी मार्क्सवादी शोधकर्ता ने तल्मीज़ खाल्दून नाम से एक निबंध लिखा है। उसमें जनपंचायतों को उन्होंने गदर की असफलता का कारण माना है। असफलता के कारण गिनाते हुए उन्होंने लिखा है : "सुगठित संगठन (अर्थात् नेतृत्व) के बिना ऐसा विद्रोह सफल न हो सकता था। विद्रोह के नेता एक बहुरूपिया मंडली थे - बेदखल जमींदार, उखड़े हुए कारीगर, असंतुष्ट सिपाही और कट्टर धर्मांध पुरोहित।" स्वाधीन भारत के बारे में इनके अलग-अलग विचार थे। नेताओं की असंबद्ध आकांक्षाएँ प्रशासनिक पंचायत और शासन व्यवस्था में मूर्तिमान हुई। ग्राम पंचायत के परिवर्धित रूप के अलावा वह और कुछ भी नहीं था। (आखिर राजनीतिक विरासत के तौर पर यही एक चीज तो उनके पास थी।) यह सच है कि नई राज्यसत्ता की सामाजिक-आर्थिक विषयवस्तु किसान स्वामित्व स्थापित करने की ओर उन्मुख थी। लेकिन विद्रोही यदि सफल भी हो जाते तो भी, अपनी निर्वाचित प्रशासनिक पंचायत के बावजूद, नई राज्यसत्ता पुराने बादशाही तंत्र में फिर से तब्दील हो जाती।"[67] स्वयं तल्मीज खाल्दून ने जो तथ्य दिए हैं, उनसे उनकी अटकलों की पुष्टि नहीं होती। मिर्जा मुगल चाहते थे, पंचायत के कारिंदों के बदले शाही घराने के लोग धन संग्रह करें। लेकिन बादशाह ने "मिर्जा को याद दिलाया कि इस मामले में एकमात्र अधिकार पंचायत को है।" यह मामला फौजी नहीं है, चंदा वसूलने का है लेकिन यह भी एकाधिकार पंचायत का है। खाल्दून का कहना है, पंचायत चंदा वसूलने में असफल हुई, धनी वर्ग डरा हुआ था। पर इससे यह भी साबित होता है कि शासन में या विद्रोह के नेतृत्व में इस धनी वर्ग की कोई भूमिका न थी। खाल्दून ने बादशाह का वक्तव्य उद्धृत किया है। उसका पहला वाक्य यह है, "बागी सिपाहियों ने एक कोर्ट कायम किया था। उसी में सब बातों पर सोचविचार होता था और फैसले किए जाते थे। लेकिन मैंने कभी उनकी मजलिसों में भाग नहीं लिया।"[68] इस कोर्ट के बारे में खाल्दून ने जॉर्ज कैंपबेल की पुस्तक से उद्धरण दिया है। बादशाह संवैधानिक बादशाह जैसा था "लेकिन पार्लियामेंट के बदले उसके पास एक और सैनिक समिति थी जिसके हाथ में सत्ता थी और जिसका वह किसी भी हद तक सेनापति नहीं था।" सत्ता न बादशाह के हाथ में थी, न रईसों और जमींदारों के। सत्ता सैनिक पंचायत के हाथ में थी, यह पंचायत निर्वाचित थी। और सुगठित नेतृत्व कैसा होता है?

कैंपबेल ने इस पंचायत के कागजात देखे थे और उन्होंने लिखा : "ऐसा प्रतीत होता है कि सभी अर्जियाँ बादशाह के सामने पेश की जाती थीं" पर वे प्राय: सबकी सब, फौजी और गैर फौजी, दोनों तरह के मामलों से संबंधित (अर्जी पर हुक्म की ताईद के साथ) जिस बड़े अधिकारी के हवाले की जाती थीं, वह 'कोर्ट' था। इस संस्था में कई कर्नल, एक ब्रिग्रेड मेजर और एक सिकट्टर (या सेक्रेटरी) होता था। यह अंतिम कार्यकर्ता, लगता है, दिल्ली का सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति था। ये सभी कर्नल इत्यादि सिपाही थे जो निशानी लगाते थे या बहुत हुआ तो अनगढ़ हिंदू (अर्थात हिंदी) अक्षरों में दस्तखत करते थे। पल्टनों की हाजिरी बहुत नियमित ढंग से ली जाती थी और कर्नल, ऐजुटेंट, और क्वार्टर मास्टर उसकी बाकायदा तस्दीक करते थे।"[69] इस विवरण से इस बात की पुष्टि होती है कि सत्ता का वास्तविक अधिष्ठान पंचायत थी, बादशाह से अधिक शक्तिशाली पंचायत का सचिव था और पंचायत फौजी और गैर फौजी दोनों तरह के मामले निपटाती थी। पल्टनों की हाजिरी लेना, उसकी तस्दीक करना आदि ऐसे काम थे जिन्हें अपढ़ आदमी न कर सकते थे। पंचायत के सदस्यों ने अनुभव से बहुत कुछ सीखा था पर उनमें पढ़े-लिखे लोग भी थे।

कैंपबेल ने लिखा है, "विभिन्न कागज-पत्र पढ़ने का समय मुझे नहीं मिला," वर्ना एक उपयोगी और मजेदार संकलन तैयार किया जा सकता था। (कागज-पत्रों का अस्तित्व ही सिद्ध करता है कि नए शासक अपढ़ नहीं थे। ये लोग भारत के राजनीतिक भाविष्य के बारे में भी सोचते थे।) कैंपबेल के अनुसार - "लगता है कि एक सिपाही-कर्नल ने बादशाह के सामने एक तरह का ज्ञापन पेश किया था जिसमें बताया गया था, फिरंगियों से छुटकारा पाने के बाद देश का शासन चलाने की सबसे अच्छी पद्धति कौन सी होगी। उसने बादशाह सलामत को सलाह दी थी कि सबसे पहले वह जहाँ से भी हो, जैसे भी हो, जितना पैसा बन पड़े, शुरुआती पूँजी के तौर पर -as a capital to start upon - इकट्ठा करें। इसके बाद उसका कहना है कि अंग्रेजों के तमाम दोषों के बावजूद हिंदुस्तान ने जो सबसे अच्छी सरकार देखी है, वह उन्हीं की है, और भावी शासन के लिए वही नमूना रहना चाहिए। फिर अनेक शीर्षकों में वह विस्तृत ब्यौरा देता है और उससे काफी बुद्धिमत्ता और चतुराई जाहिर होती है।"[70] 1857 में एक हिंदुस्तानी सिपाही अपने देश की भावी शासन-व्यवस्था के बारे में सोच रहा है, यह ऐतिहासिक महत्व का तथ्य है। वह न पुरानी बादशाही के बारे में सोचता है, न राजाओं और सम्राटों के बारे में। पंडितों और मौलवियों की बात उससे कोसों दूर है। वह अंग्रेजी शासन की खामियाँ जानता है पर उस शासन-पद्धति को नवाबी और बादशाही से अच्छा समझता है। जो इतिहासकार मान बैठे हैं कि विद्रोही जीत जाते तो भारत पुराने जमाने की ओर लौट पड़ता, वे आश्वस्त हो जाएँ। आखिर नेहरू और अंबेदकर ने अंग्रेजी नमूना ही सामने रखकर भारत का संविधान बनाया था। लेकिन वह सिपाही-कर्नल जहाँ से भी हो, जैसे भी हो, जितना पैसा बन पड़े, शुरुआती पूँजी के तौर पर इकट्ठा करने पर जोर दे रहा था। यह बात अंग्रेजी संविधान के विपरीत थी और पूँजीवादी नेताओं के सोच-विचार के भी विपरीत थी। 1857 के क्रांतिकारी सैनिक ऐसे उपायों के बारे में सोच रहे थे जो किसी संविधान के अनुरूप नहीं थे निस्संदेह ग्राम पंचायतों की परिधि के बाहर थे।

1857 में तो ब्रिटिश पार्लियामेंट पूँजीवादी पार्लियामेंट भी नहीं थी, उसमें जमींदार भरे हुए थे। भारत की नई राज्यसत्ता उसके मुकाबले कहीं अधिक लोकतांत्रिक थी। तल्मीज़ खाल्दून को परेशानी है कि "विद्रोहियों की कार्यपद्धति किसी आधुनिक राज्य के पार्लियामेंटी नियमों के अनुरूप नहीं थी।"[71] सौभाग्य से यही स्थिति फ्रांस और रूस के क्रांतिकारियों की कार्यपद्धति की भी थी। खाल्दून का मत है कि दिल्ली का धनी वर्ग इस जनसत्ता से परेशान था क्योंकि वह 'नई-नई चालें' सोच लेती थी जैसे कि जमींदारी खत्म करना।[72] और भी- कोर्ट ने अमीरों पर भारी टैक्स लगाया, आम आदमी को बिल्कुल छोड़ दिया। यही नहीं, कोर्ट ने उसे राहत देनेकी कोशिश की। "उसने जमींदारी प्रथा खत्म करने, वास्तविक खेतिहर को मालिकाना अधिकार देने के आदेश जारी किए।"[72] तल्मीज़ खाल्दून ने यह बात गदर संबंधी बस्तों में सुरक्षित अप्रकाशित दस्तावेजों के आधार पर कही है। उसकी पुष्टि हेनरी टकर के इन वाक्यों से होती है: "सभी बड़े जमींदारों और नीलामी में जायदाद खरीदनेवालों को लकवा मार गया है, उनका मालमत्ता छिन गया है, उनके कारिंदे अक्सर मौत के घाट उतार दिए जाते हैं और उनकी जायदाद तबाह कर दी जाती है।"[73] जमींदारियाँ खत्म करने का यह क्रांतिकारी तरीका था और ऐसे तरीके 1857 से पहले फ्रांस में अपनाए गए थे।

किसान पंचायतों की भूमिका गदर फ्रांसीसी राज्यक्रांति से ही नहीं, 1905 और 1917 की रूसी क्रांतियों से भी जोड़ती है। मजदूरों, सैनिकों और किसानों की सोवियतें (अर्थात पंचायतें) बोल्शेविक पार्टी के किसी प्रस्ताव के अनुसार न बनाई गई थीं। लेनिन ने उन्हें 'जनता की देशज प्रतिभा की उपज' कहा था। और वे "क्रांतिकारी अधिकार की नई संस्थाएँ" थीं और उनका निर्माण "जनता के केवल क्रांतिकारी अंशों ने किया था।"[74] सोवियत सत्ता पर मुख्य आरोप यह लगाया जाता था कि उसने जनतंत्र को खत्म कर दिया था। जनतंत्र का अर्थ पूँजीवादी पार्लियामेंट तक सीमित कर दिया गया था। फ्रांसीसी राज्यक्रांति, 1905 और 1917 की रूसी क्रांतियाँ जनता की व्यापक राजनीतिक कार्यवाही की श्रेष्ठ मिसालें हैं। इन्हीं में कम्यून और सोवियत जैसी जनसंस्थाओं का निर्माण हुआ था। ये जनतंत्र का संकोचन नहीं, उसका प्रसार थीं और यह प्रसार पार्लियामेंटशाही से बहुत ऊँचे स्तर पर हुआ था। जमींदार और पूँजीपति जनता को अधिकार देते हैं, आर्थिक शक्ति अपने हाथ में रखते हैं, अधिकार कागज पर लिखे रह जाते हैं। क्रांति के दौरान अपनी पंचायतों के जरिए आम जनता अधिकार अपने हाथ में ले लेती है और अमली रूप देना शुरू कर देती है।

1857 में दिल्ली की फौजी पंचायत ग्राम पंचायत का परिवर्धिन रूप थी - यह बात उसकी प्रशंसा में कही जानी चाहिए। उसके सैनिक वेषधारी किसानों ने बादशाहों, राजाओं, अमीरों, को झुका दिया, उन्हें देशभक्ति के रास्ते पर चलने को विवश किया; उन्होंने ऐसा किया इसीलिए वे संसार के सबसे शक्तिशाली साम्राज्य से टक्कर ले सके। जमींदारी का खात्मा, मालिकाना हक जमीन जोतनेवाले को, गरीबों को छूट, अमीरों पर भारी टैक्स, उनके ये काम चाहे जितने थोड़े समय के लिए हुए हों, वे यह दिखाने के लिए काफी हैं कि असली और नकली जनतंत्र में किस तरह का फर्क होता है। पंचायत के भीतर फौजी नेतृत्व सुगठित था; बादशाह, जमींदार, महाजन - कोई भी इस नेतृत्व के अंश न थे। यह नेतृत्व पल्टन के सिपाहियों द्वारा चुना गया था, उन पर किसी राजा की आज्ञा से लादा न गया था। यह नेतृत्व ब्रिटिश फौज के सभी कायदे-कानून तोड़कर कायम किया गया था। अंग्रेजी फौज के बड़े अफसर ऊँचे अभिजातवंश के होते थे, वेलिंगटन से लेकर माउंटबैटन तक यह परंपरा चली आई है। देशी फौज में किसान सिपाहियों ने यह परंपरा तोड़ दी थी, अनुभव की कसौटी पर जो खरा उतरे, उसी के अफसर बनने की संभावना अधिक थी। फौजी अनुशासन और जनतंत्र, दो परस्पर विरोधी चीजें मानी जाती हैं। यहाँ अनुशासन का आधार जनतंत्र था; जो चुना जाए, उसी की आज्ञा मानी जाए। कैंपबेल ने सिपाहियों के कर्नल बनने की बात कहकर अनुशासन के इस जनतांत्रिक आधार की पुष्टि कर दी।

अनुशासन पुराने फौजी ढंग का नहीं था, इसलिए नेतृत्व में मतभेद होना स्वाभाविक था। बड़ी से बड़ी क्रांतिकारी पार्टी में इस तरह के मतभेद उभर आते हैं। रूसी क्रांति से एक पखवारा पहले बोल्शेविक पार्टी की केंद्रीय समिति के दो सदस्यों ने समिति के भीतर तो चुप्पी साधी, बाहर गैरपार्टी प्रेस में सशस्त्र विद्रोह का विरोध किया। लेनिन ने कहा, इस तरह के अपराध बर्दाश्त किए गए तो "पार्टी का नाश हो जाएगा।" उन्होंने केंद्रीय समिति से माँग की कि उन दोनो नेताओं को पार्टी से निकाल दिया जाए।[75] उन्हें पार्टी से न निकाला गया और पार्टी का नाश भी न हुआ। बख्त खाँ और मिर्जा मुगल के मतभेद, फौजी पंचायत और बख्त खाँ के मतभेद बहुत साधारण स्तर के थे। इन मतभेदों से नेतृत्व के टूटने की संभावना बहुत कम थी। तल्मीज़ खाल्दून ने जब गदर के नेताओं को बहुरूपिया मंडली -a motley crowd - कहा था, तब उन्हें सपने में भी गुमान न था कि भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी का नेतृत्व भीतर से टूट जाएगा और एक पार्टी की जगह दो पार्टियाँ खड़ी हो जाएँगी। शायद भारत पर चीन के हमले से (या चीन पर भारत के हमले से) इस घटना का कुछ संबंध रहा हो। लेकिन दिल्ली से चीनी फौजें अभी दूर थीं, पेकिंग से भारतीय फौजें और भी दूर थीं। नेतृत्व की परख संकट और पराजय की घड़ी में होती है। दिल्ली पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया पर गदर का नेतृत्व बिखरा नहीं। लखनऊ में दूसरी पंचायत शासन और क्रांति का संचालन कर रही थी और वह दिल्ली की पंचायत के अधीन थी सुरेंद्रनाथ सेन ने लिखा : सितंबर के आरंभ में बख्त खाँ शिकायत कर रहे थे कि उनके आदेशों का पालन नहीं होता और "कुछ ही समय बाद वह प्रधान सेनापति न रह गए।" इसके कुछ ही पृष्ठों के बाद सेन ने लिखा हैं, "बख्त खाँ ने बादशाह को सलाह दी कि वह फौज के साथ अवध चलें और वहाँ से लड़ाई जारी रखें।[76] फौज बरकरार थी, उसका नेतृत्व बरकरार

था, और बख्त खाँ इस नेतृत्व का अंग थे। तभी वह बादशाह से फौज के साथ चलने और अवध से लड़ाई जारी रखने की बात कह सके थे। और भी : "दिल्ली के पतन के बाद बख्त खाँ लखनऊ पहुँच गए थे। लखनऊ की रक्षा और उसके बाद के अभियान में उनकी भूमिका क्या थी, हम ठीक-ठीक नहीं जानते।" पर अवध के क्रांतिकारी दिल्ली के झंडे के नीचे लड़ रहे थे, यह तो सेन को मालूम है। दिल्ली अंग्रेजों के अधिकार में हैं, फिर भी अवध के लोग दिल्ली का झंडा उठाए लड़ रहे हैं। इससे अधिक नेतृत्व के सुगठित होने का प्रमाण और क्या होगा? 1927 में प्रकाशित गदर पर अपनी पुस्तक में लेफ्टिनेंट-कर्नल गिमलेट ने लिखा था : "1858 के अभियान में बख्त खाँ विद्रोही सेनाओं की कमान नाम मात्र को करते रहे। वह नवाबगंज की लड़ाई में मौजूद थे।"[77] इसका अर्थ यही हो सकता है कि अवध की लड़ाइयों में सेना अब भी बख्त खाँ के नेतृत्व में थी, भले ही उन्हें फौजी पंचायत के अधीन काम करना पड़ता रहा हो।

तल्मीज़ ख़ाल्दून के विचार से विद्रोही जीत जाते, तो भी बादशाहत फिर कायम हो जाती। सबूत यह कि बख्त खाँ 'लार्ड गवर्नर बहादुर' कहलाने लगे थे। खैर, बादशाह बनने से पहले ही सेन के अनुसार वह 13 मई, 1859 को लड़ते हुए मारे गए, ऐसा सुना गया।[78] लेकिन अवध के चीफ कमिश्नर को नेपाली सेनानायक बीरभंजन माझी से प्रमुख विद्रोहियों की जो सूची प्राप्त हुई थी, उसमें अवध की बेगम, बिरजिस कदर, मम्मू खाँ के बाद चौथा नाम 'लार्ड बख्श खाँ' का है और दस्तावेज में ठीक ही माना गया है कि यह बख्त खाँ थे। चीफ कमिश्नर के दफ्तर का यह दस्तावेज 22 अप्रैल, 1859 को भारत सरकार के पास भेजा गया था। बख्त खाँ मारे न गए थे, वह अन्य नेताओं के साथ नेपाल में सकुशल पहुँच गए थे। उनके साथ औसान सिंह, उमराव सिंह और रघुनाथ सिंह - ये तीन फौजी अफसर भी नेपाल में थे और ये तीनों लखनऊ 'कोर्ट' के सदस्य थे।[79] इस तरह अवध की लड़ाइयों के दौरान, और इनके बाद नेपाल पहुँचने तक, फौज का केंद्रीय नेतृत्व कायम रहा था। यह नेतृत्व वास्तविक था, नाम मात्र को नहीं था, इसका प्रमाण नेपाली सेना के एक अफसर कर्नल बलभद्र माझी से हजरत महल की बातचीत है। 28 फरवरी, 1859 को इसका विवरण कर्नल माझी ने राणा जंगबहादुर को भेजा था। अवध की बेगम ने कहा था, "मेरा बेटा बादशाह होता तो फौज पर उसका हुक्त चलता लेकिन उस पर हुक्म चलता है फौज का।"[80] क्रांतिकारी सेना का नेतृत्व देश के बाहर भी संगठित बना हुआ था।

बख्त खाँ लॉर्ड गवर्नर बहादुर बने। विद्रोह जीत जाते तो बादशाहत कायम हो जाती। सत्रहवीं सदी में इंगलैंड में गृहयुद्ध हुआ। क्रामवेल ने बादशाहत खत्म की, फिर लॉर्ड प्रोटेक्टर ऑफ द कामनवेल्थ बने। उनके मरने के कुछ समय बाद इंगलैंड में बादशाहत बहाल कर दी गई। इससे गृहयुद्ध का महत्व कम नहीं हो गया। फ्रांस में राज्यक्रांति हुई, बादशाहत खत्म हुई, क्रांतिकारी फ्रांस का रक्षक नैपोलियन स्वयं बादशाह बन बैठा। इससे फ्रांस की राज्यक्रांति का महत्व कम नहीं हो गया। तल्मीज़ ख़ाल्दून का दिलचस्प तर्क यह है: "उत्पादन के साधनों में क्रांतिकारी प्रौद्योगिक परिवर्तन इस विद्रोह का कारण न थे जिससे पहले से चले आते सामाजिक संबंधों में नया सामंजस्य कायम करना आवश्यक हो जाता और एक नई शासन-व्यवस्था की माँग पैदा होती। केवल पुरानी समाजव्यवस्था का विघटन, नई व्यवस्था के जन्म के बिना, हो गया।" यह स्थापना यांत्रिक भौतिकवाद का बहुत अच्छा नमूना है। यांत्रिक भौतिकवाद सभी तरह के क्रांति-विरोधियों, साम्राज्यवादियों और प्रतिक्रियावादियों का समर्थन बन जाता है, यह प्रस्तुत संदर्भ में देखा जा सकता है।

पहले उत्पादन के साधनों में परिवर्तन हो जाएँ, उसके बाद जनता को क्रांति की बात सोचनी चाहिए। इस तरह न तो सत्रहवीं सदी के इंगलैंड में और न अठारहवीं सदी के फ्रांस में सामंतविरोधी क्रांतियाँ हो सकती थीं। जिस समय फ्रांस में राज्यक्रांति हुई, उस समय वहाँ, लेनिन के शब्दों, "न बैंक थे, न पूँजीवादी संघ थे, न मशीनी उद्योग था, न रेलें थीं।"[81] यदि फ्रांस की जनता प्रौद्योगिक परिवर्तनों, की राह देखती रहती तो क्रांति की नौबत ही न आती और सामंती शोषण कायम रहता। खाल्दून की स्थापना में यह धारणा निहित है कि प्रौद्योगिक परिवर्तनों वाले देश की सरकार प्रगतिशील होगी और पुरानी व्यवस्थावाली सरकार, क्रांति के बावजूद, पिछड़ी हुई होगी। ऐसी दो सरकारें टकराएँ तो जीतेगी प्रौद्योगिक परिवर्तनों वाले देश की सरकार। प्रौद्योगिक परिवर्तन फ्रांस में न हुए थे, अमरीकी उपनिवेशों में भी न हुए थे। उक्त स्थापना के अनुसार अमरीकियों की हार अनिवार्य थी और उनके यहाँ बादशाही का चलन भी अनिवार्य था। आखिर जहाँ से आकर लोग उपनिवेशों में बसे थे, वहाँ बादशाहतें कायम थीं। अमरीकी जीते और जीतने के बाद गणतंत्र कायम किया और इस बार उनके यहाँ क्रामवेल जैसा कोई लॉर्ड प्रोटेक्टर भी नहीं था। फ्रांस में नैपोलियन ने सत्ता अपने हाथ में केंद्रित कर ली पर ऐसा अनिवार्य नहीं था। वाशिंगटन और नैपोलियन में बड़ा फर्क था। 1857 में न तो भारतीय पक्ष की पराजय अनिवार्य थी, न बादशाही का फिर से कायम होना अनिवार्य था। यांत्रिक भौतिकवाद की स्थापना मानकर चलें तो भारत, फ्रांस, अमेरीका - कहीं भी जनता के लिए क्रांतिकारी संघर्ष चलाने का समय आया ही न था। संघर्ष न चलाने से लाभ किसे होता, आप सोच लें।

प्रौद्योगिक परिवर्तन इंगलैंड में हो चुके थे। वहाँ की प्रगतिशील सरकार अमरीकी उपनिवेशों के स्वाधीनता संग्राम का दमन कर रही थी। उसका यह कार्य मानवजाति के हित में था, यह कहने का साहस किसी यांत्रिक भौतिकवादी को नहीं है। ऐतिहासिक

तथ्य यह है कि अमरीकी उपनिवेशों के लोग स्वाधीनता के लिए लड़े तो उनका शत्रु था इंगलैंड और फ्रांस के लोग अपने गणराज्य की रक्षा के लिए लड़े तो उनका भी मुख्य शत्रु था इंगलैंड। अमरीका और भारत का वह शत्रु था, यह तो प्रत्यक्ष ही है। यूरोप के जितने प्रतिक्रियावादी थे, वे सब फ्रांसीसी राज्यक्रांति की उपज, वहाँ के नए गणराज्य को खत्म कर देना चाहते थे। इनका सरगना था इंगलैंड। फ्रांस के क्रांतिकारी अकेले पड़ गए। "सभी यूरोपियन राज्य उनके विरुद्ध खड़े हो गए, और इनमें मुख्य था इंगलैंड, यद्यपि वह आगे बढ़ा हुआ देश था।"[४] यह विश्लेषण लेनिन का है। इंगलैंड आगे बढ़ा हुआ देश था और वह यूरोप के प्रतिक्रियावादियों के साथ मिलकर फ्रांस के क्रांतिकारियों के विरुद्ध लड़ रहा था। 1776 से लेकर 1859 तक तीन महाद्वीपों अमरीका, यूरोप एशिया में तीन क्रांतियाँ हुईं। तीनों के विरुद्ध लड़ा इंगलैंड। इस आगे बढ़े हुए देश को विश्व प्रतिक्रियावाद का गढ़ कहा जाए तो इसमें तेजी क्या है?

और यांत्रिक भौतिकवाद के अनुसार मजदूरों को क्रांति करनी चाहिए थी आगे बढ़े हुए इंगलैंड में, पर उन्होंने कर डाली पिछड़े हुए रूस में। यांत्रिक भौतिकवाद के अनुयायी आज तक नहीं समझ पाए कि इंगलैंड के मजदूरों ने क्रांति क्यों नहीं की और रूस के मजदूरों ने क्यों की। इंगलैंड नए रूसी गणराज्य को खत्म करने के लिए फिर प्रतिक्रियावादियों का सरगना बना। यांत्रिक भौतिकवाद के अनुसार प्रौद्योगिकी में आगे बढ़े अमरीकी, इंगलैंड, फ्रांस जैसे देशों की विजय, रूसी गणराज्य की पराजय, अनिवार्य थी। पर हुआ इसका उल्टा। यदि रूस में यांत्रिक भौतिकवाद का बोलबाला होता तो वहाँ क्रांति की नौबत ही न आती, किसी तरह क्रांति हो जाती तो आगे बढ़े हुए देशों से युद्ध में विजय पाने की संभावना अवश्य न रह जाती।

आगे बढ़ा हुए इंगलैंड जब क्रांति विरोधी रास्ते पर चलता है, तब वह क्रांतिकारियों को दम लिए बिना सालों तक कोसता रहता है, उनकी क्रूरता की भयानक कहानियों का, विशेष रूप से स्त्रियों और बच्चों की हत्याओं का, खूब प्रचार करता है। यह कार्य और देश भी करते हैं पर इंगलैंड इस काम में माहिर है। फ्रांसीसी राज्यक्रांति के खूनी आतंक के चित्र खींचकर वह देश विदेश की जनता को बराबर डराता है, अपने साम्राज्य को वह शांति और जनतंत्र की आदर्श व्यवस्था कहता है। इसी तरह वह रूसी क्रांति के खूनी आतंक का प्रचार करता है। जो बात रूसी फ्रांसीसी क्रांतियों और हमारे गदर में सामान्य है, वह इंगलैंड द्वारा इनसे संबंधित खूनी आतंक का प्रचार है। रूस और फ्रांस की क्रांतियाँ तो अंग्रेज दूर से देखते रहे थे, गदर में वे उसकी सीधी चपेट में आ गए थे। इसलिए खूनी आतंक का जैसा प्रचार उन्होंने गदर के बारे में किया है, वैसा उन क्रांतियों के बारे में भी नहीं किया।

तल्मीज़ खाल्दून की स्थापना में एक अंतर्विरोध है, उसपर ध्यान देना आवश्यक है। उनके अनुसार विद्रोह का कारण उत्पादन के साधनों में प्रौद्योगिक परिवर्तन नहीं था वरन पुरानी समाज व्यवस्था का विघटन था। यह विघटन कैसे हुआ और वह व्यवस्था किस तरह की थी, जिसमें विघटन हुआ? अंग्रेजी राज कायम हुआ, पुराने स्वायत्त ग्राम समाजों का अर्थतंत्र टूट गया, नई व्यवस्था का जन्म नहीं हुआ। 1853 में मार्क्स ने कहा था, "इंगलैंड ने भारतीय समाज का पूरा तानाबाना छिन्न भिन्न कर दिया है, और पुनर्निर्माण के कोई लक्षण अभी तक प्रकट नहीं हुए।"[५] यही धारणा खाल्दून ने दोहराई है। लेकिन उनका यह कहना भी है कि दिल्ली की पंचायत ने वास्तविक खेतिहर को 'मालिकाना अधिकार' देने के आदेश जारी किए। पुरानी ग्राम समाजव्यवस्था में जमीन पर पूरे गाँव का अधिकार होगा, किसी एक किसान का नहीं। इंगलैंड की क्रांतिकारी भूमिका इसी बिना पर स्वीकार की गई थी कि उसने सामूहिक भूसंपत्ति का चलन खत्म किया था। यदि 1857-58 में कहीं एक भी गाँव में विद्रोही सैनिक का किसान जमीन पर पूरे गाँव का स्वामित्व कायम करते तो हम मान लेते कि वे पुरानी व्यवस्था को बहाल कर रहे हैं। पर ऐसा नहीं हुआ, न किसी ने इसका उदाहरण दिया है। इसके विपरीत मिर्जामुगल और वख्त खाँ के बीच जो झगड़ा शुरू हुआ, वह तल्मीज़ खाल्दून के अनुसार "दम तोड़ते अभिजात वर्ग और किसान मालिकों की नई शक्ति के बीच संघर्ष था।"[६] नई शक्ति थी तो वह किसान मालिकों की शक्ति थी, अर्थात् व्यक्तिगत भूसंपत्ति पुरानी सामंती संपत्ति से लड़ रही थी। यह नई शक्ति जीत जाती तो पुरानी सामंती संपत्ति बहाल कैसे होती? तल्मीज़ खाल्दून ने ग्राम समाजों के तोड़े जाने की कल्पना मार्क्स से उधार ली और उसमें व्यक्तिगत भूसंपत्ति की अपनी धारणा फिट कर दी। फ्रांस की राज्यक्रांति में किसान व्यक्तिगत भूसंपत्ति के लिए लड़े थे, यही उसका प्रगतिशील पक्ष था। 1917 के रूस में भी किसान निजी संपत्ति के लिए लड़े थे, इसीलिए लेनिन ने कहा था, रूस में क्रांति का तात्कालिक उद्देश्य "पूँजीवादी जनवादी था अर्थात् मध्यकालीनता के अवशेषों का खात्मा।"[७] और लेनिन ने इस बात पर उचित ही गर्व किया था कि रूस में यह काम ज्यादा गहराई और भरे पूरे ढंग से संपन्न किया गया है। भारत की परिस्थितियाँ भिन्न थीं। यहाँ साम्राज्यवादी प्रभुत्व को, उसके नए सामंती महाजनी आधार को खत्म करना था। हर तरह के सामंतवाद को खत्म करके निजी भूसंपत्ति कायम करना उसका लक्ष्य न था। यदि भारतीय पक्ष जीत जाता तो यहाँ पूँजीवादी विकास तेजी से होता, अंग्रेजों की अधीनता में नहीं, स्वतंत्र रूप से। 1857 में क्रांति के नेता इस संभावना से बेखबर नहीं थे।

अगस्त, 1857 में बहादुरशाह के नाम से जो घोषणापत्र निकला गया था, उसमें कहा गया था कि व्यापार पर अंग्रेजों ने जो इजारा कायम किया है, वह तोड़ दिया जाएगा, सौदागर भाप से चलनेवाले सरकारी जहाज और भाप से चलनेवाली सरकारी गाड़ियाँ इस्तेमाल सकेंगे, "और जिन व्यापारियों के पास अपनी पूँजी न होगी, उनकी सहायता सार्वजनिक कोष से की जाएगी।"[८] नई सरकार रेल

चलाएगी, भाप के जहाज चलाएगी, व्यापारियों को इनके व्यवहार की सुविधा देगी, सरकारी कोष से पूँजी देकर उनकी मदद करेगी। व्यापार और मशीनी उद्योग के विकास का लक्ष्य स्पष्ट है। यह लक्ष्य नए-पुराने दोनों तरह के सामंतवाद को देखते हुए प्रगतिशील था।

क्रांति में किस वर्ग का नेतृत्व हैं, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण होता है। फ्रांस में पूँजीवादी नेतृत्व था, रूस में मजदूर वर्ग का नेतृत्व था, भारत में सैनिक-किसानों का नेतृत्व था। फ्रांस में यूरोप के प्रतिक्रियावादियों ने "जमींदारों को फिर से बहाल कर दिया।"[87] रूस में यह करना उनके लिए सभंव न था। इस तरह लेनिन ने दोनों क्रांतियों की परिस्थितियों का भेद बताया। रूस में समाज का सबसे क्रांतिकारी वर्ग, मजदूर वर्ग, क्रांति का नेतृत्व कर रहा था। उसने देशी-विदेशी प्रतिक्रियावाद को हराया, जमींदरों की बहाली को असंभव बना दिया।

इंगलैंड, जर्मनी, फ्रांस को देखते रूस आर्थिक विकास में पिछड़ा हुआ था। इन तीन देशों में भी मजदूर, आबादी का बहुसंख्यक भाग न थे, रूस में वे और भी अल्पसंख्यक थे। आवादी का वहुसंख्यक भाग थे किसान। इनका सक्रिय होना बहुत जरूरी था। क्रांति तभी सुगम हो सकती है और उसकी उपलब्धियों की तभी रक्षा की जा सकती है जब आबादी का बहुसंख्यक भाग सक्रिय हो। क्रांति के साल-भर बाद लेनिन ने कहा था, "जमीन की प्राप्ति, श्रमिक जनों की अन्य किसी भी प्राप्ति की तरह, तभी सुरक्षित रह सकती है, जब वह स्वयं श्रमिक जनों की स्वतंत्र कार्यवाही पर, स्वयं उनके संगठन पर, उनकी सहनशक्ति और क्रांतिकारी दृढ़ता पर आधारित हो। क्या किसानों के पास यह संगठन था? दुर्भाग्य से नहीं। और यही कष्ट की बात है, यही कारण है कि संघर्ष इतना कठिन है।"[88]

फौज के भीतर और बाहर उत्तर भारत के बहुत बड़े भाग में किसानों की स्वतंत्र कार्यवाही - पूँजीवादी नेतृत्व के बिना, मजदूर वर्ग के नेतृत्व के बिना - सन् सत्तावन की राज्यक्रांति की ऐतिहासिक विशेषता है। भारतीय सामंतों का बहुसंख्यक भाग अंग्रेजों के साथ था। यह निश्चित है कि अंग्रेजों के पराजित होने पर इन सामंतों की शक्ति नष्ट कर दी जाती। 1757 में भारत की जो दशा थी - अंग्रेजों के सामने भारतीय सामंतों की असमर्थता - उसे देखते यह बहुत बड़ी प्रगति होती। 1857 के बाद अंग्रेजों ने भारतीय सामंतवाद को अपने अधीन अपना सहयोगी बना कर रखा, यह स्थिति उत्पन्न न होती। भारत के जिन प्रदेशों में शांति बनी हुई थी, वहाँ क्रांति का विस्तार होता, विद्रोहियों के प्रति आम जनता में वहाँ गहरी सहानुभूति थी, केवल असंतोष अभी संगठित विस्फोट का रूप न ले सका था। यह सहानुभूति नेपाल जैसे भारत के पड़ोसी देशों में विद्यमान थी। अंग्रेज चाहते थे कि नेपाल का राजा वहाँ से विद्रोहियों को निकाल कर उनके हवाले कर दे पर ऐसा करने का साहस राणा जंगबहादुर में नहीं था। नेपाल स्थित अंग्रेज रेजिडेंट ने भारत सरकार को मार्च, 1859 में सूचित किया था "उसे (जंगबहादुर को) भरोसा नहीं है कि वह उन्हें (विद्रोहियों को) नीचे जाने का हुक्म दे तो उसकी फौज उसका हुक्म मानेगी और यदि तीन-चार पल्टनों ने आगे बढ़ने से इनकार किया तो - there would probably be a revolution - संभव है, क्रांति हो जाए।"[89]

कल्पना कीजिए, 1859 में नेपाल, कश्मीर, हैदराबाद में अंग्रेजों के पिट्ठू सामंत नहीं हैं। कितना बड़ा परिवर्तन इस देश के लिए और एशिया के अन्य देशों के लिए होता। मार्क्स ने एशिया की महान जातियों के जिस सहयोग की बात कही थी, वह सुदृढ़ होकर साम्राज्यवाद को ध्वस्त कर देता। दुनिया का सबसे बड़ा साम्राज्य था ब्रिटिश साम्राज्य। उस साम्राज्य की आधारशिला था भारत। उस शिला के खिसकने पर सारी इमारत चरमराकर ढह जाती, दुनिया का नक्शा ही बदल जाता। साम्राज्यवाद के हिमायती ही कह सकते हैं कि गदर में विद्रोहियों के जीतने से भारत की प्रगति रुक जाती और वह अंधकार-युग की ओर लौट जाता।

[3]

बनारस मंडल में स्कूलों के इंस्पेक्टर शिवप्रसाद (भावी राजा और सितारेहिंद) ने गदर के दौरान 1858 में एक पुस्तक लिखी थी - Thoughts of a Native of Northern India on the Rebellion, its Causes and Remedies (विद्रोह, उसके कारणों और समाधान पर एक उत्तरभारतीय देशी जन के विचार)। मौंटगोमरी मार्टिन ने भारतीय साम्राज्य पर अपने ग्रंथ में गदर के कारणों पर विचार करते हुए इस पुस्तक का हवाला दिया है। शिवप्रसाद के लिए गदर फौजियों की बगावत-भर नहीं है, यह पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है। वह विद्रोह है और उसका मुख्य कारण है जनता का असंतोष। देश की दुर्दशा और सरकार की अलोकप्रियता का एक कारण है भारत की भाषाओं के प्रति अधिकारियों का उपेक्षाभाव, उनका अज्ञान। कानून को अमल में लाते हैं मजिस्ट्रेट; कानून बहुत अच्छे हों, मजिस्ट्रेट बुरे हों तो इससे क्या लाभ होगा? कानून चाहे अच्छे न हों, मजिस्ट्रेट बुरे हों तो इससे लाभ होगा। पंजाब में कुछ भले अधिकारी हैं। "इस तरह के थोड़े भले अधिकारी जब-तब कुछ जिलों को भाग्य से मिल जाते हैं। उन्हीं के कारण जनता हताश नहीं हुई और एक साथ नहीं उठ खड़ी हुई ... बेशक बगावत का दमन कर लेने के बाद सरकार महसूस करेगी कि वह पहले से ज्यादा मजबूत हो गई है। शक्ति के बढ़ने के साथ-साथ उसी अनुपात में यदि देशीजनों के प्रति उनके देशवासियों (अर्थात् अंग्रेजों) की घृणा बढ़ेगी, जैसा कि अब तक हुआ है, तो उसी अनुपात में जनता का क्षोभ बढ़ेगा, सरकार की अलोकप्रियता बढ़ेगी। इसके परिणाम स्पष्ट हैं; और विश्वास कीजिए, देश वीरान हो जाएगा, तबाह हो जाएगा।"[90]

शिवप्रसाद का जोर अंग्रेजों की नीति और जनता के असंतोष पर है। भारत की भाषाओं की उपेक्षा, जनता के प्रति घृणा, कानून लागू करनेवाले दुष्ट अधिकारी उस असंतोष का कारण हैं। दमनचक्र चलाकर अंग्रेज अपना राज बरकरार रख सकते हैं पर उनके प्रति जनता का असंतोष बढ़ता जाएगा। यदि 1857 के विद्रोह का कारण जनता को असंतोष था तो असंतोष के बढ़ने पर विद्रोह भी हो सकता है। उस हालत में देश वीरान हो जाएगा, तबाह हो जाएगा। शिवप्रसाद की पुस्तक में अंग्रेजों को अपना रंग ढंग बदलने की सलाह दी गई है, साथ ही उन्हें चेतावनी भी दी गई है।

इसी समय सैयद अहमद खाँ (भावी सर सैयद) भी गदर के कारणों की छानबीन कर रहे थे। सैयद एहतिशाम हुसेन के शब्दों में उनके प्रयत्नों का सारतत्व यह था : "वह मुसलमानों के मस्तक से वह कलंक मिटा देना चाहते थे जो उनके विचार में गदर से लग गया था।"[91] पूँजीवादी उदारपंथ के अनेक रूप थे। सैयद अहमद खाँ और शिवप्रसाद दोनों उदारपंथी थे, अंग्रेजी राज के शुभचिंतक थे, फिर भी दोनों के उदारपंथ में भेद था। सैयद अहमद खाँ ने उर्दू गद्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया पर उनसे पहले उदारपंथ से हटकर, उर्दू गद्य की एक क्रांतिकारी परंपरा भी थी और वह सीधे गदर से जुड़ी हुई थी। लैंग जॉन भारत में काफी दिन रहे थे और उर्दू जानते थे। उन्होंने उस समय के उर्दू पत्रों से अनेक उदाहरण दिए हैं। जेल से एक कैदी भाग निकला था। मैजेस्ट्रेट साहब पुलिस दल लेकर आधी रात को एक गाँव में पहुँचे। गाँववालों को उन्होंने आधे घंटे का समय दिया कि कैदी को हाजिर करें। समय बीतने पर कैदी हाजिर न किया गया तब साहब ने गाँव में आग लगा देने का हुक्त दिया। उसआग में तीन मर्द, चार औरतें और छह बच्चे जल मरे। छह सौ आदमी बेघर हो गए। पत्र ने लिखा : इससे क्या इन्साफ का रास्ता कहीं रोका जा सकता है? कुछ शरारती कहते हैं, साहब पागल हो गया है लेफ्टिनेंट गवर्नर ऐसी बातों पर ध्यान न देंगे।[92]

एक दूसरे अखबार ने लिखा : लेफ्टिनेंट गवर्नर साहब एक सरकारी स्कूल में इम्तहानों का मुआयना करने गए। एक लड़के से उन्होंने पूछा, दुनिया कैसे घूमती है? लड़ने ने किताब में जो पढ़ा था, कह दिया। पत्र ने लिखा : उसे दोनों हाथ बाँधकर सर झुकाकर कहना चाहिए था, हुजूर, यह दुनिया आपके इकबाल से घूमती है। लैंग जॉन ने इस गद्य की विशेषता बताई है कि तीखा से तीखा व्यंग्य तारीफ की चाशनी में लपेटकर पेश किया जाता था। लैंग जॉन ने पैरिस और लंदन के व्यंग्य पत्रों का उल्लेख करते हुए कहा है कि ऐसा कौशल उनमें भी नहीं है। अंग्रेजी में अनुवाद करने पर लगे कि तारीफ हो रही है, उर्दू पढ़नेवाले समझ लें कि मजाक उड़ाया जा रहा है। एक पत्रकार ने ऐसे गद्य का अंग्रेजी अनुवाद पेश करके भारत सरकार की सेवा में डेढ़ सौ रुपए माहवार की नौकरी भी पा ली![93]

उर्दू गद्य की इस परंपरा के वारिस सैयद अहमद खाँ नहीं थे, भारतेंदु हरिश्चन्द्र और बालमुकुंद गुप्त थे। वे उन्नीसवीं सदी के पूँजीवादी उदारपंथ से बहुत आगे बढ़े हुए थे। वे और उस युग के दूसरे बहुत से लेखक उर्दू साहित्य से अच्छी तरह परिचित थे। उर्दू हिंदी के क्रियापद एक हैं, सर्वनाम एक हैं। यह उनकी बुनियादी एकता है। इसके साथ उनके साहित्य की एक समान साम्राज्यविरोधी परंपरा है। भारतेंदु युग के लेखकों की जिंदादिली प्रसिद्ध है। इसका स्रोत क्या है? इसका स्रोत है यह विश्वास कि भारत की जनता लड़ सकती है, वह स्वाधीनता प्राप्त कर सकती है। 1874 में 'कविवचन सुधा' ने लिखा था : 'जिस प्रकार अमेरिका उपनिवेशित होकर स्वाधीन हुआ वैसे ही भारतवर्ष भी स्वाधीनता लाभ कर सकता है।' भारतेंदु हरिश्चंद्र सीधे जनता से लोक गीतों के स्तर पर अंग्रेजी राज के बारे में कह सकते थे :

भीतर-भीतर सब रस चूसै, हँसि-हँसि कै तन मन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि सज्जन वहि अंगरेज।

यह दृष्टिकोण स्वाधीनता प्रेमी जनता का है, अंग्रेजभक्त अमीरों का नहीं। इनके बारे में भारतेंदु हरिश्चन्द की राय यह थी :

अमीर सब झूठे और निदंक करैं घात विश्वासी।
सिफारिसी डरपुकने सिट्टू बोलैं बात अकासी।

शिवप्रसाद सितारेहिंद को पता था, अंग्रेज जनता पर बलपूर्वक शासन कर रहे हैं और भारतेंदु हरिश्चन्द्र को पता था, अंग्रेज यहाँ हिंसा के द्वारा जनता को त्रस्त किए हैं :

कठिन सिपाही द्रोह अनल जा जलबल नासी।
जिन भय सिर न हिलाया सकत कहुँ भारतवासी।

भारतेंदु युग के लेखक ने इस आतंक राज में अपनी जिंदादिली कायम रखी। उस युग में यह भी लिखा गया था : पूरी अमी को कटोरियासी चिर जीवौ सदा विक्टोरिया रानी। यह समस्या-पूर्तिवाली, अलंकारशास्त्र की परंपरा थी जो निरंतर क्षीण होती जा रही थी। इंगलैंड और फ्रांस, दोनों में फ्रांसीसी राज्यक्रांति के बाद भी निओक्लासिकल (रीतिवादी) परंपरा काफी दिन तक जीवित रही,

पर वह क्षीण होती गई। युग की पहचान नई मानवतावादी धारा से होती है। फ्रांस की राज्यक्रांति ने जितना यूरोप के बुद्धिजीवियों को प्रभावित किया था, उससे कुछ अधिक ही गदर ने यहाँ के लोकमानस को प्रभावित किया था। जो भी लेखक इस लोकमानस से तादात्म्य स्थापित करेंगे, वे गदर को महत्व पहचानेंगे। तमाम अहिंसावादी प्रचार के बावजूद स्वाधीनता-आंदोलन के दौरन गाई जानेवाली सुभद्रा कुमारी चौहान की प्रसिद्ध कविता झाँसी की रानी पर थी और स्वाधीनता प्राप्ति की पूर्ववेला में इसी रानी पर वृंदावनलाल वर्मा का ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित हुआ था। समकालीन इतिहास को हम जितना समझते हैं, उसी अनुपात में हम पुराकालीन इतिहास को समझते हैं। जितना ही साम्राज्यवाद की वर्तमान स्थिति को हम पहचानेंगे, उतना ही अपने पिछले इतिहास को, उस इतिहास से अपने साहित्य के संबंध को हम पहचानेंगे।

मानवजाति के सांस्कृतिक विकास के लिए जैसे अमरीकी उपनिवेशों का स्वाधीनता संग्राम आवश्यक था, जैसे फ्रांस की राज्यक्रांति आवश्यक थी, वैसे ही सन् सत्तावन का स्वाधीनता संग्राम आवश्यक था। उसके इस स्वरूप के बारे में सजग हिंदी लेखकों को कभी दुविधा नहीं थी। शिवपूजन सहाय, निराला और उग्र के घनिष्ठ सहयोगी ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने 1922 में लिखा था : "हम विद्रोह को स्वाधीनताभिलाषी भारत का स्वातंत्र्य युद्ध कहने को विवेश हैं और यदि कदाचित् वह सफल हो जाता, तो संसार का इतिहास भी इसे उसी नाम से अभिहित करता।"[94]

सत्रहवीं सदी के इंगलैंड में, अठारहवीं सदी के अमरीकी और फ्रांस में जो क्रांतियाँ हुईं, उनमें नेतृत्व पूँजीपतियों का था। इंगलैंड में पूँजीपतियों के साथ बहुत से जमींदार भी थे। क्रांति के दौरान और उसके बाद भी जमींदारियाँ कायम रहीं। अमरीका में दास प्रथा थी। वहाँ अफ्रीका से लाए गए दासों को बेचकर अंग्रेज पूँजीपति काफी धन कमा रहे थे। अमरीकी स्वाधीनता संग्राम के बाद भी दास प्रथा कायम रही, वे जमींदारियाँ कायम रहीं जिनमें बलपूर्वक दासों से काम कराया जाता था। जमींदारियाँ खत्म की गई थीं केवल फ्रांस में। महाजनों ने वहाँ किसानों को कर्ज देकर अपने चंगुल में किया, वह बात अलग है। फ्रांस और इंगलैंड दोनों के पास उपनिवेश थे। क्रांतियों के बाद उपनिवेश कायम रहे। सत्रहवीं सदी में इंगलैड के लोग बादशाही के विरुद्ध लड़े, आयरलैंउ के लोग अपनी आजादी के लिए लड़े। क्रांति के नेता क्रामवेल ने उनके संग्राम का दमन बड़ी क्रूरता से किया। सांप्रदायिकता का रंग देकर इस क्रूरता को उचित ठहराया गया। आयरलैंड की अधिकांश जनता कैथलिक थी, इंगलैड का शासक वर्ग प्रोटेस्टेंट था। दोनों ईसाई थे। आयरलैंड को गुलाम बनाए रखने में प्रोटेस्टेंट सांप्रदायिकता को उभारा जाता था। एंगेल्स ने लिखा था, "क्रामवेल के नेतृत्व में अंग्रेज प्रोटेस्टेंटों ने कम से कम तीस हजार आइरिश लोगों को मौत के घाट उतार दिया। अपनी पशुता को ढाँकने के लिए उन्होंने कहानी गढ़ी - invented - कि आइरिश कैथलिकों ने तीन हजार प्रोटेस्टेंटों को मारा था, उसी का यह बदला लिया गया था।"[95]

इंगलैंड गणराज्य बना, आइरिश जनता का दमन जारी रहा। अंग्रेजों ने द्रोगेदा का किला घेर लिया। क्रामवेल के आदेश के अनुसार उसकी रक्षा करनेवाले तीन हजार आइरिश लोग कत्लेआम में मारे गए।[96] एंगेल्स ने आयरलैंड-संबंधी सामग्री में इतिहासकार लेलैंड का विवरण शामिल किया था। उसके अनुसार अंग्रेजों ने वादा किया था कि जो सैनिक हथियार डाल देंगे, उन्हें मारा न जाएगा। जब प्रतिरोध शांत हो गया, जब क्रामवेल ने हुक्म दिया कि सभी कैदियों को मार डाला जाए। पाँच दिन तक यह कत्लेआम जारी रहा। "केवल तीस आदमी बचे जो मारे न गए थे ... और उन्हें तुरंत गुलाम बनाकर बारबैडोज (वेस्टइंडीज का एक द्वीप) पहुँचा दिया गया।"[97] ये काले नहीं गोरे थे। रानी एलिजाबेथ के युग में कुछ ब्रिटिश नागरिक आइरिश धरती पर बसाए गए थे। मार्क्स ने लिखा था, "क्रामवेल के समय में इन उपनिवेशियों के वंशज आइरिश लोगों के साथ अंग्रेजों से लड़े थे। क्रामवेल ने इनमें बहुतों को वेस्ट इंडीज में दास बनाकर बेच दिया।"[98] अमरीकी जमींदारों की तरह क्रामवेल को दास प्रथा पर आपत्ति न थी। गोरे भी दास हो सकते थे, काले तो होते ही थे।

फ्रांसीसी राज्यक्रांति के दौरान और उसके बाद इंगलैंड से फ्रांस की औपनिवेशिक प्रतिद्वंदिता कायम रही। 1794 में फ्रांस की क्रांतिकारी सभा ने दास प्रथा खत्म करने की घोषणा की। इतिहासकार लफेब्रूव का मत है कि घोषणा का उद्देश्य गणराज्य के लिए नीग्रो समर्थन पाना और ब्रिटिश उपनिवेशों में दासों को विद्रोह के लिए उकसाना था। सांतों दोमिंगो नाम के द्वीप में नीग्रो नेता तूसैं लूवर्त्यूर ने फ्रांसीसी सेनापति का साथ दिया, वह उस द्वीप के स्वामी बने और "नाम मात्र को फ्रांस का अधिकार मानते रहे।" लूवर्त्यूर तथा उनके से अन्य नेताओं ने "दासों को कभी पूरी तरह मुक्त नहीं किया क्योंकि वे उनसे जबरिया मेहनत कराते थे।"[99] नैपोलियन यूरोप के बाहर से साम्राज्यविस्तार करना ही चाहता था, वह यूरोप को भी अपने साम्राज्य के अंतर्गत रखना चाहता था। प्रथम विश्वयुद्ध के जर्मन साम्राज्यवादियों से नैपोलियन की तुलना करते हुए लेनिन ने कहा था, "होहेनत्सोलेर्न या हिंडेनबुर्ग की तरह वह एक और लुटेरा था।"[100]

पूँजीवादी क्रांतियों से पराधीन जातियों की समस्या हल न हुई। बीसवीं सदी में फ्रांस अपने उपनिवेशों के लिए वैसे लड़ता रहा जैसे अन्य साम्राज्यवादी देश। नवंबर, 1917 की रूसी क्रांति इस सबसे गुणात्मक रूप में भिन्न थी। इस क्रांति ने किसान-मजदूर एकता के आधार पर जातीय असमानता को खत्म किया, सामंतवाद के सामाजिक-सांस्कृतिक अवशेष खत्म किए, पूँजीपतियों को सत्ता

के आसन से हटाया, समाजवादी निर्माण के लिए रास्ता साफ किया। इस क्रांति का नेतृत्व मजदूर वर्ग और उसकी पार्टी बोल्शेविक पार्टी, के हाथ में था। यह पार्टी न होती तो रूस में क्रांति न होती, पराधीन देशों के मुक्ति आंदोलनों को जो नई शक्ति मिली, वह न मिलती। यूरोप में मजदूर वर्ग की और पार्टियाँ भी थीं। इन सोशलिस्ट पार्टियों की विशेषता यह थी कि वे उपनिवेशों की जनता को गुलाम बनाए रखने में अपने देश के पूँजीपतियों का साथ देती थीं, उपनिवेशों के लिए जब साम्राज्यवादी गुट युद्ध छेड़ते, तो वे गुटों में किसी गुट विशेष का साथ देतीं। मजदूरों की एकता मजबूत करने के बदले वे उन्हें आपस में लड़ा देतीं, उन्हें साम्राज्यवाद का पिछलगुआ बना देतीं। बोल्शेविक पार्टी इनसे अलग किस्म की पार्टी थी।

पूँजीवाद की शुरूआत सूदखोरी से हुई थी। उधार, उद्योग, व्यापार - इन तीन क्रियाओं के बिना पूँजीवाद का न तो जन्म हो सकता है, न वह जीवित रह सकता है। सत्रहवीं सदी के इंगलैंड में, अठारहवीं सदी के फ्रांस में, जो क्रांतियाँ हुईं, वे व्यापारिक पूँजीवाद की परिस्थितियों में हुईं। व्यापार सबसे ऊपर, उद्योग और उधार उसके नीचे - यह इन परिस्थितियों की विशेषता हुई। अठारहवीं सदी के इंगलैंड में जो औद्योगिक क्रांति हुई, उससे नई आर्थिक व्यवस्था में उद्योग ऊपर, उधार और व्यापार नीचे हुए। पूँजीवादी विकास का नियम है आर्थिक शक्ति का केंद्रीकरण। उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण में उद्योग-धंधों का केंद्रीकरण हुआ, उत्पादन और विवरण को नियंत्रण में रखने के लिए राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बड़े-बड़े पूँजीवदी संघ कायम हुए। इनसे भी ज्यादा आर्थिक शक्ति का केंद्रीकरण वित्त पूँजी के रूप में हुआ। बैंकों के जरिए बड़े-बड़े महाजन उद्योगपतियों को व्यवसाय के लिए रकमें उधार देकर भारी मुनाफा कमाने लगे। केवल औद्योगिक माल के निर्यात से नहीं, पूँजी के निर्यात से अमरीका, ब्रिटेन और यूरोप के पूँजीपति धन बटोरने लगे। यहाँ पूँजीवादी व्यवस्था का तीसरा रूप था; इसमें उधार सबसे ऊपर, उद्योग और व्यापार नीचे हुए।

दूसरे महायुद्ध के बाद पूँजी का अभूतपूर्व पैमाने पर केंद्रीकरण हुआ। विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के द्वारा थोड़े से धनी देशों ने नई विश्वव्यापी उधार-व्यवस्था कायम की, उन दो संस्थाओं के ज़रिए वे संसार के प्राय: सभी देशों के उत्पादन और वितरण को अपने नियंत्रण में ले आए। नवस्वाधीन देश उनकी चपेट में पहले आए, फिर बहुत धीरे-धीरे, बड़ी सावधानी से, उन्होंने समाजवादी देशों में घुसना शुरू किया। इस दौर में इस सिद्धांत का निरंतर प्रचार किया गया कि क्रांतियों की अब कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। पूँजीवादी देशों में समाजवाद की ओर संक्रमण शांतिपूर्ण ढंग से होगा। पिछड़े हुए देशों में अहिंसात्मक उपायों द्वारा साम्राज्यवादियों का हृदय परिवर्तन होगा, वे स्वयं सत्ता छोडकर बिदा हो जाएँगे। किंतु इसके बाद वियतनाम में लंबे समय तक युद्ध चला और अंत में साम्राज्यवाद परास्त हुआ। तब से एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीकी के अनेक देशों में क्रांतियाँ हुईं या क्रांतिकारी आंदोलन चलाए गए। इनमें अधिकांश का नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टियों ने किया। इन पिछड़े हुए देशों में क्रांतियाँ इसलिए हुईं कि साम्राज्यवाद शोषण की चक्की में धनी देशों के मजदूर नहीं, इन देशों के किसान और मजदूर तथा मध्यवर्ग के लोग पिस रहे थे। इस पिसाई से वे क्रांति द्वारा ही बच सकते थे।

क्रांति की व्यर्थता सिद्ध करने के लिए एक अन्य सिद्धांत का प्रचार किया गया कि दुनिया के छोटे-बड़े देश अब परस्पर निर्भर हैं, उन्हें संघर्ष का रास्ता छोड़कर सहयोग के रास्ते पर चलना चाहिए। सहयोग का अर्थ है सूद लेनेवाले महाजन और सूद देनेवाले कर्जदार के बीच सहयोग। लेनिन बहुत पहले कह गए थे कि दुनिया दो तरह की जातियाँ में बँटी हुई है - कर्ज देनेवाली जातियाँ, कर्ज लेनेवाली जातियाँ। अमरीका, ब्रिटेश, फ्रांस, पश्चिम जर्मनी, जापान आदि महाजन देश हैं, सभी महाद्वीपों के अधिकांश देश इनके कर्जदार हैं। दूसरे महायुद्ध के बाद जो देश स्वाधीन हुए, वहाँ साम्राज्यवादियों ने ध्यान रखा कि उनके आर्थिक हित सुरक्षित रहें। उपनिवेश समाप्त हो गए, लेकिन जो इनके मालिक थे, वे अब भी धनी हैं। इनमें रहनेवाले लोग पहले गरीब थे, अब भी गरीब हैं। इसका रहस्य यही है कि साम्राज्यवादियों के आर्थिक हित सुरक्षित रहे, उन्हें और भी सुदृढ़ करने का अवसर बना रहा। आर्थिक संकट पैदा होना चाहिए था धनी देशों में, वहाँ उसकी झलक-भर मिलती है, वह गहराता जाता है पिछड़े हुए देशों में। जापान, जर्मनी, जैसे देश दूसरे महायुद्ध में हारने के बाद भी अपनी साहूकारी के बल पर नए धन्ना सेठ बन गए। तीसरी दुनिया की अधिकांश आबादी गरीबी की रेखा के नीचे है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों का माल खरीदना, माल खरीदने के लिए कर्ज लेना, उद्योग लगाने के लिए कर्ज लेना, जो कमाना वह सूद के रूप में विदेशी महाजनों को देते जाना - यह इस समय तीसरी दुनिया की नियति है।

फ्रांसीसी राज्यक्रांति को कुचलने के लिए आगे बढ़े हुए ब्रिटेन ने यूरोप के तमाम प्रतिक्रियावादी शासकों से गँठबंधन किया था। गदर के दमन के लिए उसी ब्रिटेन ने नेपाल, कश्मीर, हैदराबाद के सामंतों का सहारा लिया था। चीन और वियतनाम से लेकर क्यूबा और निकारागुआ तक जो क्रांतियाँ हुईं, उनमें अमरीका देशी सामंतवाद का सहायक रहा हैं। पूँजीवाद की हर मंजिल में साम्राज्यवाद पराधीन देशों के सबसे पिछड़े हुए वर्गों और सामाजिक स्तरों को सहारा देता रहा है, उनके सहारे अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए प्रयत्न करता रहा है। फ्रांसीसी राज्यक्रांति ने जिस सामंतवाद को करारा धक्का दिया था, बीसवीं सदी में उसका सबसे बडा संरक्षक है साम्राज्यवाद और दूसरे महायुद्ध के बाद इसका नेता है अमेरीका। इसका अर्थ यह भी है कि संसार की बहुसंख्यक जनता के आर्थिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन को बनाए रखने के लिए जिम्मेदार है साम्राज्यवाद और उसका नेता।

मार्क्स ने कहा था, दुनिया के मजदूरो, एक हो। पूँजी के अंतर्राष्ट्रीकरण से, उसके केंद्रीकरण से दुनिया के मजदूरों की एकता अनिवार्य हो गयी थी। रूसी क्रांति से अब तक कोई क्रांति ऐसी नहीं हुई जिसका स्वरूप अंतर्राष्ट्रीय न हो। साम्राज्यवाद को जिस चीज से बेहद नफरत है, वह मजदूरों की अंतर्राष्ट्रीय एकता है। दूसरे महायुद्ध के बाद जो नए जनवादी राज्य कायम हुए, उनकी एकता उसके लिए और भी बड़ा खतरा थी। इस एकता को तोड़ने में उसे काफी सफलता मिली है। इस सब का प्रभाव नवस्वाधीन देशों पर भी पड़ता है। रूसी क्रांति से, रूस में समाजवाद के निर्माण से स्वाधीनता आंदोलनों को बल मिला; उसी तरह समाजवादी व्यवस्था डगमगाती है, तो इन आंदोलनों को, नवस्वाधीन देशों की शक्ति क्षीण होगी। एक समाजवादी देश दूसरे समाजवादी देश के मामले में दखल न दे, यही सही है; दो समाजवादी देश मिलकर एक साम्राज्यविरोधी नीति पर न चलें, यह गलत है। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के मसले पर कामनवेल्थ जैसे संगठन में सारे नवस्वाधीन देश एक तरफ हो गए, मिसेज थैचर अकेली पड़ गईं। कैनाडा और आस्ट्रेलिया जैसे देशों तक ने उन्हें आड़े हाथों लिया। तब समाजवादी देश एक सामान्य साम्राज्यविरोधी नीति पर क्यों नहीं चल सकते? चीन और सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टियाँ दुश्मनी छोड़कर दोस्त हो जाएँ, बड़ी अच्छी बात है। लेकिन यह दोस्ती सार्थक तभी मानी जाएगी जब उसका आधार साम्राज्यवाद का विरोध होगा। दूसरे महायुद्ध के बाद यूरोप के मजदूर आंदोलन के सामने मुख्य सवाल यह था कि अर्थतंत्र को बहाल करने के लिए अमरीका से कर्ज लिया जाए या नहीं। कर्ज के साथ राजनीतिक शर्तें, कभी खुले कभी गुप्त रूप से, जुड़ी रहती थीं। सोशलिस्ट पार्टियाँ ये शर्तें मानती थीं, कर्ज लेने के पक्ष में थीं। समाजवादी देशों में जिन पार्टियों ने महाजनी पूँजी के प्रवेश के लिए द्वार खोले, उन्होंने अनिवार्यतः सोशलिस्ट पार्टियों की गीत नीति अपनाई। इस गीत नीति का अनिवार्य परिणाम था समाज का विघटन और विसर्जन।

जैसे क्रांति की व्यर्थता का प्रचार किया जाता है, वैसे ही समाजवाद की व्यर्थता का प्रचार भी किया जाता है : समाजवाद का अर्थ है मुनाफाखोरी पर रोक, केंद्रबद्ध विकास पर जोर, इसलिए व्यक्ति की आजादी खत्म हो गई, लौट चलो पूँजीवाद की ओर! यद्यपि केंद्रबद्धता की सबसे बड़ी मिसाल है विश्व बैंक, पर उसके सूत्रधार दूसरों को उपदेश देते हैं विकेंद्रीकरण का! विकेंद्रीकरण का अर्थ है समाजवादी व्यवस्था का विघटन, महाजनी पूँजी का प्रवेश और उसका प्रभुत्व। जहाँ जहाँ इस पूँजी का प्रवेश हुआ है, वहाँ वहाँ अर्थतंत्र सँभलने के बदले डगमगाया है, मुद्रास्फीति बढ़ी है महँगाई, बेकारी, भ्रष्टाचार जैसी व्याधियाँ सामने आई है। जातीय विद्वेष और सांप्रदायिक हत्याकांड सिर्फ दुनिया में सीमित न रहकर समाजवादी देशों में प्रकट हुए हैं। राष्ट्र के विघटन की समस्या केवल भारत के सामने नहीं है, सोवियत संघ के सामने भी है। रूस का औद्योगीकरण साम्राज्यवाद को कभी पसंद नहीं था। यह औद्योगीकरण समाजवादी ढंग से हुआ था, यह उसे और भी पसंद न था। यह अकाट्य ऐतिहासिक तथ्य है कि पिछड़ा हुआ अर्धसामंती देश रूस सुपर पावर हुआ समाजवाद के कारण, समस्त यूरोपीय औद्योगिक शक्ति के स्वामी जर्मनी को वह पराजित कर सका अपनी समाजवादी व्यवस्था के कारण। यह व्यवस्था भीतर से टूट जाए, तो अमरीकी साम्राज्यवाद के लिए विश्व प्रभुत्व कायम करने का रास्ता साफ हो जाए। न हो जाए तो रास्ते की, और सारी दुनिया की सफाई के लिए उसके पास ऐटमी हथियार हैं। इनका परिष्कार जारी है। जल, थल, आकाश में नए नए अस्त्रों का अविष्कार जारी है। जो अस्त्र पुराने पड़ जाते हैं, वे निःशस्त्रीकरण को भेंट कर दिए जाते हैं।

ऐटमी युद्ध की विभीषिका एक चीज है, जल और वायु का प्रदूषण दूसरी चीज है। इस प्रदूषण से करोड़ों आदमियों का जीना दूभर हो गया है। प्रकृति की जीवनीशक्ति दिन पर दिन नष्ट होती जा रही है। मानवजाति के सांस्कृतिक विकास की समस्या तो बाद में सामने आएगी, पहले तो उसके जीवित रहने की समस्या है। साम्राज्यवाद यदि यह समझ ले कि मुनाफे से मनुष्यता बड़ी है तो वह साम्राज्यवाद न रह जाएगा। कर्जदार देश आपस में लड़ें, यह उसका एक दाँव है; हर देश के भीतर जनता आपस में लड़े, यह उसका दूसरा दाँव है। अपने लिए टेकनॉलोजी, पिछड़े हुए देशों के लिए फंडामेंटलिज्म यह उसकी रणनीति है। इसाइ धर्मगुरु पोप विश्वमंच पर कभी इतने सक्रिय न हुए थे जितने आज हैं। यहूदी फंडामेंटलिज्म का गढ़ इस्राइल अमरीकी सहायता के बल पर अरबों को त्रस्त किए है। उधर अमरीका ब्रिटेन का मित्र साउदी अरब संसार में इस्लाम की रक्षा का झंडा उठाए है दूसरा झंडा ईरान के हाथ है। ऊपर से विरोध, छिपकर सहायता उस अमरीकी नीति का भंडाफोड़ हुआ 'ईरान गेट' से! भारत में सांप्रदायिक समस्या उसकी स्वाधीनता प्राप्ति के समय से ही विषम होती गई है। शासकवर्ग बराबर कहता रहा है कि हत्याकांड में विदेशी ताकतों का हाथ है पर उन्हीं विदेशी ताकतों को वह भीतर घुसने का मौका देता है, उन्हीं के भरोसे आर्थिक विकास के सपने देखता है। जितनी ही विदेशी पूँजी पर निर्भरता बढ़ती है, उतना ही सांप्रदायवाद का प्रसार होता है। इसीलिए वर्तमान व्यवस्था का कायम रखते हुए संप्रदायवाद को खत्म करने के जितने प्रयास हुए हैं सब व्यर्थ हुए हैं।

साम्राज्यवाद दुनिया भर के प्रतिक्रियावादियों को आर्थिक सहायता देता है, उन्हें सैनिक सहायता भी देता है। पाकिस्तान में शक्ति का केंद्र है फौज, इस फौज को अमरीका निरंतर नए हथियारों से लैस करता रहा है। अमरीकी सहायता के बल पर इस्राइल अरबों की जमीन दबाए बैठा है। अमरीका और उसके सहयोगियों की सहायता से दक्षिण अफ्रीका की अल्पमत सरकार रंगभेद की नीति पर कायम है। अफगानिस्तान, कंबोडिया, अंगोला, निकारागुआ की जनवादी सरकारों के विरुद्ध अमरीका और उसके सहयोगी हथियारबंद लड़ाई चला रहे हैं। इसके सिवा ताइवान, दक्षिणी कोरिया, पश्चिमी जर्मनी, फिलिपाइन्स दुनिया के हर कोने में अमरीकी फौजी

अड्डे हैं। साम्राज्यवाद की आक्रामक कार्यवाही थमने का नाम नहीं लेती, वह निरंतर जारी है। महाजनी पूँजी शांतिपूर्ण ढंग से प्रवेश करती है, वह हथियारबंद लड़ाई का सहारा भी लेती है। समाजवादी देशों में जितना ही वह प्रवेश कर पाती है, उतना ही उसे प्रवेश की अनुमति देनेवाले नेता अपनी जनता से अलग-थलग पड़ जाते हैं। उतना ही साम्राज्याद और समाजवाद का शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व असंभव हो जाता है। साम्राज्यवाद जितना ही समाजवादी देशों की 'सहायता' करता है, उतना ही उन देशों की जनता से उसका अंतर्विरोध गहरा होता है। ऐसा ही उसका अंतर्विरोध पिछड़े हुए या विकासशील देशों की जनता से है। ये अंतर्विरोध बुनियादी हैं, महाजनी पूँजी के प्रभुत्व के खात्मे के बिना वे दूर होनेवाले नहीं हैं। इनके दूर हुए बिना मानवजाति के सांस्कृतिक विकास की संभावना नहीं है।

फ्रांस की राज्यक्रांति रूढ़ियों और अंधविश्वारों के बीच विवेक की मशाल की तरह थी। उससे पहले और उसके वाद फ्रांस के लेखकों ने सदियों से चली आती मान्यताओं को छिन्न-भिन्न कर दिया था। इंगलैंड में मिल्टन जैसे लेखकों ने राजाओं के इस दावे का खंडन किया था कि वे दैवी अधिकार से शासन करते हैं। किंतु वे एक नई तरह की कट्टरता भी साथ लिए हुए थे। उनकी राजनीति धर्मनिरपेक्ष नहीं थी। धर्मनिरपेक्षता की विजय फ्रांसीसी क्रांति से हुई और इसने परकालीन संसार के सभी जन-आंदोलनों को प्रभावित किया। मानवजाति के सांस्कृतिक विकास में इस क्रांति का यह बहुत बड़ा योगदान था। इस कार्य को उन्नीसवीं सदी के रूसी लेखकों ने आगे बढ़ाया, फिर रूसी क्रांति ने उसके प्रसार के लिए आवश्यक साधन जुटाए। सामंती और प्राक्सामंती समाजों के लाखों स्त्रियों और पुरूषों की निरक्षरता दूर हुई, उन्हें ज्ञान-विज्ञान से परिचित होने को अवसर मिला। फ्रांसीसी और रूसी, दोनों क्रांतियों से संबद्ध और उनसे प्रभावित लेखक बड़े आस्थावान व्यक्ति थे। उनकी आस्था विवेकसम्मत थी, यह विवेक विकासमान था। अंधविश्वासों वाली आस्था के युग को मध्यकाल कहा जाता है। उस मध्यकालीनता से लोहा लिया, मनुष्य को अपने संगठन, अपने कर्म, अपने सामर्थ्य पर विश्वास करना सिखाया। विक्तर ह्यूगो और शोलोखोव जैसे लेखक इस आस्था से प्रेरित थे।

साम्राज्यवाद ने संसार की करोड़ों जनता और अज्ञानता और निरक्षरता के अंधकार में ढकेल दिया है। वह इस अंधकार को पालता है, अंधविश्वासों को उभारता है, अपने कारिंदों के जरिए हत्याकांड नियोजित कराता है। राजा राममोहन राय और सर सैयद अहमद खाँ फिर भी बहस करते थे, तर्क से काम लेते थे। अब तर्क और बहस की गुंजाइश नहीं है। अंधविश्वास उभारकर जनता को गोलबंद करके उसे लड़ाने का कार्यक्रम मुख्य है। 1857 में अंग्रेज वहुत अच्छी तरह समझ गए थे कि हिंदू-मुसलमान मिलकर लड़े तो उनका खेल खत्म हो जाएगा। उनका यह प्रयत्न बराबर रहा कि अंग्रेजों का अपना शत्रु समझने के बदले हिंदू और मुसलमान एक दूसरे को अपना शत्रु समझें। इसमें उन्हें सफलता मिली। 1857 में हिन्दू और मुसलमान मिलकर अंग्रेजों से लड़े, 1947 में वे एक दूसरे से लड़े। मानवता का सांस्कृतिक विकास इनमें किससे अधिक हुआ या हो सकता था, आप सोच लें।

1793 (फ्रांस), 1917 (रूस) के साथ 1857 का नाम लेना उचित है। उसके साथ वैसे दार्शनिक और साहित्यकार न जुड़े हुए थे जैसे फ्रांस और रूस की क्रांतियों से जुड़े थे। पर इस क्रांति की अपनी विशेषताएँ थीं। पूँजीपति वर्ग और मजदूर वर्ग के नेतृत्व के बिना उसे सिपाही किसानों ने संपन्न किया था। सामंतों को एक तरफ हटाकर पंचायतों को सत्ता का वास्तविक अधिष्ठान बनाने में उन्होंने अपनी रचनात्मक क्षमता का परिचय दिया था। आज भारत में बहुत बड़ा मजदूर वर्ग है और जहाँ-तहाँ संगठित भी है पर उसका बहुसंख्यक भाग अभी सो रहा है, वैसे ही जैसे 1905 में रूसी मजदूरों का बहुसंख्यक भाग सो रहा था। 1946 में वह बहुसंख्यक भाग काफी सक्रिय था, उसके साथ अनेक प्रदेशों में किसान भी सक्रिय थे। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की क्रांतिकारी परंपराएँ भी हैं, ऐसी परंपराएँ जिनमें जनता के काफी बड़े हिस्सों ने आगे बढ़कर भाग लिया। इन सबका अनुभव अत्यंत मूल्यवान है। साम्राज्यवाद और उसके छोटे-बड़े सहयोगियों ने जनता को निरक्षरता, अज्ञान, और सांप्रदायिक हिंसा के नरक में बंद कर रखा है। केवल क्रांतिकारी आंदोलन द्वारा जनता सक्रिय होकर इस स्थिति को बदल सकती है, उसे बदलकर ही वह अपना सांस्कृतिक विकास सुनिश्चित कर सकती है। यह परिवर्तन केवल भारत में नहीं पाकिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश और श्रीलंका में भी संभव है। इस परिवर्तन के लिए इन देशों की जनता को केवल साम्राज्यवाद-विरोधी- सामंतविरोधी कार्यक्रम के आधार पर गोलबंद किया जा सकता है। सामंती अवशेषों का खात्मा, विदेशी कर्ज और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के माल पर रोक, बाहर से हथियार खरीदना बंद - इस आधार पर यह कार्यक्रम बनाया जा सकता है। छोटे पैमाने पर भी इस कार्यक्रम को इन देशों की जनता अमल में लाए तो दक्षिण एशिया के राजनीतिक पर्यावरण में बुनियादी परिवर्तन हो सकता है, सांप्रदायिक प्रदूषण को नष्ट किया जा सकता है। इस दिशा में आगे न बढ़ने पर यह सोचना भ्रम होगा कि वर्तमान स्थिति ऐसी ही बनी रहेगी या उसमें सुधार होगा। 1947 से 1989 तक एक के बाद दूसरा संकट, संकटों की एक शृंखला, हर संकट के समय आशा कि अब उबरे, दुबारा संकट न आएगा, हुआ इसका उल्टा। इस बीच इस क्षेत्र में हथियार बेचकर, बहुराष्ट्रीय कंपनियों का माल बेचकर विदेशी महाजन मुनाफा कमाते रहे, कर्ज पर सूद बटोरते रहे।

यदि इस स्थिति को हम बदल सकें तो इसका असर सारी दुनिया के मुक्ति आंदोलनों पर पड़ेगा, साम्राज्यवाद कमजोर होगा, उससे लड़नेवाली जनता को बल मिलेगा। यूरोप, अमरीका, और जापान के पूँजीपति पिछड़े हुए देशों की लूट का एक हिस्सा मजदूरों में

बाँटते हैं : यह हिस्सा न मिलने पर वहाँ के मजदूरों का क्रांतिकारी आंदोलन मजबूत होगा। समाजवादी देशों के जो नेता विदेशी पूँजी को आमंत्रित कर रहे हैं, वे क्रांति की उपलब्धियों की रक्षा करने में समर्थ होंगे। मानव जाति के सांस्कृतिक विकास का यही एक मार्ग है और 1789, 1857 और 1917 को क्रांतियाँ इसी मार्ग की ओर संकेत करती हैं।

संदर्भ-सूची

1. Legouis and Cazamian, a History of English Literature, पृ. 995
2. David Lee Clark, Shelley's Prose, Albuquerque 1954, पृ. 332
3. उप., पृ. 55
4. उप., पृ. 238
5. उप., पृ. 259
6. उप., पृ. 67
7. उप., पृ. 235
8. उप., पृ. 324
9. उप., पृ. 289
10. उप., पृ. 291
11. Marx Engels, Collected Works, खंड 4, पृ. 518
12. उप., खंड 3, पृ. 380
13. P.C. Joshi, Rebellion 1857; 1957 पृ. 311
14. William Forbes Mitchell, Reminiscences of the Great Mutiny, London 1893, पृ. 186
15. उप., पृ. 175
16. उप., पृ. 183
17. उप., पृ. 192
18. Marx Engels, Collected Works, खंड 1, पृ. 377
19. Lenin, Collected Works, खंड 26, पृ. 132
20. Freedom Struggle in Uttar Pradesh, खंड 2, पृ. 149
21. उप., खंड 1, पृ. 308
22. उप., पृ. 309
23. Marx Engels, The First Indian War of Independence ,पृ. 122
24. Freedom Struggle in Uttar Pradesh, खंड 1, पृ. 309
25. George Campbell, Memoirs of my Indian Career, London, 1893, खंड 1, पृ. 213
26. Freedom Struggle in Uttar Pradesh, खंड 1, पृ. 403
27. Mutiny Records, Corrresponddence, Lahore, 1911, पृ. 117

28. Freedom Struggle in Uttar Padesh, खड 1, पृ. 420

29. उप., पृ. 472-73

30. उप., खंड 2, पृ. 85

31. K.K. Datta, Biography of Kunwar Singh and Amar Singh, Patna, 1957, पृ. 210

32. R.C. Majumdar, The Sepoy Mutiny & Revolt of 1857, Calcutta, 1957, पृ. 145

33. S.N. Sen, Eighteen Fifty-Seven, 1957, पृ. 267

34. उप., पृ. 172

35. माओ त्से तुंग, चुनी हुई कृतियाँ, पहला ग्रंथ, पृ. 330

36. Freedom Struggle in Uttar Padesh, खंड 2, पृ. 8

37. I.W. Sherer, Daily Life During the Indian Mutiny, London, 1910, पृ. 41

38. T.R. Holwes, A History of the Indian Mutiny 1898, पृ. 334

39. T.W. Kaye, A History of Sepoy war in India, खंड 1 पृ., 579

40. W. Taylor, The Patna Crisis, London, 1882, पृ. 75

41. S.B. Chaudhuri, Civil Rebellion in the Indian Mutinies, Calcutta, 1957, पृ. 75

42. उप., पृ. XVI

43. K.K. Datta, Biography, पृ. 172

44. Marx Engels, The First Indian War, पृ. 65

45. उप., पृ. 85

46. S.B. Chaudhuri, Civil Rebellion, पृ. XIX

47. Lenin, Collected Works, खंड 10, पृ. 55

48. Marx Engels, Collected Works, खंड 18, पृ. 189

49. S. N. Sen, Eighteen Fifty-Seven, पृ. 94

50. W.H.Russell, My Indian Mutiny Diary, London, 1957, पृ. 254

51. उप., पृ. 268

52. K.K. Datta, Biography, पृ. 164

53. Freedom Struggle in Uttar Pradesh, खंड 2, पृ. 242

54. R.C. Majumdar, The Sepoy Mutiny, पृ. 84

55. Marx Engels, The First Indian War, पृ. 50

56. उप., पृ. 56

57. K.K. Datta, Biography, पृ. 108

58. P.C. Joshi, Rebellion 1857, पृ. 3

59. Lenin, Collected Works, खंड 16, पृ. 400

60. उप., खंड 23, पृ. 252

61. Marx Engels, The First Indian War, पृ. 40

62. P.C. Joshi, Rebellion 1857, पृ. 337

63. Lenin, Collected Works, खंड 4, पृ. 373

64. उप., खंड 23, पृ. 198

65. P.C. Joshi, Rebellion 1857, पृ. 318

66. Lenin, Collected Works, खंड 25, पृ. 18

67. P.C. Joshi, Rebellion 1857, पृ. 54

68. उप., पृ. 39

69. G. Campbell, Memoirs, खंड 1, पृ. 356

70. उप., पृ. 356-57

71. P.C. Joshi, Rebellion 1857, पृ. 40

72. उप., पृ. 43

73. उप., पृ. 44

74. Lenin, Collected Works, खंड 10, पृ. 243

75. उप., खंड 26, पृ. 225

76. S.N. Sen, Eighteen Fifty-Seven, पृ. 109

77. G.H.D. Gimlette, A Postscript to the Records of the Indian Mutiny, London 1927, पृ. 13

78. S.N. Sen, Eighteen Fifty-Seven, पृ. 371

79. Freedom Struggle in Uttar Pradesh, खंड 2, पृ. 113, 599

80. Hope Grant, Incidents in the Sepoy War, 1873, पृ. 371

81. Lenin, Collected Works, खंड 25, पृ. 121

82. उप., खंड 29, पृ. 372

83. Marx Engels, The First Indian War, पृ. 16

84. P.C. Joshi, Rebellion, 1857, पृ. 41

85. Lenin, Collected Works, खंड 33, पृ. 51

86. Freedom Struggle in Uttar Pradesh, खंड 1, पृ. 456

87. Lenin, Collected Works, खंड 29, पृ. 372

88. उप., खंड 28, पृ. 172

89. Hope Grant, Incidents, पृ. 369

90. R. Montgomery Martin, The History of the Indian Empire, खंड 2, पृ. 10

91. सैयद एहतिशाम हुसैन, उर्दू साहित्य का इतिहास, अलीगढ़ 1954, पृ. 260

92. Freedom Struggle in Uttar Pradesh, खंड 1, पृ. 410

93. उप., पृ. 412

94. ईश्वरीप्रसाद शर्मा, सिपाही विद्रोह, कलकत्ता सं. 1979, पृ. 517-518

95. Marx Engels, Ireland and The Irish Question, 1978, पृ. 443

96. उप., पृ. 600, संपादकीय टिप्पणी

97. उप., पृ. 379

98. उप., पृ. 150

99. Georges Lefebvre, The French Revolution from 1793 to 1799, London, 1964, पृ. 358

100. Lenin, Collected Works, खंड 27, पृ. 187

(आस्था और सौंदर्य से)

19. साहित्य और लोक-जीवन

— डॉ रामविलास शर्मा

"मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है।" - चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ. 122।

'सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।" - चिन्तामणि, पहला भाग, पृ. 227।

'ज्ञानेन्द्रियों से समन्वित मनुष्य-जाति जगत् नामक अपार और अगाध रूप-समुद्र में छोड़ दी गयी है। न जाने कब से वह इसमें बहती चली जा रही है। इस की रूप-तरंगों से ही उसकी कल्पना का निर्माण और इसी की रूपगति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है। ... सुन्दर, मधुर, भीषण या क्रूर लगने वाले रूपों या व्यापारों से भिन्न सौन्दर्य, माधुर्य, भीषणता या क्रूरता कोई पदार्थ नहीं। सौन्दर्य की भावना जगना सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं या व्यापारों का मन में आना ही है।" - रस-मीमांसा, पृ. 259 ।

इधर हिन्दी-साहित्य का नया इतिहास लिखने और हिन्दी में साहित्य-शास्त्र रचने की काफी चर्चा हुई है। इस चर्चा में दिल्ली की आलोचना' ने विशेष योग दिया है। हिन्दी साहित्य के नये इतिहास की आवश्यकता है। सन् '40 के बाद हिन्दी में जो साहित्य रचा गया है, पिछले साहित्य पर जो रिसर्च का काम हुआ है, उस सबको समेटकर हिन्दी साहित्य का एक भरा-पूरा इतिहास जरूर लिखा जाना चाहिए। आलोचना के सिद्धान्तों के बारे में हमारी जानकारी बढ़े, उनसे साहित्य को परखने और नया साहित्य रचने में सहायता मिले, यह भी वांछनीय है। लेकिन ये दोनों काम शुक्लजी की विरासत के आधार पर ही हो सकते हैं। इन दोनों क्षेत्रों में शुक्लजी ने उल्लेखनीय कार्य किया है, यह सभी मानते हैं। लेकिन 'आलोचना' के अधिकांश लेखकों को इतिहास-लेखन और शास्त्र-चर्चा दोनों में शुक्लजी एक बहुत बड़ी बाधा के रूप में खड़े दिखाई देते हैं। वे शुक्लजी की विरासत को आधार नहीं बनाते, आधार बनाने की बात भी नहीं करते, वे अपने रास्ते से इस विरासत को हटा देना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं। इसलिए शुक्लजी के आलोचना-सिद्धान्तों का मूल्यांकन आवश्यक है, उनकी विरासत को पहचानना, उनके विरोधियों के तर्कों की परीक्षा करना एक समयोपयोगी कार्य है।

शुक्लजी पर पहला आरोप यह है कि उनका दृष्टिकोण एकांगी समाजशास्त्रीय है। 'आलोचना' नं. 4 अक्टूबर 1952 में श्री शिवदान सिंह चौहान ने लिखा है :

"शुद्ध कलावादी दृष्टिकोण से तो इतिहास नहीं लिखे गये, लेकिन न्यूनाधिक मात्रा में एकांगी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण आचार्य शुक्लजी से लेकर आज तक अपनाये जाते रहे हैं, चाहे ये समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण राष्ट्रीय विचारधारा से प्रेरित हों या मार्क्सवादी विचार धारा से।"

श्री नामवर सिंह ने इसी अंक में ऊपर की बात यों कही है : "शुक्लजी के इतिहास में सामाजिक परिस्थितियाँ तथा साहित्यकार साथ-साथ रखे जाने पर भी एक-दूसरे से अलग हैं।" स्वयं शुक्लजी का ऐतिहासिक संबंध परिस्थितियों से जोड़ते हुए श्री नामवर सिंह ने लिखा है, "राष्ट्रीय आन्दोलन का वह गांधीयुग था जिसमें व्यक्ति और समाज में यथोचित घनिष्ठ संबंध स्थापित हो सका था।"

आलोचना' के इसी अंक में श्री रांगेय राघव ने अपना यह मत प्रकट किया कि "आचार्य शुक्ल ने इतिहास को शुद्ध ब्राह्मण दृष्टिकोण से देखा है।"

'आलोचना' के एक ही अंक में तीन ऐसे लेखों का छपना, जिनमें शुक्लजी के बारे में एक ही मत का प्रतिपादन हो, आकस्मिक नहीं कहा जा सकता।

जुलाई सन् '53 की 'आलोचना' में डा. धीरेन्द्र वर्मा ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य-मीमांसा पर अपना यह विचार प्रकट किया है : 'हिन्दी का आधुनिक साहित्यशास्त्र अथवा समालोचनाशास्त्र संबंधी साहित्य अंग्रेजी के चार-छः चुने हुए ग्रन्थों का सार है, न इस विषय के संस्कृत अथवा रीतिकालीन साहित्य से ही इसका संबंध है और न वास्तविक हिन्दी ललित साहित्य से ही।"

अक्टूबर '53 की 'आलोचना' में श्री शिवनाथ आचार्य शुक्ल की सीमाएँ बतलाते हुए कहते हैं, "जिनसे उनका मत विशेष प्रकार से मिलता है वे प्रायः ईसा की 19वीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आरम्भ के विचारक हैं। वे प्रायः मध्यवर्गीय और यत्र-यत्र मध्यकालीन संस्कृति के हिमायती हैं। आचार्य शुक्ल की रुचि भी ऐसी ही संस्कृति पर है, यथार्थ विवेचना यह कहने से न हिचकेगी"।

शुक्ल जी की विरासत का मूल्यांकन और उसकी रक्षा क्यों महत्वपूर्ण है, यह दिखाने के लिए ऊपर के उद्धरण काफी हैं।

काव्य के बारे में अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि और रस - ये चार सम्प्रदाय यहाँ प्रचलित रहे हैं। इनमें से शुक्लजी का संबंध रस सम्प्रदाय से है। भरत से उन्होंने रस-निष्पत्ति का सिद्धान्त लिया है, लेकिन संस्कृत के आचार्यों की रस-संबंधी व्याख्याएँ उन्हें मान्य नहीं हैं।

रस को आनन्द-स्वरूप कहा गया है। शुक्लजी इस बात का विरोध नहीं करते कि रस आनन्द भी देता है। लेकिन उनका तर्क है कि रस आनन्दस्वरूप हैं तो काव्य का उद्देश्य क्या है? केवल आनन्द? आनन्द को काव्य का चरम लक्ष्य मानने का अर्थ है, "मार्ग को ही अन्तिम गंतव्य स्थान" मान लेना। (रस-मीमांसा, पृ. 27)।

शुक्लजी का दूसरा तर्क यह है कि साहित्य में क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि भाव अपना सहज रूप छोड़ नहीं देते; इसीलिये जब हम कोई दुःखान्त कथा पढ़ते हैं तो चित्त में खिन्नता बनी रहती है। काव्य से मनुष्य के हृदय में क्रोध, शोक आदि भाव जाग्रत होते हैं। इसलिये लोकोत्तर आनन्द कहने से इसकी व्याख्या नहीं होती है। शुक्लजी कहते हैं:

"मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनन्द' शब्द से व्यक्त नहीं होता। 'लोकोत्तर', 'अनिर्वचनीय' आदि विशेषणों से न तो उसके वाचकत्व का परिहार होता है, न प्रयोग का प्रायश्चित्त होता है। क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि आनन्द का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं, उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते! ... इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्व को बहुत कुछ कम कर दिया है - उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।" (रस-मीमांसा, पृ. 101)

मानव-जीवन में भावों का प्रकृत रूप साहित्य में आकर बदल नहीं जाता - शुक्लजी के तर्क की यह आधारशिला है। साहित्य के संबंध में जितनी भाववादी (आइडियलिस्ट) मान्यताएँ हैं, वे साहित्य को जीवन से अलग करके देखती हैं। शुक्लजी की मौलिक मान्यता यह है कि साहित्य के भावों और जीवन के भावों में बुनियादी अन्तर नहीं है। क्रोध, भय, जुगुप्सा और करुणा की अनुभूति आनन्दमय होती है, वह यह नहीं मानते। वह स्पष्ट कहते हैं कि इनकी अनुभूति दुःखात्मक होती है। जो लोग कहते है कि आनन्द में भी आँसू आते हैं यानी करुणरस से सुख के आँसू आते हैं, दुख के नहीं, वे बात टालते हैं। करुणरस प्रधान नाटक के "दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं।" (उप., पृ. 273)

शुक्लजी ने यहाँ पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के भाववादी विचारकों को चुनौती दी है। साहित्य से आनन्द ही मिलता है, यह मानकर वे सब विचारक चले हैं। करुणरस या ट्रैजडी से भी क्यों आनन्द ही मिलता है, इसपर उन्होंने अलग-अलग मत दिये हैं। लेकिन मूल अनुभूति आनन्द की है, इसमें उन्हें सन्देह नहीं। शुक्लजी जीवन और साहित्य के भावों में बुनियादी अन्तर नहीं मानते, इसलिए वे रस को भी अलौकिक नहीं मानते। इतना ही नहीं, वह रस की स्थिति साहित्य से अलग लौकिक जीवन में भी मानते हैं। यद्यपि जीवन के अनेक व्यापारों में हम नित्य ही नीरसता और सरसता का अनुभव करते रहते हैं, फिर भी भाववादी विचारकों ने रस को साहित्य तक सीमित करके उसे जीवन में अनुभूत रस से एकदम अलग कर दिया था। शुक्लजी की कसौटी यह है कि जब हम क्रोध या भय को "लोक से संबद्ध देखेंगे तब हम रसभूमि की सीमा के भीतर पहुँच रहेंगे।" (उप., पृ. 273)। जीवन और साहित्य के परस्पर अटूट संबंध का यही परिणाम निकलेगा। रस लौकिक है; लौकिक जीवन में भी रस है। लोक-जीवन की ठोस धरती पर पैर रोपकर आचार्य शुक्ल ने इस सिद्धान्त की घोषणा की कि लोक-हृदय में लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।

इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी ने शब्द पुराने लिए हैं लेकिन उनकी स्थापनाएँ उनकी अपनी हैं, मौलिक और क्रान्तिकारी हैं। लोक-हृदय में लीन होने की कसौटी रखकर उन्होंने हर तरह की संकुचित व्यक्तिवादी और भाववादी धारणाओं से साहित्य को मुक्त करके उसे सामाजिक जीवन का एक अंग बना दिया है। इसलिए लोक-हृदय, लोक-मंगल या लोक-हित को दरकिनार करके साहित्यकार आगे नहीं बढ़ सकता। वह किसी भी तरह के भाव प्रकट करके, किसी भी तरह रस-निष्पत्ति करके अपना पीछा नहीं छुड़ा सकता। प्राचीन रसवादियों से शुक्लजी का यह महत्वपूर्ण मतभेद है।

भाववादी साहित्यशास्त्रियों की एक विशेषता यह है कि वे भावों को उनके आधार से अलग करके देखते हैं। शुक्लजी भावों को उनके आधार से अलग करके नहीं देखते; वे साहित्य में उनके आधार के चित्रण को ही सबसे महत्वपूर्ण समझते हैं। वे कहते हैं : "भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का सबसे पहला और सबसे आवश्यक काम है।" (उप., पृ. 109)

रूढ़िवादी शास्त्र से यह उनका दूसरा महत्वपूर्ण मतभेद है। मानव-जीवन से अलग भाव की शाश्वत सत्ता नहीं है; इसलिए मानव-जीवन का चित्रण ही मुख्य कर्त्तव्य है। यहाँ शुक्लजी पश्चिम के उन तमाम भाववादियों का खण्डन करते हैं जो मानव-जीवन

से परे एक अव्यक्त सौन्दर्य की सत्ता मानते हैं जिसकी झलक ही कभी-कभी इस संसार में दिखाई देती है। शुक्लजी वस्तुओं से अलग उनके गुणों की कल्पना नहीं करते।

इस लेख के आरम्भ में दिये हुए उद्धरणों से पता चलता है कि वह जगत् को सत्य मानते हैं, मिथ्या नहीं। संसार उनके लिए अपार और अगाध रूप समुद्र है। मनुष्य के भीतर भावों का विधान इसी वस्तुगत यथार्थ से हुआ है। मनुष्य के भाव उसकी निजी सृष्टि नहीं हैं, उनकी अपनी वस्तुगत सत्ता है। इसी तरह संसार के रूपों या व्यापारों से भिन्न सौन्दर्य, माधुर्य की स्थिति नहीं है। यहाँ प्लेटो के पग-चिह्नों पर चलने वाला योरप का तमाम भाववादी साहित्यशास्त्र निरुत्तर हो जाता है, क्योंकि उसकी मूल स्थापना सौन्दर्य की निरपेक्ष सत्ता, रूपमय जगत् से परोक्ष सत्ता की स्वीकृति ही है। लेकिन शुक्लजी मानव-सत्ता के ज्ञान को भी लोकबद्ध मानते हैं। उनके लिए ज्ञान इस वास्तविक जगत ही का होता है, किसी रहस्यमय आध्यात्मिक शक्ति का नहीं। बीसवीं सदी में योरप की देखा-देखी भारत में अध्यात्मवाद की बराबर चर्चा होने पर शुक्लजी ने चिढ़कर कहा था, " 'अध्यात्म' शब्द की मेरी समझ में काव्य या कला के क्षेत्र में कोई जरूरत नहीं है।" (रस-मीमांसा, पृ. 69)।

आचार्य शुक्ल रस-दशा को लोक-हृदय में लीन होने की दशा कहते हैं। लेकिन यह कोई निष्क्रिय दशा नहीं है। भावों का काम हैं - मनुष्य को कर्मों में प्रवृत्त करना। वह उन लोगों का खण्डन करते हैं जो कहते हैं कि काव्य व्यवहार का बाधक है, उससे अकर्मण्यता पैदा होती है (उप., पृ. 22)। भाव की प्रतिष्ठा से "कर्म क्षेत्र का विस्तार बढ़ गया है।" (उप., पृ. 164)। शुक्लजी ने भाव को कर्म से अलग करके देखा ही नहीं है। उनके अनुसार भाव उस चित्त-विकार को कहते हैं "जिसके अन्तर्गत विषय के स्वरूप की धारणा, सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति का बोध और प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा पूर्वापर संबद्ध संघटित हों।" (उप., पृ. 168)

विषय का ज्ञान, सुख-दुख की अनुभूति और कर्म की प्रेरणा-ये सब एक साथ जुड़ी होती हैं। इन क्रियाओं के समुच्चय का नाम ही भाव है। प्राचीन साहित्यशास्त्री स्थायी भावों को रस रूप में प्रकट करके साहित्यिक प्रक्रिया का अन्त निष्क्रियता में कर देते थे। शुक्लजी ने भाव की मौलिक व्याख्या करके निष्क्रिय रस-निष्पत्ति की जड़ काट दी है।

इधर हिन्दी में कुछ कलावादियों ने ज्ञानहीन, कर्महीन आनन्द के आधार पर पूर्व और पश्चिम की पटरी बिठाने की कोशिश की है। हिन्दी में 'कला कला के लिए' इस घिसे-पिटे नारे को फिर बुलन्द करके वे इस सिद्धान्त को वैज्ञानिक रूप देने का दावा करते हैं। शुक्लजी ने पश्चिम के इन कलावादियों का खण्डन किया है। वह थियोडोर वाट्स डंटन की तब प्रशंसा करते हैं, जब वह काव्य को शक्ति मानता है। वह उसकी निन्दा करते हैं, जब वह काव्य को शुद्ध कला मानता है (उप., पृ. 56)। योरप में प्रत्यक्ष अनुभति से काव्य की अनुभूति को अलग किया गया, कल्पना को एक स्वतंत्र शक्ति मानकर उसे दूसरी सृष्टि रचने वाली कहा गया। शुक्लजी इन धारणाओं का खण्डन करके कहते हैं कि "सारे वर्ण और सारी रूपरेखाएँ जिनसे कल्पित मूर्ति-विधान होता है, बाह्य जगत् के प्रत्यक्ष बोध से प्राप्त हुई हैं।" (उप., पृ. 299)। इस तरह 'कल्पना' मनुष्य के वास्तविक जीवन को प्रतिबिम्बित करती है, वह वास्तविक जीवन से निरपेक्ष एक स्वतंत्र संसार नहीं रचती।

पश्चिमी कलावादियों की तरह शुक्लजी साहित्य को मनुष्य की क्रीड़ा-वृत्ति (प्ले इम्पल्स) का परिणाम नहीं मानते (उप., पृ. 265)। फ्रायड आदि पश्चिमी मनोविश्लेषण के आचार्यों की काम-वासना और स्वप्न-संबंधी स्थापनाओं को वह नहीं मानते (उप., पृ. 264)। हिन्दी में अनेक आलोचक फ्रायड को पिण्डदान करके काव्य को अतृप्त कामवासना की काल्पनिक पूर्ति बतलाते हैं। उनकी विरोध करने के लिए शुक्लजी के विचार आज भी अपनी प्रगतिशील भूमिका पूरी कर रहे हैं।

काव्य आत्मा है, काव्य एक अखंड तत्व या शक्ति है जिसकी गति अमर है, इस तरह की ब्रैडले, मैकेल आदि की भाववादी स्थापनाओं का उन्होंने खण्डन किया है (उप., पृ. 269)। शुक्लजी ने योरप के अभिव्यंजनावादियों का विरोध किया जो काव्य के वास्तविक आधार को ही अस्वीकार करते थे (उप., पृ. 336)। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' नाम के निबन्ध में उन्होंने विस्तार से इटली के भाववादी विचारक क्रोचे की मार्मिक समीक्षा की है। क्रोचे 'कल्पना में उठे हुए रूपों की प्रतीति मात्र को' ज्ञान कहता है, (चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ. 198)। शुक्लजी कहते हैं कि इस तरह ईसाई सन्तों को भी आध्यात्मिक आभास हुआ करते थे; लेकिन ये आभास, कल्पना की प्रतीतियाँ हैं, ज्ञान नहीं है। वह फ्रांसीसी विचारक बर्गसाँ की ऐसी ही स्थापना का खण्डन करते हैं कि कल्पना-रूपी स्वयं-प्रकाश ज्ञान हमें पारमार्थिक ज्ञान देता है (उप., पृ. 199)। क्रोचे की मुख्य कमज़ोरी यह है कि वह रूपों को संसार से अलग आत्मा की उपज मानता है। शुक्लजी कहते हैं कि ये सब बाह्य-जगत् से ही प्राप्त किये हुए रूप हैं (पृ. 200)। क्रोचे के तमाम तर्कजाल का सारतत्व है - कला कला के लिए। शुक्लजी ने उसका वाग्जाल छिन्न-भिन्न करके यह सारतत्व प्रकट कर दिया है। भारतीय साहित्य की तमाम प्रगतिशील परंपराओं को अपना आधार बनाकर उन्होंने क्रोचे और उसके आगत-अनागत पूर्वी-पश्चिमी अनुयायियों को ललकारते हुए कहा था:

"काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते। उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु मानते हैं। 'कला कला ही के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक क्या, कई क्रोच उसे फिर जिला नहीं सकते।" (उप., पृ. 201)

शुक्लजी ने पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के भाववादी साहित्यशास्त्रियों की इन धारणाओं को निर्मूल किया कि काव्य का उद्देश्य केवल आनन्द देना है, उसकी अनुभूति जीवन की अनुभूति से मूलत: भिन्न होती है, कल्पना संसार के रूपों से परे अपना एक नया संसार रचती है। उन्होंने रस को काव्य की आत्मा माना लेकिन लोक-हृदय में लीन होने को रस-दशा कहा, ज्ञान को वास्तविक जगत् की सत्ता पर निर्भर बताया, साहित्यशास्त्र से अवैज्ञानिक रहस्यवादी कल्पनाओं को बाहर किया, काव्य के भाव-योग की परिणति लौकिक जीवन के कर्मयोग में की। इस तरह उन्होंने हिन्दी में एक मौलिक साहित्यशास्त्र की नींव डाली, जो प्राचीन रूढ़िवाद और पश्चिमी कलावाद से स्वतन्त्र ही नहीं है, उनका तीव्र विरोधी भी है। शुक्लजी की इन मान्यताओं के आधार पर ही आज की हिन्दी आलोचना प्रगति-पथ पर आगे बढ़ सकती है।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में पहली बार जमकर रीति-ग्रन्थों का विरोध किया, साहित्य पर उनके घातक प्रभाव का उल्लेख किया। कुछ खास तरह के नायकों, नायिकाओं, उद्दीपनों आदि के भीतर साहित्य को बाँध रखने के प्रयास का विरोध करते हुए उन्होंने कहा : "जिस प्रकार बाह्य दृश्यों के अनन्त रूप हैं उसी प्रकार मनुष्य की मानसिक स्थिति के भी ... विविध प्रवृत्तियों के मेल में संघटित जो अनेक स्वभाव के मनुष्य दिखाई पड़ते हैं उनके स्पष्टीकरण के लिए मानव-प्रकृति के अन्वीक्षण की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता उक्त चार प्रकार के ढाँचे तैयार मिलने से पिछले कवियों में न रह गई।" (रस-मीमांसा, पृ. 95)

रीतिग्रन्थों के विरोध का मूल सूत्र यही है - मानव प्रकृति की विविधता। शुक्लजी यथार्यवाद की भूमि से रीति ग्रन्थों की कृत्रिमता दिखाते हैं। उनका आग्रह साहित्य को यथार्थ जीवन के निकट लाने के लिए है, उसे सच्चा और स्वाभाविक बनाने के लिए है। जिस तरह 19वीं सदी के आरम्भ में अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों ने पुराने दरबारी साहित्यशास्त्र का ताना-बाना नष्ट करके अंग्रेजी काव्य की आत्मा को मुक्त किया था, उसी तरह आचार्य शुक्ल ने रीतिग्रन्थों के बन्धनों को तोड़कर हिन्दी-साहित्य की आत्मा को मुक्त किया। अन्तर केवल इतना है कि अंग्रेजी रीतिग्रन्थों का ताना-बाना बहुत हल्का था और यहाँ के रीतिग्रन्थों का जाल उससे कहीं अधिक जटिल था; उधर अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों ने अपना आक्रमण बहुधा भाववाद को आधार बनाकर किया था, शुक्लजी ने यह काम मूलत: वस्तुवाद की ठोस धरती से किया।

शुक्लजी ने दिखाया कि नायकों की तरह नायिकाओं के भेद गिनाकर साहित्य में नारी-चरित्र के साथ खिलवाड़ किया गया। मौलिकता का ह्रास हुआ। लीक पीटने वालों की संख्या बढ़ती गई। कविता खुशामद और दिल बहलाव की चीज हो गई। शुक्लजी ने अपने साहित्य-सिद्धांत हवा में नहीं बनाये, न वे सिद्धान्त केवल निषेधात्मक हैं। उन्होंने भारतवर्ष के चार महाकवियों वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति और तुलसीदास - को अपना आदर्श और आधार बनाया। इनके प्रकृति वर्णन को, इनकी लोक-हृदय में लीन होने की दशा को अपनी कसौटी मानकर वह हिन्दी-संस्कृत के आचार्यों के अवैज्ञानिक सिद्धान्तों और अस्वाभाविक कृतियों का आलोचना करते है। साहित्य में सदियों से प्रतिष्ठित शृंगार-रस को एक कोने में ठेलते हुए उन्होंने 'भावमूर्ति भवभूति' के महामंत्र 'एको रस: करुण एव' का फिर पाठ किया। भवभूति का जन्म ऐसे समय में हुआ था जब देश में चारों ओर दरबारी साहित्य का बोलबाला था। इसलिए उस महाकवि ने क्षुब्ध होकर कहा था - "जो मेरे काव्य की उपेक्षा करते हैं, करें; वे भी कुछ जानते होंगे लेकिन उनके लिए मैंने यह नहीं लिखा; काल अनन्त है, पृथ्वी विशाल है, मेरा भी कोई समानधर्मा कहीं होगा या आगे पैदा होगा।"

आलोचना के क्षेत्र में भवभूति के समानधर्मा आचार्य शुक्ल हैं, जैसे काव्य में उनके समानधर्मा महाकवि निराला हैं। शुक्लजी ने साहित्य में वाल्मीकि और भवभूति की परम्परा को फिर जगाया। उन्होंने मंगल का विधान करने वाले दो भाव ठहराये - करुणा और प्रेम। इनमें भी भारतीय महाकाव्यों को देखते हुए करुणा को ही उन्होंने बीजभाव माना। प्रेम की अपेक्षा उन्होंने करुणा को और व्यापक बतलाया। जिसमें प्रेम हो, उसी के लिए करुणा जागे, यह आवश्यक नहीं है। करुणा प्रेम से स्वतंत्र है। "हमारे यहाँ के कवियों ने लोक-रक्षा के विधान में करुणा को ही बीजभाव रखा है।" (रस-मीमांसा, पृ. 79)। शुक्लजी की करुणा निष्क्रिय करुणा नहीं। करुणा के विरोधी भावक्रोध से वह उसका समन्वय करते हैं। यह क्रोध व्यक्तिगत हो तो त्याज्य है। जो क्रोध लोक-रक्षा के लिए किया जाय, वह उचित और आवश्यक है। वह कहते हैं, "क्षमा जहाँ से श्रीहत हो जाती है वहीं से क्रोध में सौन्दर्य का आरम्भ होता है!" (चिन्तामणि, पहला भाग, पृ. 137)। शिशुपालवध के लिए उद्यत कृष्ण और रावण-वध के लिए उद्यत राम की मूर्तियों का स्मरण करके वह सक्रिय प्रतिरोध के लिए ललकारते हैं। वाल्मीकि, व्यास, तुलसीदास आदि महाकवियों की इस सच्ची मानवतावादी परम्परा के आधार पर उन्होंने रीतिग्रन्थों में प्रतिपादित करुणा का टाट उलट दिया। करुणा का नाम पुराना है, शुक्लजी ने उसे एक नये अर्थ से दीप्त कर दिया है।

इसी तरह शुक्लजी ने वीर रस के स्थायी भाव उत्साह के क्षेत्र भी व्यापक कर दिया है। वैज्ञानिक अनुसंधान, अगम स्थानों की यात्रा, कुरीतियों के विरोध आदि में उन्होंने उत्साह की व्यापकता दिखाकर उसे सामन्ती युद्धों के तथाकथित वीर-रस की परिधि से बाहर निकाल लिया है। कर्ममय जीवन में उसका सर्वत्र प्रसार दिखाकर कर कहते हैं, "कर्ममात्र के सम्पादन में जो तत्परतापूर्ण आनन्द देखा जाता है वह भी उत्साह ही कहा जाता है।" (उप., पृ. 9)। इस तरह शुक्लजी ने आनन्दमय क्रियाओं से उत्साह का संबंध जोड़कर रीतिग्रन्थों के उत्साह का रूप बदल दिया है। हास्य-रस में आलस्य और निद्रा को जो संचारी भाव कहा गया था, उसे शुक्लजी की जिन्दादिली स्वीकार न कर सकी। "आलस्य के वर्णन को किसी भाव का संचारी मानना मेरी समझ में ठीक नहीं।" (रस-मीमांसा, पृ. 225)

शुक्लजी ने स्थायी भावों की जो नयी व्याख्या की है, उसका कारण वही मानव-जीवन और मानव-स्वभाव की विविधता है, उनकी व्याख्या का आधार वही यथार्थ जीवन का प्रेम है। इसी कारण अलंकारवादियों से उनकी नहीं पटती। अलंकार वर्णन की प्रणालियाँ हैं, वर्ण्य विषय नहीं (उप., पृ. 50)। काव्य में उन्हें प्रधानता नहीं दी जा सकती। जो 'अलंकार' वर्ण्य वस्तु का निर्देश करें, उन्हें अलंकार मानने से उन्होंने इनकार किया। उन्होंने अलंकारों की यह व्याख्या की है : "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिकाधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।" (उप., पृ. 358)। अलंकारों का प्रयोग कैसे होना चाहिए, इसकी मिसालें उन्होंने कालिदास आदि कवियों से दी हैं। अलंकारों को प्रधानता देने पर किस तरह के चमत्कारावाद का जन्म होता है, उसकी मिसालें उन्होंने रीतिकालीन कवियों से दी हैं। बात कहने के लिए बात कहना, उक्ति-चमत्कार दिखाना, अलंकारों के प्रयोग से लोगों की वाहवाही लूटना शुक्लजी को असह्य है। वह हिन्दी के साथ फारसी, उर्दू और अंग्रेजी में भी इस चमत्कारवाद का विरोध करते हैं। प्रकृति-वर्णन में रीतिकालीन कवियों ने जो प्रकृति को उद्दीपन मात्र बनाकर संकीर्णता दिखाई थी, उसकी तीव्र आलोचना शुक्लजी ने विस्तार से की है और वाल्मीकि और भवभूति के प्रकृति-वर्णन को आदर्श रूप में पेश किया है।

शुक्लजी ने अलंकारों को प्रधानता देने वाले शास्त्र पर और चमत्कारों और उक्ति-सौन्दर्य के काव्य पर जो प्रहार किए हैं, वह नये भारत के सांस्कृतिक आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण अंग है। सदियों से सामन्त वर्ग ने साहित्य को अपने मनोरंजन का साधन बना रखा था, साहित्यकारों को अपना क्रीतदास कर रखा था। मध्यकाल के संतकवियों ने इस सामन्ती चाकरी के विरोध में लोक साहित्य की नींव डाली थी। शुक्लजी ने नये भारत की संस्कृति के उत्थान के लिए सन्त कवियों के जनवादी तत्त्व लिये, उनसे पहले के संस्कृत कवियों से करुणा और सक्रिय प्रतिरोध के भाव लिये। उर्दू, हिन्दी और अंग्रेजी, तीनों ही में चमत्कारवाद, शुद्ध कलावाद का विरोध करके और साहित्य की लौकिकता का प्रतिपादन करके उन्होंने भारतीय संस्कृति के जनवादी रूप को प्रतिष्ठित करने में योग दिया। शुक्लजी का दृष्टिकोण सामंतविरोधी है, इसीलिए वह असहिष्णु हैं। उनकी आलोचना सामन्ती संस्कृति के प्रेमियों के लिए ललकार है। वह जनता का पक्ष लेकर एक नयी संस्कृति के लिए लड़ने वाली आलोचना है। साहित्य में तटस्थता, जनता के प्रति उदासीनता, शुद्ध कला और शुद्ध कल्पना के हामियों को शुक्लजी का यह लड़ाकू रूप पंसद नहीं। लेकिन इसीलिए वह हमारे साहित्यिक विकास के लिए इतना महत्वपूर्ण है।

शुक्लजी ने यही न देखा था कि उनके समय का सामंती वर्ग निकम्मा है, उन्होंने यह भी देखा कि कई सौ वर्ष पहले अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी करके यह वर्ग कभी का जर्जर हो चुका था। यह वर्ग देश-रक्षा और वीरत्व का ठेका लेता था लेकिन देश की रक्षा करने में असमर्थ रहा था। राजा भोज के बारे में उन्होने लिखा है : "भोज ऐसे राजा बात बनाने वाले खुशामदियों को कवि कहकर लाखों का पुरस्कार देने लगे। उसी भोज की तारीफों के पुल बाँधने वाले - उसके प्रताप को सूर्य से भी बढ़कर बताने वाले - चारों ओर से आते थे जिसके सामने ही विदेशी इस देश में आकर भारतीयों की इतनी दुर्दशा करने लगे थे।" (रस-मीमांसा, पृ. 99)। रीतिकालीन कवि सामंतों के हाथ किस तरह बिक गए थे, उसका व्यंग्यपूर्ण चित्र खींचते हुए शुक्लजी ने लिखा है :

"हिन्दी के रीतिकाल के कवि तो मानो राजाओं के यहाँ राजाओं की कामवासना उत्तेजित करने के लिए ही रखे जाते थे! एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज का रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज की पिचकारी देते थे। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुस्खे भी कवि लोग तैयार करने लगे।" (उप., पृ. 28)। शुक्लजी का व्यंग्य तिलमिला देने वाला है क्योंकि उनका दृष्टिकोण राजा-रईसों के प्रति सहानुभूति पर निर्भर नहीं है। वह सामन्ती वर्ग के निठल्लेपन और उसके चाटुकार साहित्यिक वर्ग की मकरध्वजवादी वास्तविकता प्रकट कर देता है।

सामन्तों के हाथों कविता की जो दुर्दशा हुई है, उसके बारे में शुक्लजी क्रोध के साथ लिखते हैं :

"कविता पर अत्याचार भी बहुत कुछ हुआ है। लोभियों, स्वार्थियों और खुशामदियों ने उसका गला दबाकर कहीं अपात्रों को आसमान पर चढ़ाने वाली स्तुति करायी है, कहीं द्रव्य न देने वालों की निन्दा। ऐसी तुच्छ वृत्ति वालों का अपवित्र हृदय कविता के निवास के योग्य नहीं।" (रस-मीमांसा, पृ. 53)।

इस तरह वर्ग शब्द का प्रयोग न करके भी शुक्लजी ने बहुत अच्छी तरह रीतिकालीन साहित्य का वर्ग-आधार स्पष्ट कर दिया है। वर्गों से परे उन्होंने शुद्ध कलावाद के आधार पर इस साहित्य का सौन्दर्य-निरूपण नहीं किया। यही बात शुद्ध कलावादियों के लिए एकांगी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण है।

शुक्लजी सामन्ती संस्कृति के ही विरुद्ध नहीं हैं, वे यूरोप की बर्बर साम्राज्यवादी संस्कृति का भी विरोध करते हैं। मध्यकालीन आक्रमणकारियों से यूरोप के व्यापारियों की तुलना करते हुए शुक्लजी ने लिखा है : "पुरानी चढ़ाइयों की लूट-पाट का सिलसिला आक्रमणकाल तक ही, जो बहुत दीर्घ नहीं हुआ करता था, रहता था। पर यूरोप के अर्थोन्मादियों ने ऐसी गूढ़, जटिल और स्थायी प्रणालियाँ प्रतिष्ठित कीं जिनके द्वारा भूमंडल की न जाने कितनी जनता का रक्त चुसता चला जा रहा है-न जाने कितने देश चलते-फिरते कंकालों के करागार हो रहे हैं।" (चिन्तामणि, पहला भाग, पृ. 129)।

नि:सन्देह आचार्य शुक्ल का हृदय साम्राज्यवादी उत्पीड़न से व्यथित था। इस उत्पीड़न के प्रति वह तटस्थ नहीं थे। प्रेमचन्द के साथ उन्होंने बिना किसी दुविधा के उसकी निन्दा की, उसका जघन्य राक्षसी रूप जनता के सामने प्रकट किया। कांग्रेसी नेता रूस के साम्राज्य-विरोधी साहित्य को सोद्देश्य (टेन्डेंशस) कहकर रेलवे स्टालों से उसका बहिष्कार करा रहे हैं। उन्हें चाहिए कि शुक्लजी की आलोचना से भी ऐसे तमाम सोद्देश्य स्थल निकाल दें क्योंकि उनसे लोगों को याद आयेगा कि भारत आज भी कंकालों का कारागार है और इसका कारण कांग्रेस-राज है, कांग्रेसी नेताओं को उन्हीं व्यापारियों से प्रीति है जिनकी आचार्य शुक्ल ने रोषपूर्ण शब्दों में निन्दा की थी।

शुक्लजी ने साम्राज्यवादी उत्पीड़न का ही विरोध नहीं किया, उन्होंने पश्चिमी देशों की संस्कृति के मूल सूत्र व्यक्तिवाद को भी पकड़ा और दिखाया कि किस तरह बीसवीं सदी में वह पतन की सीमा तक पहुँच गया है। उन्होंने इसकी शुरुआत रिनैसैंस काल से ही - यानी पूँजीवाद के अभ्युदय-काल से ही - दिखलायी है। रोमांटिक आन्दोलन के बाद यानी उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यह व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति कितनी विकृत हो गयी और साहित्य के साथ कैसा खिलवाड़ करने लगी, यह उन्होंने इन्दौर वाले भाषण में विस्तार के साथ दिखलाया है। इस तरह उन्होंने अंग्रेजी साहित्य की भोंडी और प्रगतिविरोधी प्रवृत्तियों की ओर से हिन्दी-प्रेमियों और लेखकों को सावधान किया है। उन्होंने यूरोप के अबुद्धिवादियों का मजाक बनाया है जो समझते हैं कि अच्छे काव्य न बनने का कारण बुद्धि का बढ़ जाना है।

इस तरह के अबुद्धिवादी हिन्दी साहित्य में भी हैं। पच्छिमी साहित्य के निराशावादियों से हमें सावधान करते हुए शुक्लजी करहते हैं, "वर्तमान अंग्रेजी साहित्य-क्षेत्र में उनके नैराश्य में योग देने वाले हैं मि. हाज़मन और इलियट। ये लोग केवल समय-समय पर अपनी कुढ़न और बौखलाहट-भर प्रकट कर देते हैं।" (चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ. 227)

शुक्लजी की चेतावनी कितनी सामयिक थी, यह इधर के नये कवियों और कुछ पुराने लेखकों पर इलियट के प्रभाव को देखकर समझा जा सकता है। अज्ञेय और नये प्रयोगवादी कवियों की विषय-वस्तु उनकी कुढ़न और बौखलाहट ही व्यक्त करती है। कविता के रूप को विकृत करने में तो ये सब इलियट के भी गुरु हैं।

शुक्लजी को अंग्रेजी से चिढ़ न थी। अंग्रेजी साहित्य की हर बात का विरोध करना प्रतिक्रियावाद की निशानी है। आलोचना में शुक्लजी को रिचार्ड्स का सिद्धान्त पसन्द था कि साहित्य की अनुभूति और प्रत्यक्ष जगत् की अनुभूतियों में मौलिक अन्तर नहीं है। लेकिन उन्होंने रिचार्ड्स के सिद्धान्तों का - जो पूँजीवादी मनोविज्ञान से प्रभावित है - समर्थन नहीं किया। यह देखकर प्रसन्नता होती है कि शुक्लजी ने पश्चिमी आलोचकों द्वारा प्रतिपादित शेक्सपियर की तटस्थता और निरपेक्षता का खंडन किया है। वाट्स डंटन का हवाला देते हुए उन्होंने कहा है कि हम हैमलेट के बहुत से भाषणों को अपनाते हैं जिसका अर्थ है कि उनमें शेक्सपियर की ही भावनाएँ प्रकट हुई हैं (रस-मीमांसा, पृ. 318)। शेली के लिए उन्होंने लिखा है : "अंग्रेज कवि शेली संसार में फैले पाखंड, अन्याय और अत्याचार के दमन तथा मनुष्य-मनुष्य के बीच सीधे सरल प्रेमभाव के सार्वभौम संसार का स्वप्न देखने वाले कवि थे।" (उप., पृ. 60)। इससे यह भी पता चलता है कि शुक्लजी को अंग्रेजी कविता में किस तरह के भाव विशेष प्रिय थे। वर्ड्सवर्थ की भी उन्होंने प्रशंसा की है।

शुक्लजी ने भारतीय सामन्तवाद और यूरोपीय पूँजीवाद की सांस्कृतिक धाराओं का जहाँ खण्डन किया है, वहाँ उन्होंने भारतीय पूँजीवाद की मूल सांस्कृतिक स्थापना - निष्क्रिय प्रतिरोध - का भी खण्डन किया है। पूँजीवादी नेता और लेखक गान्धीवाद की भारतीयता का डंका बहुत पीटते हैं लेकिन गांधीवाद की मुख्य स्थापना-निष्क्रिय प्रतिरोध - रूसी लेखक तोल्स्तोय की देन है। यह स्थापना जनता के क्रान्तिकारी विरोध को रोकने में और साम्राज्यवाद से समझौता करने के काम आती है, इसलिए पूँजीवादी नेता और लेखक उसके विदेशी होने की बात नहीं करते। फिर भी गान्धीजी ने अपने विरोध-प्रदर्शन का ढंग तोल्स्तोय से लिया था, यह उन्हीं की कृतियों से स्पष्ट है। वाल्मीकि, व्यास और तुलसीदास ने अपने चरितनायकों को हमेशा अन्यायी और अत्याचारी

का सक्रिय विरोध करते हुए, उसका नाश करते हुए दिखाया। उस परम्परा के उपासक शुक्लजी निष्क्रिय प्रतिरोध का समर्थन कैसे करते? भारतीयता के गांधीवादी ठेकेदार शुक्लजी के इन शब्दों पर ध्यान दें :

"कर्म-सौन्दर्य के जिस स्वरूप पर मुग्ध होना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और जिसका विधान कवि-परम्परा बराबर करती चली आ रही है, उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करके और कर्म-सौन्दर्य के एक दूसरे पक्ष में ही - केवल प्रेम और भ्रातृभाव के प्रदर्शन और आचरण में ही - काव्य का उत्कर्ष मानने का जो एक नया फैशन टॉलस्टाय के समय से चला है वह एकदेशीय है। दीन और असहाय जनता को निरन्तर पीड़ा पहुँचाते चले जाने वाले क्रूर आततायियों को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और प्रेम जताने तथा उनकी सेवाशुश्रूषा करने में ही कर्त्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती, कर्मक्षेत्र का एकमात्र सौन्दर्य नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्यकला की पूरी रमणीयता इन दोनों के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।" (रस-मीमांसा, पृ. 64-65)।

लोक के प्रति करुणा से प्रेरित होकर रावण पर चढ़ाई करने वाले राम के 'कालाग्नि सदृश क्रोध' का उल्लेख करने के बाद शुक्लजी आगे कहते हैं : "काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेमभाव की कोमल व्यंजना में नहीं माना जा सकता जैसा कि टॉलस्टाय के अनुयायी या कुछ कलावादी कहते हैं। क्रोध आदि उग्र और प्रचंड भावों के विधान में भी, यदि उनकी तह में करुण भाव अव्यक्त रूप में स्थित हो, पूर्ण सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है।" (उप., पृ. 68)।

शेली के काव्य 'दि रिवोल्ट ऑफ इस्लाम' का हवाला देते हुए शुक्लजी इसी प्रंसग में कहते : "स्वतंत्रता के उन्मत्त उपासक, घोर परिवर्तनवादी शेली के महाकाव्य 'दि रिवोल्ट आफ इस्लाम' के नायक-नायिका अत्याचारियों के पास जाकर उपदेश देने वाले, गिड़गिड़ाने वाले, अपनी साधुता, सहनशीलता और शांत वृत्ति का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन करने वाले नहीं हैं। वे उत्साह की उमंग में प्रचंड वेग से युद्ध-क्षेत्र में बढ़ने वाले, पाखंड, लोक-पीड़ा और अत्याचार देख पुनीत क्रोध के सात्त्विक तेज से तमतमाने वाले या स्वार्थवश, आततायियों की सेवा स्वीकार करने वालों के प्रति उपेक्षा प्रकट करने वाले हैं।" (उप., पृ. 68-69)

शुक्लजी के इन वाक्यों से प्रकट होगा कि गान्धीवाद राजनीति ही में नही, साहित्य के लिए भी कितना हानिकार है! यही कारण है कि निष्क्रिय प्रतिरोध को लेकर हिन्दी में एक अच्छी कविता, एक अच्छी कहानी नहीं लिखी गई। जहाँ के लोग राम और कृष्ण के उपासक हों, जिन्होंने 1857 में आततायी अंग्रेजों के रणभूमि में छक्के छुड़ा दिये हों, उनमें निष्क्रिय प्रतिरोध की जड़ें कितनी गहरी होंगी? सर्वश्रेष्ठ गान्धीवादी साहित्यकार स्वर्गीया सुभद्राकुमारी चौहान की सबसे लोकप्रिय कविता थी - झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई पर!

प्रेम द्वारा पाप का नाश किया जाय, इस धारणा को तोल्स्तोय के उपदेशों की प्रतिध्वनि बतलाते हुए शुक्लजी ने लिखा है : "विचारने की बात है कि दूसरों की निरन्तर बढ़ती हुई पीड़ा को देख-देख अत्याचारियों की शुश्रूषा और उनके साथ प्रेम का व्यवहार करते चले जाने में अधिक सौन्दर्य का विकास है, कि करुणा से आर्द्र और फिर रोष से प्रज्वलित होकर पीड़ितों और अत्याचारियों के बीच उत्साहपूर्वक खड़े होने तथा अपने ऊपर अत्याचार-पीड़ा सहने और प्राण देने के लिए तत्पर होने में। हम तो करुणा और क्रोध के इसी सामंजस्य में मनुष्य के कर्म-सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति और काव्य की चरम सफलता मानते हैं।" (चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ. 53)

शुक्लजी ने ये शब्द 'काव्य में रहस्यवाद' नाम के निबन्ध में लिखे थे। बीसवीं सदी के भारतीय रहस्यवाद में वही निष्क्रिय प्रतिरोध-भावना छिपी हुई थी। इसी को अध्यात्मवाद भी कहा जाता था। शुक्लजी ने इस रहस्यवाद का रहस्य प्रकट करके देश-सेवा का काम किया था। इसी 'अध्यात्म' को उन्होने साहित्य-संसार से निकाल देने की बात कही थी। आज भी जनता के बढ़ते हुए असंतोष से भय खाकर पूँजीवादी लेखक 'रूस' और 'भौतिकवाद' को कोसते हुए इस अध्यात्म का स्मरण करते हैं। यह अध्यात्म और निष्क्रिय प्रतिरोध साम्राज्यवाद और भारत के वर्तमान शासक-वर्ग के लिए बहुत ही लाभकारी है। वह साम्राज्यवादी हितों और उससे जुड़े देशी निहित स्वार्थों की रक्षा करने में सहायता करता है। इसीलिए शुक्लजी द्वारा रहस्यवाद और इस अध्यात्म की, तोल्स्तोय-पंथ की आलोचना का महत्व आज भी कम नहीं हुआ।

शुक्लजी कहते हैं : "जब जीवन-प्रवाह क्षीण और अशक्त पड़ने लगता है और गहरी विषमता आने लगती है तब नयी शक्ति का प्रवाह फूट पड़ता है जिसके वेग की उच्छृंखलता के सामने बहुत-कुछ ध्वंस भी होता है। पर यह उच्छृंखल वेग जीवन या जगत् का नित्य स्वरूप नहीं है।" (रस-मीमांसा, पृ. 19)।

ध्वंस-कार्य कुछ समय के लिए ही आवश्यक होता है। उसे जीवन का नित्य नियम होना ही न चाहिए। लेकिन वह क्यों अनिवार्य हो जाता है, यह शुक्लजी ने बहुत स्पष्ट बता दिया है। ध्वंस जब नये निर्माण के लिए आवश्यक होता है, तब उसकी भीषणता

भी सुन्दर होती है। शुक्लजी कहते हैं : "लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द-ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोक-मंगल और लोक-रंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।" (उप., पृ. 56)

शुक्लजी उन्हीं कवियों को पूर्ण कवि मानते हैं जो "पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति संचरण में भी - उत्साह, क्रोध, करुणा, घृणा इत्यादि की गतिविधि में भी - पूरी रमणीयता देखते हैं।" (उप., पृ. 53)

निश्चय ही शुक्लजी की इस क्रान्तिकारी विरासत की ज्यादा जानकारी होनी चाहिए और तत्परता से उसकी रक्षा होनी चाहिए।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकालीन साहित्यशास्त्र का विरोध किया, साहित्य को धनी-वर्ग का सेवक बनने से रोका, उन्होंने सामन्ती संस्कृति और साम्राज्यवादी उत्पीड़न का सच्चा रूप दिखाया, पश्चिमी व्यक्तिवाद और निराशावाद से बचने की चेतावनी दी, निष्क्रिय प्रतिरोध, तोल्स्तोय-पंथ, रहस्यवाद और अध्यात्मक की पुकार का रहस्य प्रकट किया और अन्याय और अत्याचार के दमन में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की। इस तरह उन्होंने साहित्यकार को जनता का पक्ष लेना सिखाया और नये साहित्य में अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी की।

शुक्लजी का दार्शनिक दृष्टिकोण मूलत: वस्तुवादी है। यह जगत् सत्य है। शुक्लजी ने संसार को कहीं भी मिथ्या नहीं कहा। वह उसे रूप-समुद्र कहते हैं। मनुष्य को अपनी सत्ता का ज्ञान भी लौकिक जीवन से होता है। इस तरह ज्ञान का आधार अलौकिक नहीं है। शुक्लजी उसकी अलौकिकता का खण्डन करते हैं, यह उनके ज्ञान-संबंधी सिद्धांत का ही परिणाम है। "आत्मबोध और जगद्बोध के बीच ज्ञानियों ने गहरी खाई खोदी, पर हृदय ने कभी उसकी परवाह न की।" (चिन्तामणि, पहला भाग, पृ. 213)। प्रसादजी की तरह शुक्लजी भी चेतना और प्रकृति में मौलिक भेद नहीं करते। प्रसादजी ने लिखा था : "एक तत्व ही की प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।" शुक्लजी के लिए सत्ता एक है। "सम्पूर्ण सत्ता, क्या भौतिक क्या आध्यात्मिक, एक ही परम सत्ता या परम भाव के अंतर्गत है।" (रस-मीमांसा, पृ. 118-119)

फिर भी शुक्लजी का दृष्टिकोण सुसंगत रूप से भौतिकवादी नहीं है। वह यह स्पष्ट नहीं कहते कि विश्व की एकता उसकी भौतिकता में है। वह एक ओर संसार की भौतिकता पर जोर देते हैं और ज्ञान को भौतिक जीवन से ही उत्पन्न मानते हैं; दूसरी ओर वह विश्व-आत्मा और भौतिक जगत् में व्यक्त होने वाले ब्रह्म की बात भी करते हैं। उनके विचारों में यह एक असंगति है। फिर भी यह विश्व-आत्मवाद उनके साहित्यशास्त्र की मूलधारा नहीं है, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। इसीलिए उनके दार्शनिक दृष्टिकोण को मूलत: वस्तुवादी कहना उचित है।

शुक्लजी की तर्क-पद्धति द्वन्द्वात्मक है। वह वस्तुओं और विचारों की गतिशीलता पर जोर देते हैं, पदार्थों के लिए वह बहुधा 'व्यापार' (प्रोसेस) शब्द का प्रयोग इसीलिए करते हैं। सौन्दर्य और मंगल को वह गत्यात्मक कहते हैं और सिद्धान्त सामने रखते हैं कि "गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है।" (चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ. 58)

शुक्लजी की द्वन्द्व-पद्धति विरोधी वस्तुओं की एकता तुरन्त पहचान लेती है। चिन्तामणि (पहला भाग) का पहला वाक्य ही यह है : "अनुभूति के द्वन्द्व ही से प्राणी के जीवन का आरम्भ होता है।"

इस मूल अनुभूति में सुख और दुख जुड़े रहते हैं। भावों की विवेचना में करुणा और क्रोध, भीषणता और माधुर्य आदि का संयोग दिखाने में उन्हें कठिनाई नहीं होती। वह जड़वादी तर्कशास्त्रियों की तरह यही नहीं कहते कि राम ने रावण पर शस्त्र उठाया, इसीलिए हिंसा हो गयी; वह राम के सात्विक क्रोध के मूल में लोक-रंजन की कामना का उद्घाटन करते है। साहित्य में केवल असाधारणता की खोज को निंद्य ठहराते हुए वह साधारण और असाधारण की एकता दिखाते हैं। "साधारण के बीच में ही असाधारण की अभिव्यक्ति हो सकती है।" (रस-मीमांसा, पृ. 103)

शुक्लजी सामन्ती समाज-व्यवस्था के समर्थक नहीं हैं। राजाओं के हाथों काव्य की जो दुर्दशा हुई, उसे उन्होंने उभारकर जनता के सामने रखा। वह भक्ति-आन्दोलन के प्रबल समर्थक थे लेकिन उन्होंने साहित्य में दासभाव का समर्थन नहीं किया। वर्णों के हिसाब से मानव-धर्म लिया जाय तो वह क्षात्रधर्म के समर्थक हैं। "कर्म-सौन्दर्य की योजना क्षात्र-जीवन में जितने रूपों में सम्भव है, उतने रूपों में और किसी जीवन में नहीं। ... मनुष्य की सम्पूर्ण रागात्मिका वृत्तियों को उत्कर्ष पर ले जाने और विशुद्ध करने की सामर्थ्य उसमें है।" (चिन्तामणि, पहला भाग, पृ. 43)

वह काव्य के भावयोग और लौकिक जीवन के कर्मयोग की एकता मानते हैं, इसलिए निठल्ले, अवकाशभोगी, पैसा-कमाऊ वर्गों के लिए वह कविता की आवश्यकता नहीं समझते। ऐसे लोग कविता को व्यर्थ का व्यापार समझते हैं। "अर्थागम से हृष्ट 'स्वकार्य साधयेत्' के अनुयायी काशी के ज्योतिषी और कर्मकाण्डी, कानपुर के बनिये और दलाल, कचहरियों के अमले और मुख्तार, ऐसों को (कवियों को) कार्य-भ्रंशकारी मूर्ख, निरे निठल्ले या खप्त-उल हवास समझ सकते हैं।" (रस-मीमांसा, पृ. 22)

इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी का सामाजिक दृष्टिकोण धनीवर्ग के हितों को देखकर नहीं बना, उसका आधार साधारण जनता का जीवन है। धनीवर्ग के देश-प्रेम का मखौल उड़ाते हुए शुक्लजी कहते हैं : "देश-प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों पर रीझकर - या कम-से-कम न खीझकर - बिना मन मैला किये कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे? मोटे आदमियो! तुम जरा-सा दुबले हो जाते - अपने अंदेशों से ही - तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।" (उप., पृ. 153)। भारतीयता के ठेकेदार बनने वाले कांग्रेसी नेता इन शब्दों की सच्चाई आज भी सिद्ध कर रहे हैं।

शुक्लजी हिन्दू-मुसलमानों की कट्टरता के विरोधी थे। इन दोनों की धार्मिक कट्टरता का विरोध करने के कारण ही उन्होंने लिखा था : "सौ वर्ष पहले कबीरदास हिन्दू और मुसलमान दोनों के कट्टरपन को फटकार चुके थे। पण्डितों और मुल्लाओं की तो नहीं कह सकते, पर साधारण जनता 'राम और रहीम' की एकता मान चुकी थी।"

शुक्लजी देशभक्त लेखक थे, वह साहित्य में देशभक्ति के हामी थे। उन्होंने देश के मनुष्यों और उसकी प्रकृति को देखने, जानने-पहचानने और प्यार करने पर जोर दिया था। अंग्रेजी में जिसे कौस्मोपालिटनिज्म कहा जाता है, यानी हम तो विश्व-नागरिक हैं, हमें देश-प्रेम और राष्ट्रीय स्वाधीनता से क्या मतलब, उसका शुक्लजी ने विरोध किया है। यह विश्ववाद साम्राज्यवादियों के प्रभुत्व का साधन है। जनता की देशभक्ति, अपनी जातीय संस्कृति से उसका प्रेम उनके साम्राज्यवादी प्रभुत्व में बाधक होता है। इसलिए वे विश्ववाद का प्रचार करते हैं। शुक्लजी ने लिखा था :

"इसी देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से सच्ची देशभक्ति या देशप्रेम की स्थापना होती है। जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतंत्र सत्ता को अनुभव नहीं कर सकता वह देशप्रेम का दावा नहीं कर सकता।" (रस-मीमांसा, पृ. 151)

देशभक्ति, जातीयता और जनहित के आधार पर बना हुआ शुक्लजी का दृष्टिकोण साहित्य के कलात्मक सौन्दर्य का पूरा हामी है। "सुन्दर और कुरूप - काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं।" (उप., पृ. 32)। मंगल को वह सुन्दर का ही दूसरा रूप मानते हैं। अमंगल, असुन्दर ही हो सकता है, सुन्दर नहीं। "कविता में कही गई बात चित्र-रूप में हमारे सामने आती है", कलात्मक सौन्दर्य का आधार साहित्य की यही मूर्तिमत्ता है। (उप., पृ 41)। इसी कारण वह उक्तिचातुरी को ही काव्य नहीं मानते। "काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है।" (उप., पृ. 167)। इसी आधार पर अंग्रेजी के अनेक पतनशील कवियों की उन्होंने तीखी आलोचना की है जो मौलिकता की खोज में कलात्मक सौन्दर्य के मूल नियम की अवहेलना करते थे। रहस्यवादी कविताओं में मूर्ति की अस्पष्टता के लिए उन्होंने अनेक हिन्दी-कवियों की भी आलोचना की है। प्राचीन कवियों के चित्र-सौन्दर्य के लिए उन्होंने उनकी प्रशंसा की। "काव्य में बिम्ब-स्थापना (इमेजरी) प्रधान वस्तु है। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों में यह पूर्णता को प्राप्त है।" (उप., पृ. 358)। जो लोग शुक्लजी के दृष्टिकोण को एकांगी समाजशास्त्रीय कहते हैं, वे वास्तव में किसी और तरह का सौन्दर्य चाहते हैं।

शुक्लजी कलात्मक सौन्दर्य के हामी हैं, इसलिए वह उपदेश देने के विरुद्ध हैं। सूर और तुलसी को कवि न मानकर धर्मोपदेशक मानने वालों से वह कहते हैं : "सूर और तुलसी को हमें उपदेशक के रूप में न देखना चाहिए। उपदेशवाद या तर्क गोस्वामी जी के अनुसार 'वाक्यज्ञान' मात्र कराते हैं, जिससे जीव-कल्याण का लक्ष्य पूरा नहीं होता।" (चिन्तामणि, पहला भाग, पृ. 201)।

शुक्लजी के निधन पर निरालाजी ने लिखा था:

अमानिशा थी समालोचना के अंबर पर
उदित हुए जब तुम हिन्दी के दिव्य कलाधर।

चन्द्रमा की चौदह कलाएँ कैसे एक के बाद एक आयीं और चन्द्र को पूर्णता देती गयीं, इसका वर्णन करते हुए निरालाजी ने कहा है कि द्वितीया आयी - "किन्तु निशाचर संध्या के अंतर में दहले।" वास्तविकता भी यही है कि निशाचरों ने उन्हें न तो तब क्षमा किया और न अब। शुक्लजी सामन्ती साहित्यशास्त्र का टाट उलटकर हिन्दी का अपना मौलिक शास्त्र रच रहे थे। फिर निहित स्वार्थों के चाकर उनका यह कार्य कैसे सहन करते? आज भी एक वर्ग उनके सिद्धान्तों और साहित्य की आलोचना के बारे में जनता में भ्रम फैलाता है। शुक्लजी ने जो कुछ लिखा, वह उनके गहरे अध्ययन और चिन्तन का परिणाम था। उनके हृदय में जनता और देश के लिए अगाध प्रेम था, इसीलिए वह नये सिरे से और निर्भीक होकर साहित्य का मूल्यांकन कर सकें, नये सिद्धान्त स्थिर कर सके। आज उनके वस्तुवादी दृष्टिकोण, द्वन्द्वात्मक तर्क-पद्धति, वाल्मीकि-भवभूति-तुलसीदास के मूल्यांकन और काव्य के कलात्मक सौन्दर्य के महत्व के सिद्धान्त को आत्मसात् करके ही हिन्दी आलोचना और हिन्दी साहित्य आगे बढ़ सकते हैं। आजकल शाश्वत साहित्य रचने, देश की समस्याओं को भुलाकर निर्लिप्त भाव से सौन्दर्य या अध्यात्म की उपासना करने की बातें अक्सर सुनने को मिलती हैं। शुक्लजी सामाजिक प्रश्नों की ओर साहित्यकारों की उदासीनता का घोर विरोध करते हैं। "जाने दो, हमसे क्या मतलब; चलो अपना काम देखें। यह महाभयानक रोग है। इससे मनुष्य आधा मर जाता है।" (रस-मीमांसा, पृ. 24)।

साहित्य में तटस्थता की बात करने वाले ऐसे ही अर्धमृत लोग हैं। शुक्लजी साहित्य से राजनीति को बाहर रखने की बात नहीं करते। राजनीति बाहर न रखी जाय, साहित्य में वह आये, लेकिन साहित्य के अपने गुणों की रक्षा करते हुए।

राजनीति और साहित्य के संबंध पर शुक्लजी के ये वाक्य मनन करने योग्य हैं :

"यदि किसी जन-समुदाय के बीच कहा जाय कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रति वर्ष उठा ले जाता है तो सम्भव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्रय और अकाल का भीषण और करुण दृश्य दिखाया जाय, पेट की ज्वाला से जले हुए कंकाल कल्पना के सम्मुख रखे जायें और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त क्रन्दन सुनाया जाय तो बहुत-से लोग क्रोध और करुणा से व्याकुल हो उठेंगे और इस दशा को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेंगे। पहले ढंग की बात कहना राजनीतिज्ञ या अर्थशास्त्री का काम है औ पिछले प्रकार का दृश्य भावना में लाना कवि का।" (उप.,पृ. 22)

हिन्दी में अब जनता के वास्तविक जीवन को प्रतिबिम्बित करने वाला, उसकी आशाओं और संघर्षों को मूर्त रूप देने वाला साहित्य अधिकाधिक रचा जा रहा है। यही कारण है कि कुछ लोग शुक्लजी की विरासत मिटाने पर तुल गए हैं क्योंकि वह विरासत नये साहित्य के निर्माण के लिए निरन्तर प्रेरणा देती है। इन्दौर वाला भाषण समाप्त करते हुए शुक्लजी ने उन दिनों का स्मरण किया था जब "थोड़े-से लोग किसी भव्य भविष्य की आशा बाँधे हिन्दी-सेवा कर रहे थे।" हिन्दी ने जितनी प्रगति की थी, उस पर बधाई देते हुए उन्होंने और भी उज्ज्वल भविष्य के लिए बढ़ने का आह्वान करते हुए कहा था ...

"जिन आँखों से मैंने इतना देखा उन्हीं से अब अपने हिन्दी साहित्य को, विश्व की नित्य और अखण्ड विभूति से शक्ति, सौन्दर्य और मंगल का प्रभूत संचय करके, एक स्वतंत्र 'नवनिधि' के रूप में प्रतिष्ठित देखना चाहता हूँ।"

नि:सन्देह जनवादी और स्वाधीन भारत में सुखी और शिक्षित जनता के समृद्ध जीवन के आधार पर नये जन-साहित्य के निर्माण द्वारा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह पुनीत मनोकामना पूरी होगी।

(आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना से)

20. अस्वीकृति का नवोन्मेष : तारसप्तक से अकविता तक

-गिरिजा कुमार माथुर

आधुनिक बोध की काव्यधारा को प्रारम्भ हुए अब चौथाई शती बीत चुकी है, तारसप्तक जिसकी प्रथम समवेत अभिव्यक्ति था। जो चेतनाबिम्ब सन् 1939-40 में उदित हुआ था वह अब तक हिन्दी कविता का सम्पूर्ण क्षितिज आच्छादित कर चुका है और अनेक तीखे संघर्ष तथा विरोधी आघातों के पार आकर अपनी विलग सत्ता स्थापित कर चुका है। कविता का स्वभाव तथा स्वरूप आज कितना बदल गया है यह सन् 1935 और 1965 की किसी रचना के तुलनात्मक अध्ययन से देखा जा सकता है। पुरानी मध्ययुगीन मूल्य-दृष्टि, भावुकतापूर्ण रोमान, कल्पनाप्रधान सांस्कृतिक बोध तथा धरातलीय उदारवाद (जिसे हिन्दी में मानवतावाद अथवा तथाकथित 'भारतीय परम्परा' की संज्ञा दी जाती है) के धुन्ध को इस नयी संवेदनशीलता और वस्तुपरक सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि ने सदा के लिए मिटा दिया है। सामाजिक दायित्व के महत् की ओट में नकली मांगलिकता और निरीह शुभाशंसा का जो आडम्बर रचा जा रहा था और अब भी तुरत-सिद्धियों के लिए रचा जाता है उस पाखण्ड की कलई भी नवकाव्य की खरी तथा निष्ठापूर्ण क्रियाविधि पिघलाकर बहा चुकी है। माध्यम और उपकरणों की संकीर्ण रूढ़ियाँ तोड़कर उन्हें सहज अनुभूति के साथ सम्बद्ध किया गया है। संवेदना के सीमित और वर्गीकृत आधारों के स्थान पर सर्वथा अन्तरंग एवं आत्मानुभूत प्रतिक्रियाओं को अधिक मूल्यवान मानकर कलात्मक वैभव के एक ऐसे असीमित और अनवलोकित क्षेत्र का उद्घाटन हो चुका है, जिसका पूर्वकालीन कवियों को भान भी नहीं था। छोटी से छोटी, निपट आत्मीय और निकटतम स्थिति के अनुभव-खण्डों को भी कविता के लिए अयोग्य नहीं समझा गया बल्कि उन्हें ही सार्थक एवं मूल्यवान माना गया, क्योंकि यही छोटी, मृदु प्रतिक्रियाएँ आदमी को अधिक स्वाभाविक और परिपूर्ण रूप से व्यक्त कर सकती हैं, असामान्य घटनाएँ अथवा अनुभव नहीं। पिछले कवियों की दृष्टि में 'असाधारण' और असाधारण के साथ जुड़ा हुआ चमत्कारी बिम्ब-मण्डल ही मूल्यवान होता था। और चूँकि असाधारण स्थितियाँ, घटनाएँ या व्यक्तित्व कम होते हैं अत: पिछले कवियों का वस्तु-क्षेत्र सीमित होता था। वे जीवन और जगत् के क्रियाकलापों एवं आदमी से सम्बन्धित घटनाक्रम को मोटे रूप से विभाजित प्राथमिक वर्गों में देखने के आदी थे, जिसके कारण उनकी अनुभूति विशेषीकृत न होकर सामान्यीकृति होती थी। विरह-मिलन, आशा-निराशा, सुख-दुख, ऊँच-नीच, प्रेम-विराग, आत्मा-परमात्मा, भौतिक-आध्यात्मिक, प्रकृति-सांसारिकता, जनता और समाज, स्वदेशी-विदेशी आदि ऐसे ही सामान्य, अस्पष्ट वर्ग उनकी चेतना के संचरण-माध्यम थे। प्रत्येक पक्ष के सूक्ष्म विस्तारपूर्ण आयाम क्या हैं इस दृष्टि का वहाँ नितान्त अभाव था। नवकाव्य ने इस सामान्यीकृत चेतना और वर्गीकृत संवेदना को बिलकुल अस्वीकार कर दिया। सौन्दर्य की शास्त्रसम्मत व्याख्याओं के स्थान पर सौन्दर्य-बोध को स्थिति-सापेक्ष्य अनुभूति के साथ जोड़ा गया और बहिर्मुखी रम्यता एवं कोमलता के बदले मार्मिकता, तन्मय स्पन्दनशीलता तथा आन्तरिक गुणवत्ता को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। इस प्रकार काव्यगत सौन्दर्य-तत्त्व को भाव-स्तर पर ग्रहण किया गया और उसे मात्र सुन्दरता का पर्याय न समझकर असुन्दर की मर्मानुभूति को भी सौन्दर्य-वोध के अन्तर्गत रखा गया। छन्द के शृंखलित आरोप को भंग कर दिया गया तथा छन्दमुक्त स्थिति में आन्तरिक लयान्विति को भावना की सहज, अकृत्रिम अभिव्यक्ति के लिए अधिक उपयुक्त माना गया। प्रकृतिपरक, गोचरी और भदेस संवेदना का स्थान अधिक शालीन एवं आधुनिक नगरीय बोध को दिया गया और अस्पष्ट भावावेशी उद्गारों के स्थान पर सुदृढ़, अच्युत और अधिभिन्नित (हाइली डिफरेंशिएटेड) साक्षात्कारों को बौद्धिक तन्मयता के प्रगाढ़ासन पर प्रतिष्ठित किया गया। परम्परा-विनिश्चित और शास्त्र-सम्मत प्रामाणिकता के पूर्वकालीन निकष अस्वीकार कर दिये गये। किसी दूसरे के द्वारा संकल्पित सिद्धान्त या उद्घाटित भाव-सत्य कवि के लिए तब तक प्रामाणिक नहीं हो सकता जब तक वह उसके द्वारा अनुभूत न हो, उसकी आत्मा का सत्य न बन जाये, भले ही ऐसा सिद्धान्त चाहे कितना ही श्रेष्ठ हो और कितने ही बड़े महापुरुष द्वारा वह संस्थापित किया गया हो। आत्म-साक्ष्य की यह मूल्यदृष्टि वैज्ञानिक युग की क्रियाविधि के अनुकूल है, जिसकी आधारशिला विश्लेषण-परीक्षण (एम्पिरिकल) पद्धति है और जिसकी दार्शनिक भूमि प्रश्न और जिज्ञासा है। इसके विपरित पूर्वस्थापित तथा परम्परा-स्वीकृत साक्ष्यों का श्रद्धालु अनुसरण अथवा अन्धानुकरण मध्ययुगीन, सामन्ती और साम्प्रदायिक प्रवृत्ति का द्योतक है। यह प्रतिगामी वृत्ति मानव-आत्मा की विरोधी और कवि-विवेक के प्रतिकूल है। स्वयं-परीक्षित अनुभव की बौद्धिक ईमानदारी का अधिकार कवि को है, होना चाहिए, यह कवि-कर्म के लिए अनिवार्य तत्त्व है। यदि लेखक किन्हीं साहित्येतर दवावों में आकर स्वानुभव-साक्ष्य-विहीन सत्य को स्वीकार करता है तो वह कविता नहीं, एक गैर-ईमानदार 'पद्य-वस्तु' की रचना ही करेगा। काव्य के लिए यही सबसे बड़ा और अमिश्र निकष है। और यह भी मेरी मान्यता है कि नया कवि उस आदमी को केन्द्र मानकर चला है जिसका भावना-मण्डित व्यक्तित्व शतियों के अन्यायों की धूल में लुप्त था, जिसके साधारण आशोच्छ्वासों और आत्मीय मर्म-स्पन्दनों का कोई मूल्य नहीं था क्योंकि सामन्ती दृष्टि से लेखकों को गिने-चुने 'महत् व्यक्ति', 'महत् घटना' या 'महत् आत्मानन्द' की खोज थी, साधारण जन की छोटी समस्याओं एवं प्रतीति-व्यंजनाओं का उनके क्षेत्र में प्रवेश भी नहीं हो सकता था। ऐसे लेखक 'हीरो' को ही ढूँढ-ढूँढकर स्थापित करने के प्रयत्न में रहते थे, और छायावाद के बाद जव वह आधुनिकता की क्षिप्र प्रक्रिया में अनुपलब्ध होने लगा तो ये कवि-लेखक अपने को ही आत्मगाथाओं के जाल बुनकर हीरो के स्थान पर स्थापित करने लगे। चमत्कारी शलाका-पुरुषों, आश्रमों और मठाधीशों की सामन्ती परम्परा की भाँति साहित्य में भी कुछ व्यक्ति मठों का आविर्भाव हुआ था और

आधुनिकी चेतना के प्रथम चरण में भी सचेष्ट प्रचार, संगठन और युक्ति कौशल (मेनूवरिंग) द्वारा ऐसे प्रयत्न जारी रहे जिनके विनष्ट होने का अन्तिम दृश्य हम पिछले दस वर्ष से देख रहे हैं। किन्तु मनुष्य को उसकी समस्त सामर्थ्य और विशेषताओं (जिन्हें रूढ़िगत मूल्य दुर्बलता कहते हैं) के सन्दर्भ में ही पहचानने का यत्न नवकाव्य द्वारा किया गया है। आदमी का व्यक्तित्व और उसकी मनुष्यता एक जटिल और जीवन्त सम्पृक्तता है, वह इतनी सरल वस्तु नहीं कि मात्र 'मानवता' शब्द प्रतीक की सैकड़ों पुनरावृत्तियों से ही व्यंजित हो सके जैसा कि कुछ मानववादी कवियों को भ्रम रहा है। इस मनुष्यता के अनन्त सूक्ष्म आयामों और छोटे छोटे बारीक पक्षों को उद्घाटित कर नवकाव्य ने उसे अधिक संवेद्य बनाने की चेष्टा की है, जिससे आदमी की सही और समृद्ध परिभाषा हो सके। मैं समझता हूँ कि नये कृतित्व के मूल में यह एक बहुत महत्वपूर्ण जनतांत्रिक तत्व है। सारांश में कविता की जिस चेतना का प्रादुर्भाव सन् 1939 40 में हुआ था उसने पिछली समस्त मान्यताओं को बदल डाला और एक अभूतपूर्व बौद्धिक नवोन्मेष को जन्म दिया। पूरी की पूरी मर्यादा परिधियाँ प्रतिस्थापित कर दी गयीं। इतनी बड़ी तात्त्विक क्रान्ति हिन्दी कविता में कभी नहीं आयी थी।

मुझे गर्व है कि मैं उस क्रान्ति बिन्दु पर लेखनी लिए उपस्थित था और मुझपर तथा मेरे कुछ थोड़े से सहधर्मियों पर आधुनिकता का वह नया उठता आलोक प्रथम बार पड़ा था। यह गर्व किसी अग्रज, संस्थापक, व्याख्याता या पुरोधा का दम्भ नहीं, उस ऐतिहासिक घटना के समय सौभाग्य से वहाँ 'होने' और 'पात्र' रूप में उस दृश्य को अपने भीतर घटते देखने का है। वास्तव में यह गर्व भावना एक आन्तरिक आनन्द है, कलात्मक तृप्ति की अनिर्वच्य सिहरन, जैसी किसी भी रचनाकार को अपनी सार्थक कृति के पूर्ण होने पर होती है। वह गौरवान्वित होने का सार्वजनिक अहसास भी नहीं है कि मेरे द्वारा कोई अद्वितीय, ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न हुआ वरन् वह एक नितान्त आत्मीय, विविक्त सुख की प्रतीति है। जिस धारा के सूत्रपात से मैं सम्बद्ध था, वह क्रमशः व्यापक होकर अनेक परवर्ती स्वरूपों में विकसित हुई, अभिनव भंगिमाओं को उसने ग्रहण किया, जो प्रारम्भ में नहीं थीं। किन्तु इन परिवर्तनों में मेरे उस अन्तरंग सुख में कहीं कोई कमी नहीं आयी, जैसा अहसास कि अक्सर प्रारम्भकर्ताओं में बाद के विकास को देखकर होता है और कुछेक तथाकथित 'संस्थापकों' को अब भी है। उसकी परिवर्तित समृद्धि से मेरी तृप्ति भी समृद्ध हुई है। इसी कारण उसका प्रत्येक विकास चरण मुझे आत्मीय उपलब्धि लगा है और उसकी प्रत्येक हलचल में मेरे निरन्तर सहभाग की धड़कनें घुली मिली रही हैं। आज पचीस वर्ष बाद उस आत्मीय मौन सुख को सार्वजनिक करने की विवशता इसलिए हुई कि कालान्तर में प्रयोगशील आधुनिकता और नयी कविता के सम्बन्ध में अनेक भ्रमगाथाएँ प्रचलित हो गयी हैं, जिसका निराकरण कालबिन्दु की इस दूरी पर आकर अब सम्भव है। नवकाव्य ने अपना पथ बनाते हुए अनेक आलोचनाओं का उत्तर दिया, अनेक मौलिक प्रश्नों का विश्लेषण किया और बहुत सी शंकाओं का समाधान भी प्रस्तुत किया। किन्तु कितने ही अन्य महत्वपूर्ण प्रश्नों का स्पष्टीकरण अभी शेष है। उन्हीं में इस बात का तथ्यपरक विश्लेषण भी है कि नवकाव्य की धारा कब और कैसे प्रारम्भ हुई, उसके पीछे क्या कारण थे, क्या वह कोई संगठित आन्दोलन था जिसका सूत्रपात किसी कवि विशेष ने किया था, अर्थात् यह कि उसका संस्थापक कौन था, क्या तारसप्तक के सभी कवि या उनमें से एक, प्रयोगशीलता का लक्ष्य क्या था, अन्वेषणों का क्या कोई सैद्धान्तिक आग्रह था, द्वितीय महायुद्ध तथा राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में कवियों की दृष्टि क्या थी, अर्थात् प्रयोगशील कवियों के सामाजिक बोध की क्या दिशा थी, और यह कि प्रयोगशील कविता और नयी कविता का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है। नयी कविता क्या प्रयोगशीलता का ही विकसित चरण है अथवा दोनों अलग धाराएँ विलग काव्य निकाय हैं। इनके साथ ही परम्परावादियों द्वारा भारतीयता और आधुनिक बोध के तारतम्य की शंका भी कितने ही रूपों में उठायी जा चुकी है, जैसे सामाजिक दायित्व की समस्या, परम्परा और प्रयोग की समस्या, मानवीय कल्याण की समस्या, आदि। इन सभी बातों का तथ्यपरक, ईमानदार विश्लेषण आवश्यक है।

पहले मैं नवचेतना के प्रारम्भ बिन्दु को ही लेता हूँ और उसके पार्श्वगत परिदृश्य की कुछ छोटी घटनाओं को भी, जिनके आलोक में उस ऐतिहासिक प्रक्रिया को स्पष्टतर समझा जा सकता है। मैं छायावादी युगचेतना में सम्पूर्ण विच्छेद का बिन्दु सन् 1940 को मानता हूँ। इसका साक्ष्य उस काल के सभी नये कवियों की रचनाओं में है, जिनके विस्तृत परीक्षण से मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ। इसमें उन कवियों का कृतित्व भी सम्मिलित है, जो बाद में तारसप्तक में सम्मिलित हुए और अन्य कवियों का भी। आधुनिकता का प्रथम बोध 1940 के कुछ पहले से ही कवियों में उदित हो चुका था और सन् 1938 39 के कृतित्व में उसकी छाप पड़नी आरंभ हो गई थी। तारसप्तक के प्रकाशन से पाँच वर्ष पूर्व ऐसी रचनाएँ हो रही थीं और सन् 1940 के आसपास के कृतित्व में तो वह आधुनिक स्वर सबल और स्पष्ट होकर सामने आ गया था। इस नूतन मूल्य बोध का ग्रहण दो स्तरों पर हुआ था। नवीन ज्ञान विधि (मार्क्स और फ्रायड) के अध्ययनगत प्रभाव से, युगीन समस्याओं के प्रति आकस्मिक जागरूकता के स्तर पर, और दूसरे, संक्रमणकालीन ऐतिहासिक अनिवार्यता के रूप में। नवोदित कवियों में अधिकतर कवि पहले वर्ग के थे, जिन्हें अपने परिवेश को देखने समझने की नूतन क्रियाविधि मिली थी, जिससे आकर्षित होकर वे नये प्रकार की रचनाओं में प्रवृत्त हुए थे। उनमें आधुनिक बोध का ग्रहण बुद्धि के स्तर पर, एक तात्कालिक दर्शन की उपलब्धि के रूप में हुआ था। प्रचलित आदर्शवाद की तुलना में मार्क्स और फ्रायड के सिद्धान्त कहीं अधिक वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण थे। उनमें एक सर्वथा नवीन चमत्कार था। इन नये कवियों को उनमें जैसे एक नूतन 'जन्त्र' (टूल) मिला था, जिसने अनेक अन्धकारपूर्ण समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया था। वास्तव में वह एक

ज्ञानमय 'समाधान-दृष्टि' अधिक थी, अन्तर्निष्ठ भाव-दृष्टि इतनी नहीं। फलतः वह आस्था के रूप में, कई कवियों में, आगे चलकर अक्षुण्ण न रह सकी। तारसप्तक के कवियों का परवर्ती विकास और आस्था-परिवर्तन इस बात का साक्षी है। इन कवियों में मूल्यगत गहनता और भाव-तन्मयता की कमी होते हुए भी नवोन्मेष के अनुरूप रूपाकार था तथा युगीन विपर्ययों की प्राथमिक व्यंग्य-विडम्बना भी।

दूसरे वर्ग में कुछ थोड़े-से ही कवि थे जिन्हें संक्रान्ति की अनुभूति भावना के स्तर पर हुई थी। उन्हें इतिहास-बोध का तीक्ष्ण साक्षात्कार व्यक्ति-भोग के क्षेत्र में हुआ था। उनमें सांस्कृतिक दाय की समृद्धि चेतना भी थी और अर्वाचीन की आत्मानुभूति भी। इसके साथ ही आधुनिक बोध के अनुरूप अभिव्यक्ति की समस्या गहरे संकट के रूप में उपस्थित हुई थी।

एक तीसरा वर्ग भी इनके अतिरिक्त था, जिन्हें आधुनिकता की सैद्धान्तिक पहचान तो थी किन्तु छायाकालीन संस्कारों से आक्रान्त होने के कारण उनके कृतित्व में उक्त अवबोध का सफल प्रतिबिम्बिन नहीं हो सकता था। नये मूल्यों के प्रति वे प्रबुद्ध थे यद्यपि उसका प्रमाण रचनात्मक स्तर पर न्यून, व्याख्याता के रूप में अधिक था। उनमें सिद्धान्त-समीक्षण की क्षमता थी, सम्पादन की क्षमता थी, संगठन की कुशलता थी, किन्तु इसकी तुलना में उनकी रचनात्मक उपलब्धि उतनी आधुनिक नहीं थी, क्योंकि उनमें भाषा और उपकरण छायाकालीन प्रभावों से मुक्त नहीं हो सके थे और नवानुभूति की आरोपजन्य अपरिपक्वता ही अधिक थी।

मैं पहले कह चुका हूँ कि आधुनिक संवेदना के अनुरूप नयी रचनाओं का आरम्भ ऐतिहासिक अनिवार्यता के कारण हुआ। छायावादी रूपाकार और संवेदना-दृष्टि अनुपयुक्त और अपर्याप्त हो चुकी थी। युग-यथार्थ के समक्ष उसकी कल्पना-प्रधानता और भावुक रोमानवाद एक व्यंग्य प्रतीत होता था। तत्कालीन नये कवि के सामने सार्थक अभिव्यक्ति की बहुत बड़ी समस्याएँ थीं। साहित्यिक पत्रिकाओं में छायावादी कृतित्व की प्रधानता थी और इने-गिने प्रकाशक भी उसी प्रकार की कृतियाँ छापते थे। द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो चुका था। हिन्दी की कोई पुस्तक विना डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट की आज्ञा के नहीं छप सकती थी। उस समय हिन्दी विरोध और विद्रोह की भाषा थी, और उसे कोई सुविधाएँ प्राप्त नहीं थीं। तत्कालीन नये कवि के मार्ग को प्रतिकूल परिस्थितियों ने हर ओर से अवरुद्ध कर रखा था। परिवर्तित भावबोध के अनुरूप न कोई उपकरण थे और न उनकी संकेत-दिशाओं का कोई आभास ही था। भाषा, छन्द, उपमान, प्रतीक, भावभूमियाँ, सभी भस्मीभूत हो चुके थे, यहाँ तक कि काव्यगत संगीत-तत्त्व और तुकान्त तक रूढ़ बन गये थे। नये रचनाकार अपनी-अपनी सामर्थ्य और दृष्टि के अनुसार इस स्थिति से बाहर आने का यत्न कर रहे थे। सन् 1941 तक काफ़ी नया कृतित्व प्रकाश में आ चुका था। रामविलास शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, मुक्तिबोध की नयी रचनाएँ निकल रही थीं। रामविलास के कुछ अतुकान्त सॉनेट और नयी रचनाएँ 'रूपाभ' में निकली थीं, जो बाद में 'तारसप्तक' में भी संकलित हुईं। हिन्दी के लिए सॉनेट की विधा नयी थी, जिसे सर्वप्रथम बालकृष्ण राव ने प्रचलित किया था। उनकी रचनाओं में बौद्धिक अनुभूति द्रष्टव्य थी। केदार के लैण्डस्केप बहुत ताज़े थे। प्रभाकर माचवे की रचनाओं में प्रयोग के स्पष्ट चिह्न थे। 'गा रे हरवाहे' और 'मालव की संध्याएँ' में नूतन प्रगीत-तत्त्व और नवरोमान की प्रवृत्ति सम्मुख आयी थी। माखनलालजी के साप्ताहिक पत्र 'कर्मवीर' में ऐसी नयी रचनाएँ प्रोत्साहित की जाती थीं। मालवा और बुन्देलखण्ड के सुदूर अस्वीकृत क्षेत्र के ये कवि नया भाव-बोध लेकर आये थे। यह एकमात्र रोचक संयोग ही है कि 'तारसप्तक' के सात में से पाँच कवि इसी क्षेत्र से सम्बद्ध थे। सन् 1939 में नरोत्तम नागर के सम्पादन में 'उच्छृंखल' नामक पत्रिका का प्रकाशन हुआ था, जो तीव्र अस्वीकार, आत्यन्तिक विच्छेद और व्यापक मूर्ति-भंजन का आरम्भिक मंच बन रहा था। आज अ-कविता की प्रवृत्ति में जिस नये विच्छेद की सूचना मिल रही है, सत्ताईस वर्ष पहले परम्परावाद की दृष्टि में 'उच्छृंखल' उसमें कहीं अधिक बड़ा और नया आघात सिद्ध हुआ था। रूढ़ि से विद्रोह एवं विच्छेद के व्यापक 'मूड' का वह एक प्रमाण ही था। मैं 1939-40 तक कितने ही प्रयोग कर अपना स्पष्ट मार्ग निर्धारित कर चुका था। अप्रैल, 1941 में मेरा पहला संग्रह 'मंजीर' प्रकाशित हो चुका था और आधुनिक बोध के अनुरूप मैं नगरीय संवेदना, नवरोमान, इतिहास की सांस्कृतिक दृष्टि तथा भाषा, छन्द, विम्ब और ध्वनि-विधान के नवीन रूपाकार की प्रस्तावना अपनी रचनाओं में कर चुका था। जुलाई, 1941 में मैंने अंग्रेज़ी में एक लम्बा लेख लिखा था, जिसमें 'नयी हिन्दी कविता का प्रयोग-विधान' का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया था। 'नये हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद' शीर्षक से मेरी तीन वार्ताएँ दिल्ली रेडियो से सन् 1942-43 में प्रसारित हुई थीं, जिन्हें उन्हीं दिनों नगेन्द्र जी ने देखा था और 'तारसप्तक' के सम्पादक से भी इनकी चर्चाएँ हुई थीं।

स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति के नये मार्गों की सुनिश्चित खोज का यह क्रम सभी कवियों में अलग-अलग ढंग से आया था। अतः वह किसी विचार-विनिमय से बैठकर तय किया हुआ संगठित आन्दोलन नहीं था, जिसका कोई एक कवि या विचारक सम्पादक होता। अन्वेषणों में किसी प्रकार की कोई प्रतिबद्धता नहीं थी, उनकी परिधि में नयी सामाजिक दृष्टि, व्यक्तिगत आत्मानुभूति और सांस्कृतिक भावभूमि तीनों प्रकार के तत्त्व सम्मिलित थे। तारसप्तक के संकलनकर्ता ने स्वयं ही भूमिका में यह स्वीकार किया था कि कवियों का कोई गुट नहीं है और किसी दल-विशेष का वह कृतित्व नहीं है। नयी प्रवृत्ति की उपलब्ध और परिचर्चित सामग्री को तारसप्तक में मात्र संकलित किया गया था, फलतः तारसप्तक किसी एक कवि या उसके 'सम्पादक' द्वारा प्रस्तावित प्रयोगवादिता का समारम्भ नहीं था क्योंकि नवकाव्य उसके कई वर्ष पूर्व आरम्भ हो चुका था। बाद में प्रगतिशील आलोचकों ने 'रूपवाद' का जो लांछन इस

प्रवृत्ति पर लगाया था, वह तारसप्तक के सम्पादक की स्थिति संकलनकर्ता के रूप में और सात में से एक कवि के रूप में भिन्न न देखने के भ्रम से ही हुआ था। प्रकाशचन्द्र गुप्त की स्थापना के बावजूद कि 'तारसप्तक' में नूतन सांस्कृतिक स्वर प्रबल है, समस्त नयी प्रवृत्ति को प्रयोगवाद का अनुचित नाम देने की त्रुटि कुछ प्रगतिवादी साम्प्रदायिक आलोचकों ने की थी जिन्होंने संकलन कर्म को नेतृत्व समझ लिया था। उन्होंने शुद्ध रचनात्मक उपलब्धि में निष्पक्ष तुलनात्मक दृष्टि से यह नहीं देखा कि 'सम्पादक' से अधिक परिपक्व और भिन्न प्रकार का अभिनव कृतित्व तारसप्तक में है, और यह भी कि अच्छे सम्पादक, संकलनकर्ता या व्याख्याता काव्य धाराओं का नेतृत्व नहीं करते, रचनात्मक श्रेष्ठता को ही वह श्रेय प्राप्त हो सकता है। नवकाव्य के कई अध्येता अक्सर उसकी पूर्व पीठिका को भी भूल जाते हैं अर्थात् सन् 1937 से सन् 1943 तक के विकास का, और इसी प्रकार सन् 1944 से सन् 1951 तक की सामग्री का भी अध्ययन नहीं किया जाता। यदि इन दोनों चरणों का अध्ययन किया जाए तो तारसप्तक में संकलित कवियों की पहले और बाद की तुलनात्मक स्थिति, प्रवृत्ति और उपलब्धि का सहज ही ज्ञान हो सकेगा। साथ ही तारसप्तक से बाहर की सामग्री का भी समुचित मूल्यांकन किया जा सकेगा। इस अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि बहुत समय तक तारसप्तक के सम्पादक की साहित्यिक स्थिति 'शेखर : एक जीवनी' के विख्यात लेखक के रूप में ही अधिक थी, अर्थात् एक समर्थ कथाकार, गद्य शैलीकार और 'सैनिक', 'विशाल भारत' एवं 'प्रतीक' के अनुभवी सम्पादक के रूप में। सन् 1935 से सन् 1951 तक मुख्यत: कथा और गद्य के क्षेत्र से सम्बद्ध रहे, तदनन्तर काव्य के क्षेत्र से। सन् 1946 तक लिखी उनकी समस्त काव्य रचनाएँ 'इत्यलम्' में संगृहीत हुई थीं, जिसकी अधिकांश कविताओं में छायावादी संस्कार थे, यद्यपि तब तक उनके सात श्रेष्ठ कथा एवं आलोचना ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे, जिनमें वे प्रतिभावान आधुनिक गद्यकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए थे। जो रचनात्मक प्रतिभा मूलत: जिस ढंग की होती है वह अपनी सर्वांग अभिव्यक्ति का उपयुक्त माध्यम स्वत: चुन लेती है। यही कारण है कि प्रतिभा की स्वाभाविक और अकुंठित अभिव्यक्ति के लिए विधागत एकनिष्ठता अनिवार्य होती है। और यद्यपि तारसप्तक तथा उसके बाद के कुछ लेखकों ने भी अन्य विधाओं का उपयोग किया, जैसे मुक्तिबोध ने या दूसरी पीढ़ी में अत्यन्त सफलतापूर्वक धर्मवीर भारती ने, किन्तु वे प्रथमत: कवि ही थे, कथाकार या आलोचक नहीं। प्रगतिवादी आलोचकों और अन्य छायावादी समीक्षकों ने एक और भूल की थी। उन्होंने नवोन्मेष के आन्तरिक स्वरूप और उसकी ऐतिहासिक गति को नहीं समझा था। वस्तुत: हिन्दी साहित्य में प्रयोगशीलता के साथ 'आधुनिकता' का समारम्भ हुआ था और पिछले पचीस वर्ष के काव्य विकास को इसी रूप में समझा जाना उचित है। उसे 'प्रयोगवाद' और 'नयी कविता' के कृत्रिम वर्गों में देखना असंगत है। आधुनिकता की प्रक्रिया का प्रथम उन्मेष सन् 1940 से सन् 1952 तक मानना चाहिए और द्वितीय चरण सन् 1953 से अब तक। मेरी दृष्टि में प्रथम उन्मेष के प्रधान तत्त्व थे परिवेश के प्रति गहरी जागरूकता, सामाजिक यथार्थ की चेतना, इतिहास का तीक्ष्ण बोध, भाव जगत् में सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं की पहचान, युद्धगत संक्रान्ति की मानवीय संवेदना, अन्तर्राष्ट्रीय उन्मुखता, (6) नवरोमान और परिवर्तित मूल्यों की टकराहट। दूसरे चरण में निकटतम सत्यों की संवेदना, आत्म विश्लेषण एवं आत्म निवेदन, संक्रान्ति की विडम्बनाओं का अहसास, व्यंग्य और विपर्यय, मूल्यगत विकृति की तीव्र चेतना, आत्महीनता, बौद्धिक अनास्था प्रमुख स्वर हैं। मैं समझता हूँ कि दूसरे चरण को नयी कविता के नाम से अभिहित करने के बदले उसे आधुनिकता की विभिन्न प्रवृत्तियों के रूप में ही देखना अधिक संगत है।

आधुनिकता के उदय के साथ हिन्दी में पहली बार शुद्ध काव्य प्रतिष्ठित हुआ। छायावादी धारा तक हमारा अधिकांश काव्य संस्कृति के धार्मिक पक्ष से आच्छादित था। सन्त साहित्य, भक्ति साहित्य और रीति काव्य से लेकर अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के कृतित्व का मुख्य आलम्बन 'धर्म' रहा या धार्मिक आद्य प्रतीक रहे। यह प्रभाव आध्यात्मिक अभिवृत्ति और भावुक दार्शनिकता के रूप में छायावाद पर भी रहा। इस धर्मनिष्ठ एवं मध्ययुगीन वृत्ति का प्रथम बार नूतन काव्यधारा ने उन्मूलन किया और धार्मिक तथा आधिभौतिक पर्पेटियों को काटकर कविता को उसका वास्तविक धरातीत (सेक्युलर) स्वरूप प्रदान किया। इसके साथ ही कविता में अप्रतिबद्ध सामाजिकता की दृष्टि का उदय भी हुआ, जो नूतन भारतीय विकास पथ के समानान्तर ही है।

नवकाव्य में क्रमश: चार अत आधुनिकता के कई पक्ष हैं। पहला महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रणय का है, जो सेक्स सम्बन्धी नयी नैतिकता के सन्दर्भ में विकसित हुआ है। इसमें प्रणय की सूक्ष्म विवृत्तियों की मुक्त, अकुंठित व्यंजनाएँ हैं और इसी परिप्रेक्ष्य में सौन्दर्य की अभिनव भूमिकाओं का उद्घाटन भी हुआ। नारी अब विलास की वस्तु या सजावट की सामग्री नहीं है। वह मात्र शारीरिक सुख का माध्यम भी नहीं है, वरन् अन्तर प्रेरणाओं का स्रोत भी है। वह रोमान में आधिकारिक रूप से समभागी है, समान आनन्द की अधिकारिणी है। दृष्टि के इस परिवर्तन से प्रणय की काव्यगत अभिव्यक्ति में अब वह पहले जैसी भावुकता नहीं रही और कल्पनाजन्य रहस्योद्घाटन भी नहीं है। प्रणय के सम्बन्ध में छायावादी परिवृत्त के कवियों की भाँति नया कवि झिझक या कैशोर ऊहापोह का अनुभव नहीं करता और न ग्लानि के भाव का। पिछले कवि नर नारी के कोमल, अन्तरंग प्रेमालापों को बहुत छिपाकर दूर स्थित, वायवी संकेतों से व्यक्त किया करते थे, मानो कोई अपराध कर रहे हों। नये कवि में यह अपराध भावना बिलकुल नहीं है। उसने अधिक आत्मस्थ, परिपक्व एवं मुक्त रूप से प्रणय के आस्वाद को व्यक्त किया है। कितने ही रम्य, मार्मिक तथा चित्रमय प्रसंग इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किये गये हैं और प्रणय की गूढ़, आन्तरिक स्थितियों में प्रवेश किया गया है। बाह्य परिवेशीय वर्णनों के स्थान पर अछूते बिम्बों द्वारा अनेक प्रतीकार्थ व्यंजित हुए हैं। फैंटेसी शिल्प का उपयोग कर प्रणय की अन्तर्मुख, अमूर्त प्रतिक्रियाओं को भी सफलता से व्यक्त

किया गया है। इधर सन् 1960 के बाद प्रणय के सम्बन्ध में एक अन्य दृष्टिकोण भी सामने आ रहा है, जिसमें रोमांस के रंगीन, कोमल और अन्तर्निष्ठ पक्ष के स्थान पर उसे व्यंग्य और विडम्बना के माध्यम से ग्रहण किया गया है। प्रणय को गम्भीर एवं जटिल विषय के रूप में न लेकर उसे एक प्रक्रिया के स्तर पर ही स्वीकार किया जा रहा है, अर्थात् मात्र देह-धर्म, मनोरंजक व्यवधान, क्षणिक तृप्ति या सामान्य घटना के रूप में। ऊपर से देखने पर लगता है कि यह सन्तुलनहीन, अनर्गल प्रलाप है, जिसमें कवि जैसे प्रणय की अगम्भीर व्याकृति प्रस्तुत कर रहा है, उसकी छिछोरी खिल्ली उड़ा रहा है। ऐसे प्राथमिक प्रयत्नों में कई बार सुरुचि के अतिक्रमण से फूहड़पन और अशिष्टता का प्रदर्शन भी हुआ है, जो चिन्त्य भी है और त्याज्य भी। जीवन में यदि गन्दगी, घृणास्पद स्थिति, विकृति या अश्लीलता है और सेक्स यदि सम्पन्न वर्गों एवं नव-धनाढ्यों के निकट कामुकता का ही पर्याय है तो उसकी अभिव्यक्ति अश्लील-दृष्टि (Filthy attitude) से नहीं हो सकती, जैसा कि कुछ विक्षुब्ध एवं विद्रोही पीढ़ी के नाम पर देखने में आया है। वैज्ञानिक विवेकशीलता और वस्तु-सत्ता के सूक्ष्म बोध के कारण भावना की अतिरिक्त एवं अनावश्यक आविलता को काट फेंकना उसी सीमा तक उचित है जब तक काव्य की सारगत तात्त्विकता भंग नहीं होती और उसकी अनिवार्य गुणवत्ता अक्षुण्ण रहती है, शैली और भंगिमा चाहे कितनी ही नयी क्यों न हो। अनुभूति को अतिरंजना और आरोपित विह्वलता से अलग करके उसे सहज, निस्संग, तर्कातीत स्तर पर ग्रहण करना सर्वथा उचित है किन्तु काव्य के मूल सत्त्व को ही समाप्त कर देना उचित प्रतीत नहीं होता। प्रणय या सेक्स को यदि पूर्ण रूप से उघाड़कर नंगा कर दिया जाए तो जीवन के एक अत्यन्त प्रेरक तत्त्व की सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं को ही हम भोथरा बना देंगे। इसका अर्थ यह होगा कि हम विस्मय और आदिम जिज्ञासा को जीवन के एक बहुत बड़े महत्त्वपूर्ण क्षेत्र से निर्वासित कर रहे हैं। ऐसी स्थिति मानवीय व्यक्तित्व के लिए घातक सिद्ध हो सकती है क्योंकि मौलिक आकर्षणों की परिसमाप्ति आदमी के प्रेरक स्रोतों को ही बाँझ बना देगी। अत: यह समस्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विस्तृत विचार के योग्य है। ऐसे ही अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी हैं जो 'स्वीकृत-कविता' से 'अस्वीकृत-कविता' (या अ-कविता) के प्रत्यावर्तन में आवश्यक रूप से विचारणीय हैं। हमें यह देखना है कि सेक्स तथा अन्य शेषप्राय विघटित मूल्यों के प्रति यह निर्मम व्यंग्य की दृष्टि क्यों उत्पन्न हुई और उसके पीछे कौन-सी नयी सांस्कृतिक शक्तियाँ क्रियाशील हैं। इसके लिए हमें विश्व-क्षितिज पर विशेष रूप से यन्त्र-सभ्यता वाले देशों की स्थिति पर दृष्टि डालनी होगी।

वैज्ञानिक युग की असाधारण प्राविधीय गति और यन्त्र-सत्ता के नूतन 'स्थूल-विराट' (Macrocosms) के समक्ष मनुष्य अत्यन्त नगण्य बनकर रह गया है। इस नव-विराट की प्रचण्ड शक्ति-सत्ता है, अपरिमित वेग है और एक बार परिचालित कर उसके सुदूर व्यापक प्रभाव-क्रम को वश में रख सकना मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर है। अब तक अन्धकार और प्रकाश कलुषित और उज्ज्वल जीवन-आस्थाओं के प्रतीक माने जाते थे। आज परमाणु-शक्ति की विकिरित गामा-रश्मियों ने 'प्रकाश' को एक मारक-प्रतीक बना दिया है। 'अन्धकार' आज सृष्टि का गुण है, किन्तु वह सृष्टि नहीं जिसके रम्य रूप की कल्पनाएँ पहले की जाती थीं। अब वह भयावह शून्य है जहाँ आदमी भारहीन, अस्तित्वहीन है और जटिल यन्त्रों पर निर्भर स्वयं एक अक्रिय पुर्ज़ा मात्र है। मशीन की इस महदाकार बाह्य सत्ता ने मनुष्य के अस्तित्व को ही ख़तरे में डाल दिया है क्योंकि आज समाज का संस्थागत विकास, राज्य, व्यवस्था-केन्द्र, कार्यालय, बाज़ार, मनोरंजन के साधन सभी 'यन्त्र' की व्यापक अभिव्यक्ति हैं। इस स्थिति ने आदमी में अकेलेपन और निर्वासन के एक नूतन अहसास को जन्म दिया है जिसका समाधान अभी किसी दिशा में भी दिखायी नहीं देता। यन्त्र-विराट उत्पन्न होकर परिपूर्ण रूप से स्थापित हो चुका है, यह रहेगा इसीलिए असंपृक्ति और अस्तित्व का अकेलापन भी नहीं मिटेगा। जैसे आदमी ने कोई पिशाच सिद्ध किया हो जिसका उपयोग वह करता है, साथ ही निरन्तर भयत्रस्त भी रहता है, क्योंकि वह 'शक्ति' उसकी समस्त दैहिक क्षमताओं से 'बाहर' की वस्तु है।

उक्त परिस्थिति की प्रतिक्रिया पश्चिम तथा अन्य औद्योगिक समाजों में दो-तीन स्तरों पर हुई है। पहली प्रतिक्रिया में आदमी की निरर्थकता का अहसास है, दूसरी स्थिति के मूल में तीव्र भय और त्रास की भावना है, और तीसरी परिणति बर्बर भोगवाद में हुई है। निरर्थकता की प्रतीति से ही अस्तित्वहीनता, खोखलापन, अकेलेपन की विवशता, मूल्यगत ढाँचे की निस्सारता और मिथ्या प्रमाणित होकर विकृत हो जाने का बोध उत्पन्न हुआ है। दूसरी ओर भय और त्रास की भावना ने आत्म-क्षोभ, नपुंसक आक्रोश, बन्ध्या खीझ, दिशाहीन अकुलाहाट, ऊब और झुँझलाहट आदि को जन्म दिया है। मनुष्य अपने सन्दर्भों से त्रस्त है और इस त्रास को समझ पाने के लिए वह अभिव्यक्ति के नये-नये माध्यमों की उद्भावना करता है, जो शीघ्र ही पुराने और बासी पड़ जाते हैं तथा कोई स्थायी समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाते। ठोस संगीत (कंक्रीट म्यूज़िक), ठोस कविता (कंक्रीट पोएट्री) और अ-नाटक (एन्टी-थियेटर) आदि इसी ओर संकेत करते हैं। उक्त भय और त्रास का प्रमाण अन्य बहुत-सी बातों से भी मिलता है, जैसे निरन्तर मानसिक तनाव, उद्विग्नता, भाग-दौड़, यात्राएँ अर्थात् अपने परिवेश से किसी अन्य परिवेश में हट जाने का क्रम, ट्रेंक्विलाइज़र्स, आधुनिकी रोग, संकुलित, भीड़ों भरे जीवन की मानसिक समस्याएँ, संहार-तट का बोध, विनष्ट होने की यथार्थ आशंका, आत्महनन और सामूहिक आत्म-हत्या की सम्भावना आदि। अपने ज्ञान और परीक्षण-विधि की 'एम्पिरिकल' अनास्था के परिदर्श में आदमी परास्त अनुभव करता है। वर्तमान और भविष्य की इस क्रमिक हत्या के सन्ताप में ऐसी कोई आस्था नहीं है जो आदमी को थोड़ा-सा भी आश्वासन दे सके। देवता भ्रष्ट हो चुके हैं, चमत्कार और वरदान के प्रताप आज अर्थरहित हैं, 'परित्राण' का कोई उपाय नहीं.

आदर्शों के माध्यम से पलायन के रास्ते लुप्त हो चुके हैं और ईश्वर की मृत्यु हो गयी है। आस्थाओं की स्वीकृत धुरियाँ पहले ही टूट चुकी थीं। उनके स्थान पर ऐसा कोई दृष्टिकोण उत्पन्न नहीं हुआ जो यन्त्र-जनित बाह्य वैभव को कोई आकर्षक, स्थायी अर्थ दे सकता। धर्म : अतीत का फोका उच्छिष्ट है। परिवार : वह लुप्तप्राय है, क्योंकि अन्तरंग और सार्वजनिक की सीमा रेखाएँ भंग हो गयी हैं, 'व्यक्तिगत' अर्थात् विशिष्ट और 'निर्वैयक्तिक' अर्थात् सामान्य में कोई भेद नहीं रह गया है। दाम्पत्य जीवन : वह दो तलाकों के बीच का व्यवधान है। प्यार : गर्भनिरोधक गोलियों की छत्रछाया में समाधानहीन बोरियत का क्षणिक रेचन। ईश्वर : एक अविश्वसनीय कल्पना, जिसके अस्तित्व की प्रत्येक सम्भावना ही ज्ञान के सूक्ष्म-जटिल आलोक में क्रमशः मिटती चली गयी है। मानवता : एक समान रुचि, विन्यास, आचार और जीवन-स्तर वाली भीड़ है, जिसका आकृतिहीन नाम मानवता है। इस व्यक्तित्वहीनता ने मानवता के अर्थ को दूरान्वित कर उसे एक अमूर्त प्रत्यय बना दिया है। समाज-कल्याण : वह दानी संस्थाओं द्वारा धमादे से चलाया जानेवाला कार्य, जिसे अवैतनिक धनाढ्य करते हैं या पेंशनयाफ्ता लोग और अधेड़ औरतें। राजनीति : विभिन्न दलों की निरन्तर चलने वाली म्यूज़िकल चेयर्स-रेस या चुनावों के समय प्रचारित किये जाने वाले लगभग एक-से घोषणा-पत्र, जिनकी सिर्फ़ शब्दावली भिन्न होती है। शान्ति : गर्म युद्ध से शीत युद्ध का रूपान्तर। और भविष्य : अनिश्चित वर्तमान की समाप्तिहीन नियति, मात्र मुद्राओं का आंशिक, अनाश्वस्त परिवर्तन। इस प्रकार दूसरी स्थिति भय और मूल्यहीनता की है।

यन्त्र सत्ता की तीसरी परिणति अपार साधन सम्पन्नता में हुई है। दो शतियों के प्राविधिक विकास द्वारा कल्पनातीत सामग्री सम्पदा की विपुलता, शक्तिमत्ता, अनन्त सुख-सुविधा, अवकाशमयता आदि की चमत्कारी उपलब्धि हुई है। नवमुक्त समाजों में भी यन्त्र सत्ता की यह प्रक्रिया तेज़ी से चल पड़ी है। शताब्दियों की खाई वर्षों में पाटी जा रही हैं और यद्यपि भूख, रोग तथा निर्धनता की परिसमाप्ति अभी काफ़ी दूर है किन्तु इन अभावों की पूर्ति दिशा स्पष्ट और निश्चित है। वह दिशा यन्त्र साधन के विकास की है। प्राकृतिक शक्तियों और प्रकोपों पर उत्तरोत्तर अभूतपूर्व नियन्त्रण होता जा रहा है। सार्वजनिक स्वास्थ्य की व्यापक योजनाओं द्वारा अनेक रोगों का अन्त किया जा चुका है। मनुष्य की आयु में वृद्धि हुई है। लौकिक अभाव समाप्तप्राय है। किन्तु उपर्युक्त विकास के समानान्तर नयी वैज्ञानिक संस्कृति के किसी सर्वांगीण दर्शन ने जन्म नहीं लिया, उस समृद्ध 'आकार' की कोई आन्तरिक धुरी नहीं बन सकी है। उपयोग और उपभोग के अतिरिक्त अन्य कोई मूल्यवत्ता उसकी नहीं है। शक्तिमत्ता, ओजस्विता, सम्पदा और अवकाश की कोई प्रेरक दिशा नहीं है, अतः तीसरी परिणति विवेकहीनता की परिणति है। उसका रूप विनाशक एवं ध्वंसकारी है, परिणामतः वह युद्ध, विश्व प्रभुत्व, अर्थ साम्राज्य, विस्तारवाद, आक्रामक नीति, राजनयिक सम्प्रदायवाद, यूथवादी उन्माद से लेकर मानसिक असन्तुलन, उत्तेजना, सनक, प्रदर्शनकारिता और चीज़ों को खण्डित करने की प्रवृत्ति में अभिव्यक्त होता है। सेक्स परिक्रान्ति, पैंटी रेड, समूह सहवास, नंगे कामुकतापूर्ण पीप शो, यौन फिल्में, कामोत्तेजक पत्रिकाएँ-पोस्टर-पुस्तकें, टॉप-लेस स्पोर्ट्स, मद्य-सेवन, दैहिक थ्रिल के असामान्य तरीके, बीटनिकों की चिक्कारती रचनाएँ, बीटिल्स का उन्माद संगीत तथा श्रोताओं में उससे उत्पन्न होने वाला 'मास-हिस्टीरिया', फ्री सेक्स के प्रयोग, अवैध सम्बन्धों की अनुभूति के विवरण, रंगमंचों और नाटिकाओं में मात्र सम्भोग छोड़कर समस्त रति क्रियाओं के सार्वजनिक प्रदर्शन, स्वैपिंग, अनूढ़ा गमन (निस्फेट्स) और विवाह पूर्व के सेक्स अनुभवों की दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई प्रवृत्ति व्यापक भोगवाद को प्रमाणित करती है। यन्त्र सभ्यता का यह वाम साधना जैसा विकारग्रस्त परिणाम है, जिसमें आज का आदमी कितने ही उन्नत समाजों में नव बर्बर बन गया है। सभ्यता की आत्यन्तिक उन्नति एक निचले स्तर पर आकर देह भोग की प्रतिक्रिया में भी बदली है, जहाँ से उसने मनुष्य की निम्न पशु-वृत्तियों को उकसाया है। अतः इस बिन्दु पर आकर युद्ध, संहार वृत्ति और भोगवाद एक ही प्रेरक क्रिया के विभिन्न रूपान्तर हो जाते हैं क्योंकि इन तीनों का स्रोत एक ही है।

यन्त्र शक्ति की परिणति भविष्य में क्या होगी यह कहना कठिन है। उसकी एक सम्भावना यह हो सकती है कि इस समस्त 'शक्ति' को भय, यातना और संहार के सन्दर्भों से हटाकर समूची अन्तरिक्ष विजय तथा अन्तर्नक्षत्रीय सभ्यताओं की खोज के लिए उन्मुख कर दिया जाय। प्रयत्न आरम्भ हो चुके हैं किन्तु उनके आधे चेहरे पर युद्ध और घृणा की काली छाया भी निरंतर बैठी हुई है। हिरोशिमा की राख अभी आदमी के अपराध ग्रस्त चेहरे से उतरी नहीं है। भविष्य अब भी आशंकामय है क्योंकि एक ओर युद्धोन्माद का एक नया ड्रेगन फिर फन पसार रहा है और दूसरी ओर व्यवस्थाएँ सर्वज्ञता एवं परमता की पराकाष्ठा तक पहुँचती हो जा रही हैं।

पिछले दो दशकों ने उपर्युक्त वस्तुस्थिति को जन्म दिया है जो बड़े वेग से स्पष्ट होकर भारतीय लेखक के सामने भी आयी है। इन दो दशकों में देश को स्वतन्त्रता भी प्राप्त हुई और उद्योगीकरण तथा नगरीकरण की प्रक्रिया भी तीव्र गति से अग्रसर हुई है। यह आकस्मिक संयोग ही नहीं है किन्तु एक बड़ा सांस्कृतिक सत्य है कि बौद्धिक रेनेसां का प्रत्येक उन्नयन तथा रूढ़ि से विद्रोह 'टेकनॉलोजी' के परिवर्तन के सन्दर्भ में ही जन्म लेता रहा है। संस्कृति की यथावत् अवस्थाएँ 'उदारवाद' को जन्म देती हैं जबकि प्राविधिक संक्रमण 'क्रान्तियों' को। वस्तुतः रेनेसाँ अर्द्ध विकास से विकास की प्रक्रिया है। एक ओर परिवेश, व्यापक सांस्कृतिक परिस्थिति और नव बोध का यह रूप है, दूसरी ओर सन् १९६० तक आते आते 'नयी कविता' में एक नये प्रकार की रूढ़ि तथा 'पैटर्न' स्थिर हो गया। छायावाद की ही तरह फिर तमाम शब्द, उपमान, बिम्ब, भंगिमा, शैली और कथ्य की एक परिपाटी चल पड़ी, जिसकी संगति यथार्थ सत्ता से क्रमशः कम होती चली गयी है। अन्तर्कथ्य और आत्मानुभूति के निवेदन की ओट में पीड़ा, दार्शनिकता, सूफ़ियाना अन्दाज़, लाक्षणिक विरोधाभास, अप्रस्तुत विधान, अमूर्तन और सूक्ति-प्रवचनों के एक नव छायावाद ने जन्म लिया, जिसके

अधिकतर कवियों ने अन्तर्जगत् की विवृत्तियों के अंकन के नाम पर बहि:सत्ता से आँखे मूँद लीं। आन्तरिक अर्थवत्ता और बौद्धिक अनुभूति की सिद्धान्तवादिता के बहाने अयथार्थ जटिलताओं और आरोपित पीड़ाओं को कवि एक ही तरह से व्यक्त करने लगे, क्योंकि व्यक्त करने के लिए कुछ मौलिक नहीं था। नयी कविता के रूढ़िबद्ध होकर एक 'पैटर्न' में बँध जाने की स्थिति पर मैंने पाँच वर्ष पूर्व (1960-61) की संकलन पत्रिका 'नयी कविता' (प्रयाग) में स्पष्ट विवेचन किया था और लिखा था कि ये सारी रचनाएँ एक दूसरे की कार्बन कापी प्रतीत होती हैं और लगता है जैसे ये सैकड़ों रचनाएँ एक ही कवि की लिखी हुई हों। अनुकरण पुनरावृत्ति को जन्म देता है और पुनरावृत्ति परिपाटीबद्धता एवं डिकेडेन्स को। इस कारण यह कहना अनुचित नहीं था कि नयी कविता सन्दर्भ से कटकर निस्तेज हो रही है। स्पष्ट था कि इस स्थिति से प्रतिक्रिया अनिवार्य रूप से होती और इसका संकेत भी मैंने 'नयी कविता' में प्रकाशित उक्त लेख में किया था कि आदमी को सहज, ईमानदार अर्थात् यथार्थ स्तर पर ग्रहण करना होगा, विज्ञानयुगीन लॉजीकल, अनासक्त दृष्टि से उसे देखना होगा, अर्थात् कवि को पुन: अपने 'सन्दर्भ' में अकृत्रिम ढंग से आना होगा। शीघ्र ही वह आवर्तन सम्मुख आया और कविता स्वीकृत परिपाटी से अस्वीकृत दिशा की ओर अग्रसर हुई। अत: 'अस्वीकृत कविता' या अ-कविता नवकाव्य के तीसरे विकास चरण का प्रारम्भ है, जिसमें वर्तमान वस्तु-बोध की दायित्वपूर्ण अभिव्यक्ति की सम्भावना है, 'अन्तर्सत्यों' के कल्पना जालों में 'नयी कविता' की एक प्रवृत्ति जैसा पलायन नहीं। नवकाव्य को चेष्टापूर्ण जटिल अनुभूतियों के आरोप, निरीह याचना, सधुक्कड़ी करुणा, दार्शनिक या पौराणिक प्रतीकों द्वारा गरिमाभास, बौद्धिकता के छूछे प्रयास, सूक्ति और वक्तव्य, जैन बुद्धिज्म आदि दूरस्थ दर्शनों की पुट द्वारा लाये गये नव-अध्यात्मवाद एवं कृत्रिम गम्भीरता के घटाटोपों से उबारना आवश्यक था। आज का बोध मानवीय संस्कृति की ऐतिहासिक विडम्बना का सहज, निर्मम तर्कातीत बोध है, जिसके 'रिशनेलाइज़ेशन' की आवश्यकता नहीं, कल्पना या बुद्धि द्वारा बाह्य आशय की भाँति जिसे अलग से ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं, जिसमें किसी दूसरे प्रकार के आकर्षक अतीत की मोह स्मृति नहीं, इसलिए जिसमें रोमानी विद्रोह भी नहीं है, बल्कि 'स्थिति' जहाँ स्वयं ही अनुभूति है, जो भोक्ता से पृथक् नहीं है। यह नूतनतम चेतना बाह्य और अन्तर्सत्ता में कोई कृत्रिम विभाजन स्वीकार नहीं करती, अपनी अभिव्यक्ति के लिए उसे किन्हीं अन्य आलम्बनों, उपकरणों, प्रयोग साधनों या प्रस्तुत विधान की आवश्यकता नहीं होती, वह वास्तविकता की 'प्रतीति' नहीं, स्वयं वास्तविकता का अनावृत साक्षात्कार करती है। वह प्रत्यक्ष को स्वीकारती है, 'अभीप्ट' को नहीं और वह अनुभव-खण्डों का आरोपित अर्थ लादकर कोई दार्शनिक निष्कर्ष नहीं निकालना चाहती। उसकी सहज अभिधा ही प्रमाणपूर्ण व्यंजना है क्योंकि उसकी अमिश्र अनुभूति स्वत: ही व्यंग्यार्थ से उपजती है। 'अस्वीकृत' दिशा की यह प्रवृत्ति निकटतम और वृहत्तर परिदर्शों को इसीलिए एकसाथ व्यक्त करने की सम्भावित दिशा है। आरम्भिक चरण में होने के कारण तथा दृष्टिकोण की अस्पष्टता से ऐसी कितनी ही रचनाओं में भोंडापन या असन्तुलन कहीं कहीं आना सम्भव है किन्तु यह उसकी मूल भंगिमा नहीं है। उसे चेष्टापूर्वक दूर करना होगा। नये अनुभवों की श्लील एवं अश्लील मर्यादाओं को स्थिर करना होगा क्योंकि चौंकाने वाली फूहड़ता, अशिष्टता, प्रकृत, दैहिक क्रियाओं की यान्त्रिक व्याख्या अथवा यौन क्षेत्र का वीभत्स, कुरुचिपूर्ण, नंगा विवरण न तो अ-रोमानी सिद्धांतवादिता (एण्टी-रोमांटिक स्टैण्ड) है, न किसी काव्यगत नये आयाम का अनावरण ही है। नव्यता के नाम पर विकृति स्वीकार नहीं की जा सकती। विदेशों के कई व्यावसायिक क्षेत्रों द्वारा इस प्रकार की कामुक रचनाएँ वर्षों से की जाती रही हैं, जिनका उद्देश्य केवल निम्न दैहिक उत्तेजनाओं को भड़काकर अपने माल की खपत करना ही होता है। 'अस्वीकृत' दिशा की रचनाओं को एक ओर विकृति तथा दूसरी ओर घृणित अश्लीलता से नितान्त अलग रखना होगा। किन्तु वस्तु सत्ता की तीक्ष्ण, प्रत्यक्ष अनुभूति 'घटिया' नहीं होती, बल्कि वह दृष्टिकोण जर्जर एवं घटिया होता है जो दायित्वहीन 'दर्द' के कंकाल को उठाये फिरता है, जो अन्त:सत्यों के नव छायावादी दावे करता है और जो यथार्थ वर्तमान के विज्ञान युग में धूप की गौरैयों और बाल-सुलभ गुड्डे-गुड़ियों की बचकानी मानवीयता का खोखला स्वांग भरता ही जाता है, और वह दृष्टिकोण भी सत्त्वहीन है जो अपने सन्दर्भों को नहीं पहचानता तथा अपने परिवेश से कटे रहकर 'काफ़्का' और 'कामू' की अनुकरणजन्य रचनाएँ नवीनता के नाम पर करता है। अस्वीकृत दिशा की कविता में विपर्यय का बोध, मानवीय भविष्य की आशंका, त्रासपूर्ण स्थितियाँ, यन्त्रयुग की यातनाएँ और अकेलापन, विडम्बना की अभिव्यक्ति, विकृत परिस्थिति का व्यंग्य और आसन्न संहार की भयावह चेतना यदि है तो वह क्षुब्ध पीढ़ी या बीटनिकों की विवश चीत्कार या नपुंसक खिजलाहट नहीं है बल्कि अपने परिवेश में मूल्यों के खोखलेपन, दृष्टियों के व्यापक विक्षेप एवं अनभागी स्थितियों की तटस्थता के कारण है। उसके मूल में हैं हमारे सामयिक जीवन में विचार और कर्म की अटूट खाइयाँ, दोहरे चेहरे का आडम्बर, अनिष्ठा, चरित्रहीनता, सार्वजनिक और अन्तरंग जीवन निष्कर्षों का घोर अन्तर, विकृत परिस्थितियाँ आदि जिन्होंने वस्तु-सत्य के प्रति एक नये व्यंग्य बोध को जन्म दिया है। वर्तमान जीवन इतना जटिल हो चुका है और प्रत्येक 'समाधान' के यत्न से इतनी भारी और नयी समस्याएँ खड़ी होती गयी हैं कि आदमी थकित और विस्मित है। वह अपनी नियति के सम्बन्ध में अनाश्वस्त है। अपने हाथों की हुई अपनी ही 'रचना' के उलझाव में वह 'सिनिकल' होकर स्वयं अपने ऊपर या तो व्यंग्य ही कर सकता है अथवा स्थिति की पराकाष्ठा के कारण उदासीन होकर केवल हँस सकता है। विश्व संदर्भ में आदमी के अस्तित्व का यह संकट 'विज्ञानवादी' अस्वीकृत दिशा की कविता का प्रमुख कथ्य है जो उसे वृहत्तर अर्थवत्ता प्रदान करता है।

आधुनिकता के प्रयोगशील चरण में तीक्ष्ण इतिहास बोध की अभिव्यक्ति मानवीय व्यक्तित्व के विघटन एवं सन्ताप द्वारा हुई थी जिसमें मुक्तिबोध का योगदान अत्यन्त मूल्यवान है। मुक्तिबोध की बाद की कविताओं में आदमी का सन्ताप, त्रास और युग की

विडम्बना इतने सशक्त और विराट् रूप में अभिव्यक्त हुई है कि उनका कृतित्व नयी धारा की बहुत बड़ी उपलब्धि माना जाना चाहिए। प्रभाकर माचवे में आधुनिकता की पीठिका काफी विस्तृत थी, अभिव्यंजना में भौथरापन होते हुए भी उनमें ताजगी एवं विविधता थी और उनकी मुख्य दिशा सामाजिक विरोधाभास की थी। भारतभूषण अग्रवाल में यह बोध सामाजिक व्यंग्य के स्तर पर आया था, जिसका प्रमाण उनकी रचना 'अपने कवि से' (तारसप्तक) से लेकर बाद की रचनाओं, जैसे 'अनुपस्थिति लोग', 'विदेह' आदि तक में मिलता है। इस बोध को वह गम्भीर तथा अगम्भीर के मिश्रण द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। नेमिचन्द जैन में आधुनिक व्यक्ति-मन की रिक्तता और उदासी की अभिव्यक्ति थी। रामविलास शर्मा की प्रवृत्ति बहिर्मुखी थी। उनके ग्राम-चित्रों तथा लैण्डस्केपों में नयी रम्यता थी, प्रकृति के समृद्ध चित्र थे, साथ ही सामाजिक-प्रतिबद्धता भी। अज्ञेय में स्वीकृत सामाजिक या नैतिक मान्यताओं से विद्रोह, दमित कामनाओं का अंतर्द्वन्द्व और व्यक्तिगत मानसिक पीड़न का स्वर था। उनके कथ्य की पीठिका इसी कारण बहुत विस्तृत नहीं है। उनकी भाषा और अभिव्यंजना में छायावादी संस्कार थे, यद्यपि उनमें नूतन अन्तर्निष्ठ दृष्टि थी, जो आगे चलकर अधिक गहन और परिष्कृत हुई जब वह अच्छे कवि के रूप में 'हरी घास पर क्षण-भर' (1952) के साथ आये। अपने कृतित्व के सम्बन्ध में मुझे कुछ नहीं कहना है क्योंकि उसका मूल्यांकन दूसरों के हाथ है। केवल इतना ही कि रंगमयी अभिव्यक्ति से लेकर अति-आधुनिकता तक मुझे किसी एक ही रूपाकार से सन्तोष नहीं हो सका। मुझे प्रगीतात्मकता, इतिहास की मुक्तिकामी दृष्टि, टेकनोलोजी-युगीन आधुनिकता में मूल्यहीनता की समस्या एवं विडम्बना, और काल-देश (Time-space) के सन्दर्भ में मानवीय नियति की भविष्यकल्पना समान रूप से प्रिय हैं।

'तारसप्तक' की अधिकांश कविताओं का रचना-काल 1938-42 के बीच का है। इसी समय के आसपास कवि और लेखकों पर मार्क्सवाद का व्यापक प्रभाव पड़ा था। मार्क्स के साथ ही फ्रायड के मनोविज्ञान द्वारा मानसिक उलझनों एवं समस्याओं के विश्लेषण की नयी पद्धति प्राप्त हुई थी। मार्क्स ने आदमी के आर्थिक-सामाजिक न्याय की दिशा दिखाकर इतिहास की गुत्थियों का एक नूतन समाधान प्रस्तुत किया था। उस समय की कविताओं में इसी कारण सामाजिक दृष्टि और व्यक्तिगत मनोभावों की अभिव्यक्ति एक साथ मिलकर आयी थी। तब तक प्रगतिवाद का कोई अलग 'खेमा' नहीं बना था। प्रयोगधर्मी सामाजिकता नैतिक मूल्य के स्तर पर स्वीकार की गयी थी। 'तारसप्तक' के अधिकांश कवियों में और उससे बाहर केदारनाथ अग्रवाल तथा बाद में रांगेय राघव एवं त्रिलोचन शास्त्री की रचनाओं में इसी का प्रमाण था। केदार में भाषा और बिम्बों की ताज़गी थी और गहरी सामाजिक संवेदना। यह स्थिति 1949-50 तक चलती रही। वस्तुत: मार्क्स और फ्रायड ने जीवन और जगत तथा मनोभावों को समझने की एक प्रणाली ही (एप्रोच) दी थी। किन्तु प्राकृतिक या मानवी सौन्दर्य और प्रेम-शृंगार के प्रति रागात्मक दृष्टि तथा आत्मान्वेषण की प्रवृत्ति मूलत: भारतीय ही रही। अनेक आलोचक प्रयोगशील और प्रगतिशील कविता के अन्तर को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताते रहे हैं। 'वाद' के रूप में भले ही वह अलग हों। लेकिन असलियत में देखा जाय तो यह दोनों एक-दूसरे की पूरक प्रवृत्तियाँ हैं – एक आत्मान्वेषण की, दूसरी विश्वान्वेषण की। भारतीय सार्वभौमिक दृष्टि से दोनों ही मनुष्य के जीवन में समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

आधुनिक प्रवृत्ति के दूसरे उन्मेष (1952-60) में वर्तमान पीढ़ी का ऐतिहासिक सन्ताप तथा विघटित मूल्यों के सन्दर्भ में व्यापक सांस्कृतिक संक्रमण का प्रखर स्वर धर्मवीर भारती के कृतित्व में है, जो 'पराजित पीढ़ी के गीत' से लेकर 'अन्धा युग', 'कनुप्रिया', 'सृष्टि का आखिरी आदमी' और 'सम्पाति' एक उत्तरोत्तर समृद्ध हुआ है। भारती में अन्त:सत्य और वस्तु-सत्ता का ऐसा कलात्मक सामंजस्य है जो दूसरे चरण के कृतिकारों से अलग पीठिका पर प्रतिष्ठित कर देता है। 'अन्धा युग' निस्सन्देह आधुनिक काव्यधारा की एक उत्कृष्ट उपलब्धि है। रघुवीर सहाय तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा में क्रमश: विसंगति और जीवन की विकृति परिस्थितियों का तत्त्व स्पष्टतर होकर अभिव्यक्त हुआ था। लक्ष्मीकान्त की रचनाओं में संश्लिष्ट एवं एकीकृत सामंजस्य की कमी होते हुए भी आधुनिकता के उपकरण दूसरे चरण के अनेक कवियों से अधिक हैं। रघुवीर सहाय के कृतित्व में वर्तमान की गहरी विडम्बना (ऑयरनी) है। उनकी अभिव्यंजना एवं प्रेक्ष्यकोण मौलिक है। कुँवर नारायण की रचनाओं में एक शीतल असंपृक्ति का तत्त्व है, जो वस्तुओं एवं प्रक्रियाओं की संवेदना को विचार, बुद्धि तथा तर्क के माध्यम से आत्मसात् (कम्प्रीहेण्ड) करने के कारण उत्पन्न होता है। इतिहास के न्यायरहित सन्दर्भ में व्यक्ति की यातना उनका प्रमुख कथ्य है, यद्यपि नचिकेता के माध्यम से वस्तुपरक तथा आत्मपरक दृष्टिकोण के द्वन्द्व की जो समस्या 'आत्मजयी' में उन्होंने उठायी है वह उक्त रूप में आधुनिक समस्या नहीं है। इस चरण के नवरोमानी कवियों में शमशेर में रोमानी सूक्ष्मता, विधागत नव्यता उनका सर्वाधिक उल्लेखनीय तत्त्व है। उनकी रचनाओं में अमूर्त संवेदनाएँ परिकल्पना के बारीक मार्मिक रंगों में डूबकर व्यक्त होती हैं। इसीलिए उनका कथ्य सूक्ष्म-सूत्री एवं वायवी रह जाता है। अन्य उल्लेखनीय नवरोमानी कवि हैं – नरेश मेहता, अजितकुमार, हरिनारायण व्यास, वीरेन्द्रकुमार जैन, शम्भूनाथ सिंह, जगदीश गुप्त, सर्वेश्वर, दुष्यन्तकुमार, अशोक वाजपेयी और केदारनाथ सिंह। इनका विशिष्ट कवि-व्यक्तित्व है। नरेश मेहता ने आरम्भ मे उपनिषद्कालीन शब्द-प्रतीकों की भूमि पर गीतात्मकता के नए प्रयोग किए थे। बीच की कुछ रचनाओं में इतिहास की समाजोन्मुख प्रक्रिया ताज़ी बिम्बात्मकता के साथ व्यक्त हुई थी, किन्तु यह शक्ति बहुत दिन टिक नहीं सकी। उनकी बाद की रचनाओं में जीवन के प्रति परिव्राजकों की सी उदासीनता या वैष्णवी करुणा जैसा आत्मनिवेदन प्रस्तुत हुआ है।

अजितकुमार ने आरम्भ में कविता को रूमानियत की अतिरिक्त कृत्रिम मधुरता से काटकर यानी 'डी-रोमेन्टेसाइज़' करके जीवन की वास्तविकता से मुठभेड़ करने का मौलिक यत्न किया था। किन्तु उनकी प्रकृति एवं आन्तरिक दृष्टि मृदु या 'नाजुक' (Tender) है, इसी कारण उनकी भावभूमियों और उपकरणों में 'मासूम' सा वातावरण रहता है। उनकी अभिव्यक्ति में इसीलिए एक 'निग्रह', शालीन संकोच या स्वल्पोक्ति (Under Statement) है, उत्तप्त भाव नहीं। अत: कविता अभिमत विश्लेषण (Comment) तक पहुँचकर रुक जाती है, जीवन का प्रखर आलोचन (Criticism) नहीं बन पाती। समीक्षा के लिए तो यह सन्तुलन उपादेय हो सकता है किन्तु कविता में इससे आगे मझधार में कूद जाने की शायद ज्यादा ज़रूरत होती है।

हरिनारायण व्यास का कृतित्व मात्रा में अल्पकाय है कि उसमें धरती की गंध और प्रगीतमयी ऊष्मा पर्याप्त है।

वीरेन्द्रकुमार जैन की प्रवृत्ति सदा से रूमानी रही है। उनकी प्रतिभा पर छायाकालीन सौन्दर्य और रहस्यवादिता और बाद में नयी प्रयोगशीलता का मिश्रित प्रभाव है। वास्तविता को वह रूमानी आच्छायाओं की दूरियों के 'माध्यम' से ही देखते हैं। उनमें अनुभव-खण्डों की मार्मिक पकड़ है किन्तु उनके अर्थों की प्रगाढ़ता पर रहस्यत्मकता, अध्यात्म और 'दर्शन' का आरोप जब आ जाता है, उसी अनुपात में काव्य-तत्व कम या कथ्य चेष्टापूर्ण हो जाता है।

शम्भूनाथ सिंह ने प्रगीत और मुक्त छन्द दोनों ही शैलियों में लिखा है किन्तु गीत-विधा में ही वह अधिक सफल रहे हैं। वही उनकी प्रकृत भावभूमि है, 'नयी कविता' नहीं। प्रगीत के क्षेत्र में उन्होंने नूतन बिम्ब योजना का समावेश किया है।

जगदीश गुप्त की कविता में अमूर्त कल्पनाओं का अभिव्यक्ति ही प्रमुख है। प्रकृति एवं परिवेश की दृश्यावलियों (Landscapes) और स्थितियों को वे हल्के रंगों वाले संक्षिप्त शब्दचित्रों में व्यक्त करते हैं जैसे कोई लघुपीठिका पर 'मोन्ताज' हो या 'स्टिल' पेन्ट कर रहे हों। उनकी कविताएँ कल्पनागम्य अधिक हैं इसीलिए वे वर्ड्सवर्थ (Wordswarth) के Emotions Recollected in Tranquility अर्थात् 'शान्त, तापहीन अवस्था में दृश्यों, के (भावावेगों के नहीं) पुन:स्मरण' की याद दिलाते हैं। वे कवि से अधिक अच्छे आलोचक हैं और उससे भी अधिक अच्छे चित्रकार।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की रचनाओं में व्यक्तिगत विरोधी स्थितियों एवं जीवन की करुणा तथा विडम्बना प्रमुख रूप से मिलती है। उनमें व्यक्तिगत त्रासपूर्ण स्थितियों की मुहावरेदार अभिव्यक्ति है। उनकी बाद की – परिवेशोन्मुख कविताओं में आदमी का परास्त, टूटा हुआ असहाय स्वर ही व्यक्त हुआ है, जो वर्णन के स्तर पर अधिक है, सहभागी स्तर पर कम।

दुश्यंतकुमार वर्तमान जीवन की समस्याओं और आदमी के सामाजिक संघर्ष के प्रति सजग हैं। उन्होंने परम्परागत चरित-प्रतीकों का नए सन्दर्भ में उपयोग भी किया है किन्तु कुल मिलाकर उनकी अपनी मौलिक शैली या कथ्य का विकास नहीं हो सका।

अशोक वाजपेयी में मुहावरे और भंगिमा की ताज़गी है, सामाजिक प्रक्रिया की पहिचान है तथा प्रणय रोमान्स की नयी भावभूमियाँ अन्वेषित करने का उन्होंने यत्न किया है। केदारनाथ सिंह की रचनाओं में नयी कविता की अन्तर्मुखी संवेदना भी है और नया मुहावरा भी। उनकी भाषा, बिम्ब योजना और व्यंजना में आकर्षक रम्यता है। वस्तुत: यह दोनों कवि नयी कविता और आधुनिक-बोध के संधिबिन्दु के कवि हैं।

इतिहास की प्रक्रिया के सन्दर्भ में आदमी की विडम्बना की गहरी पकड़ विजयदेवनारायण साही की रचनाओं में मिलती है, जो उन्हें नयी कविता के समर्थ कवियों की पंक्ति में बिठाती है। सामाजिक व्यंग्य की दृष्टि से भवानी प्रसाद मिश्र और नागार्जुन के नाम उल्लेखनीय हैं। भवानी प्रसाद मिश्र ने बोलचाल की मुहावरेदार भाषा को काव्यात्मक रूप देने का मौलिक प्रयास किया है। नागार्जुन का यथार्थपरक व्यंग्य अत्यन्त सशक्त है। आधुनिकी धारा में महिलाओं का योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। कवयित्रियों में प्रमुख हैं शकुन्त माथुर, शान्ता सिन्हा, कीर्ति चौधरी, रमासिंह, कान्ता और इन्दु जैन। आधुनिक युग की विद्रूपमयता, नगरीय परिवेश का खोखलापन और अर्थहीनता के प्रति विक्षोभ का स्वर कैलाश वाजपेयी में है। उनकी अभिव्यंजना तथा भंगिमा की तीक्ष्णता द्रष्टव्य है। श्रीकांत वर्मा में स्वीकृत मूल्यों की विकृति और आज के उपभोगी जीवन से उदित निस्सारता की प्रतिक्रिया आक्रोश के माध्यम से व्यक्त हुई है। वर्तमान मनुष्य की हास्यास्पद स्थिति को उन्होंने अपनी कतिपय रचनाओं में प्रवाहपूर्ण अभिव्यक्ति दी है। राजकमल चौधरी प्रतीकात्मक उपकरणों द्वारा वास्तविक जीवन की अनेक कुत्सित स्थितियों, मनोवृत्तियों और व्यापारों का विपर्ययग्रस्त चित्र अंकित करते हैं। संवेदनाओं की पीठिका काफी विस्तृत है, किन्तु प्रतीक-प्रधान बिम्बवादी शैली अभिव्यंजना को जटिल बना देती है। आधुनिक युग की विकृति, बेचैनी तथा टूटे हुए आदमी की ट्रेजेडी बहुत तीव्रता से उनमें व्यक्त हुई हैं, जिसे वे वीभत्सता, जुगुप्सा और 'हॉरर' के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

वस्तुत: आक्रोशी प्रवृत्ति के कवियों पर आकर नयी कविता की धारा से एक नये विच्छेद की सूचना प्राप्त होने लगती है। यद्यपि हमारी यह धारणा है कि आक्रोश या विक्षोभ की प्रतिक्रिया मूलत: रोमानी होती है, किन्तु अमूर्त अन्त:सत्यों की कल्पनागम्य खोज

के स्थान पर आदमी के नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक सम्बन्धों की खोज एक नये अध्याय का सूत्रपात अवश्य ही है। इसी बिन्दु से 'अस्वीकृति दिशा' की रचनाएँ आरम्भ हुई हैं। यह अस्वीकृत एक ओर स्त्री-पुरुष के दैहिक सम्बन्ध, आपसी अन्तरंग आचरण और सेक्स-सम्बन्धी नैतिक मूल्य के खोखलेपन पर आक्रमण के रूप में आयी है, जिसमें यौन-शब्दावली द्वारा नग्नता भी प्रदर्शित हुई है। दूसरी ओर सम्राजिक-राजनीतिक विकृतियों और सार्वजनिक जीवन में व्याप्त पाखंड, बेईमानी, मुखौटे भ्रष्ट आचरण का पर्दाफाश करते हुए तीखे व्यंग्य के रूप में प्रकट हुआ है। दोनों ही में 'व्यवस्था' के वर्तमान रूप से असहमति एवं विरोध रहा है। दोनों ही में बेझिझक बात कहने का खुलापन है। लेकिन पहली प्रवृत्ति में एक निषेध है, दूसरी में नैतिक, सामाजिक प्रतिबद्धता है। व्यवस्था की विकृतियों या विरोधाभासों से पीड़ित आदमी के त्रास को वाणी देती इन रचनाओं को मैं सामाजिक या नवप्रगतिशील कविता कहना उचित समझता हूँ। आधुनिक काव्य-धारा के तृतीय उन्मेष का प्रमाण 1960 से 1965 के बीच की रचनाओं में प्राप्त होता है। 1963 में प्रकाशित 'प्रारम्भ' नामक कविता-संकलन, जिसमें चौदह युवा-कवियों की रचनाएँ हैं, ताज़ा कविता, अतिकविता से लेकर 'अकविता' (संकलन पत्रिका : 1965) और 'स्टेटस-को' (व्यवस्था) विरोधी 'आक्रोशी कविता' में तक इसी संक्रमण का परिचय मिलता है। प्रस्तुत प्रवृत्ति की सम्भावना की दृष्टि से सक्षम एवं जागरूक कवि हैं – राजीव सक्सेना, रमेशकुंतल मेघ, दूधनाथ सिंह, जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार, सौमित्र मोहन, चन्द्रकान्त देवताले, गंगाप्रसाद विमल। मेरा अनुमान है कि कालान्तर में इनमें से कुछ अपना उचित स्थान बना सकेंगे।

प्रचलित कलामानों तथा भाव-प्रणालियों से विमुख होकर अस्वीकृत मार्गों पर अग्रसर होने वाली हर नूतन सर्जनात्मक चेतना निश्चय ही काव्य के प्रसार और उसकी भावी समृद्धि का कारण बनती है। बौद्धिक नवोन्मेष की यह प्रक्रिया अन्वेषी आधुनिकता से आरम्भ होकर मानवीय मूल्यों के जटिल स्तरों को छूती हुई एक और नये प्रत्यावर्त्तन पर पहुँची है, जहाँ से आगे विस्तृत परिधि है। अब वह विज्ञान, प्राविधि, निर्मम यन्त्रमयता, व्यवस्थाओं की 'परमता' और नई सामाजिकता तथा अन्तरिक्ष-युग के रोमांचक, रहस्यमय विराट के साथ आदमी की स्थिति की व्याख्या करना चाहती है, उसकी संगति बिठाना चाहती है। वह किसी आत्मपरक 'ईश्वर-दर्शन' की धारा नहीं, भविष्य के वस्तुप्रधान 'मानव-दर्शन' की दिशा है। वह वैज्ञानिक मन्वन्तरों और महापुरुषों के बोध की कलागत अभिव्यक्ति है। दृष्टि और रुचियों की प्रत्येक संक्रान्ति अपने से पिछली मान्यताओं को अस्वीकार कर आगे बढ़ती है। विद्रोह और प्रतिख्यान ही पीढ़ियों को विभक्त करता है तथा भावी के ऐतिहासिक 'नूतन' को समीप लाता है। यह धारणा कि नयी पीढ़ी ध्वस्त करके सब-कुछ बिगाड़ रही है, पुराने संयुक्त परिवारों में प्रचलित मध्ययुगीन मनोवृत्ति जैसा अवशेष है। किन्तु पीढ़ियों की यह खाई कभी नहीं पटती और इतिहास की आँधी अपनी धूल में उन सभी प्रतिमानों एवं व्यक्तित्वों को डुबाती चली जाती है जो अभिनव चेतना के साथ न चल सकने की असमर्थता के कारण आसन-च्युत होकर केवल विवेकहीन विरोध करने लगते हैं। अत: आज की अत्यन्त गतिशील स्थिति में आधुनिक इसी तथ्य पर निर्भर करती है कि प्रत्येक नवचेता कृतिकार में वर्तमान के निकटतम तथा बृहत्तर नैरन्तर्य की अन्तर्दृष्टि, आदमी की सामजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक मुक्ति की आकांक्षा एवं विकृति के प्रति असहमति कितनी है तथा मानवीय नियति के सन्दर्भ में वह भविष्य के रूपाकारों की किस मात्रा में पूर्वाभिव्यंजना कर सका है।

(नयी कविता: सीमाएँ और संभावनाएँ से)

21. मानव-मूल्यों के सन्दर्भ में लघु-मानव की कल्पना

-लक्ष्मीकांत वर्मा

पिछले कई वर्षों से जिस एक बात पर अधिकांश साहित्यिक एवं विचारक नाराज रहे हैं वह 'लघु-मानव' सम्बन्धी उठाये गये विचार-सूत्र हैं जिन्हें मैंने अपनी पुस्तक 'नयी कविता के प्रतिमान' में महज कुछ मानवीय यथार्थ को समझने के लिए प्रयुक्त किया थे। विचार-स्वातन्त्र्य में मेरा उतना ही विश्वास है जितना किसी भी व्यक्ति का ईश्वर में हो सकता है। अन्तर केवल इतना है कि विचार-स्वातन्त्र्य को मैं आत्मविवेक और मानव-सद्भावना से उपजी हुई स्थिति मानता हूँ, जबकि ईश्वर के प्रति विश्वास एक प्रकार के अन्धविश्वास से प्रारम्भ होकर निरन्तर अन्धविश्वासों की परतों की ओर सरकते जाने की प्रक्रिया है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि स्वानुभूति की स्थिति कभी नितान्त व्यापक हो सकती है, फिर भी आज जिस दुनिया में हम रह रहे हैं उसमें यदि कोई वस्तु हमारे जीवन का आधार-सूत्र हो सकती है तो वह आत्म-अनुभूति द्वारा प्राप्त सत्य है। इसलिए मैं अन्धविश्वासी नहीं हो पाता। अन्धविश्वासी जब मैं नहीं हूँ, तो फिर मेरे अन्दर विश्वास हो सकता है, पूर्वग्रह नहीं। यही कारण है कि कभी-कभी मेरे मन में आता है कि यदि 'लघु-मानव' को लेकर विचार-शृंखला में इतने पूर्वग्रह पनप आये कि सत्यान्वेषण की प्रक्रिया ही कुण्ठित हो जाये, अथवा कुछ लोगों की सारी शक्ति केवल लघु-मानव को उखाड़ने में लग जाये और मैं अपनी सारी शक्ति लगाकर उसे प्रतिष्ठित करने में तन्मय हो जाऊँ, अथवा यह कि लोगों को सत्य दिखे नहीं वरन् दिखाया जाये, तो मैं समझता हूँ कि ऐसे विचार-सूत्रों को वापस ले लेना चाहिए और कह देना चाहिए कि – ओ श्रमण-संस्कार में विश्वास करने वाले भिक्षुओं, तुमने तो बोधिसत्व की हत्या उसी दिन कर दी जिस दिन तुम कर्मकाण्ड में बाधा और विवेक के स्थान पर संहिताओं में विश्वास करने लगे। तुम भूल गये कि सत्य का साक्ष्य आत्मानुभूति से किया जा सकता है, केवल संहिता रचकर गतिशीलता को अस्वीकार करके किसी भी नये सत्य को नहीं पाया जा सकता। केवल उसे जूठन रूप में ही स्वीकारा जा सकता है। यदि तुमने उस आत्मानुभूति में ठहराव पैदा कर दिया है तो पहली हत्या तुमने वहीं कर दी। अब तुम लाख संघ या विहार बनाओ, मूल गतिशील आत्म-दृष्टि के वाहक तुम नहीं हो सकते, भले ही चीवर पहनकर मृत धर्म-संस्कार के बल पर तुम लाख वर्ष तक जीने का उपक्रम करो। तेली के बैल की तरह भले ही एक वृत्त में घूमकर तुम अपने को विश्व-यात्री और विश्ववादी कहो, सत्य तो यह है कि तुम्हारे चरण यात्रा की नयी लीक की ओर बढ़ ही नहीं सकते। तुम केवल ठहराव में ही जीवित रह सकते हो।.....

लेकिन दूसरे ही क्षण मुझे ऐसा लगता है कि मेरी बात नितान्त सीमित नहीं है। कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो 'लघु-मानव' के तत्त्व-सत्य को सही दृष्टिबोध के साथ देखना चाहते हैं। 'लघु-मानव' की कल्पना, 1948 से लेकर 1956 के बीच जो हिन्दी के कुछ नये एवं तरुण लेखकों का सहचिन्तन था, उसकी उपलब्धि थी। 'लघु-मानव' एक संज्ञा थी जिसे समस्त व्यापक मानव-आत्मा का 'लघुतम' आत्मबोध कहा जा सकता है। वह एक सौन्दर्यात्मक दृष्टि से लिया गया। मानव-सत्य के रूप में हमें मिला था जिसमें एक ओर प्रगतिवाद का खोखला समाजवादी यथार्थ अपना शोर मचा रहा था, और दूसरी ओर 'स्वर्णकलश', 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णज्वाल' के ताने-बाने में नपुंसक महामानव अवतरित किया जा रहा था। हमारी जिज्ञासा थी कि इसमें हम कहाँ हैं, हमारा अस्तित्व कहाँ है, व्यक्ति कहाँ है, व्यक्ति की अनुभूति कहाँ है, आत्मदृष्टि कहाँ है और उस आत्मदृष्टि के लिए क्या यह आवश्यक है कि वह भीड़ के साथ चले, कर्मकाण्ड के साथ चले, आचार-रुढ़ियों के जन्मे। स्वयं मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता था कि जीवन की सापेक्षता में और कला तथा साहित्य के क्षेत्र में यह उपलब्ध नितान्त वैयक्तिक 'सत्य' सत्य है। हो सकता है 'आकारवादी', 'भीड़वादी', 'चमत्कारवादी', 'अध्यात्मवादी' दृष्टि से हमें स्वर्ग मिल जाये लेकिन क्या वह स्वर्ग हमारा निज का अनुभूत स्वर्ग हो सकेगा? जब हमने उस क्षण को भोगा नहीं, उसकी मर्मान्तक पीड़ा को झेला नहीं, उसके दायित्व को स्वीकारा नहीं, आत्म-विवेक और आत्म-दर्शन से हमने उसे पहचाना नहीं, तो फिर वह हमारा सत्य कैसे हुआ, हमारी उपलब्धि कैसे हुई, हमारी यात्रा कहाँ हुई? सौंदर्य की दृष्टि से कला की दृष्टि से, विचार विवेक की दृष्टि से उस अनुभूति में 'अद्वितीय' गुण, नितान्त सटीक (एक्ज़ैक्ट) अनुभूति-प्रकार, अक्षुण्ण स्वत्व के मर्म को हम इस भीड़ द्वारा कैसे ग्रहण कर सकते हैं? यदि उस भीड़ में हमें बराबर यह आशंका बनी रहे तो हमारी अनुभूति जूठन हो सकती है, अपनी निजी नहीं हो सकती। इसलिए उस निजी की लघु-से-लघु संवेदना पृथक भले ही हो, उस भीड़ की संवेदना नहीं है। जो भीड़ की संवेदना नहीं है, विवेक और आत्म-साक्षात्कार पर आधारित संवेदना है, वह चाहे जितनी नगण्य हो, चाहे जितनी अवहेलना के योग्य हो, उस समूहवाद से अधिक मूल्यवान है जो केवल यन्त्र-द्वारा हमारी इन्द्रियों को चालित करके अपना मन्तव्य तो सिद्ध कर लेता है, किन्तु जो उस भीड़ की हर इकाई का खोखला, रिक्त, ठूंठ बनाकर छोड़ देता है।

दूसरी बात यह है कि विचारधारा के अकर्मण्य चिन्तन को खण्डित करने में 'लघु-मानव' की संवेदना से हमें सहायता मिलती है जो यह मानती है कि मानव-अस्तित्व ही एक 'पाप' या 'सिन' से विकसित हुआ है और मानव मात्र एक अभिशप्त कीट है। यद्यपि आज की स्थिति में इस विचार को वह भी खण्डित करता है जो 'भीड़वादी' है और वह भी खण्डित करता है जो 'अध्यात्मवादी' है, लेकिन एक का मानव-स्वाभिमान 'कम्यून' की सीमा में है और दूसरे का 'सनातन सूर्योदयी' के प्रलाप में। एक का वाहक भौतिक

नियतिवाद है तो दूसरे का नैसर्गिक चमत्कार। एक अतिशासित वर्गवाद है तो दूसरा मां भगवती के सिंह की दुम से टंगा है। लेकिन इन दो में से एक के भी पास वह वैज्ञानिक माप नहीं है जिससे वह यह जान सके कि 'वह' कहाँ है! इन दोनों के लिए दूसरे सोचते हैं या सोच चुके हैं। वे स्वयं नहीं सोचते। वह सोचे गए दूसरों द्वारा उपलब्ध हुए पथ पर चलने वाले व्यक्ति हैं, वे मनुष्य के जीवन को उसके सम्पूर्ण सन्दर्भ को केवल एक आत्महीन तन्त्र के रूप में देखते हैं और ऐसे नपुंसक नायक को जन्म देते हैं जो 'लोकायतन' के नाम पर दरिद्र, अपाहिज और दवा बेचने वाले की तरह लटके गाता है, बोलता है, और हर क्षण यह जानता है कि वह जो कुछ बक रहा है उसकी सार्थकता कहीं नहीं है, क्योंकि वह न तो अपनी भाषा बोल पाता है और न उसकी अर्थवत्ता को भोग पाता है। वह प्रतीक रूप में समस्त मानवीय ठहराव की पहचान होता है, मानवीय चेतना और बोध का तत्त्व या 'एसेन्स' नहीं होता। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने बड़े सजग शब्दों में आकाश से न जाने कितने ज्योति पुरुष इस धरती पर उतारे और न जाने कितनी बार उन्होंने 'भू-जन' और 'जन-भू' की उत्पत्ति की, लेकिन 'उतरो हे ज्योति-चरण' की सम्पूर्ण संवेदना एक उधार खाते की ही रही, ज्योति धरती पर आकाश से उतारने की प्रक्रिया तो हर आदिम समाज का भयत्रस्त व्यक्ति करता रहा है यदि हमें इसी आदिम भय, आदिम हर्ष-उल्लास के भोंडेपन का समर्थन करना है तब तो अलग बात है, लेकिन यदि हमें अपने अस्तित्व-बोध की सार्थकता को स्वीकार करते हुए एक व्यापक, गहरे और साथ-ही-साथ जीवन की सार्थकता को दायित्व के साथ अभिव्यक्ति देना है तब यह आवश्यक हो जाता है कि हम यदि कर्दमवासी, कुण्ठित, गलित भी हों तो उसी की सापेक्षता में उसके यथार्थ को व्यक्त करें। यदि मैं कर्दमवासी हूँ या नये भावबोध के लाग कर्दमवासी हैं, तो वह उसे स्वीकार करके चलते हैं। यह स्वीकृति स्वयं में मूल्यवान् है, और इस स्वीकृति से उद्भूत जो भी विचारतत्त्व विकसित होगा वह भी यथार्थवादी होगा और अधिक सार्थक होगा। महानील के आलोक की झिलमिली छाया में रहने वाले लोग क्यों कुण्ठित नहीं हैं इसका प्रमाण यदि मांगा जाये तो इन कवियों या विचारकों से कुछ भी नहीं बन पड़ेगा। यदि देखा जाये तो अपने-अपने वृत्त में यह महानील की छायाभास में रेंगने वाले किंकर्तव्यविमूढ़ की स्थिति में ज्योति-मंजूषा पर पागल पतंगों से टूटने वाले लोग ही कुण्ठित हैं; क्योंकि यह जिस कुहास के वातावरण में मखमली खोल ओढ़कर अपने भीतर नर्म गुदगुदाहट पैदा करते हैं वह कृत्रिम है क्योंकि वह स्वारोपित है, मतिभ्रम है, गलत और अनर्गल है।

समस्या का निर्धारण ही यह लोग गलत कर देते हैं। लघु-मानव के सन्दर्भ में लघु को लकर उड़ जाते हैं और अपने-अपने दिमाग की सीमा बांध देते हैं। वह यह भूल जाते हैं कि यह लघुता लघुतम का 'पोटेंशल' है, हीनता का नहीं, क्योंकि यह युग बिना इस लघुतम की 'पोटेंशल' की सार्थकता के आगे बढ़ नहीं सकता। आज जीवन के विकास और उसके विनाश में इसी लघुतम का महत्त्व है – चाहे वह आणविक विस्फोट के रूप में हो, चाहे उस इकाई के रूप में हो, अपनी स्वतंत्रता के लिए आज भी संघर्षशील है। यह संघर्ष ही इस बात का द्योतक है कि यह लघुता वह अंश है जो हर विनाश के बाद भी बचा रहता है, हर झंझावात के बाद भी नि:शेष रहता है और हर रिक्तता के बाद भी क्रियाशील होकर पुनर्निर्माण में लग जाता हैं महान या भू-मानव या नभ-मानव या स्वर्ण-मानव का भी शेष है इसमें क्योंकि वह बिना इस लघुता के पनप नहीं सकता, विकसित नहीं हो सकता और यदि सड़ना चाहे, विकृत होना चाहे तो उसका भी विकल्प नहीं कर सकता। फिर इस लघुता से चिढ़ क्यों है? क्या यह लघुता उन महानायकों में नहीं है जो हर महत्ता के बाद आत्महत्या करते हैं – चाहे वह राम हों, युधिष्ठिर हों, कृष्ण हों, या परशुराम हों या हिटलर, स्तालिन में से कोई हो। वस्तुत: इन महामानवों को आत्म-हत्या करनी ही इसलिए पड़ती है कि लघुता के पोटेंशल का विरोध करते-करते निरर्थकता तक पहुँच जाते हैं। जीवन का नि:शेष तत्त्व यही 'पोटेंशल' है। महत्ता के स्वप्न में या महामानवों के सन्दर्भ में प्राय: हम इस लघुता को महत्त्व नहीं देते और इसीलिए हम अपनी चिन्तन-प्रक्रिया में और आचरण में भी केवल अपने को झुठलाते हैं, अपने अस्तित्व और अपने जीवन के प्रति एक दुराग्रह करते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि लघु-मानव की कल्पना में महामानव की सापेक्षता या उसकी प्रतिक्रिया नहीं है, लेकिन यदि उसे प्रतिक्रिया जबर्दस्ती मान भी लिया जाये तो भी मेरा अपना विचार यह है कि उसके अर्थ-सन्दर्भ में यदि महामानव का मूल्यांकन किया जाये तो महामानवों के प्रस्तुत सन्दर्भ में भी उससे कुछ अच्छे अर्थ निकल सकते हैं। उनका उचित मूल्यांकन किया जा सकता है। न जाने कहाँ से लोगों ने इस 'लघु' का अर्थ आत्महत्या की परम्परा से जोड़ दिया है। यद्यपि मैंने अपने किसी भी लेख में कहीं भी इस अर्थ में लघु-मानव की कल्पना की व्याख्या नहीं की है। मैंने तो केवल एक चेतन, जागरूक शक्ति-सम्पन्न, इकाई के रूप में ही उसे प्रस्तुत किया है। मैं समझता हूँ, असंगति लोगों को वहाँ लगती है जहाँ मैं यह स्वीकार करता हूँ कि, हम जिस भी स्थिति में हों उसे बिना पूर्णतया भोगे अपने और जीवन के प्रति निष्ठावान नहीं हो सकते। आकाश-मानव या स्वर्ण-मानव या भू-मानव की कल्पना में जीने वाला, ऊर्ध्व चेतना की दुहाई देकर तुरंत पलायन करता है और जो कुछ भी क्षण का यथार्थ है उसे भोगने से कतराकर त्रिशंकु की भाँति धरती और आकाश के बीच अपनी विश्वामित्रीय सृष्टि करके अपने को तो धोखा देता ही है, साथ ही अनर्गल अनुभूतियों को भी प्रश्रय देता है। जो यह नहीं मानते, जो यथार्थ के व्याप्त रूप को ही असत्य मानते हैं, वे दो प्रकार की गलतियाँ करते हैं – पहली गलती तो यह है कि 'भोग' के सार्थक अर्थ को नहीं समझते और दूसरी यह कि वे 'भोग' के साथ जीवन की सार्थकता को ग्रहण करने में अकर्मण्य हैं।

आज के संक्रान्ति-युग की सबसे बड़ी विषमता यह है कि हमारे पास न तो सुख को भोगने की दृष्टि है और न दुःख को भोगने का साहस। सुख की सार्थक रूप में भोग सकने की भी क्षमता उसी में होती है जो दुःख को भोगने की एक दृष्टि विकसित कर लेता है। आज की संस्कृति नपुंसकता की संस्कृति है। यथार्थ से पलायन और दुःख से ऊबकर अपने चारों ओर कुहासा पनपाकर जो लोग जीना चहते हैं, उनकी पराजित मनोवृत्ति को थोड़ा-सा अवकाश भले मिल जाये, किन्तु उनके व्यक्तित्व की प्रतिष्ठापना नहीं हो सकती। वास्तव में आज उखड़े हुए लोग वे हैं जो अपने उखड़ेपन को अस्वीकार करते हैं और न केवल शब्दजाल बुन-बुनकर यह चाहते हैं कि अपने उखड़ेपन और अनर्गल तथ्य को ही सर्वोपरि मान लें। पन्त जब लघु-मानव की निन्दा करते हुए उसे कुण्ठित, कर्दमवासी और जाने किन-किन विशेषणों से सम्बोधित करते हैं तो उससे स्पष्ट हो जाता है कि लघु-मानव की कल्पना के पीछे जो चेतन, पोटेंशल और प्रबुद्ध इकाई की कल्पना 'नयी कविता के प्रतिमान' में प्रतिष्ठित की गयी है उसको उन्होंने समझने की चेष्टा नहीं की है। भू-मानव या स्वर्ण-मानव की कल्पना में जिस मानव की प्रतिष्ठा वह करना चाहते हैं वह जड़ है और केवल एक कल्पित वातावरण का साक्षी है, युग-सत्य या युग-यथार्थ का नहीं। मैं पन्तजी की उस ऊहापोहात्मक दार्शनिकता से यह पूछना चाहूँगा कि उस समस्त आडम्बर में वह स्वयं कहाँ हैं? हम कहाँ हैं? हमारा स्वत्व कहाँ है? हमारी प्रबुद्ध चेतना कहाँ है? हमारी वाणी कहाँ है? हमारा स्वर कहाँ है, हमारी अनुभूति कहाँ है? मैं स्वर्ण-आलोक से अभिमण्डित या देवलोक से चमत्कृत देवताओं से पूछना चाहता हूँ कि कर्दमवासियों के प्रति जो घृणा तुम व्यक्त करते हो वह भला किस देवत्व के बल पर? नैसर्गिक आलोक वालों से भी मैं पूछना चाहता हूँ कि तुम उस समस्त मानवता के लिए क्या कहते हो जिसे जीवन के विपर्ययों को चाहे-अनचाहे भोगना ही पड़ता है? यह वह युग नहीं है जब किसी को पापी या कुण्ठाग्रस्त या कर्दमवासी कहकर तुम मुक्त हो सको? यह पाप क्यों है? पाप क्या है? मसीहा के अनुयायियों से पूछना चाहता हूँ कि तुम लघुता से विचकते क्यों हो? दिव्य ज्योति-आभा-मण्डित आकाश पर दृष्टि जमाने वालों से कहना चाहता हूँ – जरा नीचे देखकर चलो, छोटी-से-छोटी ठोकर भी तुम्हारे रजत-मुकुट को धूल में मिला सकती है? आत्मलीन लघु-मानव ही तुमसे कहता है कि तुम्हारे देवत्व और नैसर्गिक तत्त्वों की परिभाषा उस समय तक अपूर्ण रहेगी जब तक तुम 'कर्दम' की परिभाषा नहीं दोगे और जब तुम कर्दम की परिभाषा देने की चेष्टा करोगे तो तुम्हें लगेगा कि 'कर्दम' वह नहीं है जिसे तुम रूढ़ि के अर्थ में लेते आये हो, कर्दम वह है जिसे तुम स्वीकार तो करते हो किन्तु एक खोखली गिरवी आत्महीनता के साथ। लघु-मानव प्रत्येक क्षण के यथार्थ को जागरूकचेता प्राणी के रूप में भोगता है। वह स्वप्न-विगलित आम्र-मंजरियों पर कल्पित कोयल की कूक के प्रति द्रवित नहीं होता तो इसके लिए वह दोषी नहीं ठहराया जा सकता। वह तो जीता है, जो भोगता है, जो क्षण-क्षण उसके व्यक्तित्व में परिव्याप्त है, उसी को अभिव्यक्ति देता है, भोग सत्य है भोग पलायन मिथ्या विडम्बना। यदि देवत्व के अर्थ हैं कि 'कर्दम' से बचकर निकल चला जाये, तो मैं कहूँगा, मुझे ऐसा देवत्व नहीं चाहिए। हमें तो ऐसे मानवीय दृष्टि चाहिए जो कर्दम से लेकर व्याप्त समष्टि के साथ मेरा, अपना, निजी सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयास में सहायक हो सके, प्रेरणा दे सके। जो पलायनवादी है, रुग्ण है, अतिवादी है शायद उसी को दिव्यता की सापेक्षता में विरोध में कर्दम नगण्य दीखता है।

यदि मैं थोड़ी देर के लिए यह मान भी लूँ कि कर्दमवासी, विरूपता बुरी वस्तु है तो केवल शास्त्रीय स्तर पर मैं जानना चाहूँगा कि 'सुन्दर' और 'असुन्दर' की पहचान क्या है? क्या यह सत्य नहीं है कि जिस किसी भी वस्तु के आन्तरिक तत्त्वों और बाह्य आवरणों को जब हम सापेक्ष दृष्टि से देखते हैं तो वह वस्तु, उसके तत्त्वों का नियोजन और उस नियोजन के आधार पर उसका बाह्य आवरण सब कुछ अपने में संगत भी लग सकता है। यदि उस सौन्दर्य के लिए हम कहीं बाहर से हथियार लाने नहीं जायें, हम सौन्दर्य को उसी वस्तु-विशेष में दिये हुए तत्त्वों के आधार पर मूल्यांकित करें तो दोष क्या है? जिस वस्तु के इस आन्तरिक रचना-तत्त्व और बाह्यावरण से हम अपरिचित होते, वह या तो हमें असुन्दर लगती है या हम उसके प्रति उदासीन होते हैं। मात्र 'स्वर्ण' ही जैसे किसी वस्तु को सुन्दर नहीं बना सकता : ठीक उसी प्रकार मात्र कर्दमवासी कह देने से कोई वस्तु बुरी नहीं होती। 'जलज जोंक जिमि गुणं विलगाहीं' गुणत्व का बोध, प्रकृति का बोध और सापेक्षता का परिप्रेक्ष्य ही यह बता सकता है कि सुन्दर क्या है असुन्दर क्या है! 'सुधा सराहिये अमरता, गरल सराहिय मीच' – जब इतनी-सी बात तुलसीदास भी समझते थे तब आज हमारी समझ में यह बात न आये इससे बढ़कर व्यंग्य क्या हो सकता है।

फिर भी मैं सहर्ष 'लघु-मानव' की बात वापस ले लेता यदि मुझे लगता कि लघु-मानव-सम्बन्धी जो समस्याएँ और बातें मैंने और मेरे साथ, मेरे सह-चिन्तक बन्धुओं ने उठायी थीं उन पर सही और जायज तरीके से विचार करने का प्रयास किया गया है। 'चार्वाक' से असहमत होकर उस समय के चिन्तकों ने उसके विचार ही नहीं खण्डित किये, अपितु 'चार्वाक' शब्द को गाली बनाकर प्रस्तुत कर दिया। इससे हानि हमारी ही हुई है। हम नहीं जान पाते कि वेदोक्त कर्मकाण्ड के विरोध या उससे भिन्न विचार, उस समय क्या थे! वेदों की परम्परा से भिन्न बृहस्पति ने सोचा, उनका ग्रन्थ ही गायब कर दिया गया! कुछ सूत्र इधर-उधर भटके हुए रूप में मिलते हैं। आज भी यदि हम उसी वर्जना के अन्तर्गत व्यवहार कर रहे हैं तो शायद बड़ी गलती कर रहे हैं। किसी को भी यदि अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह दूसरे के विचार को ऐसा प्रस्तुत करे कि वह उसकी सीमाओं से अलग सीमाओं द्वारा प्रशासित हो। किसी ने लघु-मानव को छोटा आदमी कहा, तो दूसरे ने कर्दमवासी और तीसरे ने 'डेविल्स एडवोकेट' और

चौथे ने 'असुरवादी' और पाँचवें ने कुण्ठावादी। लेकिन मात्र इतना ही किसी भी विचार को समाप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं है। किसी भी विचार को खण्डित करने के लिए उसके तत्त्वों का विवेचन आवश्यक है। किसी भी विचार को मात्र नाम दे देने से उसकी तर्कसंगति नहीं समाप्त होती है। इसलिए इस प्रकार के 'समेरी ट्राएल' द्वारा लघु मानव पर जितनी भी आजमाइशें की गयी हैं, उनसे वह सूत्र नहीं मिलता जिसके आधार पर मैं अपनी गलतियाँ समझ सकूँ या उसमें परिवर्तन कर सकूँ।

सबसे पहले प्रगतिवादी समीक्षक नामवर सिंह ने 'लघु-मानव' की व्याख्या को खण्डित करते हुए उसे 'छोटा आदमी' की संज्ञा देकर निरर्थक बताने की चेष्टा की थी। उनका यह कहना उचित ही था, क्योंकि प्रगतिवाद का जन्म ही लघु-मानव की शव-क्रिया करके किया गया था। 'प्रोलितारिएत' तानाशाही के जन्म के साथ जो संस्कार जनमे थे, स्तालिन के व्यक्तित्व उपासना की परम्परा ने जो नींवें भारत में डाली थीं, उनके समक्ष लघु-मानव की स्थापना वैसी ही थी जैसे किसी बड़े ठाट-बाट वाले के बगल से कोई नितान्त साधारण जन सिर ऊँचा किये, बिना उसकी नोटिस लिये निकल जाये। वस्तुतः लघु-मानव का जन्म ही उस समय हुआ था जब तमाम सड़कें बन्द थीं, रास्तों पर पहरा था, पुलिस की सीटियाँ बज रही थीं, ट्रैफिक बन्द था और किसी भी व्यक्ति को, जो उस रुकावट की उपेक्षा करके निकलने की चेष्टा करता, गोली से समाप्त कर देने की सम्भावनाएँ थीं। ऐसा इसलिए था क्योंकि अधिनायक की सवारी निकलने वाली थी, और जब अधिनायक या तानाशाह निकलने वाला हो, तो हमें और आपको रुक ही जाना चाहिए। लेकिन वह व्यक्ति जो उस समय नहीं रुकता, अपने विवेक और अपनी आत्मशक्ति का सहारा लेकर जो उस सड़क के अगल-बगल खड़े दर्शकों की भीड़ में अपने को नहीं पाता और समस्त आडम्बरों का तिरस्कार करके मरीज बच्चे के लिए दवा, या भूखे के लिए खाना, या छूटती हुई ट्रेन को पकड़ने के लिए स्टेशन की ओर बढ़ जाता है, शायद वही वह लघु-मानव है जिसे न तो परम्परा बचा सकती है, न धर्म, न तो राजनीति और न तथाकथित मर्यादा! लघु-मानव 'रियायत' (कन्सेशन) लेकर भी नहीं जाना चाहता। वह अपने विवेक और आत्म-निर्णय को, नितान्त क्षण-भोगी जीव होते हुए भी, स्वच्छन्द (आर्बिट्रैरी) सीमा तक ले जाने का साहस रखता है। प्रगतिवादी या साम्प्रदायिक मानववादी को ऐसा व्यक्ति सदैव छोटा लगेगा, क्योंकि व्यक्तिनिष्ठ संकल्प और समूह-निष्ठ संकल्प के भेद को वह समझता है और यह जानता है कि अधिनायकवादी प्रवृत्ति को यदि किसी व्यक्ति से खतरा हो सकता है तो वह इसी प्रकार का व्यक्ति होगा। इसीलिए वह लघुत्व की संकल्प-शक्ति से चिढ़ता है। इसमें इन चिढ़ने वालों का दोष भी नहीं है, क्योंकि उस विशिष्ट विचारधारा में ऐसी कल्पना जो नितान्त जागरूक, स्वतन्त्र, दृढ़ संकल्प, निर्भीक और समसामयिक दायित्व के समक्ष, सापेक्ष क्षण के यथार्थ को भोगने में विश्वास रखती हो, सदैव खटकेगी। ऐसे लोगों को लघु-मानव छोटा, अशिष्ट, अभद्र लगेगा ही। लघु-मानव की कल्पना ने यदि अपनी सृजन-प्रक्रिया से मनुष्य के सामने कुछ नये परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किये हैं तो उनको स्वीकार करने का आग्रह उसका नहीं है। वह केवल एक मानसिक स्थिति का प्रतीक है जो प्रत्येक भाव और अनुभूति में केवल सार्थकता की तलाश करने की चेष्टा करता है, लेकिन सार्थकता को आरोपित करने की अपेक्षा वह निरुद्देश्यता, अर्थहीनता और व्यापक स्तर पर नितान्त 'एब्सर्ड' को भी स्वीकार कर सकता है – यदि उससे सम्पूर्ण मानवीय चेतना को समझने और विकसित करने में कोई सहायता मिलती है। आज हम किसी भी अन्य मानदण्ड को मानव-जीवन पर आरोपित नहीं कर सकते। हमें सम्पूर्ण मानव-तत्त्वों को उस स्तर से देखना होगा जहाँ से उसकी मूल वस्तुस्थिति का ज्ञान हो सके। ठीक उसी प्रकार आज यदि हम मानव-जीवन का कोई भी दार्शनिक पक्ष प्रस्तुत करना चाहते हैं तो उसे भी आज के सन्दर्भ ओर आज के जीवन-तत्त्वों से उगना होगा। उस अमरबेल के समान हमें कोई ऐसा दर्शन नहीं चाहिए जो आकाश से सहसा हमारे ऊपर फेंक दी जाये और जिसके विकास का अर्थ ही यह हो कि वह हमारे सवत्व के विनाश के साथ स्वयं विकसित होकर हमें समूल नष्ट कर दे। 'लघु-मानव' की कल्पना में इसीलिए किसी भी प्रकार के ऐसे 'पैरेसाइट दर्शन' का, जो हमको उच्छिन्न करता चले, महत्त्व नहीं है। यह 'लघु-मानव' की कल्पना की सबसे बड़ी शर्त है। यह आज के आधुनिक भावबोध की भी पहली शर्त है।

जो इस स्थिति को नहीं स्वीकार करता वरन् जो आज यह चाहता है कि उसके स्वत्व से उसका दर्शन पृथक हो, पूर्वनिर्धारित और पूर्वनिश्चित हो, वह शायद यह भूले जाता है कि आज इतिहास के जिस मोड़ पर हम हैं वहाँ यह पूर्वनिश्चित दृष्टि और पूर्व-नियतिवादी आग्रह शायद हमें अधिक दूर न ले जा सके। इतिहास आज 'संकल्प' की सापेक्षता में यदि कोई अर्थ रख सकता है तो उसका कोई अर्थ भी सम्भव है, और यदि वह केवल मानव-नियति को उसकी इच्छाशक्ति और आत्म-बल से पृथक तत्त्व मानता है, तो शायद इतिहास की इस अनर्गलता को आज का जीवन अस्वीकार करता है। नामवर सिंह जिस विचार पद्धति के अन्तर्गत आज के मानव-जीवन की व्याख्या करना चाहते हैं वह नियतिवादी, पूर्वनिश्चयवादी और इतिहासवादी दृष्टि है। इन दृष्टियों में तो मानव स्वत्व का कोई अर्थ कभी भी नहीं रहा। भीड़ में अपना व्यक्तित्व खो देना, अपना स्वत्व छोड़ देना या साम्प्रदायिक स्तर पर सारी चिन्तनधारा को ले जाकर केन्द्रित करना – शायद आज के संदर्भ में सार्थक और मूल्यवान् नहीं है। इतिहास ने, नियति ने, और युग पुरुषों ने अभी तक विशाल विस्तृत मानवता को केवल विशिष्ट के लिए उत्सर्गित करने की ही बात कही है, और जो विशिष्ट नहीं हैं उनके स्वत्व और स्वाभिमान की कभी रखा ही नहीं की है। उन्होंने सदैव समाज की सापेक्षता में व्यक्ति को देखा है। व्यक्ति की सापेक्षता में समाज को देखने की उन्हें फुरसत ही नहीं मिली है। छोटे आदमी वहाँ पैदा होते हैं जहाँ विशिष्ट के लिए साधारण या तो विशिष्ट 'फोबिया' से आक्रान्त होता है या जहाँ विशिष्ट के लिए साधारण का उत्सर्ग या तो कराया जाता

है, या उन्हें ऐसे सन्दर्भ में रखा जाता है जहाँ वह यन्त्रवत् रूप से उत्सर्गित होते हैं। यहाँ तो लघु-मानव के सन्दर्भ में इन स्थितियों का विरोध ही नहीं, खण्डन भी है। लघु-मानव उस आकाश पुरुष, विशिष्ट मानव, और नियतिवाद के विरोध में अपने लघु से लघु 'पेरेंशल' की सार्थकता को प्रस्तुत करता है, और जो भी उनके जीवन का उपलब्ध सत्य है उसमें एक प्रबुद्ध और चिन्तनशील प्राणी के रूप में भाग लेता है। उसके समक्ष न तो यंत्रवत् रूप में उत्सर्गित होने का प्रश्न उठता और न वह 'विशिष्ट की फोबिया' से संत्रस्त होता है। लघु-मानव तो केवल क्षण के यथार्थ का पूर्ण और जागरूक भोगी है और उस भोग को सार्थक मानकर भोगता है – चाहे वह स्थिति अर्थहीनता की हो या उद्देश्यहीनता की हो, चाहे वह निरर्थकता की वह सीमा हो जहाँ हम केवल होते हैं और केवल अपनी संकल्प-शक्ति से उस 'होते हैं' को अनिवार्य मानते हैं। फिर छोटे आदमी का प्रश्न कहाँ उठता है? विशिष्ट के विरोध में छोटा आ सकता है, किन्तु विशिष्ट के विरोध में लघु-मानव नहीं आ सकता। छोटा आदमी हमेशा साम्प्रदायिक बुद्धि से निकलेगा क्योंकि वह मूल आधार, जिस पर मानव-व्यक्तित्व और उसके स्वत्व का मूल्यांकन इस व्यवस्था और विचारधारा के अन्तर्गत होगा, स्वयं मनुष्य को अच्छे और कृत्रिम के रूप में मानता है। तभी वह अपनी साम्प्रदायिक दृष्टि को विकसित करता है। साम्प्रदायिक मानव जिस समय समूचे 'प्रोलितारिएत' को शेष से पृथक करता है और एक सामाजिक पक्षधरता पर मानव-मूल्यों के निश्चित करने की चेष्टा करता है, उसी समय वह इन छोटे आदमी को जन्म देता है। क्योंकि प्रतिक्रिया में जो भी बुद्धि और सामाजिकता विकसित होगी वह हमेशा छोटी होगी, क्योंकि प्रतिक्रिया में यह निहित है कि हम समग्रता और सम्पूर्णता को उसके समूचे सन्दर्भ के साथ अपना सकने में असफल रहे हैं। ठीक यही बात उस विचारधारा में भी है जिसमें आकाश से किसी दिव्य मानव कल्पना की जाती है। वह तो आत्महीनता से प्रारम्भ होती है और उसी में डूबी रहती है।

व का सम्पूर्ण अस्तित्व इससे भिन्न है, क्योंकि वह आत्महीनता से नहीं, आत्मनिष्ठा से उद्‌भूत होता है और घोर-से-घोर ी स्थिति में भी वह विशिष्ट मानव के संदर्भ में मानव-विशिष्टता को प्रस्तुत करता है। लघु-मानव के समक्ष निराशा श्न ही नहीं है, क्योंकि वह जिस मरुस्थल में जन्मा और जिस दुःख की सापेक्षता में उसका विकास हुआ है वह ल्पत सत्य है, स्वयं वरी हुई स्थिति है। लघु-मानव यह जानता है कि जो भी है उसे विवेक के साथ भाग लेना ही की कल्पना को दृढ़ कर सकता है, इसलिए न तो उसे अतीत की चिन्ता है और न भविष्य का फोबिया। वह जानता है द वर्तमान को एक जागरूक एवं व्यक्तिनिष्ठ रूप में हमने भोग लिया है तो भविष्य वही होगा जो हम अपनी जागरूकता से वर्तमान को भोगकर बनाएँगें। अधभोगा व्यक्ति न तो भविष्य का होता है न वर्तमान का और न ही अतीत का। वह केवल एक उच्छिष्ट होता है जिसे इतिहास पंगु के रूप में जन्म देकर केवल छोड़ देता है, इसी प्रकार अधभोगे जीवन वाला व्यक्ति भविष्य का भी नहीं होता, क्योंकि वर्तमान को भोग सकने की क्षमता जिसमें नहीं है वह भविष्य लेकर ही क्या करेगा। इसलिए लघु-मानव के इस जीवन्त सत्यों को बिना जाने-समझे जो व्यक्ति उसे छोटा और कुण्ठित कहता है वह कहीं, अपनी ही अनर्गलता में एक विवेकपूर्ण संभव संगति की अवहेलना करता है।

पन्त ने 'चिदम्बरा' की भूमिका में लघु-मानव की कल्पना को कुण्ठाग्रस्त कहा है। मैं पन्तजी से पूछना चाहूँगा कि जब वह आकाश से, पृथ्वी से, दिशाओं से ज्योति का निर्झर बरसाते हैं और जनभू, भूजन, जन की बात करते हैं और केवल अपने कृत्रिम स्वप्नों को प्रतिष्ठित करते हैं, तो वह कुण्ठाग्रस्त हैं या यह लघु-मानव जो बिना किसी ज्योति-निर्झर के मरुस्थल की रिक्तता और उसकी सूखी नीरस सिकता को वरण करके जीवन को अनिवार्य रूप में भोगता है? कुण्ठित वह भी होता है जो केवल चन्दन-छाया के अन्तराल में कुहासों का स्वप्न बुनता है और इसलिए स्थिति को खुले मन में स्वीकार करने वाला लघु-मानव तो नहीं है। 'लोकायतन' का नायक और पन्तजी के शब्दाडम्बर में जो 'भिक्षां देहि' की ध्वनि है वह किसी कृत्रिम महाश्रमण की कुण्ठा है, बोधिसत्व का विवेक नहीं। लघु मानव तो कभी कुण्ठित हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह प्रत्येक क्षण के यथार्थ को भोगने वाला है। पूर्वाग्रह वाले व्यक्ति की आतंकित मनःस्थिति उसकी नहीं है। उसकी अस्तित्व-चेतना उस अंकुर के समान है जो रेत में भी एक बार उगकर अपने अस्तित्व को प्रतिष्ठित करता है। आकाश से वर्षा का जल पाकर तो सभी उग जाते हैं, घास-फूस, कीट-पतंग और उस उगने में कोई सृजन नहीं होता , कोई आत्मनिर्णय और संकल्प नहीं होता, होता है केवल एक गिजगिजी और पिलपिली मिट्टी में कुछ सिर उठाना, और सो भी अनुग्रह से, अपनी संकल्प-शक्ति से नहीं। कर्दमवासी मूलतः वे ही होते हैं क्योंकि आकाश-वृष्टि की करुणा नहीं, दया में वे जीते हैं। लघु-मानव के पास कर्दम कहाँ? वह तो युग के इस मरुस्थल को भोगने वाला प्राणी है, और वह जानता है कि इस मरूस्थल की अग्नि-परीक्षा को अपने संकल्प और विवेक से भोग लेगा या झेल लेगा, इसी से इस मरुस्थल के बीच भी अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखता है। यदि पन्त यह मानते हैं कि आज का युग सम्पन्न है और 'भारतमाता ग्रामवासिनी' की प्रतिमा आज पूर्णतया बदल कर सम्पन्नता का प्रतीक बन गयी है तो फिर यह ज्योति-निर्झर किसलिए है? यह अन्तर्मन के भीतर वाली सृष्टि को टॉर्च की रोशनी से वह बार-बार प्रकाशित करने की बात क्यों करते हैं? विज्ञान के युग को भारत माता के वैधव्य का शोक-गीत क्यों मानते हैं? और यदि मानते हैं तो कुण्ठाग्रस्त वह है या यह लघु मानव की जीवंत कल्पना है?

अस्तु, मानव-मूल्यों के सन्दर्भ में इधर लघु-मानव की कल्पना को लेकर जितनी प्रतिक्रियाएँ आती हैं उनमें भावुकता और बौखलाहट अधिक है, तर्क कम। आज मैं उन समस्त उद्रेकों को पुनः दुहराना नहीं चाहता, क्योंकि उनकी अनर्गलता यदि रहे भी तो भी लघु मानव

की कल्पना में कोई अन्तर नहीं पड़ता। ऐसा मैं इसलिए कहता हूँ कि मैं जानता हूँ कि जिन विचारों को स्वीकार करता हूँ या मेरे सोचने की जो पद्धति है वह निश्चय ही कुछ भिन्न है। यह भिन्नता ही इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि जो कुछ मानव-मूल्यों के सन्दर्भ में आज सोचा जाता है वह या तो साम्प्रदायिक स्तर पर सोचा जाता है या आदर्श स्वप्न की स्थिति में रहकर सोचा जाता है या फिर माँ भगवती की दुहाई देकर सोचा जाता है। नामवर सिंह जैसे लोग साम्प्रदायिक मानव के समर्थक हैं, पन्त स्वप्न-लोक की मिथ्यावादिता के पोषक हैं और माँ भगवती की दुहाई देने वाले तो हर अखाड़े में मिल जायेंगे। उनकी दार्शनिक पीठिका कोई नयी नहीं है, वे पुनरावृत्ति की उपज हैं और जब उपज का अजीर्ण हो जाता है तो वे उखमज (ऊष्मज) भी हो जाते हैं। फिर भी मैं यह नहीं कहता कि इन लोगों का तर्क-चिन्तन किसी भी अर्थ में उचित नहीं है। इनका धर्म है कि वे लघु मानव की सापेक्षता में अपनी प्रतिक्रिया दें, किन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं ही है कि वह प्रतिक्रिया नितान्त तर्क संगत ही हो। मैंने पहले भी कहा है कि लघु-मानव की इस कल्पना को वापस लेने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं है, लेकिन आज मैं इन आलोचकों से सहमत नहीं हो सकता, क्योंकि इन्होंने लघु-मानव की कल्पना का खण्डन किसी तर्क के आधार पर नहीं किया है। उन्होंने लघु-मानव के प्रति अपनी प्रतिक्रियाएँ चिढ़कर व्यक्त की हैं और चिढ़ कोई तर्क नहीं है। इसलिए आज और इस क्षण मुझे लघु मानव की कल्पना में कोई असंगति नहीं मालूम पड़ती, क्योंकि मुझे लगता है कि आज और आने वाले युग-संदर्भ में लघु मानव की कल्पना पर ही मनुष्य की इकाई को जी सकने का सम्बल मिलेगा। आदमी आज परिस्थितियों और स्थितियों के बीच, साम्प्रदायिकता और आदर्श के बीच इतना टूट चुका है कि यदि उसे इस लघुता का स्वाभिमानपूर्ण आधार नहीं मिलेगा तो या तो वह केंचुआ हो जाएगा या फिर अकर्मण्य और नपुंसक होकर आकाश की ओर आँखें लगाये किसी ज्योतिर्भू की मरीचिका में भटकता भटकता पूर्णतया नष्ट हो जायेगा। यदि इन दोनों स्थितियों से हमें बचना और उबरना है तो हमें निश्चय ही एक ऐसे दर्शन की आवश्यकता होगी जो इन समस्त पराजयों के बीच भी हमें 'कर्दमवासी' के ही रूप में सही, जीने की शक्ति दे सके।

जहाँ तक 'लघु-मानव' के सम्बन्ध में मेरे विचारों का प्रश्न है, मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि यह एक पराजित पीढ़ी का नया चिन्तन दर्शन है। आज जब तक उस पराजित स्थिति को हम स्वीकार नहीं करेंगे तब तक यथार्थ के प्रति, चाहे वह जीवन से सम्बद्ध हो या कला से, अपनी उचित दृष्टि नहीं विकसित कर पायेंगे। आज हम जिस निस्सहाय एवं विवशता की स्थिति में जी रहे हैं उसकी स्वीकृति के साथ साथ यह आवश्यक है कि हम उसके जीने के लिए, उसे वहन करने के लिए, एक दृष्टि भी दें। पराजित पीढ़ी का दर्शन यदि वह यथार्थ सापेक्ष है तो कभी भी गलत नहीं होगा। यदि आज की पराजय को भी भोगने की क्षमता है तभी हम कल की विजयश्री को भी भोग सकते हैं। यह कहना कि आज के अ भोगे यथार्थ के बिना कोई भी लोकायतन का दर्शन पनप सकता है या उसकी कोई सार्थकता हो सकती है, तो यह गलत और मिथ्या भ्रम है। साथ यह भी जाना चाहिए कि भोग का दर्शन आत्मसमर्पण नहीं है। मेरी दृष्टि में जिसे हम उपलब्धि कहते हैं वह भोग की परिणति है, उसकी सार्थकता है। मेरी यह दृष्टि किसी को दोष के रूप में दिखलाई दे सकती है और कुछ इसे मेरी बेईमानी भी कह सकते हैं। हर व्यक्ति अपने विचार व्यक्त करने के लिए स्वतन्त्र है, ठीक वैसे ही जैसे मैं हूँ। यह मेरी सीमा है कि जब कभी भी मैं गुलाब का फूल देखता हूँ तो उसके साथ उसके काँटे और उसकी जड़ें जो ठोस पृथ्वी को चीरकर अन्धकार में टटोल टटोलकर रस लेती हैं, उन पर भी मेरा ध्यान चला ही जाता है। किसी भी स्वस्थ्य चटख फूल को देखकर यदि मेरी कल्पना उस सीड़ भरी जमीन पर भी जाती है जो उसे जन्म देती है तो इसमें मेरा क्या दोष है? यदि हम किसी भी वस्तु या स्थिति के प्रति अपनी समग्रता की दृष्टि बनाने की चेष्टा करेंगे, उसकी सम्पूर्णता को भोगने का प्रयास करेंगे, तो यह स्थिति होगी ही। मैं गुलाब का फूल देखकर निरपेक्ष ढंग से आत्म विभोर नहीं हो सकता। मेरी चेतना उसके साथ उसके सन्दर्भ को भी देखती है। उसके अपवाद, संघर्ष और व्यंग्यों के प्रति भी जागरूक हो उठती है। मेरी वृद्धि आँखें बन्द करके पुलकित नहीं होती। वह प्रश्नचिह्नों की एक कतार प्रस्तुत करती है और उन प्रश्नों में निहित सत्यों से बचने की चेष्टा नहीं करती, उनका साक्षात्कार करना चाहती है। मेरा विवेक उस फूल को कोट में लगाकर शान्त नहीं होता, वह उस सौन्दर्य को जीवन और उसके विपर्ययों से सम्बद्ध करके उसकी सार्थकता के प्रति जिज्ञासु होता है। और तब मैं सहभोगी के रूप में उस जड़ की व्यथा भी भोगता हूँ और फूल का सौन्दर्य भी। बिना उसकी सम्पूर्णता को, सौन्दर्य और विपर्यय को, सौन्दर्य और उसके व्यंग्य को, पूर्णतया भोगे, मैं कोई भी उपलब्धि नहीं प्राप्त कर सकता। मैं जीता हूँ इसलिए कि मैं उस फूल का सौन्दर्य और उसके विघटन सृजन सबको समग्र रूप से भोगता हूँ और उसमें भाग लेता हूँ। आज के जीवन के सन्दर्भ में भी मैं यही दृष्टि रखता हूँ। इस पराजय को बिना भोगे और बिना इसकी सम्पूर्णता को ग्रहण किये हम किसी भी स्वप्न का निर्माण या किसी भी प्रकार की जीवन दृष्टि विकसित नहीं कर सकते।

यह आज निश्चित है कि जिन भी स्वप्नों को, कोई बिना इस धरातल पर प्रस्तुत किये और इस पराजित विवशता को स्वीकार किये, रचने की चेष्टा करेगा वह अनर्गल होगा। आज के विघटित मूल्यों के बीच एक ऐसी व्यंग्य की स्थिति है जिसमें बिना उस व्यंग्य को पूर्णतया वहन किये हम किसी भी सार्थकता का साक्षात्कार नहीं कर सकते। शायद यह पीढ़ी केवल व्याप्त विपर्यय की सापेक्षता में केवल विपर्यय को भोगकर ही सार्थक हो सकती है, और जब मैं यह कहता हूँ तो मैं सम्पूर्ण जागरूकता के साथ उन समस्त दायित्वों के प्रति भी दृष्टि रखता हूँ जिसका कि स्वप्न पन्त या अन्य स्वप्नदर्शी देखते हैं। शायद यह स्थिति केवल विषपान की

स्थिति है। अन्तर केवल यह है कि हम इस विषपान को साहस के साथ, विवेक के साथ पीते हैं या पलायनवादी बनकर पीते हैं। ऐसी दुनिया में रहना जहाँ प्रत्येक क्षण दुनिया के दो विभिनन सिरों से प्रत्येक क्षण सृष्टि को समाप्त करने की धमकियाँ हों, या जहाँ प्रत्येक क्षण मनुष्य को इतना नगण्य बनाया जा रहा हो कि वह केवल एक कल-पुर्जे के समान हिल-डुलकर एक स्वार्थपूर्ण व्यवस्था की मंशा पूरी करता चले, कम खतरनाक नहीं है। लेकिन इन समसत विभाषिकाओं के बीच, जो अपना स्वप्नलोक बनाते हैं या जो साम्प्रदायिक मानव की कल्पना को शाश्वत बनाकर हमें एक सिरे से दूसरे सिरे की ओर एक निष्क्रिय यंत्र बनाकर प्रस्तुत करते हैं, मैं समझता हूँ कि उन्हें एक ऐसी दृष्टि की आवश्यकता है जो विषपान को भी तो उस समस्त व्यवस्था पर व्यंग्य करके करे। या अपना छोटा से छोटा विरोध (प्रोटेस्ट) प्रस्तुत करके करे। यहीं पर उसके चेतन, जागरूक और पोटेंशल इकाई के होने की आवश्यकता है। समस्त विपर्यय को भोगने और साक्षात्कार करने के लिए यदि हमारे पास यह जीवन-दृष्टि नहीं होगी तो आत्महत्या की परम्पराएँ विकसित होंगी, क्योंकि आत्महत्या या आत्मघाती प्रवृत्तियाँ जरूरत से ज्यादा आशावान व्यक्ति में होती हैं। निराश व्यक्ति आत्महत्या क्यों करेगा? यदि वह निराश है और निराश को उसने स्वीकार कर लिया है तो वह उसको विवेकपूर्ण और जागरूक चेतन प्राणी की तरह भोगेगा, उससे कतरायेगा नहीं। कतराते वे लोग हैं जो आवश्यकता से अधिक आशावादी होते हैं, पलायन वह करता है जिसमें पराजय को वहन करने की क्षमता नहीं हो; आकाश की ओर वह देखता है जो पृथ्वी पर व्याप्त संवरण से ऊब जाता है, 'ज्योतिर्मय निर्झर' की कल्पना में वह व्यक्ति सोता-जागता है जो व्याप्त अन्धकार का साक्षात्कार करने का साहस नहीं रखता। फिर लघु-मानव की लघुता और उसकी इकाई को पोटेंशन इकाई के रूप में स्वीकार करने वाला कोई भी व्यक्ति आत्मघाती परम्परा को क्यों जन्म देगा?

वास्तव में आज की समस्त चेतना दो प्रवृत्तियों में विभक्त है। एक में वे लोग आते हैं, जो आज की पराजित स्थितियों के विरुद्ध अपना छोटा-सा हवाई घरौंदा प्रस्तुत करके इस व्याप्त पराजय और उसकी विवशता को भुला देना सोचते हैं। लेकिन यह स्थिति भी अपने आपको धोखा देने की स्थिति है, क्योंकि व्याप्त अन्धकार की चट्टान के समक्ष वह अपना चाहे जितना सुन्दर घरौंदा क्यों न रखें, उस अन्धकार में उस घरौंदे को भी अपने में समेट लेने की शक्ति है। दूसरी प्रवृत्ति के लोग अंधकार को ही प्रकाश मान बैठने के भ्रम में जूझते हैं और चाहते हैं कि इस अन्धकार की गाढ़ी तह में वह इस पीढ़ी को खपा दें और यह कहें कि यह अंधकार ही ज्योतिर्मय है। वास्तव में देखा जाये तो इन दोनों में से यथार्थ की दृष्टि किसी की भी नहीं है। यथार्थ को भोगने की सामर्थ्य इन दोनों में से किसी के पास नहीं है। ये दोनों विचार निराशा को झेलने में असमर्थ हैं, क्योंकि यह दोनों वर्तमान में नहीं भविष्य में जीते हैं। आज हमें वर्तमान को भोगने, झेलने और उसकी समग्रता को वहन करने का दृष्टिमान चाहिए। लेकिन यह दृष्टिमान आये कहाँ से? मेरा अपना विचार है कि यह वर्तमान से ही विकसित होगा। बिना वर्तमान के प्रति अपनी दृष्टि विकसित किये हम उसके सन्दर्भ-संसर्ग को भोगने में असमर्थ रहेंगे।

लेकिन जो वर्तमान है वह इतना आकर्षक नहीं है कि हर किसी में उसे भोगने की क्षमता हो। वर्तमान एक प्रकार की व्यर्थता (फ्यूटिलिटी), अर्थहीनता (मीनिंग्लेसनेस) और 'एब्सर्डिटी' की सापेक्षता में जीवित है। इन तत्त्वों से विशृंखल वर्तमान की उपादेयता क्या है? मैं समझता हूँ जब एक बार हम इस तथ्य तक पहुँच जाते हैं और इतने विपन्न वर्तमान के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं तब हमारे लिए वे दोनों प्रकार के स्वप्न अनर्गल और संदर्भहीन प्रतीत होते हैं। हमें इस स्थिति में एक ऐसी दृष्टि चाहिए, एक ऐसा प्रतिमान चाहिए, एक ऐसा आधार चाहिए जिसके सहारे हम इस व्यापक मरुस्थल को झेल सकें, साथ ही उस जीवन-दृष्टि में यह शक्ति भी चाहिए जो टूटे हुए लोगों और टूटी इकाइयों के खण्डित अस्तित्व की विस्मृति की गोद में न सुलाकर सम्पूर्ण खण्डित आधार की स्वीकृति के साथ उसे जीने का और मरुस्थल-मरीचिका का साक्षात्कार करते हुए भी अपनी निष्ठा न खो सकने का विवेक दे सके। मैं समझता हूँ प्रस्तुत संदर्भों की सापेक्षता में हमें जो भी जीवन-दृष्टि सहन करने की और झेलने की शक्ति के साथ अपने टूटेपन, उखड़ेपन के बीच जागरूक, चेतन एवं प्रबुद्ध अस्तित्व को सुरक्षित रख सकने का विवेक देती हो उसे स्वीकार करना चाहिए। शर्त एक ही है कि वह जीवन-दृष्टि टूटेपन, उखड़ेपन और मूल्यहीन अस्तित्व के यथार्थ को भुलावा देकर न भ्रमित करे वरन् वस्तुस्थिति को भोगने की क्षमता के साथ इकाई के अस्तित्व को समग्रता को स्वीकार करने का आत्मबल दे सके। मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी यदि इन तत्त्वों पर आधारित जीवन-दृष्टि को कोई कुछ और कहे या किसी अन्य नाम से पुकारे। लघु-मानव की मार्मिकता को यदि वह जीवन-दृष्टि स्वीकार करती है तो मुझे लघु-मानव के नाम-मोह का छोड़ने में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं होगा।

लेकिन जहाँ तक मैं समझता हूँ लघु-मानव की इस कल्पना को केवल 'लघु मानव' का लघु परिवेश ही वहन कर सकता है और यदि उस कल्पना को किसी अन्य दृष्टि से देखा जायेगा तो लघु की 'पोटेन्शल' इकाई अपना उचित संदर्भ नहीं स्थापित कर पायेगी। बढ़ते हुए - मरुस्थल में जैसे नागफनी उसके समस्त ताप और शीत, नीरसता और शुष्कता, अपवाद और व्यंग्य को स्वीकार करने के साथ-साथ अस्तित्व की साक्षी होती है, जीवन के तिक्त-से-तिक्त भोग्य के बावजूद अपने कंकाल में सम्पन्नता रखती है, ठीक उसी प्रकार लघु-मानव की वर्तमान के व्याप्त मरुस्थल में समस्त विपर्यय-व्यंग्य को भोगने के बाद भी शेष रहता है, उनके बीच भी जी लेता है। आज की व्यर्थता को भी वह भोगता है, अर्थहीनता के व्यंग्य को भी वह सहन करता है और 'एब्सर्डिटी'

के मूल्य को भी वहन करता है। इसीलिए वह क्षण के यथार्थ में जागरूक, प्रबुद्ध सचेत एवं विवेकशील व्यक्ति मानव के रूप में भाग लेता है और उसकी समस्त स्थितियों को समरस होकर भोगता है। यदि लघु-मानव की कल्पना को कोई भी व्यक्ति इस सन्दर्भ से हटाकर देखता है, तो उसमें दोष उसका है, लघु-मानव की कल्पना में निहित जीवन-दृष्टि का नहीं।

मैं यह नहीं कहता कि ऐसा करने वाले इस स्थिति को नहीं देखते। किन्तु इससे क्या होता है, ईमानदारी से की गयी गलती भी गलती ही होती है। वस्तु सत्य (रिअल) और वस्तु भ्रम (अन रियल) को देखने में ही यदि लोग गलती करते हैं तो उसमें लघु मानव का सत्य (रिअल्टी) खण्डित नहीं होता। मेरा अपना विचार है कि इसी तथ्य (रिअल) और भ्रम (अन रिअल) को जानने के लिए ही हमें अन्त में मानव संज्ञा और उसके संदर्भ तत्त्वों को जानने की आवश्यकता होती है। मध्यकालीन युग में यह बात विवादग्रस्त होकर दैवीशक्ति (डिवाइन पॉवर) और दैविक अधिकार के रूप में केवल एक वर्ग-विशेष की सीमाओं तक सीमित कर दी गयी थी। यदि एक ओर यह दैविक दृष्टि थी तो दूसरी ओर समाज अनुबन्ध (सोशल कण्ट्रैक्ट) के रूप में। एक छोर पर रूसो की अराजकता का साक्षात्कार होता है तो दूसरी ओर हॉब्स के अपरिहार्य जीवन दर्शन का। आगे चलकर नीत्शे ने यदि 'सुपरमैन' की कल्पना की तो उसकी भी परिणति अन्ततोगत्वा लघु मानव के रक्त से लिपी पुती प्रतिमा निकली और इसके भी बाद जब प्रोलितारिएत के मानव का चित्र साम्यवादी विचारधारा ने प्रस्तुत किया तो वह भी कम भयंकर नहीं था। लघु मानवों की इकाइयों के शव पर यह प्रतिमा तो एक ताण्डव के रूप में विकसित हुई। यदि देखा जाये तो इस अन्तिम दर्शन की परिणति तो मात्र इसमें हुई कि आदमी केवल इतिहास का परिशिष्ट बनकर रह गया। यह भी सत्य है कि आज, इस युग में, हम इन सबके परिणामों को भुगत चुके हैं। इसलिए जब हमारे सामने मानव मूल्यों का सवाल आता है तो हमें सहसा यह भी ध्यान हो आता है कि वास्तव में 'मानव' कहने से हमें किसका बोध होता है। निश्चय ही इस संदर्भ में जिस मानव का चित्र सामने आता है वह न तो सहज मानव है, न लघु मानव, वह केवल विशिष्ट मानव के रूप में ही प्रस्तुत होता है। क्योंकि सहजता सापेक्ष नहीं है। इसी प्रकार यदि हम सहज मानव न कहकर जनमानव कहें तो उसमें भी हमें भ्रम होता है, क्योंकि जन-मानव तो नितान्त भीड़ में खोया हुआ व्यक्ति है, न तो उसकी अपनी कोई आस्था है न अपना कोई विश्वास, वह तो अपना सारा स्वत्व उस भीड़ को समर्पित कर चुका है जो केवल आचरण करती है, अनुकरण करती है और आदेश मानती है या आदेश का खण्डन करती है। यह सब वह आत्म विवेक और प्रबुद्ध रूप में न करके केवल एक समूह आचरण के अन्तर्गत करती है। सहज मानव जैसे हर स्थिति से एक प्रकार समझौता कर लेता है या उदासीन हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जन मानव या तो साम्प्रदायिक होकर आचरण करता है या नितान्त समूह वृत्ति में केवल खण्डन करता है। वह हर स्थिति में जो कुछ करता है उसका दायित्व वह नहीं वहन करता, वरन एक काल के प्रवाह में बह जाता है। एक तीसरा वर्ग भी है जिसे हम साम्प्रदायिक मानव भी कह सकते हैं। उसके पास भी अपना कुछ नहीं है। उसके पास आज के नये भावबोध का भी कोई अर्थ नहीं है। उसके पास जीवन का प्रत्येक क्रम निश्चित है – चाहे उस क्रम को मार्क्स और लेनिन ने स्थिर किया हो या राम और कृष्ण ने। इसके पास केवल पूर्वग्रह है और इन पूर्वग्रहों के बीच एक उमस है जिसकी अनुभूति वह खो चुका है। एक चौथा वर्ग भी आज के समूह में है जो केवल इसलिए जी रहा है, क्योंकि वह सहज जीना चाहता है। उसके निकट भीड़ का कोई महत्त्व नहीं है, उसके लिए सहजता का भी कोई मूल्य नहीं है। उसके निकट साम्प्रदायिक पूर्वग्रह भी नहीं है। वह केवल 'अवसर' की तलाश करता है और हर अवसर को केवल अपने हित में मोड़ने की चेष्टा करता है। जहाँ तक वह अवसर लचीला होता है, मुड़ता है, वहाँ तक तो वह उससे लाभ उठाता है, लेकिन जहाँ उसे वह अपने अनुकूल नहीं बना पाता वहाँ वह केवल द्रष्टा बन जाता है और मौन रूप से हर स्थिति को अपने से गुजर जाने देता है। लेकिन वह अवसर वह भली भाँति पहचानता है और पहचानकर ही छोड़ देता है। वह केवल वही ग्रहण करता है जिसमें मूल्यों का प्रश्न नहीं रहता। प्रश्न केवल उसके विकास और उसके जीवन के लिए आवश्यक है। वह मानव वर्ग समाज में हमेशा रहा है और उसने सदैव एक ही सा आचरण भी किया है। उसके आचरण में आज तक कोई परिवर्तन नहीं आया है, क्योंकि उसके पास विवेक नहीं है, केवल पहचान है और पहचान केवल अपने स्वार्थ साधन के लिए।

आज के युग में इस पहचान का आधार केवल उस चेतना के अन्तर्गत आता है जिसमें सुख को भोगने का तो साधन है, किन्तु उसी से उपजे दुःख और विषाद को भोगने के लिए कोई भी जागरूक दृष्टि नहीं है। भोग में समरसता की दृष्टि यों तो उपर्युक्त समस्त वर्गों में नहीं है, किन्तु अन्तिम वर्ग तो उस दुःख और विषाद से बचने के लिए विवेकहीन भी हो जाता है। आज के समाज में शायद यह वर्ग अपेक्षाकृत सबसे अधिक है और वह सबसे अधिक सावधान भी है। उसे न तो ऐतिहासिकता से कोई मोह है और न वर्तमान के विवेकशील मोह से। वह केवल अस्तित्व का भोग अपनी कृत्रिमता से भोगता है। इस वर्ग में स्वर्णमानव की कल्पना करने वाले और साम्प्रदायिक मानव की वकालत करने वाले भी आ जाते हैं, क्योंकि पलायन की प्रवृत्ति इन समस्त वर्गों में विद्यमान है। अन्तर केवल इतना है कि शेष पलायन को एक स्वप्न में भोगते हैं और यह पहचान पर जीने वाला वर्ग कभी भी किसी से भी सम्बद्ध होकर भोग सकता है।

लघु मानव की कल्पना इन सबसे पृथक है और आज के युग सन्दर्भ में वह अधिक सार्थक भी है। जीवन की समग्रता और उसकी विपन्नता के प्रति समदृष्टि रखने का यदि कोई दर्शन ढूँढा जा सकता है या उसकी स्थापना की जा सकती है तो वह केवल इस

मानवीय कल्पना के आधार पर नहीं सम्भव है। ऐसा इस कारण है क्योंकि आज हम जीवन की एकांगी और लंगड़े रूप में नहीं जी सकते, इसीलिए आज सुख और दु:ख—दोनों स्थितियों में समान रूप से जी सकने की क्षमता प्रदान करने वाले मानवीय जीवन-दर्शन की खोज आज आवश्यक हो गयी है। यह सत्य है कि जो कुछ भी जीवन हमें जीने के लिए मिला है उसके जिम्मेदार हम नहीं हैं। वह हमें जनमते ही अपने पूर्वजों से मिला है—ऐसे पूर्वज, जो एक लंगड़े जीवन की पंगु दार्शनिकता के साथ जीवन को एक छोर पर नितान्त आदर्श और दूसरी ओर नितान्त कृत्रिमता के स्तर पर अर्धभोग की स्थिति में जनमे और मर गये। हम सब उसी अर्ध-भोगे सत्य के पर्यावरण में जनमे और विकसित हुए हैं। हमारे पास वही आदर्श और खोखला—रिक्त एवं पंगु जीवन शेष है। हमारी दृष्टि भी उसी अर्थ में केवल एक अध-भोगे जीवन का व्यंग्य भोगकर आज समाप्त हो रही है। जो कुछ हमें परम्परा से मिला है वह इसी अध-भोगे जीवन के रूप में है। इसीलिए जब मैं भोग की बात करता हूँ तो उसे मैं हस्तगत अध-भोगे जीवन की अपूर्णता की सापेक्षता में समग्रता की दृष्टि के साथ-साथ जीवन को भोगने के संकल्प को प्रस्तुत करना चाहता हूँ। आज के आधुनिक भावबोध में यह दोनों ही निहित है। यह हमारी परिणति है कि हम अर्ध—मुक्त जीवन से उपजकर पूर्ण भोग की उपलब्धि—जिसमें सुख-दु:ख दोनों ही समान रूप से हों—तक जायें और जीवन को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करें। यदि हम ऐसा नहीं करते तो हम उस अध-भोगे जीवन का उच्छिष्ट या उगले हुए व्यंग्य के रूप में ही दिखेंगे। दूसरे शब्दों में आज के सन्दर्भ में जब मैं इस तथ्य पर विचार करता हूँ तो मुझे लगता है कि वर्तमान युग में सुख की परिकल्पना तो बिलकुल गौण है, लेकिन दु:ख और विपर्यय की स्थिति जो आज व्यापक रूप से वर्तमान है, उसके प्रति हमारी दृष्टि या तो उदासीन है या वह केवल आत्महीनता में व्यक्त हो रहा है। यह आत्महीनता की स्थिति आज मात्र इसलिए है क्योंकि हमारे पास आज वह दृष्टि नहीं है जिससे हम जीवन के अध-भोगे व्यंग्य को एक सार्थक अर्थ दे सकें। यही कारण है कि हर दिशा में एक मरुस्थल विकसित होता चलता है और वह मरुस्थल दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है। हमारे भीतर मन में, और हमारे बाहर भी, उसी मरुस्थल पर व्यापक विस्तार बढ़ता जा रहा है, उसी के उपमान विकसित होते जा रहे हैं और एक निश्चेष्ट घनीभूत पीड़ा केवल अकर्मण्यता को जन्म देकर या कि स्वप्नलोक के पलायन को विकसित करके हमारे भीतर और बाहर के मरुस्थल को थोड़ा और विस्तृत कर जाती है। जीवन के इस विपर्यय में रस नहीं है, रस-स्निग्धता का व्यंग्य है। आज हमारे सामने सबसे बड़ा प्रश्न है कि इस रस के व्यामोह और व्यंग्य की तिलमिलाहट में हम किसे चुनें। हम 'निराला' और क़ाज़ी नज़रुलइस्लाम की विक्षिप्तता स्वीकार करें या पन्त और बच्चन की निरर्थक-पलायन-दृष्टि, या आज के व्यंग्य में रागात्मक ऐश्वर्य के खोखले स्वाभिमान वाली 'अज्ञेय' की दृष्टि, या प्रगति के नाम पर एक निम्नकोटि की अवसरवादिता, या प्रत्येक विशृंखलता के वस्तु-सत्य की स्वीकृति के साथ प्रत्येक इकाई के टूटे, खण्ड-खण्ड परिवेश का यथार्थ, और उस यथार्थ की समस्त व्यंग्यात्मक स्थितियों के प्रति एक सार्थक इकाई की समग्र दृष्टि। आज के मानव से सम्बन्धित इन्हीं प्रश्नों का उत्तर हम लघु-मानव की कल्पना के साथ ढूँढ़ना चाहते हैं।

और तब इसी सन्दर्भ में विवेक और स्वातन्त्र्य (रीज़न एण्ड फ्रीडम) के वास्तविक अर्थ की तलाश ही आज की इस मार्मिक व्यंग्यात्मक स्थिति की पहली माँग है। आज विवेक और स्वातंत्र्य की मूल धारणाएँ ही खण्डित होती जा रही हैं। जिस स्वतंत्रता के लिए मनुष्य व्यवस्था की माँग करता है, वह व्यवस्था स्वयं ही स्वतंत्रता को नष्ट करने लगी है। जितनी परिधियाँ, जितनी सीमाएँ और जितनी मर्यादाएँ स्थापित होती हैं वे एक सीमा के बाद जड़ हो जाती हैं, रूढ़ि में बदल जाती हैं। आज सत्य एक बाजारू नुस्खे के समान गली-गली, चौराहे-चौराहे पर 'लटके' गा-गाकर बेचा जाता है। आज मर्यादा का अर्थ हो गया है—अन्याय को बेहया बनकर सहना। आज व्यवस्था का अर्थ है आत्म-स्वत्व और इकाई के पोटेन्शल को गिरवी रखकर जीना। यही नहीं, प्राय: जितने भी मानव-मूल्य हैं उन सब में कहीं-न-कहीं एक टोटके की भूमिका निहित होती जा रही है और जब इन निर्जीव शवों के बीच हम अपने को घिरा हुआ पाते हैं तो हमारे सामने पहला प्रश्न ही यह उठता है कि आज इस स्वतन्त्रता का अर्थ क्या है? आज इस विवेक की सार्थकता क्या है? यदि स्वतन्त्रता बन्धनों की परिभाषाएँ देने लगे और विवेक केवल वर्जनाओं की पुंजीभूत राशि बन जाये, तो मैं समझता हूँ कि ऐसी स्थिति में स्वतन्त्रता और विवेक की मूल प्रवृत्ति को उस अकेली इकाई के हाथों में सौंप देना चाहिए जिससे उद्भूत होकर वर्तमान व्यवस्था की विषमता तथा स्वतन्त्रता और विवेक विकसित हुए हैं। शक्ति कभी भी अर्थहीन नहीं होगी, यदि उसे बराबर यह अवसर मिलता रहे कि वह अपने मूल स्रोत को पुन: वापस हो सके। आज की स्थिति की यह माँग है कि वह स्वतन्त्रता और विवेक—जिसे अभी तक हम जबर्दस्ती एक एक प्रकार की कृत्रिम व्यवस्था और मर्यादा के अन्तर्गत बांधे हुए थे, उसे व्यवस्थाहीन और मर्यादाहीन रूप में ही सही, उन इकाइयों में साथ सौंप दें, उन्हें वापस दे दें। मैं समझता हूँ कि स्वतन्त्रता और विवेक के नये अर्थ-सन्दर्भ रूढ़ियों से मुक्त होकर ही विकसित भी हो पायेंगे।

बहुत-से लोगों को स्वतन्त्रता और विवेक की यह स्थिति बिलकुल अराजकता की स्थिति लगेगी। उन्हें लगेगा जैसे उनकी समस्त अर्थवत्ता केवल एक व्यवस्थहीनता के हाथों कैसे सौपी जाये, लेकिन मानव आस्था की चरम परिणति यही है कि हम आज अपने इस दायित्व-बोध को सही समझकर उसे उस व्यक्ति मानव में प्रतिष्ठित करें जो सदियों से केवल तोड़ा गया है और जो आज टूट-टूटकर शायद इस दशा को पहुँच गया कि स्वतन्त्रता का कोई भी रूप उसे छूता ही नहीं, व्यवस्था चाहे जैसे हो उसमें वह केवल पिसता ही है। आज विवेक को कोई अर्थ ही उसके पास नहीं है, क्योंकि व्यवस्था ने विवेक को जो रूप दिया है वह

समग्रता की सापेक्षता में नहीं, कृत्रिमता के समर्थन में है। आज उसके पास विकल्प (चॉएस) की स्वतन्त्रता है ही नहीं। वह केवल एक विश्वास की स्थिति में, जो भी व्यवस्था या स्वतन्त्रता का रूप है, उसे केवल ढोता है, भोगता नहीं; और यदि भोगता भी है तो शायद क्लोरोफॉर्म की बेहोशी की दशा में। उसे पता नहीं कि वह किस सुख को किस मात्रा में और किस दुःख को किस सन्दर्भ में भोग रहा है। वह उसके ऊपर एक लादी गयी स्थिति है, उसकी अपनी विकल्प शक्ति से उद्भूत स्वीकृति नहीं है। यदि आज उसी के प्रति हम एक विकल्पात्मक स्वीकृति की दृष्टि बना लें तो शायद स्थिति बदल जाये।

स्व-विकल्प और विवशता की स्वीकृति (चॉएस एण्ड एक्सेप्टेन्स) की दृष्टि जिस वास्तविक भावबोध से उद्भूत होती है उसमें हमारी कल्पना की और हमारे स्वत्व की मर्यादा प्रतिष्ठित होती है। जो विवशता की स्थिति है, यदि हम उसी स्थिति को अपने विवेक और संकल्प से विकल्प कर लें अथवा उसको चुन लें और एक स्वीकृति के साथ उसको झेल लें तो यह विवशता एक सार्थक मूल्य भी बन सकती है। लघु-मानव इसीलिए इस अनिवार्य को चुनता है और इसके बीच से, इसको सम्पूर्ण भोग करके इस स्थिति को एक उपलब्धि की सीमा तक पहुँचाता है। जो भावुक हैं, रोमाण्टिक हैं, वे इसे विवश होकर भोगते हैं, और इसीलिए वह इस स्थिति को कभी भी एक सार्थक उपलब्धि की सीमा तक नहीं ले जा पाते। मेरा यह कदापि दावा नहीं है कि इससे जो उपलब्धि होगी वह केवल सार्थक ही होगी। वह हमें एक बड़ी निरर्थकता तक भी ले जा सकती है, किन्तु वह बड़ी निरर्थकता भी हमें किसी हद तक एक मूल्यगत दृष्टि तभी दे सकती है जब हमने उसे अपने विकल्प द्वारा स्वीकार किया होगा। जो अनिवार्य है उसके प्रति जब तक हमारी दृष्टि नहीं बनती, उसको स्वीकार करने का मानसिक स्तर (एटीट्यूड) नहीं बनेगा तब तक उसको वहन करने की क्षमता भी नहीं होगी। आज जितनी भी महामानवों की कल्पना है उसमें स्व-विकल्प की भावना न होकर केवल थोपी गई मर्यादा को ही हमें भोगना पड़ता है। सिकन्दर से लेकर आज नेहरू तक के युग में—इन इतिहास-पुरुषों ने साधारण जन के इस स्व-विकल्प की शक्ति का ही अपहरण किया है और उसको केवल अपने व्यक्तित्व की महत्ता के समक्ष छोटा साबित करके उनके 'लघुत्व' को निष्क्रिय बनाया है। यह व्यक्ति के विकल्प की शक्ति जब कुण्ठित हो जाती है, ये इकाइयाँ जब कुन्द और गोठिल हो जाती हैं तो इनका अस्तित्व केवल खपने के लिए होता है, जीवन के तत्त्वों को भोगने के लिए नहीं। भोग की दृष्टि न रहने से, विकल्प और स्वीकृति की क्षमता नहीं आती और हम केवल अध-भोगे जीवन के लंगड़ेपन से ही आक्रान्त होकर कहीं भी खप जाने के लिए विवश होते हैं। जीवन की प्रकृति है कि वह प्रत्येक क्षण अपने अस्तित्व का परिचय दे और स्थितियों का साक्षात्कार करे, चाहे वे स्थितियाँ अग्निवर्षा की हों, चाहे फूलों की वर्षा की हों। जब तक हम इन स्थितियों को खुद चुनकर स्वीकार नहीं करेंगे हमें स्थितियाँ भोगेंगी, हम स्थितियों को नहीं भोग पायेंगे। और जब कभी भी किसी चेतन, प्रबुद्ध, संकल्प की निष्ठा की जगह अनिवार्य निरीहता होती है तो हम सब केवल उस निरीहता में पटने और खपने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाते। हम अपनी निर्णय-शक्ति खो बैठते हैं और यन्त्रवत् परिचालित मन्तव्य के लिए खपने का काम करते हैं। आज की वस्तुस्थिति यह है कि अपनी स्वकल्प और स्वीकृति की शक्ति को हमने गिरवी रख दिया है और हर निर्णय के क्षणों में हम किसी दूसरे के क्षणों में किसी दूसरे के हाथों के यन्त्र बन जाते हैं। यह सब हम केवल इसलिए करते हैं कि हम महान् के आभा-मण्डल से द्रवित होते हैं और अपना अस्तित्व भूल जाते हैं। सुमित्रानन्दन पन्त और नामवर सिंह इस दृष्टि से एक स्तर पर आचरण करते हैं। लघु-मानव की कल्पना उससे इसी अर्थ में पृथक है कि वह अपने स्वकल्प और स्वीकृति के अधिकार को अपने पास सुरक्षित रखता है।

चेतन; प्रबुद्ध साहचर्य की भावना लघु-मानव के स्वकल्प और स्वीकृति की परिचालित मानव की वैभवत्रस्त मनःस्थिति से भिन्न है। इसीलिए वह पूर्व-निश्चित या पूर्वग्रह से मुक्त होकर अपनी नियति का स्वयं नियन्ता भी है। उसे कोई भी नियतिवादी जीवन-दर्शन आक्रान्त नहीं करता। वह जब चेतन और प्रबुद्ध इकाई के रूप में साहचर्य के भाव से क्षण के यथार्थ को स्वीकार करता है तो वह उसकी सम्पूर्ण तिक्तता या उल्लास को भोगकर उसके सन्दर्भ को भी बल देने की क्षमता रखता है, क्योंकि वह निष्क्रिय माध्यम नहीं है कि स्थितियाँ उसके ऊपर से गुजर जायें; वह सक्रिय, चेतन, प्रबुद्ध साहचर्य का प्रतीक है जो स्थितियों के प्रति क्रियाशील होता है। इस आमने-सामने की टकराहट (इन्काउण्टर) में वह केवल स्थितियों का वाहक नहीं बनता वरन् उसका भोक्ता बनकर उस स्थितियों को भी परिमार्जित और परिष्कृत करता है। वह 'गुड कण्डक्टर' के रूप में क्रियाशील नहीं होता। उसका आचरण 'डाइलेक्टिकल' होता है। वह प्रत्येक स्थिति को इसीलिए उसके साहचर्य में भोगकर उसको बदलने या विकसित करने की भी क्षमता रखता है। जब तक मानव-सन्दर्भ की इस स्थिति को स्वीकार नहीं करेंगे तब तक जीवन और उसके परिवेश की सार्थकता को भी हम नहीं समझ पायेंगे।

चेतन और प्रबुद्ध साहचर्य की भावना का एक दूसरा स्तर वहाँ है जहाँ काल से घिरे व्यक्तित्व में काल को धारण करने की भी क्षमता है, और यह क्षमता काल के प्रति उदासीन होकर नहीं आ सकती, यह उसके प्रति चेतन और प्रबुद्ध साहचर्य से ही आ सकती है। आज हमें जिस दर्शन की आवश्यकता है वह उस तिक्तता और विषाद को वहन करने की है जो हमारे चारों ओर विकसित है। उसकी निरर्थकता और अर्थहीनता को स्वीकार भी हम तभी कर सकते हैं जब हम उसके साथ एक प्रकार के साहचर्य की दृष्टि बना लें। इस दृष्टि के बनाने के लिए जो भी स्थितियाँ हैं उनको हम स्वतः अपने विवेक और अपनी प्रबुद्ध चेतना-शक्ति के साथ पूर्ण रूप से भोगना चाहिए—उसे स्वीकार करना चाहिए, तभी हम स्थितियों को भोगेंगे अन्यथा स्थितियाँ हमें भोगकर गुजर जायेंगी

और काल के प्रत्येक सन्दर्भ में या तो हम निष्क्रिय होकर जियेंगे या केवल उच्छिष्ट होकर रह जायेंगे। जीवन की सबसे पतनशील स्थिति ही वह होती है जब हम स्थितियों को नहीं भोगते, स्थितियाँ हमें भोगने लगती हैं। आज की अपराजेय विवशता में जो सबसे बड़ा व्यंग्य है वह यही है कि आज स्थितियाँ हमें भोग रही हैं, हम उन्हें नहीं भोग रहे हैं। विवेकशील प्रबुद्ध और चेतन लघु-मानव की कल्पना में जो भोग का नया आयाम है वह इसी का है कि हम इन स्थितियों को अपनी सम्पूर्ण जागरूकता के साथ भोग सकें, एक अकर्मण्य, स्वप्नरत, इलहाम की मुद्रा में केवल स्थितियों को अपने ऊपर से गुजर न जाने दें वरन् उनका साक्षात्कार और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया की सापेक्षता में उनके आमने-सामने (इन्काउण्डर) में जाने की क्षमता प्राप्त कर सकें। इसीलिए लघु-मानव की सम्पूर्ण संवेदना काल की धारणा को प्रस्तुत क्रियाशीलता के स्तर पर ग्रहण करती है और उसके अनिवार्य को अपने स्वविकल्प से भोगना चाहती है।

प्रवहमान क्षण का दायित्व और उसके सम्पूर्ण भोग की स्वीकृति में काल का बोध आवश्यक है। काल को हम स्थिर रूप से नहीं स्वीकार कर सकते। वह प्रवहमान है। हम उस काल से घिरे हुए व्यक्ति हैं और हम देख रहे हैं कि देश की सापेक्षता में काल तिरोहित नहीं होता वरन् वह नये सन्दर्भों से जुड़ता चलता है। ऐसी स्थिति में हमें एक ऐसी दृष्टि चाहिए जो काल की इस प्रवहमान प्रकृति को और उसके नये जुड़ते हुए सन्दर्भों को एक सक्रिय रूप में ग्रहण कर सके। प्राय: लोग क्षण के इस 'पोटेन्शल' अस्तित्व को केवल संकीर्ण अर्थ में लेकर उसके अर्थ को अनर्थ की सीमा तक ले जाते हैं। वह यह भूल जाते हैं कि कालबोध की इस इकाई का सन्दर्भ इतना महत्वपूर्ण है कि निर्बाधता और स्वच्छन्दता को यदि मुक्त होकर नहीं ग्रहण किया जायेगा तो काल की गति के साथ चलना असम्भव होगा। इतिहास-बोध एक ठहराव है और परम्परा उस ठहराव को वहन करती है। प्रवहमान क्षण का बोध एक गति है और मनुष्य के चेतन प्रबुद्ध साहचर्य की भावना उस गतिशीलता को वहन करती है। अभी तक इतिहास ने जो ठहराव पैदा किये हैं और परम्परा ने जो लुंजता मानव जिज्ञासा को दी है, उसकी महामारी का अनुभव मानव जाति को पूर्ण रूप से हो चुका है। परम्परा पुनरावृत्ति को प्रश्रय देती है इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी आदिम जिज्ञासा के माध्यम से जो भी दृष्टि बनायें उसे वर्तमान से सम्बद्ध करें; अतीत से नहीं। यदि वर्तमान को हमने जागरूक और चेतन प्रबुद्ध व्यक्ति के रूप में भोग लिया है तो भविष्य तो अपने आप उस प्रवाह की गति का द्योतक हो जाता है अन्यथा जब इतिहास-मोह और परम्परा किसी भी संस्कृति पर हावी हो जाती है तो वर्तमान मुक्त नहीं हो पाता और भविष्य की समस्त सम्भावनाएँ कृत्रिम हो जाती हैं। इतिहास या अतीत इस दृष्टि से हमें केवल 'स्मृतियों' की दीक्षा देता है। वर्तमान जब तक इस स्मृति से मुक्त नहीं होगा तब तक वह एक गतिमान भविष्य का, आगत सत्य का आग्रह नहीं स्वीकार पायेगा। इसीलिए मुझे यह बार-बार अनुभव होता है कि प्रवहमान क्षण के दायित्व को हम उस समय तक वहन नहीं कर सकते जब तक कि हम इतिहास-मुक्त होकर अर्जित स्मृति को भुलाने की शक्ति को नहीं पहचानते: तब तक शायद आज की समस्त संवेदना को भोग भी नहीं सकते। इस युग की सबसे बड़ी विडम्बना यही है कि पुरानी दुनिया नयी दुनिया पर इतनी आक्रमणशील है कि नयी की सारी शक्ति का उस पुरानी, चिथड़ों से लदी दुनिया के बीच से निकलना कठिन है। दुनिया के पास युद्ध, शान्ति, जय-पराजय की स्मृतियों का इतना बड़ा ध्वंसावशेष है कि हर नयी गति को वह उन्हीं धूल-धूसरित खण्डहरों में भटका देती है। तपस्या, साधना, उत्सर्ग—यह सब उन्हीं स्मृतियों से निकलते हैं और वर्तमान के भुक्त भोग को तो कलुषित करते ही हैं, साथ ही भविष्य के प्रति भी एक विकलता को जन्म देते हैं, एक टूटे प्राचीन की छाप छोड़ देते हैं। इस भ्रम का सम्पूर्ण मानव-जीवन इसी विष से विषाक्त है। अणुशक्ति का संयोजन, जो वर्तमान की उपलब्धि और भविष्य की शक्ति हो सकती थी, आज युद्धों की स्मृति और उत्सर्गों के आतंक में केवल ध्वंसकारी प्रवृत्तियों को जन्म देकर सारी सृष्टि की संकल्प-शक्ति को अस्थिर किये हुए है। इतिहास की इस विषाक्त परिणति से मुक्त होने के लिए आवश्यक है कि हम प्रवहमान क्षण के दायित्व को नये अर्थ परिवेशों में ग्रहण करके स्वीकार करें।

भोग और सह-अनुभूति की दृष्टि—लेकिन किसी भी नितान्त वर्तमान के दर्शन को उसकी समग्रता के साथ ग्रहण करने के लिए, उसकी सम्पूर्णता का साक्षात्कार करने के लिए, यह आवयक है कि हम उसके प्रति एक उचित दृष्टिकोण बनायें। यह दृष्टिकोण प्राय: खण्डित होता रहा है, क्योंकि या तो उसके ऊपर अतीत का वैभव रहा है या भविष्य का झूठा या अनिश्चित भ्रम। आज के सन्दर्भ में यह नितान्त आवश्यक है कि हमारे पास जो भी जीवन दृष्टि हो वह वर्तमान को पूर्णत: स्वीकार करके, उसकी समस्त विवशताओं, अपवादों और उपलब्धियों को भोग सके। मैं यह मानता हूँ कि इस वर्तमान में अतीत और भविष्य दोनों समाहित हैं और इन दोनों समाहित तत्त्वों के प्रति न्याय भी तभी हो सकता है जब हम वर्तमान को एक जीवन्त और विवेकशील प्राणी होकर भोगेंगे। कोई भी जीवन-दर्शन, जो वर्तमान के प्रति अपनी दृष्टि नहीं रखता, वह अतीत के प्रति भी अन्याय करता है और भविष्य के प्रति भी। इसलिए जब मैं यह कहता हूँ कि वर्तमान के भोग और उसके साथ रसानुभूति की जगह सह-अनूभूति की दृष्टि बनाये बिना सार्थकता नहीं मिल सकती तो उसका अर्थ यही है कि जब तक हम अतीत और इतिहास-मुक्त तथा भविष्य के स्वप्नजाल से मुक्त नहीं होंगे—वर्तमान की उपलब्धियों को ग्रहण करने में हम असमर्थ रहेंगे। भोग जीवन की अनिवार्य स्थितियों में से है। जो भी है उसे बिना भोगे मुक्ति नहीं है। अतीत की ओर उन्मुख दृष्टि उस वर्तमान को पीछे खींच कर ले जाना चाहती है और अतीत के सन्दर्भ में उसे भोगने की चेष्टा करती है; भविष्यवादी उसे भविष्य की ओर खींचकर ले जाता है और भविष्य के सन्दर्भ

में उसे भोगना चाहता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, ये दोनों उस वर्तमान के साथ अन्याय करते हैं और उसकी समग्रता को खण्डित करके उसकी प्रकृति को एक निश्चित अनर्गलता की ओर ले जाते हैं। इसके साथ ही मैं यह भी मानता हूँ कि जो भी वर्तमान है उसमें उतना अतीत स्वभावत: रहता ही है जितना कि स्वाभाविक रूप में हममें भी न जाता है। ठीक उसी प्रकार भविष्य भी उतना ही रहता है जितना कि वर्तमान की समग्रता अपने परिवेश में स्वीकार करती है। भोग की दृष्टि इसीलिए आवश्यक है ताकि उसे समग्रता को—जिसमें सुख-दु:ख आनन्द-वितृष्णा—सब व्याप्त होते हैं, उनको एकरस, समरस होकर वहन करने की क्षमता हममें आ सके। मैं नहीं समझता कि कोई भी जीवन दृष्टि बिना इस सामान्य दृष्टि के वर्तमान के प्रति न्याय कर सकती है। भोग एक क्रियाशील चेतना है जो हमें पूर्ण बनाती है और यह पूर्णता हमें तभी मिल सकती है कि जब इसे हम नितान्त जागरूकता एवं विवेक के साथ प्रबुद्ध होकर भोग सकेंगे!

प्राय: लोग क्षण के दायित्व और भोग को एक कृत्रिम प्रकार के सन्दर्भ से जोड़कर अवसरवादिता और स्वार्थरत प्रवृत्ति के अर्थ में इन दोनों का मजाक उड़ाते हैं। यदि क्षण के दायित्व को भोगने में ये दोनों भी आते हैं और उस समग्रता के अंग हैं तो इन्हें भी विवेकशील होकर भोगा जा सकता है। अवसर बुरी चीज नहीं है और स्वार्थ भी बुरी चीज नहीं है। ये दोनों यदि विवेक और प्रबुद्ध चेतन के माध्यम से भोगे जा सकते हों तो इनके प्रति आपत्ति क्यों हो? लघु-मानव की कल्पना में यह निहित है कि किसी भी सारगर्भित स्थिति को वह विवेक के माध्यम से प्रबुद्ध मन से भोगता है। जीवन और है क्या? वह तो इसी क्षण से क्षण तक विकासशील सापेक्ष सत्य की शृंखला है और उसकी प्रत्येक कड़ी उतनी ही सार्थक है जितना कि विवेकशीलता द्वारा प्राप्त अर्थ। आज हमें उसी अर्थ की खोज है—ऐसा अर्थ जो हमें समग्र वर्तमान का साक्षात्कार कराने में सहायक हो।

छोटे आदमी और स्वर्ण-आलोक से आभामण्डित मानव की बात मैं पहले कह चुका हूँ। लघु-मानव के सन्दर्भ में वे दोनों निरर्थक हैं। लेकिन यहीं प्रश्न उठता है कि लघु-मानव मानव-सापेक्ष है कि नहीं। लघु-मानव की कल्पना की सापेक्षता के लघुतम से द्रवित है। वह निरपेक्ष तो है ही नहीं, और यदि वह मानव-सापेक्ष है तो वह पूर्ण भी है। इसी सन्दर्भ में सह-अनुभूति की सार्थकता भी स्पष्ट हो जाती है। रसानुभूति निरपेक्ष है। वह केवल स्थिति, भाव-स्थिति से द्रवित तथ्य है। सह-अनुभूति की स्थिति में चेतन-सापेक्ष है। वह अपने भीतर यह मानकर चलता है कि जो कुछ उसका सुख है दु:ख है वह उसका भी है जो उसी स्थिति को विभिन्न परिवेशों या उसी परिवेश को विभिन्न स्थितियों में भोग रहा है। लघु-मानव की कल्पना इसीलिए किसी मसीहा या खुदा के बेटे या अवतार की कल्पना नहीं है। वह पुंजीभूत मानव अनुभूति और संवेदना का वाहक है। अन्तर उसमें विभिन्नता की सार्थकता का है उसकी निरर्थकता का नहीं। वह सत्य को एक आयाम की वस्तु नहीं मानता और उसके विभिन्न आयामों की सार्थकता को स्वीकार करता है। वह न तो आँख मूंदकर चलता है और न इतनी ज्यादा आँखें ही फाड़ देता है कि वर्तमान उसमें से दीख ही न पड़े। इसीलिए वह वर्तमान के साथ सह-अनुभूति का भी वाहक है। वह अपने साथ और आयामों को मिला लेता है ताकि समग्रता का रूप पूर्ण हो सके और उसकी सार्थक उपलब्धि प्राप्त हो सके। लघु-मानव इसीलिए साम्प्रदायिक मानव भी नहीं है। वह गुणात्मक बोध को स्वीकार करता है और तभी वर्तमान के प्रति दृष्टि बना पाता है, वर्तमान को अर्थ दे पाता है। वह साम्प्रदायिकता के व्यंग्य को भी भोगता है, क्योंकि वह विभिन्नता का वाहक है। इस भोग में उसके मन में किसी प्रकार की कुण्ठा नहीं व्याप्त होती, क्योंकि वह जो अनर्गल है उसे वह व्यंग्य के रूप में स्वीकार करने की क्षमता रखता है :

एक घटना में,
एक दुर्घटना में,
दर्द का आयाम बढ़ जाता है
उस दर्शक को मिला लेने से
जो कहीं का ठुकराया
किसी अनहोनी की खोज में
नदियों के भीगे किनारों पर
नंगी सड़कों की लम्बी डालों पर
मारा-मारा फिरता
किसी निश्चय पर
पहुंच गया हो।

–विपिन

इतनी व्याख्या करने के बाद भी लघु-मानव का कल्पना के प्रति मेरी कोई रूढ़ भावना नहीं है। यह तो आज की निश्चित स्थिति से उपजी हुई कल्पना है। वह सह-अनुभूति के साथ-साथ सहिष्णुता का भी वाहक है, क्योंकि बिना सहिष्णुता के वह व्यंग्य, विपर्यय, विघटन के बीच से अपने विवेकशील चेतन प्रभुत्व स्वत्व को किसी भी नये आयाम तक नहीं ले जा सकता वह नैतिक मानव भी नहीं है जो पूर्वग्रहग्रसित हो, वह नैतिक अपवाद तो हो सकता है, किन्तु वह नैतिकता को जीवन का मात्र तत्व नहीं मानता! इसीलिए वह सहिष्णुता को ही स्वीकार करता है, 'कन्वर्शन' को नहीं। प्रत्येक स्थिति और अनुभूति हमें परिष्कृत (ट्रान्सफॉर्म) करती है। यह परिष्कृति ही हमें वह दृष्टि देती है जिससे हम भावनात्मक स्तर पर एकानूभूति (मोनोडिक) को व्यापक स्तर पर ग्रहण करते हैं और देखते हैं। यह दोनों—एकानुभूति और व्यापक भाव-स्थितियाँ बिना सह-अनुभूति और सहिष्णुता के सम्भव नहीं हैं। नैतिक मानव इन स्थितियों को छोड़ देता है। उसके लिए एकानुभूति (मोनोडिक) केवल एक सन्दर्भ में ही अर्थ रखती है और वह है समस्त विश्व की नैतिकता। मैं समझता हूँ यही कारण था कि तुलसीदास-जैसा कवि जब उस स्तर पर पहुँचता है तो अनर्गल हो जाता है और वह यह कह बैठता है कि जो उसकी धारणा और नैतिकता में सहमत नहीं है, वे सूकर, श्वान, काक, कीट, पतंग हैं। नैतिकता के प्रति आग्रहशील व्यक्ति या भाव-धारा सदैव यह गलती करेगी। वह शायद व्यक्ति की उस पावनता को भी नहीं स्वीकार करेगी जो विवेकशील, संकल्पात्मकता के आधार पर उसमें भिन्न हो। लघु-मानव के पास इस दृष्टि का कोई आग्रह नहीं है। वह स्वतन्त्र है। उसकी नैतिकता भी क्षण के सन्दर्भ से जुड़ी हुई है और उसके मन का विवेक ही उसकी सार्थकता या अनर्थ का स्वतन्त्र निर्णायक है। इसीलिए उसके सामने यह प्रश्न नहीं उठता है कि वह ईमानदार है, वह बेईमान है। उसके सामने एकमात्र दृष्टि है कि यह ग़लत है, यह सही है। उसका सही भी गलत हो सकता है और दूसरे का गलत भी सही हो सकता है, इसका निर्णय विवेकशील दृष्टि ही कर सकती है। इसीलिए वह चुनाव की स्थिति, विकल्प की स्थिति में रहता है। आज की अपराजेय विवशता को वह विकल्प की स्थिति में ग्रहण करता है और उस विकल्प में जीवन्त शक्तियों का वह वाहक होता है। अपराजेय विवशता की स्वीकृति में इसीलिए वह हतोत्साहित नहीं होता, उदासीन या 'सिनिक' भले हो जाये। इसलिए वे लोग जो लघु-मानव के विरुद्ध कुण्ठा, पराजय, आत्महत्या आदि का आरोप करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि लघु-मानव यदि इन स्थितियों को स्वीकार करता भी है तो आज के युग की सापेक्षता के सन्दर्भ में विकसित तथ्यों के रूप में ही, और ये तथ्य आज के अध-भोगे जीवन से विकसित हुए हैं। यह अध-भोगा जीवन हमें अपने पूर्वजों से मिला है, क्योंकि उन्होंने अपने युग में वर्तमान को केवल स्वप्नरत होकर भोगा है, उससे साहचर्य स्थापित करके नहीं।

आज का मानव तीन स्तरों पर विशृंखल है : पहला तो उसे इतिहास से जो मिला है वह खण्डित सत्य है, अध-भोगे जीवन का सत्य है। दूसरे उसे जो वर्तमान मिला है वह संक्रमणशील वर्तमान है, अपूर्ण वर्तमान है और काफी सीमा तक पूर्वग्रहों से ओतप्रोत वर्तमान है। तीसरे आज का मानव अनिश्चय की स्थिति में है। वह यह निश्चित नहीं कर पा रहा है कि वह जो अध-भोगे सत्य उसे अभिशाप रूप में मिले हैं इसे वह स्वीकार करे या अस्वीकार। यह तो हमें मानना पड़ेगा कि इन सब विषमताओं ने आज के मानव को सर्वदा भिन्न बना दिया है। इसी अर्थ में मैं कहूँगा कि आज के मानव ने अपने को प्रस्तुत ऐतिहासिक सन्दर्भ से मुक्त करके, जिस सीमा तक अध-भोगे सत्य का तिरस्कार किया है, उस हद तक उनकी मनोदशा को समझना कठिन हो गया है। ऐतिहासिकता से मुक्ति की कल्पना में जो सत्य खण्डित होता है वह पूर्वनिश्चित व्यवस्था, पूर्वनिश्चित नियतिवादिता और पूर्वनिश्चित मर्यादा का। आज जो हमें लगता है कि सब कुछ विघटित हुआ जा रहा है, टूटा जा रहा है, भ्रमित होता जा रहा है, उसका एकमात्र कारण यह है कि ऐतिहासिकता से पृथक नितान्त अनैतिहासिकता के सन्दर्भ में वह जीना चाहता है। व्यवस्था के पूर्वनिश्चित रूप का वह खण्डन करता है, नियतिवादिता के पूर्वग्रह को वह स्वीकार नहीं करता। तब ऐसी स्थिति में वह यही नहीं कि इनको छोड़कर आगे बढ़ने की चेष्टा करता है वरन् वह इनको तोड़ता भी है, और यह तोड़ना शायद उस नये सन्दर्भ के अन्वेषण की क्रियाशीलता में आ जाता है जिसे वह पाना चाहता है। अति-ऐतिहासिकतावादी को यह स्थिति आत्महत्या की-सी लग सकती है, उसे यह निरर्थकता और कुण्ठा भी लग सकती है लेकिन इस प्रक्रिया में जो वस्तु सबसे अधिक मूल्यवान है और जिसे वह लोग नहीं देख पाते, वह आज के मानव की वह संकल्प-शक्ति है जिसके आधार पर वह सह-अस्तित्व के स्थान पर सहभोग के चिन्तन को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करता है। आज के मानव की इस चिन्तन-प्रक्रिया में वह सह-अस्तित्व से अधिक सहभोग की स्थिति को अधिक मूल्यवान मानता है, क्योंकि सह-अस्तित्व में कवेल अस्तित्व-बोध की निष्क्रियता है, अस्तित्व की सक्रियता नही। अस्तित्व की सक्रियता में, उसके भोग-बोध में जो जिज्ञासा पनपती है वह मात्र स्थिर अस्तित्व की नहीं होती, वह क्रियाशील अस्तित्व की भी होती है। इस जीवन-दृष्टि से जिन अर्थों में सह-अस्तित्व को वह खण्डित करता है उन्हीं अर्थों में वह व्यवस्थाहीन, आत्मघाती, अर्थहीन, निरुद्देश्य लग सकता है; किन्तु साथ ही उसी स्थिति को वर्तमान की समग्रता को इतिहास की सम्पत्ति के रूप में नहीं भोगता, वरन् वह उसे अपने सन्दर्भ की पूर्णता की मात्रा भी भोगता है। जो इस तथ्य को नहीं देख पाते उन्हीं को लघु-मानव की कल्पना में ये विध्वंसकारी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं। लघु-मानव इतिहास के प्रति भले ही उत्तरदायी न हो, वह वर्तमान के प्रति उत्तरदायी होता है और वह जिस आत्मनिष्ठा से विवेकशील, पोटेंशल को वहन करता है वह इन सभी अपवादों की स्वीकृति के साथ मानव-स्वतन्त्रता को अधिक मूल्य प्रदान करने में समर्थ है। यदि आज इस स्वतन्त्रता को हम प्रतिष्ठित कर सकें तो, मुझे लगता है, मनुष्य अधिक मुक्त और स्वाभिमानपूर्ण होकर जी सकेगा।

लघु-मानव की पूरी कल्पना की पृष्ठभूमि में व्यापक स्तर पर सहभोग की स्थिति वर्तमान है, वह सहभोग की अनुभूति के बिना सार्थक नहीं हो सकती। आज जिस सन्दर्भ में हम जीवित हैं वह सन्दर्भ ही इस सम्पूर्ण विषाक्त स्थिति से उपजा है। टूटे मूल्य, विघटित मान-मर्यादा, खण्डित प्रतिमाएँ, अपूर्ण भोग की स्थितियों का व्यंग्य—इन सबके भोग को भी लघु-मानव स्वीकार करता है। हम कमल और कर्दम दोनों को भोगते हैं। जो केवल कमल को कर्दमहीन समझकर अपना हाथी-दांत की मीनार वाला दर्शन बनाते हैं वे शायद यह नहीं जानते कि हम उसके व्यंग्य को भोगते हैं और उस व्यंग्य को सार्थक पुंसत्व के साथ भोगते हैं, साथ ही कर्दम की अपराजेय विवशता को भी भोगते हैं। वे शिकायत कर सकते हैं कि हम दोनों की सहभोग स्थिति में भोगने वाले कमल की कल्पना को खण्डित करते हैं किन्तु हम उन दोनों को क्रियाशील होने के नाते, विवेकशील और स्वतन्त्र होने के नाते अधिक सम्पन्नता के साथ भोगते हैं। हमारा यह दाय है, परिणति नहीं क्योंकि हम यह जानते हैं कि कर्दम के अस्तित्व से ही कमल का अस्तित्व है। दृष्टि की इस व्यापकता को यदि 'स्वर्ण-मानव' या साम्प्रदायिकता मानव नहीं स्वीकार करता तो कृत्रिमता, अक्षमता उसकी हो सकती है लघु-मानव की नहीं। लघु-मानव जब अपराजेय विवशता को स्वीकार करता है तो वह उसे स्वीकृति की मुद्रा में वहन करता है, शिकायात की कुण्ठा में नहीं—वह शायद यह भी मानता है कि—

गो कि हम सफ़हे हस्ती पे थे इक हर्फ़े ग़लत।
लेक जब उठे भी तो इक नक़्श बिठा के उठे।।

—मोमिन

और अन्त में, जैसा कि मुझे लगता है, मुझे यही कहना है कि आज के सन्दर्भ में बिना इस प्रकार की जीवन-दृष्टि के शायद हम सार्थक दृष्टि में नही जी सकते। यदि मेरे इस व्याख्या-विश्लेषण में कहीं भी यह लगे कि यह 'स्वर्ण-मानव' या साम्प्रदायिक मानव के समक्ष कहीं किसी विशेष 'कल्ट' को प्रश्रय मिला है तो वह मेरी अभिव्यक्ति की कमजोरी हो सकती है, उद्देश्य की नहीं।

(नये प्रतिमान: पुराने निकष से)

22. अर्थ की लय

-जगदीश गुप्त

बात अब बहुत आगे बढ़ आयी है। कई अर्थों में। एक अर्थ वह जो उन लोगों द्वारा ग्रहण किया जाता है जिन्हें पैरों के नीचे से खिसकती धरती का आतंक 'नयी कविता, ह्रास की ओर' जैसे विषयों पर आयोजित आकाशी परिसंवादों में तिनकों का सहारा खोजने के लिए बाध्य करता है अथवा जिन को नयी कविता की अदम्य अप्रतिहत प्रगति जब किन्हीं अन्य उपायों से रुकती नहीं दिखाई देती तो, राह में ईंट-पत्थर, कील-काँटे, झाड़-झंखाड़ बिछाने में ही आत्मगौरव एवं आत्मसन्तोष का अनुभव होता है। दूसरा अर्थ वह जो एक सीढ़ी से दूसरी और दूसरी से तीसरी के क्षिप्र एवं विश्वस्त सन्तरण की व्यंजना करता है और जिसे वे लोग ग्रहण करते हैं जिन्हें वर्षों से सोयी काव्य-चेतना नयी कविता के रूप में नवोन्मेष और नवसृजन के संकल्पों से आलोकित-आपूरित दिखाई देती है। उगती हुई हर अरुणाभ किरन को मरोड़ते हुए जो सूरज को (पानी की तरह) मुँह में दबा रखने के लिए कटिबद्ध हो रहे हैं उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि अब यह सूरज प्रभात का नहीं रहा, इस के ललाट से मध्याह्न का तेज फूटने लगा है और अब इस को छूने-मिटाने का साहस 'संकटमोचन' पवनपुत्र ही नहीं बनायेगा, वह वर्षों तक गुफावास करने के लिए झुलसे पंखों वाला क्षुधाजीर्ण संकटग्रस्त सम्पाती भी बना कर छोड़ सकता है।

कुछ नामभीरु धनुर्धरों ने मन ही मन नयी कविता के पुतले जलाये पर जब उस से भी वह दिवंगत नहीं हो सकी तो उसे व्याकरण के बाणों से क्षत-विक्षत करने का संगठित प्रयत्न किया। नयी कविता फिर भी अक्षत रही क्योंकि बाद में पता चला कि उन के वे सारे धराऊ शर कुण्ठित ही नहीं कुण्ठाजात भी थे।

यह मानना होगा कि नयी कविता ने युगों बाद प्रखर ओजस्विता के साथ इस प्रश्न को एक बार फिर से उठा दिया है कि काव्य की आत्मा क्या है? कौन सा वह तत्त्व है जिस के होने से शब्दार्थ 'कविता' बन जाता है? 'अलंकार', 'रीति', 'वक्रोक्ति' और 'ध्वनि' के समाधान खण्ड-सत्य को अथवा सत्य के परिपार्श्व को ही व्यक्त करते हैं। रस भी आज कदाचित् अन्तिम उत्तर स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह सारे समाधान मध्य-युगीन चिन्ता-धारा से उत्पन्न हुए हैं अत: स्वाभाविक रूप से इन में मनुष्य के प्रति वही दृष्टिकोण अन्तर्निहित है जो मध्यकाल के जीवन की प्रकृति के अनुरूप सम्भव था। अलंकार, रीति और वक्रोक्तिपरक समाधान उस युग की विलासमूलकता तथा कौशल-प्रियता को विशेष प्रतिबिम्बित करते हैं अत: मानवीयता का अंश इन में कम है। ध्वनि-मत प्राय: तटस्थ है यद्यपि वह मानवीय अर्थ-चेतना की ओर गम्भीर संकेत करता है। रस-परक समाधान इन सब की अपेक्षा कहीं अधिक मानवीय है परन्तु जहाँ एक ओर वह अलौकिक आनन्दानुभूति का पोषक है वहाँ अनिवार्य रूप से उस की स्थिति भावावेग के समक्ष बौद्धिक चेतना को उपेक्षित अथवा पराजित माने बिना सम्भव नहीं होती। बुद्धि की क्रियाओं पर आवरण डाल कर चित्तवृत्ति को स्थायी भाव से सम्पृक्त कर के चरम आनन्द की दशा तक ले जाना उस की प्रक्रिया का निश्चित रूप माना गया है। आज के सजग बौद्धिक-चेतनाशील मनुष्य को बिना विचारों का परितोष प्राप्त किये इस प्रकार आदिम संवेग से विगलित हो जाने में आनन्द की ही नहीं पराजय की भी अनुभूति हो सकती है और शायद कभी-कभी होती भी है। कम से कम इतना तो निर्विवाद सत्य है कि वह एकान्त क्षणों में अपने चित्त को द्रवित करने वाली कला-कृति के नैतिक-मूल्य के प्रति सजग हो कर, व्यापक सामाजिक परिवेश में अपने को रख कर विचार करते हुए, उस के पुनर्मूल्यांकन के लिए आत्मप्रेरणा से अब स्वयं बाध्य होता है। परिणाम यह निकलता है कि अपने इस नये उलझाव के कारण वह पूर्णतया आनन्द से अभिभूत नहीं हो पाता। कुछ अवस्थाओं में उसे अपना पूर्वमत बदलना पड़ जाता है तथा विकसित बौद्धिकता के कारण ही वे कलाकृतियाँ जो कभी उसे सहज ही रसप्लावित करने में सक्षम होती रहीं, वैसा प्रभाव पुन: उत्पन्न करने में असमर्थ सिद्ध होने लगती हैं। ऐसी दशा में उसे प्रतीत होने लगता है कि जैसे रस उसी मनुष्य के लिए काव्य का अन्तिम समाधान हो सकता है जो आज के वैज्ञानिक युग की चेतना से सर्वथा असम्पृक्त रहा हो, जिसे संवेग के आगे अपने बौद्धिक व्यक्तित्व की पराजय से क्षोभ न होता हो, जो यथार्थ से विमुख हो कर मात्र भावुकता के आवेश से कल्पना लोक का प्राणी बनने में ही जीवन की सार्थकता समझता हो। आज के युग के बुद्धिजीवी मनुष्य के लिए यह संभव नहीं है कि वह यथार्थ की उपेक्षा कर दे या संवेग से पराजित सौन्दर्य-बोध से पूरी तरह अपना समझौता कर ले। उसे अब ऐसे सौन्दर्यबोध की अपेक्षा होने लगी है जिस में उस की भावात्मक सत्ता के साथ-साथ उस के बौद्धिक व्यक्तित्व का भी सन्तुलित समावेश हो। बिना किसी प्रकार की पराजय एवं क्षोभ के वह अपनी सम्पूर्ण चेतना को आस्वादन से पूर सके। इसे एक दृष्टि से नये स्तर पर रसास्वादन की प्रतिष्ठा कहा जा सकता है और दूसरी दृष्टि से नये सौन्दर्य-बोध का उदय। नयी कविता इसी नये सौन्दर्य-बोध के आविर्भाव और आग्रह की सृष्टि है। उस में कला को मात्र मनोरंजन का साधन न मान कर मानवीय धरातल पर ग्रहण करते हुए उसे मानव-व्यक्तित्व के निहित एवं अकृत्रिम रूप की खोज में प्रवृत्त किया जा रहा है: वर्तमान युग की परिस्थितियों को देखते हुए यह सही दिशा कही जा सकती है। विचार-संयुक्त भावाभिव्यक्ति द्वारा मानव-व्यक्तित्व के प्रति अधिक से अधिक आत्म-विश्वास उत्पन्न हो यही आज की कविता और कला का वास्तविक लक्ष्य है। स्त्री-शूद्र की भर्त्सना और जर्जर वर्ण-व्यवस्था की तद्वत् पुन: संस्थापना के उद्देश्य से प्रेरित हो कर लिखी गयी परम रसात्मक कविता भी आधुनिक चेतना से युक्त भारतीय 'सहृदय' को असम्पृक्त अथवा खिन्न छोड़ जायेगी यह एक कटु सत्य है। फिर यदि यह कहा जाता है कि "Your modern poet does expect you to use your brains", अथवा "A monstrous new

conception of poetry, which requires one to think before one can begin to enjoy" तो इस में कौन सा अपराध है।[1]

अर्थ की लय का प्रश्न नयी कविता के रूप-विधान से सम्बन्ध रखता है। लय के अभाव का उद्घोषण कर के नयी कविता पर वज्र-प्रहार करने की वृत्ति अभी कम नहीं हुई है इसीलिए यहाँ इस समस्या को कुछ विस्तार के साथ उठाया जा रहा है। वस्तुत: विरोधी पक्ष को जब अपने और सारे तर्क झूठे पड़ते दिखाई दे रहे हैं तो वह इसी 'सींक के बाण' को मन्त्र पढ़-मढ़ कर ब्रह्मास्त्र बनाने के लिए कटिबद्ध हो रहा है।

'शब्द' और 'अर्थ' तत्त्वत: पृथक् सत्ता रखते हैं। संगीत में शुद्ध 'शब्द' ध्वनि एवं नाद रूप में ग्रहीत होता है - अर्थ से असम्पृक्त, निरपेक्ष इसी प्रकार लिपि में तथा अन्य संकेत-विधियों में 'अर्थ' शब्द-निरपेक्ष होकर अवतरित होता है। शब्द श्रवणीय है; अर्थ बुद्धि-ग्राह्य। वाणी एवं साहित्य में ही आकर शब्द और अर्थ दोनों अन्योन्याश्रित, असपृक्त तथा अभिन्न अवस्था प्राप्त करते हैं। शब्दार्थ के युगनद्ध एक-प्राण हो जाने में ही साहित्य की सार्थकता है। 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' तथा 'गिरा अरथ जल-बीचि सम' ज़ैसी उक्तियाँ केवल साहित्य अथवा काव्य को लक्षित कर के ही लिखी गयी हैं।

'लय' गति और यति के पारस्परिक संघात से निष्पन्न होती है। यति विरामात्मक एवं कालसापेक्ष होती है अतएव लय भी तात्त्विक दृष्टि से आवृत्ति-मूलक और कालसापेक्ष सिद्ध होती है। 'लय तत्त्व आणि संगीत' शीर्षक लेख में मराठी विचारक अरविन्द मारूलकर ने इस तथ्य की ओर स्पष्टता से निर्देश किया है।[2] उन्होंने लय-तत्त्व को अमूर्त, स्वयम्भू और स्वतन्त्र मानते हुए उस की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता 'संभरण-शक्ति' की ओर भी निर्देश किया है। कविता तथा अन्य ललित कलाओं में लय-तत्त्व की इतनी महत्ता वस्तुत: उस की इसी शक्ति के कारण रही है। कला कृतियों के प्रभाव का विश्लेषण करने पर उस का एक महत्त्वपूर्ण गुण और लक्षित होता है और वह है अपने क्रमिक संस्पर्श से भावावेग को उद्दीप्त करने की क्षमता। सूक्ष्म अध्ययन के द्वारा लय तत्त्व का जीवन से बहुत अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध प्रमाणित होता है। उस की व्याप्ति चेतना के क्षेत्र में बहुत गहरी है। हृद्गति, श्वास-प्रश्वास, ऋतु-चक्र, दिन-रात आदि का अनुभव तो क्रमिक रूप में होता ही है, जीव-विज्ञान में जैविक-शक्ति के साधारण क्रिया-कलाप में भी वैज्ञानिकों को लयात्मक रूप 'पैटर्न' की स्थिति परिलक्षित होती है। मानव मस्तिष्क की प्रक्रिया भी लययुक्त सिद्ध हुई है।

शब्दार्थमयी कविता का इस लय-तत्त्व से जन्मजात सम्बन्ध है जो मूलत: इतना घनीभूत एवं व्यापक है कि लय को कविता का एक अनिवार्य अंग स्वीकार किये बिना उस के सम्पूर्ण स्वरूप की व्याख्या करना कठिन होता है। कविता की उत्पत्ति क्यों होती है यह कहना कठिन है पर इतना तो सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि वह मनुष्य के भावसंवलित, संवेदनापूर्ण एवं आवेगयुक्त विशिष्ट क्षणों में ही बीज रूप से जन्म लेती हैं और बाद में बीज का फूलना, फलना, बिकसना भी प्राय: एक प्रवाह के आश्रित रहता है। 'प्रवाह' शब्द में जो कल्पना निहित है उस के सहारे कविता के रचना-विधान की प्रकृति को और भी सूक्ष्मता से समझा जा सकता है। जहाँ तीव्र गति होती है और साथ ही गहराई भी वहाँ स्वाभाविक रूप से आवर्तन-विवर्तन की प्रक्रिया उत्पन्न हो जाती है। लय की कविता के साथ आवयविक समन्विति इसीलिए होती है कि वह अर्थात् कविता मानव हृदय की गहराई और भाव-संवेगों की, विशिष्ट क्षणों में आन्तरिक रूप से परिचालित, गति का प्रतिफलन है। यदि यह स्थापना सही है तो निश्चय ही इस 'गहराई से युक्त गतिशीलता' का स्वरूप उस शब्दार्थ में अवश्य ही लक्षित होना चाहिए जो उस का अनिवार्य धारक और माध्यम है। शब्द में लय की स्थिति तो परम्परा से मान्य रही है, 'छन्द' उसी का नियोजित रूप है पर अर्थ की लय की और बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। कविता की रचना प्रक्रिया के सम्बन्ध में कवियों तथा समीक्षकों ने यत्र-तत्र जो कुछ कहा है उसी में इसके कुछ सूत्र मिलते हैं।

कविता में शब्द और अर्थ की पारस्परिकता तथा लय की समस्या पर अँगरेज़ी के प्रख्यात आलोचक आई.ए. रिचर्ड्स् ने महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। 'काव्य' में लय केवल शब्द तक सीमित नहीं है। पढ़ने वाले पर उस का प्रभाव अर्थ के साथ संयुक्त हो कर पड़ता है अतएव बिना अर्थ का विचार किये अच्छी बुरी लय का अंतर कविता में नहीं किया जा सकता' और 'शब्द की लय, विचार करने पर, अन्ततः भाव और अर्थ की समष्टि में ही पहचानी जाती है जिस में हमारी मानसिक चेतना की लय समाहित रहती है' उन की यह तथा ऐसी अन्य धारणाएँ 'अर्थ की लय' की स्थापना के लिए सम्यक् आधार प्रस्तुत करती हैं।[3] प्रो. रिचर्ड्स् ने अनेक मनोरंजक उदाहरण दे कर यह सिद्ध कर दिया है कि यद्यपि शब्द की लय में अपने अनेक गुण हैं तथापि यह सोचना घातक है कि बिना अर्थ के साथ घनीभूत संगति प्राप्त किये कविता के लिए उनकी, अपनी कोई स्वतन्त्र सार्थकता है। उन्होंने श्रेष्ठ

---

1. 'Introduction to Modern Poetry': Cilkes, p. 100.
2. "लय काल सापेक्ष असते, कारण लयीमधील नियम विराम कालतत्त्वानुसारी असतात" -छन्द, जून 56, पृ. 208।
3. "... The difference between good rhythm and bad is not simply a difference between certain sequence of sounds, it goes deeper, and to understand it we have to take note of the words as well.

काव्य में शब्दार्थ के सहयोग के अतिरिक्त एक ऐसी स्थिति की भी कल्पना की है जहाँ शब्द और अर्थ पारस्परिक घात-प्रतिघात से प्रभाव में विशेषता उत्पन्न करते हैं। टी.एस. इलियट ने 'संगीतात्मक कविता' की परिभाषा बताते हुए उस में ध्वनि लय के अतिरिक्त अर्थ के भी लयात्मक रूप (ए म्यूजिकल पैटर्न ऑव साउंड ऐंड ए म्यूज़िकल पैटर्न ऑव द सेकेंड्री मीनिंग्स ऑव द वर्डस्) की सत्ता मानी है साथ ही दोनों की अभिन्नता का भी प्रतिपादन किया है।[1] 'मेकिंग ऑव व पोएम' में स्टीफेन स्पेण्डर ने अपने अनुभव के आधार पर कविता की रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए इस तथ्य का स्पष्ट निरूपण किया है कि "काव्य-रचना के क्षणों में जिस शब्द-संगीत को साधने का उपक्रम करता हूँ वह कभी-कभी मुझे शब्दों से परे ले जाता है जहाँ मुझे केवल लय का, एक नृत्य का, एक तीव्र ऊर्जा का अनुभव होता है जो प्राय: शब्द शून्य होता है।"[2]

हर्बर्ट रीड ने आधुनिक कविता के 'रूप' का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए उसके दो भेद माने हैं - एक 'आवयविक रूप' (ऑरगेनिक फ़ॉर्म) और दूसरा 'अमूर्त रूप' (ऐवस्ट्रैक्ट फ़ॉर्म)। पहला कविता के मूल ढाँचे और वस्तु 'स्ट्रक्चर ऐंड कटेंट' के रचनात्मक आवयविक संगठन की सिद्धि है जिसके अपने निहित नियम होते हैं तथा दूसरा इसी रूप के आवर्तन से उद्भूत होता है। कविता के शब्दार्थ की विविध संगतियों, लयों की ओर इन दोनों भेदों में भी गूढ़ संकेत है जिसे ग्रहण कर लेना किसी विचारशील व्यक्ति के लिए कठिन नहीं है। काव्य की मन:स्थिति के वाहक शब्द (अर्थयुक्त) ही हैं और वही लयबद्ध हो कर उस की सघनता को धारण करते हैं, इस की ओर भी हर्बर्ट रीड ने इंगित किया है।[3] हॉपकिंस 'रनिंग रिद्म' और 'स्प्रग रिद्म' की मान्यता पर विचार करते हुए उन्होंने एमर्सन की अन्तर्दृष्टि से युक्त, एक उक्ति का उल्लेख किया है जिस में कहा गया है कि कविता की सृष्टि छन्द से नहीं होती वरन् उस सहज आवेग पूर्ण सजीव विचार से होती है जिस में अपना स्वयं का आवयविक संगठन होता है। छन्द तो इस प्रक्रिया का एक स्थूल परिणाम मात्र है।[5] इसी प्रकार जी. एच. लीविस ने 'द ईनर लाइफ ऑव आर्ट' में कविता और लय के घनिष्ठ मौलिक सम्बन्ध का निर्देश करते हुए शब्दों की लय के समानान्तर भावनाओं की लय की स्थिति भी स्वीकार की है।[6] कविता में यही भावनाओं की लय प्रकारान्तर से अभिव्यक्त हो कर 'अर्थ की लय' का रूप धारण कर लेती है, उक्त कथन में सरलता से इतना और जोड़ा जा सकता है। इस क्रम में और भी अनेक काव्य-चिन्तकों के मत उद्धृत किये जा सकते हैं पर मैं समझता हूँ कि 'अर्थ की लय' सम्बन्धी मूल स्थापना की आधार-भूमि का आभास देने के लिए इतने पर्याप्त हैं। जिस प्रकार ध्वनि अथवा शब्द-खण्डों का फिर-फिर कर आना क्रमिक रूप से लय के विभिन्न प्रकारों को जनम देता है उसी प्रकार अर्थ-खण्डों का क्रमिक, ग्रथित आवर्तन-प्रत्यावर्तन अर्थ की लय के विविध रूपों की सृष्टि करता है। शब्द की लय की जितनी विधाएँ कविता में व्यवहृत होती हैं उन से कई गुनी अधिक विधाएँ अर्थ की लय की रही हैं; केवल उन के पूरे स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न अभी तक नहीं किया गया है। अनेक प्राचीन अर्थालंकारों की कल्पना लयाश्रित है। लक्षणा-व्यंजनादि अनेक शब्द-शक्तियों के संश्लिष्ट व्यापार से अगणित अर्थों की निष्पत्ति साहित्य में मानी गयी है जो यथार्थ है। उन के लयात्मक समन्वय के बहुसंख्यक प्रकार और प्रभेद हो सकते हैं यह सोच लेना कठिन नहीं है पर आज मध्यकालीन शैली में भेदोपभेदों का जाल रच देना कविता के लिए उपादेय नहीं होगा। आवश्यकता मूलतत्त्व को पहचानने और ग्रहण करने की है। यह बलपूर्वक कहा जा सकता है 'अर्थ की लय' की कल्पना साधार है।

वस्तु भावावेगपूर्ण हो और रूप-विधान पर उस का कोई प्रभाव न पड़े यह अपने सहज क्रम में असम्भव है। साधारण वार्तालाप प्राय: ऋजु गति से चलता है पर भावावेग से युक्त कथन में तथा आवेशपूर्ण भाषण में अर्थ-खण्डों की आवृत्ति स्वाभाविक रूप से होने लगती है। अगर यह सही है तो कविता की गहन प्रगाढ़ अनुभूति कथन को गद्य की साधारण ऋजुता की स्थिति में कैसे छोड़ सकती है। पर इस का विलोम सत्य नहीं है। कथन की भंगिमा कृत्रिम रूप से बदलने अथवा आरोपित करने से वास्तविक अनुभूति की व्यंजना सम्भव नहीं है। वह तो उस का मात्र बनावटीपन ही व्यक्त कर सकती है। गहरी वेदना से निकले हुए आँसुओं और प्याज लगा कर निकाले गये आँसुओं में अन्तर करना ही होगा। लय का काव्यापेक्षित रूप यदि अपनी तात्त्विक संगति रखता है तो वह न कभी कृत्रिमता उत्पन्न करेगा और न एकस्वरता। कविता का जो आधार आन्तरिक और तात्त्विक होता है वह पंक्तियों को तोड़-तोड़ कर लिख देने या उन्हें एक साथ गद्य की तरह छाप देने से कभी नष्ट नहीं हो सकता और यदि होता है तो उसे तात्त्विक कहना एक विडम्बना मात्र होगी। 'अर्थ की लय' एक ऐसी वास्तविकता है जिस का लोप छापने या लिखने की बाह्य विधि से सम्भव नहीं है।

... The rhythm which we admire, which we seem to detect actually *in* the sounds, and which we seem to respond to, is something which we only *ascribe* to them and is, actually, a rhythm of the mental activity through which we apprehend not only the sound of the words but their sense and feeling."— PRATICAL CRITICISM; pp. 227, 229.

1. *Selected Prose*, p. 60.
2. *The Creative Process'*, p. 124.
3. *From in Modern Poetry*, p. 9.
4. Ibid., pp. 44-45.
5. Ibid., p. 57.
6. "Rhythm then is not a thing invented by man but a thing evolved from him, and is not merely the accidental form, but the only possible form of poetry; for there is a rhythm of feeling correspondent in the human soul."
— *Anthology of Critical Statements; p. 182.*

और भी दो-एक बातों का स्पष्टीकरण और आवश्यक है। कुछ लोगों की धारणा है कि छन्दात्मकता अर्थात् शब्द की लय कविता को अतिरिक्त शक्ति प्रदान करती है। कुछ दूर तक यह बात सही भी है क्योंकि ध्वनि का एक दिशा में सुनिश्चित प्रभाव होता है और भावों को जागरित अथवा मूर्च्छित करने में उस की सामर्थ्य प्राय: निर्विवाद है परन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि संगीत से कविता की स्थिति और प्रकृति भिन्न है। जैसा प्रारम्भ में कहा जा चुका है संगीत में अर्थ-तत्त्व या तो होता ही नहीं और यदि गेय पदों अथवा गीतों के अन्तर्गत होता भी है तो उस की गौणता सुनिश्चित है। कविता अपने मूल रूप में अर्थ-प्रधान है और संगीत-तत्त्व अथवा शब्द-लय को वहीं तक ग्राह्य माना जायेगा जहाँ तक वह काव्यार्थ के प्रस्फुटित करने में सहायक सिद्ध हो अन्यथा यदि वह कविता को आन्तरिक शक्ति प्रदान करने के स्थान पर उस के अर्थ को आच्छादित अथवा कुण्ठित करती है तो उसे असन्दिग्ध रूप से अनपेक्षित मानना होगा। कविता को केवल शब्द-लय के सहारे पढ़ने वाला बहुत कुछ खो देता है इस के विपरीत सही पाठ-विधि उस के सूक्ष्म भावों तथा सांकेतिक अर्थों को उभारने में काफ़ी सहायक होती है। यह पाठ-विधि छन्द की तरह जड़ मात्रिक क्रम से नियोजित न होकर स्वर के आरोह-अवरोह पर आश्रित रहती है जिस का निश्चय अर्थ की लय करती है। नयी कविता में शब्द-लय और छन्द का इसी दृष्टि से ग्रहण हो रहा है फलत: उस का रूप बहुत-सी प्रचलित परम्परागत कविता से भिन्न दिखाई देता है। इस का तात्पर्य यह नहीं है कि वह कविता नहीं है वरन् यह होना चाहिए कि वह अधिक सही अर्थ में कविता है। अर्थ की लय असंयमित रूप से प्रयुक्त होने पर अन्य प्रकार की अर्थ-विकृतियाँ उत्पन्न कर सकती है परन्तु अर्थ को आच्छादित वह कभी नहीं करती है। प्रश्न किया जा सकता है कि क्या यह तथाकथित 'अर्थ की लय' विरामादि विभिन्न चिह्नों से स्वतंत्र सत्ता रखती है? उत्तर होगा स्वतंत्र सत्ता रखती है क्योंकि इन चिह्नों के लिए आवश्यक नहीं है कि वहीं प्रयुक्त हों जहाँ अर्थ के आवर्तन-प्रत्यावर्तन का कोई रूप हो ही जब कि लय में इस रूप का किसी न किसी प्रकार होना अनिवार्य है। एक कारण यह भी है कि यह चिह्न 'अर्थ को स्पष्ट' करने के लिए प्रयुक्त होते हैं, अर्थ का अंग नहीं होते और अर्थ की लय अर्थ की ही एक आवयविक संगति होती है। लय के शब्दात्मक और अर्थात्मक दो रूपों के प्रतिपादन का तात्पर्य कविता के क्षेत्र में शब्द और अर्थ को परस्पर विभाजित कर के एक नया द्वन्द्व खड़ा करना नहीं है क्योंकि रचना-प्रक्रिया में शब्द-अर्थ की संश्लिष्ट स्थिति की महत्ता को प्रारम्भ में ही स्पष्टता से स्वीकार किया जा चुका है। श्रेष्ठ कविता के लिए शब्दार्थ का संयुक्त रूप से लयान्वित होना आवश्यक है किन्तु कविता को अर्थ प्रधान मानने के बाद केवल अर्थ की लय के सहारे सर्जित, ऊपर से गद्य जैसी लगने वाली रचना को कविता के क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। अधिक से अधिक ऐसी स्थिति को असाधारण स्थिति ही कहा जा सकता है लेकिन तब प्रत्येक छन्द-बद्ध कथ्य को कविता मनवाने की आग्रहपूर्ण स्थिति, जिसे उत्पन्न करने के लिए कुछ मान्य साहित्यकार कटिबद्ध हैं, हीन स्थिति कही जायेगी।

बहुत से कुशाग्र-बुद्धि व्यक्तियों के आगे बात तब तक स्पष्ट नहीं होती जब तक उन्हें उदाहरण दे कर न समझाया जाये। सही सोच कर नीचे कुछ उद्धरण 'अर्थ की लय' का बोध कराने के लिए उदाहरण स्वरूप दिये जा रहे हैं।

अर्थ की लय से हीन पद्य

बंजर बुन्देली धरती पर केन किनारे,
कालिंजर का दुर्ग नहीं है दूर जहाँ से,
कोसल जन-संस्कृति के अचंल की सीमा पर
चित्रकूट की छाँया में यह नगर बसा है।[1]

अर्थ की लय से युक्त पद्य

रात का बन्द नीलम किवाड़ा डुला,
लो क्षितिज छोर पर देव मन्दिर खुला,
हर नगर झिलमिला, हर डगर को खिला,
हर बटोही जिला, ज्योति-प्लावन चला;[2]

अर्थ की लय से हीन मुक्त छन्द

बात ऐसी है
कि कहना चाह कर भी जो नहीं कल कह रहे थे,
या नहीं कह पा रहे थे,
वह पुराने की विवशता थी।
अब विवशता मिट रही है,
मौन धीरे खुल रहा है,
यह नये स्वर का करिश्मा है।[3]

---

1. 'कविता-1' में प्रकाशित श्री रामविलास शर्मा की कविता का प्रथम पद्य।
2. 'नयी कविता-1' में प्रकाशित गिरिधर गोपाल के गीत का एक अंश, पृ. 28।
3. 'आधार' के 'नयी हिन्दी कविता विशेषांक' से कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह की कविता का अंश, पृ. 17।

अर्थ की लय से	आज तुम शब्द न दो, न दो
युक्त मुक्त छन्द	कल भी मैं कहूँगा।
	तुम पर्वत हो, अभ्रभेदी शिला खण्डों के गरिष्ठ पुंज
	चाँपे इस निर्झर को रहो, रहो
	तुम्हारे रन्ध्र-रन्ध्र से
	तुम्हीं को रस देता हुआ
	फूट कर? मैं बहूँगा।[1]
अर्थ की लय से	प्रकृति के विरुद्ध युद्ध करने के हेतु—
हीन गद्य	मैं ने सामाजिक बन्धन का अस्त्र लिया,
	पर संगठित मनुष्यता की शक्ति है इतनी कि
	कुछ लोग प्रकृति से रक्षा का भार सा ले, दूसरे मनुष्यों को
	स्वार्थ जाल में फँसाने लगे।[2]
अर्थ की लय से	हवा में झूमते,
युक्त पद्य	केले के बड़े-बढ़े गाछ,
	फैले-फैले पात,
	अपने चित्र बनाने को
	बुलाते रहे; बुलाते रहे![3]

इन उदाहरणों में लय का रूप प्रायः सतह से ही झलक जाने वाला है पर इन के अतिरिक्त शतधा सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप हो सकते हैं, होते भी हैं, इस को दृष्टि में रखना होगा। एक छोर पर हर कथन पद्यबद्ध होने के नाते कविता समझा जाता रहा दूसरे छोर पर काव्य-संस्कार और लय-बोध से हीन गद्य को भी कविता की संज्ञा मिलने लगी है। दोनों ही अतियों से सावधान रहने की आवश्यकता है। ऐसी अनेक कविताओं के नाम गिनाये जा सकते हैं। जिन का बाह्य रूप गद्य-कल्प होते हुए भी आन्तरिक ढाँचा अर्थ की लय के सूक्ष्म तन्तुओं से विनिर्मित मिलता है। 'हस्ताक्षर', 'कलाकार और सिपाही' तथा 'टूटा पहिया' जैसी रचनाएँ इसी प्रकार की हैं।

अन्त में अब कुछ और टिप्पणी न करके मैं इस सम्बन्ध में पन्तजी की नव-प्रकाशित कृति 'अतिमा' की यह पंक्तियाँ उद्धृत कर देना ही पर्याप्त समझता हूँ:

छन्द-बन्ध खुल गये
गद्य क्या बनीं स्वरों की पाँतें?
सोना पिघल कभी क्या
पानी बनता कैसी बातें!

(नयी कविता: स्वरूप और समस्याएँ से)

---

1. 'नयी कविता-1' से, 'अज्ञेय' की एक कविता का प्रथमांश, पृ. 12।
2. 'काव्यधारा' के पृ. 158-59 पर प्रकाशित राजीव सक्सेना की कविता का अंश।
3. 'नयी कविता-2' में प्रकाशित विपिनकुमार की कविता का अंश, पृ. 90।

23. काव्य-बिम्ब और सपाटबयानी

—नामवर सिंह

आम धारणा है कि कविता मूर्त होती है। इस मूर्तिमत्ता के आधार पर कविता का मूल्यांकन भी होता आया है। यह परम्परा सम्भवत: उतनी ही पुरानी है जितनी स्वयं कविता नहीं तो काव्य-चर्चा। अभिनवगुप्त ने 'अभिनव भारती' के रस-प्रकरण में 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का 'ग्रीवा भंगाभिरामम्' छंद उद्धृत करते हुए लिखा है कि उससे "मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति" होती है। उस प्रतीति में मृग-शावक विषय रूप से भासता है। प्रतीति की प्रवृत्ति का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए अन्त में यह कहा गया है कि "साक्षात् हृदय में प्रविष्ट होता हुआ-सा, आँखों के आगे घूमता-हुआ-सा 'भयानक रस' होता है।" अभिनवगुप्त ने काव्य-भाषा की इस विशेषता को अपनी भाषा में 'विभावन-व्यापार' नाम दिया है, क्योंकि इस व्यापार के द्वारा एक ओर कवि-पक्ष से भाव-विभाव का मूर्त रूप धारणा करता है तो दूसरी ओर सहृदय-पक्ष में वही मूर्त विभाव पुन: भाव में रूपान्तरित हो जाता है। अभिनवगुप्त के वृद्ध-समकालीन भट्टनायक का 'भावकत्व व्यापार' संभवत: इसी विभाजन व्यापार का पूर्व रूप है।

आधुनिक युग में संस्कृत काव्य-शास्त्र की इस विस्तृत परम्परा का पुनरुद्धार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता में पुन: विभावन-व्यापार की प्रतिष्ठा की। सन्दर्भ-भेद से इसी के लिए उन्होंने 'मूर्तिमत्ता' और 'बिम्ब-ग्रहण' शब्दों का भी प्रयोग किया। इस विषय में शुक्लजी के विचार सामान्यत: इतने ज्ञात हैं कि उद्धरण अनावश्यक हैं। संभवत: इन विचारों की पृष्ठभूमि में कहीं-न-कहीं स्वयं छायावादी कवियों की भी मान्यताएँ थीं। पंत ने पल्लव की भूमिका में लिखा है कि "कविता के लिए **चित्र-भाषा** की आवश्यकता पड़ती है।" निराला ने इस चित्र-भाषा को विराटता से मंडित करते हुए 'काव्य के रूप और अरूप' शीर्षक निबंध में लिखा कि "हिन्दी के नवीन पद्य-साहित्य में **विराट्-चित्रों** के खींचने की तरफ कवियों का उतना ध्यान नहीं, जितना छोटे-छोटे सुन्दर चित्रों की ओर है। ... काव्य में साहित्य के हृदय को दिगंत-व्याप्त करने के लिए विराट् रूपों की प्रतिष्ठा करना अत्यन्त आवश्यक है।" इस प्रकार छायावादी युग में कवियों ने चित्र-भाषा के द्वारा कविता में लघु-विराट् चित्रों की सृष्टि का प्रयास किया तो आलोचकों की ओर से चित्रात्मकता के आधार पर कविता का मूल्यांकन भी हुआ। किन्तु इस मूल्यांकन का रूप उस ऐतिहासिक संदर्भ में एक खास तरह का था। कविता में उस समय विचारों के वक्तव्य की अपेक्षा भावों के सीधे उद्गार का खतरा अधिक था। इस भावोच्छ्वास की आलोचना करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा कि "हर बात में 'अहा हा! कैसा मनोहर है!', 'कैसा आह्लादजनक है' जैसे भावोद्गार भद्देपन से खाली नहीं, और काव्य-शिष्टता के विरुद्ध है।" इसलिए उनकी राय में "**वस्तु-विन्यास** प्रधान कार्य है। यदि वह अच्छी तरह बन पड़ा तो पाठक के हृदय में दृश्य के सौन्दर्य, भीषणता, विशालता, इत्यादि का अनुभव थोड़ा-बहुत आपसे-आप होगा।" ध्यान देने की बात है कि शुक्लजी सीधे भावोद्गार को 'काव्य-शिष्टता' के विरुद्ध मानते थे। स्पष्टत: यह भद्दापन काव्य दोष ही नहीं बल्कि नैतिक दोष है। काव्य में वस्तु-योजना का आग्रह एक तरह से आत्मनिष्ठता के विपरीत वस्तुनिष्ठता की प्रतिष्ठा थी। विचार-क्रम में इस 'वस्तु-योजना' को और स्पष्ट करते हुए शुक्लजी ने बतलाया कि आवश्कयता से अधिक अप्रस्तुत विधान का सहारा लेना कविता के लिए हानिकर है। उन्हीं के शब्दों में "यों ही खिलवाड़ के लिए बार-बार प्रसंग प्राप्त वस्तुओं की ओर ले जाना, जो प्रसंगानुकूल भाव उद्दीप्त करने में भी सहायक नहीं, काव्य के गाम्भीर्य और गौरव को नष्ट करना है, उसकी मर्यादा बिगाड़ना है।" इस कथन का अर्थ पंत की 'छाया', 'बादल', नक्षत्र आदि कविताओं के संदर्भ में पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है। यहाँ भी मूल्य-निर्णय में 'मर्यादा' शब्द नैतिक रंग की सूचना देता है। इस प्रकार के नैतिक निर्णयों के लिए कुछ लोगों ने शुक्लजी पर यह आरोप लगाया है कि उन्होंने काव्येतर-मूल्यों का प्रयोग किया। किन्तु संदर्भ से स्पष्ट है कि वे तथाकथित काव्येतर मूल्य काव्य-मूल्यों के तार्किक परिणाम थे। दूसरे शब्दों में, आचार्य शुक्ल कविता के केवल रूपवादी आलोचक न थे, बल्कि उनकी रूपात्मक आलोचना तर्क-सारणियों का अनुगमन करते हुए अन्तत: मूल्यात्मक आलोचक के ठिकाने पहुँचकर ही विश्राम लेती थी। बहरहाल, शुक्लजी के समय तक हिन्दी में काव्य के मूल्यांकन के लिए मूर्तिमत्ता की कसौटी पूरी तरह प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

फिर नयी कविता के दौर में काव्य-बिम्ब को बलपर्वक पुन: प्रतिष्ठित करने का क्या अर्थ है? निश्चय ही इसका एक कारण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में निहित है। छायावाद के अंत में प्रतिक्रियास्वरूप जब कविता भाव से विचार की ओर और कल्पना से वास्तविकता की ओर मुड़ी तो एकबारगी कविता में वक्तव्य देने की बाढ़ आ गई। छायावादी चित्र-मोह से मुक्त होकर कविता विचारों के बौद्धिक आलेख में बदल गई। पंत की 'युगवाणी' इस संक्रमण का ऐतिहासिक दस्तावेज़ है। यह परिवर्तन आचार्य शुक्ल की आँखों के सामने घटित हुआ। किन्तु आश्चर्य है कि इस अवसर पर उन्होंने अपनी मूर्तिमत्ता की कसौटी इस्तेमान करने मे वैसी मुस्तैदी न दिखाई। 'युगवाणी' में पंत की लोक-मंगल-भावना से आचार्य शुक्ल इतने प्रीत हुए कि औरों को खटकने वाली बौद्धिकता को भी वे साफ़ अनदेखा कर गए। अपनी पंसद के लिए उन्हें 'युगवाणी' में "निर्जन टीले पर खड़े चिलबिल के दो पेड़" मिल ही गए। प्रकृति-प्रेम ने आचार्य की दृष्टि को इस हद तक धूमाकुलित किया कि उस रौ में वे 'इतिहास' के लगभग तीन पृष्ठों तक 'युगवाणी' के पद्यों को गद्यार्थ के सहारे बखानते चले गए। बहरहाल, यह तथ्य है कि इस संक्रमण-काल में व्यक्तव्यवादी कविताओं का व्यापक चलन था, यहाँ तक कि 'तारसप्तक' की प्रयोगशीलता भी इससे मुक्त नहीं है। आगे चलकर 'नयी कविता' को जब 'लघु मानव' और 'क्षण' के दर्शन के सहारे कविता में 'नये मानव' और 'नये मूल्यों' की प्रतिष्ठा का गम्भीर

दायित्व निभाने की ज़रूरत महसूस हुई तो एक बार फिर वक्तव्यवादी कविताओं की बाढ़ आई। यही वह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है जिसमें 'तार सप्तक' के अंतर्गत केदारनाथ सिंह को घोषणा के स्वर में कहना पड़ा कि "कविता में मैं सबसे अधिक ध्यान देता हूँ बिम्ब-विधान पर। बिम्ब-विधान का सम्बन्ध जितना काव्य की विषय-वस्तु से होता है, उतना ही उसके रूप से भी। विषय को वह मूर्त और ग्राह्य बनाया है; रूप को संक्षिप्त और दीप्त।" बिम्ब-विधान की इस घोषणा और संक्षिप्त परिभाषा के साथ ही उन्होंने काव्य-बिम्ब को मूल्यांकन के प्रतिमान के रूप में भी स्थापित किया : "एक आधुनिक कवि की श्रेष्ठता की परीक्षा उसके द्वारा आविष्कृत बिम्बों के आधार पर ही की जा सकती है। उसकी विशिष्टता और उसकी आधुनिकता सबसे अधिक उसके बिम्बों से ही व्यक्त होती है।" और फिर "मैं बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया पर ज़ोर इसलिए दे रहा हूँ कि आज **काव्य के मूल्यांकन का प्रतिमान** लगभग वही मान लिया गया है। एक अंग्रेज़ आलोचक का तो यहाँ तक कहना है कि आधुनिक कवि नये-नये बिम्बों की योजना के द्वारा ही अपनी नागरिकता का शुल्क अदा करता है। तात्पर्य यह है कि प्राचीन काव्य में जो स्थान 'चरित्र' का था, आज की कविता में वही स्थान 'बिम्ब' अथवा 'इमेज' का है।"

काव्य के मूल्यांकन के प्रतिमान के रूप में 'बिम्ब' को प्रतिष्ठित करने का यह प्रस्ताव हिन्दी में संभवत: पहला है। नि:सन्देह यह कोई नितान्त नई खोज नहीं, बल्कि एक स्थापित तथ्य की स्वीकृति-मात्र है। रचना के स्तर पर बिम्ब का जो महत्व स्वीकृत था, उसे आलोचना के स्तर पर निश्चित पदों में विवक्षित करके केदारनाथ सिंह ने ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया। उनके इस कथन को स्वयं उनकी बिम्बधर्मी काव्य-रचना ने अतिरिक्त अर्थवत्ता प्रदान की। किन्तु यह घोषणा नयी कविता के विकास की उस मंज़िल पर हुई जब वह रचना और आलोचना दोनों के लिए दुर्भाग्यपूर्ण प्रमाणित हुई। 1959 का साल ऐतिहासिक दृष्टि से 'नयी कविता' के विकास का प्राय: चरम बिन्दु था। इस बिन्दु से एक रास्ता नयी कविता की रूढ़ियों की ओर जाता था, जिसमें बिम्ब आदि विज्ञापित नुस्खों के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति थी और दूसरा रास्ता सच्चे सृजन का था, जिसमें बिम्बवादी प्रवृत्ति के बन्धन को तोड़ना आवश्यक प्रतीत हुआ। ये दोनों प्रवृत्तियाँ आलोचना में भी प्रतिफलित हुईं। केदारनाथ सिंह का वक्तव्य दुर्भाग्यपूर्ण इस अर्थ में हुआ कि आलोचना में उसकी परिणति डॉ. नगेन्द्र के 'काव्य-बिम्ब' में हुई तो रचना में लोकप्रिय गीतकार तक यथाशक्ति नये बिम्बों की उधारी पूँजी पर नये गीतों का दावा लेकर मैदान में आ निकले, इसके अलावा स्वयं नयी कविता में बिम्बों की रूढ़ियाँ बनीं सो अलग।

प्रयोजन यहाँ आलोचना से है, इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में अपेक्षित है मूल्याकन के प्रतिमान के रूप में काव्य-बिम्ब की प्रासंगिकता और सार्थकता। काव्य-बिम्ब की चर्चा का आरम्भ यदि एक कविता के ठोस उदाहरण से न हो तो फिर वह चर्चा क्या? इसलिए सबसे पहले एक कविता - और वह भी स्वयं केदारनाथ सिंह की 'अनागत', जो प्रसंगात् 'तीसरी सप्तक' में उनके संकलन की पहली कविता है।

इस अनागत को करें क्या? –
जो कि अकसर बिना सोचे, बिना जाने
सड़क पर चलते अचानक दीख जाता है!

स्पष्ट है कि अनागत अमूर्त है किन्तु कवि-दृष्टि उसकी आहट को अपने आसपास के वातावरण में देख लेती है और वातावरण के उन मूर्त सन्दर्भों के द्वारा अमूर्त अनागत को मूर्त करने का प्रयास करती है। जीवन्त सन्दर्भों के कारण अनागत एक निराकार भविष्य के स्थान पर जीवित सत्ता मालूम होता है। एक प्रेत-छाया के समान वह कभी किताबों में घूमता प्रतीत होता है तो कभी रात की वीरान गलियों-पार गाता हुआ। इसी तरह खिड़कियों के बन्द शीशों को टूटते, किवाड़ों पर लिखे नामों को मिटते और बिस्तरों पैर पड़ी छाप देखकर उसके आने का एहसास होता है। उसका आना इतना अप्रत्याशित और रहस्यमय है कि "हर नवागन्तुक उसी की तरह लगता है।" कहना न होगा कि आसपास के वातावरण से चुनी हुई ये वस्तुएँ मन में उस निराकार अनागत की हरकतों का एक मूर्त रूप प्रस्तुत करती हैं। किन्तु इस अतिपरिचित चित्रों की लड़ी को छोड़कर कविता सहसा बिम्ब-निर्माण के लिए दूसरे सोपान की ओर अग्रसर होती है :

फूल जैसे अँधेरे में दूर से ही चीखता हो;
इस तरह वह दरपनों में कौंध जाता है।

यहाँ दो बिम्बों को बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से आमने-सामने रखकर एक प्रकार की सायास जटिलता उत्पन्न की गई है। एक ओर 'अँधेरे में फूल का चीखना' और दूसरी ओर 'दरपनों में उसका कौंध जाना'! निस्सन्देह अपनी ओर से कवि ने यह सबसे जटिल और सम्भवत: ताज़ा बिम्ब देने का प्रयास किया है; किन्तु विश्लेषण की तेज़ धार के सम्मुख यही बिम्ब इस कविता की बुनियादी कमज़ोरी खोलने वाला भेदिया भी साबित होता है। सायास जुटाई हुई दूर की ये दो चीज़ें प्रीतिकर चमत्कार उत्पन्न करने के स्थान पर बिम्ब को धुँधला ही बनाती हैं। यदि 'जैसे' और 'इस तरह' के द्वारा उन्हें जोड़ने का प्रयास न किया गया होता तो अलग-अलग दोनों बिम्ब पर्याप्त स्पष्ट हैं और स्पष्ट ही नहीं बल्कि अनागत की हरकतों के अलग-अलग पहलुओं को आलोकित भी करते हैं। सवाल यह है कि यह सायास जोड़-तोड़ क्यों? और यह प्रश्न एक सन्दर्भ से फैलकर कविता के अन्य सन्दर्भों में भी मिलने

वाले बिम्बों के सम्मुख खड़ा हो जाता है। क्या इन बिम्बों के बीच कोई निश्चित अनुक्रम है? स्पष्ट है कि कोई क्रम नहीं है। दरपनों में कौंधने के बाद हाथ-से-हाथ के बिछलने का चित्र है, फिर स्पर्श से धमनियों के रौंदे जाने का और इसके तुरन्त बाद वह एक फ़रिश्ता बन जाता है जिसके पंख सुनहली परछाइयों में खोए हुए हैं। और पाँव कुहासे में छटपटाते हैं। क्या इस क्रमहीनता के द्वारा कवि यह बताना चाहता है कि अनागत के आने में कोई क्रम नहीं है? कभी वह प्रेत-छाया प्रतीत होता है, कभी फ़रिश्ता और कभी नवागन्तुक व्यक्ति। क्या ये बिम्ब उसके स्वरूप की अनिश्चितता और अस्पष्टता व्यंजित करने के लिए लाए गए हैं? कविता का संक्षिप्त कथ्य यही है कि भविष्य हमारे आसपास ही है किन्तु उसका स्वरूप अभी अस्पष्ट और अनिश्चित है, फिर भी उसका आकर्षक इतना दुर्निवार है कि हम उसकी ओर बरबस खिंचे जाते हैं। नि:संदेह इस बात को अनेक वक्तव्यवादी कवियों ने गद्योपम कविताओं में कहा है। उन कविता नामधारी रचनाओं की तुलना में असंदिग्ध रूप से यह सर्जनात्मक काव्य-कृति है। और इसका कारण है कवि की बिम्ब-निर्माण-क्षमता। किन्तु बिम्बों की लड़ी देखकर लगता है कि यह चरखे से निकले सूत की तरह चाहे जितनी लम्बी हो सकती थी। इसका आकस्मिक अन्त अनिवार्य नहीं, बल्कि सुविधाजन्य है। समाप्ति के पीछे कविता में अन्तर्निहित कोई तर्क नहीं, बल्कि और अधिक चमत्कारपूर्ण बिम्बों को ढूँढ़ने के प्रयास से उपराम ही प्रतीत होता है। यदि बिम्ब-विधायक वस्तुओं की प्रकृति का विश्लेषण करें तो वास्तविक और काल्पनिक, भयावह और प्रीतिकर गुण-धर्मों का अद्‌भुत संयोग दिखाई पड़ता है। निस्सन्देह इससे अनागत के भय-आशा-मिश्रित रूप की व्यंजना होती है। किन्तु यह मिश्रण इतना अनिश्चित और अस्पष्ट है कि अभीष्ट से अधिक अनायासलभ्य प्रतीत होता है। कहना न होगा कि ये बिम्बधर्मी असंगतियाँ कविता के मूल कथ्य की असंगतियाँ हैं, जो अन्ततः कवि-कर्म की कमज़ोरी को प्रकट करती हैं। केदारनाथ सिंह की परवर्ती कविताओं में बिम्बमोह का अभाव और काव्य-संरचना में बिम्बों की घुलावट एक तरह से 'अनागत' जैसी आरम्भिक कविताओं की कमजोरियों की स्वीकृति ही नहीं, बल्कि अपेक्षित आलोचना भी है।

बिम्बों के आधार पर निर्मित कविता तथा कविता के विन्यास में यथास्थान सायास बिम्ब-योजना का दुष्परिणाम यह हुआ कि आलोचकों का ध्यान समूची कविता पर न जाकर कुछ चमकते हुए बिम्बों पर ही केंद्रित हो गया। ऐसा नहीं कि यह आलाचकों का ही अपना दृष्टि-दोष हो, स्वयं कवियों की ओर से ही इस प्रवृत्ति को जैसे बढ़ावा मिला। उदाहरण के लिए सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'वह खिड़की' शीर्षक कविता अपने सारे कथ्य के बावजूद मुख्य रूप से पाठक के मन पर दो बिम्ब छोड़ जाती है

(1) जिन्दगी मरा हुए चूहा नहीं है
जिसे मुख में दबाए
बिल्ली की तरह हर शाम गुज़र जाए
और मुंडेर पर
कुछ खून के दाग छोड़ जाए।

(2) लोकतन्त्र को जूते की तरह
लाठी में लटकाए
भागे जा रहे हैं सभी
सीना फुलाए।

स्पष्टत: ये दोनों बिम्ब अपने-आप में पूर्ण हैं और किसी सन्दर्भ की अपेक्षा नहीं रखते। यह भी उल्लेखनीय है कि ये दोनों बिम्ब पूर्णत: स्वतन्त्र हैं और यदि किसी ने इन्हें एक ही कविता के अन्तर्गत न देखा हो तो वह इनमें से प्रत्येक को स्वतन्त्र कविता के रूप में ग्रहण करके आनन्द ले सकता है। यदि ये बातें सच हैं तो स्वभावत: यह सवाल उठता है कि इन्हें एक ही कविता में स्थान देने की काव्यात्मक **अनिवार्यता** क्या है? कविता में इसका कोई स्पष्ट और संगत उत्तर नहीं है, कवि से उत्तर की तो खैर अपेक्षा भी नहीं है। अधिकांश कविताएँ इधर इसी विधि से गढ़ी जा रही हैं जिनमें बिखरे बिम्बों की एक माला तैयार की गई है, यहाँ तक कि बिम्बों की मणियों के बीच कभी-कभी आवश्यक सूत्र का भी लोप रहता है - **'अदर्शनं लोपः'** जैसा नहीं बल्कि उसका अस्तित्व ही नहीं होता। पाठक यदि उन्हें एक सूत्र में पिरो लेता है तो इसलिए कि वह उसे सन्दर्भ से परिचित है जिसमें ये कविताएँ लिखी जा रही हैं। व्यावहारिक दृष्टि से पाठक का यह प्रयास अनुचित नहीं किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से यह प्रवृत्ति निश्चय ही काव्य-विरोधी है। यदि किसी कविता का आन्तरिक सूत्र ढूँढ़ने के लिए पाठक को उस कविता से बाहर सामयिक परिवेश का सहारा लेना पड़े तो कविता की पराजय है। ये सारी बातें इसलिए उठती हैं कि इस प्रकार लिखी जाने वाली बिम्बविधायिनी कविताओं में कुछ अच्छी भी होती हैं और उनके दो-चार बिम्ब निहायत टटके और जीवन्त भी होते हैं, जैसे सर्वेश्वर की कविता 'वह खिड़की' ही।

कविताएँ जब ऐसी हों तो क्यों न कुछ अध्यापक अपनी आधुनिकता प्रदर्शित करने के लिए कुछ काव्य-बिम्बों को यहाँ-वहाँ से लेकर नयी कविता का मूल्यांकन करने का हौसला दिखाएँ? लेकिन बन्दर की बला तबेले के सिर। नुकसान उठाना पड़ता है उन

कविताओं को जिनकी काव्यानुभूति की बनावट भिन्न ढंग की होती है। इसलिए साफ़ अलग दीखने वाले बिम्बों के अभाव में वे इस आलोचना-दृष्टि में हेय प्रमाणित होती हैं। अंग्रेज़ी साहित्य में किसी समय इस प्रवृत्ति का प्रचलन देखकर बिम्ब-संबंधी भ्रम का निराकरण करते हुए डॉ. एफ़. आर. लीविस ने सितम्बर 1945 की 'स्क्रूटिनी' में 'इमेजरी एण्ड मूवमेंट' (बिम्ब और गतिमयता) शीर्षक निबन्ध लिखा था, जिसकी प्रमुख स्थापना का उल्लेख यहाँ प्रासंगिक है।

ठोस काव्य-विश्लेषण के द्वारा मूल्यांकन की जटिल समस्याओं से जूझने के अभ्यस्त आलोचक डॉ. लीविस का कहना है कि कविता के अन्तर्गत जीवंतता के चिह्नों की तलाश में जो आलोचक अपना ध्यान स्थानिक प्रभावों पर केंद्रित करता है वह सम्पूर्ण संघठन के विश्लेषण के लिए और चाहे जिन तत्वों का सहारा ले, 'बिम्ब' जैसे अति सुलभ शब्द से सन्तुष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि यह शब्द सहसा एक सरलीकरण को प्रोत्साहित करता है। यही नहीं बल्कि जहाँ अपेक्षाकृत सरलतर स्थानिक प्रभाव अपने पूरे वातावरण से अलूचे (plums) के समान आसानी से चुन लिये जाने की सुविधा देते हैं, अन्ततः यह प्रमाणित होता है कि उनका अधिकांश गुण प्रथम दृष्टि में आपाततः दृष्टिगत होने वाली विशेषताओं की अपेक्षा विस्तृत सन्दर्भ पर निर्भर होता है।[1] इस प्रकार कविता में प्रत्येक बिम्ब उसकी सम्पूर्ण संघटना का अविच्छेद्य एवं अविभाज्य अंग होता है। डॉ. लीविस उस संघटना की गतिशीलता को ध्यान में रखकर ही उसे 'मूवमेंट' अथवा 'गतिमयता' की संज्ञा देते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसे बिम्ब और सन्दर्भ के गत्वर संबंध की जटिल सम्भावनाओं का बोध होगा वह किसी कविता से कुछ-एक बिम्बों को चुनकर केवल उसके गुण और परिमाण के आधार पर मूल्यांकन न करेगा। इसीलिए जब डॉ. लीविस यह कहते हैं कि किसी बिम्ब के चारों ओर रेखा खींचना कठिन है तो कविता की संघटना से विम्बों के अलगाने के ख़तरे की ओर ही संकेत करते हैं। इस कठिनाई को देखते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चरम विश्लेषण में बिम्ब का स्थान गतिमयता (मूवमेंट) ले लेती है क्योंकि काव्य-मूल्य का अंतिम निर्णय गतिमयता के ही आधार पर होता है। डॉ. लीविस की अपनी भाषा में यह गतिमयता अन्ततः कविता में व्यक्त "जीवन" का पर्याय हो जाती है, इसलिए इसे केवल भावावेग अथवा अनुभूति तक सीमित कर देना ठीक नहीं।

गतिमयता के साथ बिम्ब-रचना का सफल रूप प्रायः छोटी कविताओं में सुलभ होता है। आकस्मिक नहीं कि अंग्रेज़ी के आरम्भिक बिम्बवादी कवियों ने छोटी कविता का ही आदर्श सामने रखा और समूची कविता की परिकल्पना एक बिम्ब के रूप में की। उल्लेखनीय है कि जापानी 'हाइकू' पाउंड का आदर्श काव्य है, जिसकी ओर हिन्दी की नयी कविता का ध्यान छठे दशक के अन्त में गया। इस दृष्टि से अज्ञेय का 'अरी ओ करुणा प्रभामय' संकलन द्रष्टव्य है। किन्तु इस सन्दर्भ में इससे भी अधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि अज्ञेय के इस प्रयास से काफी पहले चौथे दशक से ही शमशेर बहादुर सिंह इस प्रकार की छोटी बिम्बवादी कविताएँ लिखते आ रहे हैं। उदाहरण के लिए 1939 की लिखी हुई यह कविता :

सूना-सूना पथ है, उदास झरना
एक धुँधली बादल-रेखा पर टिका हुआ
आसमान
जहाँ वह काली युवती
हँसी थी।

आगे चलकर इस बिम्बवादी प्रवृत्ति में और भी सघनता आई, जिसका उदाहरण है 1956-58 के बीच की लिखी 'सुबह' शीर्षक कविता :

जो कि सिकुड़ा हुआ बैठा था, वो पत्थर
सजग होकर पसरने लगा
आप से आप

इस प्रसंग में एक और उपेक्षित-से कवि केदारनाथ अग्रवाल की कविता-पुस्तक 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' में संकलित 1956 से '64 के बीच की छोटी कविताएँ टटके बिम्बों की ताज़गी के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बानगी के लिए सिर्फ़ एक कविता :

जल रहा है
जवान होकर गुलाब
खोल कर होंठ

---

1. Whatever tip the analysist may propose to himself for a local focussing of attention, the signs of vitality he is looking for or matters of organization among words, and must not be thought of in the naïve terms that the word 'image' too readily encourages. Even where it appears that some of the simpler local effects can be picked like plums out of their surroundings, it will usually turn out that more of the virtue depends on an extended context than was obvious at first sight.

- Scrutiny, Vol. XIII, No. 2, Sept. 1945.

जैसे आग
गा रही है फाग।

स्पष्टत: इस प्रकार की कविताओं की एक सीमा है, किन्तु भावहीन सपाट वक्तव्य की अपेक्षा ये भावचित्र अपने संक्षिप्त रूपाकार में प्राय: एक से अधिक भावों और विचारों की जटिल स्थिति को व्यंजित कर जाते हैं।

जहाँ तक मूर्तिमत्ता का प्रश्न है, वह तथाकथित 'बिम्बवादी' काव्य-सिद्धान्त को अपनाए बिना भी सम्भव है, जैसा कि कुछ प्रगतिवादी कहे जाने वाले कवियों की सफल काव्य-कृतियों में दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए नागार्जुन की 'अकाल और उसके बाद' शीर्षक कविता :

कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उनके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।

दाने आये घर के अन्दर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आँगन के ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठीं घर भर की आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद।

चूल्हा, चक्की, छिपकलियों, चूहों, कौए के अलावा दाने और धुआँ-जैसी रोज़ की जानी-पहचानी मामूली चीज़ों के द्वारा दो विरोधी स्थितियों को जिस प्रकार मूर्त किया गया है, वह साधारण कवि-कौशल नहीं। यहाँ चीज़ों का सिर्फ़ वर्णन नहीं, क्रिया-व्यापार दिखाया गया है और क्रिया-व्यापार के चयन में भी एक दृष्टि है जिसे आचार्य शुक्ल ने 'व्यापार-शोधन' नाम दिया है। 'चूल्हा रोया' को यदि एक मुहावरा भी मान लें, तो चूल्हा और उदास चक्की के पास कानी कुतिया का सोना एक मर्मस्पर्शी क्रिया-व्यापार है जो मन में भावचित्र जगाता है। अनाज के लिए सिर्फ़ 'दाने' शब्द का प्रयोग है, और अन्तिम स्पर्श : 'कौए ने खुजलाई पाँखें'। घर-भर की खुशी के हिस्सेदार भी कौन-कौन और कहाँ-कहाँ के प्राणी हैं! क्या यह सब केवल सूक्ष्म पर्यवेक्षण और यथार्थ-चित्रण मात्र है? वास्तविकता के मर्म को यह आन्तरिक पहचान कोई नैतिक दृष्टि नहीं? एक मूर्तिमत्ता यह भी है, किन्तु तथाकथित बिम्बवादी मूर्तिमत्ता से कितनी अलग।

वास्तविकता को अपनी सारी जीवंतता में व्यक्त करने का एक और तरीका इधर बड़े पैमाने पर रघुवीरसहाय ने इस्तेमाल किया है, जिसमें व्यक्तिवाचक नामों का सहारा लिया गया है; जैसे 'दिन रात साँस लेता ट्रांजिस्टर लिये हुए खुशनसीब खुशीराम' या 'रामकुमार को मैंने अपना दिल उधार दिया' और फिर

नाम कहाँ तक याद रक्खूँ
लोगों को उनकी तोंद से जानता हूँ
पहले मुझे वही मिली **देवीदयाल वर्मा में**
कितनी शान्ति थी घुटनभरी
आदमी से आदमी के बचाव की ढाल।

कविता में व्यक्तिवाचक नामों का प्रयोग एक समय निराला ने भी किया था 'नये पत्ते' के ज़माने में, मसलन 'मास्को डायलॉग्स' शीर्षक कविता में गिडवानी का, जो काफ़ी व्यंजक है। नामों का प्रयोग राजकमल चौधरी के 'मुक्तिप्रसंग' में भी है। चन्द्रमौलि उपाध्याय, मंजू हालदार आदि जो वास्तविक बतलाये जाते हैं। किन्तु रघुवीरसहाय द्वारा नामों का प्रयोग कितना विशिष्ट और कितना काव्यात्मक है! एक बार 'देवीदयाल वर्मा' को हटाकर देखें तो स्पष्ट हो जाएगा कि इस एक नाम के होने से क्या बात पैदा हो जाती है, एक शब्द में कितनी अधिक बातें कह दी गई हैं और उस शब्द का होना कितना अनिवार्य है। कहना न होगा कि मूर्तिमत्ता का एक रूप यह भी है, लेकिन यह बिम्ब-योजना नहीं है।

यह भी एक विडंबना ही है कि जिस समय कुछ अध्यापक अपनी आधुनिकता प्रमाणित करने की आतुरता में अपने पिछड़ेपन की झेंप मिटाने के लिए 'काव्य-बिम्ब' पर विचार करने की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं, काव्य-सृजन बिम्ब के दायरे से निकलकर एक खास तरह की सपाटबयानी की ओर अग्रसर हो रहा है।

प्रिय पाठक
ये मेरे बच्चे हैं
कोई प्रतीक नहीं
और इस कविता में

मैं हूँ मैं
कोई रूपक नहीं

यह मैं खड़ा हूँ
भरापूरा एक आदमी

'एक अधेड़ भारतीय आत्मा' के माध्यम से रघुवीरसहाय का यह कथन उस बदली हुए मन:स्थिति का अर्थपूर्ण संकेत है। "कविता में मैं सबसे अधिक ध्यान देता हूँ बिम्बविधान पर" यह एक समय कहने वाले केदारनाथ सिंह बिम्बविधान का मोह छोड़कर अब सीधे-सीधे इस प्रकार के वक्तव्य देने लगे हैं :

तुमने जहाँ लिखा है 'प्यार'
वहाँ लिख दो 'सड़क'
फर्क नहीं पड़ता।
मेरे युग का मुहावरा है
फर्क नहीं पड़ता।

और भाषा जो मैं बोलना चाहता हूँ
मेरी जिह्वा पर नहीं
बल्कि दाँतों के बीच की जगहों में -
सटी हुई है।

इस परिवर्तित स्थिति को देखकर ही मैंने 'नयी कविता पर क्षण-भर' शीर्षक लेखमाला के अन्तर्गत सितम्बर '63 के 'ज्ञानोदय' में लिखा था : "आज की कविता अपनी प्रकृति में अब-तब की बिम्ब-प्रधान कविता से सर्वथा भिन्न है अथवा उसका झुकाव बिम्ब-भिन्न है। कवियों का सम्भवत; कुछ ऐसा विश्वास हो चला है कि बिम्ब-विधान सीधे सत्य-कथन के लिए बाधक है। इधर की अधिकांश बिम्बवादी कविताओं को देखते हुए यह आशंका एकदम असंगत नहीं लगती। इसे विरोधाभास ही कहना चाहिए कि जब से कविता में बिम्बों की प्रवृत्ति बढ़ी, सामाजिक जीवन के सजीव चित्र दुर्लभ हो चले। सुन्दर बिम्बों के चयन की ओर कवियों की ऐसी वृत्ति हुई कि प्रस्तुत गौण हो गया और अप्रस्तुत प्रधान! इस तरह कवि की दृष्टि ही संकुचित नहीं हुई, कविता का दायरा भी सीमित हो गया - पहले जीवन से खिंचकर प्रकृति की ओर, और फिर प्रकृति में भी विशेष प्रकार के रमणीय की ओर; यहाँ तक कि वातावरण का संकेत देने वाले बिम्ब भी सिमट कर एक कमरे की वस्तुओं के रूप में रह गए और बाहरी दुनिया एक खिड़की की तकदीर के सहारे बैठ गई। कविता को चित्र बनाने का नतीजा क्या होता है, यह बात पिछले पन्द्रह वर्षों के अनुभव से स्पष्ट हो गई। यही हाल प्रतीक-संकेत पद्धति का हुआ। सांकेतिकता भीरुता का बाना ही नहीं बनी, अज्ञान कवच भी बन गई। जहाँ कुछ स्पष्ट न हो, वहाँ संकेत। अँधेरे में जैसे हर किसी को तीर चलाने का मौका मिल गया, और हर कवि को परम ज्ञानी की तरह पहेली बुझाने की छूट मिल गई। देखते-देखते कविता भी उसी दुनिया का अंग बन गई जिसमें 'सब दूसरों से छिपाते हैं'। यदि इतने पर भी इस कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया न होती तो विनाश निश्चित था - विनाश सामाजिकता और मानवीयता का ही नहीं, बुद्धि, हृदय और सृजनशीलता का भी।"

वस्तुत: इस बिम्ब-मोह के टूटने का कारण सामाजिक और ऐतिहासिक है। छठे दशक के अंत और सातवें दशक के आरंभ में सामाजिक स्थिति इतनी विषम हो उठी कि उसकी चुनौती के सामने बिम्ब-विधान कविता के लिए अनावश्यक भार प्रतीत होने लगा। जिस प्रकार सन् '36 तक आते-आते स्वयं छायावादी कवियों को भी सुन्दर शब्दों और चित्रों से लदी हुई कविता निस्सार लगने लगी, उसी प्रकार सन् '60 के आस-पास नयी कविता की बिम्ब-धर्मिता की निरर्थकता का एहसास होने लगा। समस्या परिस्थितियों के सीधे 'साक्षात्कार' की थी; प्रश्न हर चीज़ को उसके सही नाम से पुकारने का था; क्योंकि जैसा कि केदारनाथ सिंह ने कहा है :

चीज़ें एक ऐसे दौर से गुज़र रही हैं
कि सामने की मेज को सीधे मेज़ कहना
उसे वहाँ से उठाकर अज्ञात अपराधियों के बीच रख देना है।

और कुछ ऐसी ही मुश्किल श्रीकांत वर्मा की इन पंक्तियों से भी झलकती है :

मेरे सामने समस्या है
किसको किस नाम से
पुकारूँ

आईने को आईना कहूँ
या
इतिहास?

इस मुश्किल ने क्रमश: उस प्रवृत्ति को जन्म दिया जिसे अशोक वाजपेयी ने श्रीकांत वर्मा के दो नये काव्य-संग्रह 'माया दर्पण' और 'दिनारम्भ' की समीक्षा (धर्मयुग, 23 जून '68) करते हुए "सपाटबयानी" कहा है। यह परिवर्तन आज इतना स्पष्ट है कि अशोक वाजपेयी भी इसे लक्षित करते हुए कहते है : "नयी कविता बिम्ब-केंदित रही है और अक्सर कवियों में बिम्ब का ऐसा घटाटोप तैयार हुआ कि सातवें दशक तक आते-आते कई कवियों को यह महसूस हुआ कि कविता को बिम्ब से मुक्त कराके ही उसे जीवंत और प्रासंगिक रखा जा सकता है। उनके सामने बिम्ब-प्रधान कविता कुछ शक की चीज़ बन गई और सपाटबयानी की तरफ कई कवि झुके और उसे विश्वसनीय माना जाने लगा।" इसी क्रम में रघुवीरसहाय, केदारनाथ सिंह और श्रीकांत वर्मा, तीन कवियों का विशेष रूप से उल्लेख करते हुए वे आगे यह भी जोड़ते हैं कि "उनमें से हर एक ने सपाटबयानी के मूल्य को पहचाना लेकिन उसे अपनी बुनियादी बिम्ब-धर्मिता के प्रतिकूल न रखकर उसे उसके साथ संयोजित किया और अपने मुहावरों को और उनसे उजागर होने वाले काव्य-संसार को समृद्ध किया, चित्रमयता को खोए बिना उसे रोज़मर्रा की जीवंतता दी।"

किन्तु अशोक वाजपेयी ने, जैसा कि श्रीकांत वर्मा की कविताओं को लक्ष्य करके कहा है, इस प्रकार वे "वक्तव्य नहीं रह जातीं और न उनमें अपने अनुभवों का निरा एकायामी बखान होती है।" क्योंकि वहाँ "बिम्ब और चित्र आलंकारिक नहीं रहते, साक्षात्कार से बचने का उपाय भी नहीं।" इस भटकाव से रोकने में कवि की सपाटबयानी का व्यंग्यपूर्ण एवं नाटकीय अन्दाज़ सहायक होता है।

बिम्बों की भाषा से चिढ़ इस बीच इतनी बढ़ गई कि अनेक कवि और आलोचक "नंगी" भाषा के लिए आग्रहशील हो उठे। 'ताजी कविता' का नारा देते हुए लक्ष्मीकांत वर्मा ने साफ़ शब्दों में कहा कि "बिम्बों की यह निरर्थकता ही हमें अब 'नंगे शब्दों' की ओर ले जा रही है - आवरणहीन, सज्जाहीन, संस्कारहीन और इन सबसे अधिक ऐसा नंगापन जिसमें आभिजात्य जंगलीपन के ऊपर एक समय-बोध की छाप लगा सके।" प्रतिक्रिया का तीखापन इस बात से स्पष्ट है कि वे सातवें दशक में भी मैथिलीशरण गुप्त की भाषा का समर्थन करने के लिए तत्पर हो उठते हैं क्योंकि वह जटिल संवेदनाओं की जटिलता को निभाने की क्षमता से रहित होने के बावजूद आभिजात्य और अस्पष्टता से मुक्त है।

कविता में सपाटबयानी का यह आग्रह वस्तुत: गद्य-सुलभ जीवंत वाक्य-विन्यास को पुन: प्रतिष्ठित करने का प्रयास है, जिसके मार्ग में बिम्बवादी रुझान निश्चित रूप से बाधक रहा है। नयी कविता के उत्कर्ष-काल में भी प्रवाह-पतित होने का खतरा उठाकर एक कवि धारा के विरुद्ध वाक्य-विन्यास की रक्षा के लिए आवाज़ बुलंद करता रहा, लेकिन उसकी आवाज़ न तब सुनी गई और न अब - वह कवि है 'धरती' और 'दिगंत' का रचनाकार त्रिलोचन, जिसके बारे में शमशेर ने लिखा है

तुमने 'धरती' का पद्य पढ़ा है?
उसकी सहजता प्राण है।

त्रिलोचन की 'धरती' की सहजता का आधार है अटूट वाक्य-विन्यास, जिसके अनवरुद्ध प्रवाह को 'सॉनेट' के कसे रूप में बाँधते हुए उन्होंने ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जिसकी "ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है।" इस भाषा के आग्रह के पीछे वही दृष्टि है जिसके कारण सातवें दशक के कवि आज सपाटबयानी पर उतरने के लिए विवश हैं।

गला सत्य का कभी नहीं घोटूँगा, मेवा से
वरंबूहि न कहूँगा और न चुप रहने का,
लड़ता हुआ समाज, नई आशा-अभिलाषा
नये चित्र के साथ नई देता हूँ भाषा

इस प्रकार जहाँ अँधेरी कोठरी को अँधेरी कहने की साहसिक सच्चाई है वहीं नये चित्र के साथ नई भाषा देने का आत्म-विश्वास भी सम्भव है।

अंग्रेज़ी कविता में बिम्ब-प्रतीकवाद के विरुद्ध इसी प्रकार की तीखी प्रतिक्रिया एक दशक पूर्व छठे दशक के आरम्भ में हुई जिसे सैद्धान्तिक रूप देने का श्रेय कवि-आलोचक डोनाल्ड डेवी को है। उन्होंने 'आर्टिकुलेट एनर्जी' (1955) नामक पुस्तक में टी. एस. इलियट द्वारा प्रतिष्ठित 'आब्जेक्टिव को-रिलेटिव' सिद्धान्त को चुनौती देते हुए परम्परागत वाक्य-विन्यास के उपयोग को काव्य-भाषा के समर्थ साधन के रूप में निरूपित किया। उनकी युक्तियाँ संक्षेप में इस प्रकार हैं : बिम्बवादियों और उनके अनुयायियों के लिए भाषा तभी विश्वसनीय होती है जब वह वाक्य-विन्यास के तार्किक संघटन को छोड़कर विच्छिन्न शब्दों के रूप में बिम्ब-रचना करती है। वाक्य-विन्यास का परित्याग कवि के स्नायु-दौर्बल्य का सूचक है। तर्क-ज्ञान और बुद्धिसंगत

अवधारणा से विश्वास उठ जाने पर ही कवि वाक्य-विन्यास का दामन छोड़ता है। इलियट का 'आब्जेक्टिव को-रिलेटिव' का सिद्धान्त इसी अबुद्धिवाद का परिणाम है। इसका कारण समाज से कवि का नितान्त अलगाव है; इसीलिए वह क्षणिक प्रकाश में परिस्फुट होने वाले बिम्बों के रूप में अपने-आपको व्यक्त करके ही दूसरों से ग्रहणशीलता की सहानुभूति प्राप्त करने की आशा रखता है। इसके विपरीत सत्रहवीं सदी के कवि कविता में वाक्य-विन्यास के उपयोग पर पूरा भरोसा रखते थे क्योंकि अपने समाज के साथ वे जीवंत संपर्क में थे और बुद्धिसंगत संवाद में उनका विश्वास था। कविता में वह परम्परा आज भी पुनर्जीवित की जा सकती है। इसका अर्थ है अपने पाठक के साथ कवि द्वारा साक्षात् सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास। यह सम्पर्क एक ऐसे अनुबन्ध को जन्म देगा जिसके अनुसार कवि और पाठक एक भाषागत 'समय' के पालन के लिए प्रतिश्रुत होंगे। यह 'समय' अनिवार्यत: कविता में पुन: वाक्य-विन्यास की प्रतिष्ठा कर देगा। इस प्रकार बिम्बों की व्यक्तिगत भाषा के स्थान पर कविता में सम्प्रेषणीय जीवंत भाषा की सुरक्षा संभव होती है।

डोनाल्ड डेवी का अनुसरण करते हुए फ्रैंक कर्मोड ने 'रोमान्टिक इमेज' (1956) नामक पुस्तक में एक भिन्न कोण से इलियट के बिम्ब-प्रतीकवादी काव्य-सिद्धान्त का प्रतिवाद किया। कर्मोड का प्रमुख आक्रमण इलियट के 'डिस्सोसिएशन आफ़ सेंसिबिलिटी' अर्थात् 'भावबोध की विच्छिन्नता' पर है, किन्तु इस मान्यता की अनैतिहासिकता एवं कोरी काल्पनिकता का उद्घाटन करते हुए अन्तत: वे इसमें निहित बिम्ब-प्रतीकवादी काव्य-सिद्धान्त की पड़ताल करने में तत्पर होते हैं। इलियट ने जब यह कहा कि पाश्चात्य मानस में 17वीं सदी के मध्य में 'भाव-बोध की विच्छिन्नता' घटित हुई तो उसका स्पष्ट अभिप्राय था कि बीसवीं सदी में 'अविच्छिन्न भावबोध' को संयोजित करके काव्य-सृजन की ओर प्रवृत्त होना चाहिए और बिम्ब-योजना इस 'अविच्छिन भावबोध' का अपरिहार्य माध्यम है। कर्मोड ने इस मान्यता का खंडन करते हुए स्थापित किया कि महान कविता केवल बिखरे हुए बिम्बों की शृंखला नहीं है, वह सामान्य संलाप के तंत्र का उपयोग करती है; इसलिए उसे अपने पाठकों को सहज-सुलभ अर्थों का संप्रेषण करना चाहिए। बिम्बों की भाषा सदैव श्रेष्ठ नहीं होती और न वह अविच्छिन्न भावबोध का सर्वोत्कृष्ट माध्यम ही है। क्रियोन्मुख वाक्य-विन्यास सामाजिक विचार-विनिमय का परम्परागत साधन है और विवेक-सम्मत काव्य-रचना का आधार भी वही है।

अंग्रेज़ी काव्य-जगत् में इन विचारों की व्यापक प्रतिध्वनि हुई क्योंकि ये प्रकारान्तर से एक सृजनात्मक आकांक्षा को ही विवक्षित करने के सैद्धान्तिक प्रयास थे। 'सेवेन टाइप्स ऑफ़ एम्बिगुइटी' के विश्रुत आलोचक और विशिष्ट कवि विलियम एम्पसन ने भी कविता में जटिलता एवं अस्पष्टता का पुराना सिद्धान्त छोड़कर तर्कसंगत एवं स्पष्ट कविता का नारा बुलन्द किया, जिसका आभास बी.बी.सी. द्वारा प्रसारित उनकी 'आर्गुफ़ाइंग इन पोएट्री' शीर्षक वार्ता (लिसनर, 22 अगस्त 1963) में मिलता है।

इस वार्ता में उन्होंने कहा है कि एक समय हमने डन को इसलिए पसन्द किया था कि वह 'मेटाफिज़िकल' है किन्तु अब मैं यह अनुभव करता हूँ कि हमने बहस के लिए ही उसे पसन्द किया था। अभी तक डन के इस पक्ष को इसलिए बचाया जाता रहा है कि वह प्रतीकवादी काव्य-सिद्धान्त के ढाँचे में फिट नही बैठता था। कविता में तर्क से बचने का कारण है प्रतीकवाद का बुद्धिविरोधी प्रभाव। प्रतीकवाद और बिम्बवाद की यह मान्यता थी कि कवि को जो कुछ सीधे-सीधे कहना है उसे नहीं कहना चाहिए क्योंकि यह बौद्धिकीकरण होगा। इसलिए कवियों ने संकेत से कहने की ऐसी विधि अपनाई जिसे उस समय कुछ लोगों ने 'प्रतीक' कहा तो कुछ ने 'बिम्ब'। इस काव्य-सिद्धान्त का सार यह है कि कविता तर्कहीन असम्बद्ध बिम्बों का समुच्चय मात्र है। इसलिए एम्पसन का कहना है कि मैंने इस काव्य-सिद्धान्त को हमेशा गलत समझा। यह कविता के साथ ही गद्य के लिए भी हानिकार है क्योंकि यह मिथ्या संकेतों और टालमटोल को बढ़ावा देता है। फ्रांसीसियों ने प्रतीकवाद का आविष्कार इसलिए किया कि फ्रांसीसी बोर्जुआ फ्रांसीसी बोर्जुआ से नफरत करता था। यह नफरत इस सीमा तक थी कि वह सौन्दर्य-दृष्टि से नितान्त शुद्ध हो गया। यह सिद्धान्त विज्ञान के विरुद्ध कला के महान् युद्ध में शस्त्र साबित हुआ, लेकिन उसमें कभी बुद्धिमत्ता के दर्शन नहीं हुए। इतिहास जो भी हो, आज प्रतीकवाद के पक्ष में जो युक्तियाँ प्राय: सुनाई पड़ती हैं उसके मूल में एकमात्र विश्वास यही है कि सारा चिन्तन बिम्बों में होता है। लेकिन यह विश्वास कि हम बिम्बों में सोचते हैं, आदिमयुगीन चिन्तन का ठेठ उदाहरण है।

बिम्ब से साहित्यिकों का तात्पर्य प्राय: दृश्य बिम्ब से होता है; अर्थात् मस्तिष्कगत चित्र, लेकिन मनोवैज्ञानिकों के अनुसार सभी ऐन्द्रिय-बोधों और मांसपेशियों की क्रियाओं के बिम्ब होते हैं। इसलिए आप अपने पैरों के चित्र की धारणा के बिना भी साइकिल पर सवारी करने का ख्वाब देख सकते हैं। एम्पसन के अनुसार कवितापाठ के लिए मांसपेशियों की ऊर्जा सबसे महत्वपूर्ण है। कविता में बहस केवल मानसिक नहीं, बल्कि मांसपेशियों की गति के रूप में भी महसूस होती है। "अत:" का प्रयोग पाठक की नाक पर एक घूँसे के समान है। "बौद्धिक" कविता को कोई चाहे जितना अवास्तविक और बासी कहे, नाक पर पड़ा हुआ घूँसा अवास्तविक और बासी नहीं है। इसलिए यदि 'उषा' बासी नहीं है तो "अत:" भी बासी नहीं है और उसमें भी उतनी ही बिम्बमयता' है। वस्तुत: प्रतीकवादी कविता एक ऐसे पंगु व्यक्ति की कविता है जिसने अपने पाँवों की नसें काट रखी हैं। ऐसा कवि जहाँ जाना चाहता है, नहीं जा सकता; वह बैठकर प्रतीक्षा करने के लिए बाध्य है ताकि वह अपनी ओर आने वाले अनुपंगों को पकड़ सके।

अंग्रेजी साहित्य में इधर बिम्ब-विधान के विरुद्ध इतनी गहरी प्रतिक्रिया हुई है कि अब इसे आलोचना की भाषा से निकाल देने का भी प्रस्ताव किया जा रहा है। शीत 1967 के 'क्रिटिकल क्वार्टर्ली' में पी. एन. फ़रबैंक ने 'डू वी नीड द टर्म्स इमेज़ एंड इमेज़री?' (क्या हमें 'बिम्ब' और 'बिम्ब-योजना' शब्दों की आवश्यकता है?) शीर्षक निबन्ध में 'बिम्ब' शब्द के सभी सम्भावित प्रयोगगत अर्थों पर विचार करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि काव्य-समीक्षा में परम्परागत 'मेटाफ़र' शब्द के रहते हुए 'बिम्ब' शब्द अनावश्यक ही नहीं, बल्कि भ्रामक भी है; क्योंकि इसका मूल स्रोत चित्रकला है, जो काव्येतर होने के कारण काव्य के सही रूप को समझने में साधक की जगह प्राय: बाधक ही होती है। ज्याँ-पाल सार्त्र और गिलबर्ट राइल के मानस-बिम्ब संबंधी मतों का उल्लेख करते हुए फ़रबैंक ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि कोई व्यक्ति मानस-बिम्बों को अपने मन से विलगाकर अनका अनुचिंतन कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह निरन्तर उनकी सृष्टि में रत रहता है - बिम्ब क्रियारत चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। लोगों का अब भी यह ख़याल है कि मानस-बिम्बों की चाक्षुष वास्तविकता होती है, गोया दिमाग के अन्दर वस्तुओं को देखना उन्हें बाहरी दुनिया में देखने से मूलत: भिन्न नहीं हैं। किंतु जैसा कि राइल और सार्त्र ने संकेत किया है, कोई व्यक्ति मानस-बिम्बों का अनुचिंतन करता ही नहीं। मानस-बिम्ब वही है जो हम स्वयं मानस में प्रस्तुत करते हैं। इसलिए मानस-बिंम्ब से कोई व्यक्ति नया कुछ सीख ही नहीं सकता, क्योंकि पहले से जो उसकी जानकारी में होता है, बिम्ब उसी को प्रस्तुत करने का एक ढंग-भर है। यदि ये बातें सच है' तो 'बिम्बग्रहण' के नाम पर हम कविता से उसका विशेष कथ्य न प्राप्त कर केवल अपनी जानकारी का ही प्रेक्षप करते हैं। तथ्य है कि नयी कविता में केवल बिम्ब ढूँढ़ने वाले अध्यापक प्राय: यही करते हैं, जिससे उनकी अपनी जानकारी का तो पता चलता है, किन्तु कविता के बारे में कोई नई बात नहीं मालूम होती और न इस पद्धति से कविता के किसी नये पक्ष के प्रकाशित होने की सम्भावना ही है। इस वातावरण में यदि तथाकथित 'सपाटबयानी' में रचे-पचे रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से लिये गए जाने-माने बिम्ब अनदेखे चले जायँ और इस प्रकार उनका विशेष कथ्य भी साधारण मान लिया जाकर उपेक्षित हो जाय तो आश्चर्य नहीं।

काव्य-बिम्ब की चर्चा में प्रसंगात् पाश्चात्य आलोचना-जगत् के ये कुछ उदाहरण इसलिए पेश किए गए कि काव्य-बिम्ब की मंज़िल तक देर से आने वाले कुछ अध्यापकों का ऐसा खयाल है कि "पश्चिम का आलोचक बिम्ब के महत्व से इतना आक्रान्त है कि उसकी सम्पूर्ण काव्य-चेतना ही बिम्ब से परिव्याप्त है।" इन तथ्यों के बाद भी यदि वह अपने भ्रमों की दुनिया में रहना चाहता है तो इलियट के शब्दों में यही कहना पड़ेगा कि 'आफ़्टर सच नॉलेज, वाट फ़ॉरगिवनेस!'

निष्कर्ष यह है कि कविता बिम्ब का पर्याय नहीं है, सामान्यत: जिसे 'बिम्ब' कहा जाता है उसके बिना भी कविताएँ लिखी गई हैं और वे बिम्ब-धर्मी कविताओं से किसी भी तरह कम अच्छी नहीं कही जा सकतीं। कविता में बिम्ब-रचना सदैव वास्तविकता को मूर्त ही नहीं करती, कभी-कभी वह वास्तविकता का अमूर्तन भी करती है (वैसे, 'मूर्त' और 'अमूर्त' शब्दों का प्रयोग पर्याप्त अनिश्चित अर्थों में होता है)। कविता में बिम्ब वास्तविकता के साक्षात्कार का ही सूचक नहीं होता, प्राय: वह वास्तविकता से बचने का एक ढंग भी रहा है। काव्य-भाषा के लिए भी प्राय: बिम्ब-योजना हानिकारक सिद्ध हुई है। बिम्बों के कारण कविता बोलचाल की भाषा से अक्सर दूर हटी है, बोलचाल की सहज लय खण्डित हुई है, वाक्य-विन्यास की शक्ति को धक्का लगा है, भाषा के अन्तर्गत क्रियाएँ उपेक्षित हुई हैं, विशेषणों का अनावश्यक भार बढ़ा है और काव्य-कथ्य की ताकत कम हुई है। इन कमज़ोरियों को दूर करने के लिए ही कविता में तथाकथित् 'सपाटबयानी' अपनाई जा रही है, जिसमें फिलहाल काफी सम्भावनाएँ दिखाई पड़ती हैं। हो सकता है कि इस 'सपाटबयानी' में नयी कविता के भाषा-योगों की-सी **नवीनता** न हो, बल्कि जैसा कि कृष्ण नारायण कक्कड़ ने राजकमल चौधरी के 'मुक्ति प्रसंग' की भाषा के सिलसिले में अक्टूबर '67 के 'आरम्भ' में लिखा है, "पहली बार वर्तमान हिन्दी कविता में दूसरे शब्दों में उस भाषा का प्रयोग हुआ है जो हिन्दी के पुराने कवियों में पाया जाता है।" पुराने कवियों से कक्कड़ का आशय क्या है, यह स्पष्ट नहीं, किन्तु अनुमानत: यह वही भाषा है जो कबीर-सूर-तुलसी आदि भक्त कवियों में मिलती है, जिसकी प्रकृति मूलत: बिम्ब-धर्मेतर है। नये प्रत्यभिज्ञान के साथ अर्ध-विस्तृत परम्परा के किसी प्रासंगिक तत्व को पुनर्जीवित करना सार्थक है तो इधर की कविता के इस भाषागत प्रत्यावर्तन की सार्थकता भी असंदिग्ध है।

(कविता के नये प्रतिमान से)

24. काव्यानुभूति की प्रक्रिया

—निर्मला जैन

साधारणीकरण

साधारणीकरण का संबंध काव्य-संप्रेषण की प्रक्रिया से है। काव्य निबद्ध विशिष्ट अनुभूति जिस प्रक्रिया के द्वारा सहृदय-समाज की अनुभूति हो जाती है, उसी को संस्कृत काव्यशास्त्र में साधारणीकरण की अभिधा प्रदान की गई है। भावों की सामान्य रूप में प्रस्तुति का संकेत तो भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में भी किया, किन्तु सिद्धान्त-रूप में इसका स्पष्ट व्याख्यान सर्वप्रथम भट्टनायक के द्वारा किया गया। इस संबंध में हमारे सामने निम्नलिखित प्रश्न उपस्थित होते है:

1. साधारणीकरण किसका होता है?
2. इस व्यापार की प्रक्रिया एवं स्वरूप क्या है?
3. रसास्वाद में उक्त व्यापार का महत्व एवं स्थिति क्या है?

भट्टनायक के मतानुसार

(क) साधारणीकरण काव्य के विभावादि का होता है;[1]

(ख) यह भावकत्व व्यापार से अभिन्न अथवा उसका प्राण है तथा भावकत्व व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायी भाव ही रस-रूप में परिणत हो जाता है;[2]

(ग) भावकत्व व्यापार से अभिन्न होने का अभिप्राय है कि यह रसास्वाद से पूर्व की प्रक्रिया है, जो रसावयवों को अपने-अपने वैशिष्ट्य एवं वस्तुरूप से मुक्त कर साधारण एवं अनुभूति-रूप में आस्वाद्य बना देती है।[3]

अभिनवगुप्त ने इस प्रक्रिया का और स्पष्ट शब्दों में व्याख्यान किया और जिसे भट्टनायक ने भावकत्व कहा था, उसे उन्होंने वाक्यार्थबोध के अनंतर मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति कहा, जिसके द्वारा देशकालादि-विभाग नहीं रहता।[4] उदाहरण द्वारा अपने कथन को और स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा कि विभावादि की देशकाल-संबंधों से मुक्ति के उपरान्त, निर्विघ्न प्रतीति के रूप में ग्राह्य स्थायी भाव ही रस बन जाता है। अर्थात 'मैं भीत हूँ', 'यह भीत है' अथवा 'शत्रु-मित्र या मध्यस्थ' भीत है इत्यादि सुख-दु:खकारी अन्य प्रत्ययों को नियमत: उत्पन्न के कारण विघ्नबहुल प्रतीतियों से विलक्षण, निर्विघ्न प्रतीति-रूप में ग्राह्य (स्थायी भाव) भयानक रस बन जाता है।[5]

अर्थात जीवन में सुख-दु:खात्मक अनुभव व्यक्ति-संसर्गों के कारण उत्पन्न होते हैं। स्थायी भाव की उक्त संबंधों से मुक्ति का आशय है – सुख-दु:खात्मक लौकिक चेतना से मुक्ति।

यह साधारणीकरण अपरिमित एवं सर्वव्याप्त होता है। अतएव सभी सामाजिकों की एक समान प्रतिपत्ति होने के कारण तथा अनादि संस्कारों से चित्रित चित्तवाले समस्त सामाजिकों की एक जैसी निर्विघ्न चमत्कार की अनुभूति को रस कहते है।[6]

अत: अभिनवगुप्त के मतानुसार :

(क) साधारणीकरण विभावादि का ही नहीं, स्थायी भाव का भी होता है – जो विभावादि के साधारणीकरणरूपी कारण का कार्य होता है।

(ख) यह साधारणीकरण व्यक्ति-संसर्गों एवं देश-काल आदि की बंधन-मुक्ति से संपन्न होता है। उपर्युक्त संबंध-भावना से मुक्त होने पर भाव की ऐन्द्रिय सुख-दु:खात्मकता भी नष्ट हो जाती है।

---

1. विभावादि साधारणीकरणात्मना
2. भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रस: अभिनवभारती, पृ. 277
3. भोगेन परं भुज्यत इति
4. वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तर मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततत्पद्वाक्योपात्रकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरूपजायते। वही, पृ 279
5. तत एव 'भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुवयस्यो मध्यस्थोवा', इत्यादि प्रत्ययेभ्यो दु:खसुखादिकृतहानादिवुध्यन्तरोदयनियमवत्तया विध्यनवहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं ... भयानको रस:। अभिनवभारती, पृ 279।
6. तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तुवित तम्। ... अत एव सर्वसामाजिकानामेकधनतयैव प्रतिपत्ति: सुतरां रसपरिपोषाय। सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां। वासनासंवादात्। सा चाविघ्ना संवित्। वही, पृ 279

(ग) रसास्वाद की प्रक्रिया में साधारणीकरण के माध्यम से रस सामूहिक रूप में अनुभूयमान रहता है। वह एक ही व्यक्ति या प्रमाता की अनुभूति न होकर सामूहिक अनुभूति है।

अभिनवगुप्त की उपर्युक्त व्याख्या के प्रकाश में 'काव्यप्रकाश' की टीका में भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मतों का सार अत्यंत स्पष्ट एवं संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है:[1]

(क) भावकत्व ही साधारणीकरण है। इसी व्यापार के द्वारा विभावादि का तथा स्थायी भावों का साधारणीकरण होता है।

(ख) साधारणीकरण का अभिप्राय है – सीतादि विशेष पात्रों (विभाव) का कामिनी आदि सामान्य रूप में उपस्थित होना।

(ग) स्थायी भाव और अनुभाव के साधारणीकरण का अभिप्राय है – विशिष्ट संबंधों से मुक्ति।

उक्त व्याख्या के अनुसार काव्य के भाव और विभाव, दोनों पक्षों का साधारणीकरण होता है। विभाव देशकाल के बंधन से मुक्त होते हैं। और भाव स्व-पर की चेतना से।

संस्कृत आचार्यों की परंपरा में विश्वनाथ से पूर्व इसी मत की पुनः-पुनः आवृत्ति होती रही। विश्वनाथ ने इस संबंध में दो परंपरा भिन्न स्थापनाएँ की :

1. रसास्वाद के समय काव्य के विभावादि का 'पर के हैं अथवा पर के नहीं हैं, मेरे हैं अथवा मेरे नहीं हैं', इस विशेष संबंध-भावना का स्वीकार अथवा परिहार नहीं होता।[2]

2. विभावादि के विभावन नामक साधारणीकरण व्यापार के कारण प्रमाता आश्रय से तादात्म्य या अभेद-स्थापन कर लेता है और इस प्रकार सामान्य जन भी देव-सुलभ कर्मों व अनुभूतियों का आस्वादन करता है।[3]

पंडितराज ने भी यहीं से संकेत ग्रहण का आश्रय से तादात्म्य की बात कहते हुए भी रस-निष्पत्ति की भाँति ही, साधारणीकरण-व्यापार के स्थान पर दोष की कल्पना कर, उसी आधार पर उक्त अभेद की स्वीकृति की है। उनका विचार था कि प्राचीनों द्वारा कल्पित साधारणीकरण व्यापार दोष की स्वीकृति के बिना असंभव है, क्योंकि काव्य में विशेष व्यक्तियों के प्रतिपादक शब्द सामान्य के बोधक कैसे हो सकते हैं?[4]

अतएव आश्रम से तादात्म्य उन्होंने भावना के उसी दोष के आधार पर स्वीकार किया, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। काव्य में विभावादि के ज्ञान के उपरान्त सहृदय को व्यंजना-व्यापार से उसमें निबद्ध भावनाओं की प्रतीति होती है। तत्पश्चात् सहृदयता के कारण चित्त में एक विशेष प्रकार की भावना (जो दोष रूप है) के उत्पन्न होने से दुष्यन्त आदि पात्रों के विषय में पुनः-पुनः अनुसंधान करते हुए कल्पित दुष्यन्तत्व से प्रमाता की आत्मा आच्छादित हो जाती है और उसे आलम्बन के प्रति कल्पित भावना भी भासित होती है – रजत-सीप न्याय के द्वारा।[5]

पंडितराज ने शब्द-भेद से आश्रय के साथ तादात्म्य और समानुभूति की ही स्वीकृति की है। साधारणीकरण-व्यापार की अस्वीकृति और भावना-दोष की परिकल्पना के मूल में उनकी दार्शनिक प्रतिबद्धता ही सक्रिय रही है। वह शब्द-भेद है, मतभेद नहीं।

पंडितराज के उपरान्त साधारणीकरण के सिद्धान्त का गंभीर शास्त्रीय धरातल पर विवेचन हिन्दी के आधुनिक आचार्यों द्वारा हुआ। इस दिशा में पहला उल्लेखनीय मत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है। उनके मत में यद्यपि आचार्य विश्वनाथ के मत की ही प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है और उन्होंने इसका पुनराख्यान अपने 'लोकधर्म सिद्धान्त' के पोषण के निमित्त ही किया, तथापि उनकी स्थापनाएँ निम्नांकित हैं:

---

1. भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते साधारणीकरणं चैतदवे यत्सीतादि विशेषणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः। स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन। काव्यदीप, पृ 66।

2. परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च
   तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदों न विद्यते। साहित्यदर्पण, पृ. 55

3. तत्प्रभावेण, यस्यासन्पाथेधिप्लवनादयः
   प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।।
   उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः
   नृणामति समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति।। वही, पृ 54

4. यदपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तम्, तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दै शकुन्तलात्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु, दोषविशेषकल्पनं बिना दुरुपपादम्। रसगंगाधर, पृ. 105

5. वही, पृ. 101

1. काव्य में आलम्बन का चित्रण ऐसे गुणों से युक्त करके किया जाना चाहिए कि वह सबके उसी भाव का आलम्बन हो, अन्यथा उसमें रसोद्‌बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाए जाने को साधारणीकरण कहा जाता है।[1]

2. काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं, वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं।... 'बिम्ब' जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं। ... जिस व्यक्ति-विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति-विशेष ही उपस्थित रहता है।[2]

3. (क) साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।

(ख) इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की ही रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा-बहुत होता है।.... -'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं'- इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।[3]

4. साधारणीकरण में आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में, और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ होता है।[4]

स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल के मत का आधार आचार्य विश्वनाथ का मत है। उन्होंने भी आश्रय के साथ तादात्म्य पर बल दिया है और आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण स्वीकार किया है; किन्तु उनके मत में यह बात ध्यान देने की है कि वे बारंबार आलम्बन के साधारणीकरण का निषेध करते हुए उसकी व्यक्ति-सत्ता पर बल देते हैं। लोक-हृदय की पहचान में समर्थ कवि आलम्बन के वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए भी उसे ऐसे गुणों से युक्त कर देता है कि वह सहृदय-मात्र के उसी भाव का आलम्बन हो जाता है। इस प्रकार सीता सामान्य गुणों को धारण करने के कारण समस्त सहृदय-समाज में रवि भाव उत्पन्न कर देती है। इस भाव के विनष्ट हो जाने से - कि आलम्बन सहृदय का अपना है या दूसरे का, सहृदय का अपना चित्त व्यक्ति-चेतना से मुक्त हो जाता है।

शुक्लजी ने कवि, काव्य और सहृदय की त्रयी में एक ऐसे सूत्र का स्पष्टीकरण किया, जिसके प्रति संस्कृत आचार्यों ने (अभिनव को छोड़कर) प्रायः उदासीनता का परिचय दिया है। वह तत्त्व है - मूलतः कवि-भावना के साधारणीकरण की स्वीकृति। यह कहकर कि "साधारणीकरण में आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए" आचार्य शुक्ल ने यह स्पष्ट कर दिया कि काव्य में वर्णित विशेष पात्रों को लोक-हृदय के उसी भाव का विषय बनाने के लिए कवि को उन्हें सामान्य गुणों से युक्त करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में पहले उसकी अपनी व्यक्ति-चेतना का सामान्य भाव-भूमि ग्रहण करना - अर्थात साधारणीकृत होना अनिवार्य है।

शुक्लजी की दृष्टि नैतिकता से परिबद्ध वस्तुनिष्ठ दृष्टि थी। इसलिए उनके मन में आलम्बन की ऐसी ही कल्पना आ सकती थी जो लोक-ग्राह्य हो सके।

आचार्य शुक्ल के उक्त मत पर पंडित केशव प्रसाद मिश्र द्वारा किए गए आपेक्षों की चर्चा करते हुए डॉ. नगेन्द्र ने सभी कोणों से (आश्रय या नायक से तादात्म्य, आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण, सहृदय की चेतना का साधारणीकरण आदि) इस प्रश्न पर विचार किया है; और अन्त में अपना मत इस पक्ष में दिया कि सर्वांग (काव्यगत) का साधारणीकरण होता है, जो कवि की 'भावना' का बिम्ब-मात्र है या उसका शब्द-मूर्त रूप है: "अतः काव्य-प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि-भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है। भट्टनायक की विषयप्रधान धारणा और अभिनव की विषयिप्रधान धारणा - दोनों के साथ इसकी संगति बैठ जाती है; वस्तुतः यह दोनों के बीच अनुस्यूत संबंध सूत्र है और वर्तमान युग में रस-सिद्धान्त के सबसे समर्थ प्रतिष्ठापक आचार्य शुक्ल को भी इसमें कोई आपत्ति नहीं है।"[5]

---

1. चिन्तामणि, भाग 1, पृ. 227-30
2. -वही-
3. -वही-
4. रस-मीमांसा, पृ. 99
5. रस सिद्धान्त, पृ. 209-210

इस स्थापना का पूर्वार्द्ध निस्संदेह ग्राह्य है। काव्य-प्रसंग कवि की ही भावना का बिम्ब-रूप है, अत: कवि की अनुभूति का साधारणीकरण मानने में भट्टनायक और शुक्लजी के मत से कोई भेद उपस्थित नहीं होता। भट्टनायक जिस रस-सामग्री के बार-बार भावन से साधारणीकरण की चर्चा करते हैं अथवा शुक्लजी जिसमें आलम्बन पर सबसे अधिक बल देते हैं, वह कवि की अनुभूति का शब्द-मूर्त रूप है। परन्तु सहृदय की चित्तवृत्ति के साधारणीकरण के बिना रसानुभूति कैसे सिद्ध होगी - यह स्पष्ट नहीं होता। डॉ. नगेन्द्र ने सहृदय-मात्र की चेतना के साधारणीकरण से रसानुभूति का खण्डन किया है। पंडित केशव प्रसाद मिश्र की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा : 'स्वर्गीय पंडित केशव प्रसाद मिश्र ने अभिनवगुप्त के प्रमाण से इसी को प्रधानता दी है : 'चित के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे (प्रमाता को) सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।' किन्तु यह धारणा यथावत् मान्य नहीं है - चित्त की एकतानता ही तो संविद्विश्रान्ति है और वही रस है, अत: वह साधारणीकरण का कारण नहीं हो सकती, वह तो कार्य या परिणति है। चित्र के एकातन होने पर तो प्रमाता, अभिनव के अनुसार, आत्मास्वाद-रूप रस का अनुभव करता है, उस समय उसे अन्य पदार्थों की साधारण प्रतीति के लिए अवकाश ही नहीं रहता। साधारणीकरण रसास्वाद का समरूप, सहचारी या संचारी नहीं है, वह तो कारण है। अत: यह स्थापना भी सर्वथा मान्य नहीं है कि प्रमातृ-चेतना की एकतानता ही वस्तुत: साधारणीकरण है।"[1]

इसी प्रसंग में, जब डॉ. नगेन्द्र आगे चलकर सर्वांग के साधारणीकरण की चर्चा करते हुए कवि-भावना की साधारणीकरण की स्थापना करते हैं, तब वे उसमें प्रमाता की चेतना के साधारणीकरण का उल्लेख नहीं करते। यद्यपि काव्याधिकारी सहृदय का एक महत्वपूर्ण लक्षण पूर्वाग्रह-मुक्त चेतना भी है तथापि उसकी चेतना पूर्वाग्रह-मुक्त होकर भी स्व-पर की भावना से बद्ध रह सकती है। ऐसी स्थिति में कवि-भावना के साधारणीकरण की स्थिति में भी यदि सहृदय की चेतना स्व और पर की भावना से मुक्त नहीं होती तो रसानुभूति में बाधा होगी। मिश्रजी के मत की परिसीमा यह है कि वे सहृदय के चित्त की एकतानता और साधारणीकरण को एक मानकर चले। वस्तुत: ये रसानुभूति की प्रक्रिया के सोपान हैं, जिनमें पूर्वापर-क्रम है, चेतना का साधारणीकरण पूर्व-स्थिति है और चित्त की एकतानता परिणामी एवं चरम स्थिति है – जो संविद्विश्रान्ति है, रस है। रस के अन्यांगों का, जो अभिनव के अनुसार प्रतिभा से उद्भासित कवि के साधारणीभाव के बिम्ब मात्र हैं, कवि की भावना के शब्द-मूर्त रूप हैं, साधारणीकृत रूप में प्रस्तुत होना जितना अनिवार्य है, उतना ही सहृदय की चेतना का भी। न 'चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे (प्रमाता को) सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।'[2] और न ही 'सहृदय की चेतना का साधारणीकरण या निर्मुक्ति रसास्वादन की अन्तिम एवं आधारभूत क्रिया है।'[3] रसास्वादन तो स्वयं चरम या अन्तिम परिणति या क्रिया है, जिसकी पूर्वस्थिति है – साधारणीकरण। अत: साधारणीकृत विभावादि के कारण-रूप उपस्थित होने से (जो कवि-भावना का ही रूप है) प्रमाता की चेतना स्व-पर की भावना से मुक्त साधारणीकृत रूप में उससे पूर्ण तादात्म्य कर एकतान होकर रसास्वाद करती है। यही चित्त की एकतानता, संविद्विश्रान्ति है, रस है। डॉ. नगेन्द्र ने उचित ही कहा है कि : "साधारणीकरण रसास्वाद का समरूप सहचारी या संचारी नहीं है, वह तो कारण है।"[4]

वस्तुत: भट्टनायक ने भावकत्व और भोजकत्व शक्तियों की कल्पना करके साधारणीकरण और रसास्वाद की चरम स्थिति में जो एक पूर्वापर क्रम निर्धारित किया था, वह यों ही उड़ा देने की बात नहीं है। उन्हें भावकत्व या भोजकत्व व्यापार न कह कर भले ही व्यजंना-व्यापार के आधार पर समझा दिया जाए, किन्तु साधारणीकरण और रसास्वादन के मध्य क्रम चाहे कितना भी अलक्षित क्यों न हो, क्रम निश्चय ही ही वर्तमान रहता है।

इस संबंध में एक महत्वपूर्ण बात और। बाबू गुलाबराय ने आलम्बन के विषयगत अस्तित्व पर बल देते हुए कहा है कि : "जनता के मन में भी परंपरागत संस्कारों से एक सामान्य भावना बनी रहती है, वही आलम्बन का विषयगत अस्तित्व है। जो बात सबके मन में वर्तमान हो, वह मानसिक रहती हुई विषयनिष्ठता धारण कर लेती है।"[5]

दूसरी ओर डॉ. नगेन्द्र ने साधारण-संस्कार की चर्चा की है। उन्होंने आलम्बन की वस्तु-स्थिति के प्रश्न पर बिचार किया है। उनका कहना है कि : "यह साधारण संस्कार भी तो कवि की अनुभूति से ही बना है – अथवा यों कहिए कि यह अनेक कवियों की अनुभूतियों का संघात ही तो है।"[6] अर्थात विषय-विशेष के विविध कवियों द्वारा पुन:-पुन: ग्रहण से जो तत्संबंधी एक सामान्य धारणा हमारे मन में, साधारण-संस्कार के रूप मे बन जाती है वही उसका विषयगत रूप है। इस स्पष्टीकरण से इस शंका का समाधान नहीं होता कि जब कोई कवि अपनी नवनवोन्मेषशालिनी कारयित्री प्रतिभा के बल पर ऐसी काव्यसृष्टि करना है, जो उक्त संस्कार-विरोध होती है, या कम-से-कम उससे मेल नहीं खाती, तब ऐसी स्थिति में विषयगत सत्ता का महत्व कैसे समझाया जाएगा? उदाहरण के लिए, 'मेघनाद-वध' की काव्य-दृष्टि संस्कारगत या उसके आलम्बन की सत्ता वस्तुगत कैसे स्वीकार कर ली जाएगी?

---

1. रस-सिद्धांत पृ. 208-209
2. साहित्यलोचन, पृ. 285
3. रस-सिद्धान्त, पृ. 208
4. वही, पृ. 209
5. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ. 213
6. रस-सिद्धान्त, पृ. 210

यदि इस रूप में वहाँ कोई स्थिति है तो काव्यांकित दृष्टि की सर्वथा विरोधी है। यही बात काल्पनिक कथानकों के संबंध में कही जा सकती है। उनमें आलम्बन का रूप कवि-कल्पित रूप में अतिरिक्त और क्या हो सकता है? ऐसी स्थिति में महत्व कवि की संवेदना, उसकी दृष्टि का ही होता है। वस्तु-तत्त्व उसमें इस अर्थ में होता है कि उसे लोक-हृदय की पहचान होती है। उसकी काव्य-सृष्टि में तादात्म्य इसी अर्थ में होता है कि वह उन्हीं स्थितियों की कल्पना और भावना करता है जिनकी सत्ता केवल होती नहीं, बल्कि हो सकती है अर्थात काव्य-विषय की वस्तुगत स्थिति का आधार, उसकी यथार्थ-संभावना के आधार पर भी निर्मित हो सकता है। इस अर्थ में वह साधारण संस्कार के प्रति सजग रहकर काव्य-सृजन में प्रवृत्त होता है, परन्तु अधिक महत्व विषय के कवि-दृष्टि रूप का ही होता है क्योंकि जहाँ यह रूप साधारण संस्कार के विरुद्ध होता है, वहाँ हमारा साधारणीकरण कवि की अनुभूति से ही होता है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि, तुलसीदास, मैथिलीशरण गुप्त तथा माइकेल मधुसूदनदत्त – सभी ने राम-कथा का सर्वांग या खण्ड-चित्रण किया है, परन्तु 'रामायण', 'रामचिरतमानस', 'साकेत' एवं 'मेघनादवध' के अध्ययन के उपरान्त सहृदय के मन में होनेवाली संवेदना किसी साधारण संस्कार के वशीभूत होकर एक-सी नहीं होती, उसका रूप कवि की अनुभूति के प्रति प्रत्यनुभूति के रूप में होने के कारण भिन्न-भिन्न होता है। उसका तादात्म्य काव्य-निबद्ध कवि की अनुभूति से होता है।'

निष्कर्ष-रूप, में साधारणीकरण का अभिप्रया हुआ – कवि के काव्य-निबद्ध साधारणीकरण भाव के साथ 'स्व' और 'पर' की चेतना से मुक्त साधारणीकृत सहृदय-चेतना का तादात्म्य।

सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया

कलागत सौन्दर्यानुभूति का विषय सदा आत्म स इतर होता है, अत: वह जीवनगत घटनाओं की प्रत्यक्ष अनुभूति न होकर, उन घटनाओं या विषयों के कला-निबद्ध रूप की कल्पना-सिद्ध अनुभूति होती है। इस प्रकार कला-सृजन और कलानुभूति, स्रष्टा और ग्राहक के बीच अनुभूति के धरातल पर संवाद है। वह ग्राहक के द्वारा विषय का सीधा अनुभव न होकर दूसरे के अनुभव का अनुभव है। पर परगत अनुभव ग्राहक का आत्मगत अनुभव किसी सामान्य भूमि पर और कैसे हो जाता है, यह प्रश्न सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया से संबद्ध है। इस प्रक्रिया में जो 'सामान्य' तत्त्व हैं, उसका एक अभिप्राय तो कवि और ग्राहक के बीच किसी सामान्य मिलन-भूमि से है, और दसरा अनेक एक-देशीय और समसामयिक ग्राहकों के तथा विभिन्न देश-काल के व्यक्तियों के बीच अनुस्यूत उस सामान्य सूत्र से है, जो किसी कलाकृति को सार्वभौम या काल-सिद्ध रूप देता है। सौन्दर्यनुभूति के लिए कलाकार और ग्राहक के बीच सामान्य भूमि पर मिलन अनिवार्य है। दूसरे अर्थ में सामान्यता की सिद्धि और शत-प्रतिशत रूप में नहीं होती। इसका प्रमाण यह है कि बड़े-से-बड़े कलाकार की रचना के संबंध में सदा पूर्ण मतैक्य पाया गया हो, ऐसा नहीं है। प्रत्येक देश की सांस्कृतिक विरासत और सामयिक परिस्थितियाँ दूसरे से किन्हीं अर्थों में भिन्न होती हैं। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति उत्तराधिकार के रूप में एक 'सामूहिक चेतना' को प्राप्त करके भी अपने वातावरण, शिक्षा-दीक्षा और संस्कृति के प्रभाव के कारण एक वैयक्तिक चेतना से युक्त होता है, जो हर दूसरे व्यक्ति की चेतना से भिन्न होती है। इसीलिए किसी कलाकृति के प्रति दो या अधिक व्यक्तियों की प्रतिक्रिया, उससे प्राप्त सौन्दर्यानुभूति एकदम समान हो, ऐसी न आशा की जा सकती है, न संभावना।

परंतु इस संबंध में सभी विचारक एकमत है कि कवि और पाठक के बीच जिस सामान्य भूमि की चर्चा की जाती है, वह हमारे संवेगों के सामाजिक-सामूहिक रूप के आधार पर ही निर्मित हो सकती है। उदाहरण के लिए, अपने दार्शनिक चिन्तन में, एक-दूसरे से पर्याप्त दूर और भिन्न होने पर भी क्रिस्टोफ़र कॉडवेल, सी. जी. युंग और एफ़. आर. लीविस जैसे विद्वान इस संबंध में एकमत हैं कि कलाकार और ग्राहक के मध्य वर्तमान इस सामान्य संवेग-भूमि का आधार सामाजिक, सामूहिक और निर्वैयक्तिक चेतना होती है। कॉडवेल के विचार से : "कला का यह संसार सामाजिक संवेगों का संसार है – ऐसे शब्दों और बिम्बों की सृष्टि है जो सामान्यानुभव से एकत्र किए गए हैं, जिसके संवेगात्मक संबंध सबके लिए सामान्य हों।"[3] युंग के अनुसार, कलात्मक सृजन और आस्वाद के क्षणों में हम "अनुभव के उस स्तर पर पहुँचते हैं जहाँ व्यक्ति नहीं, केवल मानव होता है, जहाँ महत्वपूर्ण अकेले व्यक्ति के दु:ख-सुख नहीं, मानव अस्तित्व-मात्र होता है। इसीलिए प्रत्येक महान कलाकृति वस्तुगत और निर्वैयक्तिक होते हुए भी हममें से प्रत्येक को और सबको गहरे स्तर पर विचलित करती है।"[4] लीविस ने त्रासदी के संदर्भ में कहा कि : "वह एक प्रकार की गहरी निर्वैयक्तिकता है, जिसके केवल अनुभव का ही महत्व होता है और वह अनुभव भी इसलिए नहीं महत्वपूर्ण होता कि वह मेरा अपना है, मेरे साथ घटित हुआ है अथवा इसके पीछे कोई प्रयोजन है। वह महत्वपूर्ण है तो केवल इसलिए कि जो भी है, वह है (अपने-आप में पर्याप्त); यदि उसमें ममत्व का महत्व है तो केवल इतना ही कि किसी भी अनुभव के लिए वैयक्तिक संवेदनशीलता अपरिहार्य है।"[5]

---

1. वही, पृ. 209
2. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ. 213
3. इल्यूजन एण्ड रिएलिटी, पृ. 27
4. मॉडर्न मैन इन सर्च ऑफ़ ए सोल, (अनु. डब्ल्यू. एस. डेल और सी. एफ़. बेन्स), पृ. 198-99
5. द कॉमन पर्सूट, पृ. 130

सान्दर्यानुभूति की प्रक्रिया को शब्द-भेद से अधिकांश पश्चिमी विद्वानों ने एक प्रकार का निर्वैयक्तिकीकरण माना है। प्रश्न उस प्रगीतात्मक काव्य के विषय में उठाया जा सकता है जिसे विषयिप्रधान कहा जाता है, किन्तु वहाँ भी कलाकार अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को बिम्बों, पात्रों और घटनाओं की भाषा में वस्तु-रूप प्रदान करता है, तभी वे काव्य का उचित विषय हो सकती हैं। पश्चिम में इस वस्तुगत वैयक्तिकता की अनुभूति की व्याख्या आसक्तिहीन आसक्ति, निस्संग अनुचिन्तन, मानसिक अन्तराल और निर्वैयक्तिकता आदि सिद्धान्तों से की गई है।

काण्ट : आसक्तिहीन आसक्ति

सौन्दर्य या कला-विषयक आसक्ति को काण्ट ने 'आसक्तिहीन' कहा है, तो आपातत: एक विरोधाभास प्रतीत होता है। यदि इसका सीधा अर्थ 'एक ऐसी आसक्ति जिसमें आसक्ति न हो' लिया जाए तो निश्चय ही यह विरोधाभास है, जिसे एक विचारक की भाषागत विवशता भी कहा जा सकता है; किन्तु इस कथन को यदि काण्ट की संपूर्ण विचार-पद्धति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास किया जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि यह विरोधाभास-मात्र नहीं है।

सौन्दर्य और कला-विषयक आस्वाद का विचार काण्ट ने अपने तृतीय 'क्रिटीक' या मीमांसा में किया है, जिसे उन्होंने साभिप्राय 'निर्णय-मीमांसा' कहा है। इस संदर्भ में उन्होंने 'अभिरुचि' (टेस्ट) और 'निर्णय' (जजमेंट) दो शब्दों का प्रयोग किया है। उनके अनुसार सौन्दर्य-ग्रहण 'शुद्ध बुद्धि' (प्योर रीज़न) और 'व्यावहारिक बुद्धि' (प्रैक्टिकल रीज़न) से भिन्न 'निर्णय' के अन्तर्गत आता है जिसे 'अभिरुचि' के द्वारा परिभाषित किया जा सकता है। शुद्ध बुद्धि का आग्रह, प्लेटो के शब्दों में, इस बात पर होता है कि : "अपने-आप से असहमत होने की अपेक्षा सारे संसार से असहमत होना बेहतर है।" इसलिए शुद्धि वुद्धि किसी भी मूल्य पर तर्क के द्वारा अपने-आप से सहमति और अपने विचारों में संगति के लिए सतत प्रयत्नशील रहती है। इसके विपरीत 'निर्णय-मीमांसा' में काण्ट ने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि अपने-आप से सहमत होना पर्याप्त नहीं है, बल्कि 'हर किसी के स्थान पर अपने-आपको रखकर सोचना' भी आवश्यक है। काण्ट ने इसे 'परिवर्धित मनोवृत्ति' कहा है।[1]

निर्णय की शक्ति दूसरों के साथ संभावित सहमति में निहित है। इसलिए निर्णय में क्रियाशील चिन्तन की प्रक्रिया भी शुद्ध बुद्धि का चिन्तन-प्रक्रिया से भिन्न होती है। शुद्ध बुद्धि के चिन्तन में केवल अपने-आप से संवाद होता है; किन्तु निर्णय में, भले ही हम एकांत में अकेले ही चिन्तन क्यों न करें, अपने से भिन्न दूसरों से संवाद होता है, जहाँ मन में यह भावना बराबर कार्यरत रहती है कि अन्तत: उनसे सहमति के स्तर पर मिलना ही है। इसका अर्थ है कि ऐसे निर्णय में अपनी वैयक्तिक सीमाओं से मुक्ति आवश्यक है, व्यक्तिगत धारणाएँ जब तक व्यक्तिगत हैं, तब तक उन्हें निर्णय की संज्ञा नहीं दी जा सकती; किन्तु ज्यों ही वे सार्वजनिक क्षेत्र में व्यक्त होकर 'निर्णय' के रूप में मान्यता प्राप्त करना चाहती है तो सार्वजनिक अनुशासन के अधीन उनकी वैयक्तिकता के छँटने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। चिन्तन का यह परिवर्धित रूप, जिसमें 'निर्णय' वैयक्तिक सीमाओं के अतिक्रमण का प्रयास करता है, निपट एकांत में क्रियाशील नहीं हो सकता। इसके लिए दूसरों की उपस्थिति आवश्यक है, जिनके स्थान पर हम अपने-आपको रखकर सोच सकें, और सोचते समय जिनके परिप्रेक्ष्य को हम ध्यान में रख सकें। काण्ट के अनुसार निर्णय की क्षमता केवल अपनी दृष्टि से वस्तुओं को देख सकने की क्षमता नहीं, बल्कि जो भी उपस्थित हैं उन सबके परिप्रेक्ष्य से देख सकने की क्षमता है। इस प्रकार निर्णय ऐसा महत्वपूर्ण कार्य है जिसमें 'दूसरों के साथ संसार का साझीदार होना' संभव होता है।

इस निर्णय-क्षमता का विचार काण्ट ने सौन्दर्य संबंधी अभिरुचि के संदर्भ में किया है। काण्ट, यद्यपि सौन्दर्य के प्रति अतिरिक्त संवेदनशील नहीं थे, फिर भी उन्हें सौन्दर्य के सार्वजनिक पक्ष का पूरा बोध था। सौन्दर्य के सार्वजनिक महत्व को ध्यान में रखते हुए ही उन्होंने इस बात पर बल दिया कि अभिरुचि संबंधी निर्णय विवाद के लिए खुले होते है क्योंकि हम इस विषय में दूसरों से भी भाग लेने की आशा रखते हैं और हर किसी से सहमति की अपेक्षा करते हैं। अन्य निर्णयों की भाँति सौन्दर्य संबंधी निर्णय में भी कुछ न कुछ आत्मनिष्ठता अवश्य रहती है, किन्तु वह व्यक्तिगत नहीं होता। सौन्दर्यगत निर्णय में बराबर इस बात का अहसास रहता है कि कलाकृति की वस्तुगत सत्ता है, जिसे अपनी-अपनी दृष्टि से देखने के लिए सभी लोग स्वतंत्र है। सौन्दर्य की यह वस्तुनिष्ठता ही अभिरुचि और निर्णय को निर्वैयक्तिक बना देती है। ऐसी स्थिति में कलाकृति के प्रति किसी व्यक्ति का न कोई जीवन संबंधी प्रयोजन रह जाता है, और न आत्मा का कोई नैतिक प्रयोजन ही निहित रहता है। इस प्रकार तत्संबंधी अभिरुचि 'आसक्तिहीन' होती है।[2]

इस प्रकार काण्ट की 'अनासक्त आसक्ति' कोई मनोवैज्ञानिक दशा नहीं, बल्कि सामाजिक अनुभव से प्राप्त एक वस्तुनिष्ठ स्थिति है। किन्तु जब काण्ट सौन्दर्यानुभूति को 'अनासक्त परितोषजन्य' कहते हैं, तो किन्ही नैतिक कारणों से नहीं, बल्कि इसलिए कि वे

---

1. क्रिटीक ऑफ़ जजमेंट (मूल जर्मन शब्द 'eine erweiterte Den Kungsart' है जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'enlarged mentality किया जाता है।)

2. The activity of taste decides how this world, independent of its utility and our vital interests in it, is to look and should, what men will see and what they will hear in it ... its interest in the World is purely 'disinterested', and that means that neither the life interest of the individual nor the moral interests of the self are involved here.
Hanna Arendt: Between Past and Present, p. 222.

इस अनुभव के क्षेत्र को सौन्दर्येतर प्रभावों से मुक्त रखना चाहते थे। उनका विचार था कि: "प्रत्येक 'चाह' आस्वाद के निर्णय को दूषित करती है और उसकी निष्पक्षता का हरण कर लेती है।"[1] 'चाह' से उनका अभिप्राय विषय के अस्तित्व में रस लेने से है, और सौन्दर्यानुभूति में हमारा संबंध केवल विषय के रूपांकन से होता है। वे इस अनुभूति को वैयक्तिक यादृच्छिक रुचियों, अहं-केन्द्रित पूर्वाग्रहों और स्थूल उपयोगितावाद एक भिन्न और विशिष्ट प्रतिपादित करना चाहते थे। जब तक हमारी व्यक्तिगत रुचियाँ हमारे मस्तिष्क को विचलित किए रहेंगी, हमारी मन में कला के विषय को स्वकीय बनाने की इच्छा रहेगी, जो इस भावन-प्रधान भावस्थिति के लिए बाधक होगी।

सौन्दर्यानुभूति में उपर्युक्त अनासक्ति की आवश्यकता स्वीकार करने के परिणामस्वरूप काण्ट ने 'अनुभूति की विषयिगत सार्वभौमता' के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। एक बार इस अनुभव को समस्त ऐकान्तिक और व्यक्तिगत संबंधों से मुक्त मान लेने पर उसकी सार्वभौम वैधता की स्थापना एक सैद्धान्तिक आवश्यकता हो जाती है। अनुभव-संवेदनवादी विचारकों ने सौन्दर्य को इन्द्रियों के लिए सुखद और अनुकूल वस्तु का पर्याय मान लिया था और इस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र को मात्र यादृच्छिक रुचियों के अध्ययन तक परिसीमित कर दिया। काण्ट ने इस धारणा का खंडन करते हुए कहा कि ऐसी स्थिति में अभिरुचि एक सार्वभौम सिद्धान्त नहीं हो सकता। क्योंकि 'प्रेम' पूर्णत व्यक्तिगत अनुभूति है। काण्ट ने अनुभूति की सार्वभौमिकता के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा मानव-मात्र में विद्यमान एक सामान्य चेतना की स्वीकृति के आधार पर की। काण्ट की शब्दावली में सौन्दर्यानुभव की स्थिति "कल्पना और ज्ञान शक्तियों की पारस्परिक अनुकूल क्रियात्मकता में" निहित रहती है और ये दोनों शक्तियाँ प्रत्येक मानव में वर्तमान रहती हैं। हमें एक सामान्य 'आदर्श मानक' की संभावना को मानना होगा और तभी अनुभूति की सार्वभौम वैधता का दावा किया जा सकता है। काण्ट के अपने शब्दों में :

"चूँकि यह आनन्द विषयी की किसी प्रवृत्ति (या किसी अन्य यत्नज प्रयोजन) पर निर्भर नहीं है, बल्कि विषयी कलावस्तु को जिस प्रेयता से संबद्ध करता है उससे अपने आपको पूर्णत: मुक्त अनुभव करता है, इसलिए अपने आनन्द का कारण वह किन्हीं ऐसी वैयक्तिक परिस्थितियों को नहीं मान सकता, जिनका अंग केवल उसकी अन्तरात्मा हो। फलस्वरूप वह इसका आधार केवल उसी को मान सकता है, जिसका प्रत्येक अन्य व्यक्ति में होना पूर्व-निश्चित हो और वह विश्वास कर सकता है कि प्रत्येक से समान आनन्द की आशा करना सर्वथा उचित है।"[2]

अनुभव से हम जानते हैं कि विशेष कलाकृतियों के मूल्यांकन में इस प्रकार की सार्वभौमिक सहमति सदा सुलभ नहीं होती। परन्तु क्योंकि सौन्दर्यानुभूति निष्पक्ष होती है, ग्राहक की विशिष्ट संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ इस अनुभव के संदर्भ में अप्रासंगिक होती हैं, अत: यह नि:संकोच स्वीकार किया जा सकता है कि सौन्दर्य का संप्रेषण व्यक्ति और मानवता के बीच एक सामान्य भूमि पर होता है–यही उसकी सार्वभौमिकता का कारण है। इस सौन्दर्यानुभूति के लिए ग्राहक की ओर से सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में व्यक्तिगत रुचियों, पूर्वाग्रहों का परिहार और कला-विषय के प्रति अनासक्त भावना का अंगीकार आवश्यक है। कलाकृति के प्रति अनासक्ति से काण्ट का अभिप्राय है : कार्य-कारण संबंधों से युक्त जीवनगत घटनाओं से भिन्न इन घटनाओं का प्रतिदर्शित रूप में ग्रहण, अत: उनके प्रति जीवनगत घटनाओं के सदृश्य आसक्ति, अत: क्रियावत्ता का अभाव।

टी. एस. इलियट : व्यक्तित्व से पलायन

इलियट का निर्वैयक्तिकता-सिद्धान्त रोमाण्टिक व्यक्तिवाद की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुआ था। उनका विश्वास था कि रोमाण्टिक कविता की सबसे बड़ी दुर्बलता उसकी सस्ती भावुकता है, जिसमें कवि अपने भावोच्छ्वास की अबाध अभिव्यक्ति करता है। इस प्रवृत्ति का आधार, इलियट के अनुसार, रोमाण्टिक कवि का चरम व्यक्तिवाद है। इसलिए उन्होंने अपने आक्रमण का प्रधान लक्ष्य व्यक्तिवाद को बनाया है और काव्य में 'व्यक्तित्व से पलायन' के सिद्धान्त की स्थापना की। एक रचनाशील कवि के नाते इलियट ने इस निर्वैयक्तिकता-सिद्धान्त की स्थापना मुख्यत: काव्य की सृजन-प्रक्रिया के धरातल पर की, किन्तु जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है, उनका ध्यान काव्य के ग्रहण पक्ष में भी निर्वैयक्तिकता की स्थापना की ओर था:

"काव्य के आस्वाद का लक्ष्य एक ऐसा विशुद्ध अनुचिन्तन है जिस पर वैयक्तिक संवेगों की सभी प्रकार की हलचलें अपसृत हो जाती हैं। इस प्रकार वस्तु जैसी सचमुच है, उसी रूप में हम उसे देखने का यत्न करते हैं।"[3]

इस उद्धरण से इलियट द्वारा सृजन-प्रक्रिया के धरातल पर निरूपित निर्वैयक्तिकता-सिद्धान्त की व्याख्या काव्यानुभूति के धरातल पर भी करने की संभावनाओं का द्वार खुल जाता है। उदाहरण के लिए, जब इलियट कवि-व्यक्तित्व के निर्वैयक्तिक होने की प्रक्रिया निरूपित करते हैं तो उसे ग्राहक के पक्ष में भी लागू किया जा सकता है:

---

1. काण्ट : क्रिटीक ऑफ़ जजमेंट, पृ. 64
2. काण्ट : क्रिटीक ऑफ जजमेंट, पृ. 51
3. द सेक्रेवुड, पृ. 14-15

"कलाकार के बाहर कुछ ऐसा होता है जिसके प्रति उसका दायित्व होता; और भक्ति-भाव से जिस के सम्मुख उसे आत्मसमर्पण करना चाहिए। इस आत्मबलिदान के द्वारा वह अपने लिए एक अद्वितीय स्थान अर्जित करता है। कलाकारों को जाने-अनजाने एक सामान्य उत्तराधिकार और सामान्य लक्ष्य, एक सूत्र में बाँध देता है।"[1]

इलियट ने अन्यत्र भी इसी बात को कुछ विशिष्ट अर्थ-छाया के साथ प्रकारान्तर से दोहराया है: "जो घटित होता है – वह है कलाकार का निरंतर आत्मसमर्पण; क्योंकि उस क्षण उसका लक्ष्य अपेक्षाकृत कुछ अधिक मूल्यवान होता है। निरंतर आत्म-बलिदान और व्यक्तित्व के निरंतर विलय में ही कलाकार की प्रगति निहित है।"[2]

अपने से बाहर इस 'कुछ' को इलियट ने परंमरा के नाम से अभिहित किया है। यद्यपि इलियट के परंपरा संबंधी दृष्टिकोण को साम्प्रदायिक एवं संकीर्ण मानकर कुछ लोगों ने उससे अपनी असहमति भी व्यक्त की है, किन्तु मूलत: इलियट के आत्म-बलिदान अथवा आत्म-विलय, यहाँ तक कि आत्समर्पण में निहित निर्वैयक्तिकता को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ है। अब यदि इस प्रक्रिया को ग्राहक-पक्ष पर लागू करके देखा जाए तो यह कथन असंगत न होगा कि कला के पूर्ण आस्वाद के लिए ग्राहक को भी निरंतर आत्मबलिदान एवं आत्म-विलय के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। आत्मसमर्पण एक कलाकार के लिए जितना आवश्यक है, ग्राहक के लिए उससे कम नहीं। इस प्रक्रिया में यदि कवि का भावोच्छ्वास संयत होता है, तो ग्राहक भी अपने भावावेश से मुक्त होकर काव्य के वस्तुनिष्ठ आस्वाद में समर्थ होता है। दोनों ही पक्षों में भावावेश की निजी और तात्कालिक तीव्रता नियंत्रित होती है। कवि-पक्ष में यह श्रेष्ठ कृति के सृजन का उपक्रम है, और ग्राहक-पक्ष में अधिक-से-अधिक आस्वाद की उपलब्धि का आधार।

निर्वैयक्तिकता-सिद्धान्त का दूसरा चरण स्वयं काव्य का स्वरूप है, जिसके स्तर पर इलियट ने व्यवस्था या 'आर्डर' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। व्यक्तित्व के विलय से काव्य में भावुकता कम होती है, और उसके संघटन में संवेग, अनुभूति, विचार, भाव बोध आदि का कलात्मक संतुलन सिद्ध होता है। स्पष्ट ही भावोच्छ्वसित काव्य के इकहरे और सरल विन्यास की अपेक्षा प्रस्तुत काव्य का संघटन अधिक जटिल तथा प्रौढ़ होता है। इलियट के अनुसार रोमाण्टिक काव्य की तुलना में यह काव्य निर्वैयक्तिक होता है, क्योंकि यह तरल संवेग मात्र न होकर, संवेगों का वस्तुगत विभावन है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इलियट की इस काव्यगत धारणा में आरम्भिक बिम्बवादी काव्य-सिद्धान्त के संस्कार अवशिष्ट है।

इस प्रकार काव्य के धरातल पर इलियट की निर्वैयक्तिकता व्यवस्था या 'आर्डर' का दूसरा नाम है। तार्किक दृष्टि से यह कार्य ग्राहक में भी इसी प्रकार की व्यवस्था की अपेक्षा रखता है। जिस प्रकार काव्य के रूप-विन्यास में संवेगों, अनुभूतियों, विचारों और भाव-बोधों का सम्यक संतुलन होता है, उसी प्रकार ऐसे काव्य की ग्रहणशीलता में भी ग्राहक का चित्त उपर्युक्त समस्त तत्त्वों के संतुलन का अनुभव करता है। यदि इस संतुलन से स्वयं काव्य, संवेगों की वैयक्तिक सीमा का अतिक्रमण करके निर्वैयक्तिक, वस्तुगत रूप प्राप्त करता है, तो ग्राहक का चित्र भी आत्म-निरपेक्ष होकर इसी वस्तुगत अनुभूति-सत्ता का अनुभव करने लगता है। इस दृष्टि से काव्यानुभूति वैयक्तिक अनुभूति से भिन्न निर्वैयक्तिक अनुभूति का पद प्राप्त करती है।

किन्तु जैसा कि विंसेंट बकले ने कहा है: "इलियट की 'निर्वैयक्तिकता' अनिश्चित अर्थवाला शब्द है। केवल इस शब्द का उल्लेख करके किसी साहित्यिक मूल्य का प्रश्न हल नहीं किया जा सकता। विचित्र बात है कि स्वयं इलियट ने इस शब्द-ग्रहण का दायित्व हम लोगों पर छोड़ दिया है, किन्तु यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि वे जिस 'व्यवस्था' को निर्वैयक्तिक कहते हैं, वह कोई स्थिर या जड़ वस्तु नहीं है। यह 'जीवंत' और नैसर्गिक' के विरुद्ध 'व्यवस्थित अनुर्वरता' (पैटर्नड् स्टरलिटी) नहीं है। ह्यूम की तरह इलियट की रुचि उस प्रकार की निर्वैयक्तिकता में बिल्कुल नहीं है, जैसी हम अमूर्त चित्रकला में पाते हैं, और न ही उनकी रुचि वास्तविकता को प्रतीकमाला में रूपान्तरित करने के प्रयास में है। कला के स्तर पर वे जिस संगठन की अपेक्षा रखते हैं, और जिसमें वे निर्वैयक्तिकता का सच्चा गुण देखते हैं, वह मानव-जीवन के तथ्यों का संघटन है; वह सामान्यत: संवेगों का संघटन है।"[3]

यदि उपर्युक्त व्याख्या सही है तो इलियट की निर्वैयक्तिकता कलाकार-व्यक्तित्व का सर्वथा निषेध नहीं है, बल्कि वैयक्तिकता मात्र का निषेध है। वैयक्तिकता का निषेध करके कवि-व्यक्तित्व दरिद्र या रिक्त नहीं होता, बल्कि संपन्न और समृद्ध होता है। जैसा कि इलियट ने अन्यत्र कहा है : "महान कला इस अर्थ में निर्वैयक्तिक होती है कि वैयक्तिक संवेग और वैयक्तिक अनुभव विस्तृत होकर आत्मेतर में पूर्णता को प्राप्त होते हैं। वह वैयक्तिक अनुभव और संवेग के परित्याग के अग्र में निर्वैयक्तिक नहीं।"[4]

यदि कवि-व्यक्तित्व अपनी वैयक्तिकता का त्याग कर किसी बृहत्तर आत्मेतर में विस्तार और पूर्णता को प्राप्त करता है, तो उसी प्रकार सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में, ग्राहक भी अपनी वैयक्तिकता से मुक्त होकर किसी आत्मेतर अनुभूति में पूर्ण होता है। सारांश यह है कि

---

1. सेलेक्टेड एसेज़, पृ. 24
2. द सेक्रेवुड, पृ. 53
3. पोएट्री एण्ड मोरैलिटी, पृ. 102
4. प्रीफेस टु 'ला सर्पेण्ट' बाइ पॉल वैलेरी

इलियट की निर्वैयक्तिकता एक सृजनशील, गतिशील और मानवीय पूर्णता का सिद्धान्त है, जिसका आधार वैयक्तिक उच्छृंखलता और अव्यवस्था के विरुद्ध मनोवैज्ञानिक संतुलन नैतिक व्यवस्था और कलात्मक संघटन है।

आई. ए. रिचर्ड्स : संवेग संतुलन की निर्वैयक्तिकता

काव्यानुभूति की निर्वैयक्तिकता का पहला कारण, रिचर्ड्स के अनुसार यह है कि हम काव्य से प्राप्त होने वाली अनुभूति को प्राय: किसी प्रकार के विजातीय तत्त्व के मिश्रण से बचाने का प्रयास करते हैं; यहाँ तक कि हम अपनी वैयक्तिक विचित्रताओं को भी उसमें हस्तक्षेप नहीं करने देते।[1] दूसरे, एक ही काव्यकृति का अनुभव थोड़े से अंतर के साथ अनेक व्यक्ति कर लेते है, इससे भी स्पष्ट है कि काव्यकृति वैयक्तिक संपत्ति नहीं होती। इससे एक ओर काव्यकृति की निर्वैयक्तिकता प्रमाणित होती है तो दूसरी ओर उसकी अनुभूति की भी निर्वैयक्तिकता पर प्रकाश पड़ता है, क्योंकि यदि कोई काव्यकृति अनेक पाठकों में एक सी या समान अनुभूति जाग्रत करती है तो स्पष्ट है कि उस अनुभूति की सत्ता व्यक्तिगत सीमाओं से परे या मुक्त है; और इसी का दूसरा नाम निर्वैयक्तिकता है।[2]

रिचर्ड्स के निर्वैयक्तिकता संबंधी ये विचार उस संदर्भ में व्यक्त हुए हैं, जहाँ उन्होंने काव्यानुभूति को जीवनानुभव एवं शुद्ध कलानुभूति के दो एकान्तों के बीच प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। इस संदर्भ से स्पष्ट होता है कि काव्यानुभूति एक ओर यदि जीवनानुभव के क्षेत्र से संबद्ध होते हुए भी वैयक्तिक नहीं होती तो दूसरी ओर 'शुद्ध कलानुभूति' की तरह नितान्त 'विलक्षण' न होकर निर्वैयक्तिक मात्र होती है। इस प्रकार रिचर्ड्स की दृष्टि में काव्यानुभूति की 'विशिष्टता' उसकी निर्वैयक्तिकता में निहित है।

इसके अतिरिक्त रिचर्ड्स ने निर्वैयक्तिकता की व्याख्या और भी गहरे स्तर पर 'सेवेगों के संतुलन' वाले सिद्धान्त की स्थापना के संदर्भ में की है। वस्तुत: निर्वैयक्तिकता 'संवेग-संतुलन' सिद्धान्त की अपरिहार्य तर्क संगत परिणति है। जैसा कि उन्होंने एक आरंभिक कृति[3] में कहा है, "काव्यानुभूति से निष्पन्न वृत्तियों का संगठन 'संवेगों को अधिक से अधिक सामान्य रूप प्रदान करता है और उसके अनुरूप हम अपने दृष्टिकोण को भी निर्वैयक्तिक पाते है।" इसी प्रसंग में आगे उन्होंने यह भी कहा है कि काव्यानुभूति के क्षणों में घटित संतुलन और सामंजस्य हमारी अनुभूति को इसलिए निस्संग और निर्वैयक्तिक बना देता है कि हमारी "रुचियाँ किसी एक दिशा की ओर उन्मुख नहीं होतीं।"

स्पष्ट ही, निर्वैयक्तिकता की यह मनोवैज्ञानिक व्याख्या विषय के एक नए पक्ष को प्रकाश में ले आती है। इस कथन की और स्पष्ट व्याख्या रिचर्ड्स ने अन्यत्र अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'साहित्य-समीक्षा के सिद्धान्त' में त्रासदी के आस्वाद के प्रकरण में 'संवेग-संतुलन' सिद्धान्त को लागू करते हुए की है।[4] सौन्दर्यानुभूति के संदर्भ में निस्संगता का यही संभव अर्थ हो सकता है कि इसमें हम किसी एक निश्चित दिशा की ओर उन्मुख नहीं होते। मन की स्थिति जब निस्संग नहीं होती हो हम वस्तुओं को केवल एक दृष्टि से देखते हैं और वह भी मात्र एक पक्ष। इसके विपरीत सौन्दर्याभिमुख मन के अनेक पक्ष एक साथ उद्घाटित होते हैं और यह बहुपक्षीय मन वस्तुओं के भी विविध पक्षों का उद्घाटित करता है। इस प्रकार चूँकि हमारे व्यक्तित्व का अधिक-से-अधिक भाग सक्रिय हो जाता है, इसलिए अन्य वस्तुओं की स्वतंत्रता और व्यक्ति-वैशिष्ट्य की मात्रा भी बढ़ जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम उनके 'चतुर्दिक' देख रहे हैं, उन्हें हम इस रूप में देख रहे हैं जैसी कि वे वस्तुत: हैं और हम किसी एक निश्चित प्रयोजन से मुक्त होकर उन्हें देखते हैं। निश्चय ही किसी-न-किसी प्रयोजन के बिना उन्हें देखने का प्रश्न नहीं उठता; किन्तु कोई एक निश्चित प्रयोजन जितना ही कम होगा, हमारा दृष्टिकोण उतना ही निस्संग होगा। सौन्दर्यानुभूति में हमारा व्यक्तित्व अधिक-से-अधिक पूर्णता के साथ संलग्न होता है, जिसे शास्त्रीय भाषा में 'निर्वैयक्तिक' होना भी कहते हैं। इस प्रकार व्यक्तित्व के पूर्णत: संलग्न होने और निर्वैयक्तिक होने में, रिचर्ड्स के अनुसार, कोई विरोध नहीं है।

सारांश यह है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सौन्दर्यानुभूति मन को संकीर्णता से मुक्त करने के साथ-ही-साथ वस्तु को प्रयोजन-विशेष की दृष्टि से देखने की अपेक्षा व्यापक दृष्टि से देखने की क्षमता जाग्रत करती है, जिससे ग्राहक का मन एक ओर प्रयोजन-मुक्त होकर निस्संग होता है, तो दूसरी ओर वैयक्तिक सीमाओं से ऊपर उठकर निर्वैयक्तिक।

एफ़. आर. लीविस : निर्वैयक्तिकता

इलियट द्वारा निरूपित 'निर्वैयक्तिकता' संबंधी मान्यता को और भी सूक्ष्मताओं के साथ आगे बढ़ानेवालों में सबसे महत्वपूर्ण नाम अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ. एफ़. आर. लीविस का है। 'विचार और संवेगात्मक गुण' शीर्षक निबंध में उन्होंने वाल्टॅर स्कॉट की एक कविता 'प्राउड मैज़ी' के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि : "उसे पढ़ने पर ऐसा नहीं लगता कि हमें केवल

---

1. प्रिंसिपल्ज, पृ. 78
2. वही, पृ. 78
3. द फाउण्डेशन्स ऑफ़ एस्थेटिक्स, पृ. 75-78
4. प्रिंसिपल्ज., पृ. 251-52

संवेग ही प्रदान किए गए हैं। जैसे-जैसे हम उस कविता के नाटकीय तत्त्वों को ग्रहण करते जाते हैं, सवेग विकसित होता है और अपने-आपको परिभाषित करता है। इस प्रकार उस कविता के प्रभाव-स्वरूप जो तथ्य हमें उपलब्ध होता है, उसमें संवेगात्मक अनासक्ति होता है। 'अनासक्ति' के स्थान पर हम 'निर्वैयक्तिकता' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं और इस शब्द के द्वारा हम सर्वाधिक महत्व की आलोचनात्मक अवधारणा प्रस्तुत करते हैं।"[1]

डॉ. लीविस के इस कथन से स्पष्ट है कि निर्वैयक्तिक संवेग वह है जो कविता में मूर्त वास्तविकता के माध्यम से अपने को परिभाषित करता है। वह कवि के अन्तर्जीवन से अपसृत होकर उसके व्यक्तित्व का बहिष्कार करके निर्वैयक्तिक नहीं होता, बल्कि उससे कुछ दूर जाकर बुद्धि के क्रीड़ा-व्यापार के अधीन होकर निर्वैयक्तिक होता है। निर्वैयक्तिकता में कवि की वैयक्तिकता का योगदान कितना महत्वपूर्ण होता है, इस बात पर बल देने के लिए उन्होंने रोमाण्टिक कवि वर्ड्सवर्थ की एक कविता का उदाहरण देते हुए आगे कहा है कि एक नितान्त वैयक्तिक एवं अनुभूत संवेग को भी कवि दो परस्पर विरोधी संवगों के जटिल संयोजन के द्वारा निर्वैयक्तिक रूप देने में सफल हुआ है।[2] इस प्रकार डॉ. लीविस ने निर्वैयक्तिकता को परिभाषित ही नहीं किया है, बल्कि उसका प्रक्रिया पर भी प्रकाश डाला है। टेनिसन का उदाहरण देते हुए उन्होंने आगे कहा है कि जहाँ निर्वैयक्तिकता नहीं होती, वहाँ सस्ती भावुकता होती है, क्योंकि उस स्थिति में एक ओर वैयक्तिक एकीकरण (पर्सनल इंटीग्रेशन) में स्खलन होता है तो दूसरी ओर वास्तविकता की सामना करने के लिए यथेष्ट साहस का अभाव पाया जाता है। कथन की इस व्यतिरेक शैली से निर्वैयक्तिकता के पक्ष में सहज ही यह विधेयात्मक तथ्य निकाला जा सकता है कि निर्वैयक्तिकता वैयक्तिक स्तर पर 'एकीकरण' और वास्तविकता का साहसपूर्वक सामना करना है।[3]

विन्सेण्ट बकले ने लीविस की निर्वैयक्तिकता को कुछ अन्य आधुनिक लेखकों की निर्वैयक्तिकता से भिन्न एवं विशिष्ट बतलाते हुए कहा है कि एक निर्वैयक्तिकता 'ए पोर्ट्रेट ऑफ़ द आर्टिस्ट ऐज़ ए यंगमैन' के लेखक जेम्स ज्वाइस् की भी है, जिसमें कलाकार अपनी कृति में ईश्वर के समान कभी उसके अन्दर, कभी पीछे और कभी एकदम ऊपर रहता है – अपनी कृति से अदृश्य, असंपृक्त और उदासीन; किन्तु बकले के अनुसार यह एक प्रकार का मिथ्या अहंकार है। दूसरी निर्वैयक्तिकता इलियट की है, जिसके अनुसार कविता वह माध्यम है, जिसके द्वारा हम अपने संवेगों के दबाव और यथार्थता से पलायन कर सकते हैं। तीसरी निर्वैयक्तिकता मैथ्यू आर्ल्नड की है, जिनका अभिप्राय कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि कविता के द्वारा संवेगों को भावनाओं में रूपान्तरित कर सकते हैं। इन सबके विपरीत लीविस की दृष्टि में कला की निर्वैयक्तिकता इस बात में निहित है कि वह मानव-समस्याओं के केन्द्र में रहते हुए भी ऐसा विश्रान्ति-बिन्दु ढूँढने में समर्थ हो जाती है, जहाँ से वह उन समस्याओं का मूल्यांकन करते हुए उनके संदर्भ में पूर्णता के साथ जीवित रहने की समस्त संभावनाओं को परिभाषित कर सकती है। इस प्रकार लीविस की निर्वैयक्तिकता में एक ओर संवेगों की 'सार्वभौमिकता' का सिद्धान्त निहित है तो दूसरे ओर संवेगों की उस दिशा का, जो जीने की सामान्य सारणी के अधीन होने का संकेत करती है।[4]

किन्तु लीविस की निर्वैयक्तिकता यहीं तक नही रुकती। अपनी प्रिय लेखक डी.एच. लारेंस की व्याख्या के संदर्भ में निर्वैयक्तिकता संबंधी मान्यता को और आगे ले जाते हुए लीविस ने कहा है, इस अराजकतापूर्ण संसार में व्यक्ति को अपने आन्तरिक विकास के लिए एक प्रकार की निर्वैयक्तिकता अथवा असंपृक्तता को अपनाना आवश्यक है। कोई व्यक्ति सांसारिक अराजकता में डूब न जाए इसके लिए उसे असंपृक्त होकर अपने निजी विवेक का सहारा लेना आवश्यक है। इस अराजकता के संदर्भ में निर्वैयक्तिकता का एक नया अर्थ उद्घाटित होता है। किन्तु लीविस के अनुसार यहाँ असंपृक्तता अपने-आप में पर्याप्त नहीं है। 'श्रद्धा भाव' के बिना असंपृक्तता संशयवाद का रूप ले सकती है और इस प्रकार वह जीवन के मूल स्रोत को ही सुखा देनेवाला प्रमाणित होगी।[5] और इस बिन्दु पर पहुँचकर, जैसा कि बकले का कथन है, कलात्मक निर्वैयक्तिकता धार्मिक विश्वास के साथ संबद्ध हो सकती हैं।[6]

इस प्रकार जिस 'निर्वैयक्तिकता' को डॉ. लीविस ने आलोचनात्मक विषय के रूप में सर्वाधिक महत्व दिया है, वह उनकी आलोचना-पद्धति में क्रमशः गत्वर और विकासशील रूप प्राप्त करती गई है। इस विषय के अंतर्गत आपाततः कवि और कविता की निर्वैयक्तिकता की चर्चा करते हुए भी उन्होंने स्वयं एक संवेदनशील पाठक एवं अध्येता के नाते काव्य-ग्रहण के पक्ष में भी

---

1. 'थॉट एण्ड इमोशनल क्वालिटी', स्क्रूटिनी, जिल्द 13, नं. 1, स्प्रिंग, 1945, पृ. 53
2. 'थॉट एण्ड इमोशनल क्वालिटी', स्क्रूटिनी, जिल्द 13, नं. 1, स्प्रिंग, 1945, पृ. 54
3. वही, पृ. 59
4. The impersonality of art consists, for him, in having found while remaining at the heart of human problems, a point of rest from which to estimate them and to define one's own life, one's possibilities of full living, in relation to them ...By this he does not mean that Eliot means : that poetry is a form through which we can escape the pressure, the activity, of our emotions. Nor does he mean what Arnold seems to mean: that poetry is a means of turning emotion into ennobling sentiment. He seems to mean two things : that the emotion is universalized, its general impact for men discovered, and that it is directed, made subordinated to what we might call a general line of living.

   Vincent Buckley: Poetry and Morality, p. 183
5. But, such a detachment is not of itself sufficient, detachment without 'reverence' leads to a kind of scepticism which drains the springs of vital feelings. Vincent Buckley : *Poetry and Morality*, p. 188.

निर्वैयक्तिकता की स्थापना कर दी है। लीविस का निर्वैयक्तिकता संबंधी सारा विवेचन एक जागरूक आलोचक की अपनी काव्यानुभूति के विश्लेषण पर आधारित है। कवि और कविता निर्वैयक्तिकता के संबंध में जो कुछ भी उन्होंने कहा है, वह काव्य-ग्रहण से प्राप्त अनुभवों का प्रक्षेपण-मात्र है। काव्य इस अराजकता के बीच कवि को ही नहीं, ग्राहक को भी असंपृक्तता प्रदान करता है और यदि लीविस का मत स्वीकार करें तो कवि की तरह ग्राहक के लिए भी असंपृक्तकता के साथ श्रद्धा भाव उतना ही आवश्यक है।

'मानसिक अंतराल' का सिद्धान्त

एडवर्ड बुलो ने काण्ट द्वारा प्रतिपादित शब्दों – 'निस्संगता' और 'अनासक्ति' – के संबंध में कहा है कि वे स्थिर और बद्ध अवधारणाएँ हैं जिनके अंतर्गत सौन्दर्यानुभूति की विविधता और लचीलेपन के लिए कोई अवकाश नहीं। इसलिए उन्होंने चेतना की इस अधिवैयक्तिक (ट्रांसपर्सनल) स्थिति के लिए 'मानसिक अंतराल' के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। सामान्यतः 'दूरी' का प्रयोग 'वास्तविक स्थानीय दूरी', 'प्रतिदर्शित स्थानीय दूरी' एवं 'सामयिक दूरी' आदि अनेक अर्थों में किया जाता है। परंतु कला के संदर्भ में इस दूरी का अर्थ है – 'मानसिक अंतराल'। यह मानसिक अंतराल काण्ट की 'अनासक्ति' के समान दृष्टिकोण नहीं, एक विशेष प्रकार की मानसिक प्रक्रिया है, जिसकी सिद्धि कलावस्तु के भावन और आस्वाद के लिए अनिवार्य है। दूरी तभी उत्पन्न होती है, जब "हम अपनी व्यावहारिक चेतना को निष्क्रिय करके कलाकृति को ग्रहण करते हैं, और जब हम अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों और प्रयोजनों के संदर्भ से उसे बाहर रहने देते हैं।"[1] इस प्रकार मानसिक अंतराल की प्रक्रिया सरल नहीं बल्कि अत्यधिक जटिल है। इसके निषेधात्मक और विधेयात्मक दो रूप हैं। निषेधात्मक रूप में वह वर्जनात्मक है और वस्तुओं के व्यावहारिक पक्षों तथा उनके प्रति हमारी व्यावहारिक वृत्ति को काटकर अलग कर देता है। विधेयात्मक पक्ष उसी वर्जनात्मक क्रिया द्वारा प्रस्तुत की गई नवीन भूमि पर अनुभव का विस्तार करता है।

यह नवीन आधारभूति है - "कलाकृतियों को वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखना। अपनी ओर से केवल ऐसी प्रतिक्रियाओं को अवसर देना, जिनसे अनुभव के वस्तुनिष्ठ रूप को बल मिले।"[2] और फिर "अपने आत्मनिष्ठ संवेगों की ऐसी व्याख्या करना जिसमें अपनी निजी सत्ता की अपेक्षा सामान्य तत्त्व की विशेषताएँ प्रकट हों।"[3]

केवल इसी विधि से कलावस्तु का अनुचिन्तन संभव होता है। परन्तु "इसका यह अभिप्राय नहीं है कि विषय और विषयी के मध्य इतनी दूर तक संबंध-विच्छेद हो जाता है कि वह 'निर्वैयक्तिक' हो जाए।"[4]

मानसिक अंतराल में यह अर्थ निहित नहीं है कि उसमें किसी प्रकार का निर्वैयक्तिक या विशुद्ध बौद्धिक संबंध होता है। "इसके विपरीत यह एक 'व्यक्तिगत' संबंध का निर्देश करती है, जो प्रायः अत्यंत संवेग-रंजित होता है, परन्तु उसकी प्रकृति विलक्षण होती है।"[5] सामान्य रूप से निर्वैयक्तिकता में सामान्यतः एक प्रकार का ठंडापन, संवेगों का अभाव और शुष्क बौद्धिकता मात्र होती है, इसलिए बुलो कलानुभूति के संदर्भ में 'निर्वैयक्तिकता' शब्द का प्रयोग बचाने के पक्ष में थे।

यह बोध, कि कला का विषय सामान्य जीवनगत विषयों से भिन्न होता है, उसका अस्तित्व, मात्र काल्पनिक होता है – हमारी सौन्दर्यानुभूति में सहायक होता है। अतः कलावस्तु के प्रति यह 'मानसिक अंतराल' पात्रों से हमारे संबंधों को परिवर्तित करके, उन्हें यह काल्पनिक रूप प्रदान करता है।

यह निस्संकोच स्वीकार किया जा सकता है कि कलाकृति में, हमें प्रभावित करने की अधिक संभावना तब होती है, जब हम इस प्रभाव-ग्रहण के लिए पहले से तत्पर रहते हैं। निश्चय ही, हमारी ओर से किसी प्रकार की पहले से तैयारी के अभाव में उसका अर्थ-ग्रहण असंभव हो जाता है और उतनी दूर तक उसका मूल्यांकन नहीं हो पाता। जिस मात्रा में वह हमारी भावात्मक और बौद्धिक विचित्रताओं और अनुभव संबंधी झक के समानान्तर होता है, उसी अनुपात में उस प्रभाव में सफलता और तीव्रता भी होती है। कृति के चरित्रों और दर्शन के बीच रीझ-बूझ के आधार पर रुचि-वैभिन्नय की व्याख्या की जाती है।[6]

इसलिए बुलो यह भी स्वीकार करते थे कि द्रष्टा और कलाकृति के बीच इस अंतराल में भी मात्राएँ होती हैं। कलावस्तु की प्रकृति के अनुसार वह घटता-बढ़ता रहता है। यही नहीं, बल्कि उस अंतराल का घटना-बढ़ना ग्राहक की अपनी क्षमता पर भी निर्भर है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अंतराल को मापने का अभ्यास व्यक्ति-व्यक्ति के अनुसार बदलता रहता है, यहाँ तक कि एक ही व्यक्ति कृतियों के अनुसार भिन्न मात्रा के अंतराल का अनुभव करता है।[7]

---

1. ..... analysis leads naturally to the point at which he can associate artistic impersonality with religious belief. *Ibid.*, p. 210
2. वही, पृ. 395-96
3,4. वही, पृ. 396, वही, पृ. 397
5. वही, पृ. 397
6. एडवर्ड बुलो : साइकिकल डिस्टेन्स एण्ड ए फ़ैक्टर इन आर्ट एण्ड एन एस्थेटिक प्रिंसिपल (सं. मेलिवन रेडर, ए मॉडर्न बुक ऑफ़ एस्थेटिक्स) पृ. 398
7. वही, पृ 399

जहाँ एक ओर ग्राहक के लिए सौन्दर्यानुभूति के निमित्त व्यक्तिगत अनुभूतियों और कलाकृति (विशेषकर नाटक के पात्रों) के बीच समुचित अंतराल की रक्षा अनिवार्य है, वहाँ दूसरी ओर कलाकार यदि औचित्य का अतिक्रमण कर जाता है तो ग्राहक को यह अंतराल बनाए रखने में कठिनाई अनुभव होती है। इसीलिए जहाँ ग्राहक के लिए पूर्वाग्रह मुक्ति अनिवार्य है, वहाँ कलाकार की ओर से अतिशय यथार्थवादी दृष्टि भी इस स्थिति के लिए खतरा पैदा करती है। सेक्स-विषय का खुला वर्णन, शारीरिक चेष्टाओं का चित्रण, अत्यधिक विवादास्पद सार्वजनिक समस्याओं का अकंन इसीलिए या तो विरोध का भाव उत्पन्न करता है या विनोद का। इस प्रकार का फूहड़ यथार्थवाद अपनी यथार्थता में कुत्सित और मर्मभेदी हो जाता है, और ग्राहक और विषय के मध्य दूरी कम हो जाती है। दूरी की अधिकता ग्राहक के मन में असंभाव्यता, कृत्रिमता, खालीपन या निरर्थकता का भाव उत्पन्न करती है।[1]

इसलिए आदर्श स्थिति बुलो वहाँ मानते थे, जहाँ नितान्त व्यक्तिगत प्रभाव चाहे विचार-रूप हों, प्रत्यक्ष बोध-रूप हों या संवेग-रूप हों, उन्हें इतनी दूरी पर रखा जाए कि वे सौन्दर्यानुभूति का विषय हो सकें।[2] दूरी की इस मात्रा को दोनों स्थितियाँ प्रभावित करती हैं। वे भी जो कलावस्तु द्वारा निर्धारित होती हैं, वे भी जो ग्राहक के द्वारा स्वीकृत होती है। उनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप में वैविध्य प्रस्तुत होता है, क्योंकि समुचित दूरी के अभाव के परिणाम, चाहे वह जिस कारण से हो, सौन्दर्यानुभूति का क्षय है।

दूरीकरण की क्रिया में व्यक्ति की क्षमता और वस्तु की विशेषता – इन दोनों ही विधियों के अनुसार दूरी परिवर्तनशील होती है।[3]

बुलो के शब्दों में : "सृजन और आस्वाद दोनों दृष्टियों से, सबसे काम्य स्थिति वह है, जहाँ यह अंतराल न्यूनतम हो, किन्तु लुप्त न हो।"[4]

'समानुभूति' का सिद्धान्त

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया के एक विशेष पक्ष को जिस पारिभाषिक शब्द के द्वारा समझाने का प्रयास किया गया है, वह 'एम्पेथी' है। यह शब्द ग्रीक भाषा के आधार पर अंग्रेजी श्रवण के अनुकूल गढ़ा गया है। इसके लिए जर्मन शब्द 'Facility' है, जिसका अक्षरश: अंग्रेजी अनुवाद 'इन-फ़ीलिंग' अथवा 'फ़ीलिंग इण्टू' किया जाता है। हिन्दी में समानुभूति शब्द के द्वारा इस संज्ञा में निहित धारणा को व्यक्त किया जा सकता है। समानुभूति संबंधी सिद्धान्त का निर्माण मुख्यत: मूर्तिकला और नृत्यकला जैसी दृश्य कलाओं के संदर्भ में किया गया है, किन्तु क्रमश: इसका विस्तार संगीत और साहित्य तक भी कर लिया गया है।

सामान्यत: समानुभूति के अन्तर्गत तीन सोपान विविक्त किए जाते हैं : 1. अनुकृति, 2. अनुभूति, 3. प्रक्षेपण। सर्वप्रथम किसी कलाकृति को देखकर हमारे शरीर में उसके अनुरूप अनुकरणात्मक चेष्टाएँ स्वभावत: होती हैं, जैसे किसी प्रतिमा को देखकर तदनुरूप भंगिमाओं का अनुकरण करने की आकांक्षा होती है। तदुपरान्त शारीरिक चेष्टाएँ किसी-न-किसी अनुभूति की ओर प्रवृत्त करती हैं, और अन्त में हम उन अनुभूतियों का दृश्य कलाकृति में प्रक्षेपण करते हैं। स्पष्ट ही दृश्य कलाएँ दर्शक को समानुभूति के इन तीनों सोपानों पर संचरण कराती हैं – वैसे अन्य कलाओं में अनुकृति को छोड़कर प्रधानत: अनुभूति और प्रक्षेपण की ही वृत्तियाँ पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए, अनुकृति की प्रवृति कुछ-न-कुछ संगीत कला में भी होती है, जिसमें श्रोता संगीत के साथ स्वयं भी मौन गान करता रहता है, अथवा ताल के अनुरूप उसके विभिन्न अंग गतिमान रहते हैं। इसी प्रकार साहित्य में जिस सीमा तक लयमयता और गत्वरता होती है, उसके पाठक में भी तदनुरूप शारीरिक प्रतिक्रिया देखी जा सकती है।

समानुभूति के दो भेद किए जाते हैं : 1. शारीरिक चेष्टापरक समानुभूति और 2. नाटकीय समानुभूति। भिन्न होते हुए भी, सामान्य विशेषता यह है कि दोनों में प्रतिग्राह्य वस्तु, ग्राहक में समान अनुभूति उत्पन्न करती है। अन्तर यह है कि शारीरिक चेष्टापरक समानुभूति अनुकरणाश्रित होती है तो नाटकीय समानुभूति कल्पनाश्रित तादात्म्य पर निर्भर होती है।

द्वितीय प्रकार की समानुभूति इतनी महत्वपूर्ण है कि सामान्यत: समानुभूति का अर्थ नाटकीय समानुभूति ही लिया जाता है, और अनेक सौनदर्यशास्त्री प्राय: तादात्म्य को ही समानुभूति का पर्याय मानते है, किन्तु तादात्म्य शब्द व्याख्या-सापेक्ष है। समानुभूति-क्षेत्रीय तादात्म्य की विशेषता यह है कि हम अपने साथ चरित्रों का तादात्म्य नहीं करते, बल्कि चरित्रों के साथ अपना तादात्म्य करते हैं। समानुभूति पर मुख्यत: **थ्योडोर लिप्स, वर्नन ली** तथा **विल्हेम वोरिंगर** ने विचार किया है, जिनके तद्विषयक सिद्धान्त क्रमश: निम्नलिखित हैं:

---

1. वही, पृ 400
2. वही, पृ 400
3. वही, पृ 399
4. वही, पृ 399

समानुभूति के सिद्धान्त की पहली विस्तृत व्याख्या जर्मन विद्वान **थ्योडोर लिप्स** के ग्रंथ 'Haumesthetik' (1897) में प्रकाशित हुई। लिप्स के अनुसार समानुभूति का अर्थ है – सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में विषय और विषयी के मध्य पार्थक्य-द्योतक द्वैत-चेतना **का लोप**। द्वैत-चेतना के लोप की प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए लिप्त ने कहा कि द्वैत-बोध का लोप विषयी के द्वारा विषय पर अहं के प्रक्षेपण से होता है। अहं के उन्होंने दो रूप स्वीकार किए : व्यावहारिक अहं और आस्वादशील या अनुचिंतनशील अहं। **जब वें विषय पर विषय** के अहं के प्रक्षेपण की बात करते हैं तो सौन्दर्यानुभूति के संदर्भ में उक्त स्थानान्तरण की प्रक्रिया का उस **विषयी का** अनुचिंतनशील अहं होता है, व्यावहारिक नहीं।

अहं का इदं में यह प्रक्षेपण एक प्रकार का पारस्परिक अंत:प्रवेश है, जिसका परिणाम विषयी पक्ष में अनुभव की समृद्धि है। इस पारस्परिक अंत:प्रवेश की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए लिप्स ने कहा कि इसमें चेतनधर्मी चित्त स्वयं सक्रिय होता है और अचेतन रूप से जड़ कलावस्तु को संजीवित करता है, अर्थात् इस पारस्परिक अंत:प्रवेश के परिणामस्वरूप चित्त की क्रियाएँ – प्रयत्नशीलता, इच्छाशक्ति, मुक्ति का बोध, शक्ति का बोध आदि कलाकृति में प्रवेश कर जाती है और कलाकृति चित्त की इन क्रियाओं से युक्त हो जाती है।

समानुभूति का आधार क्योंकि अहं का प्रेक्षपण है, इसलिए यह अनुभूति प्रक्षेपित व्यक्तित्व के मूल्य अर्थात आत्म-मूल्य और अन्विति पर आधारित है। दूसरे शब्दों में, यह अनुभव ग्राहक को अपने महत्व का तथा व्यक्तित्व में अन्विति को बोध है।

वर्नन ली (वायलेट पैगेट) ने स्वतंत्र रूप से समानुभूति संबंधी लगभग उन्हीं सिद्धान्तों की व्याख्या की, जिनकी स्थापना **थ्योडर लिप्स** पहले कर चुके थे। किन्तु लिप्स के ग्रंथ के प्रकाशित होने के दो साल बाद ज्यों ही ली को उनके ग्रंथ का पता चला, उन्होंने अपनी मान्यताओं में कुछ दूर तक संशोधन स्वीकार कर लिया। फिर भी ली ने लिप्स द्वारा प्रतिपादित अहं के प्रक्षेपण के सिद्धान्त को अंत तक स्वीकार्य नहीं माना। उनके अनुसार, उदाहरण के लिए : "जब हम कहते हैं कि 'पहाड़ ऊपर उठता है' तो वस्तुत: हम उठान संबंधी विचार तथा उनके अनुवर्ती संवेगों को अपने अन्दर से देखी गई वस्तु पर स्थानान्तरित कर देते हैं।" स्वयं ली के शब्दों में "... यह जटिल मानसिक प्रक्रिया है इसके द्वारा हम जड़ एवं अरूप पहाड़ को, अपने संचित औसत तथा मूल अनुभावन से युक्त कर देते हैं। यही वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम स्वयं पहाड़ को उठता हुआ देखते हैं, और इसी को मैंने समानुभूति कहा है।"[1]

यद्यपि प्रस्तुत उद्धरण प्रकृति-सौन्दर्य पर आधारित है, जिसके लिए रिचर्ड्स ने ली की आलोचना करते हुए यह कहा है कि उन्होंने समानुभूति का विचार कला-सौन्दर्य से इतर सामान्य सौन्दर्य के संदर्भ में किया है। फिर भी वर्नन ली का समानुभूति संबंधी सिद्धान्त मुख्यत: मूर्तिकला पर आधारित है। इसीलिए उनकी समानुभूति में शारीरिक चेष्टाओं की अनुकृति पर विशेष बल है, और संभवत: इसीलिए उन्होंने अहं के प्रक्षेपण जैसे प्रत्ययात्मक, अवधारणात्मक एवं अमूर्त सिद्धान्त के विपरीत, संवेगात्मक एवं विचारात्मक आरोपण पर बल दिया है। ली की समानुभूति लिप्स की अपेक्षा अधिक मांसल और सौन्दर्यपरक अवधारणा है।

विल्हेम वोरिंगर : लिप्स के समानुभूति-सिद्धान्त को आगे बढ़ाने वाले तीसरे विद्वान कला के सुप्रसिद्ध इतिहासकार विल्हेम वोरिंगर हैं, जिन्होंने पृथक्करण (एब्सट्रेक्शन) के विरोध में समानुभूति को परिभाषित किया है। उनके विचार से केवल ग्रीक रोमन, पुनर्जागरण और आधुनिक यथार्थवादी कलाकृतियाँ ही समानुभूति जाग्रत करती है क्योंकि उनमें ऐन्द्रिय बोध, सुलभ मूर्तिमत्ता और माँसलता होती है। इनके विपरीत आदिम, मिसरी, वाइज़ेण्टाइन, गॉथिक, पौरस्त्य एवं आधुनिक अमूर्त कलाएँ 'पृथक्करण' या 'एब्सट्रेक्शन' का भाव उत्पन्न करती हैं, क्योंकि उनमें अमूर्त ज्यामितिक रूपों की प्रधानता होती है। 'पृथक्करण' ग्राहक का मन 'अमूर्त रूपों' का अनुचिन्तन करते हुए कल्पना के सहारे मानवीय प्रकृति का अतिक्रमण करता है, जबकि समानुभूति में ग्राहक का मन कलाकृति में अपने-आपको लय कर देता है। दोनों की पद्धतियों में ग्राहक का मन सामान्य जीवनानुभव की सीमाओं से मुक्त होने का प्रयास करता है किन्तु इस अंतर के साथ कि पृथक्करण में जहाँ 'अतिक्रमण' होता है, समानुभूति में 'संक्रमण' होता है : संक्रमण विषय में विषयी के मन का। इस संक्रमण की परिणति अन्तत: मन के विलय में होती है। वोरिंगर के अनुसार समानुभूति कलाकृति में ग्राहक-मन की सजीव अनुभूतियों के संक्रमण का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार समानुभूति बाह्य विश्व और मानव के सुखद सहानुभूतिपूर्ण संबंध का परिणाम है। वोरिंगर के विवेचन से स्पष्ट है कि समानुभूति कला के कुछ विशिष्ट वर्ग की कृतियों में ही संभव होती है और सौन्दर्य-ग्रहण का यह मार्ग बौद्धिक या कल्पनाप्रवण 'अनुचिन्तन' से भिन्न होता है।

विरोधों का सामंजस्य

श्रेष्ठ कलाकृतियों से प्राप्त होनेवाली अनुभूति में प्राय: अनेक युग्मकों का सामंजस्य पाया जाता है, यहाँ तक कि जिस कलाकृति में जितने अधिक विरोधी तत्त्वों का सामंजस्य होता है, वह उतनी ही श्रेष्ठ मानी जाती है। इस मान्यता के बीज अरस्तू के विरेचन

1. 'एम्पेथी' (मेल्विर रेडर द्वारा 'मॉडर्न बुक ऑफ़ एस्थेटिक्स', पृ. 372 पर उद्धृत)
2. Wilhelm Worringer: Alstraktion and Einfuhlung (1908)
(मेल्विन रेडर द्वारा 'ए मॉडर्न बुक ऑफ़ एस्थेटिक्स', पृ. 382-91 पर उद्धृत)

सिद्धान्त में पाए जाते हैं, जहाँ त्रास और करूणा जैसे विरोधी भावों के बीच सामंजस्य घटित होता है। इस मान्यता की विस्तृत सैद्धान्तिक स्थापना जर्मनी के रोमाण्टिक विचारकों – आगस्त विल्हेम श्लेगल, ऐडम म्यूलर और कार्ल सोलगर ने की, और अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि और आलोचक कोलरिज ने कल्पना की क्षमता के अंतर्गत विरोधी तत्त्वों के सामंजस्य का सिद्धान्त निरूपित किया। स्वयं कोलरिज के शब्दों में:

"कल्पना की यह शक्ति विरोधी या विसंवादी गुणों के सामंजस्य या संतुलन में अपने-आपको व्यक्त करती है। इसके अंतर्गत असमानता के साथ समानता; मूर्त के साथ सामान्य; बिम्ब के साथ विचार; प्रतिनिधि के साथ व्यक्ति; प्राचीन और परिचित वस्तुओं के साथ टटकेपन और नवीनता का बोध; असाधारण व्यवस्था के साथ संवेग की असाधारण अवस्था; उदग्र या गहन अनुभूति तथा उत्साह के साथ एकाग्र स्वायत्त भावना; और सतत जाग्रत निर्णय का सामंजस्य पाया जाता है।"[1]

कोलरिज की यह कल्पना शक्ति रचनाकार के अन्तर्गत जितनी सक्रिय होती है ग्राहक में उससे किसी भी प्रकार कम सक्रिय नहीं होती, क्योंकि इतने विरोधों से मुक्त रचना को ग्रहण करने के लिए ऐसी ही सामंजस्यधर्मी कल्पना-शक्ति अपेक्षित होती है, जिसके फलस्वरूप गृहीत अनुभूति में भी उन समस्त तत्त्वों का संतुलन सुलभ होता है।

विरोधों के सामंजस्य की इस रोमाण्टिक मान्यता को रोमाण्टिक कला के विरोधी टी.एस. इलियट और डॉ. रिचर्ड्स प्रभृति आधुनिक समालोचकों ने भी स्वीकार किया और आधुनिक साहित्य के संदर्भ में अपने-अपने ढंग से उसका विकास किया।

टी. एस. इलियट ने विरोधों के सामंजस्य को 'वाग्वैदग्ध्य' (विट) के अन्तर्गत समझाया है। वाग्वैदग्ध्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि वाग्वैदग्ध्य के अन्तर्गत, प्रत्येक अनुभव की अभिव्यक्ति में, विरोधी या भिन्न संभावित अनुभवों के समाहार की क्षमता निहित रहती है। वह एक प्रकार का अभिज्ञान है, जो अनुभव-विशेष को उसके विरोधी तत्त्वों के साथ संश्लिष्ट रूप में ग्रहण और व्यक्त करता है। इलियट ने सामान्य व्यक्ति और कवि के मस्तिष्क में भेद-निरूपण इसी आधार पर किया है कि जब कवि का मस्तिष्क सृजन के लिए पूर्णत: तत्पर होता है, तो वह 'बिखरे अनुभवों का सतत मिश्रण करता है', इसके विपरीत सामान्य व्यक्ति का अनुभव 'विशृंखल, अव्यवस्थित और खंडित' होता है। इस प्रकार इलियट ने कवि-पक्ष में वाग्वैदग्ध्य का प्रयोग दो रूपों में स्वीकार किया है – किसी अनुभव में उसके विरोधी अनुभवों को समाहृत करने के अर्थ में, और विशृंखल, अव्यवस्थित, खंडित और बिखरे अनुभवों का मिश्रण कर उन्हें अखंड इकाई का सामंजस्यपूर्ण रूप प्रदान करने का अर्थ में।

आई. ए. रिचर्ड्स ने समाहारधर्मी कविता को श्रेष्ठ कविता मानते हुए कहा कि यह कविता श्रेष्ठ इसलिए होती है कि उसमें 'विडम्बना' (आयरनी) की संभावना अधिक रहती है। समाहारधर्मी कविताएँ वे होती हैं, जिनमें केवल विविध ही नहीं, विरोधी अनुभवों के अन्तर्भाव और सामंजस्यपूर्ण निर्वाह की क्षमता होती है, और इस प्रकार बिना किसी क्षति के 'विडम्बनापूर्ण अनुचिंतन' को वहन करने में समर्थ होती है। रिचर्ड्स के शब्दों में :

"विडम्बना का कार्य विरोधी अर्थात् पूरक वृत्तियों का अन्तर्भाव है, इसलिए वह कविता जो इस गुण से मुक्त है, उच्चकोटि की कविता नहीं होती, और विडम्बना उत्कृष्ट कोटि की कविता की विशेषता होती है।"[2]

विडम्बना का प्रयोग काव्य के सृजन-पक्ष से संबद्ध है, अत: वह कवि का दायित्व है। ग्राहक द्वारा आस्वाद के संदर्भ में रिचर्ड्स ने इसी क्षमता को 'मानसिक संतुलन' के सिद्धान्त से समझाया है। रिचर्ड्स के अनुसार सौन्दर्यानुभूति का मूल आधार संतुलन और समरसता है। सौन्दर्यानुभूति में हमारी वृत्तियाँ – जिनकी सहज प्रकृति परस्पर संघर्ष की होती है – इस रूप में व्यवस्थित और संयोजित हो जाती हैं कि उनके मध्य किसी प्रकार के द्वन्द्व की संभावना नहीं रहती, और उनके बीच पूर्ण संतुलन और समरसता स्थापित हो जाती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रिचर्ड्स के इस सिद्धान्त की अस्पष्टता पर अनेक आक्षेप किए गए हैं, परन्तु इतना तो निश्चित है कि वे इसके द्वारा सौन्दर्यानुभूति में विरोधी वृत्तियों के आस्वाद की समस्या की व्याख्या करते हैं। जब वे कहते हैं कि कविता विरोधी वृत्तियों की संधि-भूमि है, तो उसमें यह भाव सहज रूप से निहित हो जाता है कि हमारी मस्तिष्क में उद्भूत विरोध वृत्तियों में भी पूर्ण सामरस्य स्थापित हो जाता है।

साथ ही, रिचर्ड्स मनोवृत्तियों के इस संतुलन और सामरस्य को निष्क्रिय मन:[illegible]ने। बल्कि उनके विचार से यह ऐसी मन:स्थिति है, जिसमें हमारा मस्तिष्क अतिरिक्त रूप से सक्रिय हो जाता है, और मनोवृत्तियों का संगठन ऐसे संतुलित रूप में होता है कि वह हमें 'क्लान्ति के स्थान पर पुनर्नवता प्रदान करता है।'[3]

---

1. 'बायग्राफिया लिटरेरिया', सेलेक्टेड पोएट्री एण्ड ऑफ़ प्रोज ऑफ़ कोलरिज, अध्याय 14, पृ. 269
2. प्रिंसिपल्ज., पृ. 250
3. आइ. ए. रिचर्ड्स एण्ड अदर्स : द फ़ाउण्डेशन्स ऑफ़ एस्थेटिक्स, पृ. 76

इसी चिन्तन-परंपरा में अमरीका के नव्य आलोचकों[1] की विडम्बना संबंधी मान्यताएँ भी आती हैं, जिन्होंने विडम्बना को एक सामान्य अलंकार से ऊँचे उठाकर काव्य के आधारभूत धर्म के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है और उसे शुभ और अशुभ के द्वन्द्व पर आधारित ईसाइयत का दार्शनिक आधार प्रदान किया है।

विरोधों के सामंजस्य का सर्वोत्तम उदाहरण नाटक है, क्योंकि वह प्रकृत्या द्वन्द्वमूलक होता है। यह आकस्मिक नहीं है कि अरस्तू ने त्रास और करुणा के सामंजस्य में संपन्न होने वाले 'विरेचन' सिद्धान्त की स्थापना 'त्रासदी' के ही संदर्भ में की। संभवत: इसीलिए टी.एस. इलियट ने समस्त काव्य का नाट्योन्मुख माना है।[2] इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए विख्यात अमरीकी समालोचक केनेथ बर्क[3] ने कलाओं के क्षेत्र में 'प्रतीकात्मक कार्य' (सिम्बोलिक ऐक्शन) को आधारभूत सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया, जिसके अनुसार संपूर्ण कलाओं के मूल में 'प्रतीकात्मक कार्य' होते हैं, और कहना न होगा कि यह 'कार्य' मूलत: नाट्यधर्मी है। इस सिद्धान्त के अनुसार सभी कलाएँ प्रकृत्या द्वन्द्व-निर्भर हो जाती हैं और उनमें अनेक द्वन्द्वात्मक वृत्तियों एवं कार्यों एवं कार्यों के नाटकीय सामंजस्य का विधान स्वत: सिद्ध हो जाता है। केनेथ बर्क के अनुसार यह नाटकीय सामंजस्य छोटे-से-छोटे प्रगीत मुक्तक में भी निहित होता है। अन्यत्र भी जिन कलाओं में किसी प्रकार की गतिशीलता परिलक्षित होती है, 'प्रतीकात्मक कार्य' के सिद्धान्त को अन्तर्निहित समझना चाहिए। प्रत्येक कलाकृति के विन्यास में निहित विकास द्वन्द्वाश्रयी होता है, जो प्रकारान्तर से ग्राहक के चित्त में भी द्वन्द्वाश्रयी विकासशील अनुभूति उत्पन्न करता है।

विरोधों के शमन की पुष्टि 'लय' संबंधी अवधारणा से भी होती है। आइ. ए. रिचर्ड्स के अनुसार 'लय' केवल एक प्रकार का मानसिक व्यापार है जिसके द्वारा हम कविता में निहित ध्वनि और अर्थ का ग्रहण करते हैं। इस प्रकार लय की स्थिति उत्तेजना में नहीं बल्कि ग्रहणशीलता में होती है।[4] लय संबंधी इस आत्मनिष्ठ मान्यता का समर्थन डेविट पार्कर ने भी किया है।[5] यद्यपि बियरड्स्ले ने इसके विपरीत लय को स्वयं काव्य-क्षेत्रीय गुण माना है, फिर भी लय की आत्मनिष्ठता एवं वस्तुनिष्ठता के विवाद में पड़े बिना प्रस्तुत प्रसंग में, मानसिक प्रतिक्रिया में निहित लय की स्थिति को सुरक्षित रूप से स्वीकार किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि सौन्दर्यानुभूति लयधर्मी होती है, जिसमें लय के समान ही अनेक विसंवादी तत्त्वों की परिणति एक सामरस्यपूर्ण 'राग' के संवाद में होती है। सामान्य लय के दो कार्य होते है : एक ओर यह ग्राहक पर सम्मोहन का प्रभाव डालकर उसे ग्रहणशील मन:स्थिति में ले आती है तो दूसरी ओर एक ऐसा 'चौखटा' प्रदान करती है, जिसके अंतर्गत संवेगों का उत्थान-पतन संभव होता है। लय-नाद संबंधी विसंवादी तत्त्वों के बीच ही नहीं, बल्कि विरोधी संवेगों, भावों और वृत्तियों को भी समरसता में संघटित करती है। संभवत: इसीलिए सौन्दर्यशास्त्रियों एवं समालोचकों ने लय के द्वारा सौन्दर्यानुभूति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है और 'विरोधी संवेगों के बीच संतुलन' सिद्धान्त के संस्थापक डॉ. रिचर्ड्स ने अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए लय की स्थिति को नितान्त आत्मनिष्ठ मान लिया।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह कि पाश्चात्य काव्यचिंतन एवं सौन्दर्यशास्त्र के अंतर्गत सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया में निर्वैयक्तिकता, मानसिक अंतराल, समानुभूति एवं विरोधों का सामंजस्य आदि पक्ष होते हैं। सौन्दर्यानुभूति के ये विविध पक्ष परस्पर-विरोधी नहीं, बल्कि परस्पर-पूरक हैं। पाठक काव्यकृति के साथ समानुभूति स्थापित करते हुए भी मानसिक अंतराल बनाए रखता है और इस प्रकार अपने चित्त की अनेक विरोधी वृत्तियों का परिहार करके एक प्रकार की निर्वैयक्तिकता का अनुभव करता है।

काव्यानुभूति की प्रक्रिया

संप्रेषण और ग्रहण की प्रक्रिया काव्यशास्त्र की उन प्रमुख समस्याओं में से है, जिस पर संस्कृत काव्यशास्त्र के समान ही पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में भी सबसे अधिक विचार किया गया है। वस्तुत: संप्रेषण और ग्रहण एक ही प्रक्रिया के दो पक्ष हैं। कवि अपने अनुभव को पाठक तक संप्रेषित करता है और पाठक उस अनुभव को अपनी क्षमता के अनुसार ग्रहण करने का प्रयास करता है। सामान्य स्थिति में संप्रेषण और ग्रहण के मध्य किसी प्रकार के व्यवधान या अन्तराल की आशंका के लिए स्थान नहीं है। यह तथ्य है कि महान काव्यकृतियाँ व्यापक स्तर पर गृहीत होती हैं, उदाहरण के लिए 'रामचरितमानस' के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसमें आबाल-वृद्ध सभी रस लेते हैं और उसका प्रवेश महलों से लेकर झोंपड़ी तक है। कालजयी कृतियों की विशेषता ही यह मानी जाती है कि वे देश-काल की सीमाओं को पा कर मानव-मन को स्वर्श करने में समर्थ होती हैं। किन्तु इसके विपरीत दूसरी ओर यह भी तथ्य है कि अनेक महान कलाकृतियाँ यथोचित रूप में पाठकों तक नहीं पहुँच पाई : या तो स्वयं रचनाकार उन्हें पाठकों तक संप्रेषित करने में किसी कारण से सफल नहीं हो सके, या फिर पाठक ही उन्हें पूर्णत: ग्रहण करने में असमर्थ रहे। इस प्रकार संप्रेषण

---

1. विमसॉट एण्ड ब्रुक्स, जॉन क्रो रेन्सम, एलेन टेट आदि
2. सेलेक्टेड एसेज़, पृ. 52
3. ए ग्रामर ऑफ़ मोटिव्स, पृ. 447-63
4. प्रिंसिपल्ज. पृ. 137-39
5. प्रिंसिपल्ज ऑफ़ एस्थेटिकस, पृ. 165

और ग्रहण के बीच एक अल्पकालिक व्यवधान बना रहा, जो कुछ काल पश्चात् अपसृत हुआ और पुन: वही अगृहीत कृतियाँ आस्वादक्षम मान ली गईं। इतिहास में संप्रेषण और ग्रहण की इन दोनों ही स्थितियों के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। ऐसी स्थिति में संप्रेषण और ग्रहण को एक जटिल समस्या के रूप में स्वीकार करना असंगत न होगा। यदि महान कलाकृतियाँ व्यापक स्तर पर गृहीत होती है तो प्रश्न है कि क्यों? यदि उनके ग्रहण में कोई अल्पकालिक बाधा आती है और पुन: वे विलम्बित रूप में गृहीत होती हैं तब भी प्रश्न उठता है कि क्यों? दोनों ही स्थितियों में आधारभूत प्रश्न एक ही है कि रचनाकार की अभिव्यक्ति ग्राहक की अनुभूति किस प्रकार बनती है?

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह समस्या किसी एक देश या काल तक सीमित नहीं रही है। यह दूसरी बात है कि किसी काल में इस समस्या ने उग्र रूप धारण करके काव्यशास्त्रीय विवेचन में प्रमुखता प्राप्त कर ली हो; और किसी देश के विचारकों ने इस पर अधिक गहराई से विचार किया हो; किन्तु काव्यशास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र की यह आधारभूत समस्या है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते।

उदाहरण के लिए संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रस्थान-ग्रंथ भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में प्रेक्षक के विषय में पूरा एक अध्याय है तो पाश्चात्य काव्यशास्त्र की आधारशिला अरस्तू-कृत 'काव्यशास्त्र' भी त्रासदी के दर्शक और पाठक की ओर से उदासीन नहीं है। यह अवश्य है कि दोनों ही ग्रंथों में नाट्यास्वाद की प्रक्रिया को उतना विस्तार नहीं दिया गया है जितना उनके परवर्ती चिन्तन में दृष्टिगोचर होता है। यह भी अद्‌भुत संयोग ही है कि रसास्वाद की प्रक्रिया के विषय में यदि भरत मुनि केवल इतना संकेत देकर आगे बढ़ जाते हैं कि **'एभ्यश्च सामान्य-गुण-योगेन रसा निष्पद्यन्ते'**।[1] अर्थात इनके द्वारा सामान्य गुण योग से रस निष्पन्न होते हैं; तो अरस्तू भी 'विरेचन' (केथरसिस) के बारे में इतना ही कहकर मौन हो जाते हैं कि : "त्रास और करुणा के द्वारा इन संवेगों का समुचित विरेचन संपन्न होता है।"[2] अरस्तू का 'काव्यशास्त्र' खंडित अवस्था में प्राप्त होता है, इसलिए पाश्चात्य विचारकों का अनुमान है कि जो खंड अनुपलब्ध है, उसी में 'विरेचन' संबंधी विचार की संभावना है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' के संबंध में यही बात निस्संदेह नहीं कही जा सकती है, किन्तु 'नाट्यशास्त्र' के मूल पाठ के सुरक्षित रह जाने के विषय में भारतीय पंडित भी पूर्णत: आश्वस्त नहीं है। यदि इन पाठगत विवशताओं को एक ओर रखकर विचार करें तो एक समानता दोनों पक्षों में स्पष्ट है कि रसास्वाद की प्रक्रिया के संबंध में संस्कृत और ग्रीक दोनों आचार्यों का विवेचन संक्षिप्त एवं सूत्रवत है। स्पष्ट तथ्य यही है, कारण की व्याख्या जो भी की जाए।

आपातत: तो यही प्रतीत होता है कि उनके लिए यह कथन इतना स्पष्ट था कि उन्होंने इसकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं समझी। संभवत: तत्कालीन पाठकों के लिए 'सामान्य-गुण-योग' से रस-निष्पत्ति, तथा त्रास और करुणा से समुचित 'विरेचन' की प्रक्रिया इतनी जटिल नहीं रही होगी कि समझाने के लिए आचार्यों को विचार करना पड़े। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि कवि और पाठक इस सीमा तक एक ही सामाजिक भावभूमि के साझीदार थे कि संप्रेषण और ग्रहण में किसी प्रकार के अन्तराल की आंशका ही नहीं थी, इसलिए पाठक को रस-ग्रहण के लिए विस्तार से प्रशिक्षित करने की आवश्यकता ही न रही हो। संस्कृत के सदृश ग्रीक नाटक में भी कथानक लोकप्रचलित पुराणों से गृहीत होते थे तथा चरित्र भी लोक-प्रसिद्ध तथा प्रख्यात रहते थे और संभवत: अभिव्यंजित भाव भी लोकमानव के लिए, पूर्व-परिचित ही रहे हों, इसलिए संप्रेषण का प्रश्न सामान्य भूमि पर सहज भाव से सुलझ जाता था। जो हो, हैं ये सभी अनुमान ही। किन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय भी नहीं।

स्थिति यह है कि परिवर्ती काल में संस्कृत काव्यशास्त्र में रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया के संबंध में 'संयोग' या 'सामान्य-गुण-योग' को लेकर जिस प्रकार विस्तृत ऊहापोह की परंपरा चल पड़ी, उसी प्रकार पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में भी त्रासदी के आस्वाद की प्रक्रिया के विषय में 'विरेचन' का विश्लेषण एक इतिहास बन गया। यदि इसके मूल में किसी सामाजिक आधार को स्वीकार न भी करें तो भी इतना निश्चित है कि सैद्धान्तिक स्तर पर ही 'रस-निष्पत्ति' और 'विरेचन' की प्रक्रिया परवर्ती विचारकों के लिए उतनी सरल और सुस्पष्ट प्रतीत नहीं हुई चिन्तन-क्रम में एक-एक कर अनेक प्रश्न उत्पन्न हुए और उनके समाधान के लिए दोनों ही विचार परंपराओं में विभिन्न सिद्धान्तों की सृष्टि की गई। अन्तर इतना ही है कि संस्कृत में जहाँ रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया संबंधी समस्त प्रश्नों का समाधान करने के लिए एक सर्वव्यापक सिद्धान्त 'साधारणीकरण' स्थित हुआ, वहाँ पाश्चात्य चिन्तन में इसके समकक्ष कोई एक सिद्धान्त निर्मित न हो सका। यही नहीं कि वहाँ पाश्चात्य चिन्तन में इसके समकक्ष कोई एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया, बल्कि चिंन्तनगत समुचित तारतम्य के अभाव में वहाँ एक ही प्रश्न के तुल्यबल वाले अनेक जीवित समाधान समानान्तर रूप से उपलब्ध हैं, जिनकी एकांगिता संस्कृत काव्यशास्त्र की सुसंगठित संकल्पना अथवा अवधारणा की तुलना में और भी स्पष्ट होती चलती है।

उदाहरण के लिए, किसी काव्यकृति के रसास्वाद में सामान्यत: निम्नलिखित प्रश्न मुख्य रूप से उठते है।

---

1. नाट्यशास्त्र, पृ. 348
2. ... through pity and fear effecting the proper purgation (Katharsis) of these emotions. (*Poetics*, Chap. VI)

1. काव्यकृति जो एक कवि-पाठक-निरेपक्ष 'वस्तु' है, वह पाठक की अनुभूति - रसानुभूति कैसे बनती है?

2. काव्यगत परकीय अनुभव पाठक का स्वकीय किस प्रकार होता है?

3. काव्य का 'विशेष' किसी प्रकार इतना 'सामान्य' हो जाता है कि अनेक पाठकों के लिए उसका आस्वाद संभव होता है?

4. कवि, काव्य और पाठक के बीच किसी प्रकार का संबंध घटित होने पर काव्यास्वाद संभव होता है?

5. रसास्वाद के लिए काव्य और पाठक के बीच कितनी निकटता और दूरी अपेक्षित है?

6. काव्य के समुचित ग्रहण के लिए पाठक को किस प्रकार के रूपान्तरण की प्रक्रिया से गुज़रना पड़ता है?

7. स्वयं पाठक के मानस में काव्य के रसास्वाद की प्रक्रिया किस प्रकार घटित होती है और उस प्रक्रिया के घटक क्या हैं?

संभावित प्रश्न और भी हो सकते हैं, किन्तु भारतीय मनीषा की यह सामर्थ्य है कि इन सभी प्रश्नों का समाधान केवल एक अवधारणा में उपलब्ध है और वह है साधारणीकरण। वैसे यह अवधारणा इतनी व्यापक है कि इसकी सीमा में काव्य-ग्रहण के अतिरिक्त काव्य-सृजन का व्यापार भी आ जाता है। किन्तु इसके समकक्ष यदि पाश्चात्य काव्य-शास्त्र पर दृष्टिपात करें तो 'समानुभूति', 'मानसिक अन्तराल', 'निर्वैयक्तिकता', 'विरोधों का संतुलन', 'विरेचन' आदि अनेक सिद्धान्त प्राप्त होंगे जो अलग-अलग उपर्युक्त प्रश्नों में केवल एक या दो का ही समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं; यही नहीं बल्कि ये सभी सिद्धान्त मिलकर भी आस्वाद-प्रक्रिया के संपूर्ण पक्षों को समाहित करने में अपर्याप्त प्रतीत होते हैं। ऐसा नहीं है कि पाश्चात्य विचारक काव्य-ग्रहण की प्रक्रिया में निहित प्रश्नों से पूर्णत: अवगत नहीं है और न उन्होंने समस्या को गहराई में जाकर अधिक-से-अधिक असुविधाजनक प्रश्नों को उठाकर उन्हें स्पष्टत: विवक्षित करने में ही किसी प्रकार के बौद्धिक आलस्य का सहारा लिया है। कमी है तो केवल उस सर्वव्यापी समंजस अवधारणा की, जो अपनी चिन्तन-प्रणाली में सभी प्रश्नों को तर्कसंगत रीति से समाविष्ट कर सके।

काव्य-वस्तु का साधारणीकरण

'विशेष' का साधारणीकरण

'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' शीर्षक निबंध में आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं, वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं। यह बात आधुनिक कला-समीक्षा के क्षेत्र में पूर्णतया स्थिर हो चुकी है।"[1] आधुनिक कला-समीक्षा से शुक्लजी का तात्पर्य पाश्चात्य कला-समीक्षा की आधुनिक प्रवृत्ति से है; क्योंकि इसी प्रसंग में आगे चलकर बिम्बों की चर्चा करते हुए उन्होंने पाद-टिप्पणी में क्रोचे का मत उद्धृत किया है। जिस कथन की पुष्टि के लिए उन्होंने क्रोचे को उद्धृत किया है, वह यह है कि : "काव्य का नाम है कल्पना में बिम्ब (इमेजेज़) या मूर्त-भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (कन्सेप्ट) लाना नहीं। बिम्ब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का होगा, सामान्य या जाति का नहीं।"[2] जैसा कि शुक्लजी ने उसी निबंध में आगे चलकर स्वयं स्वीकार किया है, विशेष या व्यक्ति को काव्य का विषय मानने की प्रवृत्ति का उदय यूरोप में पुनरुत्थान-युग से हुआ और स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) आन्दोलन से उसे बल प्राप्त हुआ तथा अभिव्यंजनावाद ने उसे व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। अंग्रेज़ी के रोमाण्टिक कवि विलियम ब्लेक ने बहुत पहले घोषणा की कि "सामान्यीकरण करने का अर्थ है जड़ होना। योग्यता का एकमात्र लक्षण है विशेषीकरण। सामान्य ज्ञान वह ज्ञान है जो मूर्खों के पास होता है।" आधुनिक युग के प्रभावशाली फ्रांसीसी विचारक बर्गसाँ ने जैसे ब्लेक की बात को और भी स्पष्ट करते हुए कहा कि : "कला का लक्ष्य सदैव वह है जो 'व्यक्ति' है। फलक पर कलाकार जो अंकित करता है वह कुछ ऐसा है जिसे उसने एक निश्चित स्थान पर, एक निश्चित दिन, एक निश्चित समय पर, एक विशेष रंग में देखा है जिसे वह फिर कभी न देख सकेगा। कवि जो गाता है वह एक ऐसी विशेष मन:स्थिति है जो उसकी और केवल उसी की थी और जो फिर वापस नहीं आएगी। ... हैमलेट के चरित्र से अधिक अद्वितीय कोई चरित्र नहीं हो सकता। यद्यपि वह कुछ बातों में अन्य व्यक्तियों के अनुरूप हो सकता है, किन्तु यह वह कारण नहीं है जिससे वह हमें सबसे रुचिकर प्रतीत होता है"[3]

सामान्य तुलना से स्पष्ट हो जाएगा कि क्रोचे के 'बिम्ब' का आधार जो 'विशेष' है, वह बर्गसाँ के 'चरित्र' में निहित 'व्यक्ति' से भिन्न नहीं है। यह संयोग की बात नहीं है कि दोनों ही विचारक 'प्रातिभज्ञान' (इन्ट्यूशन) को सर्वोपरि मानते थे। इसलिए देखना यह है कि काव्य अथवा कला के संप्रेषण की समस्या को ये विचारक किस प्रकार हल करते थे? क्रोचे के बारे में तो प्रसिद्ध ही है कि वे कला को संप्रेषण की वस्तु मानते ही नहीं थे। उनकी 'अभिव्यंजना' भी आन्तरिक ही थी। जो विचारक बाह्य अभिव्यंजना

---

1. चिन्तामणि, भाग 1, पृ. 228
2. वही, पृ. 228
3. हेनरी बर्गसाँ, लाफ़्टर : एन एसे ऑन द मीनिंग ऑफ़ द कॉमिक, पृ. 161-62

से भी उदासीन हो, उसके लिए संप्रेषण या ग्रहण का प्रश्न ही नहीं उठता। इस विषय में बर्गसाँ के किसी स्पष्ट कथन का पता हमें नहीं है; किन्तु जिस व्यक्तिवादी कला के आधार पर उन्होंने अपने सिद्धान्त का निर्माण किया है, उसके रचनाकार ग्राहकों से विच्छिन्नता का अनुभव करते हुए अवश्य पाए जाते हैं। एक बार काव्य-विषय को 'विशेष' या 'व्यक्ति-रूप' स्वीकार कर लेने के बाद किसी अन्य द्वारा उसके ग्रहण किए जाने की संभावना कम-से-कम सैद्धान्तिक स्तर पर तो समाप्त ही हो जाती है।

प्राचीन भारत में भी दर्शन के क्षेत्र में कुछ एक ऐसे चिन्तन-निकाय थे, जो शब्द का संकेत व्यक्ति में मानते थे। नव्य नैयायिकों का मत इसी प्रकार का था। उनके मत के अनुसार शब्द से साक्षात बोध 'व्यक्ति' का ही होता है, 'जाति' का नहीं; जाति तो उपलक्षण मात्र है। बौद्धों का अन्यापोहवाद भी प्रकारान्तर से शब्द-संकेत के इसी मत का पोषण करता है। क्षणवादी बौद्ध किसी पदार्थ की क्षणिक सत्ता में ही विश्वास करने के कारण क्षण-स्थित पदार्थ को ही 'अर्थक्रियाकारित्व' से युक्त 'स्व-लक्षण' मानते थे। इस प्रकार उनके मत से 'जाति' के संकेत का तो प्रश्न ही नहीं उठता, उनका 'व्यक्ति' भी अभावाभाव की स्थिति का द्योतक होता था। परन्तु यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि भारतीय काव्यशास्त्र नव्य-नैयायिकों और बौद्धों के चिन्तन से सर्वथा अप्रभावित रहा। पश्चिम में व्यक्तिवाद जिस प्रकार कला और काव्य-सिद्धान्त का आधार बना, भारत में उसके सर्वथा विपरीत काव्यशास्त्र तत्तुल्य सिद्धान्तों से मुक्त था।

अभिनवगुप्त ने तो 'अभिनवभारती' में यहाँ तक कहा कि काव्य में व्यक्ति-विशेष का अनुकरण, अनुकीर्तन या अनुव्यवसाय असंभव है। उनके अनुसार 'कवि के लिए भी नियम व्यक्ति-विशेष के वर्णनीय होने पर अनौचित्य का परित्याग संभव न होने से काव्य ही नही बन सकता है।[1] किन्तु यदि कोई कवि इस प्रकार का अनुचित प्रयास करे भी तो द्रष्टा उससे उदासीन होने के कारण रसास्वाद नहीं कर सकता। स्वयं अभिनवगुप्त के शब्दों में : "इन सभी पक्षों में असाधारणता होने से उसके विषय में द्रष्टा का औदासीन्य होने के कारण रसास्वाद नहीं बन सकता है।"[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य का विषय कभी विशेष या व्यक्ति का नहीं माना गया, इसीलिए, काव्य के साधारणीकरण की समस्या का समाधान करने में संस्कृत काव्यशास्त्रियों को सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी प्रकार की ऐसी, कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा, जैसी पाश्चात्य आलोचकों को हुई थी।

जाति या सामान्य का साधारणीकरण

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में जिस प्रकार व्यक्ति या विशेष का काव्य का विषय मानने की एक विचार-परंपरा है, उसी प्रकार जाति या सामान्य को भी काव्य-विषय मानने की दूसरी परंपरा विद्यमान रही है। स्वयं अरस्तू ने त्रासदी को 'जाति' (स्पीसीज) का अनुकरण कहा है। अरस्तू द्वारा प्रवर्तित यह सिद्धान्त आगे चलकर 'नव्य क्लासिकी' समालोचकों के द्वारा 'सामान्य' की अभिव्यक्ति के रूप में प्रचलित हुआ। नव्य-क्लासिकी समालोचकों की यह धारणा थी कि काव्य में 'जनरल' या 'यूनिवर्सल' अर्थात 'सामान्य' की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। उस चिन्तन में 'जनरल' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता था और जैसा कि विमसाट ने लिखा है, अंग्रेजी आलोचना में 'जनरल' शब्द के प्रचलित एवं संभावित अर्थों की संख्या नौ थी।[3] डॉ. जॉनसन ने शेक्सपियर के नाट्य-चरित्रों की महत्ता का कारण बतलाते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है कि : "अन्य कवियों के चरित्र जहाँ प्राय: व्यक्ति मात्र हैं, शेक्सपियर के चरित्र सामान्यत: 'जाति' है"।[4]

इस प्रवृत्ति के समानान्तर भारत में विचारकों की एक ऐसी परंपरा प्राप्त होती है, जो शब्द का साक्षात संकेत 'जाति' में मानती थी। इन विचारकों में मीमांसक मुख्य थे। मीमांसकों के अनुसार शब्द का संकेत केवल जाति रूप ही है। युक्ति यह है कि 'गो' व्यक्ति परस्पर भिन्न तो हैं किन्तु उन सबका प्राणप्रद सामान्य धर्म 'गोत्व' 'जाति' है। इसी प्रकार शंख, हिम, दुग्ध आदि में जो शुक्ल गुण हैं वे परमार्थत: भिन्न ही हैं किन्तु उन सबका निर्देश हम एक ही सामान्य शब्द 'शुक्ल' से करते हैं। अतएव गुणवाचक शब्द भी जातिवाचक ही है। ऐसा ही क्रियावाचक शब्दों के विषय में भी कहा जा सकता है। मीमांसकों ने संज्ञा शब्दों – यहाँ तक कि व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को भी अपने तर्क से जातिवाचक सिद्ध करके अन्तत: यह मत प्रतिष्ठित किया कि सभी शब्द 'जाति' का ही बोध कराते हैं। निश्चय ही काव्यशास्त्र पर मीमांसकों का प्रभाव रहा है और उल्लेखनीय है कि मीमांसक शब्द की केवल एक शक्ति अभिधा को ही स्वीकार करते थे। संभवत: 'जाति' को शब्द का साक्षात संकेत स्वीकार करने के बाद एकमात्र वाच्यार्थ के अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं रहती। ऐसी स्थिति में सैद्धान्तिक दृष्टि से साधारणीकरण में कोई भी बाधा नहीं उठती। जब काव्य का विषय पहले ही से 'जाति' या 'सामान्य' है और वह सामान्य वाच्यार्थ है तो पाठक को उसे तत्काल ग्रहण करने में किसी प्रकार

---

1. कवेश्च नियतवर्णनीयनिश्चितत्वे काव्यस्यैवासपपत्तेरनौचित्यावर्जनयोगात् अभिनवभारती, भाग 1 पृ. 35
2. सर्वेष्वेतेषु पक्षेष्वसाधारणतया द्रष्टुरौदससीन्ये रसास्वादायोगात्। वही, पृ. 35
3. लिटररी क्रिटिसिज्म : ए शॉर्ट हिस्ट्री, पृ. 331-33
4. In the writings of other poets a character is too often an individaul: in those of Shakespeare it is commonly a species.

(Quoted by W.K. Wimstt. in *The Verbal Icon*. p. 74)

का आयाम न होगा। इस मान्यता के साथ यदि कोई कठिनाई है तो यह कि जिस काव्य का विषय नितान्त 'सामान्य' होगा, वह 'काव्य' न होगा। जिस प्रकार व्यक्ति-विशेष की अभिव्यक्ति में 'काव्य' की संभावना क्षीण हो जाती है, उसी प्रकार जाति-सामान्य की अभिव्यक्ति में भी। एक दृष्टि से 'वैचित्र्य' की सृष्टि होती है तो दूसरी से सपाट इतिवृत्तात्मकता की। इसीलिए भारतीय मीमांसक 'जाति' का संकेतग्रह मानते हुए लक्षणा से 'व्यक्ति' को भी जाति में आक्षिप्त मानने के लिए तत्पर दिखाई पड़ते है।

व्यक्ति-विशिष्ट जाति का साधारणीकरण

इसलिए संतुलित मत यही है कि काव्य का विषय ऐसे व्यक्ति या विशेष को माना जाए जो जाति के गुणों से युक्त होकर जाति या सामान्य का भी द्योतन करे। संस्कृत काव्यशास्त्र शब्द-मीमांसा की जिस दार्शनिक परंपरा पर आधारित था, वह व्याकरण-दर्शन था। व्याकरण-दर्शन शब्द का साक्षात संकेत जात्याति अर्थात जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा चारों को मानता था। इसी आधार पर मम्मट ने स्वीकार किया है कि **'संकेतितश्चतुर्भेदी जात्यादिर्जातिरेव वा'**[1] अर्थात 'संकेतिति जात्यादि' अथवा 'जाति' ही होता है, जिसके चार भेद होते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र जिस व्याकरण-दर्शन पर प्रतिष्ठित था, उसके अनुसार शब्द का संकेत व्यक्ति में न होकर व्यक्ति की उपाधि में होता है। उपाधि का अर्थ है–व्यवच्छेदक धर्म। व्यक्ति में पाए जानेवाले धर्म दो प्रकार के होते हैं। कुछ धर्म व्यक्ति में मूलत: होते हैं, जिन्हें 'वस्तुधर्म' कह सकते हैं। कुछ धर्म हम उस व्यक्ति पर अपनी इच्छा के अनुसार आरोपित करते हैं, जिन्हें 'यदृच्छासंनिवेशित' कह सकते हैं। 'वस्तुधर्म' भी दो प्रकार के होते हैं, कुछ तो 'साध्यमान' होते हैं, जिन्हें सामान्य व्यवहार में 'क्रिया' कहते हैं, और कुछ 'सिद्ध' होते हैं, जिनमें से एक तो उस वस्तु का प्राणप्रद अर्थात उसे व्यवहार की योग्यता देनेवाला होता है, जिसे 'जाति' कहते हैं और दूसरा व्यवहार योग्य व्यक्ति की कुछ विशेषता द्योतित करता है, जिसे 'गुण' कहते हैं। इस प्रकार 'जाति' का धर्म व्यक्ति को व्यवहार-योग्यता देता है तो 'गुण' का धर्म उस व्यक्ति की विशेषता प्रकट करता है। विशेष का अर्थ है – सजातीय से व्यावर्त्तक धर्म। जातिधर्म जिसका सिद्ध हो चुका है, ऐसे व्यक्ति का सजातीय से व्यावर्तन करनेवाला धर्म है – गुण। इसलिए वैयाकरणों के अनुसार जाति और व्यक्ति के अविनाभाव होने के कारण जाति से व्यक्ति का आक्षेप होता है। 'शब्द-व्यापार-विचार' में मम्मट ने इसी मत को स्वीकार किया है।[2]

इस प्रकार जाति तथा व्यक्ति में अविनाभाव होने से जाति द्वारा व्यक्ति आक्षिप्त होता है। इसे मीमांसकों के अनुसार लक्षणारूप माना जाए अथवा वैयाकरणों के मन से अनुमान रूप, किसी प्रकार का मानने पर भी जाति को लौकिक व्यवहार में प्रकट होना है, तो व्यक्ति के माध्यम द्वारा ही प्रकट होना चाहिए। लौकिक व्यवहार भेद-प्रधान होता है, अतएव यहाँ व्यक्ति-भाव को प्राधान्य तथा जाति-भाव को गौणत्व प्राप्त होता है। किन्तु काव्य में व्यक्ति-भाव का प्राधान्य नहीं रहता। काव्य, नाट्य आदि में राम एक व्यक्ति न होकर एक अवस्था का प्रतिपादक होता है: **'धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादि प्रतिपादकः।'** अभिनवगुप्त का कथन है कि : "काव्यादि में केवल वाच्य अवस्था में रामादि का वृत्तान्त ही दिखाई देता है तथा आपातत: वह विशिष्ट देशकालादि से सीमित भी माना जा सकता है, किन्तु परमार्थत: वह व्यक्ति-संबद्ध व्यवहार अपेक्षित ही नहीं रहता। काव्य में इस व्यवहार का साधारणीभाव ही प्राप्त होता है। अतएव काव्यगत व्यवहार की प्रतीति रसिक में भी व्याप्त हो जाती है।"[3] जाति का प्रकटीकरण व्यक्ति द्वारा न हुआ तो लौकिक व्यवहार संपन्न नहीं होता तथा व्यक्ति द्वारा जाति की अर्थात सामान्य की प्रतीति न हुई तो काव्य व्यवहार सम्पन्न नहीं होता। प्रत्येक स्थिति में व्यक्ति और जाति का अविनाभाव अवश्यंभावी है।

संस्कृत काव्यशास्त्र ने इस प्रकार काव्य-विषय के रूप में व्यक्ति-विशिष्ट जाति को स्वीकार करके सैद्धान्तिक स्तर पर 'साधारणीकरण' की संभावना तथा आवश्यकता दोनों ही के लिए पथ प्रशस्त कर दिया। एक ओर व्यक्ति-विशिष्ट जाति ऐकान्तिक रूप से ऐसा व्यक्ति विशेष नहीं है कि उसमें सामान्य होने की संभावना न हो, दूसरी ओर वह ऐकान्तिक रूप से 'जाति' नहीं है कि उसे सामान्य बनाने की आवश्यकता ही न रह जाए। संभवत: इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य शुक्ल ने कहा कि "भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न भिन्न विशेषों के भातर से 'सामान्य' के उद्घाटन की ओर बराबर रही है। किसी-न-किसी 'सामान्य' के प्रतिनिधि होकर ही 'विशेष' हमारे यहाँ के काव्यों में आते रहे हैं।"[4] अन्यत्र उन्होंने जैसे इस कथन को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि : "व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। तात्पर्य यह कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।"[5]

---

१. काव्यप्रकाश 28

२. व्यक्त्यविनाभावत्तु जात्या व्यक्ति: आक्षिप्यते।
ग.त्र्यं. देशपाण्डे द्वारा भा. सा., पृ. 174 पर उद्धृत

३. ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 198

४. चिन्तामणि, भाग 1, पृ. 238

५. वही, पृ. 230

तात्पर्य यह कि संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार साधारणीकरण की संभावना स्वयं काव्य के विषय में ही होती है, पाठक काव्य को ग्रहण करने में इसलिए समर्थ होता है कि काव्य की वस्तु-विशेष सामान्य गुणों से युक्त होती है।

काव्य-वस्तु के 'विशेष' में सामान्यता के निक्षेप के लिए संस्कृत आचार्यों ने एक विधान यह भी किया था कि काव्य-नाट्य में वर्तमान-स्थित व्यक्तियों का चित्रण न किया जाए; क्योंकि वर्तमान में स्थिति व्यक्ति 'स्वालक्षण्य' के कारण अर्थक्रियाकारित्व में समर्थ होते हैं। रामादि पुराकालीन प्रसिद्ध चरित्र पाठक एवं द्रष्टा को इसलिए साधारणवत् ग्राह्य होते हैं कि वे वर्तमान नहीं हैं इसलिए वे अर्थक्रियाकारित्व में समर्थ भी नहीं हैं। विभावादि के साधारणीभाव के लिए अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त युक्ति प्रस्तुत की है।[1] इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए नोली की अतिरिक्त टिप्पणी भी उल्लेखनीय है।[2]

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी संस्कृत काव्यशास्त्रीय व्यक्ति-विशिष्ट जाति के समकक्ष काव्य-विषय के संतुलित स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। विमसाट ने एक निबंध[3] में दिखलाया है कि व्यक्तिवादी और जातिवादी दो एकान्तों के बीच 'मूर्त सार्वभौम' अथवा 'विशिष्ट सामान्य' (कान्क्रीट यूनिवर्सल) की धारणा का क्रमिक विकास पाश्चात्य चिन्तन में भी होता रहा है। वैसे काव्य में 'विशेष' को महत्त्व देनेवाले भी उसी प्रकार 'सामान्य' के अस्तित्व को कुछ-न-कुछ स्वीकार करते थे, जिस प्रकार 'सामान्य' को महत्व देनेवाले 'विशेष' के अस्तित्व को; किन्तु मुख्य प्रश्न था – दोनों को एक निश्चित सिद्धान्त के अन्तर्गत समंजस और संतुलित रूप में संगठित करने का। इसी दृष्टि से विमसाट ने 'मूर्त सार्वभौम' की अवधारणा प्रस्तुत की है, जो स्वयं विमसाट के अनुसार उतनी नवीन नहीं है, जितनी एम्पसन, एलेन टेट, रिचर्ड ब्लैकमर और क्लीन्थ ब्रुक्स के नवीनतम काव्यात्मक विश्लेषणों में पहले ही से अन्तर्निहित है। यदि कोई काव्य-कृति अन्य प्रकार की कृतियों की तुलना में सीधे-सादे अर्थ में अधिक विशेष अथवा अधिक सार्वभौम नहीं होती तो संभावना यही है कि वह ऐसा विशेष अथवा ऐसा अर्थ-संकर है, जिसका संबंध सार्वभौमों के संसार से विशेष प्रकार का होता है। इस प्रसंग में विमसाट ने अप्रत्याशित रूप से रस्किन की 'माडर्न पेण्टर्स' नामक पुस्तक से एक उद्धरण दिया है जिसमें रेनॉल्ड्स के 'आइडलर्स' की आलोचना करते हुए रस्किन कहते हैं कि : "कविता इतिहास के इसलिए भिन्न नहीं है कि उसमें ब्यौरों का अभाव होता है अथवा कुछ और ब्यौरे अतिरिक्त रूप से जोड़ लिए जाते हैं। या तो स्वयं उन ब्यौरों की प्रकृति में ही कुछ ऐसा होता है अथवा उनके प्रयोग की पद्धति ही ऐसी होती है, जिनके कारण उन्हें काव्यात्मक शक्ति प्राप्त हो जाती है।" कथन की व्याख्या करते हुए विमसाट कहते हैं कि : "ब्यौरों का काव्य-गुण उसमें नहीं होता जो वे प्रत्यक्षत: वाच्यार्थ रूप में कहते हैं, बल्कि उस क्रम व्यवस्था में होता है जिसके द्वारा वे प्रच्छन्नत: प्रदर्शित करते हैं।"[4]

'मूर्त सार्वभौम' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए विमसाट ने आगे अंग्रेजी कवि बेन जॉनसन का यह उद्धरण दिया है : "कोई कृति दो प्रकार से विचारणीय होती है : या तो वह केवल पृथक् होने के कारण स्वनिष्ठ होती है : या फिर अनेक अंगों के द्वारा निर्मित होने के कारण जैसे-जैसे वे अंग परस्पर संश्लिष्ट और विकसित होते जाते हैं, वह एक होने की ओर उन्मुख होती है।"[5] ब्यौरों का यह जटिल विन्यास ही किसी काव्यकृति को सर्वोच्च मात्रा में 'विशिष्ट' बनाता है और इस विशिष्टता का दूसरा नाम मूर्त सार्वभौम है।

नाटक, प्रबंधकाव्य तथा उपन्यास में 'मूर्त सार्वभौम' का रूप जटिल चरित्रों के रूप में पाया जाता है, जिसे ई. एम. फ़ार्स्टर ने 'राउण्ड कैरेक्टर' की संज्ञा प्रदान की है। सपाट चरित्र की तुलना में 'जटिल चरित्र' इसलिए सार्वभौम नहीं होता कि उसमें संख्या की दृष्टि से अधिकाधिक विशेषताएँ होती हैं, बल्कि 'जटिल चरित्र' में परस्पर विरोधी विशेषताओं का विशेष प्रकार से संश्लेषण होता है। उदाहरण के लिए फ़ाल्सटाफ़ कायरता, व्यभिचार आदि अनेक दुर्बलताओं से युक्त होते हुए जिस प्रकार की आत्म सजगता का परिचय देता है, वह उसकी दुर्बलताओं को भी एक विशेष प्रकार का रंग दे देती है और अंतत: वह एक अत्यन्त जटिल चरित्र के

---

1. एतादृशं ते रामादयो न कदाचन प्रमाणपथमवार्यन्ते यदाऽऽगमेन वर्ण्यन्ते। तदा तद्विशेषबुद्धि: यद्यपि रामायणप्रायादेकस्मान्मदाद्वाक्यादवद्यसति, तथापि वर्तमानतयैव विशेषाणां सम्भाव्यमानार्थक्रियासामर्थ्यात्मकसालक्षण्यपर्यवसानात्। न च तेषां वर्तमानतेत्युवगता तावद्विशेषबुद्धि: काव्येष्वपि हृदयमेव तावत्साधाणीभावो विभावादीनां जाता।

   अभिनवभारती, भाग 1, पृ. 35

2- The perception of the particular names and shapes of Rama, etc. (therefore of their qualifications of time, space etc.) does not involve that they cannot be perceived in a generalized form, a personality, etc., inserts itself into our practical life (develops, so to say, this casual efficiency) only when it is contemporary with us, i.e., connected with the present and therefore with the practical interests, etc., of our own Ego. When these personalities are not contemporary they connot develop their natural casual efficiency. In the aesthetic perception, they are independent from the concepts both or reality and non-reality and are thus perceived as 'generalised'. In this sense their particularity (विशेष) is not contrasting with the concept of generality.
   The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta, p. 111.

3. *'The Concrete Universal', PMLA LXII, March 1947. Later included in his book "The Verbal Icon".* Pp. 68-83.

4. The poetic character of details consists not in what they say directly and explicitly but in what by their arrangement they show implicitly. The verbal Icon, p. 77.

5. One is considerable two wais : either as it is only separate, and by itself, or as being composed of many parts it beginnes to be one as those parts grow or are wrought together. (Quoted by Wimsatt in The Verba Icon, p. 77)

रूप में हमारे सामने आता है। विमसाट के 'मूर्त सार्वभौम' का दूसरा रूप है 'मेटाफ़र' या रूपक, जो समकालीन पाश्चात्य काव्य-समीक्षा की सर्वाधिक चर्चित और प्रधान अवधारणा है। यों तो भाषा-मात्र रूपकधर्मी कही जाती है। किन्तु काव्य में 'रूपक' का विशेष प्रयोग होता है। रूपक प्रकृत्या एक मिश्रित एवं जटिल 'पदार्थ' है, जो आपाततः दो पदार्थों के सादृश्य का संकेत देते हुए अधिक सामान्यतः तृतीय पदार्थ की व्यंजना करता है। इसका आधार अरस्तू द्वारा निरूपित 'भिन्नता में एकता' का सिद्धान्त है। इसी की व्याख्या करते हुए कोलरिज ने कहा है कि "कोई कृति उसी मात्रा में समृद्धि होती है जिस मात्रा में वह विविध अंगों को एकता प्रदान करती है।"[1] स्पष्ट ही यह विशेषता 'रूपक' में पाई जाती है। विमसाट ने इसी दृष्टि से काव्य में रूपक की प्रशस्ति की है।[2]

इस प्रकार 'जटिल चरित्र' तथा रूपक के उदाहरणों से विमसाट ने 'मूर्त सार्वभौम' की अवधारणा का स्वरूप स्पष्ट किया है। काव्यनिष्ठ 'मूर्त सार्वभौम' अपने जटिल संघटनात्मक विन्यास के कारण विशिष्ट होते हुए भी पाठक के मस्तिष्क में अर्थ-वृत्तों की परंपरा की सृष्टि करता है जो उसकी व्यापकता और सार्वभौमिकता का सूचक है। जैसे किसी जलाशय में फेंकी हुई कंकड़ी क्रमशः वृत्तों की परंपरा निर्मित करती है, उसी प्रकार काव्य-कृति भी पाठक के मस्तिष्क में अर्थ-वलय का निर्माण करती है।[3] यह कलाकृति की विशिष्टता के साथ ही सार्वभौमिकता का भी द्योतक है।

विशेष चरित्र में निहित सार्वभौम के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए पाश्चात्य साहित्य-समीक्षा में 'टाइम' के सिद्धान्त की स्थापना की गई है। हंगरी के प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक जार्ज लूकाज ने यथार्थवाद के संदर्भ में 'टाइम' सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए लिखा है कि : "यथार्थवाद इस तथ्य का प्रत्यभिज्ञान है कि साहित्यिक कृति, जैसा कि कुछ प्रकृतवादी समझते हैं, न तो निर्जीव औसत पर निर्भर है और न ऐसे व्यक्ति-सिद्धान्त पर जो अपने 'स्व' को शून्य में विलीन कर दे। यथार्थवादी साहित्य का मूल निकष और विचार-श्रेणी 'टाइप' है : एक ऐसा अनूठा संश्लेषण जो चरित्रों और स्थितियों, दोनों ही क्षेत्रों में सामान्य और विशेष को आव्यविक रूप से संयोजित करता है। 'टाइप' को जो 'टाइप' बनाता है, वह उसका औसत गुण नहीं है, और न उसकी केवल व्यक्ति-सत्ता ही है, भले ही उसकी संकल्पना कितने ही गहरे स्तर पर क्यों न की गई हो। उसे 'टाइप' बनाने वाला तत्त्व वह है, जो उसमें मानवीय तथा सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण उन समस्त विभाजक पदार्थों को उसके विकास के सर्वोच्च रूप में प्रस्तुत करता है और फिर उनमें निहित संभावनाओं को अन्ततः उद्घाटित करता है; इस प्रकार वे युगों और मनुष्यों के शिखरों और सीमाओं को मूर्तिमान करते हुए अपने चरम रूप में अभिव्यक्त होते हैं।"[4]

जार्ज लूकाच का 'टाइप' एक 'निर्जीव औसत' से भिन्न है तो दूसरी ओर एकान्त व्यक्ति से; वह विशेष और सामान्य का अनूठा संश्लेषण है, वह केवल प्रस्तुत वर्तमान ही नहीं बल्कि समस्त मानवीय एवं सामाजिक संभावनाओं से युक्त है। उनका 'टाइप' संपूर्ण परिस्थितियों के संदर्भ में परिभाषित होनेवाले संपूर्ण मानव है। इस प्रकार एक ओर वह परिस्थिति और मानव के द्वन्द्वात्मक संबंध का प्रतीक है तो दूसरी ओर सामान्य और विशेष के द्वन्द्वात्मक संश्लेषण की परिणति है। ऐसा 'टाइप' यदि काव्य का विषय होता है तो पाठकों के लिए उसका साधारणीकरण निश्चित है। तात्पर्य यह कि किसी काव्य-कृति के संप्रेषण एवं ग्रहण के लिए स्वयं काव्य-विषय में ही 'साधारण्य' की संभावनाओं का विद्यमान होना आवश्यक है।

पाश्चात्य साहित्य में आधुनिक युग के 'बिम्बवादी' कवियों ने भी 'बिम्ब' की ऐसी ही संकल्पना की थी जो वस्तुगत दृष्टि से विशेष होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से सामान्य को व्यंजित करने की क्षमता रखता है। एज़रा पाउंड ने जिन चीनी 'भाव-चित्रों' (आइडियोग्राम्स)

---

1. A work of are is rich in proportion to the variety of parts which it holds in unity. Ibid., p. 81.
2. Metaphor combines the element of necessity or universality (the prime poetic quality which Aristotle noticed) with that other element of concreteness of specificity which was implicit in Aristotle's requirement of mimetic object ..... It is only in metaphor, and hence it is par excellence in poetry, that we encounter the most radically and relevantly fused union of the detail and the universal idea ..... Metaphor is the universal amber for the preservations and enhancement of the scraps and trifles of historic fact ..... Metaphors are poetry's permanent and necessary conclusions drawn from variable and contingent premises. Other universals are abstract and to that extent a priori, even tautological. (A rose is a rose .....) Metaphor is a substantive – or a mock – substantive universal . Literary Criticism : A Short History, pp. 749-50.
3. A good story poem is like a stone thrown into a pond, into our minds, whenever widening concentric circles of meanings go out – and this because of structure of story. The Verbal Icon, p. 81
4. Realism is the recognition of the fact that a work of literature can rest neither on a lifeless average, as the naturalists suppose, nor as an individual principle which dissolves its own self into nothingness. The central category and criterion and of realist literature is the type, a particular synthesis which originally binds together the general and particular both in characters and situations. What makes a type a type, is not its average quality, not its mere individual being, however profoundly conceived, what makes it a type is that in it all the humanly and socially essential determinants are present on their highest level of development, in the ultimate unfolding of the possibilities latent in them in extreme presentation of their extremes, rendering concrete the peaks and limits of men and epochs. Studies in European Realism, Tr. Edith Bone, p. 6.

के आधार पर बिम्ब सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की थी, वह रूप और भाव के इसी विशेष सामान्य का संश्लिष्ट भाव चित्र है।[1] इसलिए व्यवहार में 'बिम्बवादी' कविताएँ अपने व्यक्ति वैचित्र्य के कारण भले ही असंप्रेष्य रही हों किन्तु उनमें निहित काव्य सिद्धान्त सामान्यगर्भी विशेष का प्रतिष्ठापक था; इसलिए सिद्धान्ततः 'बिम्ब' में ग्रहण की समस्त संभावनाएँ विद्यमान थीं।

काव्यगत भावों का साधारणीकरण

काव्य विषय के अंतर्गत व्यक्तियों एवं वस्तुओं के अतिरिक्त संवेग आदि भी समाविष्ट हैं, अन्तर इतना ही है कि काव्य में संवेगों की सीधी अभिव्यक्ति संभव नहीं है, इसलिए मूर्त व्यक्तियों और वस्तुओं के माध्यम से ही संवेगों को संप्रेष्य बनाया जाता है। इसी को संस्कृत काव्यशास्त्र में इस प्रकार कहा गया है कि भाव काव्य में कभी स्वशब्दवाच्य नहीं होता, इसलिए स्वशब्दवाच्य आलम्बन आदि विभागों के द्वारा ही भावों की व्यंजना की जाती है। प्रश्न यह है कि काव्य विभावों के समान भावों में भी साधारण्य की संभावना किस रूप में विद्यमान होती है? क्या विभावों के समान भाव भी विशेष और सामान्य के संश्लिष्ट रूप होते हैं?

संस्कृत काव्यशास्त्र में भाव के अन्तर्गत स्थायी, संचारी एवं सात्त्विक तीन प्रकार के भावों की गणना की जाती है। कुछ विद्वानों के अनुसार भावों का यह वर्गीकरण संगीत शास्त्रीय 'स्थायी' और 'अन्तरा' के आधार पर किया गया है। यदि यह व्याख्या सही है तो अन्य भावों के साथ स्थायी का वही संबंध है जो विशेषों के साथ सामान्य का होता है। जिस प्रकार काव्यगत चरित्रों और बिम्बों में अनेक छोटे छोटे व्यौरों के बीच एक सामान्य तत्त्व अन्तर्निहित रहता है उसी प्रकार काव्यगत भावों में भी अनेक संचारियों के मध्य एक स्थायी की सत्ता स्वीकार की जा सकती है। इस प्रकार स्थायी भाव प्रकृत्या 'सामान्य' ही होते हैं। सामान्य होने के कारण ही स्थायी भावों के साधारणीकरण की समस्त संभावना उनकी प्रकृति में ही विद्यमान है। संभवतः इसीलिए साधारणीकरण के संदर्भ में स्थायी भावों का उल्लेख नहीं किया जाता। संस्कृत के आचार्य जब 'विभावादि' के साधारणीकरण की चर्चा करते हैं तो 'आदि' के अंतर्गत विभाव के अतिरिक्त अनुभाव और संचारी भाव ही आते हैं। 'विभावादि' में 'आदि' का तात्पर्य क्या है इस पर स्पष्ट रूप से न तो भट्टनायक ने ही कुछ कहा है, न अभिनवगुप्त ने ही; किन्तु भरत मुनि के सूत्र **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'** के आलोक में विद्वानों ने 'विभावादि' का अर्थ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव ही लगाया है, जो सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है।[2] साधारणीकरण का अर्थ ही है – असाधारण का साधारण होना। इस दृष्टि से विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव ही असाधारण अथवा विशेष से संबलित होते हैं, इसलिए असाधारणता को साधारण रूप देने का प्रश्न केवल उन्हीं के संदर्भ में उठता है। काव्यशास्त्र में जिन्हें स्थायी भाव की संज्ञा दी गई है, वे पहले ही से 'साधारण' हैं, इसलिए उन्हें साधारणीकृत करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

स्थायी और संचारी भावों की अपनी अपनी प्रकृति तथा उनके पारस्परिक संबंध पर प्रकाश डालते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि : "स्थायी भाव इतने ही (अर्थात नौ ही) होते हैं; क्योंकि उत्पन्न हुआ प्राणी इतनी ही वासनाओं से युक्त उत्पन्न होता है। ..... इन चित्तवृत्तियों के संस्कारों से रहित कोई भी प्राणी नहीं होता है। केवल किसी प्राणी की कोई चित्तवृत्ति अधिक होती है और किसी की कुछ कम होती है; किसी की उचित विषय में नियंत्रित होती है और किसी की इसके विपरीत। ..... और ये जो ग्लानि, शंका आदि रूप विशेष प्रकार की व्यभिचारिभावात्मक या अस्थायी चित्तवृत्तियाँ हैं, वे अपने योग्य विभावादि के अभाव में जन्म के भीतर भी सदा विद्यमान नहीं होतीं। कारणों के द्वारा जिसमें कुछ समय के लिए ये होती भी हैं तो उसमें भी कारणों के दूर हो जाने पर नष्ट हो जाती हैं। यह नहीं होता कि ये संस्कार रूप से शेष रह जाएँ। इसके विपरीत उत्साह आदि स्थायी भाव अपने आवश्यक कार्य को समाप्त कर चुकने से विलीनप्राय हो जाने पर भी संस्कार रूप से अवश्य विद्यमान रहते हैं क्योंकि अन्य कार्यों के विषय में उत्साह आदि की समाप्ति तो नहीं होती है। ..... इसलिए स्थायी भाव रूप चित्तवृत्ति के सूत्र में बँधे हुए ही ये व्यभिचारी भाव उदय अस्त रूप अनेक विचित्रताओं से युक्त अपने स्वरूप को प्राप्त कर लाल नीले आदि डोरों में पिरोये हुए अलग अलग रूप से पाए जाने के कारण, सहस्रों भेद संभव होने से, स्फटिक, काँच, अभ्रक, पद्मराग, मरकत और महानील आदि मणियों के दानों के समान उस स्थायी भाव रूप सूत्र में अपने विचित्र संस्कारों का समावेश न करते हुए भी, उस सूत्र के द्वारा किए जाने वाले अनेक उपकारों को धारण करके स्वयं अपने को और विचित्र अर्थ वाले उस स्थायी सूत्र को भी नाना रूप में प्रकट करते हुए और बीच बीच में कहीं कहीं उस शुद्ध स्थायी सूत्र को भी प्रकाशित होने का अवसर प्रदान करते हुए भी आगे पीछे के व्यभिचारी भाव रूप रत्नों को छाया से मिश्रित रूप दिखलाते हुए प्रतीत होते हैं।"[3]

---

1. एज्रा पाउण्ड : द चायनीज़ राइटिंग केरेक्टर एज़ ए मीडियम फ़ॉर पोएट्री, न्यूयॉर्क, 1919
2. प्रेमस्वरूप गुप्त : रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ 153-58
3. स्थायित्वं चैतावतामेव जातस्य हि चित्तवृत्तयोभिः सर्वदाभिः परितो भवति। ..... न हि एतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति। केवलं कस्यांचित्कांचिदभिव्यक्तिं चित्तवृत्तिः कांचिदना।

कस्यांचिदुचितविषयनियन्त्रितः, कस्यांचिदन्यथा। ..... ये पुनर्मी ग्लानिशंकाप्रभृतयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते सम्मूर्छितविभावाभावाज्जन्यमध्येऽपि न लक्ष्यन्ते। ..... यद्यपि भवन्ति विषयवलात्क्वापि हेतुप्रक्षये क्षीयमाणाः संस्कारशेषतां नावतं नावश्यमनुबध्नन्ति। उत्साहादयस्तु सम्पादितस्वकर्तव्यतया प्रलीनकल्पा अपि संस्कारशेषतां नातिवर्तन्ते। कर्तव्यान्तरविषयव्याक्षेपादेरनुद्बोधात्।.....तस्मात् स्थायिरूपाश्चित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एतामी व्यभिचारिणः स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रा-माणं प्रतिलभमाना स्फटिकादिमणिवत्स्वात्मविरलभावोपलम्भनसम्भाविभेदसहस्रगर्भस्फटिककाच अभ्रक पद्मराग मरकत महानीलादिमयगोलकवत् तस्मिन् सूत्रे स्वसंस्कारवैचित्र्यमनादेयन्नपि तत्सूत्रकृत्पुण्यकरसन्दर्भ विभ्रत्; स्वयं च विचित्रार्थस्यायिसूत्रं च विचित्र यन्तोऽन्तरान्तरा शुद्धमपि स्थायिसूत्रं प्रतिभासात्मकत्वमुपनयन्नपि पृथग्परव्यभिचारिरत्नच्छायाशबलितमनवरयनानयन्; प्रतिभासत्व इति। अभिनवभारती, भाग 1, पृ. 282-83

इस प्रकार अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित स्थायी भाव प्रकृत्या सार्वभौम होने के कारण साधारण्य की संभावना से युक्त होते हैं।

यदि भाव का अर्थ 'कवेरन्तर्गतं भावम्' लिया जाए तो यह प्रश्न अवश्य उठता है कि स्थिति-विशेष में कवि को जो विशेष प्रकार के 'भाव' का अनुभव होता है, वह पाठक के लिए किस प्रकार ग्राह्य होता है? अभिनवगुप्त के अनुसार कवि का अन्तर्गत भाव चित्तवृत्ति रूप होते हुए भी कवि का व्यक्तिगत मनोविकार नहीं होता। **"शोकः श्लोकत्वमागतः"** की व्याख्या करते हुए 'ध्वन्यालोकलोचन' में अभिनवगुप्त कहते हैं कि **'न तु मुनेः शोकः इति मन्तव्यम्।'**[1] अर्थात श्लोक-रूप में परिणत होनेवाला यह शोक मुनि का व्यक्तिगत मनोविकार नहीं है। इसी बात को और भी स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने अन्यत्र कहा है कि कवि का अन्तर्गत भाव लौकिक विषयों से उत्पन्न हुआ नहीं होता, बल्कि अनादि-प्राक्तनसंस्कार रूप तथा प्रतिभानमय अथवा प्रतिभा से प्रकाशमान काव्यार्थ है।[2] स्पष्ट है कि कवि का यह भाव यदि उसका व्यक्तिगत मनोविकार नहीं, बल्कि प्रतिभा से प्रकाशित काव्योपम 'भाव' है तो उसकी सत्ता निर्वैयक्तिक एवं वस्तुनिष्ठ हो जाती है। और इस प्रकार वह कवि का अन्तर्गत भाव होते हुए भी सामान्य पाठक के लिए ग्राह्य हो जाता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र की भाव संबंधी इस वस्तुनिष्ठ परिकल्पना के सदृश पाश्चात्य समीक्षा में तत्संबंधी विचार सुलभ होते हैं। काव्य में निर्वैयक्तिकता के प्रबल समर्थक टी. एस. इलियट ने बार-बार बल देकर यह बात कही है कि काव्य कवि के व्यक्तिगत संवेगों या मनोविकारों की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि उनसे पलायन है। एक निबंध में मिडिल्टन नामक लेखक की प्रशंसा करते हुए इलियट कहते हैं कि मिडिल्टन में मानव-प्रकृति का वही निर्वैयक्तिक और निर्विकार पर्यवेक्षण पाया जाता है।[3] अन्यत्र फ्रांसीसी कवि पाल बैलेंरी की 'ल सर्पेण्ट' नामक काव्य-पुस्तक की भूमिका में इलियट पुनः कहते हैं कि "महान कला निर्वैयक्तिक होती है, इस अर्थ में कि व्यक्तिगत संवेग और व्यक्तिगत अनुभव विस्तृत होकर एक प्रकार के निर्वैयक्तिक में पूर्णता प्राप्त करते हैं, इस अर्थ में नहीं कि व्यक्तिगत अनुभव तथा मनोविकार से वे विच्छिन्न हो जाते हैं।"[4]

निश्चय ही काव्यगत भावों की यह निर्वैयक्तिकता 'साधारण्य' अथवा 'सामान्य' की सूचक है। पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन में संस्कृत काव्यशास्त्र के समान 'स्थायी भाव' जैसी किसी शास्त्रीय संकल्पना का निर्माण तो नहीं हुआ, किन्तु आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में उस दिशा में प्रयास करने की प्रवृत्ति अवश्य दिखाई पड़ती है। सूज़न लैंगर ने 'रिफ़्लेक्शन्स ऑन आर्ट' (1958) नामक पुस्तक में जर्मन विचारक ओटो बाएन्श (Otto Baensch) का 'कला और अनुभूति' (आर्ट एण्ड फ़ीलिंग)[5] शीर्षक एक निबंध प्रकाशित किया है, जिसमें उक्त लेखक ने 'वस्तुगत अनुभूति' (आब्जेक्टिव फ़ीलिंग) की स्थापना की है। बाएन्श के अनुसार : "वस्तुगत अनुभूतियाँ हमसे पृथक नितान्त वस्तुगत सत्ता रखती है और वे किसी भी चेतन प्राणी की आन्तरिक अवस्थाएँ नहीं होतीं। किन्तु ये वस्तुगत अनुभूतियाँ अपने-आप स्वतंत्र स्थिति में घटित नहीं होतीं। वे सदैव वस्तुओं में अन्तर्निहित और मूर्तिमान रहती हैं और उनसे किसी प्रकार अलग नहीं की जा सकती। वस्तुगत अनुभूतियाँ सदैव वस्तुओं के निर्भर अंग हैं।" जहाँ तक उन अनुभूतियों के ग्रहण करने का प्रश्न है, बाएन्श के अनुसार : "परोक्ष विधि के अतिरिक्त उन्हें ग्रहण करने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। परोक्ष विधि का अर्थ है, उन्हें ऐसी घटनाओं से संबद्ध करना जो उन्हें अपने अन्दर सन्निविष्ट करने के साथ वहन करने में भी समर्थ हों, ताकि उन घटनाओं का स्मरण दिलाते हुए किसी को भी उन संवेगात्मक गुणों का अनुभव हो जाए"। इन वस्तुगत अनुभूतियों को सार्वभौम रूप में सुलभ करने के प्रश्न का उत्तर देते हुए उसी लेखक ने आगे यह कहा है कि : "उन्हें वहन करने में समर्थ वस्तुओं के निर्माण के माध्यम से ही उन्हें किसी की चेतना के लिए ग्राह्य बनाया जा सकता है: ये निर्मित वस्तुएँ ही वस्तुतः 'कलाकृतियाँ' हैं।"

बाएन्श की 'वस्तुगत अनुभूतियों' की परिकल्पना पर टिप्पणी करते हुए सूज़न लैंगर ने कहा है कि : "ऐसी अनुभूति जो किसी जीवित प्राणी में न हो किन्तु जो इस विश्व की विषय-वस्तु के रूप में वर्तमान हो ..... वह निश्चय ही एक अनूठी खोज है; फिर भी यह उस विचार-परंपरा का सूत्रपात है जिससे अनुभूति की सार्वभौम प्रतीति की समस्या का समाधान संभव हो सका।"[6]

दूसरी ओर क्रिस्टोफ़र कॉडवेल ने काव्य की संप्रेषणीयता की व्याख्या करने के लिए 'सामूहिक संवेग' (कलेक्टिव इमोशन) का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है उनके मत से : "कविता एक सामूहिक भाव की अभिव्यक्ति होने में सक्षम है।"[7] सामूहिक भाव की व्याख्या करते हुए कॉडवेल ने आगे कहा कि : "ये भाव सामूहिक रूप से उत्पन्न होते हैं किन्तु एकान्त में भी अवशिष्ट रहते हैं; यहाँ तक कि एक अकेला व्यक्ति भी कोई गीत गाते हुए सामूहिक बिम्बों के द्वारा अपने संवेग का उद्रेक अनुभव करता है। कला का यह

---

1. ध्वन्यालोक, पृ. 88
2. कवेः वर्णनानिपुणस्य यः अन्तर्गतः अनादि प्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयः न तु लौकिकविषयजः .....। अभिनवभारती, भाग 1, पृ. 345
3. सेलेक्टड एसेज, पृ. 167
4. प्रीफ़ेस टु 'ल सर्पेण्ट'
5. 'Kunst and Gefuhl' Logos, Vol. XII (1923-24), pp. 1-28
6. रिफ़्लेक्शनं ऑन आर्ट, भूमिका, पृ. 12
7. इल्यूजन एण्ड रियेलिटी, पृ. 23

रोधाभास है कि मनुष्य अपने साथियों से पलायन करके कला के संसार में विश्रान्ति प्राप्त करते हुए भी मानवता के रागात्मक और गहरे स्तर पर साहचर्य स्थापित करता है। एक बार द्रवणशील हो जाने के बाद काव्य-कला का सामूहिक संवेग नितान्त वैयक्तिक और निजी संप्रेषण को भी व्यापृत करने में समर्थ होता है। ..... इस प्रकार कला का संसार सामाजिक संवेग का संसार है – शब्द और बिम्ब सर्वजन के जीवन-अनुभवों के परिणाम होते हैं और संवेगात्मक अनुषंग भी सार्वजनिक निधि के रूप में उत्पन्न होते है और जैसे-जैसे सामाजिक जीवन में जटिल विस्तार आता है, इन संवेगों की भी जटिलता बढ़ती जाती है।"

इस प्रकार कॉडवेल ने 'सामूहिक संवेग' की परिकल्पना के द्वारा काव्य में निहित एक ऐसे भाव की सत्ता की ओर संकेत करने का प्रयास किया है जो कवि के व्यक्तिगत संवेग से भिन्न तथा विशिष्ट है।

वाएन्श की 'वस्तुगत अनुभूति' और कॉडवेल का 'सामूहिक संवेग' प्रकारान्तर से काव्यगत भाव के उसी स्वरूप की व्याख्या करने के प्रयास हैं, जिन्हें संस्कृत काव्यशास्त्र में 'स्थायी भाव' की संज्ञा दी गई है। स्थायी भावों की स्थापना के मूल में इस बात का प्रयास है कि उस भावात्मक तत्त्व का निर्देश किया जाए जो काव्य-निबद्ध विशिष्ट अनुभूति की सर्वव्यापी या सामूहिक अनुभूति का आधार है। मानव-मात्र में वासना या संस्कार-रूप में कुछ ऐसे भाव निहित रहते हैं कि वह अनायास ही विशेष घटनाओं और परिस्थितियों के प्रति विशेष प्रकार की भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। परिस्थिति या घटना-विशेष के प्रति एक सामान्य भावात्मक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति मानव का विषयिगत गुण है या वस्तु का वस्तुगत गुण, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। स्पष्ट ही कॉडवेल और भारतीय विचारक इसे चित्तवृत्ति रूप मानते हैं और बाएन्श वस्तुगत। सरसरी दृष्टि से बाएन्श की बात सर्वथा अनर्गल प्रतीत हो सकती है क्योंकि अनुभूति या भाव चेतना का गुण है। परन्तु साथ ही उनकी बात यों ही उड़ा देने की नहीं है, क्योंकि यह भी सत्य है कि अनुभूति के अनुभव के लिए वस्तु तत्त्व अनिवार्य है। अनुभवकर्ता के रहने या न रहने पर भी कला-वस्तुओं में एक विशेष प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करने का गुण वर्तमान रहता है, जबकि घटना या परिस्थिति के अभाव में मानव के चेतनायुक्त होते हुए भी भाव की उत्पत्ति नहीं होती। जितना सहृदय पाठक के लिए सवासन और संवेदनशील होना अनिवार्य है, उतना ही कलावस्तु के लिए भावोद्‌बुद्धि में सक्षम् या समर्थ होना। इसके अतिरिक्त सहृदय काव्यनिबद्ध भाव की ही अनुभूति करता है, आत्मस्थ स्वतंत्र या निरपेक्ष भाव की नहीं। बाएन्श के सामने समस्या यही थी कि इस विभावबद्ध भाव की व्याख्या वे किस प्रकार करें। क्योंकि कला में विभाव के अभाव में (भले ही विभाव व्यंजित हो) भाव की सत्ता नहीं होती अतः जिस समस्या का भारतीय मनीषियों ने विभाव और भाव के विभाजन से सुलझा लिया था, उसे उन्होंने 'वस्तुगत अनुभूति' कहकर विरोधाभास को जन्म दिया। भारतीय काव्यशास्त्र में इस विषय में कोई द्विधा नहीं थी काव्य में विभावित भाव रचयिता का व्यक्तिगत मनोविकार न होकर एक प्रकार की अलौकिक तथा अधिक तर्क सम्मत शब्दावली में काव्यगत अनुभूति (पोएटिक इमोशन) होता है, जो कवि का प्रतिभानमय भाव होता है। अन्तर केवल इतना है कि इस काव्य-निबद्ध अनुभूति को उन्होंने भाव कहा और अनुभूति के आधार को विभाव और बाएन्श ने इसी विभावित भाव को 'वस्तुगत अनुभूति।' अन्तर इतना है कि जो अवधारणा संस्कृत काव्यशास्त्र में सर्वसम्मति से मान्य हो गई, वह पाश्चात्य काव्यशास्त्र में केवल कुछ विचारकों द्वारा प्रस्तुत व्यक्तिगत मान्यता-मात्र होकर रह गई। इसीलिए पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र में संवेगों के स्तर पर प्रेषणीयता की समस्या को सैद्धान्तिक दृष्टि से सुलझाने के लिए किसी सर्वमान्य अवधारणा का निर्माण अभी तक न हो सका।

साधारणीकरण और काव्यात्मक भाषा

काव्य के सम्यक संप्रेषण के लिए विभावादि में साधारण्य की क्षमता का होना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि विभावादि का काव्यात्मक भाषा में व्यक्त होना भी आवश्यक है। संप्रेषण के लिए काव्यात्मक भाषा का महत्व भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही काव्यशास्त्रीय परंपराओं में स्वीकार किया गया है। साधारणीकरण का स्पष्ट उल्लेख करने वाले प्रथम संस्कृति आचार्य भट्टनायक ने इस प्रसंग में भाषा की काव्यात्मकता का प्रश्न उठाया है। रसानुभूति के लिए उन्होंने अन्य शब्दों से विलक्षण 'काव्यात्मक शब्द'[1] को आवश्यक माना है। काव्यात्मक शब्द में भी उन्होंने विशेष रूप में 'भावकत्व' व्यापार को विभावादि के साधारणत्व का संपादक कहा है।[2] भट्टनायक के अनुसार यह भावकत्व व्यापार वाच्यविषयक अभिधायक अथवा अभिधा व्यापार से विलक्षण होता है।[3] अभिनवगुप्त, जो भट्टनायक के भावकत्व व्यापार को आनंदवर्धन द्वारा प्रतिष्ठित ध्वनि अथवा व्यंजना-व्यापार के अंन्तर्गत समाविष्ट करने का प्रस्ताव करते हैं, साधारणीकरण के लिए 'भावकत्व' की आवश्यकता का निषेध नहीं करते; क्योंकि वह समुचित-गुणालंकार-परिग्रहात्मक है[4] और रस-काव्य किसी भी प्रकार समुचित गुण और अलंकार का परित्याग नहीं कर सकता। जो हो, भट्टनायक के अनुसार उसे चाहे 'भावना' कहें अथवा अभिनवगुप्त के अनुसार 'व्यंजना', विभावादि को साधारणीकृत रूप देने के लिए काव्यात्मक भाषा का उपयोग आवश्यक है। संस्कृत आचार्यों के अनुसार केवल अभिधा के सहारे विभावादिकों को वाच्यार्थ-प्रतीति कराने से उसका लौकिक

---

1. किं त्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य .... । ध्वन्यालोक-लोचन, पृ 193
2. तच्चैतद्‌भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीना साधारणत्वापादनं नाम। ध्वन्यालोक-लोचन, पृ. 193
3. तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः; यद्वशादभिधा विलक्षणैव। वही, पृ. 193
4. भावकत्वमति समुचितगुणालंकारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। वही, पृ. 199

रूप ही दृष्टिगोचर होता है, जो रस-प्रतीति के सर्वथा अनुपयुक्त है। अभिनवगुप्त ने अन्यत्र इसी बात को कालिदास-कृत 'अभिज्ञान शाकुंतल' के 'ग्रीवाभंगाभिरामं' छंद का उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया है कि समर्थ काव्य-भाषा के द्वारा यहाँ भयाक्रान्त-कल्प बिम्ब-ग्रहण होता है।[1] यह बिम्ब ग्रहण भाषा के काव्यात्मक सामर्थ्य के ही कारण संभव हो सका है। समर्थ भाषा के अभाव में न तो भयभीत मृग का कोई रूप हमारे सामने आता और इस प्रकार न ही उसका साधरणीकरण होता। संभवत: इसीलिए संस्कृत आचार्यों ने नाट्य में भी काव्य-तत्त्व पर इतना बल दिया है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में अनेक विचारकों ने 'त्रासदी' के संदर्भ में भाषा की काव्यात्मकता का महत्व रेखांकित किया है जो प्रकारान्तर से नाट्क मात्र के विषय में लागू होता है। जार्ज संटायना ने तो यहाँ तक कहा है कि : "विषय नहीं बल्कि कलात्मक निर्वाह ही त्रासदी को त्रासदी का गौरव देता है।"[2] जेरोम स्टोलनित्ज ने हैमलेट के स्वगत कथनों की ओर संकेत करते हुए कहा है कि काव्यात्मक गुण के ही कारण त्रासदी में हमारी रुचि बनी रहती है। और इसी गुण के कारण वह हमें दु:खद प्रतीत नहीं होती।[3] भाषा की काव्यात्मकता में वह सामर्थ्य है कि अप्रिय, दु:खद और विकर्षक विषय को भी हृद्य और आस्वाद्य बना देती है, इस तथ्य पर बल देते हुए एक अन्य सौन्दर्यशास्त्री डेविट पार्कर ने व्यापक रूप से समस्त कलाओं के संदर्भ में कहा है कि मन को बाँधने वाली पंक्तियाँ, हृदय को जीत लेनेवाले रंग और अभिभूत कर देनेवाली लय, विकर्षक विषयवस्तु के भी विकर्षणकारी तत्त्वों को दूर कर सकती है।[4]

डेविट पार्कर का यह कथन पंडितराज जगन्नाथ के निम्नलिखित वक्तव्य से अद्‌भुत साम्य रखता है:

अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा-यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादय: पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति।[5]

(यह अलौकिक काव्य-व्यापार की महिमा है कि उसके प्रयोग से अरमणीय शोक आदि पदार्थ भी अलौकिक आह्लाद उत्पन्न करते हैं।)

परन्तु इस विषय पर संभवत: सबसे गंभीर विचार डॉ. एफ. आर. लीविस ने 'त्रासदी और माध्यम' शीर्षक निबंध में किया है। त्रासदी से प्राप्त होनेवाली 'गहन निर्वैयक्तिकता' का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उसका मूल 'भाषा के काव्यात्मक उपयोग' में बतलाया है। 'भाषा के काव्यात्मक उपयोग' की व्याख्या करते हुए उन्होंने आगे कहा है कि : "काव्यात्मक से मेरा तात्पर्य 'नाटकीय' है: काव्यात्मक अथवा नाटकीय भाषा वह है जो सीधे वक्तव्य से भिन्न होती है और जहाँ 'पूर्वनिर्मित विचारों' को व्यक्त करने के लिए माध्यम के रूप में भाषा का उपयोग नहीं किया जाता, बल्कि अन्वेषणात्मक सृजन के लिए किया जाता है। यह वह भाषा है जिसमें कविता जिसे प्रस्तुत करती है उसका सृजन करती है, और इस रूप में प्रस्तुत करती है कि वह अपने लिए स्वयं बोलता हैं, यहाँ तक कि वहाँ बोलने की आवश्यकता ही नहीं रहती, बल्कि होने और करने की स्थिति होती है।"[6] पूर्वनिर्मित विचारों को व्यक्त करनेवाले भाषा का विरोध उन्होंने इसलिए किया है कि व्यक्ति उसमें अनिवार्यत: 'स्थिर अहं' और 'बने-बनाए स्व' की सीमा में बँधा रहता है और उसका मस्तिष्क सामान्य लौकिक अनुभव का अतिक्रमण करने में असमर्थ होता है। भाषा के ऐसे उपयोग से बँधा हुआ व्यक्ति अन्तत: भाषण-सुलभ भाषा की ओर उन्मुख होता है। इसके विपरीत जिस अनुभव में 'बने-बनाए स्व' से मुक्ति की आकांक्षा होती है, उसकी अभिव्यक्ति का स्तर भिन्न होता है।[7]

कहना न होगा कि डॉ. लीविस के भाषा संबंधी ये विचार भट्टनायक-अभिनवगुप्त के तत्संबंधी विचारों के अत्यंत समीप हैं। जिस प्रकार संस्कृत के आचार्यों ने अभिधा के विरुद्ध व्यंजना के सामर्थ्य की प्रतिष्ठा की है, उसी प्रकार डॉ. लीविस ने वक्तव्यपरक भाषा के विपरीत 'नाटकीय' एवं 'अन्वेषणात्मक सृजन' की भाषा पर बल दिया है। डॉ. लीविस की 'नाटकीय भाषा' भी अभिनवगुप्त की

---

1. तस्य च 'ग्रीवाभंगाभिरामम्' ..... इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिका ..... प्रतीतिरूपजायते। अभिनवभारती, भाग 1, पृ. 279
2. The treatment and not the subject is what makes a tragedy. *The Sense of Beauty*. p. 169
3. एस्थेटिक्स एण्ड फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ आर्ट क्रिटिसिज्म, पृ. 282
4. Engaging lines, winsome colours and tones, and compelling rhythms can overcome almost and repugnance that we might otherwise feel for the subject-matter. *The Principles of Aesthetics*, p. 85
5. रसगंगाधर, पृ. 109
6. By the 'poetic' use of language I mean that which I described as dramatic .... the use of language, not as a medium in which to put previously definite idea, but for exploring creation. Poetry as creating what it presents, and as presenting something that stands there to speak for itself, or rather, that isn't a matter of saying, but of being and enacting. *The Common Pursuit*, p. 130.
7. .... In the business of expressing 'previously definte' ideas – one is necessarily confied to ones extablished ego, one 'ready-defined self'. But it does seem as if the 'tragic' transcendence of ordinary experience that can be attained by a mind tied to such a use must inevitably tend towards the rhetorical order–the attainment of the level of experience at which emancipation from the 'ready defined self' is compelled involves an essentially different order of expression. Ibid. pp., 130-31

'साक्षात्कारात्मिका' भाषा के समान ही स्वयं कुछ कहने की अपेक्षा बोध्यवस्तु का प्रतिदर्शन कराने में विश्वास करती है। इसी प्रकार जिसे डॉ. लीविस भाषा की 'अन्वेषणात्मक सृजनशीलता' कहते हैं, वह भी अभिनवगुप्त की 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' द्वारा संपन्न होनेवाले 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा' व्यंजना का ही एक रूप है। परन्तु इससे भी अधिक आश्चर्यजनक है – डॉ. लीविस द्वारा काव्यात्मक भाषा को 'स्थिर अहं' अथवा 'स्व' की सीमा से मुक्ति के साथ संबद्ध करना। सौन्दर्यानुभूति की निर्वैयक्तिकता के साथ भाषा की निर्वैयक्तिकता को संबद्ध करके देख सकना अद्‌भुत सूझ का परिचालक है और पाश्चात्य काव्य-चिन्तन में संभवत: डॉ. लीविस पहले विचारक हैं, जिन्होंने काव्यानुभूति की निर्वैयक्तिकता के मूल स्रोत की खोज काव्य-भाषा के स्तर तक जाकर की है। संस्कृत काव्यशास्त्र में जिस प्रकार रस अलौकिक है, उसी प्रकार रस को अभिव्यक्त करनेवाली ध्वनि भी अलौकिक मानी गई है। इस प्रकार अनुभूति के साथ भाषा की भी अलौकिकता स्वीकृत रही है। किन्तु पाश्चात्य चिन्तन में काव्यानुभूति के स्वरूप को अनुभूति से लेकर भाषा के स्तर तक सुसंगत रूप में विचार करने की कोई व्यवस्थित पद्धति सुलभ न थी। ऐसी स्थिति में डॉ. लीविस के विचार स्वभावत: आश्चर्यचकित कर देनेवाले प्रतीत होते हैं। यदि भट्टनायक की भावना विभावादि को असाधारणता की सीमा से युक्त करके साधारणत्व की ओर ले जाती है तो डॉ. लीविस की भाषागत सृजनात्मकता भी 'सीमित स्व' का अतिक्रमण करती है।

काव्यानुभूति की निर्वैयक्यिकता और साधारणीकरण की चर्चा तो प्राय: की गई है किन्तु इस प्रक्रिया में भाषा की काव्यात्मकता की जैसी स्वीकृति संस्कृत काव्यशास्त्र में दिखाई पड़ती है, वह पाश्चात्य काव्यशास्त्र में विरल है। यहाँ तक कि 'त्रासदी' के प्रसंग में 'निर्वैयक्तिकता' की महिमा गानेवाले डॉ आइ. ए. रिचर्ड्स की सूक्ष्म दृष्टि से भी यह तथ्य ओझल हो गया और वे अपने प्रिय प्रतिपाद्य 'मनोवृत्तियों के संतुलन' के लिए त्रासदी की प्रशंसा करते-करते यहाँ तक कह गए कि यह 'त्रासदी' की ही विशेषता नहीं है, बल्कि किसी 'कालीन' या 'घट' से ऐसे अनुभव की उपलब्धि हो सकती है।[1] स्पष्ट ही, ऐसी वक्तव्य देनेवाले व्यक्ति के ध्यान में काव्यात्मक भाषा - माध्यम का महत्त्व नगण्य है। यदि 'कालीन' या 'घट' भी मनोवृत्तियों के संतुलन जैसा दुर्लभ अनुभव प्रदान कर सकते हैं तो फिर शेक्सपियर या सफ़ोक्लीज के नाटकों के सृजनात्मक माध्यम का क्या महत्व है? विडम्बना तो यह है कि डॉ. रिचर्ड्स 'अर्थ का अर्थ' जैसी पुस्तक के लेखक और कोलरिज की परंपरा में विचार करनेवाले भाषा-मर्मज्ञ भी हैं। अर्थ-मीमांसा का ऐसा सूक्ष्म विचारक भी जब सौन्दर्यनुभूति के प्रसंग में माध्यम का महत्त्व न देख पाए तो इसे पाश्चात्य काव्य-चिन्तन की असंगति ही समझना चाहिए। इस पृष्ठभूमि में डॉ. लीविस के काव्यात्मक भाषा संबंधी विचार का महत्त्व और भी उभर कर सामने आता है। डॉ. रिचर्ड्स की आलोचना करते हुए डॉ. लीविस ने ठीक ही कहा है कि माध्यम के महत्त्व-स्वीकार के बिना काव्यानुभूति की विशिष्टता की व्याख्या असंभव है। इस बोध के अभाव में डॉ. रिचर्ड्स बेंथम-प्रवर्तित प्रकृतिवादी अनुभव के जाल में फँस गए।[2] काव्यात्मक भाषा ही है, जो नाट्यगत चरित्रों को अलौकिकता प्रदान करके उनका साधारणीकरण संभव बनाती है।

साधारणीकरण और अभिनयादि

काव्यात्मक भाषा के अतिरिक्त नाट्य में सात्त्विक, वाचिक, आंगिक, आहार्य आदि चतुर्विध अभिनयों का उपयोग भी विभावदि के साधारणीकरण में साधक होता है। भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार के अन्तर्गत चतुर्विध अभिनयों को भी स्वीकार किया है।[3] इस विषय पर अभिनवगुप्त ने और भी विस्तार से विचार किया है। श्रव्य काव्य में तो दोषहीन एवं गुणालंकारयुक्त भाषा ही काव्य-विषय को अलौकिक रूप में प्रस्तुत करके साधारणीकृत करने में समर्थ हो जाती है, किन्तु नाट्य में इसके अतिरिक्त नट, उसकी वेशभूषा, रंगमंचीय उपकरण, गीत-वाद्य आदि सामग्रियाँ भी सुलभ होती हैं। उचित गीतआतोद्य आदि सामाजिक की व्यक्ति-चेतना को उसकी सांसारिक भावभूमि से हटाकर रसानुभूति के अनुकूल वातावरण की सृष्टि करते हैं। दूसरी ओर नट की वेशभूषा तथा उसके द्वारा संपादित चतुर्विध अभिनय आदि विभावादि की असाधारणता अथवा विशिष्टता का निराकरण करके उन्हें सर्वथा 'साधारण' बना देते हैं। एक प्रकार की सामग्री के द्वारा विभावादि के प्रत्यक्षीकरण का मार्ग प्रशस्त होता है तो दूसरे प्रकार की सामग्री के द्वारा रामादि-रूपता का अध्यवसाय संपन्न होता है।[4] अभिनवगुप्त की दृष्टि में साधारणीकरण के लिए नट-प्रक्रिया का इतना अधिक महत्व था कि उन्होंने अनेक स्थलों पर बार-बार इसकी आवृत्ति करके इस पर बल दिया है। वस्तुत: कुशल अभिनय तथा विचित्र वेशभूषा के द्वारा नट सामाजिक के मन में एक प्रकार की दुविधा उत्पन्न कर देता है: न तो वह रंगमंचगत नट को सर्वथा राम ही समझ पाता है और न कोरा भ्रम ही। स्वयं अभिनवगुप्त के अनुसार यह प्रतीति सम्यक, मिथ्या, संशय, संभावना आदि ज्ञान से नितांन्त विलक्षण एक विशेष प्रकार की प्रतीति है, जिसमें विभावादि देश-काल-व्यक्ति विषयक 'विशेष' के परामर्श से रहित होकर 'साधारण' रूप में प्रतीत होते हैं।[5]

---

1. प्रिंसिपल्ज., पृ. 248
2. द कॉमन परसूट, पृ. 134-35
3. अभिनवभारती, भाग 1, पृ. 277
4. उचितगीतातोद्यचर्वणाविस्मृत-सांसारिकभावतया विमलमुकुरकल्पीभूतनिजहृदय:। अभिनवभारती, भाग 1, पृ. 36.
5. पाठ्याकर्णनपात्रान्तरप्रवेशवशात् समुत्पन्ने देशकालविशेषावेशानालिंगिते सम्यङ्-मिथ्यासंशय संभावनादिज्ञानविज्ञेयत्व-परामर्शानास्पदे रामरावणादिविषयाध्यवसाये वही, पृ. 36

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में अभिनवगुप्त के उक्त कथन की पुष्टि सूज़न लैंगर की 'नाट्य-प्रतिभास' संबंधी मान्यता द्वारा होती है। नाट्यकला की विशेषता, लैंगर के अनुसार, 'प्रतिभास' की सृष्टि है, जिसमें यथार्थ जगत के व्यक्ति और घटनाएँ अपनी लौकिकता से रहित अलौकिक रूप में प्रकट होते है। इस प्रतिभास के लिए उन्होंने अंग्रेजी में 'इल्यूजन' शब्द का प्रयोग किया है, जो 'डेल्यूज़न' से सर्वथा भिन्न है। उनके अनुसार 'डेल्यूज़न' एक प्रकार का 'भ्रम' है, जो नाट्यकला का शत्रु है। लैंगर ने उन रंगकर्मियों की आलोचना की है, जो रंगमंच पर वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। भ्रम के रूप में रंगमंच संबंधी संपूर्ण धारणा घनिष्ठ रूप से इस विश्वास के साथ जुड़ी हुई है कि दर्शकों को नायक के संवेगों का साझीदार होना चाहिए। इस प्रभाव को उत्पन्न करने का सबसे आशु ढंग यह है कि रंग-क्रिया का विस्तार रंगमंच की सीमा से बाहर तक कर दिया जाए ताकि दर्शक अपने-आपको प्रस्तुत दृश्य के साक्षी के रूप में वस्तुत: उपस्थित समझें। किन्तु कलात्मक दृष्टि से इसका परिणाम घातक होता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी ही उपस्थिति के संबंध में सतर्क नहीं होता, बल्कि उसके मस्तिष्क में दूसरे व्यक्तियों, रंगशाला, रंगमंच, होनेवाले मनोरंजन आदि का भी सतत बोध बना रहता है।[1]

लैंगर के अनुसार नाट्यगत व्यक्तियों और घटनाओं को अधिक-से-अधिक विश्वसनीय बनाने का यह प्रयास एक ऐसे 'भ्रम' अथवा 'अर्थ-भ्रम' की सृष्टि में विश्वास करता है, जो दर्शकों को रंग-कर्म के अधिक-से-अधिक निकट ले आता है। किन्तु 'भ्रम' और रंगमंच में दर्शक के भाग लेने की धारणा कलाकृति के रूप में नाटक का निषेध करती है।[2] इसलिए लैंगर ने 'भ्रम' के स्थान पर नाटक में 'प्रतिभास' या 'इल्यूज़न' की प्रतिष्ठा की है। नाट्यगत व्यक्तियों और घटनाओं को यथार्थ एवं व्यावहारिक जंगल से दूर रखने के उद्देश्य से ही कला नितान्त 'प्रतिभास' पर अवलंबित होती है; इसी कारण नाट्यगत चरित्र एवं घटनाएँ व्यावहारिक एवं स्थूल प्रकृति से शून्य होकर प्रतीकात्मक रूप (सिम्बोलिक फ़ार्म) की भाँति दृष्टिगोचर होते हैं।[3]

लैंगर के विवेचन से स्पष्ट है कि हर तरह का रंगकर्म नाटक को 'प्रतिभास' का रूप दे सकने में समर्थ नहीं होता। प्रकृतवादी रंगविधियाँ नाटक में अधिक-से-अधिक वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास करती हैं। इसके विपरीत लैंगर उस रंगविधि का समर्थन करती हैं, जो प्रकृतवाद के विरुद्ध नाटक को 'प्रतीकात्मक रूप' देने का प्रयास करती हैं। लैंगर की इस धारणा के मूल में संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिष्ठित 'साधारणीकरण' तुल्य सिद्धान्त प्रतीत होता है। नाटक की लैकिक प्रतीति साधारणीकरण में बाधक होती है। इसलिए लैंगर ने 'प्रतिभास' सिद्धान्त के द्वारा नाटक के सम्यक साधारणीकरण का सुझाव प्रस्तुत किया है। इस अनुमान का आधार यह है कि इसी प्रसंग में उन्होंने आगे चलकर भारतीय नाट्याचार्यों की नाट्य संबंधी समझ की प्रशंसा करते हुए कहा है कि पाश्चात्य नाट्य-विशारदों की तुलना में संस्कृत नाट्याचार्यों को नाट्यगत चरित्र, नट आदि के मनोभावों की कहीं अधिक गहरी समझ थी और उनका रंगकर्म आधुनिक प्रकृतवादी रंगकर्मियों की तुलना में अधिक कलात्मक था।[4] संस्कृत नाट्य में रंगविधान और अभिनयवादी प्रक्रिया का उपयोग नाटक को लौकिक प्रतीतियों के बंधन से मुक्त करके अलौकिक प्रतीति के योग्य बनाने के लिए होता था। ऐसा विधान 'नाट्यशास्त्र' में इसलिए स्वीकृत था कि नाट्य का प्रयोजन निर्विघ्न रसप्रतीति, 'साधारणीकरण' व्यापार के द्वारा ही संभव है और 'साधारणीकरण' उसी नाट्यवस्तु का हो सकता है, जो चतुर्विध अभिनयादि के द्वारा अलौकिक प्रतीति का विषय हो। स्पष्ट ही, लैंगर का प्रतिभास-सिद्धान्त संस्कृत नाट्य-सिद्धान्त का पाश्चात्य रूपान्तर है।

अनुव्यवसाय और प्रतिभास

वस्तुत: नाटक की अलौकिक प्रतीति अभिनयादि-प्रक्रिया से भी अधिक आधारभूत है। भारतीय परंपरा में नाट्य को लोक-नाटक को लोक-भिन्न माना गया है। इस मान्यता को 'नाट्यशास्त्र' में एक उपाख्यान के साथ प्रस्तुत किया गया है। भरत मुनि ने जो पहला नाट्य-प्रयोग प्रस्तुत किया, उसमें देवासुन-संग्राम की कथा ली गई थी। दर्शकों में देवों के साथ ही असुर भी उपस्थित थे। इतिहास के अनुसार नाटक में भी देवों की विजय और असुरों की पराजय का प्रदर्शन किया गया। नाटक देखकर असुर क्रुद्ध हो

---

1. The whole concept of theatre as delusion is closely linked with the belief that the audience should be made to share the emotions of the protagonists. The readiest way to effect this is to extend the stage action beyond the stage in the tensest moments, to make the spectators feel themselves actually present as witness of the scene. But the results is artistically disastrous, since each person becomes aware not only of his won presence, but of other people's too, and of the house, the stage, the entertainment in progress. *Feeling and Form.* pp. 317-18)
2. But delusion–even the quasi-delusion of 'make-believe' aims at the opposite effect, the greatest possible nearness. To seek delusion and 'audience participation' in the theatre is to deny that drama is art. Idid., p. 319
3. It is for the sake of this remove that art deals entirely in illusion, which because of their lack of 'practical, concrete nature', are readily distanced as symbolic forms. Ibid., p. 319
4. Some of the Hindu critics ..... understand much better than their Western colleagues the various aspects of emotion in the theater, which our writers so freely and banefully confuse: the feelings experienced by the actor, those experienced by the spectators, those presented as undergone by characters in the play, and finally the feeling that shines through the play itself – the vital feeling of this piece. The last they call rasa ..... Audiences who can dispense with the helps that the box stage, representational setting and costumes, and sundry stage properties lend to our poetic imagination have probably a better understading of drama not only events and emotions, but even things are enacted. Stage properties exist, but their use is symbolic rather than naturalistic ..... In India, some stage properties do occur ..... others are left to the imagination. *Feeling and Form*, p. 323-324

गए और वे रंगशाला में उपद्रव करने लगे। अन्ततः स्वयं ब्रह्मा रंगशाला में उपस्थित हुए और उन्होंने असुरों के प्रबोध के लिए नाट्क-धर्म का प्रवचन किया, जिसका तात्पर्य यह था कि नाटक को लौकिक रूप में न ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि उसमें देवों और असुरों के चरित का अविकल अनुकरण नहीं, बल्कि त्रैलोक्य का भावानुकीर्तन है। 'नाटयशास्त्र' के टीकाकारों में इस 'अनुकीर्तन' शब्द को लेकर पर्याप्त मतभेद है, किन्तु अभिनवगुप्त ने इस शब्द की जो तात्त्विक व्याख्या की है, वही आगे चलकर भरत-सम्मत मत के रूप में सामान्यतः मान्य हुई। अभिनवगुप्त ने अनेक युक्तियों के द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि 'अनुकीर्तन' से भरत मुनि का तात्पर्य 'अनुव्यवसाय' है।[1] अनुव्यवसाय एक प्रकार की अलौकिक प्रतीति है जो समस्त लौकिक प्रतीतियों से भिन्न होती है। अनुव्यवसाय-परक नाट्क की अलौकिकता निरूपित करने के लिए अभिनवगुप्त ने उसे दस प्रकार की लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण माना है : वह न निज-स्वरूप से होनेवाला ज्ञान है, न सादृश्यात्मक ज्ञान है, न स्मृतिपूर्वक भ्रान्ति ज्ञान, न सम्यग्ज्ञानबाधान्तर मिथ्या ज्ञान, न अध्यवसान, न उत्प्रेक्ष्यमाण, न प्रतिकृतित्व, न अनुकार, न इन्द्रजालवत तात्कालिक निर्माण और न युक्तिविरचित-तदाभास-हस्तलाघवादि मायावत ज्ञान।[2]

तात्पर्य यह है कि नाटक में अनुकार्य रामादि अथवा देव-दानवादि का जो अभिनय किया जाता है, उसमें अभिनय करनेवाले नट होते है। राम आदि या देव-दानव आदि अभिनय करने नहीं आते। उन अभिनय करनेवाले नटों में ही रामादि अथवा देव-दानवादि अनुकार्यों की प्रतीति होती है। परन्तु यह प्रतीति न सत्य है, न मिथ्या है, न सादृश्यमूलक है, न आरोपमूलक है, न अध्यासमूलक है और न इसी प्रकार की कोई अन्य लौकिक प्रतीति है। इसलिए रामादि या देव-दानवादि किसी भी अनुकार्य का किसी भी लौकिक रूप में नाट्य में अनुभव नहीं किया जाता है। इसीलिए इस प्रतीति को सबसे विलक्षण और अलौकिक कहा जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार उपर्युक्त सभी पक्षों में असाधारणता होती है, इसलिए उनके विषय में द्रष्टा उदासीन रहता है और इसी प्रकार रसास्वाद का योग नहीं होता,[3] क्योंकि रसास्वाद के लिए साधारणता अपेक्षित है जो उक्त दस लौकिक प्रतीतियों से संभव नहीं है।

अभिनवगुप्त ने नाट्य को जो आरोप-अध्यास आदि लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण माना है, उसका आधार उनके प्रत्यभिज्ञादर्शन का 'आभासवाद' है,[4] जिसके अनुसार यह जगत न तो शांकर अद्वैत के अनुसार माया या विवर्त है और न द्वैतवादी दर्शनों के अनुसार सर्वथा सत्य ही है। 'अध्यास' की स्थिति 'सत्य' और 'मिथ्या' दोनों से विलक्षण है। संभवतः इसीलिए अभिनवगुप्त नाट्य को जव सत्य और मिथ्या आदि सभी लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण कहते हैं तो ऐसा होता है कि वे उसे अपने तत्त्वचिन्तन के 'आभास' के सदृश मानते हैं।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की परंपरा में कला के स्वरूप पर विचार करते हुए कला को 'प्रतिभास' (इल्यूज़न) मानने की प्रवृत्ति पर्याप्त प्रबल रही है, किन्तु 'प्रतिभास' के सुनिश्चित रूप का विवेचन स्पष्ट नहीं है। 'प्रतिभास' को प्रायः एक ओर 'यथार्थ' से भिन्न दिखलाया जाता है तो दूसरी ओर 'भ्रम' (डिल्यूज़न) से। संस्कृत काव्यशास्त्र में जिस प्रकार भ्रम के आरोप-अध्यास आदि अन्य अनेक रूपों को विविक्त करके नाट्य को उनसे विलक्षण सिद्ध करने का प्रयास हुआ है, उस प्रकार का सूक्ष्म विवेचन पाश्चात्य चिन्तन नहीं मिलता। फिर भी वहाँ अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित 'अनुव्यवसाय' से मिलता-जुलता प्रतिभास-सिद्धान्त तुलना के लिए उपलब्ध है।

पाश्चात्य प्रतिभास-सिद्धान्त वस्तुतः सौन्दर्यानुभूति की अनासक्ति-विषयक धारणा की उपज है। सौन्दर्यानुभूति को अनासक्तिपरक मानने के लिए कलावस्तु को यथार्थ-भिन्न मानना आवश्यक हो गया क्योंकि यथार्थ अनिवार्यतः आसक्ति को प्रोत्साहित करता है। इसलिए पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्री कलावस्तु की यथार्थ-भिन्नता का पता लगाने के क्रम में 'प्रतिभास' के निर्णय पर पहुँचे। निश्चय ही प्रतिभास-सिद्धान्त का जन्म पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में मुख्यतः चित्रकला के संदर्भ में हुआ किन्तु क्रमशः इसका विस्तार समस्त कलाओं तक हो गया। और समकालीन कलाचिन्तन के इतिहास को देखने से ऐसा प्रतीत होती है कि वहाँ आधुनिकतम प्रवृत्ति कला को 'प्रतिभास' मानने के ही पक्ष में है। सूज़न लैंगर ने प्रतिभास-सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है कि : "प्रत्येक सच्ची कलाकृति में सांसारिक परिवेश से विच्छिन्न प्रतीत होने की प्रवृत्ति होती है। वह सबसे तात्कालिक प्रभाव यही उत्पन्न करती है कि यह यथार्थ से 'अन्यतर' है ..... यहाँ तक कि अशिक्षित किन्तु संवेदनशील द्रष्टा भी 'अन्यतरत्व' का एक विलक्षण आभास-मात्र ग्रहण करता है, जिसे 'विलक्षणता', 'आभास', 'पारदर्शिता', 'स्वनिर्भरता' या 'स्व-पर्याप्तता' आदि अनेक रूपों में वर्णित किया जाता है। कला के वास्तविक स्वरूप को द्योतित करने के लिए वास्तविकता से यह विच्छिन्नता मूल तत्व है।"[5] इसी आधार पर सूज़न लैंगर आगे चलकर यह प्रतिपादित करती हैं कि कलाकृति कोई 'वस्तु' नहीं बल्कि 'प्रतीक' है।[6] किन्तु इस प्रसंग में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि लैंगर ने 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग, प्रतीक के प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में किया है, जैसा कि उन्होंने आरंभ ही में स्पष्ट कर दिया है।[7] इसी प्रकार उन्होंने कला को प्रतिभास (इल्यूज़न) कहते समय भी आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि

1. तदिदमनुकीर्तनमनुव्यवसायविशेषो नाट्यापरर्यायः नानुकार इति भ्रमितव्यम्। अभिनवभारती, भाग 1, , पृ. 36
2. वही, पृ. 35
3. सर्वेष्वेतेपु पक्षेषु असाधारणतया द्रष्टुरौदासीन्ये रसास्वादायोगात्। अभिनवभारती, भाग 1, पृ. 35
4. के.सी. पाण्डे : इण्डियन एस्थेटिक्स, पृ. 101-103
5. फ़ीलिंग एण्ड फ़ॉर्म, पृ. 45-46
6. वही, पृ. 58
7. A symbol is any device whereby we are enabled to make an abstraction. *Feeling and Form, Preface*. p. 11.

'प्रतिभास' से जो सामान्यत: समझा जाता है उनका तात्पर्य उससे नहीं है क्योंकि उनकी दृष्टि में प्रतिभास 'भ्रम', 'आत्मवंचना' या 'स्वाँग' से सर्वथा भिन्न है।[1]

लैंगर के प्रतिभास-सिद्धान्त पर और भी सूक्ष्मता से विचार करते हुए ई. एच. गोम्ब्रिच ने आगे चलकर 'कला और प्रतिभास'[2] नामक पूरी पुस्तक लिखी जिसमें प्रतिभास की प्रतिष्ठा के लिए अनेक नवीन युक्तियाँ दी गई हैं। गोम्ब्रिच के जटिल विवेचन का सारांश यह है कि कला में प्रतिरूपण पेचीदा काम है क्योंकि कला के माध्यम में किसी पूर्णत: निश्चित और स्थिर मूल वस्तु का अनुकरण न तो होता ही है और न संभव है। कला में प्राय: मानसिक स्थितियाँ ही सृजन की पृष्ठभूमि में कार्यरत रहती हैं। ये मानसिक स्थितियाँ चाहे सांस्कृतिक हों अथवा वैयक्तिक, पृष्ठभूमि में कार्य करती हैं मानसिक स्थितिया ही।[3] गोम्ब्रिच ने जिस प्रकार कला में किसी निश्चित मूल वस्तु के अनुकरण को असंभव माना है, वह अभिनवगुप्त के इस कथन का स्मरण दिलाता है कि नाट्य में नियम का अनुकरण असंभव है।[4]

बियर्डस्ले भी प्रकारान्तर से 'प्रतिभास-सिद्धान्त' के ही समर्थन दिखलाई पड़ते हैं। 'प्रातभास' के लिए बियर्ड्स्ले ने 'इल्यूजन' शब्द के स्थान पर 'फेनामेनल' शब्द का प्रयोग करते हुए कहा है कि ग्राहक के सम्मुख कलाकृति एक विशेष प्रकार की आभासात्मक वस्तु के रूप में प्रकट होती है। यद्यपि वे कलास्वाद में द्रष्टा के विषयिनिष्ठ मानसिक प्रक्षेपण का हस्तक्षेप ठीक नहीं समझते हैं और कलाकृति के वस्तुनिष्ठ रूप पर ही विशेष बल देते हैं, फिर भी कलाकृति को वास्तविक वस्तु से भिन्न आभासात्मक वस्तु के रूप में स्वीकार करते हैं। उल्लेखनीय यह है कि बियर्डस्ले की इस कलात्मक मान्यता के मूल में उनका आभासवादी दर्शन (फ़ेनामेनलिज्म) है।

सारांश यह है कि पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में भी अनासक्तिपरक सम्यक सौन्दर्यानुभूति के लिए कलाकृति को लोक-भिन्न प्रतिभास के रूप में स्वीकार किया गया है, क्योंकि सौन्दर्यानुभूति के लिए ग्राहक को कला के साथ जिस साधारणीकरण की आवश्यकता पड़ती है, वह प्रतिभास-रूप कलाकृति के साथ ही संभव होता है।

सहृदय का साधरणीकरण: ममत्वादि से मुक्ति

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यास्वाद के लिए पाठक का भी साधारणीकरण आवश्यक माना गया है। साधारणीकरण-व्यापार के द्वारा जिस प्रकार काव्य-वस्तु असाधारण से साधारण होती है, उसी प्रकार पाठक भी अपनी असाधारणता अथवा विशेषता का परित्याग करके साधारण रूप ग्रहण करता है। इस साधारण्य से युक्त होने पर ही सामान्य पाठक 'सहृदय' की संज्ञा प्राप्त करता है। हृदय तो सामान्य पाठक के भी होता है, किन्तु काव्य के संदर्भ में जब किसी व्यक्ति को सहृदय कहा जाता है तो वहाँ 'हृदय' का विशेष अर्थ होता है। 'सहृदय' जिस हृदय से युक्त होता है वह केवल लौकिक चित्तवृत्तियों का कोश नहीं, बल्कि काव्योपम भावों का भण्डार है। इस विशेष प्रकार के हृदय का निर्माण निरंतर काव्यानुशीलन के सुदीर्घ अभ्यास द्वारा होता है। काव्यों के निरंतर अनुशीलन से जब हृदय दर्पण के समान निर्मल और विशद हो जाता है, तभी उसमें किसी काव्य के आस्वाद की योग्यता उत्पन्न होती है। ऐसे निर्मल हृदय से युक्त व्यक्ति को कोई 'सवासन' कहता है, कोई 'सुमनस्' कोई 'रसिक' तो कोई 'सहृदय'। वस्तुत: हृदय की यह निर्मलता साधारण्य का ही दूसरा नाम है और इसे सहृदयगत साधारणीकरण-व्यापार का ही परिणाम समझना चहिए।

जिस प्रकार देश, काल एवं व्यक्ति संबंधों से मुक्त होकर काव्य के विभावादि 'साधारण' होते हैं, उसी प्रकार सहृदय का 'साधारण्य' भी देश-काल-व्यक्ति विषयक संबंधों से मुक्ति पर निर्भर है। भट्टनायक के अनुसार काव्य का पाठक 'निज-मोह-संकटता-निवारण' के द्वारा साधारण होता है। दूसरे शब्दों में प्रमाता की चेतना मोह के आवरण को हटाकर साधारणता का रूप प्राप्त करती है। भट्टनायक के मत का संशोधन-परिवर्धन करते हुए अभिनवगुप्त ने 'निज-मोह-संकटता-निवारण' को और भी स्पष्ट रूप में रखा है। उनके अनुसार निजी सुख-दु:खादि से ग्रस्त होना ही मोह है। किसी नाटक को देखते समय अथवा काव्य को पढ़ते समय यदि पाठक अपने सुख से विवश होता है तो समुचित ढंग से काव्यास्वाद नहीं कर सकता। इसी प्रकार अपने दुख से दु:खी रहने पर भी पाठक के लिए काव्यास्वाद में कठिनाई होती है। इसलिए अभिनवगुप्त ने काव्यास्वाद के लिए 'दु:ख-सुखादिकृतहानादिबुद्धि:' को आवश्यक बतलाया है। वस्तुत: निजी दु:ख-सुख देशकालव्यक्ति संबंधों से युक्त चेतना का परिणाम है। कोई व्यक्ति जब तक देश-काल और व्यक्ति संबंधों से बँधकर किसी विषय का अनुभव करता है तब तक उसमें निजी दु:ख-सुख के विकारों का होना अनिवार्य है। इसलिए इस संबंधों से ऊपर उठकर ही कोई व्यक्ति निजी सुख-दु:ख से मुक्त हो सकता है। यहाँ भी सामान्यत: देश एवं काल की सीमा को तोड़ना अपेक्षाकृत सरल होता है; कठिन होती है तो व्यक्ति संबंधों से मुक्ति। इसलिए इस संबंध में अभिनवगुप्त ने

1. But illusion as it occurs in art has nothing to do with delusion not even with self-deception or pretense. *Ibid.*
2. Art & Illusion (Pantheon Books, New York, 1960)
3. The point of Gombrich's excellent book is that representation in art is a tricky business, since it does not and cannot consist of copying. in the medium of the art, a wholly determinate and fixed original mental sets, either cultural or individual. are at work from the ground up. Virgil C. Alderich : *Philosopy of Art*, p. 15 (Prentice Hall Inc., New York, 1963)
4. नन्वेतावत नियतानुकारो मा भूत ..... । नाट्यशास्त्र, भाग 1, पृ. 37

साधारणीकरण के लिए 'स्व' 'पर' आदि संबंधों से मुक्त होने का विधान किया है। काव्यगत विभावादि के विषय में सहृदय जब अपने-पराये, शत्रु मित्र, मध्यस्थ आदि समस्त संबंधों का परित्याग कर देता है, तभी उसे काव्य का समुचित आनन्द प्राप्त होता है। इन संबंधों के कारण पाठक विशेष अथवा असाधारण रहता है। इन संबंधों से मुक्त होकर पाठक साधारण हो जाता है।

इसी धारणा का अत्यंत स्पष्ट और परिनिष्ठित रूप में व्याख्यान करते हुए मम्मट ने स्पष्ट किया कि रसास्वादन के लिए प्रमाता की व्यक्ति संबंधों से मुक्ति भी उतनी ही अनिवार्य है, जितनी विषय की देशकालादि बंधनों से। लौकिक विषयों की भाँति काव्यगत अर्थों में संबंध विशेष के स्वीकार अथवा परिहार की कल्पना भी नहीं रहती, अतएव उनकी प्रतीति साधारण्य से होती है—ऐसा मम्मट का मत है। अर्थात् विषय के प्रति शत्रु मित्र या तटस्थ भावना प्रमाता के मन में नहीं रहती।

यहाँ प्रश्न उठता है। जब मम्मट कहते हैं कि : " ये मेरे ही हैं, ... शत्रु के ही हैं, ... तटस्थ के ही हैं' तो उनका आशय उपयुक्त व्यक्ति संबंधों से मुक्ति है, या इस संबंध भावना मात्र से मुक्ति है? साधारणीकरण की यह व्याख्या आपातत: निषेधात्मक प्रतीत होती है। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि मम्मट ने जहाँ इस संबंध की स्वीकृति का निषेध किया है, वहाँ परिहार का भी। अर्थात् वे इन संबंधों की अतिशयता का विरोध करते हैं, संबंध भावना मात्र का नहीं। परवर्ती विद्वानों ने मम्मट के इस कथन की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि साधारणीकरण व्यापार में व्यक्ति संबंधों से मुक्ति का अर्थ उनका पूर्णत: निषेध या परिहार नहीं है बल्कि व्यक्ति संबंधों की सीमा का परिहार है। इस संबंध में शिंगभूपाल का कथन है कि **"साधारणीकरणात्मना भावनाव्यापारेण स्वसम्बन्धितया भावितानाम् .....।"**[1] अर्थात साधारणीकरण व्यापार और भावना व्यापार अभिन्न हैं, तथा इसके द्वारा साधारणीकृत पदार्थ ग्राहक से संबंध रूप में प्रतीत होते हैं।

यह मान लेने पर कि साधारणीकरण में मित्र, शत्रु तथा तटस्थ तीनों प्रतीतियाँ नहीं होतीं, रस प्रतीति के निमित्त विभावादि का संबंध किस रूप में स्थिर किया जाएगा? इस समस्या का विश्लेषात्मक उत्तर देने का प्रयास 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने किया है। उन्होंने साधारण्य प्रतीति का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा : **"साधारण्येन प्रतीतिश्च न सर्वसम्बन्धिता प्रतीति:। किन्तु सम्बन्धिविशेषीयत्वेनाप्रतीतौ प्रतीति:। 'यद्वा अमुकस्यैवैते' इत्यवधारणं बिना 'अनुकस्य' इत्येवं प्रतीति:।"**[2]

साधारण्य द्वारा जो प्रतीति होती है, वह सर्व संबंधिता की प्रतीति नहीं है बल्कि संबंधी विशेषीयत्व की अप्रतीति है। वह 'अमुक की ही' प्रतीति नहीं है, प्रत्युत 'अमुक की' प्रतीति है। तात्पर्य यह है कि साधारणीकरण में संबंध भावना का सर्वथा निषेध नहीं हो जाता : ग्राहक के चित्त में कुछ न कुछ संबंध भावना अवशिष्ट रह जाती है। यदि संबंध भावना न हो तो काव्यनिष्ठ वस्तु से, ग्राहक नितान्त असंपृक्त रह जाएगा, और उस स्थिति में ग्राहक के चित्त में, किसी प्रकार की अनुभूति का उद्रेक असंभव होगा।

अभिनवगुप्त ने भी साधारणीकरण का अर्थ, विभावादि के देशकालादि संबंधों से मुक्ति के साथ सहृदय की प्रतीति का वीतविघ्न हो जाना माना है। निर्विघ्न प्रतीति से उनका आशय था – 'मैं', 'पर' आदि की भावना से उत्पन्न सुख दु:खकारी प्रत्ययों से मुक्त स्थायी भाव का आस्वाद।

वस्तुत: रसास्वाद साक्षात्कारात्मक अनुभूति है। उसके लिए एक ओर चित्त की एकाग्रता अनिवार्य है और दूसरी ओर निर्विघ्नता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के अहं का किसी भी रूप में हस्तेक्षप काव्यानुभूति का सबसे बड़ा विघ्न है।

अपने दैनन्दिन जीवन में विषयों के प्रति व्यक्तिगत संसर्ग के कारण व्यवहार में हम अपने व्यक्तिगत अहं का अतिक्रमण नहीं कर पाते। रसानुभूति में अनुभूति का केन्द्र अहं से काव्यकृति में स्थानान्तरित हो जाता है और हमारी प्रतिक्रिया अधिवैयक्तिक हो जाती है। काव्यकृति, क्योंकि, सामूहिक रूप से अनुभूयमान मानवीय अनुभवों का वस्तुगत रूप है, इसलिए उसके प्रति पाठक की प्रतिक्रिया अधिवैयक्तिक स्तर पर होती है। परन्तु अधिवैयक्तिकता का अर्थ काव्य संदर्भ में तादात्म्य नहीं होता। इससे ठीक भिन्न प्रमाता काव्यास्वाद की स्थिति में काव्य में सक्रिय भाग लेता है। इसी को अभिनवगुप्त ने 'अनुप्रवेश' कहा है और 'अनुप्रवेश' संबंध भावना के नितान्त अभाव की स्थिति में असंभव होगा। अत: पाठक काव्यकृति से तादात्म्य की अनुभूति न कर उसके साथ तादात्म्य की अनुभूति करता है, जिसे अभिनवगुप्त ने तन्मयीभवन कहा है।

इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने रंगशाला में प्रवेश करने से पूर्व भी प्रेक्षक की साधारणता का उल्लेख किया है। उनके अनुसार नाटक देखने के संकल्प मात्र से प्रेक्षक के चित्त में परिवर्तन आ जाता है। ज्यों ही कोई व्यक्ति नाटक देखने के लिए रंगशाला में जाने का संकल्प करता है तभी उसके मन में यह विचार उठता है कि : "आज सारी पर्षद के लिए समान आनन्दप्रद एवं अन्त तक सरस होने से आदरणीय लोकोत्तर को देखने सुनने का अवसर मिलेगा"[3] इस अभिप्राय और संस्कार से प्रेक्षक का चित्त साधारणता की ओर उन्मुख होता है। अभिनवगुप्त के इस कथन से स्पष्ट है कि सहृदयगत साधारणीकरण का आरंभ नाट्य दर्शन से पूर्व ही हो जाता है।

---

1. डॉ. रसवन्ति त्रिपाठी : रस विमर्श, पृ. 150 पर उद्धृत
2. काव्यप्रदीप, पृ. 67
3. सर्वसाधारणसाधारणप्रमोदसारतयास्मत्सन्तानेन आदरणीयलोकोत्तर दर्शनश्रवणयोगो भविष्यामि इत्यभिसंधिसंस्कारवान्। अभिनवभारती, भाग 1, पृ. 36

इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त के अनुसार प्रेक्षक-समुदाय की उपस्थिति भी सहृदय के साधारणीकरण में सहायक होती है। काव्य के पाठक की तुलना में नाट्य के प्रेक्षक का आस्वाद इसीलिए अधिक सघन होता है कि नाट्य का प्रेक्षक बहुत-बड़े समूह के साथ अनेक सहृदयों के बीच होने के बोध से नाट्य का आस्वादन करता है। किसी भी अभिनय, संगीत-गोष्ठी, मल्ल युद्ध, धार्मिक उत्सव आदि में सहृदय-समाज की संख्या जितनी अधिक होती है, आनन्द की मात्रा भी उतनी ही अधिक होती है। जब सामाजिकों का एक विशाल समूह एकाग्र होकर अभिनयादि में लीन हो जाता है, तब वह उस दृश्य-नृत्य-गीतादि को अमृत का सागर समझता है। ऐसी स्थिति में समस्त प्रमाताओं का तादात्म्य हो जाता है।[1] इसका कारण यह है कि इन सामाजिक अवसरों पर देह-भेद से संकुचित होती हुई सर्वात्मिका संविद् विकसित होती हुई और परस्पर संघट्ट प्राप्त करती हुई एक दूसरे में प्रतिबिम्बित होती है, और जिस प्रकार अनेक दर्पणों में प्रतिफलित सूर्य-रश्मियों का प्रकाश और भी अधिक दीप्त हो उठता है, उसी प्रकार आत्म-तत्व की रश्मियाँ विभिन्न चेतना-दर्पणों में प्रतिफलित होकर और भी अधिक प्रकाशित होने का अवसर प्राप्त करती है। अत: प्रस्तुत दृश्य का एक ही नहीं अनेक प्रमातृ चेतनाओं के साथ एक साथ तन्मयीभाव हो जाता हैं।[2]

इस प्रकार परमात्म-चैतन्य को सामूहिक अवसरों पर पूर्णत: विकसित होकर अधिकाधिक प्रकाशित होने का अवसर मिलता है।[3] स्पष्ट है कि प्रमाता की व्यक्तिश: रसानुभूति की अपेक्षा सामाजिक रसानुभूति अधिक समृद्ध होती है। समूहगत रसास्वाद की समृद्धि का कारण यह है कि समूह में व्यक्ति के निर्वैयक्तिकीकरण की क्षमता होती है। अकेले रहने पर व्यक्ति अपने वैयक्तिकता के बोध से ग्रस्त रहता है, किन्तु समूह के बीच होते ही व्यक्ति समूह की सामाजिकता से प्रभावित होकर अपनी वैयक्तिकता को भूल जाता है। इस प्रकार सामुदायिकता प्रेक्षक व्यक्ति को निर्वैयक्तिक बनाकर 'साधारण्य' से संपन्न कर देती है। इस दृष्टि से सामुदायिकता साधारणीकरण का प्रभावशाली साधन है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में सहृदय के साधारणीकरण के समकक्ष निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त प्रचलित रहा है। कला या काव्य के आस्वादन के लिए निर्वैयक्तिकता की शर्त पश्चिम में भी स्वीकार की गई है, जो प्रकारान्तर से पाठक के 'साधारण्य' का ही दूसरा नाम है। इस साम्य की ओर पहले भी कुछ विद्वानों ने संकेत किया है। उदाहरण के लिए प्रोफ़ेसर कान्तिचन्द्र पाण्डे ने 'विरेचन' संबंधी हेगेल-कृत व्याख्या के समानान्तर अभिनवगुप्तादि द्वारा प्रतिपादित 'साधारणीकरण' को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि : 'हेगेल के अनुसार 'विरेचन' का अर्थ है निर्वैयक्तिकीकरण (डि-इंडिविजुअलाइज़ेशन)। भारतीय दृष्टि से भी 'विरेचन' का अर्थ शुद्धीकरण है क्योंकि यहाँ भी प्रमाता के चित्त को देश-कालादि के विशेष संबंधों से मुक्त करके उसकी वैयक्तिकता के निषेध का विधान है।"[4] देशकालादि संबंधों से सहृदय के चित्त की मुक्ति को सर्वथा 'विरेचन' तुल्य मानने पर मतभेद हो सकता है, किन्तु

---

1. तथा ह्येकाग्रसकलसामाजिकजन: खलु।
   नृत्तं गीतं सुधासागरत्वेन मन्यते।।
   तग एलोच्यते मल्लनटप्रेक्षोपदेशने।
   सर्वप्रमातृ-तादात्म्यं पूर्णरूपानुभावकम्।।
   तावन्मात्रार्थसंवित्तितुष्ट: प्रत्येकेशों यदि।
   क: सम्भूय गुणस्तेषां प्रमाणैक्यं भवेच्च किम्।।
   यदा तु तत्तद्वेद्यत्वधर्म सन्दर्भगर्भितम्।
   तद्वस्तु शुष्कात् प्राग्रूपादन्यद् युक्ततिदं यदा।। तन्त्रालोक, 10।5।85
2. संवित्सर्वात्मिका देहभेदाद् या संकुचिता तु सा।
   मेलकेऽन्योन्यसंघट्ट प्रतिबिम्बाद्विकस्वरा।।
   उच्छलन्निजरश्म्योघ: संवित्सु प्रतिबिम्बत:।
   बहुदर्पणवद् दीप्त: सर्वायेताप्ययत्नत:।।
   अतएव नृत्तगीतप्रभृतौ बहुपर्षदि।
   य: सर्वतन्मयीभावों ह्यादो न त्वेककस्य य:।।
   आनन्दनिर्भरा संवित् प्रत्यक्षं सा तथैकताम्।
   नृत्तादौ विषये प्राप्ता पूर्णानन्दत्वमश्नुते।।
   ईर्ष्यासूयादिसंकोचकारणाभावताऽत्र सा।
   विकस्वरस निष्प्रतिघं संविदानन्द योगिनी।।
   अतन्मये तु कस्मिंश्चित् तत्रस्थे प्रतिहन्यते।
   स्थपुटस्पर्शवत् संविद्विजातीयतया स्थिते।।
   अतश्चक्रार्चनाद्येषु विजातीयमतन्यत्।
   नैव प्रवेशयेत् संवित्संकोचनिबन्धनम्।। तन्त्रालोक, 28।5।373
3. इह तु दर्शने व्याप्तिग्रहणावस्थायां यावन्तस्तदेशसम्भाव्यमानसद्भावा: प्रमातारस्तावतामेकोऽसौ धूमाभासश्चह्रयाभासश्च वाह्य इव, तावति तेषां परमेश्वेरेणैक्यं निर्मितम्। ईश्वरप्रत्येभिज्ञानिवर्शिनी, 2।4।12
4. *'A Bird's Eye View of Indian Aesthetics'*, The Journal of Aesthetics and Art Criticism, Vol XXIV, No. 1, Part 1, Fall, 1965 p. 72.

इतना निश्चित है कि हेगेल द्वारा प्रतिपदित 'निर्वैयक्तिकीकरण' का सिद्धान्त संस्कृत काव्यशास्त्र की तद्विषयक मान्यता के पर्याप्त निकट है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में सहृदयगत निर्वैयक्तिकता का प्रतिपादन करनेवालों में हेगेल अकेले नहीं। हेगेल से पहले काण्ट ने इसी मान्यता को 'आसक्तिहीन आसक्ति' के नाम से प्रस्तुत किया था, जिसमें ग्राहक की कला विषयक रुचि को 'आसक्तिहीन' कहा गया है। कला के आस्वादयिता को 'आसक्ति' से युक्त होने का परामर्श देते हुए काण्ट ने उसे प्रयोजनों, उपयोगिताओं, यादृच्छिक रुचियों एवं अहं केन्द्रिय पूर्वाग्रहों से भी बचने का सुझाव दिया है। काण्ट की आसक्तिहीनता की परिणति अन्ततः निर्वैयक्तिकता में ही होती है। इसका प्रमाण यह है। कि उन्होंने 'हर किसी के स्थान पर अपने आप को रखकर सोचने' का प्रस्ताव रखा है और उसे 'परिवर्धित मनोवृत्ति' कहा है। स्पष्ट ही हर किसी के स्थान पर अपने आप को रखकर सोचने का अर्थ है–'साधारण' होना।

हर किसी के स्थान पर अपने आप को रखकर सोचने की क्षमता का अर्थ ही है – विशिष्ट व्यक्तिगत संसर्गों से मुक्ति। इतना ही नहीं व्यक्तिगत धारणाओं को 'निर्णय' का पद प्राप्त करने के लिए सार्वजनिक अनुशासन के अधीन रहते हुए वैयक्तिक सीमाओं का अतिक्रमण करना अनिवार्य है। काण्ट तो 'निर्णय' के लिए व्यक्ति तत्त्व के परिहार की आवश्यकता इस रूप में मानते थे कि हम जो भी उपस्थित हैं, उस सबके परिप्रेक्ष्य में वस्तुओं को देख ही नहीं सकें, दूसरों के साथ साझीदार हो सकें। वे सौन्दर्य के सार्वजनिक पक्ष के प्रति पूर्ण सजग थे।

काण्ट की उक्त मान्यता में और पूर्व की व्यक्ति संसर्गों से मुक्ति की धारणा में एक सूक्ष्म अन्तर है। अभिनवगुप्त की व्यक्ति संसर्गों से मुक्ति की धारणा में जितना परत्व का परिहार है, उतना ही ममत्व का भी। सहृदय पाठक की वह मनःस्थिति पूर्णतः साधारणीकृत मनःस्थिति है। इसके विपरीत काण्ट सौन्दर्य संबंधी 'निर्णय' में आत्मनिष्ठता के लिए अवकाश छोड़कर चलते हैं। उनकी सार्वजनिकता आत्म विस्तार के भाव पर आधृत है। जहाँ अभिनवगुप्त ने इस बात पर बल दिया है कि यह अनुभूति सभी सामाजिकों के लिए एकघन प्रतीति है, जिसका स्वरूप समानुभूतिपरक है, वहाँ काण्ट की सार्वजनकि अनुभूति की धारणा, एक प्रकार की सह अनुभूति है, जिसमें वैयक्तिक दृष्टि और रुचि के अनुकूल ग्रहण का अवकाश बना रहता है। परन्तु यह काण्ट ने भी स्पष्ट कहा है कि वह अभिरुचि और निर्णय सप्रयोजन नहीं होता। कलाकृति में यह आसक्ति निष्प्रयोजन होती है। अर्थात यह केवल कृति के वस्तुगत स्वरूप के प्रति एक विशेष अभिरुचिपरक निर्णयात्मक स्थिति है, जिसमें पाठक विषय के अस्तित्व में रस न लेकर केवल उसके रूपांकन तक सीमित रहता है। यह दृष्टि पूर्वाग्रह मुक्त और निष्पक्ष होती है, जो एक प्रकार की अनुभव संवेदनात्मक प्रतिक्रिया व्यक्ति की अन्तरात्मा का अंग होती है, अतः अनासक्त नहीं हो सकती। कलाकृति के प्रति अनासक्त प्रतिक्रिया, जो सार्वभौम हो, जो केवल उसकी रूपगत सत्ता के प्रति हो, कल्पना और ज्ञान शक्तियों की पारस्परिक अनुकूल क्रियात्मकता में निहित रहती है और यही सार्वभौम हो सकती है।

इस प्रकार जहाँ काण्ट ने काव्यानुभूति की सार्वभौमिकता को स्वीकार किया और निर्वैयक्तिकता को महत्त्व दिया, वहाँ रसानुभूति की अनुभव संवेदनवादी भारतीय व्याख्या से भिन्न उसे काल्पनिक बौद्धिक व्यापार माना, क्योंकि उनके अनुसार उसी स्तर पर इस प्रतिक्रिया की सार्वभौमिकता और निर्वैयक्तिकता मान्य हो सकती है।

काण्ट की निर्वैयक्तिकता संबंधी उपर्युक्त धारणा अंशतः वर्तमान युग तक चली आई। जिस प्रकार काण्ट ने व्यक्तिगत रुचियों, पूर्वाग्रहों या संबंध भावनाओं से मुक्ति काव्यानुभूति के लिए अनिवार्य मानी थी, उसी प्रकार पाश्चात्य आलोचना में इसके समानान्तर 'निर्वैयक्तिकता' का नव्य क्लासिकी सिद्धान्त प्राप्त होता है, जिसके प्रचलन का श्रेय आधुनिक युग के प्रसिद्ध कवि आलोचक टी. एस. इलियट को है। इलियट ने भी वैयक्तिक संवेगों को सभी प्रकार की हलचलों के अपसरण का समर्थन किया। उन्होंने काव्य रचना के लिए आत्म बलिदान या आत्म विलय को जिस प्रकार अनिवार्य माना, उसी प्रकार उसकी स्वीकृति ग्राहक पक्ष में भी की जा सकती है। इलियट की इस धारणा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रोमाण्टिक काव्य की अतिशय भावुकता का विरोध था। इसलिए उन्होंने जब आत्मबलिदान या आत्मविलय की बात की, तो वहाँ ममत्व के परिहार का आशय था–भावुकता या भावावेश का परिहार और उसके बाद काव्यकृति का वस्तुनिष्ठ आस्वाद। जिस 'कुछ' के प्रति आत्म-समर्पण का प्रतिपादन इलियट ने किया वह परंपरा थी, और परंपरा समष्टिगत मान्यताओं, भावनाओं का संस्कारबद्ध रूप होती है। अतः सहृदय को अहं का परिहार करके वस्तुनिष्ठ दृष्टि से इस सामान्य संस्कार के आधार पर कृति का आस्वाद करना चाहिए। निश्चित पृष्ठभूमि के संदर्भ में ही इलियट की इस मान्यता का औचित्य सिद्ध किया जा सकता है। रोमाण्टिक काव्यधारा में स्रष्टा और ग्राहक दोनों का दृष्टिकोण अतिशय भावुकता के कारण असंतुलित रूप धारण करने लगा था। व्यक्तिगत भाव सम्पदा, नितान्त विषयिप्रधान दृष्टि के महत्व में सृजन और मूल्यांकन दोनों दृष्टियों से कृति की वस्तुगत महत्ता गौण होने लगी थीं, अतः इस असंतुलन के विरोध में इलियट ने अति वैयक्तिक दृष्टि के स्थान पर निर्वैयक्तिक दृष्टि की प्रतिष्ठा की और काव्य संघटना में संवेग, अनुभूति, विचार, भाव बोध आदि के केलात्मक संतुलन की सिद्धि की आवश्यकता का निरूपण किया। यह संतुलन वैयक्तिक यादृच्छिक रुचियों और भावुकता के त्याग से ही उत्पन्न होता है और सामाजिक तत्व के प्रति आत्मसमर्पण के कारण व्यक्ति आत्मविस्तार करता है–यही विशेष का साधारणीकरण है और

व्यक्ति तत्त्व का समष्टि तत्त्व में विलय है। यह समष्टि तत्त्व कलाकृति के वस्तुगत रूप में ही निबद्ध रहता है अत: काव्यानुभूति व्यक्तिगत तरल संवेग का विभावन न होकर, संवेग का वस्तुगत विभावन है। अर्थात इस प्रक्रिया में ग्राहक का चित्त आत्मनिरपेक्ष होकर वस्तुगत सत्ता का भावन करने लगता है।

इलियट की यह मान्यता भारतीय रसानुभूति की मान्यता के अत्यधिक निकट है, क्योंकि जिस प्रकार भारतीय चिन्तकों ने सहृदय के साधारणीकृत स्थायी भाव के आस्वाद पर बल दिया है, उसी प्रकार इलियट भी निर्वैयक्तिकता का अर्थ वैयक्तिक संवेगों और अनुभवों का विस्तार मानते हैं, व्यक्तित्व मात्र का निषेध नहीं।

डॉ. एफ़. आर. लीविस ने टी. सी. इलियट की बात को आगे बढ़ाते हुए कहा कि पाठक पक्ष से इस निर्वैयक्तिकता का अर्थ है – नितान्त वैयक्तिक संवेगों का अपसारण पर काव्यकृति की मूर्त वास्तविकता में निहित निर्वैयक्तिक संवेगों का बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा ग्रहण। पाठक की यह अनुभूति निश्चय ही परस्पर विरोधी संवेगों के जटिल संयोजन को ग्रहण करने के कारण जटिल अनुभूति है। इसके अतिरिक्त यह निर्वैयक्तिकता, जैसा कि अन्य विचारकों ने भी कहा है, एक ओर संवेगों की सार्वभौमिकता पर आधारित है और दूसरी ओर जैसा इलियट ने कहा : 'जीने की सामान्य सरणी के अधीन होने पर संकेत करती है।'

लीविस के निर्वैयक्तिकता संबंधी विवेचन में स्पष्ट ही इलियट और रिचर्ड्स की मान्यताओं का आंशिक रूप में ग्रहण किया गया हैं। इन मान्यताओं का साधारणीकरण की भारतीय धारणा से तनिक भी विरोध नहीं। किन्तु लीविस ने आगे बढ़कर यह भी कहा कि निर्वैयक्तिकता की सिद्धि के लिए जहाँ एक ओर संसार की अराजकता से असंपृक्तता आवश्यक है, वहाँ दूसरी ओर श्रद्धा भाव भी। अन्यथा केवल असंपृक्तता का परिणाम संशयवाद भी हो सकता है, और यह निश्चय ही काव्यानुभूति के लिए बाधक होगा। एक बार फिर इलियट से भिन्न लीविस ने निस्संगता का अर्थ व्यक्तित्व का आत्मविस्तार किया। इस प्रकार पाठक की जिस निर्वैयक्तिकता को काण्ट और हेगेल ने 18वीं शती में दर्शन के सैद्धान्तिक आधार पर प्रतिष्ठित किया, उसे 20वीं शती में इलियट, रिचर्ड्स, लीविस आदि साहित्य समालोचकों ने काव्य के संदर्भ में साहित्यिक ढंग से प्रतिपादित किया है। इन आलोचकों की दृष्टि में काण्ट द्वारा प्रयुक्त 'अनासक्ति' अथवा 'आसक्तिहीनता' (डिसइन्टरेस्टेडनेस) शब्द सुखद नहीं है। यही नहीं कि वह निषेधात्मक है, बल्कि इससे नितान्त गणशून्यता और शुष्कता का आभास मिलता है। इसलिए उन्होंने 'आसक्तिहीनता' के स्थान पर 'निर्वैयक्तिकता' (इम्पर्सनेलिटी) शब्द को अपनाया जो स्पष्टत: हेगेल के 'दि इंडिविजुअलाइज़ेशन' से भिन्न है। अंग्रेजी में 'पर्सनल' और 'इंडिविजुअल' में पर्याप्त अन्तर है। काव्य का पाठक अपने 'व्यक्तित्व' का निषेध नहीं करता, बल्कि 'वैयक्तिकता' का निषेध करता है। वह अपने वैयक्तिक संवेगों के संकुचित दायरे से मुक्त होकर अपने से बाहर वृहत्तर समाज, सांस्कृतिक परंपरा अथवा वस्तुगत सत्ता के साथ संबद्ध होकर चित्त का विस्तार करता है। इस दृष्टि से पश्चिम का आधुनिक नव्य क्लासिकी काव्य सिद्धान्त संस्कृत काव्यशास्त्र के साधारणीकरण सिद्धान्त के अत्यन्त निकट है।

नाट्य के संदर्भ में भी पश्चिमी विचारकों ने इसी प्रकार की निर्वैयक्तिकता का उल्लेख किया है। जे. बी. प्रीस्टले ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि : "जब हम किसी अच्छे नाटक का सुन्दर प्रयोग देखते हैं तो हम अपने आपको सजातीय प्राणियों के साथ अनुभव होनेवाले सामान्य स्तर से बहुत ऊँचा उठा हुआ समझते हैं; उनके साथ हमारी जो दैनिक संपृक्तता है, उससे हम दूर हट जाते हैं; हम एक देवतुल्य विशाल हृदय की भाँति दर्शन और श्रवण करते हैं। हम मानवजाति के साथ महानुभूति के साथ संपृक्त होते हुए भी एक प्रकार की असंपृक्तता का अनुभव करते हैं, जैसे हम उसके कार्यों में कहीं भी संसक्त न हों।"[1]

उपर्युक्त तुलना से यह तो स्पष्ट है कि भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही चिन्तन परंपराओं में काव्यास्वाद के लिए पाठक में निर्वैयक्तिकता को आवश्यक माना गया है, अन्तर है तो यह पाश्चात्य चिन्तन में इस बात को जहाँ निषेधात्मक रूप में कहा गया है, भारतीय चिन्तन में उसके लिए विधेयात्मक अवधारणा उपलब्ध होती है। 'निर्वैयक्तिकता' निषेधात्मक है, जबकि साधारणीकरण विधेयात्मक है। निर्वैयक्तिक होकर पाठक अपने वास्तविक व्यक्तित्व को प्राप्त करता है। परिमित प्रमातृत्व के प्रभृष्ट होने पर प्रमाता का निजधर्म प्रकाशित हो जाता है और वह अपनी शुद्ध भाव भूमि में आत्मपरामर्श का अनुभव करता है, जिसे संस्कृत काव्यशास्त्र में 'स्वहृदय संवाद भाजकता' की संज्ञा दी गई है। यह 'स्व हृदय संवाद' एक प्रकार की आत्मोपलब्धि है। इसके अतिरिक्त विधेयात्मक ढंग से विचार करने का ही परिणाम है कि भारतीय आचार्यों ने प्रेक्षक व्यक्ति की व्यक्तिश: रसानुभूति से भी आगे बढ़कर सामूहिक और सामाजिक रसानुभूति का निरूपण किया है।

नाट्य के संदर्भ में अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित सामुदायिक प्रभाव से उत्पन्न होने वाले साधारणीकरण के समान विचार पश्चिम में इधर मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रियों के विवेचन में सुलभ होने लगा है। उदाहरण के लिए, अर्न्स्ट फ़िशर का यह कथन:

"स्पष्टत: मनुष्य निपट 'स्व' से कुछ अधिक होना चाहता है। वह 'पूर्ण' मनुष्य होना चाहता है। वह विच्छिन्न व्यक्ति रहकर संतुष्ट नहीं हो सकता। ..... वह ऐसे 'कुछ' की ओर संकेत करना चाहता है, जो 'मैं' से अधिक हो, जो स्वयं उससे बाहर होते हुए भी उसका स्वधर्म हो।"[2]

---

1. द नेचर ऑफ़ द ड्रामा, लिमनर, (1957), पृ. 917
2. द नेसेसिटी ऑफ़ आर्ट, पृ. 8

इस प्रकार साधारणीकरण के द्वारा आत्मोपलब्धि का विस्तार व्यापक सामाज़िकता में होता है।

तादात्म्य या समानुभूति

सहृदय के चित्त की ममत्वादि से मुक्ति और काव्यांविषय की देशकालादि के बंधनों से मुक्ति, साधारणीकरण प्रक्रिया का प्रथम सोपान है, और तादात्म्य या समानुभूति दूसरा। साधारणीकरण में निहित तादात्म्य संबंधी मान्यता के समकक्ष पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में 'एम्पेथी' अथवा समानुभूति का सिद्धान्त प्राप्त होता है। पौरस्त्य और पाश्चात्य कला-सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में अग्रणीतुल्य कार्य करनेवाले प्रो. आनन्द कुमारस्वामी ने काफ़ी पहले इन दोनों के सादृश्य की ओर संकेत किया था। उन्होंने साधारण्य का अर्थ में 'आइडियल सिम्पेथी' किया है, जो उनके विचार से 'एम्पेथी' के तुल्य है। दोनों सिद्धान्त की तुलना करते हुए उन्होंने यह भी लिखा है कि: "वासना" एक प्रकार की जन्मजात अथवा अर्जित मनोवृत्ति है, जो कभी-कभी भावुकता का रूप भी ग्रहण कर सकती है, किन्तु वह 'आदर्श सहानुभूति' के रूप में साधरण्य की संभावना के लिए अनिवार्य है। इस दृष्टि से साधारण्य सहमति (कन्सेन्ट) का ही दूसरा पक्ष है और इसी को सादृश्य, साहित्य, सारूप्य, तदाकारता आदि संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है।"[1]

सौन्दर्यपरक सहानुभूति के स्वरूप को और स्पष्ट करते हुए श्री आनन्द कुमारस्वामी ने कहा कि इस सहानुभूति का स्वरूप नैतिक तत्त्वों से मुक्त अत: आदर्श होता हैं; अर्थात इसका अनुभव कलाकृति में व्यक्त सत और असत, सुख और दु:ख, सभी स्थितियों में समान रूप से होता है। इससे भिन्न नैतिक सहानुभूति का वैध अनुभव किसी काव्य, नाटक अथवा चित्र में, आदर्श चरित्र के रूप में चित्रित राम जैसे नायक के प्रति तो निश्चय ही हो सकता है, परन्तु ऐसी सहानुभूति का संबंध धर्म की दृष्टि से कलाकृति के आस्वाद से होता है, विशुद्ध सौन्दर्यास्वाद से नहीं। सौन्दर्यास्वाद के क्षणों में दर्शक कृति को मानों ईश्वरीय दृष्टि से देखता है, जो गीता के अनुसार किसी के शुभ-अशुभ कर्मों की ओर ध्यान न देकर, अपने सूर्य का प्रकाश न्यायी और अन्यायी पर समान रूप से करता है।"[2]

पश्चिम में तादात्म्य की चर्चा समानुभूति (एम्पेथी) सिद्धान्त के अन्तर्गत की गई है। पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि समानुभूति का अर्थ पश्चिम के विद्धानों ने किसी-न-किसी रूप में विषय और विषयी के बीच द्वैत चेतना का लोप स्वीकार किया है। परन्तु इस अद्वैत सिद्धि की प्रक्रिया के संबंध में भारतीय तादात्म्य की व्याख्या किंचित् भिन्न है। थ्योडर लिप्स जहाँ द्वैत के लोप की प्रक्रिया में विषयी के द्वारा विषय पर अहं का प्रक्षेपण स्वीकार करते हैं, वहाँ भारतीय मनीषी विषय में विषयी के अहं का विलय – तदाकरण मानते हैं। विषय और विषयी के इस पारस्परिक अन्त:प्रवेश से जहाँ उसका अनुभव समृद्ध होता है, वहाँ यह प्रक्रिया – अपने चेतनधर्मी चित्त से कलावस्तु को संजीवित करने का प्रयास, कलावस्तु में निहित अनुभूति को ग्रहण करने की अपेक्षा, उस पर अपना दृष्टिकोण आरोपित करने का प्रयत्न अधिक प्रतीत होती है। अभिनवगुप्त ने इस अनुभव को आत्मास्वाद तो माना है, अपने महत्व का बोध नहीं। आत्मास्वाद भी इस नाते कि विश्वात्मा के साथ सर्वव्यापी चेतन-तत्त्व के साथ तदाकार हो जाने पर उसका आस्वाद आत्मास्वाद से भिन्न नहीं होता। इसके अतिरिक्त भी कलावस्तु को भारतीय काव्यशास्त्र में उस अर्थ में जड़ नहीं माना गया, जिस अर्थ में थ्योडर लिप्स ने उसे स्वीकार किया है। पश्चिम में समानुभूति के सिद्धान्त की व्याख्या मूर्ति, चित्र आदि कलाओं के संदर्भ में हुई, इसलिए उसे जड़ कहकर, उसके प्रति उत्पन्न विषयिगत संवेगों के कलाकृति पर प्रेक्षपण का प्रतिपादन किया गया। भारतीय विचारकों ने तादात्म्य की व्याख्या उस शब्दार्थमय काव्य के संदर्भ में की, जिसमें भाषा के माध्यम से स्वयं चेतनाधर्मी चित्त की अनुभूतियाँ बद्ध रहती है। अत: प्रश्न उनको ग्रहण करने का होता है, आत्मप्रक्षेपण का नहीं। इसलिए समानुभूति की पाश्चात्य धारणा और 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त में मूल अन्तर यही है कि एक में जहाँ इदं में आत्म के विलय की, दोनों के तदाकरण की बात कही गई है, वहाँ दूसरे में इदं पर आत्म के प्रक्षेपण या आरोपण की। 'समानुभूति' सिद्धान्त की इस परिसीमा का प्रमुख कारण यही है कि इस सिद्धान्त की व्याख्या काव्येतर कलाओं के संदर्भ में तो की ही गई, कभी-कभी कला-इतर सामान्य सौन्दर्य के प्रति चित्त की भावात्मक प्रतिक्रिया की व्याख्या के लिए भी की गई और इसीलिए वहाँ शारीरिक चेष्टाओं पर भी पर्याप्त बल दिया गया।

पश्चिमी विचारकों में विल्हेम बोरिंगर द्वारा की गई 'समानुभूति' की व्याख्या, साधारणीकरण सिद्धान्त के सर्वाधिक निकट है। उन्होंने दो बातों पर विशेष बल दिया है। एक तो यह कि 'समानुभूति' केवल उन्हीं कलाओं से हो सकती है, जो ऐन्द्रिय बोध-सुलभ मूर्तिमत्ता और मांसलता से युक्त हों, ऐसी कृतियों से नहीं जो अमूर्त हों, अथवा जिनमें ज्यामितिक रूपों की प्रधानता हो। वे दोनों ही मानव की सहज अनुभूति का विषय नहीं हो सकतीं, उन तक केवल कल्पना के माध्यम से सहज मानवीय प्रकृति का अतिक्रमण करके ही पहुँचा जा सकता है। इसलिए ग्राहक के चित्त में समानुभूति जाग्रत करने के लिए कलाकृति को मांसल और मूर्त होना ही चाहिए, क्योंकि समानुभूति में ग्राहक का मन 'संक्रमण' करता है, 'अतिक्रमण' नहीं; 'संक्रमण' का अर्थ है – कलाकृति में अपने-आपको लय कर देना। इस 'समानुभूति' के लिए सामान्य जीवनानुभव की सीमाओं से ग्राहक के मन की मुक्ति अनिवार्य है, यह कहना व्यर्थ है। विषय में विषयी के मन का विलय ही संक्रमण है, ऐसा उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है। वे समानुभूति को विश्व और

---

1. द ट्रान्सफ़ॉर्मेशन ऑफ़ नेचर इन आर्ट, पृ. 52, 197
2. वही, पृ. 198

मानव के सुखद सहानुभूतिपूर्ण संबंध का परिणाम मानते हैं। साधारणीकरण की स्थापना काव्य के संदर्भ में की गई, जो भावमूलक कला है जिसके प्रति मानव-मन की प्रतिक्रिया अनुभूत्यात्मक ही होती है। वह काव्य का अनुभावन है, बौद्धिक या कल्पनाप्रवण 'अनुचिन्तन' नहीं। अत: यह कहना कि समानुभूति का विषय वे ही कलाएँ हो सकती हैं जो ग्राहक में अनुभूति जगा सकें, भारतीय मान्यता के अत्यंत अनुकूल है। दूसरी ओर अहं के बोध से मुक्ति, मम और पर की भावना का परिहार, सामान्य जीवनानुभव के ही रूप हैं। वस्तुत: संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित 'तन्मयीभवन' का सिद्धान्त कहीं अधिक गहन है। अभिनवगुप्त के रसविवेचन में तन्मयीभवन का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। 'तन्मयीभवन' का प्रयोग उन्होंने रस-निरूपण के दौरान अनेक प्रसंगों में किया है। उदारहण के लिए:

1. इत्यत्रानुभावविभावावबोधनोत्तरमेव तन्मयीभवनयुक्त्य तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिवासनानुरंजितस्वसंविदानन्दचर्वणा गोचरोऽर्थो रसात्मा।[1]

2. ..... हृदयसंवादवलाद् विभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वाद्यमान एवं रस्यमानतैकप्राण: सिद्धस्वाभावसुखादिविलक्षण: परिस्फुरति।[2]

3. पुनरनुभावप्रतिपादने हि पुनरूक्तिरतन्मयीभावो वा।[3]

4. क्रौञ्चस्यद्वन्द्वियोगेन ..... य: शोक: ..... ए एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्न।[4]

5. तच्चिवृत्तितन्मयीभवनमेव ह्यनुभवनम्।[5]

6. संस्कृति: ..... अनुमानस्मृत्यादिसोपानमारुह्येव तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया।[6]

7. एकाग्रे च सामाजिके तन्मयीभूत आस्वादयितृता।[7]

8. तैर्यै: सम्यग्बद्ध हृदयसंवादक्रमेण तन्मयीभावापन्नप्रमातृभूम्यभेदमुपसम्प्राप्ता अचिन्त्या: स्थायिन: आ समन्तात्साधारणीभावेन निर्विघ्नप्रतिपत्तिवशात्।[8]

अभिनवगुप्त के काव्यगत तन्मयीभवन को स्पष्टता समझने के लिए 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' में प्रस्तुत एक लौकिक उदाहरण विशेष सहायक हो सकता है।[9] हम एकघट का प्रत्यक्ष करते हैं। घट हमारी चक्षुरीन्द्रिय पर प्रतिफालित होकर मानस-पटल पर उपस्थित होता है। मन:पटल व्यष्टि चेतना का ही एक प्रसृत रूप हैं, विमर्श का ही एक स्पन्दित रूप है। इस प्रकार बाह्य घट हमारी प्रकाश-विमर्शमयी सत्ता का ही एक अंग बन जाता है। विषय की यह आत्मकारा परिणति ही 'तन्मयीभवन' है। अभिनवगुप्त के मन्तव्य को और स्पष्ट करते हुए भास्करकण्ठ[10] कहते हैं कि : "बाह्य पदार्थों का जो रूप प्रमाता की चेतना के समक्ष आता है, वह मूलत: प्रकाश से भिन्न नहीं है, तथापि माया के द्वारा पृथक रूप से भासित होता हुआ संकुचित चेतना के सामने आता है। प्रमाता की चेतना उस वस्तु के साक्षात्कार के समय व्यापक होकर फैल जाती है और फैलकर उस वस्तु को अपना अंग बना लेती है। पदार्थों की यह आत्मरूपता की प्राप्ति ही 'तन्मयीभाव' है।" इस प्रकार अभिनवगुप्त के 'तन्मयीभवन' का अर्थ है – प्रमेय की आत्मकारा परिणति। काव्य के संदर्भ में काव्य-विषय की सहृदय-हृदयाकारा परिणति ही तन्मयीभवन है।

---

1. ध्वन्यालोक-लोचन, पृ. 82
2. वही, पृ. 8।
3. वही, पृ. 83
4. ध्वन्यालोक-लोचन, पृ. 86-87
5. वही, पृ. 163
6. अभिनवभारती, भाग 1, पृ. 284
7. वही, पृ. 289
8. वही, पृ. 290
9. तथा च घटो मम स्फुरतीति कोऽर्थ' ? मदीयं स्फुरणं स्पन्दनमाविष्ट: मद्रूपतामापन्न एवं, चिन्मयत्वात्।
   डॉ प्रेमस्वरूप गुप्त: रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ. 202 पर उद्धृत।
10. ग्रहण समये भावस्थ मायया भावत्वेन भासितं निजं सहजशुद्धप्रकाशाख्यं स्वरूपमेव प्रभातारं प्रति स्फुटीभवति यत:, तदा प्रमाता तद्वस्तु प्रति दिदृक्षासमये व्यापकीभवति। यदुक्तम् -
    दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते।
    तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभास्यते।।
    व्यापकीभवंश्च तद्वस्तु स्वात्मसात्करोति तन्मयीभावाद्यादनं च वस्तुन: शुद्धप्रकाशरूपत्वासादानमेव, प्रमातु: शुद्धप्रकाशरूपत्वात्।" वही, पृ. 202 पर उद्धृत।

नाट्यदर्शन अथवा काव्यदर्शन के द्वारा सहृदय का हृदय द्रवीभूत होकर फैल जाता है और इस प्रकार वह अपने काव्य-भाव को भी समाविष्ट कर लेता है। इसी प्रक्रिया को अभिनवगुप्त ने 'तन्मयीभवन' की संज्ञा दी हैं।

किन्तु तन्मयीभवन का एक और अर्थ भी संस्कृत काव्यशास्त्र में प्राप्त होता है जिसके प्रतिपादक रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ हैं। उन्होंने अभिनवगुप्त के तन्मयीभाव की वेदान्ती व्याख्या करते हुए चित्तवृत्ति की विषयकारा परिणति का निरूपण किया है।[1] दोनों मान्यताओं में अन्तर यह है कि अभिनवगुप्त के तन्मयीभवन में प्रक्रिया बाहर से भीतर की ओर है, जबकि पंडितराज में भीतर से बाहर की ओर। एक के अनुसार प्रमेय प्रमाता के साथ तन्मय होता है और दूसरे के अनुसार प्रमाता प्रमेय के साथ। किन्तु दोनों ही स्थितियों में प्रमाता का हृदय प्रमेय के द्वारा फैलकर व्यापक होता है। प्रमाता के पक्ष में यह किसी-न-किसी रूप में आत्मविस्तार ही कहा जाएगा। रसानुभूति के लिए तन्मयीभवन की प्रक्रिया का अत्यधिक महत्व है; तन्मयीभाव की युक्ति से काव्य का आस्वाद संभव होता है। स्पष्ट ही तन्मयीभवन की इस दर्शनाधृत गहन प्रक्रिया की तुलना में पाश्चात्य 'एम्पेथी' सतही एवं सपाट प्रतीत होती है।

मानसिक अंतराल और तन्मयीभवन

सौन्दर्यानुभूति में ग्राहक कलाकृति के साथ तादात्म्य अनुभव करने के साथ ही जिस प्रकार एक सीमा तक दूरी बनाए रखता है, उसको देखते हुए 'एम्पेथी' अथवा 'समानुभूति' सिद्धान्त अपर्याप्त प्रतीत होता है। संभवत: इसीलिए, जैसा कि स्पार्शाट ने कहा है, कालक्रम से 'समानुभूति' सिद्धान्त बिना खंडन के ही त्याग दिया गया।[2] सौन्दर्यानुभूति में तादात्म्य पर बल देते हुए लिप्स और ली यह भूल गए कि उनसे पहले 'अनासक्ति' सिद्धान्त की स्थापना हो चुकी थी और निरपवाद रूप से प्राय: सभी क्षेत्रों में यह स्वीकार किया गया था कि सौन्दर्यानुभूति के लिए आसक्तिहीनता की शर्त अनिवार्य है। 'समानुभति' सिद्धान्त के साथ कठिनाई यह है कि इसके द्वारा आसक्तिहीनता की व्याख्या नहीं हो सकती, क्योंकि समानुभूति के अन्तर्गत आसक्तिहीनता के लिए गुंजाइश ही नहीं है। इस दृष्टि से एडवर्ड बुलो द्वारा प्रस्तावित 'मानसिक अन्तराल' (साइकिकल डिस्टेंस) का सिद्धान्त समानुभूति का पूरक ही नहीं बल्कि अपेक्षाकृत अधिक संतोषप्रद है। यद्यपि शब्दगत औचित्य की दृष्टि से 'मानसिक अन्तराल' संज्ञा भी सुखद नहीं है क्योंकि अन्तराल से स्पष्टत: दूरी का ही बोध होता है और दूरी चाहे जितनी कम हो किन्तु उससे तादात्म्य तो दूर, निकटता का भी ग्रहण नहीं होता।

परन्तु शब्दगत अपर्याप्तता के रहते भी 'मानसिक अन्तराल' की जो व्याख्या बुलो ने की है उससे कलाकृति और ग्राहक के संबंध की निकटता और दूरी का एक साथ ही बोध हो जाता है। 'मानसिक अन्तराल' की स्थापना करने से पहले बुलो के सम्मुख 'अनासक्ति', 'वस्तुनिष्ठता', 'अनुचिन्तन' प्रभृति अवधारणाएँ विद्यमान थीं। इन अवधारणाओं से बुलो को पूरा संतोष इसलिए न था कि इसमें मात्रा-भेद के लिए अवकाश न था। उदाहरण के लिए 'अनासक्ति' या तो पूर्ण हो सकती है या अपूर्ण – इन दोनों के बीच में अनासक्ति की कोई स्थिति संभव नहीं है इस प्रकार 'अनासक्ति' एक प्रकार की स्थिर अवधारणा है जिसमें लचीलेपन का सर्वथा अभाव है। बुलो ने इस स्थिरता के बदले 'मानसिक अन्तराल' जैसी पर्याप्त लचीली अवधारणा का प्रस्ताव किया जिसमें मात्रा-भेद के लिए पूरा अवकाश है। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है : "अन्तराल में स्वभावत: मात्राओं के लिए पूरा स्थान है कलाकृति की प्रकृति के अनुसार कलाकृति और ग्राहक के बीच की दूरी घट-बढ़ सकती है – क्योंकि अपनी प्रकृति के अनुरूप प्रत्येक कलाकृति ग्राहक से अधिक या कम दूरी स्थापित कर लेती हैं। इसके अतिरिक्त कलाकृति और ग्राहक के बीच की दूरी स्वयं ग्राहक की ग्रहण-क्षमता भी घट-वढ़ सकती हैं।"[3]

निस्संदेह बुलो के 'मानसिक अन्तराल' सिद्धान्त में पर्याप्त लचीलापन है और उसमें निहित निकटता और दूरी दोनों की संभावनाओं को देखते हुए अनेक विचारकों द्वारा उसे समर्थन प्राप्त हुआ है। सूज़न लैंगर ने तो अपने 'प्रतीकात्मक रूप' के ग्रहण में 'मानसिक अन्तराल' को उपयोगी पाकर स्वीकार किया ही, वर्जिल सी. एल्ड्रिच ने भी इसी सिद्धान्त को विषय-विषयी संबंध की सबसे संतोषप्रद व्याख्या मानकर अपनी सहमति व्यक्त की है। अपनी दृष्टि से मानसिक अन्तराल की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि "यह दूरीकरण वस्तुत: उस विषय से नहीं है जिसे हम कलात्मक दृष्टि से देखते हैं, बल्कि ऐसी दूरी है जिसमें प्रेक्षक भौतिक वस्तु के रूप में विषय से अपने-आपको दूर रखता है। विषय को इस ढंग से ग्रहण करते हुए वह वस्तुत: विषय के साथ एक प्रकार की आत्मीयता में प्रवेश करता है और जिस सीमा तक उस विषय के कलात्मक पक्ष उसके सम्मुख उद्घाटित होते है, उस सीमा तक आत्मीयता भी होती है। इस दूरी के कारण विषय कलात्मक वस्तु के रूप परिलक्षित होता है।"[4]

---

1. यद्वा विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थायुपहितस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरूपजायते, तन्मयीभवनमिति। रसगंगाधर, पृ. 86
2. द स्ट्रक्चर ऑफ़ एस्थेटिक्स, पृ. 243
3. ब्रिटिश जर्नल ऑफ़ साइकॉलोजी, जून 1912, पृ. 94
4. Thus the distance or detachment is not for the thing, on which aesthetic attention bears; rather, percipient distances himself only from the thing as physical object. By pretending the thing, he actually gets into a special sort of intimacy with it in as much as its aspects are then revealed to him, It is then the thing as aesthetc object. Philosophy of Art, p. 25.

इस प्रकार ऐल्ड्रिच के अनुसार मानसिक अन्तराल में एक विशेष प्रकार की आत्मीयता (इन्टिमेसी) के लिए भी अवकाश है और इसके द्वारा कला-विषय अपने भौतिक रूप को अलक्षित रखकर कलात्मक वस्तु के रूप में गोचर होता है। किन्तु इन संभावनाओं के रहते हुए भी मानसिक अन्तराल में एक प्रकार की यन्त्रगत नाप-तोल की प्रतीति होती है। इस सिद्धान्त के प्रयोग में निकटता और दूरी को जिस प्रकार घटाने-बढ़ाने का विधान है, वह किसी यन्त्र के लिए तो संभव है किन्तु सामान्य अनुभव में किसी सहृदय के द्वारा इस प्रकार की चेष्टा दृष्टिगोचर नहीं होती। कोई सहृदय कलाकृति को ग्रहण करते समय अपने हृदय को उससे निकट या दूर रखने की मात्रा का ऐसा सचेत और गणनापरक व्यायाम नहीं करता। मनोवैज्ञानिक परीक्षण के लिए संभवत: यह सिद्धान्त उपयोगी हो सकता है, जो कि बुलो के प्रयोग का मूल क्षेत्र भी था, किन्तु सौन्दर्यानुभूति संबंधी साक्षात अनुभव की सुकुमारता को देखते हुए 'मानसिक अन्तराल' की उपयुक्तता में संदेह है।

इसके विपरीत अभिनवगुप्त के 'तन्मयीभवन' अथवा 'तादात्म्य' में काव्यकृति और सहृदय के संबंध का सर्वथा सुसंगत विवेचन प्राप्त होता है। 'तन्मयीभवन' न तो 'एम्पेथी' के समान नितान्त एकाकारता की स्थिति है और न 'साइकिकल डिस्टेंस' के समान किंचित् अन्तराल की, बल्कि इसमें विषय और विषयी की भिन्न स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हुए दो सत्ताओं के बीच तादात्म्य-स्थापन का विधान है। इस संबंध-भावना के मूल में एक निश्चित दार्शनिक आधार है। "कश्मीरी आगमिकों की यह धारणा है कि रसास्वाद के लिए द्वैत की भूमिका आवश्यक है, अन्यथा आस्वाद-आस्वाद्य और आस्वादक की अपेक्षित भूमियाँ न होंगी तो रसास्वाद न होगा। .... द्वैत के साथ ही, रसबोध के लिए, अद्वैत भी आवश्यक है। अभिनव के अनुसार यह स्थिति प्रत्यभिज्ञादर्शन से ही संभव है जहाँ अद्वैत में भी द्वैत है, पर वह आस्वाद-बोध के लिए स्वातन्त्र्यवश कल्पित है। इसलिए सच्चा रसास्वाद न एकान्तत: द्वैत-मत वालों की दृष्टि से संगत हो सकता है, न एकान्तत: अद्वैत-मत वालों की दृष्टि से।"[1]

इसीलिए काव्यास्वाद के संदर्भ में तन्मयीभवन का विवेचन करते हुए अभिनवगुप्त स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि सहृदय न तो अनुकार्य के भावों को अनुभव करता है, न नट के भावों को। विभावादि तथा नटादि का महत्व भावों के उद्‌बोधन तक ही सीमित है। रसास्वाद तो प्रत्येक सहृदय अपने ही भावों के संस्कार का करता है। विभावादि के भाव सहृदय के हृदय में संक्रमित नहीं होते : वे केवल सहृदय के हृदय में अव्यक्त पड़े हुए भावों को व्यक्त करने के निमित्त मात्र हैं। इस प्रकार काव्यगत भावों और सहृदयगत भावों में अन्त तक द्वैतता सुरक्षित रहती है। यदि विषय और विषयी के भावों का परस्पर संक्रमण होता तो 'एम्पेथी' के समान 'तादात्म्य' माना जाता। दूसरी ओर यदि काव्यगत भाव और सहृदय भाव सर्वथा विजातीय होते तो उनमें अन्तराल स्वीकार किया जाता। किन्तु यहाँ स्थिति विलक्षण है। एक ही विश्व-चेतना के अंग होने के कारण एक ओर काव्यगत भाव और सहृदयगत भाव सजातीय हैं तो दूसरी ओर आस्वादप्रक्रिया में दोनों का अस्तित्व अपने स्थान पर पूर्णत: सुरक्षित है। इस प्रकार यहाँ द्वैत में अद्वैत और अद्वैत में द्वैत की स्थिति स्वीकार की गई है।

रसास्वादगत तन्मयीभवन के स्वरूप को समझाने के लिए अभिनवगुप्त ने एक लौकिक उदाहरण दिया है : "जैसे कर्कश कंकड़ियों के समूह से कण्टकित भूमि-भाग पर कठिनाई से संचरण करते, हुए किसी जन को देखकर सुकुमारहृदया प्रमदा उसमें मानों आत्मानुप्रवेश करके अत्यन्त खिन्न हो जाती है, उसी प्रकार सहृदय का भी मार्ग है, क्योंकि सुकुमारता विमलता का पर्याय है और कवि-हृदय के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकने की योग्यता की सहृदयत्व का उत्कर्ष है।"[2] इस उद्धरण में 'इव' अर्थात 'मानो' शब्द ध्यान देने योग्य है। अभिनवगुप्त ने सीधे आत्मानुप्रवेश नहीं कहा है, बल्कि यह कहा है कि मानो आत्मानुप्रवेश होता है क्योंकि किसी अन्य व्यक्ति में पूर्णत: अनुप्रवेश असंभव है। इस प्रकार तन्मयीभवन में निहित तादात्म्य एवं पार्थक्य दोनों स्थितियों का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।

इस मान्यता के अनुरूप इधर पाश्चात्य चिन्तन में भी विचार करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही है। सुप्रसिद्ध ऑस्ट्रियन सौन्दर्यशास्त्री अर्न्स्ट फ़िशर ने लिखा है कि : "प्रेक्षक प्रदर्शित वस्तु के साथ तादात्म्य नहीं करता, बल्कि उससे दूरी बनाए रहता है, वह सचेत प्रतिरूपण के द्वारा वास्तविक के प्रत्यक्ष प्रभाव को सह लेता है और कला में उस सुखद स्वतन्त्रता को उपलब्ध करता है जिससे दैनन्दिन जीवन के भार उसको वंचित रखते हैं।"[3] फ़िशर ने यद्यपि 'तादात्म्य' का निषेध करते हुए 'पार्थक्य' की आवश्यकता पर बल दिया है किन्तु संपूर्ण संदर्भ को देखते हुए उनके मन्तव्य में पार्थक्य के साथ तादात्म्य का प्रतिपादन व्यंजित होता है, जो बहुत-कुछ भारतीय परंपरा के अनुरूप है।

---

1. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी : रस विमर्श, पृ. 53
2. यथा हि कर्कशकर्करानिकरकण्टकिते देशे दुस्संचरे संच्चरन् जनं पश्यन्त्या अति सुकुमारहृदयाया प्रमदायास्तदात्मानुप्रवेश इव जायमानं खेदमतितरामादत्ते प्रहारपातादौ वा, तथा सहृदयस्य स एव मार्ग:, सुकुमारता हि वैमल्यापरपर्याय, सहृदयत्से हृदयस्य हि कविहृदयतादात्म्यापत्तियोंग्यतैव उत्कर्ष:।

   अभिनवभारती, भाग 2, पृ. 339
3. The onlooker does not identify himself with what is represented but gains distance from it, overcomes the direct power of reality through its deliberate representation, and finds, in art, that happy freedom of which the burdens of everyday life deprive him. *The Necessity of Art*, p.9.

कवि, काव्य और पाठक का साधारणीकरण

साधारणीकरण सिद्धान्त में एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो उठाया गया है, वह यह है कि साधारणीकरण किसका होता है?

इस प्रश्न का उत्तर पूर्व और पश्चिम दोनों में संपूर्ण प्रक्रिया के संबंध में ही दिया गया है। कवि के साधारणीकृत भाव द्वारा रचित काव्यकृति देशकाल, व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त साधारणीकृत रूप में अस्तित्व ग्रहण करती है, और इसी विलक्षण, अलौकिक, स्वायत्त रूप के कारण सर्व सामाजिकों को साधारणीकृत स्थायी भाव एवं निस्संग चित्तवृत्ति से ग्रहण करने पर सुलभ होती है। वस्तुत: यदि आस्वाद की दृष्टि से देखा जाए, तो प्रासंगिक पाठक की चित्तवृत्ति का साधारणीकरण ही है, शेष का संबंध एक ओर सृजन-प्रक्रिया से है तथा दूसरी ओर काव्यकृति की स्वरूप-व्याख्या से है।

पश्चिम में साधारणीकरण किसका या किससे होता है? यह प्रश्न ठीक इसी रूप में नहीं उठाया गया, न ही आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित आश्रय से तादात्म्य या पंडितराज जगन्नाथ की मौलिक स्थापना—दोष की कल्पना का समकक्षी कोई सिद्धान्त पश्चिम की चिन्तन-प्रणाली में मिलता है।

आधुनिक युग के चिन्तकों में आचार्य शुक्ल की विचारधारा आचार्य विश्वनाथ से प्रभावित थी। अत: उन्होंने भी आश्रय से तादात्म्य का प्रतिपादन करते हुए स्थापना की कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है, जो पहले आश्रय-रूप कवि में सिद्ध होता हैं। पश्चिम के विचारकों ने ठीक इसी प्रकार आश्रय, आलम्बन आदि के भेद न करके संपूर्ण काव्यकृति के निर्वैयक्तिक वस्तुगत अस्तित्व को निस्संग हृदय से ग्रहण करने की बात की है। यों शब्द-भेद से आश्रय के स्थान पर नायक से तादात्म्य के प्रश्न पर वहाँ भी विचार किया गया है। वस्तुत: काव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रधान पात्र होने के कारण पूर्व पश्चिम दोनों में ही नायक को कवि की भावना का प्रतीक माना गया, क्योंकि कथा का नयन उसी के द्वारा होता है। इसीलिए भट्टतोत ने कहा था: **"नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्तत:।"**[1] आचार्य शुक्ल ने तो यहाँ तक कहा कि जहाँ पाठक का तादात्म्य आश्रय या नायक से नहीं होता, वहाँ हमारा अनुभव निम्न कोटि का होता है।[2] अर्थात आचार्य अभिनवगुप्त जब 'तन्मयीभवन' और निमग्नता की बात करते हैं, तो उनका आशय पूर्ण तादात्म्य से होता है।

पश्चिमी विचारकों ने कृति के प्रति एकाधिक प्रकार की प्रतिक्रियाओं की संभावना स्वीकार की है। किसी उपन्यास या कविता के विविध पात्रों के प्रति हमारी प्रतिक्रिया नायक की ही प्रतिक्रिया नहीं होती। इस भाव-वैविध्य की व्याख्या करते हुए टॉमस मुनरो ने कहा है : "एक कहानी के अनुभव-काल में व्यक्ति निरन्तर एक ही पात्र से या क्रमानुसार एकाधिक पात्रों से तादात्म्य कर सकता है। इस प्रसंग में होनेवाली प्रतिक्रिया दो बातों पर निर्भर रहती है : अशंत: कलाकार के अभिप्राय और अपने दृष्टिकोण पर।"[3] मुनरो के अनुसार, : "किसी भी विशेष पात्र के साथ तादात्म्य की मात्रा बहुत दूर तक व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व पर निर्भर है, जिसमें उसकी अचेतन स्थितियाँ भी सम्मिलित हैं।"[4]

वस्तुत: नायक से तादात्म्य की बात जिस साहित्य को दृष्टि में रखते हुए की गई है, उसमें न केवल नायक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं केन्द्रीय पात्र होता था, वही कार्यव्यापार का नियंता और संचालक भी होता था; बल्कि भारतीय काव्यशास्त्र में तो इस पात्र की कल्पना विशेष गुणयुक्त रूप में ही गई है। अत: ऐसे पात्र से तादात्म्य करने में पाठक के सम्मुख कोई व्यावहारिक कठिनाई उपस्थित नहीं होती। आज कदाचित् यह सहज-संभव नहीं है। किसी भी काव्यकृति के प्रति, जिसमें जटिल स्थितियों की संघटना हो, हमारी प्रतिक्रिया एकांगी होगी, क्योंकि नायक के साथ पूर्ण तादात्म्य की स्थिति में, हमारी प्रतिक्रियाएँ उसी के विचार-संवेगात्मक दृष्टिकोण से संचालित होंगी और हम प्रत्येक स्थिति में नायक के समान प्रतिक्रिया के लिए बाध्य हो जाएँगे, जो सदैव संभव नहीं है।

नायक से तादात्म्य का अर्थ है कि हम समस्त कार्यव्यापार को कवि के दृष्टिकोण से न देखकर नायक के दृष्टिकोण से देखें, और परिणामत: जटिलताओं से युक्त काव्यकृति अपनी समग्रता में हमारे लिए ग्राह्य न रहे, क्योंकि कवि का दृष्टिकोण सदैव वही नहीं होता, जो नायक का दृष्टिकोण होता है। नायक के अत्यधिक महत्वपूर्ण होने पर भी उसे समग्र कृति का पर्याय नहीं माना जा सकता। पाठक के रस-ग्रहण के लिए आवश्यक है कि उसकी पहुँच कृति में चित्रित स्थितियों के सभी पहलुओं तक हो, जबकि नायक के सामने प्राय: उसका एक ही पक्ष होता है। जॉन हॉलोवे ने इस समस्या पर विचार करते हुए कुछ ऐसी स्थितियों के उदाहरण दिए हैं जहाँ नायक किसी प्रकार के दुर्भाग्य या विपत्ति का शिकार है, और उन्होंने स्थापना की है कि ऐसी स्थिति में : "चरित्र के प्रति हमारी सहानुभूति किसी तरह एक प्रकार की निस्संगता के साथ वर्तमान रहती है जिसमें हम ग्रहण करते हुए चाहते हैं—नहीं, इससे और अधिक; हम चाहते हैं—'आख्यान' के द्वारा प्रस्तुत सब कुछ को, उसकी समग्रता में। विशेष पात्रों के प्रति हमारा संवेगात्मक संबंध, अन्य तथा अधिक महत्त्वपूर्ण संवेगों की अनुभूति में सहायक होता है। ये अनुभूतियाँ प्रत्यक्ष रूप से हमारी समझ और अनुचिन्तन

---

1. ध्वन्यालोक-लोचन, पृ. 93
2. चिन्तामणि, पृ. 231
3. The Failure Story : An Evaluation, Journal of Aesthetics & Art Criticism, Vol. XVII, No. 3, p. 367.
4. Ibid.

के माध्यम से आती हैं, जैसे-जैसे हम उस सत्य को समग्रता में ग्रहण करते हैं, जो घटनाओं को उसके गन्तव्य तक पहुँचानेवाली लहर के सदृश्य वर्तमान रहता है।"[1]

किसी भी पात्र-विशेष से तादात्म्य का पश्चिम में विरोध हुआ है। आई.ए. रिचर्ड्स व अन्य 'नव्य-आलोचकों' ने 'विडम्बना' (आयरनी) को श्रेष्ठ कविता का लक्षण माना है। और उनके अनुसार 'विडम्बना' कवि की उस सजगता का सहज परिणाम होती है जिससे वह अपनी कविता में रूप से अभिव्यक्त अनुभवों से भिन्न, यहाँ तक कि विरोधी अनुभवों का महत्व समझता है, और उन्हें समाविष्ट करने का प्रयास करता है। ऐसी स्थिति में यदि पाठक का तादात्म्य नायक अथवा किसी अन्य पात्र से हो जाए तो वह स्थितियों के इस विडम्बनापूर्ण रूप से अवगत नहीं हो पाता। जब तक पाठक विभिन्न संभावनाओं से एक अन्तराल की रक्षा नहीं करता, वह कविता में सम्मूर्तित जटिल अनुभूति को पर्याप्त स्पष्टता और सूक्ष्मता के साथ ग्रहण नहीं कर पाता।

यह कहना व्यर्थ है कि विशेष प्रकार के नायकों से तो सदैव तादात्म्य और भी असंभव होगा। उदाहरण के लिए प्रहसन के नायक के साथ यह कैसे संभव हो सकता है कि हम उसकी असामान्य और विशिष्ट--सभी प्रकार की प्रकृतियों से तादात्म्य कर लें। इसके अतिरिक्त भी जहाँ कविता और पाठक के बीच कोई तीसरा मध्यस्थ पात्र नहीं है, वहाँ तादात्म्य किसका होगा? उदाहरण के लिए आत्मप्रवण प्रगीतियों में। अत: निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यद्यपि क्षणिक रूप से नायक अथवा किसी भी अन्य पात्र के साथ तादात्म्य की संभावना हो सकती है, और यह संभावना कवि के उद्देश्य और उसके द्वारा प्रयुक्त कलात्मक पद्धति पर निर्भर रहती है, परन्तु विशिष्ट पात्रों के प्रति एक निस्संगता का बोध कभी नहीं छूटता। इस प्रकार पाठक का तन्मयीभवन नायक से न होकर संपूर्ण काव्य-रचना से होता है। दूसरे शब्दों में कविता या नाटक पढ़ते समय हमारा तादात्म्य कवि के दृष्टिकोण और अनुभूतियों से होता है। हम उसे नायक की दृष्टि से न देखकर कवि की दृष्टि से देखते हैं। जहाँ तक पात्रों का प्रश्न है, उनके साथ तादात्म्य केवल क्षणिक, अस्थायी और पर-निर्भर होता है, जबकि उनसे निस्संगता स्थायी और पूर्ण होती है।

साधारणीकरण में जिस रूप में यह समस्या उठाई गई है कि साधारणीकरण किसका होता है? ठीक उसी रूप में यह प्रश्न शायद पश्चिम में उठाया नहीं गया। वहाँ काव्य के विभाव पक्ष आश्रय, आलम्बन आदि भेदों में विभाजन नहीं मिलता। अत: आलम्बनत्व धर्म साधारणीकरण की समस्या वहाँ उठाई ही नहीं गई। नायक के साथ साधारणीकरण का उल्लेख कहीं-कहीं किया गया है, वस्तुत: बहुत कम। इस संबंध में डॉ. नगेन्द्र की यह मान्यता कि साधारणीकरण कवि-अनुभूति से होता है, पश्चिम की बहुश: स्वीकृत मान्यता है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों का इस संबंध में यही मत है कि कवि स्वानुभूति के आधार पर कलाकृति के माध्यम से एक ऐसे बिम्ब का निर्माण करता है, जो उसकी अनुभूति का ही प्रतीक होता है और उसे धारण करता है। इस बिम्ब के द्वारा वह पाठक को अपना सहभोक्ता बना ले, यह उसका दायित्व है। इसे चाहे शुक्लजी के शब्दों में आलम्बन को सामान्य गुणों से युक्त करना कह दिया जाए, अथवा संपूर्ण विभाव पक्ष को। वस्तुत: समग्र कलाकृति ही कवि की अनुभूति का प्रतिरूप होती है, उससे अनुबिद्ध रहती है।

सहृदय प्रमाता की अनुभूति का तादात्म्य कवि की अनुभूति से होता है, इसका संकेत प्लेटो की काव्यानुभूति संबंधी मान्यता में मिलता है। प्लेटो ने जब यह स्वीकार किया कि काव्य-रचना के क्षणों में कवि अपने निसर्ग व्यक्तित्व पर एक अन्य आरोपित व्यक्तित्व धारण कर लेता है तो उसका आशय इतना ही था कि उसका अहं पूर्णत: काव्यविषय में तल्लीन हो जाता है। यही नहीं बल्कि वे काव्य का पाठ करनेवाले चारण और सहृदय प्रेक्षक के मन में भी उन्हीं भावों का अनुभवन स्वीकार करते हैं, जिन्हें कवि अपनी कृति के माध्यम से संप्रेष्य बनाता है।[2] काव्य-देवियों के द्वारा कवि, चारण और पाठक, तीनों के अभिभूत होने की स्वीकृति भी उनके मध्य वर्तमान एक सामान्य सूत्र की ओर संकेत ही है।

पाठक और कवि के बीच समानुभूति की इस मान्यता का पोषण अत्यंत व्यापक रूप से पश्चिम के सौन्दर्यशास्त्र में हुआ है। ड्यूई[3] ने भी इस मत का समर्थन किया कि संवेदनशील पाठक कवि के 'समान हृदय' वाला होता है। उनके अनुसार कलाकार और दर्शक को पृथक नहीं करना चाहिए क्योंकि 'कला की प्रतीति के लिए दर्शक को अपने अनुभवों की सृष्टि करनी आवश्यक है।' इसी प्रकार स्पिंगार्न ने कहा कि : "प्रतिभा और आस्वाद की अभिन्नता कला-विषयक आधुनिक चिन्तन की चरम सिद्धि है और उसका अर्थ यही है कि अपने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्षणों में सृजनात्मक और आलोचनात्मक वृत्तियाँ मूलत: एक हैं।"[4] अर्थात जो कवि के सृजन-क्षण की अनुभूति होती है, वही समीक्षक के आस्वाद-क्षण की और समीक्षक किसी भी अन्य सहृदय पाठक का समानधर्मा होता है।

---

1. एसेज़ इन क्रिटिसिज्म, जिल्द 5, 1955, पृ. 380
2. विशेष विवरण के लिए देखिए : प्लेटो के काव्य-सिद्धान्त, पृ. 55-58
3. आर्ट एज़ एक्सपीरिएन्स, पृ. 54, 325
4. क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज्म : एनशिएन्ट एण्ड मॉडर्न (सं. आर. एस. क्रेन), पृ. 510 पर उद्धृत

यूरोपीय विचारधारा में उक्त मत की अनुगूँज शब्द-भेद से अनेक विचारकों के मत में सुनाई पड़ती है। ऐम्पसन ने इसी बात को इस प्रकार कहा कि : "किसी कवि को समझने की प्रक्रिया, अपने मन में उसकी कविताओं के पुनस्सृजन में निहित रहती है।"[1] कवि के शब्दों के माध्यम से इस प्रकार पाठक अपने लिए उसकी कविता का पुनस्सृजन करता है। पाश्चात्य विचारकों ने कवि और पाठक की अनुभूति में इतनी दूर तक समानता प्रतिपादित की है कि कवि के लिए सृजन-क्षण में जिस आत्म-विस्मरणकारी मन: स्थिति की अनिवार्यता निरूपित की गई, उसी प्रकार पाठक के लिए भी। रॉबर्ट ग्रेब्स ने कहा : "कविता के पाठक को उसके पूर्ण अर्थ के ग्रहण के लिए पूर्तिकर समाधि की अवस्था में लीन होना आवश्यक है।"[2] भारतीय काव्यशास्त्र में जब काव्यानुभूति को 'विगलित वेद्यान्तर' या 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य' स्थिति कहा जाता है, तब आशय इसी अन्य-ज्ञान-विरहित समाधि की अवस्था से होता है। इस सिद्धान्त के व्यापक प्रचार और सर्वस्वीकृति का प्रमाण यह है कि अधुनातन विचारकों से इसको समर्थन प्राप्त हुआ है। ज्याँक मारितें ने भी सृजन और आस्वाद को अभिन्न मानते हुए कहा है : "जिस प्रकार सृजनात्मक प्रतिभा का उदय कलाकार और विषय-वस्तु के तादात्म्य से होता है, उसी प्रकार सौन्दर्यानुभूति अथवा कलाकृति के पुनस्सृजन का उदय दर्शक और कलाकृति के तादात्म्य से होता है। समीक्षा इस प्रकार सृजन-प्रक्रिया की पुनरावृत्ति है।"[3]

कवि और पाठक के बीच तादात्म्य का समर्थन केवल आलोचकों ने ही नहीं, स्वयं सृजनशील कलाकारों ने भी किया है। रोमाण्टिक कवि वर्डसवर्थ ने कहा: "जब पाठक कवि की अनुभूति से नहीं पढ़ता, तो उसके लिए सब दुस्साध्य हो जाता है।"[4] वर्जीनिया वुल्फ़ ने अपने पाठकों को सावधान किया कि: "अपने लेखक को आदेश न दो, वह जो है, वही होने का प्रयास करो। उसके सहचर और समानधर्मा बनों।"[5]

प्रसिद्ध फ्रांसीसी उपन्यासकार और आलोचक मार्सेल प्रूस ने भी काव्यास्वाद की प्रक्रिया को सृजन-प्रक्रिया का ही एक भिन्न रूप माना है। दोनों में भिन्नता क्रिया के स्तर पर होती है, प्रयोजन के स्तर पर नहीं। उसके अनुसार : "वास्तव में प्रत्येक पाठक, पढ़ने की प्रक्रिया में, स्वंय अपना पाठक होता है। लेखक की कृति केवल एक प्रकार के पर्यवेक्षण यन्त्र के समान होती है जिसे वह पाठक को प्रदान करता है ताकि पाठक कृति में सभवत: जो स्वयं न देख सके, उसे विविक्त कर लें।"[6] बोदलेयर ने समस्त कलाओं के संदर्भ में इस तथ्य पर बल दिया है कि उनमें एक रिक्त स्थान होता है, जिसकी पूर्ति आस्वादयिता की कल्पना के द्वारा होती है। "इस रिक्तता को रचनाकार की किसी कलात्मक अक्षमता का सूचक नहीं समझना चाहिए। इसका अस्तित्व तभी तक होता है, जब तक आस्वादयिता 'प्रतीति' की स्थिति तक नहीं पहुँच पाता। जब कृतिगत अनुभूति पाठक के अन्त:करण का अंग हो जाती है और वह उसका आस्वादन करने लगता है तो यह रिक्तता समाप्त हो जाती है।"[7] इसके घटित होने पर कृतिकार और आस्वादयिता के बीच पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। पैस्कल के शब्दों में: मोण्टेन में नहीं, बल्कि स्वयं अपने भीतर मुझे वह सब कुछ प्राप्त होता है, जो मैं उनमें देखता हूँ।"

निष्कर्ष

1. रसानुभूति की प्रक्रिया की जैसी सम्यक संपूर्ण व्याख्या भारतीय काव्यशास्त्र के साधारणीकरण सिद्धान्त में सुलभ होती है, उसके तुल्य पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र में कोई एक अकेला सिद्धान्त या सर्वांगपूर्ण अवधारणा नहीं है।

2. साधारणीकरण की तुलना में प्राय: जिस 'एम्पेथी' सिद्धान्त को उपस्थित किया जाता रहा है, वह साधारणीकरण-व्यापार के केवल एक अंश से तुलनीय है और वह अंश है—तादात्म्य अथवा तन्मयीभवन, किन्तु 'एम्पेथी' में 'तन्मयीभवन' के भी केवल एक पक्ष से ही समानता दिखाई पड़ती है।

3. पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में मानसिक अन्तराल (साइकिकल डिस्टेंस) नामक सिद्धान्त 'एम्पेथी' के साथ संयुक्त होकर साधारणीकरणगत 'तन्मयीभवन' की पूरी समता करने में समर्थ हो पाता है।

4. साधारणीकरण-सिद्धान्त की पूर्णता इस बात में है कि एक ही सिद्धान्त के द्वारा रसास्वाद प्रक्रिया के संपूर्ण सोपानों और सभी घटकों के पारस्परिक संबंधों का निरूपण संभव हो जाता है। इसके अन्तर्गत कवि, काव्य और सहृदय तीनों की अनुभूतियों के साधारणीकरण की विवेचना के साथ कवि से सहृदय तक के संपूर्ण संप्रेषण व्यापार की व्याख्या सुलभ है। इसके समानान्तर

---

1. सेविन टाइप्स ऑफ़ एम्बिगुइटी, द्वितीय संस्करण की भूमिका, पृ. 15
2. द कॉमन एसफ़ोडल, पृ. ।
3. क्रिएटिव इन्टयूशन इस आर्ट एण्ड पोएट्री, पृ. 39
4. अर्ली लेटर्स, पृ. 306
5. द कॉमन रीडर, पृ. 259
6. टाइम रीगेन्ड (अंग्रेजी अनुवादक-स्टीफ़ेन हडसन), पृ. 265-266
7. Oeuvres Completes. (Ed. by Y. G. le Datec) p. 1041.

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में कहीं कवि और कहीं पाठक के। इस दृष्टि से भी पाश्चात्य परंपरा में साधारणीकरण से तुलनीय कोई एक संतुलित एवं सांगोपांग सिद्धान्त निर्मित नहीं हो सकता है।

5. काव्यगत विभावादि के साधारण्य का विचार करते हुए संस्कृत काव्यशास्त्र में विशेष से सामान्य होने की जो प्रक्रिया बतलाई है, उसके समान पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में 'यूनिवर्सलाइज़ेशन' और 'टाइम' सिद्धान्तों का निरूपण मिलता है। परन्तु पश्चिमी साहित्य की परंपरा में 'यूनिवर्सल' और 'टाइप' संबंधी मान्यता सदैव स्वीकृत नहीं रही। रोमाण्टिक आन्दोलन के प्रभाव से आधुनिक युग में प्रायः 'व्यक्ति' अथवा 'विशेष' की ही प्रतिष्ठा दिखाई पड़ती है।

6. संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यगत विभावादि को पूर्णतया सहृदय-ग्राह्य होने के लिए साधारणीकरण-व्यापार द्वारा लौकिक से अलौकिक बनाने के विधान है, जिसके तुल्य पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में 'नाटकीय आभास' अथवा 'प्रतिभास' का सिद्धान्त प्राप्त होता है।

7. भाव के स्तर पर साधारणीकरण-व्यापार सत्व-रज-तम से युक्त भावों को परिशुद्ध करके सत्वोन्मुख करता है जिसे प्रायः पाश्चात्य काव्यशास्त्र के त्रासदी यह विरेचन अथवा 'केथारसिस' से तुलनीय माना जाता है, किन्तु विवेचन से स्पष्ट है कि भावगत साधारणीकरण विवेचन की तुलना में अधिक विधेयात्मक है।

8. साधारणीकरण-व्यापार में जहाँ व्यक्ति-संबंधों से मुक्ति की बात गई है, उसकी तुलना में पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रतिपादित 'निर्वैयक्तिकता' को उपस्थित किया जा सकता है, किन्तु दोनों की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति-संबंधों के विकल्पों का विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र में अधिक सूक्ष्मता और गहराई के साथ किया गया है, साथ ही वह 'निर्वैयक्तिकता' की अपेक्षा कम निषेधात्मक है।

9. साधारणीकरण-व्यापार के अन्तर्गत भाषा के काव्यात्मक प्रयोग को जो महत्व प्राप्त है, उसकी गूँज पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी यत्र-तत्र सुनाई पड़ती है, किन्तु भारतीय काव्य शास्त्र में भाषा के काव्यात्मक रूप का 'व्यंजना व्यापार' के नाम से जिस प्रकार स्पष्टतः निर्देश किया गया है, उस प्रकार की स्पष्टता पाश्चात्य काव्य शास्त्र में सुलभ नहीं है।

10. किसी पाश्चात्य सिद्धान्त से साधारणीकरण की तुलना करते समय यह तथ्य ध्यात्वय है कि साधारणीकरण एक निश्चित दर्शन की उपज है। शैवाद्वैत तथा शांकर अद्वैत जैसे व्यापक जीवन-दर्शन से ही साधारणीकरण जैसे समर्थ काव्य सिद्धान्त की उत्पत्ति संभव है। भारतीय दर्शन की इस विशिष्ट पृष्ठभूमि के बिना साधारणीकरण की सांगोपांगता का रहस्य समझना कठिन है।

(रस सिद्धान्त और सौंदर्यशास्त्र से)

25. सर्जनात्मक लेखन में भाषा का बदलता हुआ रूप

–मलयज

भाषा पर विचार करते समय उसका जो एक सर्वस्वीकृत-सा रूप हमारे सामने आता है वह यह कि भाषा अभिव्यक्ति का – मानव अनुभूतियों को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक ले जाने का-माध्यम है। भाषा के संदर्भ में कृतिकारों को जब-जब सर्जनात्मक संकट का बोध हुआ है तब-तब वह इस रूप में ही व्यक्त हुआ कि कृतिकार जो अभिव्यक्त करना चाह रहा है वह नहीं हो पाता या वह कुछ हो पा रहा है जो वह नहीं चाहता। और संकट के ऐसे प्रत्येक अनुभव-क्षण में कृतिकार अपनी आसतीनें चढ़ा कर मुक्का तान कर भाषा पर पिल पड़ा है, उसमें जरूरी यह ग़ैर-जरूरी तोड़-फोड़ की है और उससे बलात् वह कुछ 'कहलवा' लेना चाहा है जो उसकी मंशा है। भाषा उसके लिए हमेशा से एक ऐसी रत्नगर्भा धरती रही है जिसमें जितनी दूर तक प्रतिमा की फाँक खुदेगी जायगी वह उतना ही प्रभूत मात्रा में रत्न देगी। यहाँ ध्यान देने की बात सिर्फ़ इतनी है कि अब तक भाषा का अस्तित्व प्राय: कृतिकार-व्यक्तित्व से पृथक नहीं माना जाता था, बल्कि सामान्य रूप से आग्रह तो इस बात पर भी रहा है कि एक समर्थ रचनाकार के पास उसकी एक विशिष्ट भाषा भी होनी ही चाहिए जिस पर उसके स्वामित्व की स्पष्ट छाप हो। ऐसा कभी नहीं हुआ, जैसा कि आज हो गया लगता है, कि भाषा अपने रचना-प्रयोग का एक विकास-क्रम पूरा कर चुकने के बाद कृतिकार-व्यक्तित्व के एक निर्वैयक्तिक बोध-स्तर पर कृतिकार से छिटक कर दूर जा खड़ी हो और उससे बड़ी हो जाय – भाषा के सन्दर्भ में इस कोटि का सर्जनात्मक संकट बोध कि भाषा सृजन-कर्म का साधन न रह सके वरन् सृजन-कर्म की सहकत्री बन जाय – कभी-कभी सृजन का पर्याय ही बन जाय।

खड़ी बोली हिन्दी को सृजन की भाषा का दर्जा मिलने के समय से अब तक भाषा इन्हीं दो मूल स्थितियों के बीच यात्रा करती रही है। पहली स्थिति में भाषा सृजन की भाषा है, दूसरी में 'सर्जनात्मक भाषा'। आगे विस्तार में जानें के पूर्व यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि दोनों के बीच का यह सूक्ष्म अन्तर बाल की खाल निकालने वाले दृष्टिकोण की पुष्टि न कर वस्तुत: भाषा के संवेदनशील प्रयोगकर्ता के रूप में एक रचनाकार की समग्र मूल्य दृष्टि को ही ध्वनित करता है। अत: सर्जनात्मक लेखन का भाषात्मक कोई भी विवेचन भाषा चेतना की पृष्ठभूमि में कार्यरत सौन्दर्यात्मक मूल्यों तथा उनके भी पीछे की सामाजिक-नैतिक पृष्ठभूमि में उचित परिप्रेक्ष्य में देखने का एक प्रयत्न है। आज विभिन्न युगों के सर्जनात्मक संकल्पों एवं आधार भूमियों की खोज 'जीवन-दर्शन' की खोज द्वारा नहीं पूरी जा सकती; न सिर्फ़ वह पूरी नहीं की जा सकती वरन् अक्सर भ्रामक भी सिद्ध हो सकती है। क्योंकि 'जीवन-दर्शन' जैसा शब्द रचनात्मक उपलब्धि की जिस सुचिन्तित प्रणालीबद्ध कोटि को अपने भीतर समाहित करके चलता है उसकी लीक का अनुसरण करने से सर्जनात्मक प्रक्रिया के उन छोटे-छोटे अनेक चक्रों को नज़र-अन्दाज कर दिया जा सकता है जो सर्जनात्मकता के विकास चरणों के रूप में अपनी अद्वितीयता एवं विशिष्टता के कारण ही महत्वपूर्ण होते हैं। विभिन्न युगों के भावबोध की आन्तरिक सच्चाई और सर्जनात्मक चेतना के स्तर पर जो नया बिन्दु जुड़ा हो उसे पकड़ने में जीवन-दर्शन अपर्याप्त सिद्ध होता है। आज यदि इस बात का उत्तर देने की बाध्यता आन पड़े कि हम अपनी पूर्व पीढ़ी से किस बिन्दु पर भिन्न हैं तो इसके लिए अन्य किसी स्थूल रास्ते पर न जाकर सर्जनात्मक लेखन की भाषा की सूक्ष्म तहों को ही उलटना-पलटना श्रेयस्कर होगा, जिसके भीतर कितनी ही अमूर्त्त रचना-शक्तियाँ समसामयिक जीवन-बोध से प्रेरित किसी अग्रिम मूल्य-बोध की प्रतीति से टकरा-टकरा कर कोई निश्चित आकार लेने को आकुल हैं। दो पीढ़ियों का यह अन्तर दिखाने के लिए यह आवश्यक नहीं समझा जाना चाहिए कि दो निश्चित परिपाटियों की तरफ ही इशारा किया जाय – नयी पीढ़ी भिन्न जीवन-बोध के बावजूद अभी कोई भिन्न मूल्य-बोध नहीं रच पायी है। भिन्न जीवन-बोध की अनिवार्यता से क्रमश: स्फुरित भिन्न मूल्योन्मेष की सत्ता यहाँ एकमात्र भाषा-पक्ष के अध्ययन से ही प्रमाणित की जा सकती है।

भाषा का रूप उसके 'आचरण' से निर्धारित होता हैं यह आचरण भी बहुत कुछ उन ऐतिहासिक शक्तियों द्वारा परिचालित होता है। ये शक्तियाँ या तो सामाजिक-चेतना के स्तर पर या व्यक्ति-चेतना के स्तर पर क्रियाशील होती हैं। भाषा के परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक शक्तियों की सक्रियता के ये दो ध्रुव हैं। अकसर ये दो ध्रुव परस्पर मिल जाते हैं और भाषा का वह 'आचरण' जो अन्यतम ध्रुव-स्थितियों में बिल्कुल 'निश्चित'-सा रहता है, उनके मिल जाने से 'अव्यवस्था' अथवा अराजकता का परिचय देने लगता है। उदाहरण-रूप में कहा जा सकता है कि द्विवेदीयुगीन भाषा सामाजिक आचरण की भाषा थी और छायावाद युग की व्यक्तिवादी आचरण की। भाषा के आचरण की तीसरी स्थिति के लिए प्रयोगवादकालीन भाषा का नाम आसानी से लिया जा सकता है। यहाँ 'भाषा के आचरण' को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। वास्तव में भाषा के 'आचरण' की परिकल्पना उस सम्बन्ध की ओर इंगित करती है जो भाषा के प्रयोगकर्त्ता के रचनाकार-व्यक्तित्व तथा उसके परिवेश के बीच स्थित है। भाषा की इकाई के रूप में शब्द में निहित अर्थ इस सम्बन्ध का ही प्रतिफलन है, या यों कहें कि इस सम्बन्ध का बोध ही वह अर्थ है जिसका शब्द हमें ज्ञान कराता है। यह सम्बन्ध भाषा की धारक-शक्ति के रूप में कितना महत्त्वपूर्ण तत्त्व है यह इस बात से ही प्रमाणित हो जाता है कि जब

भी कभी, किसी बाह्य या आन्तरिक कारण से, वह सम्बन्ध बदला है शब्द का अर्थ ही बदल गया है। जिन भी परिस्थितियों में रचनाकार और उसके परिवेश में एक प्रकार का सम्बन्ध निर्मित हो गया है भाषा उसके अनुरूप ही आचरण करेगी। इस संदर्भ में यह सहज ही देखा जा सकता है कि भाषा के आचरण को अग्रिम परिकल्पना और तत्सम्बन्धी आवश्यक रचनात्मक संपृक्ति ही भाषा के एक निश्चित प्रकार के आचरण में परिवर्तन ला सकती है। भाषा विज्ञान की शब्दावली में संभवत: इसे ही भाषा का विकास कहा गया है जिसका अर्थ यहाँ इतना ही समझ लिया जा सकता है कि भाषा एक प्रकार की सम्बन्ध पूर्णता से दूसरी सम्बन्ध पूर्णता की ओर बढ़ती है। अवश्य ही यह पूर्णता (saturation) ऐतिहासिक शक्ति-चक्र की धीमी या तेज़ गति द्वारा अपनी आयु प्राप्त करती है। भाषा के संदर्भ में संकट तब उपस्थित होता है जब उस ऐतिहासिक चक्र की गति का साथ देने में वे सम्बन्ध पीछे रह जाते हैं। तब भाषा अभिव्यक्ति का जीवित उपादान न रह कर एक अलंकृत मुद्रा का रूप अख्तियार कर लेती है।

द्विवेदी युग में इस संबंध का नियमन बहुत मुखर रूप में वे ऐतिहासिक शक्तियाँ कर रही थीं, जिन्होंने देश की राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत किया था और जो साहित्य के क्षेत्र में एक 'सामाजिक अहं' के रूप में सामने आईं। इस सामाजिक अहं से प्रेरित उस युग के रचनाकार समाज को उसकी वस्तुवादी रेखाओं के बीच पहचानने की कोशिश कर रहे थे। उनमें ऐतिहासिक शक्तियों के अन्तर्मंथन से उद्भूत उस नितान्त वैयक्तिकता का आग्रह नहीं था कि वे अपने परिवेश को (जो उस वक़्त 'समाज' की परिकल्पना तक ही सीमित था) अन्तर्मुख आँखों से उसका कल्पनात्मक रूपान्तरण करके देखते। इसलिए उनकी खोज राष्ट्रीय चेतना की लहर से संयुक्त सामाजिक चेतना के ज्वार से उत्सर्जित वस्तुस्थितियों की सही पहचान करने और उन्हें सही शब्दों में व्यक्त कर डालने तक ही रही। इस दृष्टि से पद्य और गद्य की भाषा में कोई तात्त्विक भेद करना कठिन है, चाहे उस युग के निर्माता महावीर प्रसाद द्विवेदी को भले ही यह शिकायत रही हो कि 'हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है।' दोनों ही क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से शब्द पर ही बल दिया जाता था, चाहे वह मैथिलीशरण गुप्त की प्रवाहयुक्त सादी भाषा हो या अयोध्यासिंह उपाध्याय की संस्कृत शब्द प्रधान क्लिष्ट भाषा। उस समय के कृतिकार का एकमात्र प्रयत्न (भाषा के सम्बन्ध में प्रयोग) यह रहा है कि उसकी भाषा किस प्रकार अधिकाधिक दुरुस्त, सटीक और उपयोगी हो जिससे वह सामाजिक परिस्थितियों का यथातथ्य चित्रण कर सके। द्विवेदी युग में भाषा का एक प्रतिमान रूप स्थिर करने के पीछे यही व्यावहारिक चेष्टा काम करती दिखाई देती है। इस परिप्रेक्ष्य में यहाँ भाषा की मूल संघटना का स्वरूप देखा जा सकता है। यहाँ भाषा रचनाकार और उसके परिवेश के सम्बन्ध की साक्षी मात्र है, एक ऐसा निष्क्रिय यंत्र जो उतना ही काम करता है जितना उससे करवाया जाता है – बल्कि यहाँ तो इस बात की भी सजग चेष्टा है कि वह उतना ही काम करे जितना उससे करवाया जाय, न घट कर न बढ़ कर। रचनात्मक स्तर पर भाषा का यह रूप पराश्रित रूप है – रचनाकार पर आश्रित, और उससे भी अधिक रचनाकार और उसके परिवेश के एक खास कोटि के सम्बन्ध पर आश्रित। अत: रचनाकार और भाषा का सम्बन्ध भी आश्रयदाता और आश्रित का सम्बन्ध है, दो स्वतन्त्र गतिशील (डाइनैमिक) इकाइयों का सम्बंध नहीं।

भाषा का एक वर्णनात्मक ढाँचा होता है, कथ्य के आदि, मध्य, अन्त को सिल सिलेवार रखने का क्रम। गद्य में यह ढाँचा कमोबेश अनिवार्य यह होता है – उस बुनियादी ढाँचे का रहना गद्य में होने की ही शर्त है। कविता भाषा के इस वर्णनात्मक ढाँचे को स्वीकार नहीं करती। और इस सामान्य अर्थ में द्विवेदी युग की काव्य भाषा और गद्य-भाषा जरूर अलग-अलग हस्तियाँ हैं। पर इसके अलावा भी भाषा का एक वर्णनात्मक रूप गठन होता है जिसमें शब्द अर्थों की, और अपने अपेक्षाकृत अधिक संवेदनशील प्रयोगों में (जो कि आगे चलकर संभव हो सका) अर्थ-अनुगुंजों की लड़ी लिए हुए आते हैं; इस शब्द-लड़ी का अर्थ अपने आप में पूर्ण होता है, वे अपनी जगह पर पूरा अर्थ देते हुए 'स्थिर' होते हैं; उनके क्रम में अदला-बदली तो की जा सकती है – और इस तरह अर्थ-वैभव का विस्तार किया जा सकता है – पर उनकी क्रमता के बीच कोई ऐसा अन्तराल, ऐसा निर्वात नहीं पैदा किया जा सकता जिसमें सर्वथा नया अर्थ अन्वेषित कर सकने की गुंजाइश हो। उन्हें अधिक से अधिक लोचदार बनाया जा सकता है, जिससे भावानुभूतियों के तापमान के अनुसार वे कभी परुष, कभी कोमल, कभी सूक्ष्म, कभी ठोस रूप ग्रहण कर सकें। पर जिसे मैं 'सर्जनात्मक भाषा' कहता हूँ, वह भाषा में रचनाकार की अनुभूतियों के दीपक से दीपक जलाने की क्रिया से नहीं पैदा होती, चाहे रचनाकार की वे भावानुभूतियाँ कितने ही वेग और तीव्रता से भाषा की सीमा से टकराएँ। 'सर्जनात्मक भाषा' भाषा-प्रयोग की एक ऐसी शर्त है जिसमें रचनाकार भाषा की इकाई के रूप में शब्द के अस्तित्व के प्रति अत्यधिक सचेत होता है – उसका सचेत होना इस बात की गवाही मात्र है कि वह भाषा के अब तक के प्रयोगों की सीमाओं से परिचित है और यही नहीं वरन् उन सीमाओं को संवेदना के स्तर पर झेल भी चुका है। इसे चाहें तो भाषा की अस्तित्ववादी परिकल्पना कहा जा सकता है, जिसके लिए यह आवश्यक है कि रचनाकार अपने कृतिकार व्यक्तित्व के प्रति भी अत्यधिक सचेत हो। ऐसी स्थिति में रचनाकार भाषा के साथ अपने सम्बन्ध में उससे अपनी भावनुभूतियों का मात्र अभिव्यक्त करने की सहूलियत नहीं चाहेगा, वरन् वह भाषा की अनुभूति का एक निर्वैयक्तिक आयाम मान कर उसके द्वारा नये अर्थ की ओर एक सम्मिलित यात्रा करेगा। इस प्रकार के भाषा-प्रयोग में शब्द कृतिकार के मोहताज न होकर एक ऐसे संवेदनशील जीवित खंड होंगे जिनके प्रति तनिक भी लापरवाही रचना के उन सौदर्यात्मक मूल्यों के उन्मेष को ही ध्वस्त कर सकती है जिसे रचनाकार अपनी कृति के माध्यम से साक्षात्कृत करना चाहता है। सर्जनात्मक भाषा रचनाकार की अपने परिवेश

की पहचान को कोई निश्चित आकार, संज्ञा या रूप देकर नहीं व्यक्त करती, वरन् वह वस्तुओं को उनके मूल आकारों संज्ञाओं, रूपों के साथ इस तरह से प्रतिनिधित्व देती है कि उनका जुटा हुआ समवाय किसी तीसरी अर्थ-सत्ता के अस्तित्व को प्रेषित करता है। यह अर्थ का तीसरा आयाम अर्थ के उन दो आयामों से भिन्न होता है जिसके अन्तर्गत एक में अर्थ महज 'समझा' जाता है और दूसरे में महज़ 'महसूस' किया जाता है। वह उस प्रतिक्रिया ('आचरण') पर निर्भर करता है जो वस्तु – और उसे सामने लाने वाले शब्द-रूप – तथा वस्तु के बीच घटित होता है। इस प्रतिक्रिया के लिए इतना ही आवश्यक नहीं है कि दो वस्तुएँ – दो शब्द-रूप – एक साथ जुटा दिए जायँ; वरन् उनको एक साथ जुटाने में एक विशेष संगति, एक विशेष क्रम या तरतीब का होना भी अपेक्षित है। रचनाकार की क्षमता इस बात में है कि वह उन वस्तुओं को एक साथ विभिन्न तौर तरीक़ों में इस तरह रखे कि वे परस्पर तथा प्रतिक्रिया करें जब कोई तीसरी अर्थ-सत्ता मौजूद हो।

यदि रचनाकार के भीतर ही सब कुछ घटित होता है और बाहर का लोक रचना-क्षण के पहले तक रचनाकार से असम्पृक्त एक न्यूट्रल 'कच्चा माल' भर ही है तो वह 'गति' नहीं होगी जो दो स्वतंत्र वस्तु-सत्ताओं के 'होने' की सूचक है। यह 'गति' काल का ही एक उद्भावन है, यद्यपि सर्वत्र उस पर आधारित नहीं है। यह काल (युगबोध) वह तीसरी सत्ता है जिसकी पृष्ठभूमि में जब दो वस्तुएँ विरुद्ध दिशाओं में चलती हुई दिखाइ देती हैं तब 'गति' (आधुनिकता) का बोध होता है। अभी तक प्राय: यह होता रहा है कि रचना-क्षण के पहले तक या तो एक वस्तु चलती दिखाई देती थी (द्विवेदी युग : सामाजिक अहं) और दूसरी स्थिर भावोद्दीपन की प्रतीक्षा में ('रचना' का विषय बनकर) पड़ी रहती थी; या दूसरी वस्तु चलती दिखाई देती थी (छायावाद : अन्तर्मुख अहं – व्यक्तिमन में पड़ती हुई बाहर की छाया) और पहली उससे परे असम्पृक्त रहती थी। इन दोनों ही स्थितियों में रचनाकार एकमंचीय पात्र के समान अपनी भावानुभूतियों के लिए जिस भाषा को चुनना है – इन स्थितियों में जो भाषा निर्मित होती है – वह चाहे वस्तुवादी हो (द्विवेदी युगीन) या भाववादी (छायावादी युगीन), उसमें 'तनाव' नहीं होता जिसका कि होना इस बात का अत्यंत प्रभावशाली संकेत होता है कि रचना का आशय खिंचे हुए बाण की तरह किसी तीसरी अर्थ-संभावना की दिशा में छूटने-छूटने को है।

भाषा को इस हद तक स्वशक्ति-चालित एवं निर्वैयक्तिक बना देना कि वह रचनाकार को दाय के रूप में मिले परिचित अर्थ-रूपों के द्वारा ही वस्तु-सत्य का नया कोण उद्घाटित कर दे, वस्तुत: रचनाकार की रचना-तंत्र के क्षेत्र में अपनी तैयारी ही है। यह तैयारी होने से रचनाकार कम से कम अपने भाषा-प्रयोग द्वारा अपनी अनुभूतियों की सौन्दर्यात्मक 'अनुकृति' को ही 'सृर्जन' मानने की भूल नहीं करेगा। परन्तु इस तैयारी में सबसे बड़ी बाधा हमारी साहित्यिक परम्पराएँ रही हैं, जिन्होंने हिन्दी के रचना-मानस को बहुत समय तक न सिर्फ़ अनुप्राणित किया वरन् उसे एक विशेष तापमान पर निर्भर भी रखा। बाधा इस रूप में कि रचनाकार का इन साहित्यिक परम्पराओं के अतिरिक्त किसी इतर ज्ञान-बोधात्मक परम्परा से इस हद तक लगाव नहीं हो सका कि वह रचना-चिन्तन के स्तर पर – और यह केवल स्वचेतनता की स्थिति में ही संभव है – कोई बड़ा जोखिम मोल ले। ये साहित्यिक परम्पराएँ भावबोध के गहन स्तर पर हिन्दुस्तान के समग्र सांस्कृतिक उत्तराधिकार से जुड़ी हुई हैं। इसीलिए संभवत: उनकी जड़ें इतनी गहरी हैं कि उनसे पूरी तरह आज भी मुक्त नहीं हुआ जा सका है। हमारी सांस्कृतिक चिन्ता-धारा के प्रतिफलन के रूप में ये साहित्यिक परम्पराएँ मूलत: अद्वन्द्वमूलक रही हैं। पश्चिम की द्वन्द्वमूलक ज्ञान-बोधात्मक परम्पराओं ने जब भी इस देश की रचनात्मक प्रतिभा का संस्पर्श किया – और परिणामस्वरूप जब-जब उसकी अपनी धुरी खिसकती-सी लगी – उसमें एक प्रकार के भाव तारल्य ने ही जन्म लिया। इस भाव तारल्य ने कभी-कभी पश्चिम-प्रेरित उन द्वन्द्वमूलक परम्पराओं को ऐंद्रजालिक रहस्य से आवृत देखा, तो कभी उन्हें अराष्ट्रीय मान कर उनके प्रभावों का अतीतोन्मुख समाहार ढूँढ़ लिया। भाव तारल्य के उसी धरातल से उनके प्रभावों का अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक समाहार राष्ट्रीय जीवन में 'आध्यात्मिकता' के रूप में किया गया तो सर्जनात्मक लेखन में – काव्य में 'बिम्ब' और कथा में 'वातावरण' के रूप में। इस समाहार का प्राचीन रूप साहित्य-बोध के लिए 'रस' तत्त्व की अनिवार्यता में व्यक्त हुआ था जिसमें आस्था रखने वाले सम्प्रदाय साहित्य-जगत् में आज भी दुर्लभ नहीं हैं।

यहाँ इतना संकेत कर देना समीचीन होगा कि अद्वन्द्वमूलक सांस्कृतिक चेतना से नि:सृत उन साहित्यिक परम्पराओं ने भाषा के 'वर्णनात्मक' प्रयोग को ही पुष्ट किया है। क्योंकि अद्वन्द्व की स्थिति में कृतिकार के भावयंत्र में वह विशिष्ट 'तनाव' नहीं होता जो पहले तो दो स्वतंत्र वस्तु-सत्ताओं को स्वीकार करे, फिर उन्हें अपने रचना-व्यक्तित्व के धरातल पर आमने-सामने ऐसे प्रतिष्ठित करे कि वे 'मौका' पाते ही रचना-प्रेषण के क्षण में एकाकार हो जायं और एक नये अर्थ की सृष्टि कर दें (अभिव्यक्ति नहीं)। और सम्भवत: इसीलिए अद्वन्द्व की स्थिति में भाषा की मूल संघटना में कोई मौलिक परिवर्तन कर सकने की संभावना नहीं होती। इसके विपरीत द्वन्द की स्थिति में तनाव होता है और तनाव में वस्तु-रूपों के पूर्वपरिचित सम्बन्ध बिखर जाते हैं। यह बिखराव शायद उस परिचित वस्तु-रूप में एक नया सर्जनात्मक अर्थ-सम्बन्ध-क्रम स्थापित करने के लिए आवश्यक है, क्योंकि अन्तत: इससे भाषा पर नयी सान चढ़ती है। वर्तमान युग-परिवेश में उस द्वन्द्व-धर्मी रचना-प्रवृत्तियों से अप्रभावित न रहते हुए भी अब तक की साहित्यिक परम्पराओं में दीक्षित और भावबोध के स्तर पर सम्पृक्त रचनाकार उस बिखराव को प्राय: साहित्यिक अवमूल्यन की दृष्टि से ही देखता आया है, और परिणामस्वरूप अवचेतन के स्तर पर उससे बचाव की राह ही खोजता रहा है।

यह दृष्टव्य है कि उन साहित्यिक परम्पराओं में दीक्षित होने के कारण ही हिन्दी की साहित्यचेतना के विभिन्न कालों में जब भी कोई नई लहर आई – चाहे वह द्विवेदीयुगीन राष्ट्रीय चेतना की लहर हो, छायावादकालीन रोमैण्टिक चेतना की लहर या प्रयोगवाद काल में पश्चिमी ज्ञान विज्ञान की लहर – रचनाकारों ने उन परम्पराओं से अपने को नये सिरे से नये-नये रूपों में सम्पृक्त करने की ही चेष्टा की। यह एक तरह से युगीन परिस्थितियों में परम्परा का मूल्यांकन भी था। परम्परा के प्रति जब विद्रोह भी व्यक्त हुआ तब भी उसके अस्तित्व को – और उस अस्तित्व के पीछे उसकी अक्षुण्ण संजीवनी शक्ति को - अस्वीकार नहीं किया गया। अज्ञेय को आलोचकों ने एक समय सबसे अधिक मुखर रूप में परम्परा द्रोही घोषित किया था, पर उनका परम्परा द्रोह भी महज़ उतना ही था कि वे परम्परा को बोझ स्वरूप 'गठरी' मानने से इन्कार करते थे। (और अपने को स्पष्ट रूप से 'अपरम्परावादी' बताने वाले कुछ लेखकों का न सिर्फ़ रचना बोध वरन् भाषा प्रयोग भी उन साहित्यिक परम्पराओं से मुक्त नहीं है।)

इलियट की इस उक्ति के प्रारिप्रेक्ष्य में कि परम्परा की जीवंत उपलब्धियों का सर्जनात्मक उपयोग कर सकने के लिए वैयक्तिकता का सजग बोध एक आवश्यक शर्त है, देखें तो उन युग संचित सांस्कृतिक साहित्यिक परम्पराओं का द्विवेदी युग में रचनात्मक उपयोग – विशेषकर भाषा प्रयोग के क्षेत्र में – बहुत आरंभिक स्तर पर था। उस युग के रचनाकारों ने पारम्परिक साहित्यिक उपकरणों को ज्यों का त्यों तो लिया पर उनका उपयोग सीमित अर्थों में ही किया। छायावादियों ने न सिर्फ़ भाषा में परम्परा से गृहीत छंद अलंकार आदि के उपकरणों में अपनी कल्पनाशीलता से नया निखार पैदा किया, वरन् अपने पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा अधिक विपुलता से संस्कृत की रस सिद्ध परम्परा से सीधा सम्पर्क जोड़ते हुए वर्ण-शिल्प, लय, चित्र बिम्ब आदि सूक्ष्मतर उपजीव्यों का भी संधान किया। द्विवेदी युग की सारभूत उपलब्धि यह थी कि उसने भाषा को, जबकि वह निर्माणावस्था में ही थी, एक ठोस वस्तुवादी धरातल प्रदान किया। छायावाद ने उस धरातल से खड़े होकर भावात्मक उड़ानें लीं और अपनी रचनात्मक शक्ति को केन्द्र मान कर भाषा के रूप गठन में मानसिक दिवास्वप्नमयता का तत्त्व भरा। छायावादी काव्य मुख्यत: बौद्धिक संवेगों का काव्य था, इसलिए अपने भाषा प्रयोग में वह रचनात्मक अनुभूतियों का सूक्ष्म छायाभास और भाव-कल्पना का चित्रात्मक विस्तार तो ला सका, पर अपने यथार्थ परिवेश से क्रियात्मक सम्पृक्ति न होने के कारण उसमें अनुभूति की आयामयुक्त गहराई नहीं आ पाई। कुछ अजब नहीं कि छायावादी काव्यभाषा क्रियापदों से शून्य अलग अलग चित्र खंडों के समान मनोरम होते हुए भी किसी सक्रिय बोध से जुड़ी नहीं लगती। निराला व्यक्तित्व का पौरुष और काव्य शिल्प का स्फूर्त ओज लिए हुए ज़रूर आते हैं और अन्य छायावादियों के मुकाबले शुद्ध संवेगों के कवि के निकट भी पहुँचते हैं – और वस्तुत: इस शुद्ध संवेग के कारण ही जहाँ के छायावाद के भाषा संवेदनों को (अपनी गीति प्रधान कविताओं में) वहन करते हुए भी उसके सबसे स्फोटक बिन्दु पर हैं, वहीं दूसरी ओर वे 'नये पत्ते' में प्रयोगवाद की भाषा संवेदना का भी स्पर्श कर सके – पर अपने प्रतिनिधि काव्य-रूप में वे भी सांस्कृतिक साहित्यिक राग संदर्भों का वैभवशाली ठाठ ही खड़ा करते हैं। इसलिए उनकी काव्य भाषा अपेक्षाकृत अधिक घनीभूत, क्रिस्टल और संश्लिष्ट होते हुए भी संघटनात्मक दृष्टि से अन्य छायावादियों से भिन्न नहीं है। छायावादी के विशिष्ट भावबोध में चूँकि प्रत्येक अनुभव रचना स्तर पर अतिक्रमित हो जाता था, इसलिए उसकी भाषा मानव अनुभूतियों की वास्तविकता को व्यक्त करने के बजाय उसका 'भ्रम' रचती सी लगती है। भ्रम रचने की इस प्रवृत्ति को उस मानसिक दिवास्वप्नमयता के भी परिपार्श्व में देखा जा सकता है, जिसमें भाषा ठोस मानव सम्बन्धों को उनकी समसामयिकता में उद्घाटित कर सकने का संदर्भ नहीं रचती, बल्कि मानव सम्बन्धों पर अनुचिन्तनात्मक टिप्पणी प्रस्तुत करती है। इसलिए छायावाद की भाषा ने प्रकृति चित्रों की यथार्थता के अतिरिक्त मानव सम्बन्धों की यथार्थता को रच सकने की संभावना नहीं दी। इसके साथ ही यदि छायावादी भाषा के के उन प्रवृत्तिमूलक तत्वों को, जो परवर्त्ती कालों की भाषा-संवेदना से संक्रमित हुए, भावबोध के प्रमुख कवियों के साथ प्रतिरूपित करके देखा जाय तो लगेगा कि प्रसाद की भाषा में दिवास्वप्नमयता, पंत की भाषा से चित्रात्मकता, महादेवी की भाषा से लयधर्मिता और निराला की भाषा से संश्लिष्ट उदात्तता के तत्त्व परवर्त्ती युगों को प्राप्त हुए। इन तत्त्वों के साथ प्रवृत्ति रूप में छायावादी भाषा ने भविष्य की भाषा रचना के बुनियादी पैटर्न पर काफ़ी दूर तक अपनी छाप अंकित कर दी। यह छाप अवश्य ही भिन्न भावबोध जनित और और छापों के साथ मिल कर कालान्तर में इतने जटिल एवं संश्लिष्ट रूपों में प्रकट हुई कि सहसा उसकी मूल रेखाएँ ढूँढ़ पाने का प्रयत्न आज दुस्साहासिक ही माना जाएगा।

अगला साहित्यिक अभियान मनुष्य और वस्तुजगत् के परस्पर सम्बन्धों की भाषा की खोज के रूप में सामने आया। यह प्रवृत्ति उत्तर छायावाद काल में ही शुरू हो गयी थी; इसीलिए बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि की भाषा में छायावादी भावबोध का खासा अंश होते हुए भी यथार्थ मानव अनुभूतियों और उसके रचना शिल्प के बीच उतना बड़ा अंतराल नहीं है जितना छायावादी में मिलता है। इस दृष्टि से यदि यह कहा जाय कि उत्तर छायावाद छायावाद और प्रयोगवाद के बीच का वह सेतु है जिसके माध्यम से छायावादी काव्य भाषा के विशिष्ट तत्त्व छनकर परवर्त्ती साहित्य चेतना में संक्रमित हुए तो अत्युक्ति न होगी। इसका एक सबल उदाहरण अज्ञेय की आरंभिक रचनाएँ हैं। और यदि प्रयोगवाद तथा आरम्भिक नयी कविता की भाषा में छायावाद से सीधा सम्बन्ध दिखना हो तो शमशेर का नाम लिया जा सकता है। शमशेर में निराला की संश्लिष्ट क्रिस्टल भाषा का रचना संवेग, महादेवी की कोमल लयधर्मिता और पंत का चित्र शिल्प एक साथ मिलता है। छायावादी भाषा संवेदना तत्वों का यह संक्रमण एक अन्य स्थिति ने और भी अनिवार्य बना दिया।

साहित्य संचेतना की अब तक की अद्वन्द्वात्मक पृष्ठाभूमि में प्रगतिवाद पहली बार द्वन्द्वात्मक प्रेरणाएँ लेकर आया। यों तो इस द्वन्द्ववाद की झलक उत्तरछायावादियों में – विशेषकर बच्चन में – ही दिखायी पड़ने लगी थी, पर वह ज्यादातर वैयक्तिक वर्जनाओं तक ही मुखर हो पायी थी। प्रगतिवाद ने उस द्वन्द्वात्मकता को विचार प्रत्यय के स्तर पर ग्रहण किया। देखा जाय तो इसकी आवश्यक पृष्ठभूमि द्विवेदीयुग की वस्तुवादी चेतना द्वारा ही निर्मित हो चुकी थी। प्रगतिवाद ने द्विवेदीकाल के उस व्यवहारिक वस्तुवाद से संकेत लेकर अपना अभियान शुरू किया। पर जिस उग्रता के साथ उसने द्वन्द्वात्मक वस्तु चेतना को अपने परिवेश पर आरोपित करना चाहा उसमें वस्तुस्थितियों की ठोस जानकारी के अभाव और अब तक की सांस्कृतिक साहित्यिक परम्परा के मूल तत्वों को उचित परिप्रेक्ष्य में पहचान न सकने के कारण एक योद्धा किस्म के रोमैंटिक का आवेश ही व्यक्त हो सका। इस आवेश में प्रगतिवाद ने मानव स्थितियों का सरलीकरण किया, और इस प्रकार मानव यथार्थ की वास्तविकता और उसके व्यक्त साहित्य रूप के बीच की दूरी को जिसे कम करने का कमज़ोर-सा प्रयास उत्तर छायावादियों ने किया था – घटाने के बजाय बढ़ा दी। साहित्य संचेतना की मौलिक प्रेरणा भूमि न होने और प्रत्यय प्रधान आरोपित दृष्टि होने से उसके पास अपनी भाषा की रचना कर सकने के लिए आवश्यक मानव अनुभूतियों की वास्तविकता का सृजन संदर्भ नहीं था, जो कि द्विवेदीयुग की वस्तुवादी चेतना की सीमित परिधि में भी मिल जाता है। छायावाद की अमूर्त एवं श्लथ भाषा प्रगतिवाद की उग्र द्वन्द्वात्मक चेतना का वेग नहीं सहन कर सकती थी। अतः प्रगतिवाद के उत्तरछायावाद की अपेक्षाकृत ठेठ और सहज भाषा के साथ समझौता किया। अपने स्वप्नों की परिकल्पित सत्यता में आस्थावान प्रगतिवादी लेखक उस समझौते में निहित खतरे को नहीं समझ पाये जो आगे चलकर उनकी शक्ति के विघटन का कारण बना। उत्तर छायावादियों की भाषा जन जीवन के अनुभूत संदर्भों से अपरिचित न होते हुए भी मूलतः रोमैंटिक अर्थ छवियों से आच्छन्न भाषा थी। प्रगतिवादियों की भाषा में उत्तराधिकार से प्राप्त रोमैंटिक तत्त्व समयातीत की गूँज लिए लोकगीतों, जन जागरण की फ़ार्मूलाबद्ध प्रभात फेरियों के सामूहिक संगीत, जन भाषा के मुहावरेदार चलताऊपन और आवेशजन्य नारों के सर्वहारापन में व्यक्त हुए। द्वन्द्वाश्रित विचार चिन्तन की तेज गति में भाषा संवेदना के ये तत्त्व प्रगतिवाद के साहित्यिक आन्दोलन में अन्तर्विरोध बन कर प्रकट हुए। इस ऐतिहासिक भूल के कारण युग संदर्भों से उपजी मानव अनुभूतियों तथा उसको वहन करने वाली भाषा के बीच जो व्यवधान छायावाद ने अपने कंडीशंड भावबोध द्वारा पैदा कर दिया था, उसे दूर करने और उसे यथार्थोन्मुख वस्तुवाद की ओर प्रेरित करने का प्रथम सक्रिय प्रयास विफल हो गया। एकमात्र प्रेमचन्द ने प्रगतिवादी आन्दोलन की मूल प्रेरक शक्तियों को उनके उचित परिप्रेक्ष्य में पहचान कर और प्रगतिवाद के द्वन्द्ववाद को राष्ट्रीय चेतना की भूमि में प्रतिष्ठित कर उन अन्तर्विरोध में पड़ने की भूल नहीं की। उन्होंने अपने वस्तु सत्य की संवेदनात्मक प्रकृति से मेल खाते हुए ही अपनी भाषा की बुनियाद खड़ी की, इसीलिए उनका भाषा प्रयोग (उर्दू की रंगीनी और रवानी के बावजूद) सादा और समरस है, उसमें न तो दूर की कौड़ी लाने वाली कल्पनाशीलता है, न दिवास्वप्नी बुनावट का बुलबुलापन। पर शायद प्रेमचन्द अपने युग के काफ़ी आगे थे, इसीलिए साहित्य संचेतना के एक नाज़ुक दौर में वे प्रगतिवाद की असफलता को सफलता में नहीं बदल पाये। फलस्वरूप प्रगतिवाद के बाद जो निर्वात उत्पन्न हुआ उसमें अगली साहित्य पीढ़ी की सर्जनात्मक चेतना में उत्तरछायावाद के चोर दरवाजे से छायावादी भाषा तत्वों का वह संक्रमण घटित हुआ जिसकी ओर ऊपर संकेत किया गया।

पर जिस द्वन्द्वात्मकता को प्रगतिवाद ने उस समय आरोपित करना चाहा था उससे भाषा के पैटर्न में इतना परिवर्तन अवश्य हुआ कि वह छायावादी और बहुत कुछ उत्तरछायावादी अ-क्रियात्मक श्लथ संचरण से मुक्त हो गयी और तेजी से बदलती हुई युग की मानसिक भावभूमि के अनुरूप अधिक तरल, प्रवाहमान और यथार्थ धरातल ढूँढ़ने लगी। इसीलिए आश्चर्य नहीं कि 'राहों के अन्वेषी' भाषा के भी अन्वेषी थे। पर भाषा की यह खोज एक ऐसे क्षुब्ध और अन्तर्मथित रचना धरातल से प्रारम्भ हुई थी जिसमें बाहर और बाहर के साक्षात्कार से भीतर की जाग्रत अनेक ज्ञात अज्ञात संवेदन शक्तियाँ परस्पर टकरा रहीं थीं, और उस स्थिति में प्रगतिवादी 'समझौते' को कोई जगह नहीं थी। इस शताब्दी की चालीसी सर्जनात्मक संक्रान्ति की ऐसी शृंखला लेकर उपस्थित हुई जिसके प्रभाव को आज का समसामयिक लेखन भी उसी रचना भूमि पर शायद कुछ अधिक तीव्रता के साथ जी रहा सा लगता है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि साहित्य संचेतना के स्तर पर इन विभिन्न शक्तियों की कशमकश में भाषा प्रयोग पर से एकदम से वह 'रोक' उठ गयी जो छायावाद के विशिष्ट भाववाद का अभिन्न अंग थी। इसके साथ ही अभी तक पद्य की भाषा और गद्य की भाषा के बीच जो एक कृत्रिम दीवार थी वह टूटने लगी। सम्भवतः इसी का परिणाम है कि गद्य की विधाएँ जो बहुत कुछ अपने अभिप्राय, कथ्य या उद्देश्यगत स्वभाव के कारण सर्जनात्मक प्रेरणा के आन्तरिक एवं सूक्ष्म सौन्दर्य स्पर्श से वंचित रही थीं, उनमें भी काव्य का-सा अपेक्षाकृत अमूर्त भाव-स्तर भरने लगा। प्रेमचंद, सुदर्शन, कौशिक आदि के बाद जैनेन्द्र, इलाचंद्र जोशी और अज्ञेय का गद्य पढ़ने पर यह परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है। दूसरी ओर युग की गद्यधर्मी प्रवृत्तियों शक्तियों ने कविता की भाषा संवेदना को कहीं अधिक गहराई से प्रभावित किया। उस 'रोक' के उठ जाने से रचनाकार जहाँ एक ओर मनुष्य को उसकी नितान्त वास्तविकता में देखने की ओर प्रवृत्त हुआ तो वहीं दूसरी ओर सर्जनात्मकता की कोई व्यक्ति निरपेक्ष वस्तुवादी कसौटी न रह जाने से भाषा – विशेषकर काव्य भाषा – संस्कारहीन हो गयी। नकेनवादियों की भाषा इस संस्कारहीनता का अच्छा नमूना प्रस्तुत करती है। उस वक्त सम्भवतः एकमात्र कसौटी व्यक्तिगत निष्ठा की ही हो सकती थी, जिसका एक छोर तो व्यक्तिगत अराजकता के रूप में नकेनवाद की ओर ले जाता है और दूसरा सांस्कृतिक साहित्यिक परम्परा के उन सघन रससिद्ध रूपों की ओर जो अज्ञेय तथा हजारी

प्रसाद द्विवेदी में मिलता है। तारसप्तक के कवि उस कसौटी के परिप्रेक्ष्य में बँटे हुए दिखायी देते हैं, पर उस वक्त की युग-स्थिति को देखते हुए ऐसा लगता है कि प्रगतिवाद के बाद जो निर्वात उत्पन्न हो गया था उसे रचनाकार अपने-अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा ही भर सकते थे। इस प्रयत्न की अनिवार्यता के कारण ही (जो उस समय एक विवशता की अनिवार्यता थी, स्वतन्त्र वरण की अनिवार्यता नहीं) प्रयोगवाद काल के भाषा-प्रयोग में एक स्नायुविक ऊर्जा का आभास मिलता है, जिसमें एक साथ छायावाद की कल्पनाशीलता (जो युगबोध के यथार्थवादी सींखचों में बन्द होने के कारण 'उड़ान' की नर्वस शक्ति उत्पन्न करती थी), उत्तरछायावाद की रोमैंटिक विषण्णता (जो प्राचीन मूल्यों के मिथ्या हो जाने से विपर्यय के रंग में रंग उठी थी), प्रगतिवाद की जन-आह्वान शैली की स्फूर्ति और स्वयं प्रयोगवाद की अनस्थिर वैयक्तिकता का अन्तर्मुखी दबाव स्पष्ट है। युग-संवेदना का नियमन करने वाली कोई वस्तुपरक कसौटी न होने से भाषा की संस्कारहीनता उस युग के 'मिज़ाज' के अनुरूप तत्कालीन विसंगति-बोध को व्यक्त करने के लिए एक सजीव आईना साबित हुई। इस विसंगति-बोध का सबसे खरा रूप तारसप्तक के कवियों में से केवल प्रभाकर माचवे की कविताओं में मिलता है। रामविलास शर्मा की भाषा संवेदना उस विसंगति-बोध के केवल बाहरी रूपों का स्पर्श करके ही रह जाती है। मुक्तिबोध की भाषा उत्ताल तरंगों पर हिचकोले खाते हुए एक विशाल जहाज का परिचय देती है, और जो स्नायुविक ऊर्जा उस जहाज़ को चला रही होती है उससे इस बात का निरन्तर खतरा लगा रहता है किसी भी वक्त वह उस जहाज़ को किसी भयानक चट्टान से ले जाकर भिड़ा देगी। मुक्तिबोध की शक्ति इस बात में है कि वे भाषा की उठान और गिरान के अन्तिम बिन्दु तक उसका अपनी अटूट संवेदना से साथ देते हैं। पर उनकी यह साहसिक यात्रा उनके सैद्धान्तिक आग्रहों के बावजूद मूलत: अन्त:प्रदेश की ही यात्रा है। अत: बाह्य जगत् के समस्त कार्यव्यापारों को उनकी भाषा एक ऐसे विशद बिम्बलोक में परिवर्त्तित कर देती है जिसकी प्रत्येक वस्तु रचनाकार का मानसिक ऊर्जा में खिंची 'गति' का चित्रलिखित रूप प्रस्तुत करती है। इस स्तर पर मुक्तिबोध की भाषा छायावादी-भाषा-संवेदना की दिवास्वप्नमयता का आभास देने लगती है। अन्तर केवल यह है कि छायावादी लेखक प्रकृति के वाह्याभ्यंतरिक रूपों में स्वप्न की उड़ान भरा करते थे और मुक्तिबोध अवचेतन के उन रहस्यमंडित अंधगह्वरों के भीतर, जहाँ एक वैभवशाली मानव-संस्कृति के विद्रूपमय ऐतिहासिक खण्डहर पड़े हुए हैं। भाषा को स्मृति के रचनात्मक सन्दर्भों से अनुरंजित करने की जो प्रक्रिया छायावाद काल में आरम्भ हुई, जिसमें उत्तर छायावाद ने अवसाद का तत्त्व जोड़ा और प्रयोगवाद-काल में मानव के तीव्रतर आत्मसंघर्ष से उपजी विपर्ययग्रस्त करुणा से जिसमें गहराई उत्पन्न हुई, उसका शृंखलाबद्ध रूप मुक्तिबोध में मिलता है। ये स्मृतियाँ विस्फोटक-द्रव्यों से भरपूर हैं और उन्हें वहन करने वाली भाषा भी एक प्रकार के 'तनाव' से युक्त आचरण करती हैं, पर यह विस्फोटकता तथा 'तनाव' दोनों ही रचनाकार के व्यक्तित्व से आक्रान्त हैं। उस युग में शायद यह रचनाकार की नियति थी कि जो युग-संवेदना के प्रति जितना ही अधिक सम्पृक्त होता था वह उतना ही अधिक अपने मनोमय लोक – अपने 'वैयक्तिक अहं' – की ओर आकर्षित होता थां संवेदना के स्तर पर इस युग-स्थिति के संधि बिन्दु पर भावानुभूतियो को रूपान्तरित करने के दो औज़ार रचनाकार के पास सहज ही सुलभ थे – प्रतीक और बिम्ब। मुक्तिबोध बिम्बात्मक प्रतीकों के कवि हैं; जबकि अज्ञेय प्रतीकात्मक बिम्बों के।

युगीन सामाजिक शक्तियों और वैयक्तिकता के आग्रहों के उस संधिबिन्दु पर खड़े होकर भी अज्ञेय की भाषा में स्मृति-संदर्भों का वैसा अतिरेक नहीं मिलता जैसे मुक्तिबोध और प्रभाकर माचवे में, हालाँकि उनकी मानवीय-संस्कृति एवं इतिहास से रागात्मक सम्पृक्ति (महज़ जानकारी नहीं) कम गहरी नहीं है। मुक्तिबोध अपने 'वैयक्तिक अहं' को लेकिर बाह्य-जगत में कूद पड़ते हैं और उस जगत् को ही एक अद्भुत बिम्बलोक मैं रूपान्तरित कर देते हैं। इसके विपरीत अज्ञेय पहले अपने अनुभूति-तन्त्र से उस बाह्य जगत् को अपने मनोमय लोक में अवतरित करते हैं, फिर अपनी चयनधर्मी कलादृष्टि से उसमें एक ऐसे वस्तु-रूप का अन्वेषण करते हैं जो विशिष्ट संन्दर्भ-जनित अनुभूतियों की तात्कालिकता और तीव्र रागबोध को वहन करते हुए भी व्यापक भावबोध के प्रतीक-स्तर पर अतिक्रमित हो जाता है। इसीजिए अज्ञेय का भाषा-प्रयोग उनके भावलोक की अन्तरंग हलचल – रचनाप्रक्रिया की अकुलाहट – का पता नहीं चलने देता, एक मर्यादित एवं संश्लिष्ट अनुभव-बंध का परिचय अवश्य देता है। भाषा-प्रयोग का यह मर्यादित आचरण एवं तटस्थता सम्भवत: उस समय की क्षुब्ध साहित्य-संचेतना की माँग थी, इसीलिए अगली साहित्य-पीढ़ी – विशेषकर काव्य - पीढ़ी–के 'मिज़ाज' के लिए अज्ञेय की भाषा आदर्श (अनुकरणीय नहीं) सिद्ध हुई। साहित्यिक चेतना में रोमैंटिक तथा यथार्थवादी तत्त्वों के समान दबाव के कारण तत्कालीन भाषा-प्रयोग में एक 'ढुलमुलपन' था, पर अज्ञेय की भाषा में वे दोनों तत्त्व परस्पर इतने दूर तक तह-दर-तह अन्तर्मुक्त हो गये कि भाषा-संवेदना के स्तर पर ही यथार्थ और रोमैंटिसिज़्म की अलग-अलग पहचान धूमिल पड़ गयी। इससे परवर्ती लेखन में भाषा के प्रति जो दृष्टिकोण धीरे-धीरे विकसित हुआ उससे यथार्थ-संवेदना के बदलाव के साथ-साथ भाषा के सर्जनात्मक संघटन में भी अपेक्षित बदलाव ला सकने की संभावना न्यूनतम हो गयी। यथार्थ और रोमैंटिसिज़्म का 'समझौता' प्रगतिवाद काल में भी हुआ था, पर जीवनानुभूतियों की वास्तविकता द्वारा समर्थित न होने के कारण उसका खोखलापन शीघ्र ही प्रकट हो गया। परन्तु प्रयोगवाद और उसके बाद की साहित्य-पीढ़ी युग की वास्तविकताओं के प्रति अनुभूति के गहन स्तर पर सम्पृक्त थी, इसलिए इस समन्वय से भावबोध के स्तर पर क्रमिक सम्पन्नता का अनुभव करते हुए भी रचनाकार उसके भाषात्मक खतरे की ओर से आगाह नहीं था। अत: यथार्थ और रोमैंटिसिज़्म की स्पष्ट विभेदक चेतना के अभाव का दुष्परिणाम भाषा को इस रूप में उठाना पड़ा कि बदली हुई परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में भिन्न संवेदनीयता और सौन्दर्यात्मक

प्रक्रियाओं को इतनी सहजता से 'नया' स्वीकार कर लिया गया कि उस 'नयेपन' के सन्दर्भ में भाषा का नयापन (जो एक मात्र उसकी मूल संघटना से किसी मौलिक परिवर्तन द्वारा ही सम्भव हो सकता था) एक अतर्क्य और बेमानी-सी वस्तु बन गयी। नयी कविता के आरम्भिक वर्षों में और समसामयिक कथा-लेखन में यह स्थिति आज भी मिलती है। इस विरोधाभासमय रचना-स्थिति में, जबकि भाषा मूलत: प्रयोगवादी जीवन-बोध के स्तर पर केवल 'यथास्थिति' का ही निर्देश करती है, जहाँ एक ओर भाषा को जन-जीवन के शब्दों, मुहावरों, संवाद-शैली की नाटकीय भंगिमाओं तथा शब्द के बजाय अर्थ की लयों तक ले जाने की चेष्टा हुई, वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक रागबोध की व्यक्ति-निष्ठा ('बाण भट्ट की आत्मकथा'), पौराणिक प्रतीकों ('अंधा युग'), लोक धर्मी गीति-छवियों एवं रचना-प्रवृत्तियों (केदारनाथ सिंह, सर्वेश्वर, ठाकुर प्रसाद सिंह) तथा आँचलिक अनुभव-परम्पराओं के ग्राफ़िक चित्रों ('मैला आँचल') से भी उसे रंजित करने के प्रयत्न किये गये। कह सकते हैं कि भाषा इससे समृद्ध हुई, उसमें भावनाओं की सूक्ष्मतर भंगिमाओं तथा आरोह-अवरोहों को व्यक्त करने की क्षमता पैदा हुई। पर देखें तो अब तक के चले आते भाषा-प्रयोग की इस क्षितिज धारा में अनुभव की नयी-नयी ज़मीन कट कर गहराई तो अवश्य आई, पर वही कालान्तर में रोमैंटिसिज़्म के मोह से मुक्त समसामयिक युगबोध की प्रखर यथार्थ-चेतना की आंच में सूख कर एक 'दलदल' में परिणत हो गयी।

यथार्थ और रोमैंटिसिज़्म का समन्वय कला के स्तर पर वस्तुत: एक उदात्त मानववादी दृष्टिकोण में ही फलीभूत हो सकता था। औद्योगिकता के प्रसार तथा महानगरीय मूल्य विपर्यय के दुर्निवार चक्र में पड़ कर यथार्थ और रोमैंटिसिज़्म का वह नाजुक सन्तुलन पूरी तरह बिखर गया। सन् पचास के बाद जिस साहित्य-पीढ़ी ने केन्द्र स्थान ग्रहण किया उसकी चेतना में एक ओर तो उस बिखराव का मलबा था और दूसरी ओर औद्योगिक एवं प्राविधिक तन्त्र-मूल्यों के बढ़ते प्रभाव से विस्थापित मानव व्यक्तित्व का तीव्र बोध, जिसके फलस्वरूप न सिर्फ उसके रचना-व्यक्तित्व में अन्तर्ध्वनित होने वाला 'संगीत' महानगरों के 'शोर' में डूब गया, वरन् छन्द, लय, पौराणिक प्रतीक आदि जिन साहित्यिक उपकरणों से पहले कभी उसने परम्परा से अपने को जोड़ने की चेष्टा की थी, उनका काम भी महज़ आधुनिक मनुष्य के विद्रूप-भाव एवं विस्थापित भाव-चेतना की क्रूर करुणा को उभारना रह गया। मदन वात्स्यायन और लक्ष्मीकान्त वर्मा के भाषा-प्रयोग इस स्थिति को स्पष्टता से सामने रखते हैं। यह विस्थापित भाव-चेतना कुँवर नारायण जैसे बौद्धिक रागबोध के कवियों में रचना-प्रक्रिया की विभक्त संवेदनीयता में परिलक्षित होती है, जिसमें विचार और अनुभूति की टकराहट में भाषा एक दर्प भाव का आभास देने लगती है। केन्द्रच्युत भाषा-संवेदना के इस दौर में विदेशी भाषाओं, विशेष कर अंग्रेजी के शब्द (और वाक्य-विन्यास तक) धड़ल्ले से लिए गये और इसे भाषा का संवेदन-क्षेत्र विस्तृत होने का प्रमाण माना गया। अन्य-अन्य कलाओं और विज्ञान के अर्थ-संकेत ले लेकर भाषा को 'समृद्ध' करने का अभियान भी चला। भाषागत इस सारी अव्यवस्था के भीतर भाषा-संवेदना का एक नया आधार, एक नया समवाय तलाश कर पाने की चेष्टा अवश्य दिखाई देती है, परन्तु जिन स्तरों से ये सारी प्रवृत्तियाँ परिचालित हो रही हैं उनमें सही दिशा-क्रम का अभाव दिखाई देता है। यह सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि पश्चिम की द्वन्द्वमूलक ज्ञान-बोधात्मक परम्पराओं के प्रति आज के रचनाकार की प्रतिक्रिया पूर्ववर्ती रचनाकार की तरह ऊपरी अथवा अपरिपक्व आकर्षण या विकर्षण की नहीं रह गयी है, वरन् वर्तमान युग परिस्थितियों से 'खूराक' पाने वाले इस द्वन्द्ववाद से उसकी आन्तरिक सम्पृक्ति है। इसीलिए भाषागत अराजकता के पीछे सच्ची छटपटाहट है। पर रचना-संवेदना के स्तर पर अनुभूत होने वाला वह द्वन्द्ववाद किसी सक्रिय भावबोध में परिणत होने के बजाय एक प्रभाव में बदला जा रहा है (काव्य में बिम्ब के प्रयोग का व्यापक प्रवृत्ति और गद्य की विधाओं में रूढ़फार्म विरोधी तरल रचना-रूपों [संस्मरण, डायरी, यात्रा और कभी सब कुछ का मिला-जुला रूप, जैसे 'हरी घाटी' में मिलता है] की ओर रुझान का यही कारण है)। इसीलिए आज के अधिकांश रचनाकारों की भाषा 'वातावरण' के अति संवेदनशील ग्राफ़ पर ठहरी हुई है। मुझे यह आधुनिक युग-चेतना की सबसे अधिक विडम्बनामय स्थिति लगती है जिसमें आज की रचनाकार भाषा की सीमा के प्रति जितना ही सचेत है, अनजाने में वह उसके परम्परित संघटना-रूप को उतना ही नये-नये रूप-रंगों में आगे बढ़ाता जा रहा है। यह सही है कि भाषा अपने विकास-क्रम के वर्तमान पूर्णता बिन्दु पर रचनाकार के हाथ का खिलौना नहीं रह गयी है जैसा कि पहले थी, न ही वह रचनाकार के व्यक्तित्व से अब उस हद तक आक्रान्त ही है। वह मूर्त अर्थ से अमूर्त अर्थ और शब्द से शब्दहीनता के स्तर तक बढ़ी है। पर उस अमूर्त शब्द – आयाम – उस शब्दहीनता – के प्रति तीव्र रूप से संवेदित होते हुए भी, अपवाद स्वरूप कुछ लोगों को छोड़ दिया जाय तो, अधिकांश रचनाकार नये अर्थ-सम्प्रेषण के लिए आवश्यक अपने बोधयन्त्र की वह निर्वैयक्तिकता नहीं प्राप्त कर पाये हैं जो शब्दहीनता की स्थिति को एक शक्तिशाली संभावना से भर दे। उस शब्दहीनता में वे हद से हद वर्तमान यथार्थ-अनुभूतियों की बेचैन स्मृतियाँ तथा उनकी दूरगामी अनुगूँजें ही भर सके हैं, जो चूंकि याद करने से बार-बार छूट जाती हैं इसलिए अर्थबोध के एक नये स्तर की ओर संकेत करती हैं। निर्मल वर्मा की कहानियाँ भाषा के इस सीमित संभावना-स्तर का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

भाषा के सन्दर्भ में 'शब्दहीनता' – शब्दों के प्रचलित अर्थ-क्रम की व्यर्थता – का अहसास जिन रचनाकारों में केवल भावनात्मक अनुद्वेग ही नहीं जगाता उनके लिए शब्दहीनता की स्थिति स्वचेतनता के सन्दर्भ में ही कुछ मूल्य रखती है; अत: इस आधार पर उनकी पहली कोशिश अपने बोधयंत्र को उन साहित्यिक परम्पराओं से मुक्त करने की होती है जो अब तक के भाषा-प्रयोग के रवैये को परिपुष्ट करती आई हैं और परिणामस्वरूप शब्दहीनता की स्थिति की खुद ज़िम्मेदार रही हैं। इस कोशिश में ही वास्तव

में पश्चिमी ज्ञान-बोधात्मक परम्पराओं का एकमात्र विवेकपूर्ण उपयोग हो सकता है। वैसा करना एक तरह से पश्चिम से अपनाये गये विज्ञान और प्रजातन्त्र की विचार दृष्टियों को कार्य रूप में परिणति होगी जिन्हें अभी तक हम सिद्धान्तवत् ही ग्रहण करते रहे हैं। पूर्व-परम्पराओं से अब तक के हमारे मोह-सम्बन्ध से मुक्ति और बोध-यंत्र में नवीन परिस्थितियों की माँग के अनुरूप नयी धार पैदा करना वस्तुत: विज्ञान और प्रजातंत्र की आधारभूत प्रतिज्ञाओं और चिन्तन-पद्धतियों की सर्जनात्मक परिणतियाँ हैं जिन्हें स्वीकार किये बिना नवीन अर्थ-क्षमता से पूरित अनुभूति और उसे अंकुरित करने वाली भाषा के बीच का अन्तर बना रहेगा और नया अर्थ-स्तर निर्मित कर सकने की सारी छटपटाहट केवल प्रभाववादी कल्पना में बूँद-बूँद चूती रहेगी।

आज किसी भी सार्थक रचना की समझ के लिए किसी कला-प्रणाली में दीक्षित होने की आवश्यकता नहीं रह गयी है – इस आवश्यकता की अनिवार्यता ही पहले रचनाकार और भावक के बीच व्यवधान का कारण रही है। आज रचना एक ऐसा संधिस्थल है जहाँ दो दृष्टियाँ एक साथ मिल कर किसी नये सृजनात्मक अर्थ-आयाम का संधान करती हैं, और उस संधान का क्षेत्र वह मानव-सम्बन्ध है जो विज्ञान तथा प्रजातन्त्र की शक्तियों की बुनियाद पर एक अपेक्षाकृत अधिक ठोस यथार्थ और सक्रिय धरातल पर व्यक्ति के प्रत्येक विवेकपूर्ण निर्णय के साथ प्रतिबद्ध है। इस मानव-सम्बन्ध की सजग चेतना में परिस्थितियों के प्रति अधिक से अधिक जिम्मेदारी लेने का भाव और उसके लिए तैयारी निहित है; अत: वह क्रियात्मक होने के साथ-साथ अधिक नैतिक भी है। इस दृष्टि से देखें तो लगेगा कि आज 'नया' होने का वास्तविक अर्थ यह नहीं है कि आपका बोधयंत्र विशिष्ट और काल-परीक्षित कलाभिरुचियों में जितना निष्णात है, आप किस सीमा तक अपने को विभोर होने दे सकते है; वरन् यह कि आपका बोधयंत्र बौद्धिक रूप से कितना सक्रिय है, क्योंकि अंतत: उसी से आप उत्तरादायित्वपूर्ण ढंग से अपने परिवेश की गत्यात्मक सौन्दर्यात्मक सम्भावनाओं से सम्पृक्त होते हैं; कि आपके मस्तिष्क-तंतुओं में कितनी झनझनाहट है क्योंकि उसके होने से ही वह तटस्थता, अनुभूति-सत्य के प्रति वह निर्मम भाव-स्तर बन सकता है जो भाषा के व्यक्त रूप में भावक पर आतंक बन कर नहीं छाता या उसे मोहाविष्ट एवं अभिभूत करता। भाषा के उस गत्यात्मक प्रयोग में रचनाकार भावक की बौद्धिक कला-संवेदनाओं को साहित्यिक कलाकार अभिरुचि के मानदण्डों के सहारे नहीं जाग्रत करता, वरन् उसे मानव-सम्बन्धों के भीतर ऐसी दृष्टि प्रदान करता है जहाँ किसी भी संभावित वस्तु-मर्म का अस्तित्व हमेशा साहचर्य और संवेदनानुभूति पर आधारित होता है। इस संभावित वस्तु-मर्म का बोध ही भावक को (और रचनाकार को भी) 'चकित' कर सकता है अन्य माध्यमों से जिस वस्तु-मर्म तक पहुँचा जाता है। यह 'चकित' कर सकने की क्षमता ही सच्चे मानों में भाषा को सर्जनात्मक और नया बनाती है।

ऊपर जो विचार अब तक किया गया उससे ऐसा लग सकता है कि आज के लेखक में 'सर्जनात्मक भाषा' का स्तर निर्मित नहीं हो पाया है और मेरा तत्सम्बन्धी विवेचन कोरी परिकल्पना पर आधारित है। इस आशंका की ओर से मैं शुरू से ही सचेष्ट रहा हूँ। मैं यह मानता हूँ कि कलात्मक सचाई अपने रचना-तत्वों के माध्यम से ही अपने को उपलब्ध कर सकती है, पर मैं यह नहीं मानता कि विचार-चिन्तन की परिधि रचना-तत्वों की परिधि से एकदम बाहर की वस्तु है, या परस्पर वे एक दूसरे के अस्तित्व का खण्डन करते हैं, या खण्डन करके ही अपना अस्तित्व बनाये रख सकते हैं। कुँवर नारायण का कहना है कि 'कवि अनिवार्यत: नहीं आवश्यकत: विचारक होता है।' इसमें निर्णय का जो विकल्प ध्वनित है उसे कलाकार की वरण की स्वतन्त्रता मानकर तरजीह दी जा सकती है, पर उस स्थिति को क्या कहेंगे जिसमें रचनाकार भाषा के उस नये सर्जनात्मक स्तर तक पहुँच कर भी उसके प्रति कोई सजग दृष्टिकोण नहीं बना पाया है? शब्दहीनता' की इस छटपटाहट के भीतर नयी भाषा-रचना की ओर बढ़ने के संकेत इधर की प्रकाशित कतिपय रचनाओं से मिलते हैं : निर्मल वर्मा (लन्दन की एक रात), केदारनाथ सिंह ('सम्प्रति' में प्रकाशित कुछ कविताएँ), अजित कुमार, कृष्ण बल्देव वैद (उसका बचपन), लक्ष्मीकांत वर्मा (नयी-कविता–7' में प्रकाशित कविता–'मि. उप्रेती'), श्रीकान्त वर्मा ('ज्ञानोदय' में प्रकाशित कहानी–'कैद') जैसे लेखक अपनी भिन्न रचना-संवेदना के बावजूद भाषा-सम्बन्धी उन संकेतों को उदाहृत करते हैं। पर इसके साथ ही यह भी लगता है कि इन लेखकों की भाषागत खोज प्राय: प्रातिभ ज्ञान पर ही आधारित है किसी सक्रिय चेतना बिन्दु पर नहीं। इसलिए ये छिट-पुट संभावना-संकेत एक सशक्त दिशा-संकेत नहीं बन पाये हैं।

भाषा-रचना के सन्दर्भ में स्वचेतनता का एक पक्ष और है : शब्दों से अधिकतम अर्थ निचोड़ लेने और भाषा के अवयवों तथा उनके परस्पर संभावित आचरण के प्रति इस हद तक सजग हो जाने कि रचना द्वारा प्रक्षेपित अर्थ पर रचनाकार-व्यक्तित्व का चौकनापन छा जाय। रघुवीर सहाय की इधर की प्रकाशित कुछ रचनाओं में यह स्थिति साफ दिखाई देती है। अज्ञेय के 'एक बूँद सहसा उछली' और 'अपने-अपने अजनबी' की भाषा में भी यही चौकन्नापन झलकता है। विपिन कुमार अग्रवाल इस अतिशय सतर्कता की स्थिति को प्रयोगशीलता के धरातल पर अपने बोधयन्त्र को प्रखर करने के एक तरीके के रूप में ग्रहण करते हैं, पर उस बोधयन्त्र द्वारा वे क्या व्यक्त करना चाहते हैं – उनके रचनात्मक उन्मेषों की ठोस आधारभूमि क्या और कहाँ है – इसका स्पष्ट आभास नहीं मिलता। सम्भवत: इसका कारण उनके बोधयन्त्र की अत्यन्त तीव्र गति और सक्रियता है, जिसके फलस्वरूप उनकी भाषा संश्लिष्ट जीवन-अनुभूतियों की रचनाधर्मी द्वन्द्वात्मकता के बजाय प्रत्यय-आश्रित द्वन्द्वात्मकता (जिसे ऑरतेगा इ गासे ने 'Physio-mathematical reasoning' कहा है) को ही रेखांकित करती-सी लगती है।

पर स्वचेतन भाषा-प्रयोग में इस प्रकार का जोखिम सदैव निहित होता ही है; वस्तुत: इस जोखिम के परिप्रेक्ष्य में ही कलाकार अपनी क्षमताओं की परख कर सकता है। भाषा-प्रयोग के सम्बन्ध में परिचित एवं सम्पन्न अर्थ-दिशाओं की तरफ फूँक-फूँक कर कदम रखने की परिमार्जित कला अभिरुचि की अपेक्षा वस्तु-सत्यों के सीधे साक्षात्कार में भाषा का किसी कथाकृति के उन 'गत्यात्मक चरित्रों' की तरह आचरण करना कही बेहतर है कि रचनाकार की पकड़ से छूट कर एक अपना बिल्कुल ही नया अर्थ-लोक रच लेते हैं।

(कविता से साक्षात्कार से)

26. भाषा और संवेदना

—रामस्वरूप चतुर्वेदी

मौखिक प्रकृति की चर्चा के साथ काव्यभाषा के एक और पक्ष का विवेचन आवश्यक है। कविता या समूचे साहित्य की रचनात्मक प्रक्रिया के विश्लेषण के समय प्राय: रचना-संवेदना और भाषा को ऐसे देखा जाता है, जैसे वे दोनों कोई सर्वथा अलग तत्त्व हों। भाव-पक्ष, कला-पक्ष, विचार और विधान, संवेदना और शिल्प-जैसे नामकरण भी रचना के आंतरिक संघटन को स्वीकार नहीं जान पड़ते। एक प्रकार की आरंभिक समीक्षा में यह विभाजन शायद बहुत-कुछ अनिवार्य-सा हो गया है। पर इससे भी आगे की एक स्थिति यह है, जिसमें भाषा को भावों की अनुगामिनी माना जाता है। कभी-कभी सोचता हूँ कि यदि इस प्रस्तावना को उलट कर देखा जाये, तो क्या रचना-प्रक्रिया कुछ आसानी से समझी जा सकती है? अर्थात् भाषा को भावों की अनुगामिनी न मानकर भावों और संवेदनों की प्रकृति का भाषा-द्वारा अनुशासित और निर्धारित होना माना जाये। प्रचलित प्रणाली का यह विरोध केवल कौतूहल से प्रेरित न होकर कुछ भाषा-वैज्ञानिक विवेचनों पर आधारित है।

भाव और भाषा में-से कौन पहले आया, यह एक अत्यंत जटिल प्रश्न है। एक के अभाव में दूसरे की कल्पना कठिन है। पर विकसित साहित्यों में कौन किसे निर्धारित करता है, यह जानना शायद उतना दु:साध्य नहीं। प्रचलित मान्यता के अनुसार मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानंदन पंत, अज्ञेय तथा रघुवीरसहाय की भाषा में इसलिए अंतर है, क्योंकि उनके भाव उत्तरोत्तर बदलते गये हैं। पर यहाँ इस तथ्य को भुला दिया जाता है कि भाषा केवल साहित्य में ही प्रयुक्त नहीं होती, वरन् मानव-जीवन की प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है। कवि जिन अनुभूतियों को व्यक्त करना चाहता है, उसके पूर्व-रूप उसने भाषा के किसी रूप में ही सोचे होंगे। इस दृष्टि से काव्य-सृजन के पूर्व ही उसका संवेदन किसी भाषा में उसे उपलब्ध हुआ होगा। उस अंतरमंथन की भाषा का रूप क्या है? क्योंकि वह तो रचना-सृष्टि के पूर्व ही उसके व्यक्तित्व में अवस्थित है। उसकी काव्य-भाषा उसके भावों से यदि निर्धारित होती है, तो उसके संवेदन की भाषा उसे कहाँ से मिलती है? उसकी व्यापक अनुभूतियों की भाषा क्या है? क्या एक स्तर पर उसकी विकसित भाषा का स्वरूप ही, जो उसे समाज से मिला है, उसकी व्यापक अनुभूति को निर्धारित नहीं करता? क्या ऐसा नहीं है कि जो भाषा जिस हद तक विकसित और परिष्कृत होती है, उसी के अनुकूल उसके उपयोग करने वालों की संवेदना बनती है?

रचनाकार को सृजन के पूर्व और बाद, दोनों ही स्थितियों में भाषा का प्रयोग करना है। पहला रूप वह मुख्यत: समाज से ग्रहण करता है, और दूसरे रूप में वह अपने व्यक्तित्व को भी मिश्रित कर देता है, पर उसी हद तक कि उसकी भाषा उसके समाज के लिए प्रेषणीयता बनाये रख सके। अत: भाषा का आधारभूत रूप वह है, जो रचनाकार समाज से स्वीकार करता है और उसी के अनुकूल उसकी संवेदना निखरती है, जिसे वह फिर अपनी काव्यभाषा में व्यक्त कर देता है। जैसा कहा गया, यह काव्यभाषा एक सीमा तक कवि के व्यक्तित्व के अनुकूल रूपाकार ग्रहण करती है, पर अपनी आधारभूत सामाजिक भाषा से वह पृथक् नहीं हो सकती, जो कि रचनाकार की संवेदना का माध्यम और स्रोत है। इसीलिए भाषा के अर्थ-बोध के साथ-साथ साहित्य में संवेदनात्मक गहराई बढ़ती जाती है। इस दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त और रघुवीरसहाय की रचना-संवेदना का अंतर उनके लिए उपलब्ध भाषा के अंतर के कारण है।

भाषा का विकास चिंतन-क्षमता का प्रभावित करता है, इसके प्रमाण हिंदी साहित्य के इतिहास में देखें जा सकते हैं। 1000 ई. के लगभग, जब हिन्दी अपभ्रंश के प्रभाव मुक्त एक स्वतंत्र भाषा के रूप में उदय हुई, उस समय उसकी चिंतन-क्षमता अत्यंत न्यून थी। इसके बाद भी ब्रजभाषा अथवा अवधी के सारे काव्य-सौष्ठव के बावजूद, हिंदी भाषी प्रदेश की चिंतन-क्षमता विकसित नहीं हो सकी, क्योंकि ये भाषाएँ एक विशेष प्रकार की संवेदना को ही व्यक्त कर सकती थीं। यही कारण है कि ब्रजभाषा जैसी परिष्कृत साहित्यिक भाषा में कोई चिंतन अथवा दर्शन प्रधान ग्रंथ नहीं लिखे जा सके। यहाँ गद्य अथवा कविता की भाषा का अंतर प्रधान नहीं है; संस्कृत भी मुख्यत: कविता की भाषा थी, पर उसमें उच्च कोटि का चिंतनशील साहित्य मिलता है। इसके बाद भी, भारतेंदु के समय से खड़ी-बोली के साहित्यिक रूप का परिमार्जन प्रारंभ हुआ। परंतु काफ़ी वर्षों तक, प्राय: रामचंद्र शुक्ल के पूर्व तक, भाषा की प्रकृति ऐसी नहीं थी कि वह सूक्ष्म संवेदनों को व्यक्त कर सके। फलत: खड़ीबोली हिन्दी का प्राय: समस्त विचारात्मक साहित्य शुक्लजी के माध्यम से, और उनके बाद लिखा गया। भाषा के इस विकास के माध्यम से ही संवेदना के विकास को भी देखा जा सकता है।

भाषा का आंतरिक संघटन संवेदना के स्वरूप को निर्धारित करता है, इसके कई उदाहरण और देखे जा सकते हैं। मैं समझता हूँ कि हिन्दी साहित्य में अश्लीलता की समस्या बहुत कुछ भाषा के स्तर पर है। सेक्स-जीवन से संबद्ध हिंदी की प्राय: समूची शब्दावली अपनी प्रकृति में बहुत भोंड़ी है अंग्रेजी में 'प्रेगनेंट' के स्थान पर 'ऐक्सपैक्टिंग' या 'इन द फ़ेमिली वे' प्रयोग अधिक सुरुचिपूर्ण माने जाते हैं। हिन्दी में इस प्रकार की परिष्कृत शब्दावली अभी कम विकसित हुई है। यह निश्चित है कि जब भाषा के स्तर पर सेक्स-जीवन से संबद्ध शब्दों के प्रयोग की वर्जना समाप्त हो जायेगी, तभी हमारे सामाजिक जीवन में भी अश्लीलता को लेकर मौलिक भावना बदल सकेगी। अभी तक स्थिति इसके विपरीत मानी जाती है, अर्थात् क्योंकि हमारी संवेदना में कोई स्थिति अश्लील

है. अत: भाषा में उसकी अभिव्यक्ति भी अश्लील होगी। पर वस्तुत: भाषा की क्षमता ही हमारी संवेदना को विकसित करेगी। 'नदी के द्वीप' में अज्ञेय की भाषा इतनी समर्थ है कि भुवन और रेखा का प्रणय-व्यापार अथवा रेखा के गर्भपात का दृश्य अश्लील नहीं लगता। यहाँ भी संवेदना को भाषा की प्रकृति ने नियमित और निर्धारित किया है।

हिन्दी के कथा-साहित्य में जो पिछड़ापन लगता है, उसका एक मुख्य कारण भाषा की सीमित अर्थ-शक्ति है। मानव-जीवन की जटिल और सूक्ष्म परिस्थितियों, अर्द्ध-अनुभूत भावों की अभिव्यक्ति के लिए जैसी सशक्त भाषा चाहिए, वैसी विकसित भाषा हमारे पास नहीं है। फलत: हमारे कथा-साहित्य की संवेदना किसी दृष्टि से आधुनिक नहीं कही जा सकती। फ्रेंच, जर्मन और अंग्रेजी उपन्यासों को पढ़कर यह तुलना और स्पष्ट हो जाती है। स्टीफेन ज्वीग का 'बिवेयर ऑव पिटी' अथवा काम्यू के 'द आउट-साइडर' के रूपांतर अंग्रेजी में भले हो सकें, पर हिन्दी उतने सूक्ष्म संवेदनों को वहन करने में अभी समर्थ नहीं है। सच तो यह है कि युरोपीय भाषाओं और साहित्य ने हमारी संवेदना को किसी हद तक विकसित कर दिया है, भले अपनी भाषा सीमा का कारण हम उसे ठीक-ठीक अभिव्यक्त न कर सकें।

इस प्रसंग में अंतिम और सबसे बड़ी बात यह है कि भाषा और संवेदना, एक ऐसा संश्लेषण है, जिसे इतना अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता। पर भाषा भावों की अनुवर्तिनी है, यह मान्यता तो वैज्ञानिक नहीं लगती। इनकी वास्तविक अंतरप्रक्रिया का अध्ययन ही हमें उनकी प्रकृति को समझने में सहायता दे सकता है। पर यह कथन निश्चय ही अपेक्षया अधिक यथार्थ जान पड़ता है कि बच्चन की नवीन काव्य-संवेदना ('प्रणय-पत्रिका', 'धार के इधर-उधर', 'आरती और अंगारे') उनकी परिवर्तित भाषा के कारण है, अथवा भारती की 'कनुप्रिया' की प्रणय-संवेदना कवि-द्वारा भाषा के ऋजु सरल रूप द्वारा निर्धारित हुई है। किंतु अभी तक तर्क इससे उलटा दिया जाता रहा है।

(भाषा- संवेदना और सर्जन से)

27. साहित्यिक कृति और सत्य की अवधारणा

–निर्मल वर्मा

सत्य की अवधारणा हमेशा संदिग्ध रही है। हम जिस शब्द को इतनी आसानी से प्रयुक्त करते हैं – एक 'आइडियोलॉग' अपनी विचारधारा में, दार्शनिक अपने तत्त्व-चिन्तन में, मसीहा अपने संदेश में – उसी शब्द का सत्य हमारी शताब्दी में कितनी बार, प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न रूप में, झुठलाया गया है, मनुष्य अपने समय में न केवल उसका बेबस गवाह रहा है, बल्कि अभिशप्त भोक्ता और शिकार भी बना है। बीसवीं शती की विचारधाराओं ने जिन मानववादी सत्यों के नाम पर मनुष्य की बलि माँगी थी, आज उनके सिर्फ खंडहर दिखाई देते हैं – किंतु उन खंडहरों के नीचे कितने स्वप्नों की धूल और मानवीय यातना दबी है, उसका लेखा-जोखा करना क्या कभी संभव हो पाएगा? सत्य के बारे में संदेह – यह केवल वही व्यक्ति कर सकता है, जिसने जीवन में उसकी विभीषिका को झेला हो। क्या यही कारण था कि जब रोमन पाइलेट ने जीसस से पूछा – तुम अपने को सत्य का मसीहा कहते हो, तो मुझे बताओ, सत्य क्या है? बाइबिल में लिखा है, जीसस क्राइस्ट से जब यह प्रश्न पूछा गया, तो वह चुप रहे – उसका कोई उत्तर नहीं दिया वह जो अंतिम क्षण तक 'सत्य' के लिए संघर्ष करते रहे, सत्य के सामने उनका मौन क्या हमें एक दूसरे मौन की याद नहीं दिलाता – बुद्ध का मौन, जब किसी ने उनसे ईश्वर के अस्तित्व के बारे में प्रश्न पूछा था?

आज के वैज्ञानिक तर्क-चिंतकों और समाजशास्त्रियों को, जिन्होंने जीवन के विराट सत्यों को परिभाषाओं में बाँधने का अद्‌भुत कौशल प्राप्त किया है, जीसस और बुद्ध का मौन अवश्य कुछ रहस्यमय-सा प्रतीत होगा, किन्तु एक कलाकार को उसमें शायद कुछ भी विचित्र नहीं जान पड़ेगा। सच पूछें तो मौन के इस अनछुए, अनखोजे संसार के बीच ही एक लेखक, एक कवि, एक कलाकार अपना डेरा, अपना बेसकैंप बनाता है, ताकि एक पर्वतारोही की तरह, वह अपनी रचना में उस समूचे प्रदेश को रूपायित कर सके, जो अब तक अभाषित और अपरिभाषित पड़ा था। मौन को भाषित करने के लिए नहीं, बल्कि भाषित में मौन को उजागर करने के लिए। विटगेनस्टाइन ने सही कहा है– "हमे अनकहे को कहने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। वह बेकार होगी। बल्कि हमने जो कहा है, उसमें जो अनकहा है, वह अपने अनकहेपन में अवश्य मुखरित होगा।"

शब्द और मौन का यह अंतर्गुंफित संबंध जिस रचना को जन्म देता है – उसी में उसका सत्य निहित है। यह 'सत्य' कोई बाहर की सच्चाई नहीं है, जो कविता या कहानी के माध्यम से हम तक पहुँचती है; या कोई ऐसा 'सत्य' नहीं है, जिसे खोजने हम साहित्य में जाते हैं। रचना न सत्य देने का माध्यम है, न हमारे सत्य खोजने का लक्ष्य। वह अपने में सत्य है। एक कविता और कहानी हमें जिस सत्य से साक्षात कराती है, वह स्वयं उसकी भाषा के भीतर संचारित होता है, स्वयं उसके होने, उसके अस्तित्व, उसके स्व-रूप में स्पंदित होता है। उसके बाहर हम केवल उस सत्य की व्याख्या करते हैं, जो हमने कहानी और कविता में पाया है। साक्षात हम रचना में करते हैं, आलोचना और विश्लेषण उसके बाहर होता है। निराला की 'सरोज-स्मृति' का सत्य न निराला में है, न उसके पाठक में – कविता की समूची पीड़ा और वियोग-यातना उसके शब्दों, शब्दों के बीच खाली विरामों और उनके बीच उत्पन्न हुई लय में समाहित है। उसके परे और बाहर कवि की अनुभूति है, पाठक की प्रतिक्रिया है, आलोचना की दृष्टि है – कविता का सत्य नहीं।

यह दुःख और आश्चर्य की बात ही मानी जाएगी कि साहित्यिक कृति के बारे में इतनी सीधी और सर्वविदित-सी बात पिछले कुछ वर्षों में – हिन्दी की अधिकांश आलोचना में – झुठलाई जाती रही है। साहित्य से जो माँग और अपेक्षा की जाती है – उसका कला-कृतित्व से कोई संबंध नहीं। कलाकृति का जो मूल और विशिष्ट सत्य है, वह जो केवल कला हमें दे सकती है, उसे अव्वल तो उपेक्षित और अनदेखा छोड़ दिया जाता है; और जब वह मुँह बाए सामने खड़ा ही हो जाता है, तो उसे विकृत और अवमूल्यित रूप में ही स्वीकारा जाता है। आज हम एक ऐसी हास्यास्पद स्थिति में पहुँच गए हैं, जहाँ यदि हम अज्ञेय के कृतित्व को इसलिए नकार देते हैं, क्योंकि उनकी विचारधारा से हम सहमत नहीं, तो प्रेमचन्द-जैसे लेखक, जिनकी विचारधारा को हम प्रगतिशील मानकर स्वीकार करते हैं, की अद्वितीय रचना 'कफन' के सत्य को इसलिए अस्वीकार कर देते हैं, क्योंकि कहीं वह हमारी तथाकथित नैतिक मान्यताओं और मध्यवर्गीय संस्कारों को ठेस पहुँचाता है। आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि कुछ अर्सा पहले जब दिल्ली की प्रगतिशील गोष्ठी में प्रेमचंद की कहानी 'कफन' पर इस तरह का विवाद खड़ा हुआ, तो समूची बहस का सरोकार बहस करने वालों की मान्यताओं पर केन्द्रित था- कहानी के सत्य पर नहीं, बहस के घटाटोप में कहानी का सत्य तो बहुत पहले कफन के नीचे दम तोड़ चुका था।

आखिर क्या होता है किसी कलाकृति का सत्य? क्या वह किसी एक भावना, एक अनुभूति, एक सूक्ति में समेटा जा सकता है? ज्यों ही हम एक सत्य तक पहुँचते हैं, दूसरा सत्य हमें पीछे धकेलने लगता है। क्या 'कफ़न' के सत्य को इसलिए नकारा जा सकता है कि घर में शव को नंगा छोड़कर बाप-बेटे कफ़न के पैसों को शराब में लुटा देते हैं? या कहानी का सत्य उस व्यंग्य में निहित है जो घीसू और माधव उस समाज पर करते हैं, जो जीते-जी किसी की मदद नहीं करता, जबकि मुरदे के दाह-संस्कार के लिए

पैसे जुटाना अपना धर्म समझता है? किन्तु इस धर्म का सत्य भी नगण्य नहीं, क्योंकि इसके बिना न ज़मींदार उन्हें कफ़न के पैसे देता, न उन्हें यह विश्वास होता है कि एक बार पैसे उड़ा देने के बाद वह समाज दुबारा उसकी मदद करने में नहीं कतराएगा। यह विश्वास भी उतना ही सत्य है जितना उनका अपनी जर्जरित अवस्था पर विषाद – और तब इन सारे अंतर्विरोधी सत्यों के झमेले में जज की कुर्सी पर बैठकर कोई अन्तिम फैसला देना कितना कठिन हो जाता है कि उनकी इस हालत के लिए कौन उत्तरदायी है – समाज, ज़मींदारी प्रथा, धर्म या बाप-बेटे की अपनी अकर्मण्यता? यदि छह-सात पन्नों की एक कहानी बीसियों सत्य एक साथ मौजूद रहते हैं, कभी एक-दूसरे को पुष्ट करते हुए, कभी एक-दूसरे को काटते हुए, तो किसी एक ऐसे सत्य की अँगुली पकड़कर – जो हमारे नैतिक पूर्वाग्रहों को पुष्ट करता है – कहानी के अन्य अप्रिय सत्यों से पल्ला झाड़ लेना, क्या यह यथार्थवादी चौखटे की भीतर स्वयं कहानी के संश्लिष्ट और बहुमुखी यथार्थ को ही नष्ट कर देना नहीं है? प्रेमचंद के पात्र भले ही घर में पड़े शव को ढँकने की मर्यादा पूरी न कर पाए हों, किंतु जब हम अपने नैतिक मानदंडों से कहानी की आलोचना करते हैं तो अवश्य ही अपनी मुर्दा मर्यादाओं को ढँकने में सफल हो जाते हैं।

ईश्वर से साक्षात शायद आस्था से हो सकता हो, किन्तु कलाकृति के सत्य से साक्षात गहरी शंकाओं में लिथड़ा हुआ ही हो सकता है – और जब होता है, तो भी हमें विश्वास नहीं होता कि क्या यह वही सत्य है, जो एक कलाकृति हमें देती है, या कलाकार हमें देने का दावा करता है या जो अंततः हमें उसके 'टेक्स्ट' में पाते हैं? और क्या एक कलाकृति का अर्थ जो एक पीढ़ी का पाठक अपने लिए ग्रहण करता है, दूसरी पीढ़ी का पाठक उससे वही अर्थ पाता है? क्या है 'हैमलेट' का सत्य? शेक्सपियर द्वारा निर्मित शब्दों का एक पुतला, जो स्वयं शब्दों की मर्यादा पर पागलों-सा प्रलाप करता है? शब्द जो स्वयं अपने खोखलेपन को नंगा करते हैं – किन्तु वे इतने शक्तिशाली भी हैं कि विश्व-साहित्य में एक अद्‌भुत चरित्र के डाँवाँडोल सत्यों को उद्‌घाटित करते हैं - ऐसे अंतर्विरोधी सत्यों को जिनके झंझावात में फलसफे के सब सिद्धांत और नैतिकता की सारी मान्यताएँ बार-बार टूट जाती हैं।

यह नहीं कि किसी कहानी या कलाकृति का 'सत्य' नैतिकता के परे होता है अथवा उसके प्रति निरपेक्ष या उदासीन होता है। कठिनाई तब उत्पन्न होती है, जब हम अपना 'नैतिक-बोध' उस पर आरोपित करते हैं – उसके सत्य को अपनी आस्थाओं और आदर्शों में ढालने लगे हैं। हम भूल जाते हैं कि जिस भाषा में एक कविता या कथाकृति अपना संसार रचती है, जिन स्रोतों से वह अपना रूप-गठन, मर्यादा-तंत्र, अपनी प्राणवत्ता हासिल करती है – जिसके कारण मिट्टी एक मूर्ति में, सुर किसी संगीत-रचना में, भाषा किसी कहानी या महाकाव्य में अपना कायाकल्प कर लेते हैं। यह समूची सृजन-प्रक्रिया जिस प्रयोगशाला, जिस 'लैबोरेटरी' में संपन्न होती है, उसका हमारे आदर्शों और मान्यताओं, हमारे अच्छे और बुरे ज्ञान, हमारी इच्छाओं और आकांक्षाओं से कोई लेना-देना नहीं। जब हम अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति किसी कलाकृति में ढूँढ़ने लगते हैं, तो उस सत्य को खो देते हैं, जिसे एक काव्यकृति ढूँढ़ने बाहर निकली है – अपनी वासना की पूर्ति करने के लिए – भाषा की अँधेरी और गोपनीय वासना – उसी तरह, जैसे पत्थर की वासना एक मूर्ति में चरितार्थ होती है। जीवन की तरह वासना भी चिरंतन है - अचर को चर में संचारित करती हुई...यदि उसकी छुअन से 'अजीव' का लोंदा एक विचित्र रोमांच में सिहरता हुआ 'जीव' में रूपांतरित होता है, तो उससे भला कला कैसी अछूती रह सकती है?

रूपांतरण...कैसे एक वस्तु अपने भीतर की सन्निहित प्रेरणा-शक्ति द्वारा नितांत दूसरा रूप और आकार ग्रहण करती है, यह प्रकृति का चमत्कार है। यह दूसरा रूप कोई विकास का नया चरण नहीं है, बल्कि अपनी प्रकृति में लौटने का ही उपक्रम है...जिस तरह बीज का 'कर्म' वृक्ष में रूपांतरित होकर ही स्वयं अपने बीजत्व के धर्म को प्राप्त करता है, उसी तरह कलाकृति की नैतिकता, उसका 'धर्म' बार-बार हमें भाषा की उन अँधेरी जड़ों की याद दिलाता है, जिसके रूपांतरण में ही कलाकृति की मूल प्रकृति प्रकाश में आती है। इस अर्थ में एक कलाकृति न जड़ है, न वृक्ष – वह भाषा में प्रकृति की लीला है – वृक्ष की ओर बढ़ती हुई, जड़ की ओर लौटती हुई...जिसमें मनुष्य अपनी प्रकृति और जीवन का इतिहास-गाथा से साक्षात करता है। जब मनुष्य अपने 'मनुष्यत्व' को भूल जाता है, अपने आत्म से विलगित हो जाता है, आज के मुहावरे में कहें – जहाँ वह स्वयं अपने को अपने से अजनबी पाने लगता है – ठीक वहाँ कला उसे अपने जीवन में उसी सत्य का अनुभव कराती है, जिसे वह भूल गया था, जिसके रहते ही वह समय और इतिहास के कुहासे को भेदकर दुबारा अपनी प्रकृति, अपने स्वधर्म, अपने स्वभाव से एकात्म हो सकता है। किसी भी महान कलाकृति का अनुभव अँधेरे से स्मृति के आलोक में लौटाने का क्षण है।

यह 'लौटाना' दो तरफ होता है – एक अपनी तरह, जहाँ हमारा आत्म है, खोई हुई मर्यादाओं का सहज विवेक। दूसरा अपने से बाहर - मनुष्येतर, जहाँ प्रकृति का विराट परिवेश फैला है। ऊपरी दृष्टि से देखें तो दोनों एक-दूसरे के विपरीत और विरोधी जान पड़ते हैं। आत्मा और प्रकृति - दोनों के बीच एक फाँक खिंची दिखाई देती है। क्या यह विभाजन स्वाभाविक है, या मनुष्य की समाज-व्यवस्था ने यह फाँक, यह विभाजन-रेखा उसके भीतर अंकित की है? हर महान कलाकृति में हमारी मुठभेड़ इस त्रासद प्रश्न से होती है - क्या मनुष्य की प्रकृति को बाहर की प्रकृति से अलग किया जा सकता है? यह प्रश्न केवल कलाकृति की भाषा में रूपायित हो सकता है, क्योंकि कलाकृति का अपना सत्य मानव-केंद्रित नहीं होता। वह हमें बार-बार उस खोए हुए संबंध की

याद दिलाता है, जब मनुष्य प्रकृति से विलगित नहीं हुआ था, जहाँ मनुष्य और मनुष्येतर के बीच वह खाई नहीं खुदी थी, जिसके अँधेरे में मनुष्य की आत्मा अपने को इतना अनाथ पाती है-और प्रकृति अपने को इतना आत्मशून्य। प्रकृति का यह मौन और भाषा की वासना, जो इस मौन को शब्द देती हुई भी उसकी प्रकृति को अक्षुण्ण रखती है - वह अतिमानवीय सत्य है, जो कलाकृति के भीतर एक लौ की तरह जलता रहता है। कला का यह अतिमानवीय सत्य ही उसे समाज में इतना संदिग्ध बनाता है... इतना संदिग्ध कि प्लेटो जैसे मनीषी उसे अपनी आदर्श राज्य-व्यवस्था से बहिष्कृत करना चाहते थे।

यह अकारण नहीं है कि एक सर्वसत्तावादी समाज में कला को अतिरिक्त संदेह से देखा जाता है - उस संदेह के पीछे कहीं न कहीं यह त्रास छिपा रहता है कि कलाकृति मनुष्य द्वारा सृजित होने के बावजूद किसी गहरे अर्थ में 'मानवीय' नहीं है – वह अपने सत्य में उन समस्त विचारधाराओं का खंडन करती है, जो मनुष्य की प्रकृति को केवल मानवीय संदर्भ में परिभाषित करते है...उन सब मूल्यों और सिद्धांतों का विरोध करती है, जिन्हें हर समाज अपने लिए निर्धारित करता है। हर ऐतिहासिक विचारधारा का अभीष्ट मनुष्य को एक सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक प्राणी में परिशोधित करना होता है, जहाँ वह अपनी मूल जैविक और नैसर्गिक प्रकृति की मर्यादाओं को भूलकर एक ऐतिहासिक चौखटे में फिट हो सके। दूसरे शब्दों में, मानव-जीवन की आत्म-विस्मृति में ही ऐतिहासिक मनुष्य का आविर्भाव संभव हो सकता है। हम जिसे मनुष्य का विकास मानते हैं, वह एक तरह से आत्मनिर्वासन का इतिहास है। अपने प्रति आँखें मूँदकर ही मनुष्य इतिहास के प्रति आँखें खोल सकता है। कितनी बड़ी विडंबना है कि जिसे हम मनुष्य की चेतना का विकास मानते हैं, वहीं से मनुष्य की आत्मविस्मृति का अंधकार भी शुरू होता है।

कलाकृति का सत्य – यदि उसका कोई सत्य हो सकता है – तो वह मनुष्य को उसकी स्मृति में लौटाना है। स्मृति का यह लोक कोई 'स्वप्नलोक' नहीं है, जहाँ पहुँचकर मनुष्य अपनी स्थिति को भूल जाता है। उलटे यह उस खोई हुई आत्म-चेतना को प्राप्त करना है, जिसे इतिहास ने धूमिल कर दिया था – जहाँ पहुँचकर ही वह अपनी वर्तमान मानवीय अवस्था की घोर दीन-दरिद्रता, उसके झूठ-प्रपंच, उसकी छलनाओं को देख सकता है। हर महान साहित्यिक कृति मनुष्य के आत्मविस्मृति से उबारती है, ताकि वह अपने से साक्षात करने का साहस बटोर सके। इसके विपरीत इतिहास की हर विचारधारा मनुष्य को उस अंधेरे में धकेलने का प्रयास है, जहाँ वह अपने अतीत को भूल सके –, तभी वह उसे अपने 'चौखटों' के भीतर ढालने में सफल हो सकती है। चेक लेखक मिलान कुंडेरा ने अपने दु:खद अनुभवों के आधार पर ही कहा था कि एक तानाशाही व्यवस्था की सबसे बड़ी आकांक्षा यह होती है कि वह किसी तरह मनुष्य की स्मृति को मिटा सके, क्योंकि उसे मिटाकर ही वर्तमान के झूठ को स्वीकार किया जा सकता है।

यह विडम्बना ही है कि जिस व्यवस्था में मनुष्य के भविष्य को बदलने का दावा किया जाता है, वहाँ उसका भविष्य नहीं – उसका अतीत बदला जाता है। जरा कल्पना कीजिए – जहाँ इतिहास के 'आइडियोलॉग' स्वयं अपने इतिहास को परिवर्तित और विकृत करने का दुस्साहस करते हैं, वहाँ वे उस 'कला' को क्यों नहीं संदेह की दृष्टि से देखेंगे, जिसमें मनुष्य सिर्फ अपना इतिहास और अतीत ही नहीं, बल्कि समय की धूल में दबा अपना समूचा स्मृति-लोक पुनर्जाग्रत करता है...जब वह मनुष्य के रूप में मनुष्य था – संपूर्ण और अखंडित, स्वयं अपनी मर्यादाओं द्वारा अनुशासित। विश्व-साहित्य के सबसे मार्मिक और संभवत: सबसे अधिक मूल्यवान स्थल वे हैं, जब उपन्यास का, नाटक का कोई पात्र घोर संकट और यातना के क्षणों में सहसा उन खोई हुई मर्यादाओं और विस्मृति संस्कारों से साक्षात करता है, जिसे राज्य, धर्म और सत्ता ने अपने स्वार्थों के कारण नष्ट कर दिया था...मनुष्य की मूल मर्यादा का यह खोया हुआ लोक सहसा वह कटघरा बन जाता है, जिसमें समाज और राज्यसत्ता की लौकिक मर्यादाएँ छोटी, बौनी, क्षुद्र और झूठी जान पड़ने लगती हैं। प्रेमचन्द का पंच-परमेश्वर यह नहीं तो और कौन है, जिसकी शरण में जाकर सीता अपने पति का सामाजिक मर्यादाओं को चुनौती देती हुई अपने मूल सतीत्व की गरिमा को उजागर करती है। यह वही मर्यादा है, जिसके बल पर सोफोक्लीज़ की नायिका एंटीगोने राज्य-नियमों को चुनौती देती हुई अपने भाई के दाह-संस्कार का जोखिम उठाती है। ऐसे ही क्षणों में कोई कलाकृति अपने भीतर उन आदि मिथकों की शक्ति जगाती है, जिनसे मनुष्य एक स्वप्न की तरह अपने खोए हुए सत्य से पुन: साक्षात करता है।

यदि हम चाहें तो इसे कला का 'नैतिक कर्म' भी मान सकते हैं किंतु कलाकृति यह कर्म किसी सूक्ति, किसी संदेश, किसी नीति-सिद्धांत के द्वारा संपन्न नहीं करती। कलाकृति की नैतिकता उसके होने में है, हमें कुछ देने में नहीं...कुछ वैसे ही, जैसे वृक्ष पर लगा हुआ फल – हम चाहें तो उससे अपनी क्षुधा शांत कर सकते हैं। किंतु वृक्ष का धर्म फल उगाना है, हमारी क्षुधा मिटाना नहीं। इस संबंध में गोएटे का कथन आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना कि सौ वर्ष पहले था। वह एक जगह कहते हैं, "कलाकार का धर्म अपनी कला में संपूर्णत्व प्राप्त करना है – यही एक कलाकृति का लक्ष्य है। नीतिशास्त्र के प्रवक्ता इस बात से चिंतित रहते हैं कि कला दूसरों पर क्या प्रभाव छोड़ती है, जिसके बारे में कलाकार उतना ही उदासीन रहता है, जैसे प्रकृति इस बात में कि वह शेर की रचना करती है – या किसी गाने वाले पक्षी की।" यहाँ कला प्रकृति और प्रकृति की लीला में कितना कम अंतर रह जाता है। कितना अजीब है, बाइबिल की कथा में यदि ज्ञान का फल चखकर मनुष्य अपनी स्वर्ग-वाटिका से निष्कासित होता है तो वहीं

मनुष्य कला का फल चखकर उसमें दुबारा लौटता है – प्रकृति की उसी आदिम और निष्पाप अवस्था में, जहाँ वह अपने से वंचित नहीं हुआ था।

किन्तु यह 'लौटना' कलाकृति में होता है, जबकि मनुष्य जीता है, उस पाप की दुनिया में जहाँ उसका पतन हुआ था। यह दुनिया का यथार्थ है। जीवन का अनुभव बार-बार इस यथार्थ से टकराता है...मनुष्य को क्षत-विक्षत करता हुआ, बार-बार उसे खंडित करता हुआ...कीट्स ने कहा था, जो सुंदर है, वही सत्य है, जो सत्य है, वही सुंदर हो सकता है। क्या बीसवीं शती का मनुष्य यह कह सकता है? दो महायुद्धों के नरसंहार, यातना शिविरों, लेबर कैंपों, विचारधाराओं के नाम पर अमानुपिक बर्बरता का भीषण अनुभव क्या हमें नहीं बताता कि जो सत्य है, वह कितना भयानक, कितना वीभत्स, कितना क्रूर हो सकता है? क्या इसी असहनीय, दारुण सत्य से बचने के लिए मनुष्य कला में नहीं जाता Man possesses art lest he should perish by the truth. यह नीत्शे का वाक्य है – हम कला में इसलिए जाते हैं कि कहीं सत्य हमें तबाह न कर डाले? मुझे एक जापानी लेखक की बात याद आती है, जिन्होंने मुझसे कहा था कि हिरोशिमा का सत्य किसी भी कविता या उपन्यास में व्यक्त नहीं किया जा सकता। क्या यह वही बात नहीं है, जिसे जर्मन चिंतक एडोर्नो ने कहा था कि ऑशवित्स यातना-शिविर के बाद जर्मन भाषा में कविता लिखना असंभव है। शायद कला के संबंध में यह शंका कभी पहले नहीं उठी कि कुछ ऐसे अँधेरे अतिमानवीय, असाधारण सत्य हैं, जो मनुष्य के 'कला का संकट' कहलाते हैं। क्या वह यही अँधेरी खाई है, जो कला की सामर्थ और जीवन के सत्य के बीच खुद गई है, जिसे पाटना असंभव है? क्या अनुभव के इस अँधेरे कगार पर पहुँचकर ही नीत्शे को लगा था कि हम जीवन से मुँह मोड़कर ही अपने को कला में सुरक्षित रख सकते हैं?

किंतु क्या इस तरह की कोई भी 'सुरक्षा' कलाकृति हमें दे सकती है – और यदि उसे पाकर हम जीवन के सत्य से विमुख हो जाते हैं, तो क्या सुरक्षा का यह भाव स्वयं में एक मोहग्रस्त आत्मछलना नहीं होगी? कोई भी अनुभव – वह चाहे कितना ही बीहड़ और भयानक क्यों न हो – भाषाहीन नहीं होता। एक भाषाहीन अनुभव अपने में अंतर्विरोध है – वह अभाषित भले ही हो, भाषातीत नहीं होता। जब हम कहते हैं – यह मैं महसूस तो करता हूँ, किंतु व्यक्त नहीं कर सकता, तो इससे केवल हम अपनी असमर्थता जताते हैं – भाषा की सीमा नहीं। किसी अनुभव का महसूस होना ही इस बात को साबित करता है कि वह भाषा के घेरे में आ गया है, जिसमें मनुष्य की असमर्थ और असहाय चुप्पी भी शामिल है...शायद हर युग में आदमी ने यह महसूस किया हो कि उसके जीवन के अनुभव इतने असाधारण, इतने विशिष्ट, इतने अतिमानवीय हैं कि भाषा में व्यक्त नहीं हो सकते। विडंबना यह है कि अनुभवों की यह अभाषित यातना ही जितनी शक्ति और सच्चाई से एक कलाकृति में अभिव्यक्त होती है, इतनी अन्यत्र कहीं नहीं।

धृतराष्ट्र के दरबार में द्रोपदी की मर्मांतक यातना, आत्मलांछना की वह चरम स्थिति जहाँ वह अपने को इतना निस्सहाय पाती है कि मर्यादावान पतियों और पिता-पितामहों के बीच स्वयं अपनी मर्यादा नहीं बचा पाती, क्या द्रोपदी का यह दारुण अनुभव शब्दातीत नहीं है। किन्तु जो शब्दातीत है, क्या वही *महाभारत* के शब्दों द्वारा हम तक संप्रेषित नहीं हो जाता है सिर्फ संप्रेषित होकर चुक नहीं जाता, बल्कि उस अनुभव द्वारा–*महाभारत* का कवि हमें उस आदि-सत्य का स्मरण भी करवाता है जिसे द्रोपदी उन प्रश्नों द्वारा उजागर करती है कि धर्म क्या है और मर्यादा कहाँ है – ये प्रश्न जिनके सामने सिर्फ द्रोण और भीष्म जैसे अनुभवसंपन्न आचार्य ही नहीं स्वयं धर्मराज अपने को निरुत्तर पाते हैं, क्या उनके मौन, उनकी असहाय चुप्पी द्वारा ही महाकाव्य का केंद्रीय सत्य हमारे सामने प्रगट नहीं होता कि हर मानवीय अनुभव इतना विशिष्ट और वैयक्तिक होता है कि धर्म और नैतिकता की किसी बनी-बनाई कसौटी पर उसे परिभाषित नहीं किया जा सकता। क्या यही वह विसमृत सत्य नहीं है, जिसे एक कलाकृति हर युग में बार-बार स्मृति की भाषा में जाग्रत करती है?

इसी अर्थ में एक कलाकृति का सत्य हर युग के लिए प्रासंगिक हो जाता है...यदि ऐसा न होता तो दो हजार वर्ष पूर्व रचे महाकाव्य– *महाभारत* हो या *ईलियड* – हमें आज इतने समकालीन नहीं जान पड़ते। एक संस्कृति में रचा महाकाव्य – अपना सत्य, अपनी देशीय और जातीय सीमाओं को लाँघकर – किस तरह दूसरी संस्कृति में ध्वनित होता है, यह स्वयं उसकी सार्वभौमिक प्रासंगिकता का द्योतक है। यह सही है कि हमारे संस्कार हमारी संस्कृति के बिंबों और काव्य-रूपकों में ही उजागर होते हैं, किंतु इसके साथ यह भी एक सच्चाई है कि कहीं हमारे अनुभव क्षेत्र का एक हिस्सा सत्य होता हुआ भी इन संस्कारित बिंबों द्वारा अनावृत नहीं हो पाता – वह सूखा, अतृप्त और अछूता पड़ा रहता है। किंतु चमत्कार तब होता है, जबकि अचानक किसी दूसरी संस्कृति की काव्य-रचना के संपर्क में आते ही अनुभव के ये अँधेरे कोने आलोकित हो जाते हैं। यह काव्यकृति कहीं हमारी अपूर्णता में अपना सत्य जोड़कर उसे संपूर्ण नहीं करती, बल्कि वह संपूर्णता-बोध जो हमारे भीतर पहले से ही मौजूद था, अब एक नई ऐंद्रीय मांसलता ग्रहण कर लेता है – संपूर्ण का वह हिस्सा जिसे मैं ही अनुमानित करता था, अब एक फड़फड़ाते, स्पंदनशील, तात्कालिक अनुभव का ही जीवन्त अंग जान पड़ने लगता है। संपूर्ण का बोध अब संपूर्ण 'होने' के अनुभव में बदल जाता है...

मैंने ऊपर *महाभारत* का उल्लेख किया था। उसमें भारतीय संस्कृति का रूपक 'धर्म' एक केन्द्रीय सत्य के रूप में विद्यमान है.. .किन्तु यह भी सच है – जैसा कि मैंने द्रोपदी के प्रसंग में संकेत किया था – कि अनुभव के उन क्षणों में जब व्यक्ति अपने को

'धर्म-संकट' में पाता है, यह भी पता चलता है कि यह व्यक्ति का ही नहीं, स्वयं 'धर्म' का संकट भी है। ठीक इस विंदु पर जब हम ग्रीक महाकाव्य के संपर्क में आते हैं तो हम एक नितांत नए सत्य से साक्षात करते हैं, या यूँ कहें, सत्य के नऐ आयाम से अवगत होते हैं – और वह है – मनुष्य की नियति, जिसके सामने उसके सारे मनोरथ और महत्वाकांक्षाएँ अकारथ हो जाते हैं। मनुष्य का धर्म उसे अपनी प्रकृति का अतिक्रमण करने के लिए उत्प्रेरित करता है, ताकि वह अपने कर्तव्य को पूरा कर सके, जिसका उपदेश श्रीकृष्ण अर्जुन को कुरुक्षेत्र में देते हैं, नियति मनुष्य को धर्म-मर्यादा का उल्लंघन करने के लिए विवश करती है जहाँ प्रकृति की लौहवत् शक्ति के सामने वह अपने को बिलकुल निरीह, नपुंसक पाता है। ग्रीक महाकाव्य *ईलियड* में शक्ति – अंग्रेजी शब्द इस्तेमाल करूं, तो 'फोर्स' – की उतनी ही केंद्रीय भूमिका है, जितनी *महाभारत* में धर्म की, किंतु ये दोनों एक-दूसरे के पूरक नहीं, बल्कि एक-दूसरे में अंतर्निहित हैं – दो अलग-अलग सत्य नहीं, बल्कि मानव-जीवन का एक सार्वभौमिक सत्य, जिसका एक पक्ष भारतीय संस्कृति के महाकाव्य में प्रगट होता है, दूसरा पक्ष ग्रीक एपिक-गाथा में उजागर होता है।

किसी महान कलाकृति का सत्य केवल विभिन्न संस्कृतियों की सीमाओं का ही अतिक्रमण नहीं करता, वह हमारे काल-बोध के ऐतिहासिक कटघरों को भी भंग कर देता है। अतीत और भविष्य का कृत्रिम वर्गीकरण इतिहास करता है, एक कलाकृति का सत्य दोनों को मनुष्य के अखंडित सातत्य में ही देख सकता है, जहाँ काल को विभाजित करना उतना ही असंभव है, जितना कि समुद्र के अथाह जल को छड़ी से बाँटकर अलग करना। जिस तरह एक व्यक्ति का अतीत उसके वर्तमान में बसा होता है – और वर्तमान में उन समस्त संभावनाओं के संकेत मिलते हैं, जो उसके भविष्य में होने वाला है – ठीक उसी तरह से एक साहित्यिक कृति में काल का संपूर्ण बोध सिनेमा के स्क्रीन की तरह लगा रहता है, जिसके रहते ही मनुष्य का हर बीता अनुभव और आनेवाली हर संभाव्य घटना एक सुसंगत, और व्यवस्थित पैटर्न उद्घाटित करती है। अंतर केवल इतना है कि सिनेमा-स्क्रीन पर एक छवि हटते ही दूसरी छवि आती है, फिर तीसरी...जबकि कलाकृति में ये समस्त फिसलती हुई क्षणभंगुर तस्वीरें एक साथ अपने स्थायित्व में कायम रहती हैं – रेत पर स्मृति-संकेतों की छाप की तरह – जिसे न अतीत अपने में तिरोहित कर सकता है, न भविष्य अपने थपेड़ों से मिटा सकता है। फॉकनर ने एक बार अपने इंटरव्यू में कहा था, "उपन्यास में समय बर्फ की तरह जमा रहता है, किन्तु ज्यों ही हम उसे बुक-शेल्फ से निकालकर पढ़ना शुरू करते हैं, वह दुबारा से पाठक के जीवन मे बहना शुरू कर देता है।" मैंने ऊपर कहा था कि मनुष्य का कोई अनुभव भाषातीत नहीं होता, ठीक उसी तरह समय में भोगा हुआ कोई अनुभव समयाश्रित नहीं होता – वह कभी नहीं मरता और बार-बार अपने को दुहराता है।

इसीलिए एडोर्नो का यह कथन कि "ऑशिवित्स के बाद कोई कविता नहीं लिखी जा सकती", मार्मिक होता हुआ भी न मनुष्य की यातना के बारे में सत्य बताता है, न कला के सत्य के बारे में सही जान पड़ता है। जर्मन फासिज़्म का उदय भी नहीं हुआ था, जब उससे वर्षों पहले प्राग के एक अज्ञात यहूदी लेखक ने अपने लेखन में उस यातना को पूरी विभीषिका के साथ व्यक्त किया था, जिसे यूरोपीय मनुष्य ने वर्षों बाद हिटलर के यातना-गृहों में भोगा था...काफ़्का ने अपने उपन्यास ऑशवित्स की घटना से बहुत पहले लिखे थे – किंतु वही घटना, जिसे हमारे युग के मानववादी, मार्क्सवादी चिंतक असंभव और अकल्पनीय मनाते आए थे, काफ़्का के साहित्य में जीवन का सत्य उद्घाटित करती है – एक फैंटेसी के रूप में नहीं, बल्कि एक स्वाभाविक यथार्थ के रूप में जिसे हर व्यक्ति अपने भीतर के यातना-गृह में भोगता है। उन्नीसवीं शती में जब दॉस्तोयवस्की ने अपना उपन्यास डेविल्स लिखा था, तो क्या कोई कल्पना भी कर सकता था कि सौ साल बाद डेविल्स, ये शैतानात्माएँ उपन्यास के पन्नों से निकलकर रूस की सोवियत व्यवस्था में जीते-जागते, हाड़-मांस के जीवंत 'क्रांतिकारियों' के रूप में प्रगट होंगी? कला का यह कैसा अद्भुत सत्य हैं, जो न केवल हजारों वर्ष पहले भुगते हुए मनुष्य के अनुभव को हमारे लिए प्रासंगिक बनाता है, बल्कि हमें उस अज्ञात नियति का भी साक्षी बनाता है, जो अभी मनुष्य के अनुभव का सत्य नहीं बनी, किंतु जो उसके भविष्य में पहले घट चुकी है? क्या यही वह बिंदु है, जहाँ मनुष्य का समूचा अतीत काल और भविष्य का असीम दोनों ही कलाकृति के सत्य में शाश्वत, और अपनी शाश्वतता में हमारे समकालीन हो जाते हैं?

इसके बाद यदि हम पुन: नीत्शे के कथन को याद करें कि "हम कला के पास इसलिए जाते हैं, ताकि सत्य हमें नष्ट न कर डाले," तो अजीब किस्म का आश्चर्य होता है। क्या यह वह व्यक्ति कह सकता है, जो अपने को दॉस्तोयवस्की का शिष्य मानता था? व्यास के महाकाव्य में फैला मानव-विषाद और सोफोक्लीज़ के पात्रों को आच्छादित करती नियति की अभिशप्त छायाओं से गुजरकार क्या हम अपने को 'सत्य' से बचा सकते हैं? क्या सच्चाई इसके विपरीत तो नहीं है कि हम कला से आतंकित होकर उन सत्यों में शरण लेते हैं, जो फिलॉसफी, दुनिया की धार्मिक-आस्था और समाजशास्त्रों की मानवीय विचारधाराएँ हमें देती हैं। हम उनमें अपने को जितना सुरक्षित पाते हैं, उतना कला के सत्य में कभी नहीं...क्योंकि कला का सत्य सिर्फ एक संभावना है – मनुष्य के पशुवत् अस्तित्व और उसकी अपरिभाषित मानवीयता के बीच एक शाश्वत प्रश्न – जबकि बाकी सब धर्म, संस्कृतियाँ और विचारधाराएँ उसके 'मनुष्यत्व' को स्वीकार करके चलती हैं, जिनमें संदेह और शंका की कोई गुंजायश नहीं। इसीलिए जब कला को संस्कृति का अंग माना जाता है, तो सिर्फ इस अर्थ में कि संस्कृति ने अपने बने-बनाए 'उत्तरों' की व्यवस्था के बीच इतनी खाली जगह छोड़ दी है, जहाँ उन प्रश्नों और शंकाओं को भी समाया जा सके, जो हर महत्वपूर्ण कलाकृति अपने समय में

जीवन की अर्थवत्ता के बारे में उठाती है। कला के सत्य इसी अर्थ में सार्वभौम और शाश्वत होते हैं क्योंकि वे 'मनुष्य' के बारे में किसी अंतिम और अखंडनीय अवधारणा पर आधारित नहीं होते। हर संस्कृति के आत्म-बिंब इन्हीं अवधारणाओं को लेकर बनते हैं, जबकि कलाकृति का सत्य बार-बार इन आत्मबिंबों की माया और छलना को भेदता है। क्या आन्ना केरेनिना का चरित्र अपनी संस्कृति द्वारा निर्मित उन सब छवियों और बिंबों को नहीं खंडित करता, जो छद्म नैतिकता में डूबा एक मध्यवर्गीय समाज 'नारी' के बारे में सँजोकर चलता है। सोल्जेनित्सिन के उपन्यास यदि सोवियत-शासकों को इतना आतंकित करते थे तो इसलिए कि उनमें मनुष्य का जो विकृत और भयावह सत्य प्रगट होता है, वह उन सब हवाई आकृतियों को ढहा देता है, जो सोवियत-संस्कृति ने 'आदर्श-मनुष्य' के रूप में खड़ी की थीं।

कला का यह सत्य कि वह एक मानव-सत्य के साथ अपने को नत्थी नहीं करता – यदि हम चाहें तो कह सकते हैं – कला का 'सत्यहीन सत्य' ही टॉलस्टॉय-जैसे मनीषियों को अपने अंतिम वर्षों में इतना त्रस्त करता था, जबकि विडम्बना यह है कि स्वयं टॉलस्टॉय ने अपनी अद्वितीय उपन्यासों में इस सत्य को जितनी निर्ममता और तटस्थता से उजागर किया है, उतना शायद किसी अन्य लेखक ने नहीं। उन्हीं ने इस सत्य को इतने प्रभावपूर्ण शब्दों में व्यक्त भी किया है। वह एक जगह कहते हैं, "कितना अच्छा हो, अगर आदमी हमेशा फैसला देने की हड़बड़ी न करे, उन प्रश्नों का उत्तर देने की कोशिश न करे, जो हमेशा प्रश्न बने रहते हैं। काश, वह यह जान सके कि हर विचार एक साथ झूठा भी होता है, सच्चा भी...मनुष्य ने इस अथाह, हिलोरें मारते अराजक यथार्थ को 'अच्छे' और 'बुरे' में बाँटना चाहा है...समुद्र में काल्पनिक विभाजन-रेखाएँ खींचनी चाही हैं और आशा की है कि समुद्र इन रेखाओं के अनुसार बँट जाएगा – बिना यह जाने कि इस तरह के लाखों विभाजन किए जा सकते हैं, विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न स्तरों पर...और इन विभाजनों के आधार पर वह कहता है – सभ्यता अच्छी है, वहशीपन बुरा है, स्वतंत्रता अच्छी है, पराधीनता बुरी है...यह हवाई ज्ञान ही मानव-प्रकृति में उस मौलिक, उल्लासमय और आदिम प्रकृति को नष्ट कर देता है, जो हमेशा 'सत्' की ओर प्रयत्नशील रहती है..."

प्रकृति, जो सत् की ओर प्रयत्नशील रहती है? और सत् जो 'अच्छे' और 'बुरे' के परे है – समुद्र की लहरों की तरह अथाह, असीम और उल्लासमय। क्या टॉलस्टॉय ने मनुष्य की प्रकृति को परिभाषित करते हुए अनजाने में उस 'सच्चिदानंद' की ओर संकेत नहीं कर दिया, जिसमें कला का मूल, आदिम सत्य वास करता है? इस धरती पर मनुष्य एक बहुत ही कमजोर और निरीह प्राणी है–अधूरा, अनाथ, आत्मखंडित – किन्तु कलाकृति के इसी सत्य के कारण वह अपने भीतर उस संपूर्णत्व की झलक पा लेता है, जिसे जीवन और इतिहास की लहरों ने उससे अलग कर दिया था। जब मैं कला के संपूर्ण बोध की बात करता हूँ, तो उसमें वह समूचा धिक्कार भी छिपा है, मनुष्य के आत्मखंडित जीवन की यातना, जिसे नकार कर कोई कलाकृति सुंदर नहीं हो सकती। कलाकृति का यह सौंदर्य ही वह सत्य है, जिसकी ओर कीट्स ने संकेत किया था, किन्तु अब यह सौंदर्य रोमांटिक बोध से निकलकर हमारे युग में उस आतंक को समेटता है, रिल्के के शब्दों में – वह, जो आतंक की शुरुआत है। एक ऐसा सत्य, जिसमें जीवन के सब झूठ, सच, अच्छा, बुरा, नैतिक, अनैतिक समा जाते हैं। वीभत्स, भयानक और विनाशकारी को समेटता हुआ सौंदर्य शिव के नीलकंठ की तरह, जिसमें यदि विष को समोने की शक्ति नहीं होती, तो अमृत देने की सामर्थ्य भी नहीं रहती।

(भारत और यूरोप: प्रतिश्रुति के क्षेत्र से)

28. समकालीन रचना में स्वतन्त्रता का अर्थ

–रमेशचन्द्र शाह

समकालीन रचना में स्वतन्त्रता के अर्थ पर विचार करते हुए पहली ही प्रतिक्रिया जो मन में उभरी, वह यह थी कि हम सब – अपनी रचना और आलोचना में — गहरे कहीं उस खंडित भाव-बोध के खिलाफ़ संघर्षरत हैं जो शताब्दियों से इस देश की सर्जनात्मक चेतना में धुन की तरह लगा रहा है। यह संघर्ष ही आधुनिक कवि के लिए स्वतन्त्रता का अर्थ है।

"किसी की खोज है उन को किसी नेतृत्व की
पीली धुमैली पसलियों के पंजरों वाली उदासी से पुती गायें
भयानक तड़फड़ाती ठठरियों की आत्मवश स्थितिप्रज्ञ कविताएँ
उपेक्षित काल-पीड़ित सत्य के समुदाय
समूचे दृश्य से मुँह तोड़ कहते हैं
हटाओ ध्यान हम से वास्ता क्या है
कि वे दुःस्वप्न आकृतियाँ असत् हैं, घोर मिथ्या हैं।"

–ग. मा. मुक्तिबोध, चाँद का मुँह टेढ़ा है

यह कविता का विचार है : उस खंडित भाव-बोध के एक पहलू को उजागर करता हुआ। इसके अलावा या इसी से लगे-लिपटे और भी पहलू हैं जिन तक भी कविता का विचार हमें पहुँचा सकता है :

"आज एक अतुकान्त जिज्ञासा जो काव्य को नहीं मानती
वह आज शब्द नहीं रही :
शब्द अब भी चाहता हूँ पर जो जाये वहाँ-वहाँ होता हुआ
तुम तक पहुँचे
चीज़ों के आप-पार दो अर्थ मिला कर सिर्फ़ एक स्वच्छन्द अर्थ दे"

–रघुवीर सहाय, आत्महत्या के विरुद्ध

"हर युग का अनुभव दूसरे युग में पहुँकर
उच्छिष्ट परिमार्जन मात्र बन कर जीता है
और मैं अभी इतना परिमार्जित भी कहाँ हुआ
कि एक पनपती हुई असंस्कृति दृष्टि को किसी संस्कृति की परम्परा
से जोड़ सकूँ

–शिवकुटीलाल वर्मा, 'अशीर्षक'

यह 'स्वच्छन्द अर्थ' की तलाश ही है जो इस 'एक पनपती हुई असंस्कृत दृष्टि' की एक ओर उस 'अतुकान्त जिज्ञासा' से और दूसरी ओर उस 'उपेक्षित काल-पीड़ित सत्य के समुदाय' से जोड़ रही है। वास्तव में समकालीन रचना में स्वतन्त्रता का अर्थ इस दोहरी प्रक्रिया के अन्तर्गत ही खोजा जा सकता है कि रचनात्मक व्यक्तित्व किस हद तक आधुनिक भाव-बोध को और भारतीय भाव-बोध को एक-साथ आत्मसात् कर सका है। ये दो रेखाएँ जहाँ मिलती हैं, वहीं अधिकतम स्वतंत्रता और अधिकतम सर्जनात्मकता होनी चाहिए, ऐसा मुझे लगता है।

इसलिए भी, कि भारतीय भाव-बोध अपनी मूल प्रतिज्ञा से ही एक समग्र भाव-बोध हैं वह अन्तर्विरोधों को रचना के केन्द्र में ही आमन्त्रित करता है और वहीं उनसे निबटता है। सच पूछें तो हमारी सभ्यता के केन्द्र में दार्शनिक या सन्त नहीं, कवि ही रहा है। दुर्गति तभी से शुरू हुई जब कवि की इस केन्द्रीय स्थिति को चुनौती दी जाने लगी और उसे परिधि की ओर धकेला जाने लगा। एक समय था जब हमारे कवियों के लिए अनुभूति को दर्शन में और दर्शन की अनुभूति में घुलाने की क्रिया एक और अविभाज्य थी। जिसे अद्वैत कहा जाता है वह दरअसल इसी काव्य-दृष्टि की उपज थी, तर्क-दृष्टि की नहीं। यह एक विचित्र तथ्य है कि जब

तक अद्वैत को दार्शनिक और तार्किक स्तर पर सिद्ध किया गया तब तक कवि पदच्युत हो चुका था। हमारी सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र में वह नहीं रह गया था। इस तरह एक विशेष दृष्टि से देखा जाये तो शंकराचार्य की विजय में कहीं भारतीय भाव-बोध की पराजय भी निहित थी। यानी वह उस समग्र भाव-बोध के विघटन की शुरुआत थी। बल्कि शायद यह कहना भी गलत होगा कि शुरुआत वह थी। विघटन की रूपकात्मक शुरुआत वहीं दीखने लगती है जहाँ 'कवियों के कवि' उशना असुरों के पाताल लोक में बिठाल दिये जाते हैं और दूसरी ओर ऋग्वेद के काव्य-व्यक्तित्व बृहस्पति (आत्माभिव्यक्ति की सद्य:जात शक्ति के प्रतीक)* अपने असली स्वरूप से विच्छिन्न, मात्र नैतिकता के पुतले की तरह देवताओं के बीच प्रतिष्ठित कर दिये जाते हैं। निश्चय ही "-कवीनामुशना कवि:" असुरों के भी गुरु-पद पर हैं और ऐसे-ऐसे रहस्यों के जानकार के रूप में, जिनके लिए देवता तक तरसते हैं। यों रूपक बढ़िया है : वह कवि ही क्या जिसकी पहुँच स्वर्ग और नरक दोनों तक न हो! किन्तु वस्तु-स्थिति दूसरी ही नज़र आती है। कवि नाम के जीव की विशिष्टता को परिभाषित करने की बजाय यह उसके आतंक की झाड़-फूँक कर देने का उपक्रम ज़्यादा प्रतीत होता है। अवचेतना के अराजक विस्फोट से कविता को काट देने का मतलब, प्रकारान्तर से कवि-व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता को कुंठित करना है, उसकी जीवनानुभूति और सौन्दर्याभिरुचि तक को पूर्वनिर्धारित, शास्त्र-सम्मत लीकों पर डाल देना है। ज़ाहिर है कि निर्वैयक्तिक शास्त्रीयता का यह दबाव कविता को न तो वास्तव में कला-चरित्री होने देगा, न वास्तव में जन-चरित्री होने देगा। और वही हुआ भी। क्या किसी भी भाषा में साहित्यचिन्तन और साहित्य-विवेचन की भाषा शुरू से ही इस कदर 'व्यक्तिमूलक' और 'सामाजिक' की दो सपाट कोटिलों के सहारे चलने को बाध्य हुई है जैसा हिन्दी आलोचना में हुआ? साहित्य-सृजन के प्रति ऐसी असाहित्यिक दृष्टि एक ऐसे ही वातावरण में सम्भव है जो गहरे में कहीं साहित्यकार की स्वतन्त्रता के प्रति शंकालु और असहिष्णु है। जोकि, साफ़ शब्दों में कहें तो – रचना-प्रक्रिया की मूलभूत स्वतन्त्रता को या तो पहचानता ही नहीं, या पहचान कर भी पूरी तरह उसे स्वीकार नहीं करना चाहता। किसी गहरे डर या कुंठा के कारण। क्योंकि रचना की प्रक्रिया से ज़्यादा स्वतन्त्र कोई चीज़ नहीं होती। आदमी की स्वतन्त्रता उसकी सृजनशीलता में निहित है। स्वतन्त्रता सृजनशीलता से नि:सृत होती है। कवि स्वतन्त्र होगा तभी कविता सच्चे अर्थों में 'जन-चरित्री' होगी। यह कहने का हक भी एक कवि को ही है कि कविता 'जन-चरित्री' है और वह 'तुम्हारे कारणों से जगमगाती है और मेरे कारणों से सिकुड़ जाती है।" (ग.मा. मुक्तिबोध) क्योंकि उसके पास रचनात्मक औचित्य है – 'मेरे' कारणों और 'तुम्हारे' कारणों के विवेक-दर्शन का। इसीलिए उसकी बात बोलती है वरना काव्य में 'मेरे कारणों' और 'तुम्हारे कारणों' के बीच कोई स्पष्ट विभाजन द्वैत नहीं होता। कविता दरअसल कविता होती ही इसलिए है कि वह इस द्वैत को गला देती है अपनी आँच से – भले ही उसकी मूल प्रेरणा विशुद्ध 'मेरे कारणों' में ही क्यों न हो। यह भी हो सकता है कि 'मेरे कारणों' और 'तुम्हारे कारणों' का तनाव-सम्बन्ध ही उसे विशिष्ट बनाता हो और 'तुम्हारे' लिए सचमुच प्रासंगिक भी। कवि का 'मैं' सुपरिभाषित और तीखा होना ही चाहिए, वर्ना वह जन-चरित्रीपन भी चरित्रहीन हो जायेगा। यह जरूरी आत्म-चेतना, कवि-व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता आधुनिक हिन्दी कवि के लिए तो और भी अनिवार्य है, क्योंकि परम्परा का और राष्ट्रीयता का भी सबसे ज़्यादा दबाव उसी पर है : सबसे कम स्वतंत्रता और सबसे ज़्यादा दायित्व।

नयी कविता के आरम्भ बिन्दु पर ही जो 'व्यक्तित्व की खोज' का सवाल उठा था, उसके पीछे भी इसी ज़रूरी स्वतन्त्रता का तर्क काम करता दिखाई देता है। देखा जाये तो आधुनिक हिन्दी का सारा विकास-क्रम ही मध्यकालीन संस्कारों के चंगुल से छूट निकलने का है। मध्य-काल से हिन्दी कवि का सम्बन्ध ठीक वहीं नहीं है जो अन्य प्रान्तीय भाषाओं के कवियों का। स्रोत उसका यही हिन्दी-प्रदेश था। इसलिए तो उसका बोझ भी सबसे ज़्यादा हमारी ही चेतना पर है। उससे स्वतन्त्र होने की आवश्यकता का जो तर्क हमारे लिए बनता है, वह उनके लिए नहीं बनता। भारतीय भाव-बोध के तर्क से जितना जुड़ाव मध्य-काल के साथ हिन्दी कवि के लिए सार्थक हो सकता है उतना जुड़ाव उसे सायास उपलब्ध करने की ज़रूरत नहीं वह तो उसकी भाषिक परिस्थिति में ही निहित है। उसकी स्वतन्त्रता की दिशा तो मध्यकालीन संस्कार से ज़्यादा से ज़्यादा दूर जाने में ही थी। यह अकारण नहीं था कि खड़ी बोली अपने अभ्युदय के साथ ही उन महत्त्वपूर्ण आन्दोलनों का माध्यम बनी जो भारतीय मनुष्य की मानसिक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की तलाश में सीधे स्रोत से जुड़ना चाहती थी यानी भारतीय भाव-बोध की अपेक्षाकृत अखंडित स्थितियों से। यही कारण है कि मराठी के आधुनिक लेखक और तुकाराम के बीच सर्जनात्मक संवेदना की दृष्टि से उतना फ़ासला नहीं जितना हिन्दी के आधुनिक लेखक और तुलसीदास के बीच। मर्ढेकर के लिए जिस तरह आधुनिक भाव-बोध और तुकाराम का जुड़ाव सम्भव हो सका, उस तरह 'अज्ञेय' के लिए तुलसीदास की ओर न देकर तुलसीदास से दूर ही हो सकती थी। "इस अत्यावश्यक विचलन के बाद ही वह पूरक प्रक्रिया सार्थक हो सकती है जो हमें फिर से भक्ति-काल के निकट लाये।" छायावाद युग में 'प्रसाद' के प्रयत्न और 'निराला' के प्रयत्न के बीच इस दृष्टि से वैसी ही परस्पर पूरकता थी – कुछ वैसा ही चक्र भारतीय भाव-बोध और आधुनिक भाव-बोध की मूल प्रतिज्ञाओं को यथा सम्भव इकट्ठा निभाने का चला था जैसा इस युग में 'अज्ञेय' और मुक्तिबोध के बीच चला। मैं पुन: उसी सूत्र पर आपका ध्यान केन्द्रित करना चाहूँगा कि सबसे ज्यादा स्वतन्त्रता और सबसे ज्यादा सर्जनात्मकता हिन्दी

बृहस्पति: प्रथमं जायमानो, महो ज्योतिष: परमे व्योमन्।
सप्तास्यास्तु विजातो रवेन, वि सप्तरश्मिर् अधमत् तमांसि।।

लेखक में वहीं हो सकती है जहाँ आधुनिक भाव-बोध और भारतीय भाव-बोध की रेखाएँ एक-दूसरे से टकराती हों। यानी जहाँ इन दो चीज़ों के बीच सबसे प्रत्यक्ष और गहन टकराहट और घुलावट सिद्ध हो सकी हो। खंडित भाव-बोध के साथ संघर्ष की, अर्थात् समग्र भाव-बोध की सर्जनात्मक उपलब्धि की, वास्तविक स्वतंत्रता की दिशा यही है। "अकस्मात् अर्थ भर जाता है वह/हम सबके निर्विवाद जीने में...(रघुवीर सहाय)" स्वतन्त्रता इस 'अर्थ' में निहित है, 'निर्विवाद जीने' में नहीं। "निर्विवाद जीने की एक लम्बी परम्परा हमारे यहाँ रही है जिसको कबीर जैसे विद्रोही भी नहीं तोड़ पाये और जिसे तोड़ने के के लिए मानो – रचना के केन्द्र में ही उस अत्यावश्यक स्वतन्त्रता को प्रतिष्ठित करने के लिए ही मानो – आधुनिक हिन्दी ने जन्म लिया।"

हमारे देश में एक वर्ग हमेशा ऐसा सक्रिय रहा है जिसकी भूमिका भारतीय जन की, और भारतीय व्यक्ति की इसी मानसिक और रचनात्मक स्वतंत्रता को कुंठित करने की रही है। यह वर्ग हमेशा तत्कालीन शासक वर्ग के साथ मिलकर सामान्य जीवन के प्रवाह में और रचनात्मक जिजीविषा में गतिरोध पैदा करता रहा है। बारम्बार इस दुष्चक्र को रचनाकारों के द्वारा ही तोड़ा गया है और बारम्बर वह फिर से शुरू हो गया है। एक और तथ्य भी स्पष्ट पहचान में आता है कि यह वर्ग बेहद चालाक रहा है और इसकी चालाकी यह रही है कि इसने उस रचना को हमारी मानसिक आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को कुंठित करने के लिए शस्त्र की तरह इस्तेमाल किया है। जिसने कभी स्वयं उसी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया था और उसे अभिव्यक्ति दी थी। इस छल-छन्द को लगातार हमारे इतिहास में सक्रिय देखा जा सकता है। "वह मात्र स्वार्थ बौना चपटा, आध्यात्मिक भाष्यों में लिपटा...(ग. मा. मुक्तिबोध) की संगति यहाँ देख पाना कठिन न होगा। संसार के इतिहास में किसी धर्म-दर्शन दे अपने मूलस्रोत में ही इस तरह काव्यात्मकता को, 'वाक्' को आमन्त्रित नहीं किया जिस तरह कि हमारे यहाँ हुआ **('नित्या वाक् उत्सृष्ठा स्वयम्भुवा')**। ऋग्वेद का शाब्दिक अर्थ ही ऋचाओं का ज्ञान है। मानो विचारों की कविता नहीं, कविता का विचार ही भारतीय बौद्धिकता की आधार-शिला हो। मगर देखने की बात है कि किस तरह यही वेद कालान्तर में भारतीय बुद्धि को और भारतीय जीवन को कुंठित करने का अस्त्र बनता गया। उसका आधारभूत स्वतन्त्रता को ही कुंठित करने के लिए उसका इस्तेमान होने लगा जो कि किसी भी प्रजा में लोक-मानस और प्रातिभ आभिजात्य की पूर्ण सम्पृक्ति और अन्योन्याश्रित जीवन क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रतिफल होती है। इतिहास साक्षी है कि इस स्वतन्त्रता को असम्भव बनाने में इस वर्ग ने कोई कसर नहीं रख छोड़ी। "सचमुच स्वाधीन होने का भय/एक दास जाति में।.../स्वाधीन इस देश में चौंकते हैं लोग एक स्वाधीन व्यक्ति से...(रघुवीर सहाय)" यह मात्र एक कवि की तीखी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया ही नहीं है। यह एक ऐसा सत्य है जो हमारे युग-परिवेश को ही नहीं हमारे उस भीतर के समय को भी समेटता है जो हमारे इस दुर्भाग्य-ग्रस्त इतिहास की उपज है। सच बात तो यह है कि जिसे हम द्विभाषी चेतना का बोझ कहकर परिभाषित करना चाहते हैं, वह भी दरअसल इसी संस्कार से (जिसे मैंने अतिव्याप्त अर्थ में 'मध्य-कलीन' कहकर छुट्टी पा ली है) उपजती है : "इसी न्यस्त स्वार्थों वाले वर्ग की मूलत: स्वतन्त्रता-द्रोही मनोवृत्ति से, जिसका एकमात्र पराक्रम और एकमात्र उपयोगिता यथा-स्थिति बनाये रखने की थी और जिसके लिए उसने बहुत पहले ही एक क्रूर तरीका ईजाद कर लिया था जो आज दिन तक भी बराबर चल रहा है : पूरे देश की रचनात्मक जिजीविषा का खंडन-मंडन और भक्ति (या घृणा) से लिस-लिसाते अनुवादों की रचनाद्रोही परम्परा के झोंके रखने का तरीका।"

वाक् की स्वतन्त्रता को – आदमी की मानसिक-आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को उपजाने वाली ज़मीन के रूप में वाक्-शक्ति को – पहचानने और सिद्ध करने वाला कवि किस तरह उसी मनुष्य की रचनात्मक जिजीविषा और अभिव्यक्तिशीलता को कुंठित करने के लिए नियोजित किया जा सकता है, इसका नमूना स्वयं वैदिक साहित्य में नहीं देखा जा सकता है। नृत्य और गीत को तथाकथित संस्कृत-अभिजात रुचि से बहिष्कृत करके उस वक्त के बौद्धिक नेतृत्व ने कला के क्षेत्र में छुआछूत की शुरुआत की। जाहिर है कि जिस मानसिकता ने कला के क्षेत्र में यह छुआछूत बरत के कला के स्वायत्त विकास में हस्तक्षेप करने की चेष्टा की, उसी मानसिकता ने हमारे समाज-दर्शन में भी ऐंठन डालकर उसकी स्वाभाविक विकास-प्रक्रिया को कुंठित किया। समग्र भाव-बोध को खंडित करने का इससे अच्छा और क्या तरीका हो सकता हैं कि कलात्मक और साहित्यिक भाव-बोध में ही दरार डाल दी जाये! बहरहाल इस मनोवृत्ति से कला की स्वायत्त गरिमा को ठेस पहुँची और साहित्य में कला की बजाय शास्त्रीयता की सीधी घुस-पैठ करने का अवसर मिलता गया। इसी तरह वेद की प्रतीकात्मक कविता की, मनुष्य को केन्द्र बनाकर समूची सृष्टि से उसकी आत्मीयता स्थापित करवाने की हद तक स्वतन्त्र वाक् को, सपाट और सतही बनाकर इसी वर्ग ने अपने विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए तथा अपने रचनात्मक असामर्थ्य को छुपाने के लिए अपने तथा विशाल जन-मानस के बीच एक दुर्लंघ्य दीवार की तरह स्थापित किया। ये लोग सिर्फ़ वेद की रक्षा कर सकते थे, न तो वे उसे समझ सकते थे, न उस 'काव्यात्मक-ज्ञान' की परम्परा को आगे बढ़ाने में ही कोई भूमिका अदा कर सकते थे। लिहाजा उन्होंने यह क्रूर तरीका निकाला : रहस्य-मंडित कर्म-कांड से जनता की बुद्धि को भ्रमित और आतंकित करने का। ताकि वह सचमुच स्वाधीन हो ही न सके। हरामखोर नेतृत्व की इस तानाशाही का परिणाम और क्या होता सिवा इसके कि हमारी सामाजिक चेतना की ही तरह हमारी सर्जनात्मक चेतना में भी एक फाँक पैदा हो जाए। हुआ यह कि अभिजात सर्जनात्नकता और लोक-सर्जनात्मकता का एक तरह से ध्रुवीकरण-सा होता चला गया। बल्कि कहना चाहिए कि अभिजात संवेदना तो स्वयं भोथरी थी ही, उसने कहीं-कहीं लोक-सर्जनात्मकता में भी बाकायदा हस्तक्षेप करना

शुरू कर दिया – उसे भी लगातार उसी खंडन-मंडन-अनुवादवादी आभिजात्य से जोड़-जोड़कर। इस प्रकार एक लम्बी समाजशास्त्रीय कुंठा का सिलसिला शुरू हुआ, जिसे अनेक धार्मिक विद्रोह और आन्दोलन भी नहीं तोड़ सके और जिसका कुफल आज भी हमारे परिवेश और हमारे दिमागों में सक्रिय है।

हम देख सकते है कि किस तरह दार्शनिक कविता **गीता** का कवि इस रचना-द्रोही तानशाही को पहचानता है और उस पर एक तगड़ा प्रहार करता है :

"यामिमां पुष्पितां दाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः,
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगति प्रति।"

वेदवादरत पंडितों के बड़बोलेपन के भीतर छिपी पोल को खोलने का, उनके द्वारा फैलाये हुए दुष्चक्र को तोड़ने का यह उपक्रम क्या बताता है? इतना ही नहीं, कवि ने ईश्वर के मुख से साफ कहलवा दिया कि "तुम्हारे पाप-पुण्य से मुझे कुछ लेना-देना नहीं है। अपनी व्यवस्था के लिए तुम्हीं खुद जिम्मेदार हो।" दूसरे शब्दों में – उस समाज-दर्शन को अपौरुषेय और इसलिए अकाट्य ठहरा कर उसकी आड़ में सामाजिक शोषण और अन्याय को भी धर्मसम्मत और नियतिकृत करार देकर एक पूरी प्रजा की प्राणशक्ति को अवरुद्ध कर देने, उसकी संवेदना को ही कुन्द कर देने वाला व्यवस्था पोषित झूठ कवि से बर्दाश्त नहीं हुआ। वह गतिहीन समाज-दर्शन उसे अवास्तविक लगा और उसके कारण मिली सुरक्षा और व्यवस्था को एक स्तर पर स्वीकार करता हुआ भी वह दूसरे स्तर पर उसकी अमानवीय परिणतियों को भी महसूस कर सका। वह साफ देख सका कि उसके समाज-नेताओं के पास समाज की वह कल्पना और दायित्व-भावना ही नहीं है जिसके आधार पर वे बदलती परिस्थितियों के अनुरूप समाज-रचना की चुनौती स्वीकार कर सकें। दूसरे शब्दों में कवि ने अपनी उँगली साफ उस जगह पर रख दी जहाँ सचमुच स्वाधीन होने का भय काम कर रहा था और जो कालान्तर में एक पूरी प्रजा को उस भय से पूरी तरह ग्रस्त देने वाला था – उसे एक दास जाति की ग्लानि में पटक देने वाला था। जाहिर है कि कवि की अन्तर्दृष्टि सही थी।

बहरहाल इस स्थिति के चलते हमारे यहाँ साहित्यिक अभिव्यक्ति के सर्वथा स्वायत्त और स्वतन्त्र कला-रूप की तरह प्रतिष्ठित हो सकने की संभावना कुंठित-सी होती हुई। संगीत और नृत्य की कलाओं से साहित्य का वैसा गतिशील सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सका। सब जगह शास्त्रीयता का ज़रूरत से ज़्यादा हस्तक्षेप रहा। हमारे यहाँ पांडित्य भी एक बोझ की तरह ही लदा रहा। सर्जनशीलता को उकसाने वाल खमीर वह यदा-कदा ही बन सका। यह एक विडम्बना है, और इसे एक अतिरंजित विरोधाभास के द्वारा भी व्यक्त करना अपराध न होगा, कि हमारा देश एक ऐसा विचित्र देश है जिसका धर्म तो खुद एक गहरे अर्थ में धर्मनिरपेक्ष है मगर जिसका साहित्य कभी भी पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष और स्वायत्त कला की स्वतन्त्रता को नहीं जान सका। आधुनिक लेखक का आधा संघर्ष तो इसी स्वतन्त्रता को हासिल करने का रहा है और इसमें उसे सफलता भी मिली है।

यह अकारण नहीं है कि आधुनिक हिन्दी की कविता ने भी जन्म लेते ही पहले उसी मध्यकाल की और प्रेरणा के लिए देखना शुरू किया जिससे स्वतन्त्र हो सकना ही उसकी ऐतिहासिक नियति थी। यह भी निरा संयोग नहीं कि हमारा गद्य तुतलाने के साथ ही यह मुक्ति हासिल कर चुका था जबकि पद्य में हमारी रचनात्मक जिजीविषा को सचमुच आधुनिक होने का आत्म-विश्वास अर्जित करने में काफी देर लगी। 'पद्य' शब्द का प्रयोग मैं जान-बूझकर कर रहा हूँ क्योंकि मुझे लगता है कि हमारे इस अरसे से चले आते खंडित भाव-बोध के कारण ही हमारा काफी-कुछ कवित्व भी पद्य की बजाय गद्य के माध्यम से ही विकास पाने को विवश होता रहा। पद्य ज़्यादा संस्कारी और स्मृतिवान् चीज़ है। सचमुच स्वाधीन हो जाने के डर का सबसे ज़्यादा दबाव कविता पर ही होता है। 'निराला' ने छन्द को मुक्त किया फिर भी उनकी अधिकतर कविता बँधे छन्दों में ही निकास पाती रही। छन्द-मुक्ति की दिशा में वास्तव में उन्होंने अगर नयी ज़मीन तोड़ी तो **कुकुरमुत्ता** में। इसके बाद लयात्मक स्वतन्त्रता की दिशा में अगला कदम उठाया 'अज्ञेय' ने। वह कविता को बोलचाल की लय के काफी करीब ले आये। रूप-तन्त्र के इस विस्फोटक नयेपन और छायावाद के बीच एक फाँक है जिसे मुक्तिबोध की कविता भरती जान पड़ती है। रूपतन्त्रात्मक आविष्कार मुक्तिबोध के यहाँ नहीं है – उनके पद्य में वैसा लचीलापन भी नहीं है, जैसा 'अज्ञेय' में है उनकी दृष्टि जितनी गहरी है, श्रुति उतनी सूक्ष्म नहीं है। निश्चय ही ठेठ साहित्यिक दृष्टि से विचार करने पर यह रूपतान्त्रिक पिछड़ापन कहीं भाव-बोध का भी पिछड़ापन साबित करता प्रतीत होता है। उनमें निष्कर्षात्मकता भी काफी है जिसके कारण काव्यार्थ की, वागर्थ की स्वतन्त्र संघटना अवरुद्ध होती है। फिर क्या कारण है कि उनकी कविता हमें एक ऐसी गहरी विकलता का अनुभव देती है जैसी और कोई नहीं देता? यह एक जटिल प्रश्न है पर इसका एक सीधा सपाट उत्तर यही सूझता है कि उनकी कविता हमारे सामाजिक अस्तित्व की शर्तों से एकाकार है: वह व्यक्तित्व की खोज के कवि नहीं हैं, बल्कि सामाजिक अस्तित्व की खोज के कवि हैं। उनकी कविता हमारे इस अस्तित्वगत यथार्थ का एक

ऐसा साक्षात्कार है जिसे काल में तो नहीं, पर देश में इतने पूरेपन के साथ और कोई कवि नहीं कर सका। जिस पिछड़ेपन की बात हमने की, वह मानो इस पूरे समाज के पिछड़ेपन का मार्मिक ऋणशोध है। संवेदना के स्तर पर हमारे सामाजिक अस्तित्व में जो मध्ययुगीन संस्कार और तथाकथित आधुनिकता का भयावह गड्डमड्डपन चारों तरफ दिखाई देता है, मुक्तिबोध की कविता उसी 'विकृताकृत-बिम्ब' यथार्थ की भयावह पेंटिंग है। वह एक ओर हमारे भारतीय भाव-बोध की समझ को दुरुस्त करती है, दूसरी ओर आधुनिक भाव-बोध को। दोनों स्तरों पर आधुनिक कविता द्वारा अर्जित स्वतन्त्रता को वह ज़्यादा टिकाऊ और विश्वसनीय बनाते है। मुक्तिबोध में एक अतिरिक्त आलोचनात्मकता भी है जो पुराने मिथकों और प्रतीकों को ही नहीं आधुनिक हिन्दी कविता को भी अपनी मार के अन्दर समेटती है। यह अतिरिक्त दायित्व-बोध जहाँ एक ओर उनके वागर्थ को बाँधता है, वहीं दूसरी ओर उसे एक तीखापन भी देता है। जैसे 'प्रसाद' अपनी रचना में पूर्ववर्ती कवि कालिदास पर प्रहार करने से नहीं चूकते, वैसे ही मुक्तिबोध भी एक ओर 'प्रसाद' पर (जिनकी एलेगरी-मूलक रचनादृष्टि उन्हें सही और स्वीकार्य लगी) फब्तियाँ कसते नज़र आते हैं, दूसरी ओर अपने समकालीन कवि पर भी। फर्क इतना ही है कि 'प्रसाद यह काम कविता में न करके गद्य-रचना में करते हैं और मुक्तिबोध इसको भी कविता में ही निपटाने की छूट ले लेते हैं यह छूट युवा कवि 'धूमिल' तथा दो-एक अन्य कवि भी लेते हैं और ज़ाहिर है इसमें उनके प्रेरणा-स्रोत मुक्तिबोध ही हैं। उदाहरण के लिए 'प्रसाद' की **कामायनी** पर मुक्तिबोध का कटाक्ष देखिए : "यह बूटों दबा दीन ढेला।कैलाश शिखर पर बैठेंगे"...या इससे कहीं ज़्यादा सीधी चोट "वह श्याम दार्शनिक आत्मा अपने जीवन में छाया-जीवन जीकर भी उदर-शिश्न के सुख भोगती रही / आध्यात्मिक गहन प्रश्न के सुख भोगती रही / जन-उत्पीड़न विभ्राट् व्यवस्था के सम्मुख।" इसी तरह अपने समकालीन कवि के व्यक्तित्व पर भी एक फब्ती कसी गयी है : "तब देव बना अब जिप्सी भी / केवल जीवन-कर्त्तव्यों का / पालन न हो सके इसीलिए / निज को बहकाया करता है।" बहरहाल संक्षेप में इतना ही, कि मुक्तिबोध का काव्य हमारी काव्य-परम्परा पर एक प्रश्नचिह्न लगता है, यह भी उसकी एक सार्थकता है।

आधुनिक भाव-बोध और भारतीय भाव-बोध के सन्धिस्थल के उस आज़ाद 'फ्रंटियर' को हिन्दी साहित्य जयशंकर 'प्रसाद' के कृतित्व में छू चुका था। यह अकारण नहीं कि जिन दो नये कवियों ने 'प्रसाद' की कविता के प्रति सबसे तीव्र प्रतिक्रिया दिखायी वे 'अज्ञेय' और 'मुक्तिबोध' ही थे। जिस खंडित भाव-बोध की बात यहाँ उठायी गयी उसका सबसे प्रखर विवेक सर्वप्रथम हमें 'प्रसाद' में ही मिलता है। बौद्धिक संवेदना के स्तर पर 'प्रसाद' ने मध्य-कालीन संस्कारों के दबाव से काफ़ी हद तक हिन्दी कविता को मुक्त कर दिया था। किन्तु कवि-व्यक्तित्व की अकुंठ आत्माभिव्यक्ति की राह वह कविता में नहीं खोल पाये, जिसकी कि वास्तव में हिन्दी कविता को सख्त जरूरत थी। निर्वैयक्तिकता की परम्परा का हज़ार साल का बोझ उतार फेंकने के लिए पहले कवि-व्यक्तित्व की मुक्ति ज़रूरी थी। 'प्रसाद' का व्यक्तित्व विभाजित दीखता है गद्य और पद्य में। होने को 'अज्ञेय' के साथ भी ऐसा है, ऐसा कहा जा सकता है। किन्तु एक महत्वपूर्ण अन्तर है। 'अज्ञेय' की कविता में एक तो उस हद तक छनाव नहीं है, दूसरे उसमें इस आत्म-विभाजन की पीड़ा का सत्य भी पूर्णत: अभिव्यक्त हो सका है। 'प्रसाद' का काव्य – इस बात को पूरी तरह स्वीकारते हुए भी कि वह एक ऐसे विशेष अर्थ में स्वतन्त्र है, जिस अर्थ में भक्ति-काव्य तक पूर्णत: स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता – अन्तत: व्यक्तित्व से भी ज़्यादा मानस-परोक्षों द्वारा रचा गया काव्य है। वह खतरा नहीं उठाता मध्य-कालीन संस्कारों से रुँधे हुए अपने कवि-व्यक्तित्व की ग्रन्थियों को पूरी तरह चेतना के उजाले में ले आने का। निश्चय ही 'प्रसाद' उस अर्थ में यथास्थितिवादी नहीं थे। उनके भीतर कहीं न कहीं गहरा विक्षोभ और विद्रोह-भाव था – अराजकतावाद की परिणति तक ले जाने वाला विक्षोभ-भाव, जिसे **कंकाल** में उन्होंने प्रत्यक्ष किया। पर कविता वह छानकर ही लिखते रहे। बौद्धिक जागरूकता उनकी ऐसी थी जैसी कि नये युग में सिर्फ़ 'अज्ञेय' में देखने में आयी। इसमें सन्देह नहीं, कि हिन्दी कविता को उस समग्र भाव-बोध में दीक्षित करने की पहल 'प्रसाद' ने ही की जो कि सचमुच स्वतन्त्र करने वाली शक्ति है। उनकी कविता कवि-व्यक्तित्व को मुक्त करने वाली कविता नहीं, कवि-मनीषा को मुक्त करने वाली कविता है। वह दूसरी मुक्ति 'निराला' के हाथों सम्पन्न हुई। आपकी कविता में 'निराला' एक स्तर पर मध्य-कालीन निष्ठा के प्रति अत्यन्त उदग्र-उन्मुख, किन्तु दूसरे स्तर पर मध्य-कालीन संस्कारों के साथ जूझते हुए भी बराबर दिखाई देते हैं 'प्रसाद' का प्रयत्न अतिक्रान्त करने का प्रयत्न का था; जबकि 'निराला' का प्रयत्न जूझने का।

इस सारे विश्लेषण से एक बात तो स्पष्ट होती ही है कि और वह यह, कि समकालीन रचना उसी हद तक स्वतन्त्र कही जा सकेगी जिस हद तक कि वह हमारे इतिहास में जीवन की अभिव्यक्ति को कुण्ठित करने वाली चेतन-अवचेतन प्रवृत्तियों का कारगर प्रतिकार कर सकेगी। हमने देखा कि अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुण्ठित करने वाले दो तत्त्व हमारे इतिहास में सक्रिय रहे हैं : एक तो कवि को युग-परिवेश के केन्द्र से धकेल कर परिधि की ओर फेंकने वाली शक्तियाँ, और दूसरे साहित्य को कला की शर्तों से दूर ले जाने की प्रच्छन्न कोशिश। दूसरी प्रवृत्ति को विश्लेषित करते हुए हमने देखा कि इसके मूल में यह मनोवृत्ति काम करती जान पड़ती है कि बुद्धिजीवी और कवि को जन-मानस से सम्पृक्त न होने दिया जाये – अर्थात् पहले तो अभिजात रचनात्मकता और लोक-सर्जनात्मकता का एक द्वैत जैसा बनने दिया जाये और फिर उन्हें यथासम्भव एक-दूसरे से काटा जाये और गड्डमड्ड किया जाये ताकि साहित्य की स्वतन्त्र और स्वायत्त परम्परा सक्रिय न हो सके और वह एक धर्म-निरपेक्ष शक्ति के रूप में प्रजा की संरचनात्मक आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व न कर सके। दूसरे शब्दों में – साहित्य न तो सच्चे और पूरे अर्थों में व्यक्ति का दर्पण बन

सके, न समाज का। हमने यह भी अनुभव किया कि इन दोनों मूलत: रचनाद्रोही प्रवृत्तियों से साहित्य की स्वतन्त्रता को उबारने की ऐतिहासिक आवश्यकता में से आधुनिक हिन्दी का विस्फोट हुआ। हमने यह भी देखा कि छायावाद-युग में हमारे साहित्यकार ने इस स्वतन्त्रता का सचमुच रचनात्मक उपयोग किया और साहित्य को शास्त्रीयता और निर्वैयक्तिकता के बोझ से मुक्त करते हुए उसे कल की स्वायत्तता और प्रखर वैयक्तिकता की तरफ़ भी मोड़ा। इस विश्लेषण से रोमानियत के आरोप की स्थान-भ्रष्टता और अप्रासंगिकता भी समझ में आ जानी चाहिए, और यह भी कि स्वतन्त्रता का अर्थ हिन्दी कवि के लिए क्या है। यह स्वतन्त्रता का अर्थ हमें अनिवार्य रूप से एक ओर कविता के कला-रूप की रक्षा हर कीमत पर करने की ओर प्रेरित करता है; और दूसरी ओर वह स्थितियों के निर्वैयक्तिक भाष्य की बजाय उनके साथ कवि-व्यक्तित्व के सीधे उलझाव की आवश्यकता को भी रेखांकित करता है।

हमें उत्तर-छायावाद में कविता की दुर्गति से भी कुछ सबक लेना चाहिए। 'निराला' के ओज और 'प्रसाद' के प्रसाद गुण में जब मिलावट आ जाती है, अर्थात् समग्र भाव-बोध को उपलब्ध करने के लिए जो संघर्ष अनिवार्य होता है, उससे बचाव के सरल नुस्खे आज़माये जाने लगते हैं, तो 'दिनकर'-सा रैह् टरिक और 'बच्चन'-सी आसानी हासिल होती है। कविता कला का कठिन और जटिल चुनौती से मुँह मोड़कर अपनी स्वतन्त्रता का ही हनन करती है क्योंकि इस तरह वह सीधे यथा-स्थिति से जुड़ती हैं जो स्वतंत्रता 'प्रसाद' और 'निराला' के हाथों अर्जित हुई थी वह इसी तरह बिखरायी गयी। हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि तथाकथित व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की ओर विद्रोह की मुद्राएँ 'बच्चन' और 'दिनकर' में भी खूब थीं। शायद यह अतिरिक्तता ही उन्हें ले डूबी। कविता का तन्त्र एक बहुत लचीला तन्त्र है पर उसमें स्वतन्त्रता का अर्थ कला के कठोर अनुशासन के भीतर से ही सम्भव होता है। कला-रूप और काव्य-भाषा की साधना द्वारा ही कवि स्वतन्त्रता को अर्जित करता है और मूल्यों का स्रोत बनता है। सरलीकरण और ढर्रेबाज़ी उसे परतन्त्रता की ओर ढकेलते हैं। इस खतरे को पहचानना ज़रूरी है। "कुछ भी लिखने से पहले हँसता और निराश होता हूँ मैं/कि जो मैं लिखूँगा वैसा नहीं दिखूँगा/दिखूँगा या तो रिरियाता हुआ/या गरजता हुआ/किसी को पुचकारता किसी को बरजता हुआ/अपने में अलग सिरजता हुआ कुछ अनाथ मूल्यों को/नहीं मैं दिखूँगा।...(रघुवीरसहाय)" यह एक ज़रूरी आत्म-चेतना समकालीन कवि के पास होनी चाहिए। कवि मूल्यों का स्रोत होता है, सभ्यता के केन्द्र में उसकी स्थिति होनी चाहिए, यह कोई रोमांटिक विश्वास-भर नहीं है (हो भी, तो कोई हर्ज नहीं!) बल्कि जैसा मैंने शुरू में ही कहा, भारतीय भाव-बोध से निष्पन्न सहज तर्क है। मगर भाषा का अवमूल्यन करने वाली, "गोल शब्द-कोश में तुतलाते अमोल बोलो" की जो एक सनातन परम्परा हमारे यहाँ चली आ रही है और आज भी पूरे वेग से सक्रिय है, उसे पहचानना और उसका तगड़ा प्रतिकार करना समकालीन कवि के लिए बहुत ज़रूरी है। जिस व्याधि को 'निराला' ने पहचाना था, ("पैसे में दस राष्ट्रीय गीत रचकर उन पर/कुछ लोग बेचते गा-गा गर्दभ-मर्दन स्वर/हिन्दी सम्मेलन भी न कहीं पीछे को पर/रखता कि कहीं साहित्य अटल यह हो डगमग") उसी व्याधि को पहचानते हुए नया कवि भी अपनी स्वतन्त्रता के लिए कटिबद्ध होता है जब वह कहता है :

कुछ लोग मूर्तियाँ बना कर फिर
बेचेंगे क्रान्ति की अथवा षड्यन्त्र की
कुछ और लोग सारा समय
कसमें खायेंगे लोकतन्त्र की।
मुझ से नहीं होगा।
जो मुझ से नहीं हुआ
वह मेरा संसार नहीं।

–श्री कान्त वर्मा, **माया दर्पण**

"जो मुझ से नहीं हुआ वह मेरा संसार नहीं" यह कहने की स्वाधीनता वही कवि अर्जित कर सकता है जो अपनी रचना द्वारा एक प्रति-संसार का निर्माण कर सकता है। मात्र दिखाई देने वाले संसार का 'भक्ति या घृणा से लिसलिसाता अनुवाद' करने वाला कवि नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रति-संसार रचने की प्रतिभा पूर्व-अपेक्षित, पूर्व-अभयस्त काव्य-संसार को नष्ट करके ही कार्यरत होती है। हमारे इतिहास में नष्ट करके निर्माण करने की प्रक्रिया कम हो रही है, इस कारण भी व्यक्ति और समाज की रचनात्मक स्वतन्त्रता का खुलकर विस्फोट हो सकने के मौके बहुत कम आये हैं। आधुनिक भावबोध और भारतीय भावबोध दोनों का तकाज़ा है कि रचना-केन्द्र में ही अनतर्विरोध एकाग्र हों। जहाँ यह है वहीं स्वतन्त्रता है। अन्तर्विरोधों-विपर्ययों को मज़बूती से सम्हालने और काटने वाली कविता अनिवार्यत: कला की कठिन शर्तों पर चलेगी। यह एकाग्र अनुशासन ही स्वतन्त्रता का स्रोत है। खासकर ऐसे समय में, जबकि बकौल 'मलयज' "मुरकुस बन रही चीज़ों में कुछ भी ढूँढ़ पाना मुश्किल है" और "जीभ से अलग कटी पड़ी हुई भाषा हकला-हकला कर चीज़ों को जोड़ रही है/और दिशा-सूचक तख्तियों पर चुप्पी पुती है।" इसलिए समकालीन रचना में स्वतन्त्रता और उसका अर्थ वहीं है जहाँ यह अंतर्विरोधों का विवेक और उसे सँभालने वाला कलात्मक अनुशासन

है। सिर्फ़ 'शब्दों की भगदड़' और 'इतराते हुए इरादे' नहीं।

"एक-एक कैद
फाँद कर दीवार बाईस साल बाद टप् से गिरता है
पक कर भाषा की ज़मीन पर आतंक
चक्खेगा कौन इतराते हुए इरादों में"

–'मलयज', ज़ख्म पर धूल

कवि से भी ज़्यादा कविता के लिए स्वतन्त्रता का अर्थ आज 'ज़ख्म पर मज़ाक की धूल' है, 'आत्महत्या के विरुद्ध' 'अतुकान्त जिज्ञासा' है, 'कविताएँ बकने के खिलाफ़' 'गाली ईजाद करना है'। कभी **ऋग्वेद** के कवि ने अपनी सर्जनात्मक स्वतन्त्रता के ताज़े-ताज़े अनुभव से प्रेरित होकर कहा था, **'स्तोमं जनयामि नव्यम्'** (मैं नया मन्त्र ईजाद कर रहा हूँ।) उसका यह 'मैं' एक प्रतिक्रिया करने वाला यन्त्र मात्र न होकर एक ऐसी इकाई थी जिसमें स्वयं को अतिक्रान्त करने चलने की क्षमता थी। इसलिए बाद के कवि को कहना पड़ा कि **"ऋषीणां पुनराद्यानां वाचयमर्थोऽनुधावति"** अर्थात् अर्थ उनकी वाक् का अनुसरण करता था। अर्थ वाक् का अनुसरण करे, इसकी शर्त यही थी कि आप वाक् को न केवल सुनें, बल्कि उसे देखें भी। (**ऋग्वेद** में वाक् की दो शक्तियों का प्रतिनिधित्व सरस्वती और इला के प्रतीकों द्वारा किया गया है। सरस्वती श्रुति का प्रतिनिधित्व करती है और इला दृष्टि का।)

आज की कमज़ोर कविताओं की कमज़ोरी यह नहीं है कि वह क्रांति के मोह में पड़े हुए कवि-व्यक्तित्व की उपज हैं। जरूरी नहीं कि क्रान्ति के मोह से उबरा हुआ कवि ही असली काव्य रचे। कविता की रचना-प्रक्रिया में कवि का अज्ञान और भ्रान्तियाँ भी उतने ही महत्त्वपूर्ण ढंग से सक्रिय होती हैं, जितना उसका 'ज्ञान'। रघुवीर सहाय की यह उक्ति सार्थक लगती है कि "कहीं-कहीं नहीं है भ्रान्ति, वहीं सबसे कम काव्य।" कमज़ोरी दरअसल वहाँ होती है जहाँ कविता सपाट और इकहरी होती है। वह स्थितियों का आवेगपूर्ण भाष्य करने की ईमानदारी से प्रेरित होती है, न कि एक ऐसा प्रति-संसार रचने की व्याकुलता से, जहाँ दृष्टि भी सक्रिय हो और श्रुति भी। कविता का विन्यास जितना ही सूक्ष्म और विरोधाभासों को पचाने वाला होगा, अर्थात् 'निराला' के शब्दों में उसका रूप जितना ही "शंका से सुधरतर" होगा, उसका अवमूल्यन कर सकना उतना ही दुष्कर होगा। रचनात्मक जिजीविषा वहाँ उतनी ही स्वतन्त्र होगी।

(वागर्थ से)

29. कविता का देश

–अशोक वाजपेयी

बाहर मैं कर दिया गया हूँ। भीतर, पर, भर दिया गया हूँ।

–निराला

आगर हम हिंदीभापी समाज और कविता के सम्बन्ध पर विचार करें तो आज जो स्थिति है वह वहुत विचलित करने वाली है। कविता कां आज समाज से जितना सीधा सरोकार है, शायद पहले कभी नहीं था। कविता में नितांत समसामयिकता एक परम मूल्य की तरह प्रचलित है : आज जो हो रहा है, आज के जो दबाव-तनाव हैं, आज की हालत के बारे में आज की हिंदी कविता का अधिकांश सीधे-सीधे बात करता है। पर विडम्बना यह है कि कविता के प्रति समाज की विमुखता या उदासीनता भी शायद अभूतपूर्व ही है। हिन्दी अंचलों में हर वर्ष लाखों छात्र-छात्राएँ अपनी कक्षाओं और पाठ्यपुस्तकों में कविताएँ पढ़ते हैं और उनमें से एक प्रतिशत भी कविता में रुचि या उसका रस लेने के क्षेत्र में थम नहीं पाते। जिसे हम महत्त्वपूर्ण और विचारणीय कविता कहते हैं उसके पाठकों या श्रोताओं की संख्या हिंदीभापी जनसंख्या के मान से लगभग नगण्य है क्योंकि पुस्तकें, वे भी कविता की, ख़रीदने वालों की संख्या लज्जाजनक रूप से इतनी कम है कि उसे संख्या मानने में भी संकोच होता है। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि किस तरह के कविता-विमुख और पुस्तक-उदासीन समाज में आज हिन्दी कविता लिखी जा रही है।

हिंदी आज भी स्वयं अपने क्षेत्रों में विचार और चिंतन की भापा नहीं बन सकी है। यह नहीं कि उसके ऐसा बनने में कोई आत्यंतिक असामर्थ्य है। सामर्थ्य का कोई अभाव नहीं है पर फिर भी तथ्य यह है कि उसमें दर्शन, विज्ञान, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि का कोई मौलिक या तात्त्विक कार्य नहीं हुआ है। हम ऐसे किसी बड़े दार्शनिक, अर्थशास्त्री, वैज्ञानिक का नाम नहीं ले सकते जिसका बुनियादी कार्य सीधे में हिंदी में हुआ और मान्य हुआ हो। क्या इससे यह दुर्भाग्यपूर्ण निष्कर्ष नहीं निकलता कि हिन्दी मानसिकता पर विचार, सूक्ष्मताओं और जटिलताओं के प्रति उदासीनता है? दूसरे शब्दों में यह कि हिंदी भापा जैसी वह आज है न साहित्यप्रेमी है, न विचारप्रेमी। इसे शायद इस तथ्य से भी प्रमाणित गाना जा सकता है कि फूहड़ और सतही का आकर्षण हिन्दी क्षेत्रों में कई गुना बढ़ा और फला-फूला है। हमारे बड़े कवि और लेखक गौरवग्रंथ अगर पाठयक्रमों में न हो और अगर, साहित्य से किसी बुनियादी लगाव के कारण नहीं बल्कि शुद्ध प्रोफ़ेशनल विवशता के चलते फैला विराट् आलोचना और शोध का उद्योग न हो, तो साहित्य बहुत हाशिये की चीज़ भर रह जाएगा। यह तो शायद हमारा अपना मनोबल हर हालत में ऊँचा रखने का हठयोग है कि हम इस स्थिति की समूची हिंदी संस्कृति का एक बुनियादी संकट नहीं मानते।

यह बात भी नजरंदाज़ नहीं की जा सकती है अख़बारों में मासमीडिया पर, राजकाज में सार्वजनिक अभिव्यक्ति के अन्य मंचों पर हिन्दी भापा के साथ जो अनाचार या अत्याचार हो रहा है उसका कोई प्रतिरोध हिंदी समाज में कम से कम दीखता तो नहीं है। उदारता और ग्रहणशीलता के नाम पर हर किसी को यह छूट मिली हुई है कि वह व्याकरण, वाक्यविन्यास, उच्चारण, हिज्जों आदि के साथ जो चाहे मनमानी करे। जो चाहे हमें उपदेश देने का अधिकार पा गया है कि हिन्दी भापा को कैसी होनी चाहिए या कि उसे अभी किस दिशा में विकास करना है। अपनी भापा के प्रति जैसा लगाव या ममत्व कई हिंदीतर अंचलों में है उसकी तो जैसे कल्पना भी हमारे यहाँ करना असम्भव है। मराठी में लेखकों की एक प्रदेशव्यापी यात्रा ग्रन्थाली निकालती है और लाखों रुपयों की पुस्तकें सीधे पाठकों को बेचकर सम्पन्न होती है। हिंदी में सामान्य नागरिक तो दूर अब हिंदी के वैध विद्यार्थी भी नहीं जानते या जानना चाहते कि हमारे आज के महत्त्वपूर्ण लेखक या ग्रंथ कौन से हैं।

यह नहीं कि हिंदीभापी साहित्य या कविता के नाम पर कुछ पढ़ या सराह नहीं रहे हैं : घटिया और सतही, सनसनीखेज़ और फूहड़ साहित्य का व्यापार विराट् है और अपार हिंदीजन द्वारा ही सम्पोपित है। लाखों लोग घटिया ढंग से हास्य और व्यंग, दयनीय रूप से भावुक और गलदश्रु, क्लीशों से भरी कविता आधी-आधी रात तक बैठकर सुनते हैं : वे उन लेखकों और कवियों की रचनाएँ हैं जिनका हमारी सारी आलोचना या गम्भीर और उत्तरदायी सहित्य-चर्चा में भूल से भी कभी ज़िक्र भी नहीं होता। कारण जो भी हो यह मानने से कोई छुटकारा नही कि जब हिंदी कविता ने समकालीन जीवन, उसके अंतर्विरोधों और संघर्षों से, उसकी बहुलता और गहराई से जूझने की इतनी व्यापक और खरी चेष्टा शुरू की है तब उसके लिए हिंदी समाज में बहुत कम जगह बची है। कविता का सामाजिक और आंतरिक व्योम बहुत विस्तीर्ण हो गया है पर उसका भौतिक व्योम इतना संकीर्ण हो गया है कि उसे शायद व्योम कहना ही नहीं चाहिए– वह निरा सँवरा-सा अवकाश भर है बल्कि शायद कहा तो यह भी जा सकता है कि हिंदी अंचल जिस तरह के दायवंचन की गिरफ़्त में है और उसमें जिस तरह की सांस्कृतिक अराजकता फैल गई है उसमें महत्त्वपूर्ण कुछ करने की, अर्थात् स्थापित व्यवस्था को किंचित् विचलित करने की एक अविचारित और उपेक्षा-भरी छूट भर है।

हिंदी समाज के कुछ और पक्षों पर भी ध्यान देना, इस सिलसिले में, ज़रूरी है। किसी भी समाज में सूक्ष्मता और जटिलता के प्रति व्यापक आकर्षण नहीं होता जबकि सब जानते हैं कि किसी भी समाज में सूक्ष्मता और जटिलता के प्रति एक तरह की हिंस्र और आक्रामक असहनशीलता बढ़ी है : हिंदी में—और उसका प्रभाव उसकी आलोचना पर भी पड़ा है—सूक्ष्म और जटिल असह्य है, लगभग अमान्य। यहाँ विस्तार में जाना ज़रूरी नहीं है कि कैसे एक जटिलता-विरोधी नया शास्त्र विकसित किए जाने की गम्भीर चेष्टा हो रही है और कैसे हमारी कृतियों और लेखकों को सहजता-सरलता की नयी सारिणियों में रखा जा रहा है और कैसे इस चेष्टा का अर्थ अंतत: हिंदी की अपनी जातीय परम्परा का अवमूल्यन है। यह बताना अनावश्यक होना चाहिए कि कबीर, तुलसीदास, सूरदास, निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, रघुवीर सहाय और त्रिलोचन सार्थक और अनिवार्य रूप से जटिल हैं और उनका तथाकथित छोटूकपन या जीवन-पक्षधरता इस जटिलता के विरुद्ध नहीं जाती : बल्कि यह जटिलता का उस पक्षधरता या जीवनसक्ति का अनिवार्य अनुषंग है। जटिलता और सरलता का ध्रुवीकरण अवास्तविक है – एक ही कवि में, जैसे कि जीवन में भी, ये दोनों जब-तब या साथ-साथ हो सकते हैं। कई बार ऊपर से सरल लगने वाली अभिव्यक्ति अपने निहितार्थों में खासी जटिल हो सकती है। अलबत्ता व्यर्थ का उलझाव वांछनीय नहीं है जैसे कि सूक्ष्मताओं और उलझनों को नज़रंदाज करती सरलता भी नहीं – दोनों ही आवस्थाओं में जीवन की, सच्ची रचनात्मकता की उपेक्षा होती है।

हिंदीभाषी अंचल में राज बढ़ता जाता है, समाज घटता जाता है। ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जो सदियों से राज के हस्तक्षेप से बाहर माने जाते थे। वे सब धीरे-धीरे राज के दायरे में आ गए : राज ने उन्हें समाज से लगभग छीन लिया है और हमने ऐसा होने को अपना मूक-मुखर समर्थन दिया है। समाजिक कर्म और सार्वजनिक जीवन के इतने सारे क्षेत्र हैं जिनमें हिंदी अंचलों में कोई स्वत: स्फूर्त आंदोलन या सामाजिक सक्रियता नहीं है जबकि उदाहरण के लिए महाराष्ट्र, गुजरात या केरल में शिक्षा, पर्यावरण, संस्कृति आदि क्षेत्रों में समाज की उपस्थिति और क्रियाशीलता प्रमुख है न कि राज की। हिंदी में तो साहित्यिक पुस्तकों का प्रकाशन पाठकों पर नहीं सरकारी खरीद पर भयावह रूप से निर्भर है; कई बार तो यह दुस्स्वप्न सताता है कि जल्दी ही हम हिंदी के समाज में नहीं हिंदी के राज में रहने लगेंगे। समाज तो कविता में दिलचस्पी ले सकता है, राज नहीं। विशेषत: प्रजातांत्रिक राजव्यवस्थाएँ तो साहित्य की उपेक्षा ही करती हैं – अलबत्ता सर्वसत्तावादी राजव्यवस्थाएँ साहित्य को ख़तरनाक मानकर उस पर ध्यान एकाग्र करती हैं। विडम्बना यह है कि समाज का राजीकरण उस अंचल में हो रहा है जहाँ जन के नाम पर साहित्यिक हलकों में बड़ी गहमागहमी है और जहाँ अभी कुछ सदियों पहले सूरदास जैसे महाकवि हुए हैं जिनके लिए मानो राज का कोई अस्तित्व ही नहीं था।

हिंदी साहित्य इस बात पर सचमुच गर्व कर सकता है कि उसमें किसी तरह का धार्मिक-साम्प्रदायिक लेखन सम्भव ही नहीं है। सम्प्रदायवादी भले किसी लेखक या कृति का दुरुपयोग कर लें पर कोई बाक़ायदा महत्त्वपूर्ण या विचारणीय लेखक या कृति हिंदी में आज नहीं है जिसे हम साम्प्रदायिक कह सकें। इसे हिंदी की जातीय परम्परा का एक मूल तत्त्व ही कह सकते हैं कि उसमें दृष्टियों की बहुलता का और इसलिए समभाव का सहज और निरंतर स्वीकार है।

यहाँ हम याद कर सकते हैं कि 1933 में **सुधा** में लिखते हुए निराला ने कहा था : "भारतीयता के नाम पर जिस कट्टरता, सीमित भावों और कार्यों का प्रचार किया जाता है, रक्षा की जाती है, वह अस्तित्व को कायम रखने के जगह नष्ट ही करती है। अस्तित्व तो व्याप्ति ही से रह सकता है। यहाँ का सनातन धर्म व्याप्ति है भी।" फिर ऐसा क्यों है कि हिंदी अंचल ही देश में सबसे अधिक साम्प्रदायिकताग्रस्त हैं? इधर सबसे अधिक दंगे और धार्मिक उन्माद का सबसे व्यापक उभार हिंदी अंचल में ही है। थोड़ा ठिठककर सोचें तो क्या राजनीति का सबसे अधिक अपराधीकरण भी हिन्दी अंचल में नहीं हुआ है? क्या हम यह नहीं कह सकते कि हिंदी अंचल का प्रभुत्ववाला वर्ग हिंदी के अपने मौलिक संस्कारों के विपरीत जाकर भी इस अंचल में अपना प्रभुत्व जमाने में सफल हुआ है और इस अर्थ में हिंदी में साहित्य और समाज के बीच नहीं तो भाषा और प्रभुत्व के बीच सम्पूर्ण विच्छिन्नता है। यह विच्छिन्नता साहित्य को तो सार्वजनिक जीवन के हाशिये में ढकेलती ही है, हिन्दी भाषा और जन की सांस्कृतिक नियति को एक विकट खतरे में डाल रही है। आज की कविता इस परिस्थिति में अगर प्राय: आत्मसम्बोधित है तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। अगर भाषा ही कभी कविता के सम्बोधन को अनावश्यक मान ले तो बात और है अन्यथा एक से समाज में जहाँ प्रभुवर्ग कविता को फ़िजूल मानता हो और जन उसके प्रति उदासीन हो, कविता अपना स्वत्व और सत्व आत्मसम्बोधित होकर ही बचा सकती है।

निराला ने 1933 में ही एक और महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की थी : 'जनता साहित्य के साथ नहीं रहती, साहित्य के साथ लायी जाती है। पर, हमें विश्वास है, साहित्य की महाप्राणता, जो जनता को ज्ञान के भीतर से बहा ले गयी है, एक दिन अपनी शक्ति का परिचय देगी।" जनता को साहित्य के साथ लाने का प्रयत्न करने वाले हमारे समाज में कौन हैं? कुछ संस्थाएँ, उदाहरण के लिए पूरी शिक्षा-व्यवस्था, पत्रिकाएँ, लेखन संगठन और आलोचना का विशद् व्यापार। यहाँ विस्तार में जाना आवश्यक नहीं है पर यह बात नोट की जा सकती है कि ये सभी एजेंसियाँ कुल मिलाकर सफल नहीं हो सकी हैं अन्यथा जनता का, साहित्य के संदर्भ में, इतना विसंस्कारीकरण न हुआ होता कि वह सच्चे, विचलित करने और दृष्टि देने वाले साहित्य के प्रति इतनी उदासीन रहती और उत्तेजक

और सतही के प्रति इतनी आकर्षित। कई बार तो लगता है कि साहित्य इन एजेंसियों के लिए लक्ष्य नहीं बल्कि अपना प्रभुत्व स्थापित करने और बनाए रखने का उपजीव्य भर है। दिक़्क़त यह है कि परिस्थिति इतनी विषम लगती है कि निराला की तरह साहित्य की महाप्राणता और उसकी शक्ति में विश्वास निराशा का कर्तव्य जान पड़ता हैं जनता को 'बहाने' वाली शक्तियाँ साहित्य के लिए कुछ करेंगी या करना भी चाहेंगी या दुराशा मात्र लगती है।

यह माना जाता है कि पिछले पचीस-तीस बरसों में हमने अपनी पश्चिमाभिमुख आधुनिकता की सीमाओं को पहचाना है और एक अधिक जातीय, आत्मविश्वस्त भारतीय आधुनिकता की ओर क़दम बढ़ाए हैं। मनुष्य का संसार से सम्बन्ध, मनुष्य और प्रकृति का साहचर्य, मनुष्य की नियति आदि प्रश्नों पर जो पारस्परिक भारतीय दृष्टि रही है और उसके भारतीय मनोरचना और समाजव्यवस्था के लिए जो फलितार्थ हैं उन्हें हमने जानना-पहचानना शुरू किया है। पहले भारतीय मिथकों या पुराणकथाओं की नए अर्थों में व्याख्या करके अपनी जड़ों से जुड़ने की ज़रूरत पूरी हो जाती थी पर अब अधिक गहरे और मूलधर्मी प्रश्नों और चिंताओं से सृजनात्मक कल्पना जुड़ने लगी है : समूची जीवनदृष्टियों और पद्धतियों, उनके हमारे समाज में अभी भी प्रासंगिक और सक्रिय होने की पहचान ने भी परिदृश्य पर प्रभाव डाला है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय सनातनता और अपने समय के सम्बन्धों की द्वंद्वात्मकता हमारे विचार और सृजन जगत् की अंग बनी है : इतिहास, व्यक्ति, समाज आदि अनेक अपने संदर्भ में अपरीक्षित कोटियों पर हमने पुनर्विचार आरम्भ किया है। नीरंध्र परम्परावाद (जो पिछले दो सौ वर्षों को एक अनादि-अनंत कालचक्र में विशेष महत्त्व का नहीं मानता) और नीरंध्र आधुनिकतावाद में (जिसके लिए दो सौ वर्षों के और उस दौरान हावी हुए एकरैखिक ऐतिहासिक समय के अलावा कालचक्र या अन्य किसी जातीय बोध का अस्तित्व ही मानों नहीं है) चल रहे समर और उसके मुद्दों पर अहसास बढ़ा है। एक नक़लची और आत्मतुष्ट प्रभुत्व वर्ग के प्रभाव में हमारा समाज एक अनुसमाज बनकर न रह जाए या किसी तरह के सतही समन्वयवाद में न फँस जाए इसकी चिंता भी बढ़ी है।

इधर सचाई के बड़े दावेदार के रूप में जनसंचार माध्यम भी उभरे हैं। प्राचीनों को इस तरह की स्पर्धा का सामना नहीं करना पड़ा था और अभी बीस बरस पहले तक इन माध्यमों का प्रचार-प्रसार इतना नहीं था कि उन्हें हिसाब में लेना ज़रूरी हो। पर अब दृश्य पूरी तरह बदल गया है : उनके पास अपार साधन हैं और तथ्यों को हूबहू तत्परता से सामने लाने की अनेक युक्तियाँ भी। ऐसी हालत में कविता तथ्यसंग्रह के स्तर पर उनका मुक़ाबला नहीं कर सकती। बल्कि उनसे प्रक्षेपित वास्तविकता के संस्करण ही वास्तविक माने जाने लगे हैं और वास्तविकता के शेष रूप या तो कम वास्तविक या अविश्वसनीय। ऐसे में हो सकता है कि सचाई का वह हिस्सा कविता के पल्ले अभी भी पड़ सके जो इन माध्यमों से उनकी प्राथमिकताओं के चलते छूट जाता है। ज़ाहिर है कि कविता छूटी हुई सचाई से न तो अपना काम चला सकती है, न ही अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध कर सकती है। कविता अब तथ्यों का दस्तावेज़ या सचाई का विवरण होने के बजाय अपने को कल्पनाशक्ति के सहारे सचाई का नया जोखिम (एडवेंचर) बना सकती है : उसका गल्प हो सकती है जो तथ्यों के बदलने से अप्रासंगिक नहीं हो जाएगा। तथ्य और उनके संग्रह या संयोजन कालांतर में तिरोहित हो सकते हैं पर कल्पना की संरचनाएँ अधिक टिकाऊ सिद्ध हुई हैं।

2

अगर ऊपर किया गया कविता की स्थिति का आकलन सही है तो यह ज़ाहिर है कि बहुत हद तक कविता एक ऐसे समाज में लिखी-पढ़ी जा रही है जिसकी उसे न तो ख़ास परवाह है, न ही शायद कोई ज़रूरत। ऐसी हालत में कविता के सामने दो ही विकल्प हैं : एक तो यह कि वह अपनी स्थिति के ऐसा होने के ट्रैजिक बोझ के साथ सचाई के ऐसे गल्प बनाती रहे जो सिर्फ उसी के बस में हैं और दूसरा यह कि वह उन शक्तियों की पिछलगुआ हो जाए जिनका प्रभुत्व इस समाज में है और इस बहाने कुछ महत्त्व हासिल करने की कोशिश करे। जैसे कि जीवन में, वैसे ही कविता में यह ज़रूरी नहीं है कि इनमें से कोई एक विकल्प ही चुना जाए : सही तो यह है कि हिंदी कविता ने पिछले तीन-चार दशकों में दोनों ही विकल्प, अकसर साथ-साथ आजमाए हैं।

राजनीति, धर्म या विज्ञान संसार को समझने-बदलने के माध्यम हैं। कविता भी ऐसा ही माध्यम है। उनकी एक बिरादरी बनना स्वाभाविक है। लेकिन कुछ माध्यम हैं जो शक्ति और सत्ता से सन्नद्ध हैं और मानव समाज में शक्ति या सत्ता पाने या भोग सकने में मदद करते हैं। कुछ हैं जो इस मामले में असहाय हैं : उनकी अपनी सार्थकता और अस्मिता है पर जिस तरह का समाज आज बन गया है उसमें उनके माध्यम से किसी तरह की शक्ति या सत्ता नहीं मिल सकती। कविता उन्हीं निरुपाय माध्यमों में से है। सत्ता की दृष्टि से वह एक अकिंचन कर्म है। बल्कि हमारे जैसे कविता-विमुख समाज में तो वह आर्थिक दृष्टि से भी एक दरिद्र कर्म है। शायद उसकी भौतिक असहायता, अकिंचनता और सत्ता से दूरी ही उसे उसकी आध्यात्मिक गरिमा और उसका शांत अनाक्रामी गौरव देते हैं। कविता का मार्ग चुनना मुक्तिबोध के शब्द लेकर कहें 'गरबीली ग़रीबी' जानबूझकर वरण करना है। इसे रूमानियत या हवाईपन कहकर व्यावहारबुद्धिवाले खारिज़ करते हैं या उसका मज़ाक उड़ाते हैं। महान् स्वप्नों के एक-एक बार चूर होने वाले समय में दुस्स्वप्नों से आक्रांत युग में यह रूमानियत और स्वप्नशीलता अपनी तथाकथित अप्रासंगिकता से ही अपनी एक अलग

प्रासंगिकता बनाती है। आत्मा के गुप्तचर अपना काम चुपचाप ही कर सकते हैं।

दूसरा विकल्प भी है : अपने को किसी शक्तिशाली का पिछलगुआ बनाकर शक्ति अर्जित करने का विकल्प। इसे स्वीकार करने वाले भी लोग हैं और सिर्फ़ वे ही नहीं जो कविता को मसलन मनोरंजन उद्योग के साथ जोड़कर उसे तथाकथित जन के बीच ले जाते रहे हैं पर, हमारे लिए अधिक विचारणीय, वे लोग भी जो उसे राजनीति का अनुचर बनाने में उसकी सार्थकता देखते हैं। उनका ख़्याल है कि चूँकि राजनीति हमारे समय में मनुष्य की नियति को निर्धारित करने वाला सबसे सशक्त और सर्वव्यापी माध्यम है कविता को उससे सम्बन्ध रखना ही चाहिए। कविता और राजनीति में सम्बन्ध हो जैसा कि कविता का जीवन के अन्य माध्यमों से यह सर्वथा अभीष्ट और स्वाभाविक है और इसमें कोई उजर की बात नहीं दीखती। पर यह बात जाँच करने की है कि क्या यह सम्बन्ध प्रजातांत्रिक सम्बन्ध है : अर्थात् क्या उसमें समकक्षता और कविता की अपनी स्वतंत्रता का सहज स्वीकार है। क्या यही नहीं होता रहा है कि राजनीति का सशक्त, प्रभुत्वशाली, अंतर्विरोधहीन, सुसंगत सत्य कविता की सचाई को अपना स्वाभाविक उपनिवेश मानकर हड़प लेता रहा है? राजनीति का सत्य पूर्वनिर्धारित है और वह कविता की अप्रत्याशित और सुसंगति को विपर्यस्त करने वाली खोजों के लिए उसके पास न तो धीरज है, न ही अवकाश। राजसभा में एक ग़रीब बिरादर की तरह बैठना कविता को भाए यह सम्भव तो नहीं होना चाहिए पर अचरज यह है कि ऐसी आत्मसंतुष्टि और कभी-कभार शक्ति का छद्म कविता को मिलते रहे हैं।

कविता को विचार का अनुशासन नहीं माना जाता और प्राय: उसमें व्यक्त या चरितार्थ विचार कवि के निजी हों या यह ज़रूरी नहीं है। पर कवि स्वतंत्र होता है कि वह कहीं से भी अपने लिए विचार चुने और उनका कविता में अभ्यन्तरीकरण करे। वह परस्परविरोधी विचारों को किसी सार्थक संयोजन में गूँथ सकता है। बिना मलार्मे को याद किए कि कविता विचारों से नहीं शब्दों से बनती है, यह कहा जा सकता है कि विचार सृजन का एक उपजीव्य है। कोई भी विचार अनुभव और भाषा की अपनी भावाविष्ट प्रक्रिया से सत्यापित होकर ही कविता में अपनी जगह बनाता है। अकसर कविता में वही विचार सम्यक् है जो खुद उसके मूल अनुभव और भाषिक लयात्मकता से उपजा हो, वह नहीं जो, कितना भी सुन्दर या लुभावना क्यों न हो, बाहर से लाया गया हो। कविता की अपनी प्रक्रिया ही, जिसमें समावेशिता, अंतर्विरोधी सूक्ष्मताएँ, स्वत:स्फूर्त स्पंदन, छोटे-छोटे ठोस ब्यौरे आदि अनिवार्य हैं, उसे विचार की अभिव्यक्ति या उपनिवेश बनने से रोकती है। कविता वेमेल को छोड़ती है, अपनी निरंतर सगुणता में, अपने विलोम को नहीं।

इस संदर्भ में हम दो बातें नोट करना चाहेंगे : पहली तो यह कि पिछले कई दशकों से हिंदी कविता में कोई नया वाद या आंदोलन नहीं रहा है और दूसरी यह कि पिछले दो दशकों तथाकथित जनवाद और तथाकथित कलावाद के बीच द्वंद्व बहुत प्रखर और आक्रामक रहा है। ये परस्परविरोधी बातें नज़र आती हैं। इसलिए कुछ खुलासा ज़रूरी है। जिसे हम छायावाद के नाम से जानते हैं और जिसे आधुनिक हिंदी कविता स्वर्णयुग माना जाता है वह बुनियादी तौर पर कविता का अपना आंदोलन था : उसमें निश्चय ही पूर्व-पश्चिम के द्वंद्व की गहरी चेतना थी, सृजनात्मक कल्पना में उत्कट विश्वास था और स्वाभिमानी स्वतंत्रता का प्रखर बोध भी। लेकिन हम छायावाद को बौद्धिक स्तर पर, और उसके तीन-चार मूर्धन्य कवियों के ठोस कृतित्व के साक्ष्य पर किसी बाहरी विचारधारा से नहीं जोड़ सकते। उनमें अनेक तरह के विचारों का समुच्चय था पर वह किसी साहित्य के बाहर की विचारधारा से अनुप्रमाणित नहीं था या उसका साहित्यिक संस्करण नहीं था। वह साहित्य का अपना स्वायत्त आन्दोलन था जिसमें बाहर के विचारों का भी योगदान था लेकिन जिसके अपने स्वायत्त अस्तित्व और पहचान को स्पष्ट ही देखा जा सकता है। यही बात प्रयोगवाद को लेकर भी कही जा सकती है कि उसमें राजनैतिक दृष्टि से विरोधी विचार रखने वाले भी साथ थे क्योंकि वह छायावादोत्तर कविता की भावुकता, सरल दिमाग़ीपन और बुद्धिविरोध के विरुद्ध एक साहित्यिक प्रतिक्रिया थी। स्वयं नयी कविता नामक आंदोलन कभी एक तरह से विचार रखने वालों का नहीं रहा बल्कि उसमें भी अनेक विचारों और भावबोधों का समुच्चय था। प्रगतिशीलता और जनवाद के नाम से जो अत्यंत व्यापक आंदोलन इस समय हिंदी में है वह मौलिक रूप से साहित्य का आंदोलन नहीं रहा है : इसके बावजूद उसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है इससे इनकार नहीं है। निराला ने 1934 में कहा था "जो केवल दूसरों के विचारों का संग्रह करते हैं वे लेखक नहीं। वे तो साहित्यिक मज़दूर हैं। उनके परिश्रम का मूल्य अवश्य है, परंतु शाश्वत साहित्य के मंदिर में उन्हें कोई स्थान प्राप्त नहीं हो सकता।"

कविता की स्वायत्तता का आग्रह उसे राजनीति या जनजीवन से विमुख करना नहीं बल्कि इस बात पर बल देना है कि कविता की सचाई दूसरे किसी माध्यम में अनुवाद की जा सकने वाली सचाई नहीं है, कि कविता का सचाई से और इसलिए जीवन से उतना ही सीधा और अर्थसमृद्धिकारी सम्बन्ध है जितना की राजनीति का, कि कविता के लिए समकक्षता की माँग शक्ति और सत्ता के राजनीति के पक्ष में झुके संतुलन को चुनौती देना है, कि कविता राजनीति की तरह पर्याप्त कर्म है और कि कविता भाषा में ऐसा कुछ करती है और उसके माध्यम से जीवन में जो कि राजनीति या अन्य अनुशासन नहीं कर सकते।

दरअसल कई बार तो यह लगता है कि हम विचारों के क्षेत्र में एक तरह के नए रूढ़िवाद या कन्जर्वेटिविज़्म के युग में आ गए हैं। हमारा इशारा सिर्फ इस ओर नहीं कि पूर्वी यूरोप में कल तक जो वामपंथ में माने जाते थे वे आज दक्षिणपंथी कहे जा रहे हैं क्योंकि एक नयी क्रांति ने वाम-दक्षिण के अभी तक प्रचलित विभाजन को उलट-पलट दिया है। हमारा आशय इससे है कि अकसर रूढ़िवाद पहले से चले आ रहे अर्थात् पूर्व-निर्धारित और लगभग स्वयं-सिद्ध मूल्यों की रक्षा करने का प्रयत्न होता है: जिन मूल्यों पर आधारित राजव्यवस्थाएँ यूरोप में ध्वस्त हो चुकीं, जिन मूल्यों की अपराजेयता और प्रासंगिकता पर विशाल प्रश्नचिह्न लग चुके उन मूल्यों को आधार बनाकर हमारे यहाँ जो हो रहा है उसे नया कन्ज़र्वेटिज़्म ही कहा जा सकता है। विचित्र यह है कि जो इन मूल्यों से सहमत नहीं हैं या उन्हें शंका की दृष्टि से देखते हैं उन्हें प्रतिक्रियावादी कहा जाता है।

इधर की कविता ने लगता है नयी कविता की दो बुनियादी उपलब्धियों को गँवा दिया है। यों इन उपलब्धियों को सीधे छायावाद से भी जोड़कर देखा जा सकता है बल्कि कहना यह चाहिए कि वे कविता में छायावाद की उपलब्धियाँ थीं जिन्हें नयी कविता ने अपने बदले संदर्भ में पुनर्परिभाषित कर एक बार फिर हमारे काव्यसंसार में शामिल किया था। नयी कविता कविता के पुनराविष्कार का आंदोलन था और उसमें विचारों और भावबोधों की विविधता थी, उसमें बराबर एक सघन और उत्कट बुद्धिशीलता थी : कविता निरा भावोच्छ्वास नहीं बौद्धिक कर्म भी था। नयी कविता का श्रेष्ठ सोचती-विचारती कविता है। उसके चलते विचारों का गहरा द्वंद्व कविता की मनोभूमि था। चूँकि इधर धीरे-धीरे विचारधारा या विचारों के साथ कविता का द्वंद्वात्मक सम्बन्ध शिथिल पड़ गया, यह बौद्धिकता में शिथिल पड़ गयी है। इधर के कवियों के विचार चूँकि पहले से ही दिए हुए हैं और अंततः कविता उनका सत्यापन-भर है और उसमें जो विलोम में जाता है वह वर्जित या बहिष्कृत है, एक तरह का बौद्धिक ठसपन आना अनिवार्य ही है। हम याद करें कि मुक्तिबोध, अज्ञेय या विजयदेव नारायण साही की कविताएँ गहरे अर्थ में विचारोत्तेजक थीं। उनमें प्रकृति, समाज, व्यक्ति, भाषा आदि के अनेक नए प्रत्याशित और अलक्षित सम्बन्ध प्रकट हो पाते थे। कविता कुछ नया और अपूर्व निर्धारित खोज पाती थी। अब यह खोज ज़रूरी नहीं रही। यह कहना मुश्किल है पिछले दो दशकों की युवा कविता ने इस संदर्भ में नया और विचारोत्तेजक क्या खोजा है : कभी-कभार उसमें एक नए भूभाग को कविता के क्षेत्र में लाने की उत्तेजना और ताज़गी है पर उसकी बौद्धिक मनोभूमि और अन्वेषण दिए हुए या ऊपर से थोपे हुए के अतिक्रमण के रचनात्मक साहस के अभाव में कोई नया सम्बन्ध या दृष्टि नहीं दे पाते। असल में यह शक्तिकेन्द्रों से वैधता चाहती-तलाशती कविता है जिसके अधिकांश कवियों को पीछे छूट जाने का, जन के साथ न माने जाने का भय इतना सताता है कि उनका अकेले होने या रह जाने का साहस शेष नहीं रहा। आइरिश कवि शीमस हीनी ने स्थानीय और प्रादेशिक कल्पना में जो भेद किया है वह इस प्रसंग में हमारे काम का है। स्थानीय कल्पना को अपनी पल्ली या स्थान के कविता के विषय होने की कलात्मक वैधता के बारे में कोई शंका नहीं होती जबकि प्रादेशिक कल्पना हमेशा ही अपने कंधों के ऊपर महानगर की और उसका अनुमोदन पाने के उद्देश्य से ताक रही होती है। इधर के अनेक कवि छोटे-छोटे अश्रुतपूर्व स्थानों से आए हैं पर उनकी कल्पना दुर्भाग्य से स्थानीय नहीं, प्रादेशिक है या स्थानीय से शुरू होकर जल्दी ही प्रादेशिक हो जाती है। यह भी निरा संयोग नहीं है कि उनमें से अधिकांश या तो महानगर पहुँच ही जाते हैं या पहुँचने की निरंतर चेष्टा में लगे रहते हैं।

इधर की कविता की दूसरी कमी है ऐंद्रियता का अभाव। एक तरह से अख़बारीपन ने हमारी कविता भाषा को यों ग्रस लिया है कि उसमें पठनीयता और प्रसादगुण तो आ गए हैं पर सम्बन्धों और वस्तुओं की ऐंद्रियता धीरे-धीरे ग़ायब होती जा रही है। यह आश्चर्य की बात है कि पचत्तर बरस की उमर में लिखी गयी शमशेरबहादुर की **काल तुझसे होड़ है मेरी** में संगृहीत कविताएँ इधर की सबसे ऐंद्रिय कविताएँ हैं। यह विचित्र है कि इधर की कविता हालाँकि युवा कवियों द्वारा लिखी जा रही हैं, उसमें प्रेम और शृंगार का एकदम देश निकाला नहीं तो उनके बारे में अजब-सी झिझक ज़रूर दीख पड़ती है। यह एक नए क़िस्म की जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि है जो इन अत्यंत मानवीय और स्वाभाविक भावों को कविता में आने से रोकती है। सच्ची, प्रश्नाकुल विचारशीलता और गहरी अचूक ऐंद्रियता का एक साथ शिथिल पड़ना आकस्मिक नहीं है : जो दृढ़ता से सोच नहीं सकता वह गहराई से भोग भी नहीं सकता। इसीलिए इधर की काव्यभाषा में अंतर्ध्वनियाँ नहीं हैं। ये लगभग ज़िद कर इकहरी यथार्थ की दोटूक संरचनाएँ हैं जो अपने पूर्वविचारित सत्य से इतना आक्रांत है कि गल्प बनना भूल जाती हैं।

कविता में नवाचार और प्रयोग की परम्परा भी इधर शिथिल हुई है यह सोचकर विचित्र लगता है कि जिस तरह का और जितना विविध नवाचार अज्ञेय, मुक्तिबोध या शमशेर ने किया या बाद में रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और विनोदकुमार शुक्ल ने, उस तरह की नवाचारिता इधर पिछले दो दशकों में निस्तेज पड़ गयी है। भाषा शिल्प, तकनीक, बिम्बविधान, प्रतीक व्यवस्था आदि अनेक स्तरों पर इन कवियों ने जो प्रयोग किए उनके मुक़ाबले आज की कविता न तो प्रयोगशील है न ही इन्नोवेटिव। एक तरह से छायावाद से नवाचार की जो परम्परा नयी कविता ने नए रूपसंयोजन कर आगे बढ़ायी थी वह इधर की कविता में आकर सूख गयी लगती है। किसी भी अर्थ में यह अवसान दुखद और दुर्भाग्यपूर्ण है।

अंत में एक और विडम्बना की ओर संकेत करना ठीक होगा। इधर, याने स्वतंत्रता के बाद के भारत में कविता का सत्ता से आब्सेशन बढ़ा है। स्वयं इस लेखमाला में जो कई रूपक सत्तापरक आए हैं वे इसका अंत:साक्ष्य माने जा सकते हैं। एक प्रजातांत्रिक व्यवस्था में शायद यह अस्वाभाविक नहीं है। मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय जैसे कवियों के यहाँ सत्ता की उपस्थिति हमारी आंतरिकता और हमारे समय का कुछ बहुत विचलित करने वाला गल्फ हमारे सामने लाती है। लेकिन इसके कुछ दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष भी हैं। एक तो है कि सत्ता के विरोध की सस्ती नाटकीयता का प्रलोभन और उसे पोसनेवाला सरल दिमाग़ीपन। दूसरा है कविता का नवविकसित सत्ता केंद्रों के आसपास एकाग्र होना फिर ये केंद्र राजनैतिक सत्ता के हों, संगठनों के या अख़बारों के। तीसरा है एक तरह के नैतिक भोंथरेपन का विस्तार जिसके रहते सत्ता के साथ अपने सम्बन्ध का प्राय: कोई आत्मालोची स्पेस नहीं बना पाता पर दूसरों की नीयत पर शंका और अपनी नैतिक श्रेष्ठता एक आदत ही बन जाती है। हम यह भूल-सा गए हैं कि कविता की अदालत की मूल प्रतिज्ञा ही यह है कि वहाँ किसी दूसरे पर अभियोग नहीं लगाया जा सकता है : वहाँ सिर्फ़ आत्माभियोग की इजाज़त है और यह उसकी परम नैतिकता है। वह सत्ता पर संदेह तभी कर सकती है जब पहले अपने पर भी संदेह करे। अपने-अपने कठघरों में स्वेच्छया क़ैद लोग दूसरे लोगों के लिए अदालत नहीं हो सकते। कम से कम उन्हें ऐसा होने से बराबर इनकार तो करना चाहिए। कविता का महत्त्व होने में है, किसी और का अनुकरण या संस्करण होने में नहीं।

त्रिलोचन का एक कवितांश है :

दौड़-दौड़कर असमय समय•न आगे आये,
यह कविता क्या जो कोने में बैठ लजाये।

कविता अवश्य दौड़ती है पर जीवन और मनुष्य के लिए, भाषा के लिए, किसी और के लिए नहीं।

(कविता का गल्प से)